मध्यकालीन सन्त-साहित्य

[पटना विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट् उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

डॉ. रामखेलावन पाण्डेय
एम. ए., डी. लिट्
अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग रांची विश्वविद्यालय, रांची

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी–१

अमृतलोकवासी संत-शिरोमणि

बाबा सरयूदास उदासी

तथा

गोलोकवासी पूज्य-चरण पितृव्य

पण्डित रामशरण पाण्डेय

के

पुण्य-स्मृति-रक्षार्थ

तर्पण-स्वरूप

कृतज्ञता

और, यह शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो हा गया। अप्रत्याशित विलम्ब के कारण अनेक व्यक्तियों को इसकी सामग्री को अपनी सामग्री के रूप में उपयोग करने का सहज अवसर प्राप्त होता गया। पुनरावृत्ति का सयोग जुटा नही सका, इसकी खेदपूर्ण चिन्ता सताती रही है। प्रकाशन में जो अप्रत्याशित विलम्ब घटित हुआ, उसके कारणो में परिस्थितिजन्य विवशता के साथ ही मेरा सहज आलस्य भी महत्वपूर्ण रहा। पटना विश्वविद्यालय के तत्कालीन विभागाध्यक्ष एव सम्प्रति हिन्दी निदेशालय (दिल्ली) के निदेशक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, एम० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन) ने इसके शीघ्र प्रकाशन के लिए तत्परतामूलक आग्रह प्रकट किया था एव अपने सहज सौजन्य के कारण विहार राष्ट्रभाषा परिषद् के अधिकारियों से वार्त्ता भी प्रारम्भ की, किन्तु उनके आगरा-प्रवास और परिषद् की प्रशासकीय गति-विधि के कारण डॉ० प्रसाद की तत्परता ने मेरी विवशता का रूप ग्रहण किया और यह प्रबन्ध इस विलम्ब के पश्चात् 'हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय' द्वारा प्रकाशित हो रहा है।

इसके प्रकाशन में जो यत्किञ्चित् तत्परता दीख पडती है, उसके मूल स्रोत हैं—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० राम कुमार वर्मा और डॉ० केसरी नारायण शुक्ल। आचार्य द्विवेदी के सहज उन्मुक्त और डॉ० वर्मा के सरस व्यक्तित्व के स्नेहपूर्ण वरदान का भागी मैं कैसे बन वैठा, इसका मुझे स्वय बोध नही। इतना तो स्पष्ट है कि इनकी मीठी झिडकियो के अवसर नही आते रहते, तो मेरा आलस्य कितना चमत्कार दिखाता, इसकी कल्पना में भी मैं असमर्थ हूँ। इस वरदान को कृतज्ञता-प्रकाशन की वाट से तुलित करने की चेष्टा नही करूँगा।

डॉ० दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी (जिनकी अकाल मृत्यु के कारण सरस्वती की गोद सूनी हुई) और डॉ० राधाकृष्ण सिनहा (पटना विश्वविद्यालय के अगरेजी विभागाध्यक्ष) के माध्यम से विदेशो की कार्य-प्रणाली का परिचय प्राप्त किया। उनके अनुभवो के आधार पर प्रक्रिया-निर्धारण में मुझे महत्वपूर्ण सहायता मिली। पटना विश्वविद्यालय उस समय तक डी० लिट्० उपाधि देने में पर्याप्त सकोचशील था (सौभाग्यवश उसका यह शील-सकोच अब दूर हो गया है, अत इन विद्वान मित्रो की सहायता जितनी महत्त्वपूर्ण दीख पडती है, उससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण रही), इनका प्रोत्साहन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था क्योकि उत्साह-भग के आधार कम गरिष्ठ न थे।

मित्रो की धनात्मक प्रेरणा से कम मूल्यवान् विरोधियो और निन्दको की ऋणात्मक प्रेरणा नही रही, 'निन्दक नियरे राखिये' के वास्तविक मर्म का प्रत्यक्ष अनुभव उसी समय हुआ। ऐसा लगता है कि बीसवी शताब्दी के खलो की वन्दना में तुलसीदास की भी प्रतिभा कुठित ही रहती। 'विन काज दाहिने-वाऍ' रहनेवालो के प्रति मेरा आग्रहपूर्ण नमन है।

अपनी शालीनतापूर्ण कर्त्तव्य निष्ठा और जगरूक चेतना द्वारा कुचक्रियो के षड्यत्र को निष्फल करने में समर्थ पटना विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुल-सचिव सुहृदवर श्री जगत नन्दन सहाय एम० ए०, टी० डी० (लदन) के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मात्र औपचारिकता का निर्वाह नही वल्कि अन्त प्रेरणाजन्य कर्त्तव्य-निष्ठा का आग्रह है।

प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण काल में संकलित सामग्री के संशोधन प्रतिलिपि करने टंकित प्रतियों के वाचन जैसे कार्यों में मेरे कई पूर्व छात्रों का योग अविस्मरणीय है और वे हैं—सर्वश्री शिवेश्वर प्रसाद एम. ए. (संसद-सदस्य) श्री दिनकर प्रसाद एम. ए. (प्राध्यापक राँची विश्वविद्यालय राँची) श्री नन्द किशोर सिंह, एम. ए. एम. एड. और श्री राजेन्द्र किशोर, एम. ए. (प्राध्यापक राजेन्द्र कॉलेज छपरा)। मेरा आशीर्वाद इन्हें सदा प्राप्त रहा है और इस अधिकार से इन्हें वञ्चित रखने का कोई अधिकार मुझे प्राप्त नहीं।

अपनी कवि-सुलभ सहज सरसता के साथ प्रूफ संशोधन जैसे नीरस कार्य का सफल सम्पादन किया बन्धुवर मालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' ने। यदि प्रूफ-संशोधन जैसे कार्य का संपादन मुझे ही करना पड़ता तो इसके प्रकाशन की अवधि राम के वनवास की अवधि से भी निश्चित रूप में अधिक हो जाती इसमें कम-से-कम मुझे सन्देह नहीं।

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय के संचालक श्री कृष्णचन्द्र और बेरी-परिवार विशेष कर इनके अनुज श्री ओम् प्रकाश बेरी और सुपुत्र श्री विजय प्रकाश बेरी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन से औपचारिकता का निर्वाह तो अवश्य होगा किन्तु इनके सहज सौजन्य अगाध आत्मीयता और उन्मुक्त शालीनता के प्रति असम्मान प्रकट करना जैसा लगेगा अतः औपचारिकता के निर्वाह का संकट झेलने में असमर्थ ही रहना चाहूँगा। बेरी-परिवार की शालीनता ने मुझे मुग्ध किया है और इसकी चेतना मुझे सदा सजग करती रहेगी यह विश्वास दिलाना चाहूँगा।

श्रीमती पाण्डेय को विस्मृत करने पर क्षमा माँगने का भी अधिकार नहीं रहेगा और इसे सदा स्मरण रखने का उन्हें नैसर्गिक अधिकार तो रहेगा ही। निश्चिन्त हो कर सहज भाव से कार्य करने के संयोग ही उन्होंने घटित नहीं किए बल्कि इनकी प्रेरणा के अभाव में अपने चिर-सखा आलस्य का अवरोध भी मुझ में सम्भवतया नहीं लग पाता और उस सखा के चिर-साहचर्य से मुक्ति नहीं मिल पाती। लेखन कार्य अभिशापमय वरदान अथवा वरदान मिश्रित अभिशाप है इसका अनुभव तो आत्मीय जनों को ही होता है अतः इस अवसर पर अपनी ज्येष्ठा कन्या पुत्री मीना को भी स्मरण करना चाहूँगा जिसकी कातर आँखें पिता की व्यस्तता में बाल-सुलभ लाड़ के क्षणों की आकांक्षा पालते हुए भी मूक कातर रह जाती थीं। और, मैं समझ कर भी नासमझ बनने की चेष्टा करता रहा।

इस प्रबंध में कई श्रद्धास्पद व्यक्तियों के मतों विचारों सिद्धान्तों और निष्कर्षों के प्रति श्रद्धावान् नहीं रह सका हूँ और उनके समर्थन में रह सका किन्तु ऐसा क्रम और पद्धति के निर्धारण के क्रम में ही हुआ है। उनके प्रति मेरी श्रद्धा सदा सजग रही है और उनकी आप्त निष्ठा के प्रति मैं सदा आश्वस्त रहा हूँ अतः इनके प्रति मेरा शत-शत नमन निवेदित है।

और भी अनेक व्यक्ति होंगे जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योग रहा होगा। किन्तु यदि उनका स्मरण इस समय नहीं हो रहा है तो अपनी स्मरण-शक्ति के दोष के लिए उनसे क्षमा माँग ले रहा हूँ।—इत्यलम्।

हिन्दी-विभाग
राँची विश्वविद्यालय राँची
१. ७. ६५

—रामखेलावन पाण्डेय

प्रस्तावना

★

भारतीय विश्व विद्यालयो मे हिन्दी के स्वतंत्र स्थान प्राप्त करने के कारण शोध कार्य की जो प्रगति हुई उसमें सत-साहित्य उपेक्षित ही रहा। डाक्टर बडथ्वाल के अध्ययन के पश्चात् किसी ने सम्पूर्ण सत साहित्य का अध्ययन उपस्थित नही किया।[1] मध्यकालीन कवियो में सूर और तुलसी आकर्षण के केन्द्र रहे, विचार-धारा के प्रत्यावर्तन-स्वरूप जिनकी ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। उदासीनता के कारणो में प्रामाणिक सामग्री की विरलता, साम्प्रदायिक शब्दावली का बाहुल्य और प० रामचन्द्र शुक्ल के ध्वसात्मक निष्कर्ष अधिक महत्वपूर्ण हैं। शुक्ल जी की गभीर विवेचन-पद्धति और दुरूह शैली से आक्रात हिंदी का अध्येता उनके मानदण्ड को त्याग सकने में समर्थ नही हुआ। इस साहित्य के शोध की निम्नलिखित स्थितियाँ हैं —

(१) अलब्ध साहित्य की खोज और प्रकाशन।
(२) प्राप्त प्रतियो के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर पाठ-सशोधन।
(३) सम्बद्ध साहित्य की परीक्षा-समीक्षा और तुलनात्मक अध्ययन।
(४) परम्परा की अविच्छिन्न धारा के दर्शन।
(५) इनकी भूमिका में पुनर्मूल्याकन।

---

१ स्वतत्र रूप से लिखे गए ग्रन्थों में डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का "कबीर" और डा० रामकुमार वर्मा का "कबीर का रहस्यवाद" महत्वपूर्ण प्रकाशन है। सम्पूर्ण धारा के सम्प्रदायों का परिचय प० परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ "उत्तरी भारत की सत-परम्परा" में दिया है। शोध-कार्य के रूप में डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने बिहारी दरिया साहब के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन उपस्थित किया है। "पल्टू साहब" की रचनाओं पर भी शोध कार्य हुआ है। किन्तु दोनों निबन्ध अप्रकाशित हैं और सत-साहित्य के केवल एक विशिष्ट अग के अध्ययन-मात्र।

मध्यम संतों का अध्ययन कई संस्थाओं के तत्वावधान में हो रहा है किन्तु संतों के साहित्य की प्राचीन प्रामाणिक हस्तलिखित पोथियाँ प्राप्त नहीं। साम्प्रदायिक संरक्षण इस साहित्य को सुरक्षित करने से अधिक विकृत करता पाया है। उपलब्ध प्रतियों की प्रामाणिकता संदिग्ध है और पाठ अव्यवस्थित। तिथि-अंकित प्रतियाँ अधिक संख्या में प्राप्त नहीं और उनकी प्रामाणिकता भी पूर्णतया असंदिग्ध नहीं। आदि ग्रंथ वाली सामग्री में अव्यवस्था कम नहीं है। सम्प्रदाय-संगठन का कार्य धूम-धाम से आरम्भ हो जाने के पश्चात् ही अधिकांश पोथियाँ तैयार की गईं। विभिन्न परम्पराओं में इस साहित्य की सामग्री विकीर्ण है। कबीर ने व्यवस्थित रूप में ग्रंथ रचना नहीं की थी और न उस काल की कोई हस्तलिखित प्रामाणिक प्रति ही उपलब्ध है, ऐसी अवस्था में बीजक आदि-ग्रंथ और कबीर-ग्रंथावली की सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन और समीक्षा के द्वारा पाठ-संशोधन संबंधी सामान्य सिद्धांत स्थिर किये जा सकते हैं पाठ-संशोधन में केवल शब्द-संगति नहीं बल्कि अर्थ-संगति महत्वपूर्ण है, और इसके लिए मत-विचार का गंभीर परिचय अपेक्षित है।[1]

विचार-धारा को समझने के लिए संतों का साहित्य ही प्रामाणिक आधार है। स्पष्टता के लिए परम्परा का ज्ञान और विरोधियों की धारणाओं का परिचय भी अपेक्षित होगा। इस साहित्य के अध्ययन के लिए सिद्ध-नाथ-साहित्य की भूमिका जितनी महत्वपूर्ण है, स्पष्टता के लिए तुलसी की विचार धारा उतनी ही अपेक्षित। परवर्ती काल में कबीर-मत के सबसे प्रबल विरोधी तुलसीदास हुए, जिनका विरोध ब्रह्म के निर्गुण रूप से न होकर संत मत से था। सूरदास के ऊधो (अवधूत—अवधू—औधू—ऊधो—उद्धव) के कथनों में नाथ-सम्प्रदाय के भग्नावशेष की हलकी किन्तु स्पष्ट झाँकी मिल जाती है। हठ-योग की शब्दावली के प्रयोग के कारण कबीर साहित्य को नाथ सम्प्रदाय का परवर्ती विकास माना गया है। इस अवस्था में नाथ-सम्प्रदाय की विचार धारा से परिचय आवश्यक होगा।

---

१ कबीर ग्रंथावली में एक साखी है—

सब रग तंत रबाब तन विरह बजावे नित।
और न कोई सुणि सकै कै साईं कै चित। क ग्रं पृ ११८७।

अजपा जाप को ध्यान में रखने से पहिली पंक्ति का पाठ होगा—

सब रग तंत रबाब तन विरह बजावै नित।

आदि-ग्रंथ के संकलित एक पद में इसके संकेत प्राप्त होते हैं—

रूटी तंतुन बजै रबाबु सं क, रागु आसा ११, पृ १ १।

२. तुलनीय—जाने सुने पंडित का हाइ, जो नहि पढहि समाना।—कबीर

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहि बिनहि प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहि मानि बिस्वास॥—मानस।
मेरी निर्गुन कथा कहा लिउ कहिये ऐसा कोइ बिबेकी।

—सं क गउड़ी ४७।१।

निगुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहि कोइ।

—मानस उत्तर ७१।

विचार-धारा, दार्शनिक मतवाद, नैतिक धारणा और सास्कृतिक चेतना सतत विकासशील और परिवर्तनीय जीवन की परिणतियाँ हैं। प्रवाह के रूप मे ही इनका सम्यक् दर्शन सम्भव है। मतवाद का द्विविध विकास होता है प्रतिष्ठित मतवाद का स्वतन्त्र रूप में विकास और जीवन की चेतना से स्फूर्ति प्राप्त करने वाला स्वरूप। दोनो रूपो में अधिक अतर और विभेद उपस्थित होने पर शास्त्रीयता आधार देती है। चिता-धारा का विकास अधर में नही होता, इसकी भी सामाजिक-सास्कृतिक भूमिका होती है। उपनिषदो के तत्वज्ञान की भी ऐसी भूमिका देखी जा सकती है। आधुनिक युग में भी सस्कृति, दर्शन और नैतिकता की सामाजिक पृष्ठभूमि के प्रति विद्वानो और पडितो मे न्यूनाधिक अविश्वास वर्तमान है। जीवन को व्यवस्थित करने की चिता सामाजिकता के स्वरूप को विकसित, पल्लवित तथा प्रतिफलित करती है अतएव सत-साहित्य के अध्ययन के लिए समाज को विकासमूलक प्रक्रिया तथा साधना एव साहित्य की परम्पराओ का अध्ययन अनिवार्य रूप मे अपेक्षित है।

सामाजिक प्रक्रिया राजनीतिक, धार्मिक, सास्थिक, सास्कृतिक और नैतिक चेतना में प्रतिफलित होती और उन्हें स्वरूप देती है। किसी समाज का इतिहास उस काल-विशेष की सीमा में मर्यादित नहीं, उसकी सुदीर्घकालीन परम्परा होती है, ऐसी अवस्था में ऐतिहासिक काल का प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन विभाजन सुविधाजनक होने पर भी पूर्णतया वैज्ञानिक नही, पारस्परिक अन्तर्भाव और अन्तरावलम्बन के कारण कोई काल-विभाग नितात विच्छिन्न और निरपेक्ष नही रह जाता। भौतिक जीवन की सुविधा-असुविधा का व्यापक प्रभाव समाज के विभिन्न सास्कृतिक स्तरो का निर्धारण करता है, जिसके आधार पर नैतिक धारणाओ का अध्ययन सभव होगा। सामाजिक-सास्कृतिक चेतना का तत्कालीन रूप ही व्यक्ति-विशेष में प्रतिफलित होता रहता है। सामाजिक प्रक्रिया को प्रवाह के रूप में नही देख मध्यकालीन चेतना को मुस्लिम आक्रमण का फल मानने का भ्रम होता रहा है [1] क्योकि उस काल मे इस्लाम के सगठित मतवाद, धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक व्यवस्था से भारतीय समाज को टक्कर लेना पडा था। समाज के विभिन्न स्तरों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं—भूमि-पति राजन्य और धर्माधिकारी पुरोहित वर्ग एव निम्नवर्गीय स्तर की प्रतिक्रियाएँ अभिन्न नही हो सकती। कबीर, जायसी और तुलसी का अध्ययन विभिन्न स्तरीय सास्कृतिक चेतना की भूमिका में होना चाहिए।

निम्नवर्गीय सतो के अध्ययन के लिए निम्न वर्ग की सास्कृतिक चेतना-धारा का अध्ययन अनिवार्य है जिसकी उपेक्षा ही भारतीय इतिहास ने की है। इस चेतना का इतिहास शिला-लेखो, दानपत्रों और मुद्राओ में सुरक्षित नही है। लोक-साहित्य, किंवदन्तियाँ, तत्कालीन साहित्य, स्मृति ग्रथो के नवीन भाष्य आदि के आधार पर ही यह इतिहास निर्मित किया जा सकता है। भक्तमालो में भक्तो के चरित्रो से अधिक तत्कालीन चेतना के सकेत वर्तमान हैं। परम्परा के अध्ययन के लिए जातक कथाओ, सिद्ध-नाथ-साहित्य, गोरख-बानी और सस्कृत-अपभ्रश साहित्य मे अत्यत उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है। जन-सस्कृति की चेतना के अध्ययन के लिए इस विपुल सामग्री का सर्वप्रथम उपयोग मैंने किया है।

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—इन्फ्लुएँस आव इस्लाम ऑन इन्डियन कल्चर (डॉक्टर ताराचद)।

सामाजिक अध्ययन में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध विवेचन की आवश्यकता उपस्थित की। व्यक्ति न तो समाज से पूर्णतया विच्छिन्न और निरपेक्ष प्राणी है और न सामाजिक माल-मात्र। सामाजिक संघर्ष और अन्विति में ही मार्क्सवादी मानव के व्यक्तित्व और चेतना के विकास और निर्माण होते हैं, एवं इनमें ही उसके आनन्द और अभ्यु के बीज निहित हैं। इस संघर्ष और अन्विति के अध्ययन की सामग्री व्यक्ति के जीवन और सामाजिक स्थिति तथा चेतना में प्राप्त होगी। संतों के उपेक्षित जीवन वृत्त की प्रामाणिक और पर्याप्त सामग्री हमारे सामने नहीं प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर जीवन चरित्र की ओर ध्यान गया और उसमें महत्व-स्थापना के लिए चमत्कारिक कथाएँ ही जुड़ती रहीं। विभिन्न मतवादों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह कथा स्पष्ट हो जाती है। सैद्धांतिक विचारों के निरूपण के लिए पारस्परिक संबंध और जीवन-चरित्र संबंधी किंवदंतियों की व्याख्या-विवेचना अनिवार्य थी। समकालीनता के आधार पर ही पारस्परिक आदान प्रदान की प्रक्रिया निश्चित नहीं की जा सकती। रामानंद, कबीर, रैदास आदि के संबंध-विवेचन में केवल काल-क्रम की समकालीनता अधिक महत्वपूर्ण नहीं पाई गई।

व्यक्तित्व विश्लेषण की समस्या ने संत-कवियों और उनके मतवादों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। प्रयोजनीयता के विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण ऐसे विचारकों के पूर्वाग्रह और निश्चित विचार ही परिलक्षित हुए। संत-कवि के विश्वासों और आस्थाओं को वर्तमान की दृष्टि से देखने के कारण कई महत्वपूर्ण भ्रमों की सृष्टि होती रही है।[१] विश्वास की विश्वसनीयता का अनुमापक है क्रियात्मक आचरण एवं मतिमूलक स्फूर्ति। मान्यताओं के बलपूर्वक दमन के द्वारा अथवा अपर्याप्त आधार पर विश्वास करना अनुचित ही नहीं बल्कि अहित भी है। संतों के विश्वासों के युक्ति संगत एवं उपयुक्त आधार के अन्वेषण के लिए उनके मानसिक विकास का अध्ययन आवश्यक हुआ। सिद्धांत और विश्वास की मतिमूलकता की कसौटी है तदनुरूप आचरण। सिद्धांत की उपयुक्तता मात्र सैद्धांतिक होने में नहीं बल्कि प्रयोगात्मक क्षमता की सम्बद्धता में है। सिद्धांत और प्रयोग का अन्योन्याश्रित संबंध ही सचाई का आवश्यक मानदण्ड है। आचार प्रवणता से आचरण की महत्ता और आचरण के औचित्य आदेश और आचार में संतों के प्रयोगात्मक सिद्धान्तों का महत्व प्रकट हुआ। अतः विच्छिन्न अपर्याप्त और अनुपयुक्त आधार पर किए गए मूल्यांकनों की आलोचना विवशता स्वतः हो गई और पुनर्मूल्यांकन का आधार उपस्थित हुआ।

पुनर्मूल्यांकन इस अध्ययन का प्रकृत विषय नहीं किन्तु संतों के अध्ययन-क्रम में पूर्व-मूल्यांकनों की व्याख्या विवेचना हुई और उनके विभिन्न आधारों पर ध्यान गया।[२]

---

१ 'सामग्री और आधार' शीर्षक अध्याय में कुछ विस्तार के साथ पारस्परिक संबंध और अन्वेषा के विभिन्न पूर्वग्रहों की विवेचना की गई है।

२ तुलसी का दृष्टिकोण—

> निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी॥
> सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
> जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
> नारि मुई गृह संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥—रा० च० मा०

मनोवैज्ञानिक, तार्किक, सौन्दर्य-शास्त्रीय, आर्थिक, दार्शनिक, नैतिक, सामाजिक एव तत्ववादी दृष्टिकोण से मूल्याकन के विविध स्वरूपो का विकास होता है और इनका अन्तर्भाव भी होता चलता है। पूर्व-निश्चित धारणाओ और पूर्वग्रहो को गभीरता और क्षमता देने के लिए मूल्याकन के सिद्धात और मानदण्ड स्थिर किए जाते रहे हैं। इनके आधार पर निजी मतवाद की सीमा का विस्तार और अन्य की सीमाओ का सकोचन भी किया जाता रहा है। अर्थशास्त्री की दृष्टि में मूल्य की धारणाओ के आधार हैं, वस्तु-विशेष की उपयोगिता-उपादेयता और उसकी क्रियात्मक क्षमता, जिनके आधार पर क्रमशः उपयोगितागत और विनिमयात्मक मूल्यो की सृष्टि होती है। अर्थ-शास्त्र की दृष्टि में क्रियात्मक मूल्य की ही महत्ता है। अर्थ-शास्त्रीय सुखवाद के आधार पर मानव-कल्याण की संभावना मानी गई है। उपयोगितागत मूल्य का विस्तार उपयोगितावादी दृष्टिकोण में हुआ है। व्याप्ति के विस्तार के कारण अर्थ-शास्त्र की भी नैतिक सीमाएँ स्वीकृत हुई। सत्ता अधिकार की समस्या है और अर्थ वितरण न्याय का प्रश्न। धर्म, सम्प्रदाय अथवा राजनीतिक सस्थाओ के साथ नीति-शास्त्रीय अन्य धारणाओ का गठ-बधन तो प्रत्यक्ष ही है। न्याय-शास्त्र के साथ न्यायाधिकरण का सबध राजनीतिक सत्ता तथा शासन-प्रणाली का अनुमापक है। धर्म-सम्प्रदाय के साथ सबद्ध नैतिकता आचार, धर्मानुष्ठान, विधि-निषेध और अनुष्ठान बन जाती है और सामाजिक सस्थान के साथ सबद्ध होकर रूढ परम्परा तत्ववादी निरपेक्षिता निरपेक्ष मूल्य की धारणा देती है। निरपेक्ष आनदवाद विषय-पक्ष से काव्य का "रसवाद" बन जाता है और अभिव्यक्ति (विधान) पक्ष से "कलावाद"। साम्प्रदायिक और धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत अन्तर्भाव कर सत-साहित्य के सौंदर्यगत अथवा कलात्मक मूल्य का प्रत्याख्यान ही लोगो ने किया है। कलाकार की सास्कृतिक चेतना और श्रोतृ वर्ग की सीमाएँ कला की सवेदनशीलता और प्रेषणीयता का नियमन करती है, जिन्हें परम्परा का आधार प्राप्त रहता है। प्रत्येक कवि सभी पाठको के लिए नही लिखता, कुछ वर्ग-विशेष के लिए लिखते हैं और कुछ अपने-आप अथवा अपने-जैसे कुछ व्यक्तियो के लिए। अन्तिम कोटि को ही कलावादी सज्ञा है। प्रत्येक जागरूक कलाकार कला-सवेदन-सबधी अपने सिद्धात उपस्थित करता है, अतः सतों द्वारा निरूपित-समर्थित सिद्धातो, परम्पराओ और चेतना की भूमिका में ही इस साहित्य का उपयुक्त अध्ययन सभव है।

रागात्मक प्रवृत्ति का निराकरण कर मूल्य के सबध में कोई युक्ति-सगत धारणा नही दी जा सकती। कबीर के अनुसार परखने की शक्ति ही मूल्य का निर्धारण करती है किन्तु लोभी और कामी में यह क्षमता नही रहती।[1] इस मूल्य के मूल में आकाक्षा का आधार

वर्णाश्रमाश्रयी लोक-कल्याण के दृष्टिकोण से शुक्ल सतों को वेद शास्त्र-निंदक और समाज-विरोधी मानते हैं और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य विधान की श्रेयता स्वीकार करनेवाले डाक्टर ताराचद भारतीय इस्लामी—सस्कृति (Indo-Islamic culture) के प्रतिनिधि। प्रगतिशील आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा को कबीर की प्रतिभा ध्वसात्मक, उनके विचार उलझे हुए और सामाजिक दृष्टिकोण रचनात्मक-तत्व से हीन दीख पड़े।

१. कबीर लहरि समद की मोती बिखरे जाइ।
बगुला मझ न जाणई, हस चुगे चुगे खाइ॥—क० ग्रं०, पृ० ७।

है किन्तु मेधा क्षोत्रा का संत कूपकमामिनी मानता है। ज्ञानांजन से परिशुद्ध दृष्टि ही कबीर के लिए प्रमाण है।[१] इस परखने की शक्ति के अभाव में मूल्य नहीं रह जाता और मूल्य-रहित वस्तुएँ भी मूल्य-संयुक्त हो जाती हैं।[२] जिन विचारों और धारणाओं के द्वारा संत को आत्म प्रसार की सम्भावना दीख पड़ी उनकी रक्षा के लिए वह सतत प्रयत्नशील हुआ और उनके मार्ग की बाधाओं को उसने पूर्ण विश्वास के साथ नष्ट करना चाहा। संतों के विचारों आस्थाओं और विश्वासों का विरोध उनके युग में कम नहीं हुआ था। कबीर ने कहा था कि जिसमें परखने की शक्ति नहीं उसके आगे बहुमूल्य-से-बहुमूल्य पदार्थ भी तुच्छ और व्यर्थ है। पारखी के कारण ही गुण का महत्व है अन्यथा नहीं।[३] और ऐसे पारखी कम होते हैं।

समस्या की अपूर्ण धारणा संकुचित दृष्टिकोण, परम्परा से विच्छिन्न करके देखने का मोह पक्षग्रह एवं वर्तमान की दृष्टि से अतीत दर्शन की प्रवृत्ति के कारण मूल्यांकन-संबंधी धारणाएँ भ्रांत बन जाती हैं। इन अपर्याप्त आधारों पर निर्धारित निष्कर्ष भ्रामक और भ्रमोत्पादक होंगे। समष्टिवादी दर्शन के अनुकूल न तो सामाजिक अहं को एकांत सत्य स्वीकार करने का मोह इस अध्ययन में मिलेगा और न व्यक्तिवादी धारणा के अनुसार व्यक्ति को निरपेक्ष स्वतंत्र विच्छिन्न और आत्म-केन्द्रित मानने का भ्रम। साहित्य न तो वर्गवादी चेतना का प्रतिफलन-मात्र है और न साहित्यकार के विच्छिन्न जीवन और विच्छिन्नता का चित्र। कवि न तो केवल जनवादी आंदोलन का सवाहक प्रतीक अथवा प्रतिनिधि है और न कल्पना के कुंजों का एकांत-गायक। कलाकार अतीत का प्रतिफलन, वर्तमान का मामक-चित्रकार और भविष्य का सूक्ष्म-द्रष्टा है।

संत साहित्य के अध्ययन की नवीन दिशा का संकेत पाठ-संशोधन की प्रक्रिया से प्रारंभ होकर भावों के अन्वेषण में प्राप्त हुआ। इस अध्ययन की एक विशिष्ट प्रणाली है, जिसकी अभी तक उपेक्षा ही होती आई है। जीवन की परम्परा बाह्य प्रभाव और चेतना की भूमिका में समाज के विभिन्न स्तरों का अध्ययन मैंने किया है। धार्मिक आंदोलनों की परीक्षा-समीक्षा द्वारा सामान्य तत्वों का संकेत यहाँ दिया गया है जिससे संत-साहित्य की चेतना के वास्तविक उद्गम के दर्शन किये जा सकें। संतों को हिंदी प्रान्तों में सीमित रखने के कारण वास्तविक धारा का परिचय प्राप्त नहीं होता। भक्ति की अविच्छिन्न धारा का विशिष्ट स्वरूप ही संत सम्प्रदाय में प्राप्त होता है। उच्चता विधान की जो क्रिया इस्लामी प्रभाव की परिणति मानी जाती है, परम्परा के अध्ययन ने इसकी मान्यता अस्वीकृत करने को बाध्य किया।

---

१ अंजन देह सबै कोइ दुक चाहन महि बिनान।
ग्यान अंजन जिह पाइया ते खोजन परवान। — कबीर (आदिग्रंथ)

२ एक अचंभा देखिया हीरा हाटि बिकाइ।
परिखणहारे बाहिरा कौडी बदलै जाइ॥ — क ग्र पृ ७०।३१४।

३ पैडे मोती बीखरया, अंधा निकसे जाइ।
जोति बिना जगदीस की जगत उलंघ्या जाइ॥ — क ग्रं, साखी ७१८।
जब गुण कूँ गाहक मिलै तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण को गाहक नहीं तब कौडी बदले जाइ॥ — वही, साखी ७११।

इतिहास की उपेक्षित दिशा के अध्ययन ने सतो की चेतना को स्पष्ट भूमिका दी जिसके आधार पर ही इनकी नैतिक धारणाओ और सास्कृत चेतना का अध्ययन सभव हुआ।

जीवन की गतिमूलक प्रक्रिया का व्यापक प्रभाव सतो की चिन्ता-धारा पर पडा है। सत रूढ अर्थों में दार्शनिक नही थे अत उन्हें शास्त्रीय दर्शन की दृष्टि से देखना उचित नही। विचार-धारा की परम्परा का जीवन-क्रम के साथ नूतन सासजस्य सदा होता आया है, एतदर्थ परम्परा का अध्ययन अपेक्षित हो गया। "चिन्ता-धारा" का पूर्वार्द्ध सतो की विभिन्न आस्थाओ का प्रामाणिक उल्लेख करता है जिसके अभाव में अन्य मतो के सिद्धातो के साथ समीक्षात्मक तुलना अवैज्ञानिक और अप्रामाणिक हो जाती। सारग्राही मानकर सतो का उपहास कुछ विचारको ने किया है, अत विभिन्न मतो के सिद्धातो के साथ तुलनात्मक समीक्षा द्वारा इनके वैशिष्ट्य का अध्ययन करना आवश्यक था। दो कलाकारो की तुलना अनुपयुक्त तो है किंतु मतवादो की तुलना स्पष्टता के लिए अनिवार्य। प्रेम की व्यापकता के कारण कुछ विचारको ने इन्हें प्रच्छन्न सूफी कहा अथवा दूसरो ने योग-ज्ञान के कारण नाथ परम्परा की अन्तिम कडी। इस कारण सतो के प्रेम-दर्शन, रहस्यात्मकता, प्रतीक-विधान और आनन्द-अन्वेषण का अध्ययन कुछ विस्तार के साथ मुझे करना पडा है। शब्दो का अव्यवस्थित प्रयोग समीक्षक की क्षमता और समीक्षा की कृपणता है। "रहस्यवाद" की कम-से-कम पाँच धारणाएँ हैं और उनमे से किसी एक धारणा द्वारा ही सतो की रहस्यवादिता को स्पष्टतया परिलक्षित नही किया जा सकता। "प्रतीकवाद" और प्रतीक-विधान एक नही। प्रतीको का अपना इतिहास होता है। प्रतीको के द्वारा सतो की विचार-धारा को जितना नही समझा जा सकता उससे अधिक विचार-धारा प्रतीको को स्पष्ट करती है। प्रतीक-विधान सतो के जीवन की चेतना, परिवेष्टन और सामाजिक एव परम्परागत सस्कार का परिसूचक है। इसी प्रकार सतो की (विशेष कर कबीर की) भाषा को अपभ्रश की पूर्वी-परम्परा के अनुबध में ही देखना अपेक्षित है। सिद्ध-साहित्य से स्पष्ट हो जाता है कि "ण" कार-बहुलता पजाबी की ही विशेषता नही। कुछ शब्दो का सानुनासिक उच्चारण तो "भोजपुरी"-प्रान्तो में आज भी प्रचलित है जैसे "हाथ" का हाथ", राम का "राम" और मान का "मान"। यह प्रक्रिया" "तवर्ग" और "पवर्ग" के वर्णों के साथ अधिक होती है और तवर्गीय "न" के पूर्व तो सानुनासिक उच्चारण स्वाभाविक ही है।

सतो की रचना का उद्देश्य था लोक-जीवन को सास्कृतिक चैतन्य से परिपूर्ण करना, विचारो और भावनाओ को क्षम रूप में प्रगट करना एव भावावेश के हर्षोल्लास-पूर्ण क्षणो को अनायास रूप से अभिव्यक्त करना। न तो काव्य की रचना करने का प्रण ही उन्होने किया था और न दिया था दार्शनिक होने का आश्वासन ही। उनकी कसौटी थी "राम" के साथ सम्बद्धता —

खरी कसौटी राम की खोटा टिके न कोय।
राम कसौटी सो टिके जो मरजीवा होय॥[1]

---

१. तुलसीदास ने भी इस मानदण्ड को स्वीकार किया है —

घूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु प्रसग सुगध बसाई॥
भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मगल करनी॥—मानस, बाल० १०।

संतों के मानवप्रद और दृष्टिकोण के प्रति सम्मान भाव रखते हुए भी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना एवं चिन्ता-धारा के विभिन्न स्वरूपों के तत्कालीन क्रम की भूमिका में मैंने संत-साहित्य का अध्ययन किया है। सामाजिक प्रक्रिया के विकासशील प्रवाह के साथ जीवन की अविच्छिन्न धारा के दर्शन भी मैंने किये हैं। साहित्य को उसकी पूर्ण धारा में देखने का प्रयास ही इस अध्ययन में प्राप्त होगा। साहित्य को जीवन की अन्य चेतनाओं से विच्छिन्न मान कर काव्यात्मकता का विचार मैंने नहीं किया है। केवल संत साहित्य के अध्ययन के लिए ही नहीं बल्कि साहित्य की किसी भी विशिष्ट धारा के अध्ययन के लिए नवीन दृष्टिकोण इस अध्ययन में प्राप्त होगा।

'कबीर' के प्रकाशन से संत-मत के चेतना विकास की परम्परा की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ था और 'संत कबीर'[1] के प्रकाशन से संत-साहित्य की सामग्री के संगठन की ओर। 'संत मत' के अध्यापन-अध्ययन क्रम में इस उपेक्षित साहित्य की तात्त्विक विवेचना के प्रति आकर्षण जगा। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने विवरण-सूची के संबंध में और डा हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अध्ययन के क्रम म कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये जिनसे मैंने लाभ उठाने की चेष्टा की है। पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद ने अपना शोध प्रणाली-संबंधी विशद ज्ञान मेरे लिए उदारतापूर्वक सुलभ कर दिया। डा द्विवेदी और डा प्रसाद ने अपने कार्य-संकुल जीवन-क्रम से समय निकाल कर इस प्रबंध के कुछ अंशों को देखने की उदारता भी दिखलाई। भारती-मंदिर के इन कृतविद्य और कीर्ति-लब्ध उपासकों द्वारा इस अध्ययन की प्रेरणा मुझे मिलती रही और मेरे अस्तव्यस्त जीवन में भी कार्य करने की संलग्नता सक्षम रह सकी, जिसके अभाव में इस अध्ययन का पूर्ण हो सकना ही संदेहास्पद था एतदर्थ इनके प्रति मैं कृतज्ञतापूर्ण हार्दिक आभार स्वीकार करता हूँ।

रामखेलावन पाण्डेय

सामग्री और आधार

पाट पटारब पेलि करि, कपर लीया हाथि।
जोड़ी बिछुटी हंस की, पड्या बगां के साथि॥

—कबीर ग्रंथावली (पृ० ७७/३३३)

ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तो सुख पावै।
कहै कबीर कछु कहत न आवै, परचै बिना मरम को पावै॥

मध्यकाल

★

"मध्य-काल" का तात्पर्य है कि यह युग अतीत और वर्तमान की कडी है, वह न तो सुदूर अतीत की भाँति एकात रूप से अतीत ही हो गया है और न वर्तमान के समान पूर्णतया प्रत्यक्ष है। वर्तमान की सीमाएँ निश्चित की जा सकती हैं, और की भी गई हैं किन्तु अतीत की कोई निश्चित तिथि नही। ऐसी अवस्था मे "मध्यकाल" का यथार्थ अनुसधान कर सकना सुगम नही होता। अतीत, वर्तमान और भविष्य का विभाजन सुविधाजनक तो है किन्तु वास्तविक नही, कारण कोई अतीत पूर्णतया अतीत नही होता। वर्तमान में वह प्रच्छन्न भाव से अन्तर्भूत रहता है एव भविष्य तो इन दोनो के सभावित विकास की इगित दिशा है। दिक् और काल की इन क्षुद्र सीमाओ को सत स्वीकार नही करता और इन पर विजय प्राप्त करने मे वह सचेष्ट है। उसका विश्वास है कि चैतन्य की अखण्ड और अबाधित धारा काल की क्षुद्र सीमाओ मे सकुचित नही रहती। पश्चिम की यान्त्रिक अत औद्योगिक क्रान्ति से उस काल का प्रारभ माना जाता है जिसे आधुनिक युग कहा गया है किन्तु भारतीय जीवन पर इसका व्यापक प्रभाव उन्नीसवी सदी से पहले अधिक नही दीख पडता। 'मध्य काल' शब्द का प्रयोग काल-विशेष के अर्थ में अधिक नही होकर मनोवृत्ति विशेष के अर्थ में होता है। अतीत काल प्रयास और विकास, स्फूर्ति और कर्मण्यता का युग माना जाता है और मध्यकाल स्थिरता, जडता और गतिशून्यता का, प्राचीन निर्माण का युग है और मध्यकाल टीका, व्याख्या, एव सकलन का। प्राचीन काल में, ऐसे विचारको की दृष्टि में ज्ञान के प्रति जिज्ञासा बनी रहती है, अनुसधान और अन्वेषण की जागरूक चिन्ता रहती है और मध्यकाल में प्राचीन काल के अर्जित बुद्धि-वैभव और वैभव-विलास का प्रदर्शन, एव आप्त वाक्यो को चरम प्रमाण स्वीकार कर चलने की प्रवृत्ति का आग्रह। "मध्यकाल" ऐसी अवस्था में निराशा और सकोच तथा ह्रासोन्मुख पतनापेक्षी मनोवृत्ति का युग हो जाता है। भारतीय और यूरोपीय इतिहास के मध्य-काल पूर्णतया एक नहीं, यद्यपि कुछ समय दोनो साथ साथ

चलते हैं। काल का यह विभाजन अयथार्थ ही है और चिन्ता धारा की गति में इसकी स्पष्ट और निर्दिष्ट सीमाएँ नहीं देखी जा सकतीं।[१]

गुप्त साम्राज्य के द्वारा भारतीय इतिहास में असामान्य उत्कर्षपूर्ण महत्व की स्थापना हुई और जीवन में अपूर्व मात्रा का संचार दीख पड़ा। राजनीतिक क्षेत्र में एक सबल साहित्यिक क्षेत्र में भव्य निर्माण और प्रवर्तन कला म विशिष्ट पूर्णता और धर्म साधना के क्षेत्र में नवीन सामंजस्य और समन्वय दिखाई पड़ने लगे। कालिदास की भव्यता में गुप्तकालीन शान्ति और प्रभा-मण्डल का चित्र अंकित है। पौराणिक धर्म के रूप में वैदिक धर्म का उत्तर विकास इस काल में हुआ। गुप्त साम्राज्य के सबल उत्तरावशेष-काल में अनेक प्रादेशिक शासकों ने स्वतन्त्रता उद्घोषित की। गुप्त—साम्राज्य का सामंत-संघ बिखर गया एवं वलमी मे मैत्र मगध में गुप्त मालवा में हूण कन्नौज में मौखरी और थानेश्वर में वर्धन शक्तिशाली हुए। पारस्परिक स्पर्धा के कारण संघर्ष की जो नींव पड़ी उसका साधारण निराकरण ही हर्ष-काल में सम्भव हो सका किन्तु यह ज्योति भी क्षण-स्थायी ही सिद्ध हुई। इस प्रकार प्रायः छठी सातवीं शताब्दी से उस मनोवृत्ति का प्रारम्भ देखा गया है जिसे मध्यकालीन कहा गया है। ऐतिहासिकों के साथ यह विश्वास करना सरल नहीं कि केन्द्रीय शासन की निर्बलता के कारण ही भारतीय जीवन पर ऐसा प्रभाव पड़ा। * इस काल में चन्द्रगुप्त अशोक, समुद्रगुप्त अथवा हर्ष जैसे व्यक्तियों के दर्शन नहीं होते कारण स्पष्ट है कि जन-जीवन को एकत्र प्रकाश करने वाली क्षमता का लोप हो चुका रहता है जिस सूत्र में विशाल जन-जीवन और उसके प्रत्येक स्तर को ग्रथित किया जा सके। सामाजिक जीवन की व्यापक विच्छिन्नता ही राजनीतिक जीवन में प्रतिफलित हुई।

अनेक प्रकार के घात-प्रतिघात बारहवीं शताब्दी तक चलते रहे और तेरहवीं शताब्दी से एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति का उदय होता है। कुछ ऐतिहासिकों के अनुसार सोलहवीं शताब्दी ही मध्यकाल का अन्त है। यूरोपीय इतिहास के लिए यह कथन सत्य हो सकता है, किन्तु भारतीय इतिहास के लिए नहीं। इसकी व्याप्ति साधारणतया अट्ठारहवीं शताब्दी तक है। मध्य-काल को पूर्व मध्यकाल (७ ० १२) और उत्तर मध्य-काल (१२ १ १८) के विभागों में विभाजित करने की भी प्रथा है। इस काल का विभाजन हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भक्तिकाल और रीतिकाल के रूप में होता है, किन्तु जिसे हम 'वीरगाथा काल" कहने के अभ्यस्त हैं वह भी इसी काल में पड़ता है। अपभ्रंश-काल में भी मध्य-काल की ही व्याप्ति है।

---

१ डा ईश्वरी प्रसाद का निम्नलिखित मत मान्य नहीं हो सकता —

Th divi ions must be observed in European as *in Indian* history for in the one as in the other the three periods are in such marked contrast witl one another

—मिडिवियल इण्डिया (भूमिका) पृ २१

* इतिहासकार कार्लाइल की इस धारणा से मुक्त नहीं कि प्रधान व्यक्तियों का इतिहास ही राष्ट्र का इतिहास होता है।

ऐतिहासिक सामग्री—

इतिहास न तो राजाओं और राज-वंशों के उद्भव-विकास एवं विनाश की कथा मात्र है एवं न तो केवल घटनाओं का संकलन। साहित्य का इतिहास भी उसी प्रकार ग्रंथों एवं ग्रन्थकारों के उद्भव, विकास और विलयन की कथामात्र नहीं, काल की संकुचित परिधि में साहित्य की प्राणवत धारा को सीमित और आबद्ध नहीं किया जा सकता। साहित्य और समाज में घनिष्ठतम सम्बन्ध और सम्पर्क है, यद्यपि साहित्य समाज का दर्पण मात्र नहीं हो सकता। समाज विकासशील और गतिमान् प्रक्रिया है और साहित्य में इसकी जीवत चेतना धारा ही प्रवाहित होती है। साहित्य के माध्यम से उस मानवीय स्फूर्ति एवं चैतन्य की प्राण धारा का अध्ययन सम्भव है जिसने जीवन को प्रेरणा और गति दी थी। मनुष्य की यह चैतन्य-धारा ही इतिहास की घटनाओं को एक सूत्रता प्रदान करती है।[२] केवल परिस्थितियाँ मनुष्य का निर्माण नहीं करती बल्कि मनुष्य भी इतिहास की धारा को परिवर्तित करने अथवा मोडने की सामर्थ्य रखता है, और इस प्रकार इतिहास का नव-निर्माण करता है। जिस प्रकार परिस्थितियाँ मनुष्य को अपने साँचे में ढालती हैं, उसी प्रकार वह भी उस साँचे के निर्माण करने में समर्थ होकर उसे शक्ति प्रदान करता है।

विचार-धारा सदा रूढ और निर्दिष्ट नहीं रह सकती, परिस्थितियों के परिवर्तन से उसके स्वरूप का संशोधन होता है। विचार-धारा भी अपने प्रभाव-वैशिष्ट्य द्वारा परिस्थितियों के स्वरूप परिवर्तन मे सहायक होती है। क्रिया-प्रक्रिया और प्रतिक्रिया अजस्र झरनेवाली निर्झरिणी की भाँति चलती रहती है। मूल-धारा का प्रारम्भ किस युग में हुआ इसका प्रामाणिक उल्लेख सम्भव नहीं, प्राकट्य के अनेक पूर्व उसका प्रारम्भ हो चुका रहता है। और विलयन के पश्चात् भी वह पूर्णतया विलीन नहीं होती। अनेकानेक धारा-उपधारा उसे पुष्ट और प्रबल बनाती हैं और अन्त में वह अनेक उपधाराओं में विभक्त होकर प्रच्छन्न हो जाती है। मध्य-काल मे अत, न तो वैष्णव धर्म ही आधुनिक था और न अहिंसा ही, न भक्ति इस देश के लिए अपरिचित थी और न ज्ञान ही अपूर्व। न तो आचरण-प्रधान वैयक्तिक धर्म का अभाव था और न उच्चता स्थापन की भावना-धारणा का लोप। परिस्थितियों के आन्तरिक गठन और सांस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप ही चेतन-धारा का विशिष्ट स्वरूप प्रकट होता है और कोई प्रवृत्ति ऐसी नहीं जिसका बीज-वपन किसी-न किसी रूप में पूर्वकाल में नहीं हुआ हो।

---

२ द्रष्टव्य—Now here we have to take note of the contemporary motive factor which rules national undertakings in every human community and in every age and clime The factor is the spritual sentiment and the faith for the time-being If the historian misses to read that, and mere attempts to record the catalogue of facts, he misses the bird and counts the feathers It is more than doubtful whether he can read his facts correctly without reading the curves of national thought and sentiment

—जायसवाल हिस्ट्री आफ इण्डिया, लाहौर (१९३३) पृ० ४८।

घटना विशेष अपने प्रवाह से विच्छिन्न नहीं उसकी सजीवता गतिहीन काल स्थिति में निहित न होकर सतत प्रवहमान काल की व्याप्ति में सुरक्षित रहती है। भारतीय समाज बहुत पहले से एक अविच्छिन्न एकता की सूचना मिलती है किन्तु सामाजिक स्तरों की छान-बीन करने से निम्न-स्तर की विभिन्न सांस्कृतिक चेतना की क्षीण धारा स्पष्ट रूप में दीख पड़ेगी। वैज्ञानिक दृष्टि से भारत का यथार्थ इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया है। राष्ट्रीय अथवा मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखे गये इतिहासों में प्रचलित एवं अपने सोचने में घटनाओं को संघटित करने का प्रयास ही रहता है। निम्न-स्तर के समर्थों के कृत्यों का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उनकी चेतना का विशेष उद्घाटन नहीं। इस चेतना के अध्ययन की विपुल किन्तु अपर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। उत्तर उपनिषदें धर्म शास्त्र और उनकी विभिन्न टीकाएँ, पौराणिक कथाएँ, भक्ति कालीन साहित्य भक्तमाल और धर्म साधनाओं का साहित्य इस चेतना-धारा को समझने-समझाने में पर्याप्त सहायक हो सकते हैं। इसके साथ ही विभिन्न रीति-नीति धर्मानुष्ठान और कृत्य के द्वारा महत्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन संभव है। लोक-धर्म और लोक भावना का प्रबल प्रभाव इस साहित्य के माध्यम से देखा जा सकता है। सामाजिक चैतन्य-धारा को इसके पूर्ण परिपार्श्व में नहीं देख सकने के कारण महत्वपूर्ण भूलें होती रही हैं।

धर्म-साधनाओं में पूर्ववर्ती और परवर्ती सम्प्रदायों की चर्चा भी कुछ कम भ्रामक नहीं। बौद्ध-काल कहने का यह कदापि तात्पर्य नहीं कि उस काल में वैदिक क्रियाएँ लुप्त हो गई थीं और बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त और कोई दूसरी धर्म-साधना मान्य नहीं थी। ब्राह्मण धर्म के उदय का यह अर्थ नहीं कि बौद्ध धर्म-साधना उस समय नितांत विलुप्त हो गई थी। वैदिक धर्म शास्त्र और यज्ञ-कर्म का उत्तर विकास औपनिषदिक ज्ञान-मार्ग के रूप में प्रकट हुआ। राजतंत्रीय इन्द्र-पूजा विधायिका यज्ञ-क्रिया के विरोध में गणतंत्रीय बौद्ध धर्म ने आचरण-प्रधान आन्तरिक शुद्धता की धारणा से प्रभावित विचार-धारा का प्रतिपादन किया। क्रिया की वैज्ञानिक रक्षा से पवित्रता महत्वपूर्ण स्वीकृत हुई। औपनिषदिक ज्ञान प्रक्रिया के अनुकूल बौद्धधर्म ने अपने विचारों को तर्क-सम्मत बनाने की चेष्टा की। धर्म की रूढ़िवादिता विरोध को जन्म देती है। गुप्तकालीन साम्राज्य के विशृंखल होने पर विच्छिन्न साम्राज्यों की नींवें पड़ीं उसी प्रकार पौराणिक धर्म के विरोध पुनः प्रकट होने लगे जैसा बौद्धकाल में वैदिक धर्म के विरोध में हुआ था। टकराव अब वैदिक और बौद्ध धर्मों में नहीं था बल्कि नव परिवर्तित वैदिक-पौराणिक और बौद्ध धर्म के नवीन अभियान में था। दोनों ने अन्य धाराओं के योग से सफलता प्राप्त की थी। प्रत्येक धर्म-साधना इस विशृंखल युग में अपने प्रभुत्व-स्थापन का मार्ग ढूँढ़ रही थी। राज-कुलों की सीमा-व्याप्ति चपलता और अस्थिरता के कारण साधारण जनता पर प्रभाव डालना आवश्यक हो गया था।

गुप्तकालीन स्वर्ण युग की पौराणिकता उच्चस्तर को ही अभिभूत कर सकी थी। साधारण जनता कु-संस्कारों से जकड़ी अंधविश्वासों में फँसी अन्-शिक्षित अचैतन्य रूप में धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करनेवाली अतः धर्म-शून्य थी। मुस्लिम धर्म ने आकर इस साधारण जनता को अपनाना शुरू किया। इस होड़ में पौराणिक धर्म ने कर्म और ज्ञान का पल्ला छोड़ कर भक्ति को महत्वपूर्ण माना और समानता की धारणा को स्वीकृत

किया। निम्न स्तरीय चेतना ने अपनी महत्ता की स्थापना के लिए अपने ज्ञान और भाव भक्ति का निर्घोष किया। परम्परा से आते हुए विरोध के स्वर ने स्पष्टता मात्र प्राप्त की। तन्त्र के प्रभाव में बौद्ध, जैन, ब्राह्मण सभी तान्त्रिक बने। "लोकायन" और बौद्ध धर्म का समन्वित रूप तत्र का विकृत स्वरूप हुआ। साम्प्रदायिक ग्रथो के उद्घाटन-अनुशीलन के साथ मत मतान्तर, शाखोपशाखा लोक-कथा, मूर्ति-मदिर, ्जोपासना की विधि एव अनुष्ठान, रीति-नीति, आचरण-विचारण से पूर्णतया परिचित होना पडेगा। ऐतिहासिक सामग्री उपस्थित करने में अपभ्रश और देशी भाषाओ की सामग्री का अत्यन्त विरल उपयोग हुआ है। हिंदी साहित्य का जो उपयोग हुआ है, वह तो अत्यत नगण्य ही है।

धर्म-साधनाओ के अध्ययन के लिए जिस प्रकार सामाजिक स्थिति के परिचय की अपेक्षा है, उसी प्रकार सामाजिक-सास्कृतिक स्थिति की प्रामाणिक चर्चा के लिए साहित्यिक सामग्री का उपयोग अनिवार्य। निम्न स्तरीय चेतना को समझने में पुरातत्व की सामग्री अधिक सहायता नही दे सकती और न चित्र-कला तथा सगीत। साहित्य, धर्म-सम्प्रदाय-साहित्य, पुराण, धर्म-शास्त्र, और उनकी विभिन्न टीकाएँ और व्याख्याएँ तथा लोक-जीवन की गाथाओ से सहायता लेनी पडेगी। सास्कृतिक चेतना के अध्ययन की विपुल सामग्री उपलब्ध है। प्रथम बार इस सास्कृतिक चैतन्य धारा के अध्ययन मे इस सामग्री का यहाँ उपयोग किया गया है। विभिन्न सास्कृतिक स्तरो के अध्ययन के लिए केवल तुलसीदास की प्रतिक्रियाएँ पर्याप्त नही होगी, जायसी और कबीर मध्यकालीन सास्कृतिक चेतना के अध्ययन के लिए कम उपयोगी नही।

अपनी विभिन्नताओ में विश्रृंखल दीख पडनेवाले भारतीय जीवन मे अन्तर्भूत एकता है और इन सत कवियो को केवल हिन्दी प्रान्तो में सीमित करके नही देखा जा सकता। हिंदी साहित्य के इतिहास को अपने आप में पूर्ण मानने के कारण महत्वपूर्ण भ्रम होते रहे हैं। आधुनिक भारतीय भाषाएँ अपभ्रश की उत्तराधिकारिणी हैं। अपभ्रशो में प्रादेशिक विभेद भी थे। जैनाचार्यो का पाठक वैभव- सम्पन्न एव शिक्षित समुदाय का था, प्रबध उनका माध्यम बना। सिद्धो और नाथों का पाठक-श्रोता अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित वर्ग था, दोहा और गीत उनके माध्यम बने। प्रारभिक मध्यकाल मे साधना की जो उलझी हुई गुत्थी दीख पडती है, उसमें तान्त्रिक और यौगिक प्रभाव स्पष्ट है। ज्ञान, कर्म और भक्ति विच्छिन्न नही रह सकी और एक के साथ दूसरे का सबध होता गया। कर्म वैदिक याज्ञिक क्रिया मात्र न रह कर कर्तव्य बन चुका था। इस काल में आकर भक्ति का उदात्त और सरस प्रवाह प्रवाहित होने लगा, ज्ञान जिसका आधार है, कर्म जिसकी परिणति। महाराष्ट्रीय सतो के अध्ययन द्वारा कई महत्वपूर्ण भ्रमो का निवारण सभव है। महानुभाव पथ निर्गुणोपासक और मूर्त्तिपूजा-विरोधी है। स्त्री और शूद्रो को भी सन्यास-ग्रहण करने का अधिकार इस पथ में स्वीकृत है। इस पथ के सस्थापक भडोच के राजा चद्रधर थे, जिन्होने १२६३ ई० में सन्यास लिया था। भक्ति और ज्ञान का समन्वय वारकरी पथ में स्पष्ट है। गीता की ज्ञानेश्वरी टीका और एकनाथी भागवत इसका स्पष्ट सकेत करते हैं। एकनाथी भागवत के अनुसार भक्ति मूल है और ज्ञान फल। इसके साथ ही सत ज्ञानेश्वर योग को स्वीकृत करते हैं जिसकी सुदीर्घकालीन परम्परा थी। प्राण-विद्या एव प्राणोपासना का उल्लेख कई उपनिषदो में आया है। उत्तर-कालीन उपनिषदो में अनेक की रचना यौगिक-क्रिया-विधान को स्पष्ट करने के लिए हुई।

घटना विशेष अपने प्रवाह से विच्छिन्न नहीं उसकी सजीवता गतिहीन काल-स्थिति में निहित न होकर सतत प्रवहमान काल की व्याप्ति में सुरक्षित रहती है। भारतीय समाज कहने से एक अविच्छिन्न एकता की सूचना मिलती है किन्तु सामाजिक स्तरों की छान-बीन करने से निम्न-स्तर की विभिन्न सांस्कृतिक चेतना की क्षीण धारा स्पष्ट रूप में दीख पड़ेगी। वैज्ञानिक दृष्टि से भारत का यथार्थ इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया है। राष्ट्रीय अथवा मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखे गये इतिहासों में प्रक्षेपण एवं अपने चौखटे में घटनाओं को संघटित करने का प्रयास हो रहता है। निम्न-स्तर के समर्थों के कृत्यों का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उनकी चेतना का विशेष उद्घाटन नहीं। इस चेतना के अध्ययन की विपुल किन्तु अपर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। उत्तर उपनिषदें धर्म शास्त्र और उनकी विभिन्न टीकाएँ, पौराणिक कथाएँ, भक्ति कालीन साहित्य मध्यकाल और धर्म साधनाओं का साहित्य इस चेतना-धारा को समझने-समझाने में पर्याप्त सहायक हो सकते हैं। इसके साथ ही विभिन्न रीति-नीति धर्मानुष्ठान और कृत्य के द्वारा महत्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन संभव है। लोक-धर्म और लोक भावना का प्रबल प्रभाव इस साहित्य के माध्यम से देखा जा सकता है। सामाजिक चैतन्य-धारा को इसके पूर्ण परिपार्श्व में नहीं देख सकने के कारण महत्वपूर्ण भूलें होती रही है।

धर्म-साधनाओं में पूर्ववर्ती और परवर्ती सम्प्रदायों की चर्चा भी कुछ कम भ्रामक नहीं। बौद्ध-काल कहने का यह कदापि तात्पर्य नहीं कि उस काल में वैदिक क्रियाएँ लुप्त हो गई थीं और बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त और कोई दूसरी धर्म-साधना मान्य नहीं थी। ब्राह्मण धर्म के उदय का यह अर्थ नहीं कि बौद्ध धर्म-साधना उस समय नितांत विलुप्त हो गई थी। वैदिक धर्म शास्त्र और यज्ञ-कर्म का उत्तर विकास औपनिषदिक ज्ञान-मार्ग के रूप में प्रकट हुआ। राजनीय इन्द्र-पूजा विधायिका यज्ञ-क्रिया के विरोध में गणतंत्रीय बौद्ध धर्म ने आचरण-प्रधान आन्तरिक शुद्धता की धारणा से प्रभावित विचार-धारा का प्रतिपादन किया। क्रिया की वैधानिक रक्षा से पवित्रता महत्वपूर्ण स्वीकृत हुई। औपनिषदिक ज्ञान प्रक्रिया के अनुकूल बौद्धधर्म ने अपने विचारों को तर्क-सम्मत बनाने की चेष्टा की। धर्म की रूढ़िवादिता विरोध को जन्म देती है। गुप्तकालीन साम्राज्य के विशृंखल होने पर विच्छिन्न साम्राज्यों की नींवें पड़ी उसी प्रकार पौराणिक धर्म के विरोध पुनः प्रकट होने लगे जैसा बौद्धकाल में वैदिक धर्म के विरोध में हुआ था। टक्कर अब वैदिक और बौद्ध धर्मों में नहीं था बल्कि नव परिवर्तित वैदिक-पौराणिक और बौद्ध धर्म के नवीन अभियान में था। दोनों ने अन्य धाराओं के योग से सफलता प्राप्त की थी। प्रत्येक धर्म-साधना इस विशृंखल युग में अपने प्रभुत्व-स्थापन का मार्ग ढूँढ़ रही थी। राज-कुलों की सीमा-व्याप्ति क्षणिकता और अस्थिरता के कारण साधारण जनता पर प्रभाव डालना आवश्यक हो गया था।

गुप्तकालीन स्वर्ण-युग की पौराणिकता उच्चस्तर को ही अभिभूत कर सकी थी। साधारण जनता कु-संस्कारों में जकड़ी अंधविश्वासों में फँसी अ-शिक्षित अर्थहीन रूप में धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करनेवाली अतः धर्म-शून्य थी। मुस्लिम धर्म ने आकर इस साधारण जनता को अपनाना शुरू किया। इस क्षेत्र में पौराणिक धर्म ने कर्म और ज्ञान का पल्ला छोड़ कर भक्ति को महत्वपूर्ण माना और समानता की धारणा को स्वीकृत

का निर्माण होता है। आगस्त कोत के अनुसार मानवीय ज्ञान के तीन सोपान हैं— धार्मिकता (व्यक्तित्वपूर्ण देववाद), दार्शनिकता (निर्वैयक्तिक ब्रह्मवाद) और वैज्ञानिकता। किन्तु स्मरण रखना होगा कि वैयक्तिक चेतना, जिसका मूलाधार सामाजिकता और सस्कृति है, इनकी सीमाओ को स्पर्श करती रहती है। धर्म को स्वीकार कर मनुष्य अ-धार्मिक कार्य करता है और अ-धार्मिक मनुष्य का धर्माचरण असम्भव नही।

सत-साधनधारा सिद्धो-नाथो-निरजन-पथियो से प्राण पाती हुई, नामदेव, त्रिलोचन, पीपा और धन्ना से प्रेरणा लेती हुई कबीर, रैदास, नानक, दादू, सुन्दर, पलटू आदि अनेक संतो में प्रकट हुई। इनमें औपनिषदिक तत्ववाद की झलक भी है और वेद विरोध का उच्च-स्वर भी। नैतिक जीवन की बौद्ध धारणा भी तथा योग-मार्ग की शब्दावली भी। अनेक धाराएँ जो पूर्ववर्ती काल में इसे समृद्ध बनाने में समर्थ हुई थी, कालान्तर में विशृखल होकर बिखर गई, नवीन स्वरूप ग्रहण कर विच्छिन्न हो गई अथवा वैष्णव तथा इस्लामी सम्प्रदायो में मिलकर उनमें अन्तर्भूत हो गई। अठारहवी शताब्दी तक आते-आते यह धारा कुंठित-सी हो जाती है। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने अपने सम्प्रदायो और पथों के कोष "उत्तरी भारत की सत-परम्परा" में महात्मा गाँधी में इसकी परिणति देखी है। कुछ अशो में मध्यकालीन प्रवृत्ति का प्रभाव भारतीय जीवन पर अक्षुण्ण है किंतु कई समानताओ के रहने पर भी सन्त-चेतना और गाँधी-जीवन-दर्शन मे तात्विक अतर है। सत-साधना की शक्ति आतरिक और आध्यात्मिक क्षमता में है, अन्तर्भूत एकता वैयक्तिक अनुभूति है। गाँधीवाद यदि इसे "वाद" कहा जा सके—सघबद्धता की शक्ति स्वीकार करता है। सत के लिए आचरण सहज-स्वरूप का प्रकाशक है और गाँधीवाद की धार्मिकता राजनीतिक सूत्र की सग्राहिका। सत मानवतावादी है, भावुक मानववादी (Emotional Humanist), गाँधी हैं मानव-कल्याणवादी (Humanitarian)। आभिजात्य वर्गीय गाँधी मानव की आन्तरिक क्षमता की जागर्ति से अधिक आभिजात्यों के हृदय-परिवर्तन का स्वर ऊँचा कर सकने में समर्थ हो सके। उन बन्धनो में जकड कर ही गाँधी ने निम्न स्तरीय वर्ग को राजनीतिक चेतना का सदेश दिया। सत सहज थे, और गाँधी राजनैतिक महात्मा।

परम्परा की भूमिका में ही मध्यकाल के तत्कालीन वैशिष्ट्य को देखा जा सकता है, अतीत से विच्छिन्न करके नही।

संत-साहित्य—

सम्प्रदायों और पथो के सगठन के पश्चात् आदि-गुरुओं की वाणियाँ संगृहीत और स्वमतानुसार सपादित की गईं और इस प्रकार अपने मत को ही गुरु की वास्तविक परम्परा में सिद्ध करने का प्रयास होता आया। पूर्ववर्ती सम्प्रदायों ने अपने साहित्य का नवीन सस्कार किया और पूर्ववर्ती पद परवर्ती प्रवर्तको के नाम प्रचलित हो गए। गोरख, कबीर, नानक और दादू के नाम पर मिलने-वाले एक ही पद का यह रहस्य है। केवल सम्राट् ही इस देश मे दिग्विजय नही करते थे बल्कि धर्म-प्रचारक और धर्मोपदेशक भी। केवल सम्राट् ही चक्रवर्ती नही होता था बल्कि धर्माचार्य भी। पराजित पण्डितो और आचार्यों से कर वसूल कर अथवा अपना अनुयायी बना कर अथवा वध की व्यवस्था कर अपने पाण्डित्य और मतवाद की श्रेष्ठता

भागवत में भी योग-चर्चा है।[१] मुस्लिम और सूफी प्रभाव की व्याख्या-विवेचना के लिए इनके द्वारा उपस्थित किए गए साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। शेख फरीदुद्दीन शकरगंजी (११७३-१२६५) और अमीर खुसरो (१२५३-१३२५) की रचनाओं से तुलना करने पर संतों की विभिन्नता स्पष्ट हो सकती है। डा० अब्दुल हक ने अपनी पुस्तक "उर्दू की इब्तिदाई नशो व नुमा में सूफियाए कराम का काम" में सूफी-संतों की रचनाओं का अध्ययन उपस्थित किया है। तुलना के लिए शेख फरीदुद्दीन शकरगंजी की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :—

> सकी याद की करना हरघड़ी, यक तिल हुजूर सों टलना नईं।
> उठ बैठ में याद सों करना, गवाहदार को छोड़के चलना नईं॥

मुहम्मद कुली कुतुबशाह की एक रचना भी तुलना के लिए दी जाती है :—

> कुफर रीत क्या और इसलाम रीत।
> हरयक रीत में इश्क का राज है।
> बिनती कहा पिया को हम सेज थे न आवे ?
> उस बाज नैन मुझे ना नींद बाज क्यों गुमावे

धर्म-साधना, सम्प्रदाय और मतवाद की चर्चा होती रही है। "धर्म शब्द अत्यन्त परिचित होने पर भी परिभाषा की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। इसका प्रयोग कई विभिन्न और कभी-कभी विरोधी अर्थों में होता है। इस्लाम जिस अर्थ में धार्मिक सम्प्रदाय है, उसी अर्थ में हिन्दू धर्म नहीं। 'सम्प्रदाय' शब्द से संकीर्णता ध्वनित होती है, किन्तु कबीर नानक दादू आदि संतों में संकीर्णता का अभाव है। सम्प्रदायों का संगठन पंथ में साम्प्रदायिकों और विभिन्न साधन धाराओं के सम्मिलित हो जाने पर हुआ। हमने लक्ष्य किया है कि साधना धारा के अवशेष काल-विशेष में महत्व प्राप्त करनेवाली धारा में सम्मिलित हो जाते हैं। गोरखनाथ के प्रखर व्यक्तित्व के कारण अनेक पूर्ववर्ती सम्प्रदाय नाथ-पंथ में सम्मिलित हो गये एवं इस व्यक्ति के उठ जाने पर अपनी विभिन्नता स्थापित करने लगे। द्विवेदी ने अपने 'नाथ सम्प्रदाय' नामक ग्रंथ में ऐसे पूर्ववर्ती पंथों का उल्लेख किया है जो नाथ-सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये किन्तु किसी-न-किसी रूप में उनके स्वतन्त्र रूप की रक्षा होती रही। कबीरदास के उद्भव के साथ भी यह घटना घटित हुई। कबीर-पंथ की विभिन्न शाखाएँ इसकी ओर संकेत करती हैं। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव में आकर सहजिया सम्प्रदाय किस प्रकार वैष्णव बन गया इसकी कथा आज प्रकट ही है। निरंजन पंथ की कई शाखाएँ थीं और पंजाब में इस निरंजन पंथ कहा जाता था। बाद में नानक के प्रभाव में आकर इस पंथ ने अपना स्वरूप परिवर्तित किया यहाँ तक कि नानक अपने को निरंकारी कहते हैं। पीताम्बर जी बड़थ्वाल के मत पर कबीर नानक और दादू सभी निरंजनी थे। मध्यकाल की धर्म-साधना के इतिहास की प्रचुर सामग्री पंथ-साहित्य में बिखरी पड़ी है। इसे प्रकाश में लाने का प्रयत्न हो रहा है किन्तु पूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं।

सम्प्रदायों का संगठन भी शून्य में नहीं होता। सामाजिक भूमिका अन्तर्भूत सम्प्रदाय की गुरु-शिष्य परम्परा, दार्शनिक तत्ववाद की नूतन व्याख्या आदि कई प्रभावशाली कारणों से पंथों

---

१ विशेष विवरण के लिए बलदेव-उपाध्याय : धर्म और दर्शन, पृ १६४-१८९।

सात पुत्रो की चर्चा सकेतपूर्ण है। इन अखाडों में आचार, उपासना-पद्धति, यौगिक क्रिया आदि के सबध की विभिन्न धारणाएँ और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। "बीजक" को कबीर-पथी प्रामाणिक मानते हैं। कबीर पथ की दो मुख्य शाखाएँ हैं – कबीर चौरा (बनारस) वाली और छत्तीसगढी (धर्मदासी)। द्विवेदी के अनुसार सत्रहवी शताब्दी तक कबीरदास के श्रद्धालु भक्तों और शिष्यो ने दृढभाव से सम्प्रदाय सघटित करने की कोई आवश्यकता नही समझी।[1] बीजक के पद मुखस्थ और परम्परा-रूप में ही प्रचलित रहे। सम्प्रदायो के बीजको में थोडी-बहुत विभिन्नता है। टीकाकारो को यदि दृष्टि में रखा जाय तो कबीर को शास्त्र-सम्मत, असाधारण ज्ञानी और योगी, तथा सगुणोपासक सिद्ध करने की चेष्टा हुई। अनपढ और अर्द्धशिक्षित सतो की वाणी के प्रसाद से कबीर-वचन विकृत ही नही हुए बल्कि अन्यो की रचनाएँ भी सम्मिलित हो गईं। आदि नानक के पश्चात् अन्य सिक्ख-गुरुओ ने नानक के नाम से रचनाएँ की। आदि गुरु नानक के पद "महला पहला" द्वारा निर्देशित हैं।

वर्मा ने आदि-ग्रथ के पाठ और रचनाओ को अधिक-से-अधिक प्रामाणिक माना है।[2] दास द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित "कबीरग्रथावली" के पाठ पर द्विवेदी और वर्मा ने अपने-अपने ग्रथो में सविस्तर विवेचन किया है।[3] वर्मा ने ग्रथावली के पजाबीपन को अत्यन्त सदेह की दृष्टि से देखा है। "णत्व" की प्रधानता और सानुनासिक उच्चारण में पजाबीपन का नही बल्कि "पूर्वीपन" का स्पष्ट सकेत है, जो सिद्ध नाथ-साहित्य की परम्परा में है। ग्रथावली के "ण" से अत अधिक चिन्तित होने की आवश्यकता नही है। कुछ साधारण हेर-फेर के साथ कतिपय सिद्धो और नाथो के वचन सत-साहित्य में सन्निविष्ट हो गये है। सिद्धो की "णकार"-बहुल रचनाओ में साधारण-सा परिवर्तन कर देने पर सतो के पदो में घुलने-मिलने में कोई कठिनाई नही —

अक्खर वण्ण परमगुण रहिए। भणइ ण जाणइ एमइ कहिये ॥
तो परमेसुरु कासु वहिज्जइ। सुरअ कुमारी जिम पड़िज्जइ ॥[4]
अक्खर बरन परमगुण रहिए। मनइ न जानइ अइसे कहिए ॥
सो परमेसर कासों कहिए। सुरत कुँआरी जिमि पतियेहे ॥

गोरखबानी में सगृहीत पदो में "ण" कार की बहुलता है —

या पवन का जाणैं भेव। सो आपै करता आपै देव ॥
गोरख कहै सुणौ रे अवधू। अन्ते पाणी जोग ॥[5]

---

१ कबीर पंथ और उसके सिद्धान्त, वि० भा० प०, पृ० ४६१।
२ भक्त० की प्रियादासी टीका के अनुसार पथ की कल्पना उस समय हो चुकी थी, पृ० २५।
३ सत कबीर (प्रस्तावना), पृ० २२। ६ द्र०-कबीर (प्रस्तावना), पृ० १९-२० और सत कबीर (प्रस्तावना), पृ० ६-६।
४. सरहपाद ददहा कोष (ज०डि०ले) पृ० ५८
५ गो०बा०, पृ० ४६ और ५१

का प्रतिपादन किया जाता था। मण्डन मिश्र को शंकर से पराजित होकर सन्यास ग्रहण करना पड़ा था।[1] पाण्ड्य राजसभा में विद्वज्जन कोलाहल नामक एक दिग्विजयी पण्डित रहता था जिसमें राजा को अपार श्रद्धा थी। कोलाहल से हारनेवाले पण्डित को वार्षिक कर देना पड़ता था।[2] शंकर ने अनेक वैष्णवों, शैव शाक्तों बौद्धों और तान्त्रिकों को पराजित कर अपने मत में दीक्षित किया था। मौखिक होने के कारण संतों की वाणी में पाठ-भेद की ही संभावना नहीं रही बल्कि दूसरे व्यक्तियों की रचनाओं का प्रवेश पूर्णतया संभव हो गया। सिक्ख धर्म के उद्भव के साथ अनेक सम्प्रदाय उसमें भी सम्मिलित हो गए। आदि नानक की मृत्यु के कुछ ६५ वर्ष बाद सन् १६०४ ई० में पाँचवें गुरु अर्जुन देव ने पूर्व नानकों के पदों का संकलन करा भविष्य में होनेवाले सम्मिश्रण का द्वार बन्द कर दिया। उस समय भी प्रिथिया स्व रचित पदों को गुरु नानक के नाम पर प्रचलित कर रहा था। सिक्खों के भिन्न भिन्न सम्प्रदाय और मसन्द भी हैं किन्तु आदिग्रंथ सब के लिए समान भाव से मान्य है। आदि-ग्रंथ' के संकलन के पूर्व केवल उदासी सम्प्रदाय का संगठन हुआ था जिसके संस्थापक और प्रवर्तक आदि नानक के पुत्र श्री चंद थे किन्तु इस पंथ ने भी आदि ग्रंथ का कोई नूतन संस्करण नहीं किया। आदि-ग्रंथ की दो बीड़ें हैं—करतारपुर वाली बीड़ और भाई बन्नों की माँगटवाली बीड़ जिसे 'खारी बीड़' की संज्ञा मिली। गुरु गोविंद सिंह की रचनाएँ 'दसम पातिशाही' में संकलित हुई। आदि-ग्रंथों की दोनों बीड़ों में पाठ-भेद अथवा पद भेद नहीं भाई बन्नों की बीड़ में कुछ अंश अधिक हैं माया सबकी इसी में है। सिक्ख-सम्प्रदाय के विभिन्न पंथों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न सम्प्रदाय इसमें अन्तर्भूत हुए। "निर्मला" सम्प्रदाय आचार प्रधान एवं अपेक्षाकृत आभिजात्य वर्गीय है और जाति-व्यवस्था कुछ अंश तक इसमें स्वीकृत है। सुथराशाही सम्प्रदाय वस्तुतः सिक्ख धर्म की सूफी शाखा है जो सिक्ख धर्म में दीक्षित होकर भी स्वतन्त्र स्थिति रख सकी। आदि ग्रंथ में सिक्ख गुरुओं की रचनाओं के अतिरिक्त जयदेव नामदेव, रामानंद परमानंद त्रिलोचन सधना बेणी धन्ना पीपा सेन कबीर, रविदास (रैदास) मीराबाई, शेख फरीद भीखन और सूरदास के पद संकलित हैं। कबीर नामदेव रैदास और फरीद की रचनाओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है कुछ लोगों के तो केवल एक-एक ही पद है। विभिन्न पन्थ के अनुयायियों द्वारा ही इन संतों के पद संगृहीत किये गए थे। पाठ के संबंध में इस ग्रंथ से महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होगा।

कबीर के वचनों को इस प्रकार का संरक्षण प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला अतः पूर्वोक्त सम्प्रदायों के परवर्ती रूप की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा। पूर्वोक्त सम्प्रदायों ने अपने अनुरूप बना को ही कबीर के नाम पर प्रचारित नहीं किया बल्कि परवर्ती आचार्यों की रचनाएँ भी सम्मिलित होती रहीं। कबीर पंथियों के साथ बढ़ाते हैं वस्तुतः वे सब विभिन्न धर्म साधनाओं के कबीर-पंथी रूप हैं।[3] सत्गुरु के

---

१ उपाध्याय शंकराचार्य पृ० ८१।

२ विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—बल्लभाचार्य का बेलोगाँव पृ० ११२

३ हाँदी निराकारी वर संतो विचार।
निर्भी दीनम्मरो, मोषी निरभेदी साह ॥—ज्ञानविराग बोध, पृ० ११।

कम नही। इस सामग्री पर यहाँ कुछ विस्तार से विचार करने की अपेक्षा है। रैदास (रविदास) का एक पद रागु सोरठ के अन्तर्गत सकलित है :—

१. सुखसागरु सुरतर चिंतामनि कामधेनु वसि जाके।
२ चारि पदारथ असट दशा सिधि नवनिधि करतल ताके।
३. हरि हरि हरि न जपहि रसना।
४ अवर सब तिआगि वचन रचना।
५. नाना खिआन पूरान वेद विधि चउतीस अखर माही।
६ विआस विचारि कहिओ परमारथु राम नाम सरि नाही॥
७. सहज समाधि उपाधि रहत फुनि वडै भागि लिव लागी॥
८. कहि रविदास प्रगासु रिदै धरि जनम मरन भै भागी॥[1]

यही पद रागु मारू के अन्तर्गत आया है —

१. सुखसागर सुरितरु चिंतामनि कामधेन बसि जाके रे।
२. चारि पदारथ असट महा सिधि नवनिधि करतल ताकै॥
३ हरि हरि हरि न जपसि रसना।
४ अवर सभ छाडि बचन रचना॥
५ नाना खिआन पुरान वेद विधि चउतीस अछर माही।
६. बिआस बीचारि कहिओ परमारथु राम नाम सरि नाही॥
७ सहज समाधि उपाधि रहत होइ बडे भागि लिव लागी।
८. कहि रविदास उदास दास मति जनम मरन भ भागी॥[2]

रागु सोरठ के "असट दसा सिधि" (अष्टदश सिद्धि) से रागु मारू का "असट महासिधि" (अष्ट महासिद्धि) पाठ ही उपयुक्त होगा, सिद्धियो की आठ संख्या ही निश्चित है। सुरतरु को "सुरतर" और "सुरितरु" के रूपो में लिखा गया है। पुरान भी "पूरान" बन गया है। देवनागरी लिपि में वर्णों की सख्या ३४ नही, अतः "चउतीस अखर" लण्डा लिपि के अनुकूल है, जिससे काशीवासी रैदास का परिचय नही हो सकता। मारूवाली सातवीं पक्ति में रहत के बाद "होइ" अनावश्यक है। सोरठ का "कहि रविदास प्रगासु रिदै धरि" मारू में "कहि रविदास उदास दास मति" हो गया है। बिआस (व्यास) शब्द भी विचारणीय है। व्यास तो महाभारत और पुराणो के रचयिता प्रसिद्ध हैं। राम-नाम के साथ व्यास का कोई सबध नहीं, ऐसी अवस्था में क्या किसी अन्य व्यास का सकेत है? व्यास यदि कथा-वाचक या व्याख्याता के अर्थ में लिया जाय तो कोई विशेषता नहीं आती।

---

१. आ० ग्र०, रागु सोरठ ४, पृ० ६५८।
२. वही, रागु मारू २, पृ० ११०६।

कबीर ग्रंथावली की साखियों में पदों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट प्रभाव है। साखियाँ दोहों के अनुकरण पर रचित हैं अतः सरहपा आदि के छन्द विधान का प्रभाव आ गया है। कुछ पदों में गोरख भरथरी गोपीचंद आदि का उल्लेख श्रद्धा के साथ हुआ है किन्तु बीजक में सर्वत्र गोरख का सम्मान के साथ उल्लेख नहीं है। यह उल्लेख रमैनी की साखी और सबदी में है, जो अपेक्षाकृत रमैनियों से अधिक प्रामाणिक मानी जाती है।[1]

पाठ की समस्या—

आदि-ग्रंथ का संकलन गुरु अर्जुन देव की देख रेख में हुआ और भाई गुरदास ने लिखा। संतों की जो वाणियाँ बहुत ग्रंथ में संकलित हैं वे उनके अनुयायियों द्वारा ही प्राप्त हुई होंगी अथवा गुरु नानक देव और उनके बाद होनेवाले गुरुओं ने उन भजनों को प्रेमावेश में_आकर जिस रूप में गाया होगा वे रूप ही स्वीकृत किए गए होंगे। सम्भवतया दोनों पद्धतियाँ अपनाई गईं। संकलित पदों में सिद्धान्त की समानता और समता ध्यान में रखी गई होगी। गुरु अंगद शाक्त और गुरु अमरदास वैष्णव रह चुके थे, ऐसी अवस्था में तंत्र-मतीय योग-परक और वैष्णव-सम्मत पदों के आने की संभावना कम रही, यद्यपि शाक्तों पर कठोर आघात किए गए हैं।

आदि-ग्रंथवाली सामग्री का विरल उपयोग ही हुआ है। दास ने ग्रंथावली के परिशिष्ट में आदि-ग्रंथवाले उन पदों को दिया था जो ग्रंथावली में नहीं आये थे। वर्मा ने आदि ग्रंथ में सुरक्षित कबीर के समस्त पदों का संकलन कर टीका-व्याख्या की एवं अन्य आवश्यक और उपयोगी सूचनाएँ दीं। संत कबीर के प्रकाशन से संत-साहित्य के अध्ययन को विशेष सहायता प्राप्त हुई। गुरुमुखी अक्षरों में लिखे रहने के कारण आदि ग्रंथ का व्यापक उपयोग संभव नहीं था। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने इस ग्रंथ के नागरी अक्षरों में नवल किशोर प्रेस द्वारा सन् १९ ३ ई० में मुद्रित एक संस्करण का हवाला दिया है किन्तु इस प्रेस से इस ग्रंथ की सूचना नहीं मिली। देवनागरी अक्षरों में (तरन-तारन) अमृतसर से यह प्रकाशित हुआ था और इधर शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी (अमृतसर) द्वारा प्रकाशित हुआ है। यद्यपि गुरुमुखी वाले संस्करण से कहीं-कहीं 'इकार' और '"कार' के प्रयोग में अन्तर हो गया है, इसका पाठ गुरुमुखी के अनुरूप है। साधारणतया हमने इस ग्रंथ का उपयोग किया है और गुरुमुखी वाले संस्करण से तुलना कर ली है। अमृतसर से गुरुमुखी अक्षरों में पोथी मयत वाणी प्रकाशित हुई है जिसमें आदि-ग्रंथ में आए भक्तों के सभी पद संकलित हैं।

वर्मा ने आदि-ग्रंथ में आए पाठों को अधिक प्रामाणिक माना है; लिपिकाल की दृष्टि से सबसे प्रामाणिक प्राचीन पाठ इस ग्रंथ में उपलब्ध है किन्तु पाठों की अव्यवस्था इस ग्रंथ में

---

१ (क) नाथ मछंदर ना छूटे गोरखदत्ता व्यास।
कहहिं कबीर पुकारि के परे काल की फाँस ॥—४४वीं रमैनी की साखी।

(ख) सिध साधक कंधारी जिन वनखण्ड वसाया।
केते मुनि जन गोरख कहिए तिन भी अन्त न पाया ॥—सबदी १८।

संगतिपूर्ण है। गोरखबानी वाला चौथा छद किंतु पद के अधिक अनुकूल है। आदि-ग्रन्थ वाले पद में रचनाकार का नाम सन्निविष्ट नही, ऐसी अवस्था में निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि किसी प्रचलित पद का ऐसा रूपान्तर इस ग्रन्थ में आया। किन्तु, इतना निश्चित है कि गोरखबानी के लिपिकार की अपेक्षा इस पद का गायक पद के स्वरूप और परम्परा से अधिक परिचित था।

प्रह्लाद-सबधी एक पद[1] कबीर और थोडे रूपान्तर के साथ नामदेव के नाम पर आदि ग्रंथ में मिलता है। कबीर ग्रन्थावली में भी पद आया है, जिसके प्रारभ में टेक है। आदि ग्रन्थवाले पद में चार चरणो के पश्चात् "रहाउ (टेक)" आया है। आदि ग्रथवाले कबीर के नाम पर मिलनेवाले और ग्रन्थावली वाले पदो मे पाठ सबधी अन्तर सामान्य है किन्तु नामदेव के नाम वाले पद में स्पष्ट अन्तर है, जो अनुकरण का फल है। सूर-सागर में भी यह पद रूपान्तर के साथ सुरक्षित है।

आदि-ग्रथ में रविदास-कृत दो पदो के अन्तिम दो चरण समान हैं और स्पष्टया भ्रम की सूचना देते हैं—

मेरी जाति कुट बाँढला ढोर ढोवंता नितहि बनारसी आसपासा।
अब बिप्र परधान तिहि करहि डंडउति तेरे नाम सरणाइ रविदासु दासा॥[2]
जाके कुटुम्ब के ढेढ सभ ढोर ढोवंत फिरहिं अजहु बनारसी आसपासा।
आचार सहित विप्र करहि डंडउति तिन जन रविदास दासान दासा॥[3]

पहला पद रैदास-जी की बानी में राग सोरठ के अन्तर्गत है और उसके चरणो का पाठ इस प्रकार है—

अनेक अधम जिव नाम गुन ऊधरे पतित पावन भये परसि सारं।
भनत रैदास ररंकार गुन गावते सत साधू भये सहज पारं॥[4]

उपर्युक्त पद के अन्य चरणो की तुको और विषय की उपयुक्तता के विचार से रैदास जी की बानीवाला रूप ही समीचीन प्रतीत होता है। आदि-ग्रथ के मलार १ के अन्तिम चरण भ्रमवश वहाँ आए हैं और मलार २ के चरण स्पष्ट, सबद्ध और प्रभावशाली हैं। आदि-ग्रथ में वेणी के नाम पर एक पद आया है, जिसका अन्तिम छद है—

जिन आतम ततु चीनिआ।
सभ फोकट धरम अबीनिआ॥
कहु बेणी गुरमुखि धिआवै।
बिनु सतिगुर बाट न पावै॥[5]

---

१. क० ग्र०, बसत ३७६, स० क०, रागु बसतु ४; आ० ग्र०, नामदेव, रागु भैरउ ६। और सूर सागर (१) पृ० १६२।
२. आ० ग्रं०, रागु मलार १, पृ० १२९३।
३. वही, मलार २, पृ० १२९३।
४. रै० बा०, सोरठ ४२, पृ० ३६
५. आ० ग्रं०, बेणी, प्रभाती १

आदि ग्रंथ में नामदेव के नाम पर एक पद मिलता है —

तीनि छंद खेलु आछै ॥ १ ॥ रहाउ ॥
कुंभार के घर हांडो आछै राजा के घर सांडी गो।
बामन के घर रांडी आछै रांडी सांडी हांडी गो ॥ १ ॥
बाणीए के घर हींगु आछै भैंसर माथे सीगु गो।
देवल मधे लीगु आछै लीगु सीगु हीगु गो ॥ २ ॥
तेली के घर तेलु आछै जंगल मधे बेल गो।
माली के घर केल आछै केल बेल तेल गो ॥ ३ ॥
संतां मधे गोपाल आछै गोकल मधे सिआम को।
नाम मधे रामु आछै, राम सिआम गोबिंद गो ॥ ४ ॥[1]

यही पद गोरखबानी में निम्नलिखित रूप में आया है :—

मेरा गुरु तीन छंद गावै,
ना जाणौं गुर कहां गेला, मुझ नींदड़ी न आवै ॥ टेक ॥
कुम्हार के घरि हांडी आछै अहीरा के घर सांडी।
बमना के घरि रांडी आछै, रांडी सांडी हांडी ॥ १ ॥
राजा के घरि सेल आछै, जंगल मधे बेल।
तेली के घरि तेल आछै तेल बेल सेल ॥ २ ॥
अहीर के घरि महकी आछै देवल मधे ल्यंग।
हाटी मधे हींग आछै हींग ल्यंग, स्यंग ॥ ३ ॥
ऐसैं सुरें नाना वणिया बहु भांति दिखलावै।
भणंत गोरषि त्रिगुणी माया सत गुरु होइ लषावै ॥ ४ ॥[2]

आदि ग्रंथ वाला पद नामदेव रचित नहीं यह पद या तो गोरखनाथ की रचना है, या किसी एक ही उद्गम के दोनों परिवर्तित रूप हैं। 'तीन छन्दे खेल के संकेत से ग्रंथवाला चौथा छन्द अतिरिक्त और स्व-मत प्रतिपादन के लिये है। तीन पदों के साथ संगति बैठाने के लिए राम श्याम और गोपाल को स्मरण कर कृष्ण-भक्ति और राम भक्ति के समीकरण का यहां प्रयास है। गोरखबानी वाला अन्तिम पद त्रिगुणात्मक माया की चर्चा के कारण अधिक उपयुक्त जँचता है। पाठ की दृष्टि से गोरखबानी पद के तीसरे छंद में हींग, ल्यंग (लिंग), और स्यंग (सींग) की संगति "अहीर कै घरि महकी आछै' के साथ नहीं बैठती। पूर्वी भू भाग में दधि के मथन हेतु के बरतन 'मेहकी' शब्द का प्रयोग होता है और अहीर के घर से उसका कोई संबंध नहीं। उपर्युक्त छंद में हींग लिंग और सींग की सार्थकता होनी चाहिए। जो आदि-ग्रंथ वाले पाठ में है। गोरखबानी के दूसरे छंद से भी आदि ग्रंथवाला पाठ अधिक

१ आ ग्र रागु सोढी पृ ७१८।
२. गो बा, पृ ११६—१७। ४२।

सगतिपूर्ण है। गोरखबानी वाला चौथा छद किंतु पद के अधिक अनुकूल है। आदि-ग्रन्थ वाले पद में रचनाकार का नाम सन्निविष्ट नही, ऐसी अवस्था मे निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि किसी प्रचलित पद का ऐसा रूपान्तर इस ग्रन्थ में आया। किन्तु, इतना निश्चित है कि गोरखवानी के लिपिकार की अपेक्षा इस पद का गायक पद के स्वरूप और परम्परा से अधिक परिचित था।

प्रह्लाद-सबधी एक पद[1] कबीर और थोडे रूपान्तर के साथ नामदेव के नाम पर आदि ग्रथ में मिलता है। कबीर ग्रन्थावली में भी पद आया है, जिसके प्रारभ में टेक है। आदि ग्रन्थवाले पद में चार चरणो के पश्चात् "रहाउ (टेक)" आया है। आदि ग्रथवाले कबीर के नाम पर मिलनेवाले और ग्रन्थावली वाले पदो मे पाठ सबधी अन्तर सामान्य है किन्तु नामदेव के नाम वाले पद में स्पष्ट अन्तर है, जो अनुकरण का फल है। सूर-सागर में भी यह पद रूपान्तर के साथ सुरक्षित है।

आदि-ग्रथ में रविदास-कृत दो पदो के अन्तिम दो चरण समान हैं और स्पष्टया भ्रम की सूचना देते हैं—

मेरी जाति कुट बॉढला ढोर ढोवंता नितहि बनारसी आसपासा।
अब विप्र परधान तिहि करहि डडउति तेरे नाम सरणाइ रविदासु दासा॥[2]
जाके कुटुम्ब के ढेढ सभ ढोर ढोवत फिरहिं अजहु बनारसी आसपासा।
आचार सहित विप्र करहि डंडउति तिन जन रविदास दासान दासा॥[3]

पहला पद रैदास-जी की बानी में राग सोरठ के अन्तर्गत है और उसके चरणो का पाठ इस प्रकार है—

अनेक अधम जिव नाम गुन ऊधरे पतित पावन भये परसि सारं।
भनत रैदास ररंकार गुन गावते सत साधू भये सहज पारं॥[4]

उपर्युक्त पद के अन्य चरणो की तुको और विषय की उपयुक्तता के विचार से रैदास जी की बानीवाला रूप ही समीचीन प्रतीत होता है। आदि-ग्रथ के मलार १ के अन्तिम चरण भ्रमवश वहाँ आए हैं और मलार २ के चरण स्पष्ट, सबद्ध और प्रभावशाली है। आदि-ग्रथ में वेणी के नाम पर एक पद आया है, जिसका अन्तिम छद है—

जिन आतम ततु चीनिआ।
सभ फोकट धरम अबीनिआ॥
कहु वेणी गुरमुखि धिआवै।
बिनु सतिगुर बाट न पावै॥[5]

---

१. क० ग्र०, बसत ३७६ ; सं० क०, रागु बसतु ४ , आ० ग्र०, नामदेव, रागु भैरउ ६। और सूर सागर (१) पृ० १६२।
२. आ० ग्रं०, रागु मलार १, पृ० १२९३।
३ वही, मलार २, पृ० १२९३।
४. रै० बा०, सोरठ ४२, पृ० ३६
५. आ० ग्रं०, वेणी, प्रभाती १

कुछ पाठान्तर के साथ यह श्लोक प्रभाती महला १ के अन्तर्गत आया है —

> जो जानसि ब्रह्मं करमं। सभ फोकट निसचै करमं।
> कहु नानक निहचौ ध्यावै। बिनु सतिगुर बाट न पावै॥[1]

रविदास के राग सूही के पहले पद के साथ नामदेव के राग मारू के दूसरे पद की समानता स्पष्ट लक्षित की जा सकती है। धन्ना के राग आसा वाले दूसरे पद को महला ५ के अन्तर्गत रखा गया है। यद्यपि इसे गुरु अर्जुन देव की रचना माना गया है किन्तु अन्तिम चरण से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि यह धन्ना की कृति है। आदि-ग्रन्थ में कबीर-कृत एक पद कहा गया है जो वस्तुतः सूर के एक पद के साथ कबीर की कुछ पंक्तियों का सम्मिश्रण है—

> १ भक्ति बिनु बैल बिराने ह्वै हो।[२]
> हरि बिनु बैल बिराने हुई है।[३]
> २ पाऊँ चारि सिर सृंग गुंग मुख, तब कैसे गुन गैहो।[२]
> चारि पाव दुइ सिंग गुंगु मुख तब कैसे गुन गाई है।[३]
> ३ चारि पहर दिन चरत फिरत बन तऊ न पेट अघैहो।[२]
> सारी दिनु डोलत बन महीआ अजहु न पेट अघाई है॥[३]
> ४ टूटे कंध रु फूटी नाकनि को लौं धौं भुस खैहो।[२]
> फाटे नाकन टूटे काधन कोदउ को भुसु खाई है।[३]
> ५ हरि संतन की कह्यौ न मानत कियौ आपुनौ पैहो।[२]
> भ्रमत फिरत तेलक के कपि जिउ गति बिनु रैन बिहइ है।[३]
> ६ सूरदास भगवंत भजन बिनु मिथ्या जनम गँवैहो।[२]
> कहत कबीर रामनाम बिनु मूंड धुन पछुताई है।[३]

अंतिम दो पंक्तियों में अंतर है, दोनों पदों में दो-दो विभिन्न पंक्तियाँ हैं जिनके उद्धृत करने की अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार बीजक और सूर सागर के एक पद में विचित्र समता है।—

> अपुनपौ आपुन ही बिसर्‌यो।
> जैसें स्वान काच मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूकि पर्‌यौ।
> ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है द्रुम-तृन सूँघि फिर्‌यौ॥
> ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ तसकर अरि पकर्‌यौ॥
> ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै आपुन कूप पर्‌यौ।
> जैसें गज लखि फटिक सिला मैं दसननि जाइ अर्‌यौ।

---

१ वही पृ० ११३१।

२. सूर सागर, राग बिलावल १११।

३ ह० ग्र०, राग गूजरी १, पृ० ११२८।

मर्कट मूंठि छाँडि नहिं दीनी, घर-घर द्वार फिर्‌यौ ।
सूरदास नलिनी को सुवटा, कहि कौनैं पकर्‌यौ ॥[1]

यही पद बीजक में इस प्रकार मिलता है—

आपनपौ आप ही बिसर्‌यौ ।
जैसे स्वान काच मंदिर में भरमति भूंसि मर्‌यौ ।
ज्यों केहरि अपु निरखि कूपजल प्रतिमा देखि पर्‌यो ।
वैसे गज फटिक शिला मे दशनन आनि अर्‌यौ ।
मर्कट मूँठि स्वाद नहिं बिहुरे घर घर रटत फिर्‌यौ ।
कहहिं कबीर नलिनी के सुवना तोहि कौने पकर्‌यौ ॥[2]

इस पद की टीका में महात्मा पूरनसाहब ने काच-मदिर का अर्थ वेद-वाणी किया है और श्वान का पडित ।[3] मेंही दास के अनुसार "खानि बानी स्त्री, काच मदिर सोइ माय । गुरुवा कूकर भ्रमवश, भूकि भूकि मरि जाय" है ।[4] बीजकवाले पाठ में सूरसागर की तीसरी और चौथी पक्तियाँ नहीं हैं । पाठान्तर के कारण उत्पन्न होनेवाले व्यतिक्रम को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने की चेष्टा साम्प्रदायिक टीकाकारो ने की है । कुछ परिवर्तन के साथ इस पद की दो पक्तियाँ आदि-ग्रंथ में आई हैं—

मरकट मुसटी अनाज की मन बउरा रे लीनी हाथु पसारि ।
छूटन को सहसा परिआ मन बउरा रे नाचिओ घर घर बारि ।
जिउ नलिनी सुअटा गहिओ मन बउरा रे माया इहु बिउहारि ॥[5]

गाते समय रामायण की चौपाइयो के चरणो के अत में कोई टेक जोड दी जाती है, "मन बउरा रे" यह टेक बीच में जोड दी गई है । पाठ के व्यतिक्रम के कारण अर्थ की सगति बैठाने में कठिनाई होती है ।

आदि-ग्रन्थ में रविदास के नाम पर एक पद आया है—

जिहि कुल साधु बैसनो होइ ।
बरन अबरन रक नहीं ईसुरु बिमलु बासु जानीये जगि सोइ ।
ब्रहमन बैस सूद्र अरु छत्री डोम चमार मलेछ मन सोइ ।
होइ पुनीत भगवंत भजन ते आपु तारि तारे कुल दोइ ।

---

१ सू० सा०, द्वि० स्क०, पद ३६६ ।
२ बीजक, शब्द ७६ ।
३. त्रिज्या टीका, पृ० १७८ ।
४. मेंही (टीका), पृ० ३६७ ।
५. सं० क०, रागु गउडी ५७, पृ० ६ ।

धंनि सु गाउ धंनि सो ठाउ धंनि पुनीत कुटंब सभ लोइ ।
जिनि पीआ सार रसु तजे आन रस होइ रस मगन डारे बिखु खोइ ।
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि अउरु न होइ ।
जैसे पूरैन पात रहै जल समीप भनि रविदास जनमे जगि ओइ ॥[1]

यही पद कबीर बचनावली में थोड़े पाठान्तर और रूपान्तर के साथ आया है—

जेहि कुल भगत भाग बड़ होइ ।
अबरन बरन न गनिअ रंक धनि बिमल बास निज सोई ॥
ब्राह्मन छत्री बैस सूद्र सब भगत समान न कोई ।
धन वह गाँव ठाँव अस्थाना है पुनीत सँग सोई ॥
होत पुनीत जपे सतनामा आपु तरै तारै कुल दोई ।
जैसे पुरइन रहे जल भीतर कह कबीर जग में जन सोई ॥[2]

बचनावली की दूसरी पंक्ति आदि-ग्रंथवाले पाठ से अधिक स्पष्ट है और तीसरी पंक्ति में 'ब्राह्मन छत्री बैस सूद्र' का क्रम भी ठीक है। इस कथन के कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि शूद्र का स्थान भी "भगत" से साधारणतया ऊँचा समझा जाता था। निम्न स्तरीय शूद्र से भी उच्च प्रमाणित करने के कारण यह ध्वनि स्पष्ट है। 'जैसे पुरइन रहे जल भीतर" (बचनावली) 'जैसे पूरैन पात रहै जल समीप" (आदि ग्रंथ) से उत्तम और अर्थ-संगत है। यद्यपि इस पद के वास्तविक रचयिता के निर्णय करने का कोई साधन हमें उपलब्ध नहीं किन्तु इतना निस्संकोच भाव से स्वीकार किया जा सकता है कि 'बचनावली" का पाठ परम्परा के अधिक समीप है।

पाठ

आदि ग्रंथ की सामग्री पर सामान्य विचार करते समय उसके पाठ पर भी विचार करना अपेक्षित होगा। इस ग्रंथ के पदों में सम्पादन के अभाव हैं। और रूपों में एकरूपता लाने का प्रयास भी। पंजाबी उच्चारण के कारण लिपि भेद हो गया है। जैसा लिपि में "सिखु' लिखते हैं पर उच्चारण करते हैं "सिख"। अतः इसमें उकार-बहुलता दीख पड़ती है। उच्चारण के कारण ही माया काया पाया धाया रमैया आदि शब्द माइआ काइआ पाइआ धाइआ, रमईआ बन गए। "कहि कबीर" में 'कहै कबीर' का भावात्मक बोध नहीं आता और यह भ्रम हो सकता है कि कबीर के भावों और विचारों को छंद-बंधन में बाँधनेवाले पद-कर्ता "कहि कबीर" के वर्ती द्वारा कबीर-पंथ के सिद्धांतों का प्रतिपादन और प्रकाशन कर रहे हैं।[3] एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न भक्तों की वाणियों में ही नहीं बल्कि एक पद में

---

१ रागु बिलावलु २ ।

२ क० ब० पद ७१, पृ० २२ ।

३ कहि कबीर मैं पूरा पाइआ भए राम परसादा ।—सं० क० रागु आसा ५८ ।
कहि कबीर फिरि जनम न आवै ।—वही आसा १० ।
हिंदू तुरक हूई मति एकै कहै कबीर पुकारी ।—वही रागुमाला ६६ ।
कहै कबीर राम जन तारे ।—वही रागु गउड़ी ३८ ।

विभिन्न प्रकार से लिखा गया है। पंडित के पंडित, पडीग्रा, पडिया[1] आदि रूपों के साथ ब्राह्मण का ब्राह्मणु, ब्राहमणु, ब्रहमनु, बामन, बामनु[2] आदि रूप भी प्राप्त हैं। व्यथा "बिरथा" बन गई और उठना-बैठना "आसणु बैसणु (आसन-वासन आसन-डासन के भ्रम से) एवं शास्त्र सासत्र ही नहीं रहा वल्कि सासत, (सासत-शासन का भोजपुरी रूप) भी।[3] संत कबीर के पाठ में भी छूट और क्रम व्याघात है। "दुहु मिलि कारजु ऊपजे राम नाम संगु"[4] में सगु के स्थान में संजोगु होना चाहिए। रागुआसा के ३२वें पद में कुजाति की समानता के लिए सुजाति होना उचित है, सुजानि नहीं। राग केदारा २ में "किनही कनजिश्रा कासी तावा किनही लउग सुपारी" में "कनजिश्रा" के स्थान में "बनिजिश्रा" उपयुक्त होगा। "मनु करि मका किवला करि देही" वाले पद की पांचवी पंक्ति में "मिसमिल" के स्थान में "बिसमिल" उपयुक्त होगा, जैसा कि कबीर ग्रंथावली में में है।[5] "कबीर काइश्रा कजली वनु भइश्रा मनु कुचरु मयमतु"[6] में "कजली" को कदली और "कुचरु" को "कुजरु" होना चाहिए था।

बीजक के सभी पद न तो प्रामाणिक ही हैं और न उनका पाठ ही सर्वत्र मान्य हो सकता है। कबीर और कबीर-पंथ का साहित्य उसमें सुरक्षित है। बीजक के विभिन्न संस्करणों में सामान्य अंतर है। बोधगम्यता को कसौटी मान कर बीजक का एक संस्करण हंसदास शास्त्री और महावीर प्रसाद ने प्रकाशित कराया है।[7] किन्तु इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। बीजक के प्रथम शवद (शब्द) की पहली पंक्ति "संतो! भक्ती सतगुरु आनी" सम्पूर्ण पद की भाव-धारा के अनुकूल नहीं। माया और उसके कार्यों का वर्णन कर

---

१ पंडीश्रा—स०क०, सिरी रागु २।
पडीश्रा कवन कुमति तुम लागे। – वही, मारु २
पंडित होइ के बेदु बखाने। श्रा०ग्रं०, नामदेव, टोडी १
२ जौ तू ब्राहमणु ब्रहमणी जाईश्रा। स०क०, गउडी ७।
तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद। — वही
कहु रे पंडित बामन कब के होए।—वही
तू ब्रहमनु मैं कासीक जुलहा। वही, रामकली ५।
बामनु गुरु है जगत का। वही, सलोकु २३७।
३ मनु की बिरथा मन ही जानै। श्रा० ग्रं० नामदेव प्रभाति १।
सुन गुफा कहि आसणु बैसणु कलप बिवरति पथा।—स०क०, गउडी ५३।
वेद पुरान सासत्र अनंता। श्रा० ग्रं०. नामदेव, रामकली १
सासतु न होता बेदु न होता। वही, नामदेव, रामकली ३
४. स० क०, रागु गउडी ५५।२
५. क०ग्रं०, पद ६१, पृ० १०७।
६. स०क०, सलोकु २२४।
७. कबीर साहेब का बीजक: प्रकाशक, कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, हरक, वाराणसी (सम्वत् २००७ विक्रम)

साते रहत अकेला' में निस्संग रहने का उपदेश है। क्या यह सम्भव नहीं कि रामानंद के के साथ परम्परा जोड़नेवाले व्यक्ति ने टेक बदल दी और अन्य चरण ज्यों-के-त्यों रह गए। बहुत सम्भव है कि तेरहवें शब्द की टेक "राम तेरि माया द्वंद मचावै' इसकी टेक रही हो।

यह निश्चित है कि कबीर (अन्य संतों की भी) की रचनाओं का प्रामाणिक पाठ प्राप्त करना कठिन है और उसके साधन अभी उपलब्ध नहीं किन्तु विभिन्न परम्पराओं द्वारा प्राप्त पाठों की समीक्षात्मक तुलना द्वारा उनकी रचनाओं के समीप पहुँचा जा सकता है। बीजक ग्रंथावली और आदि-ग्रन्थ में आए कबीर के पदों के पाठों की समीक्षात्मक तुलना इस दिशा में महत्त्वपूर्ण सहायता देगी।

१ (क) जोगी कहहिं जोग भल मीठा अवर न भाई। सं० क० गउड़ी ५१
(ख) जोगी कहैं जोग सिधि नीकी, और न दूजी भाई। क० ग्रं०, पद १३३।
(ग) जोगी कहैं जोग है नीको दुतिया अवर न भाई। बी० शब्द ८।

२ (क) रुंडित मुंडित एकै सबदी येह कहहि सिधिपाई। सं क
(ख) मुंडित मुंडित मौनि जटाधर ए जु कहहि सिधिपाई। क० ग्रं०
(ग) चुंडित मुंडित मौनि जटाधर, तिनहुँ कहाँ सिधि पाई। बी०

३ (क) पंडित गुणी सूर हम दाते एहि कहहि बड़ हमही। सं० क०
(ख) पंडित गुनी सूर कवि दाता एहु कहैं बड़ हम ही। क० ग्रं०
(ग) ज्ञानी गुनी सूर कविदाता ई जो कहहिं बड़ हम ही। बी०

४ (क) कहु कबीर गूंगे गुड़ खाइया पूछे ते किया कहिये। सं० क०
(ख) कहै कबीर गूंगे गुड़ खाया, पूछे तो का कहिये। क० ग्रं०
(ग) कहहि कबीर गूंगे गुर खाया पूछे से क्या कहिया। बी०

५ (क) जा पहि जाउ आपु छुटकावनि ते बाधे बहु फंधा। सं० क०
(ख जाकै ठौर आपनपौ छुटावय, ते बीचे बहु फंधा। क ग्रं०
(ग) जहँ-जहँ गयो अपनपौ खोयो, तेहि फंदे बहु फंदा। बी०

अर्थ की दृष्टि से साधारण अन्तर रहने पर भी तीनों परम्पराओं से प्राप्त इस पद की अन्तरात्मा एक है। अतः पाठ-सम्पादन की सामग्री यहाँ प्राप्त होगी। पूर्वी उच्चारण की प्रणाली पर भी ध्यान रखना अपेक्षित होगा। बीजक की टेक इन तीनों में अधिक उपयुक्त है। संत कबीर का "जोग भल मीठा' अपने रूप में 'जोग भल मीठा' रहा होगा। संत कबीर और बीजक दोनों के "और" के 'अवर' और 'अवर" रूपों में पूर्वी प्रयोग स्पष्ट है। आदि-ग्रंथ का कहहि (कहहिं) अधिक उपयुक्त होगा। दूसरे चरण में कबीर ग्रंथावली का 'मुंडित' ही उपयुक्त परम्परा-संगत और सिद्ध-साहित्य समर्थित है। बीजक का चुंडित चोटी की ध्वनि पर गढ़ लिया गया होगा। आदि ग्रंथ वाले 'एकै सबदी' से 'मौनि जटाधर' केवल अधिक संगत ही नहीं बल्कि दो परम्पराओं से समर्थित होने के कारण अधिक प्रामाणिक है। बीजक के 'ज्ञानी गुनी' में अनुप्रास की छटा तो मिलती है किन्तु ज्ञान को संत-परम्परा में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है, अतः 'पंडित गुनी' अधिक युक्ति-संगत

प्रतीत होता है। चौथे चरण मे बीजक का "गुर" भोजपुरी-उच्चारण के अनुकूल है और कबीर ग्रथावली का वूझै भी। "वूभना" का प्रयोग "पूछना" और "समझना" दोनो अर्थो में होता है। ग्रथावली का चौथा चरण ही उपयुक्त है। पाँचवें चरण में बीजक का फदा अधिक उपयुक्त है और ध्वनि साम्य के आधार पर प्रयुक्त "फदे" भी। ग्रथावली में "छुडावण" "पूरबी और पजाबी" रूप में है। मूल पाठ के आधार पर ही इन पदो का पाठ निर्भर करता है किन्तु पाठ और लिपि के कारण विभेद आ गया। मूल पाठ का रूप इनमे है अवश्य।

संत कबीर के एक पद के अन्तिम चरण का पाठ है—

अवहि न माता सुकवहु न माता। कहि कबीर रामै रंगि राता॥
— रागु बिलावलु २।

ग्रथावली के अनुसार इसका पाठ है—

मीठो कहा जाहि जो भावै, दास कबीर रामगुण गावै॥
—पद १४७, पृ० १३५।

सत कबीर वाला "कहि कबीर" उतना उपयुक्त नही जँचता, जैसा प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति कबीर के वचनो का भावार्थ उपस्थित कर रहा है। सम्पूर्ण प्रसग पर ध्यान देने से ग्रथावली वाला पाठ ही उपयुक्त जान पडता है।

जाकै हरि सा ठाकुर भाई।
मुकुति अनत पुकारणि जाई।— स० क०, रागु गउडी २२।
जाकै राम सरीखा साहिब भाई।
सो क्यूं अनत पुकारन जाई। क० ग्र०, पद ११४

यहाँ सत कबीर की प्रथम पक्ति उपयुक्त है, "राम सरीखा साहब" में "हरि सा ठाकुर" की तरलता और पद सौष्ठव नही। किन्तु दूसरी पक्ति तो कबीर ग्रथावली वाली ही उपयुक्त और युक्ति सगत है। "अनत" वस्तुतः अनत (अन्यत्र) है। सत कबीर के पाठ में वह अर्थगत चमत्कार नही आता।

कबीर गूगा हूआ बावरा वहरा हूआ कान।
पावहु ते पिंगल भइया मारिआ सतगुर बान॥ स० क०, सलोकु १९३।
गूगा हूवा बावला, बहरा हूआ कान।
पाऊँ थै पगुल भया, सतगुर मार्‍या बान॥ ग्र०, गुरदेव को अंग १०।

सत कबीर के प्रथम चरण में "कबीर" अधिक पद है। दोहे के नियमानुसार यह अनावश्यक और छन्द-दोष का कारण है। "पाऊँ थैं" राजस्थानी ध्वनि आ गई है किन्तु आदि ग्रथ के "पिंगल" से ग्रन्थावली का "पंगुल" अधिक उपयुक्त है। आदि ग्रंथ में कबीर रचित पदों और साखियो का जो सकलन है, उनमें से अधिकाश कबीर ग्रथावली

में है और कुछ बीजक में प्राप्त है। कुछ पदों में सामान्य अन्तर है और कुछ छाया मात्र पड़ते हैं। आदि ग्रंथ के कुछ पदों में ग्रंथावली के दो चरण छूट गये हैं तो कुछ पदों में दूसरे पद के दो चरण आ गये हैं। ग्रंथावली के राग आसावरी (पद २२२) की दो पंक्तियाँ संत कबीर के सातवें भाग में नहीं हैं किन्तु अन्य पंक्तियाँ साधारण पाठ-भेद के साथ समान हैं। भिन्न-भिन्न पदों के स्थानान्तरित पंक्तियों का विचार किया जाय तो स्वतन्त्र पद अधिक नहीं है। कबीर ग्रंथावली के सातवें पद की अन्तिम दो पंक्तियाँ हैं—

आसि पासि तुरसी को बिरवा मांहि द्वारिका गाऊं रे।
यहाँ मेरो ठाकुर राम राइ है, भगत कबीरा नाऊं रे।—पृ ११२

संत कबीर में इन पंक्तियों का पाठ निम्नलिखित है—

आस पास घन तुरसी का बिरवा माझ बनारस गाऊ रे।
जाका ठाकुर तुही सारिंगधर मोहि कबीरा नाउ रे।
—रामु गउड़ी ६६।

केवल द्वारिका और बनारस का ही अन्तर नहीं बल्कि ग्रंथावली का पाठ अधिक उपयुक्त ठीक पड़ता है, यद्यपि राम और बनारस का सम्बन्ध उचित नहीं समझा जा सकता। किसी सम्प्रदायवादी ने बनारस को द्वारिका बना देना उचित समझा। इस पाठान्तर के साथ इन दोनों पंक्तियों के बीच तीन अन्य पंक्तियाँ जोड़ दी गई हैं और इस प्रकार संत कबीर की ६६ वीं गउड़ी बन गई। इसी प्रकार संत कबीर की ३६ वीं गउड़ी ग्रंथावली की ११ वीं और ८२ वीं गौड़ी का योग है। ग्रंथावली की ९८ वीं गौड़ी और संत कबीर की २१ वीं आसा के तीन चरण समान हैं और शेष भिन्न-भिन्न। संत कबीर की ६ वीं रामकली में बीजक (शब्द १७) से दो अन्तिम चरण अधिक हैं, जो अन्यत्र से आए जान पड़ते हैं।

नामदेव के पदों के विभिन्न स्तर आदि ग्रंथ में हैं, मराठी अभंग अधिकाधिक मराठी रूप में मराठी भाषा संयुक्त हिन्दी पद और सूफी प्रभाव-बहुल। मराठी-भाषा-संयुक्त मराठी अभंगों के अनुकरण हैं हिन्दी के पदों में कुछ तो अभंगों के अनुसार हैं और कुछ में हिंदी पद शैली अपनाई गई है। सूफी प्रभाव-बहुल पदों में पद-शैली हिंदी वाली है किन्तु भाषा और भाव अभी सूफी।[1]

रविदास के पदों का पाठ भी आदि-ग्रंथ और रैदास जी की बानी के पदों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। आदि-ग्रंथ रविदास के एक पद का पाठ है—

---

१ द्रष्टव्य—(क) पहिलो पुरीए पुंडर कमला तापे हंसा सगले कमा ॥
—आ ग्रं०, राग धनासिरी ४।

(ख) मैं बउरी मेरा राम भतारु।
रचि रचि ताकउ करउ सिगारु।—वही, रागु भैरउ ४।

(ग) कूजा आमर कूजा रब्बी कूजा मेरबो। हारबा भगरो राम बगोई ॥
मंदी दयार आवम एकत्र खाना। हम पिमी पातिसाहि वांवरो वरगो ॥
—वही रागु तिलंग २।

कहा भइउ जउ तनु भइउ छिनु-छिनु । प्रेम जाइ तउ डरपै तेरो जनु ॥
तुलहि चरन अरविंद भवन मनु । पान करत पाइउ रमइआ धनु ॥
संपति बिपति पटल माइआ धनु । ता महि मगन होत न तेरो जनु ॥
प्रेम की जेवरी बाधिउ तेरो जन । कहि रविदास छुटिबो कवन गुन ॥
—रामु आसा ४ ।

रैदास जी की बानी का पद तुलनीय है—
तुझ चरनाविंद भँवर मन । पान करत मै पायो रामधन ॥
सपति विपति पटल माया घन । ता मै मगन होइ कैसो तेरो जन ॥
कहा भयो जे गत छन-छन । प्रेम जाइ तो डरै तेरो निज जन ॥
प्रेम रजा ले राखों हृदै धरि । कह रैदास छूटिबो कवन परि ॥
—पद ३५, पृ० ३२ ।

आदि-ग्रन्थ के "चरन अरविंद भवन" से बानी का "चरनारविंद भँवर मन" युक्ति-सगत और उपयुक्त पाठ है । तुकान्त की दृष्टि से आदि-ग्रन्थवाला पाठ ही समीचीन है । पदो के स्थानो मे थोडा अन्तर है । बानी की तीसरी पक्ति ही ग्रन्थ की पहली पक्ति है । आदि-ग्रन्थ में "प्रेम की जेवरी" का प्रयोग पूर्वी के अनुकूल और उपयुक्त है ।

दादू की रचनाओ की प्रामाणिकता के सबन्ध मे भी इसी प्रकार सदेह बना हुआ है । इसके तीन सस्करण प्राप्त हैं—पडित सुधाकर द्विवेदी, प० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी और वेलवेडियर प्रेस के सस्करण ।[४१] आचार्य सेन ने भ्रमण कर सम्प्रदाय में स्वीकृत और प्रचलित वाणियो का सकलन-सम्पादन किया है । कबीर और दादू के पदो के सेन-कृत संग्रह उपलब्ध हैं । इस प्रकार के सकलित पद सम्प्रदाय-विकास के अध्ययन की सामग्री उपस्थित करते हैं । जीवित सम्प्रदाय, उसकी धर्म-साधना और मान्यताओ के अध्ययन के लिए यह सामग्री अत्यन्त उपादेय है किंतु परम्परा से आती हुई इन वाणियो की प्रामाणिकता असदिग्ध नही ।

वेलवेडियर प्रेसवाले सस्करण में कतिपय मराठी, पजाबी, सिंधी और फारसी के शब्द सकलित हैं, वस्तुतः ये पद उक्त भाषाओ के नही बल्कि उन भाषाओ की छाया और अनुकरण मात्र हैं । अमीर खुसरो में फारसी हिंदी की जो खिचडी मिलती है, कुछ उस प्रकार की भाषा ही मिलती है । अनुकरण और छाया वाले पद द्रष्टव्य हैं—

मराठी का एक अभंग तुलना के लिए —
देवा दिवस गेले वायाविण । हरिसी न रिघता शरण ॥
बालकत्व अज्ञानपण । तैं आठवण नव्हेचि ।
आला तारुण्याचा अवसरु । सर्वेचि विषयाचा पडिभरु ॥
—स्तोत्रमाला, अभंग १४०८ ।

१ दादू दयाल की बानी (प० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर १९०७) दादू दयाल का सबद (प० सुधाकर द्विवेदी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, दादू दयाल की बानी, दो भाग) (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९२८)

नबी नाम पैकंबरे, पीरों इंहा थान वे।
मन कहूं ते दिकसों साह, इयों मिस्त मुकाम वे।
—ना (बे प्रे०) पद १२१।

अमी सरोवर आतमा, इयोंई आधार वे।
अमर थान अविगत रहे, हरि इयें सिरजन हार वे।
—वही पद १२४।

उपर्युक्त तीनों संग्रहों के पाठ मिलाने पर भिन्नताएँ अधिक नहीं दीख पड़तीं, पर संख्या में अन्तर अधिक है। सुधाकर द्विवेदीवाले संस्करण का पाठ कहीं-कहीं अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। सभी संस्करणों में भाषा को साहित्यिक क्रम के अनुसार सुधारने का प्रयत्न भी परिलक्षित होता है—

येहि बिधि आरती राम की कीजइ।
आतम अंतरि बारन कीजइ।—सु० द्वि प १२६ (आरती)
इहि बिधि आरती राम की कीजे।
आत्मा अंतरि वारणा कीजे॥—बे प्रे भाग (२) पद ४४१

आतम" का आत्मा और बारन का 'वारणा'' संस्कार-स्वरूप है। इसी प्रकार 'जोग जंमम से बड़े बोध सन्यासी सेख' (बे प्रे भाग १ साखी ४० पृ १७४) भ्रमोत्पादक है, इसका पाठ 'जोगी जंमम सेवड़े बोध सन्यासी सेख'' होना चाहिये। चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी और बेलवेडियर प्रेस वाले संस्करणों में पाठान्तर की दृष्टि से महत्वपूर्ण भेद नहीं।

पद शैली—

कबीर ग्रंथावली और बीजक के पदों में टेक के पश्चात् और बन्द दिये हुए मिलते हैं। टेक कोई पूरी पंक्ति होती है अथवा अर्धाली। पूरी पंक्ति को तोड़ कर दो अर्धालियों के रूप में रखने की भी प्रथा है। एक अर्धाली के साथ पूर्ति के रूप में पूरी पंक्ति भी दी गई है। मराठी अभंगों के अनुरूप कुछ पदों में टेक नहीं। किन्तु अभंगों में एक और प्रणाली दीख पड़ती है जो हिंदी में अभी नहीं। टेक दूसरी पंक्ति है और प्रथम पंक्ति भी पूरी की पूरी है एक अर्धाली नहीं। दो पूरे चरणों को चार अर्धालियों म बाँट कर रखने की भी प्रथा मिलती है।[1] चर्यागीतों की यह प्रणाली आदि-ग्रंथ' और 'कबीर ग्रंथावली' के कुछ

---

१ (क) तम सम्बेहण सरसविआरें अलख लख म जाइ।
जे जे उजुवाटे गेला अनवाट भइला सोइ। ध्रु।
—चर्यागीत, बौ गा दो १५

(ख) काआ तरुवर पंच वि डाल
चंचल चीरे पइठो काल
दिढ़ करिअ महासुह परिमाण
लुइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण। ध्रु।—चर्या बौ गा दो १

पदो मे रचित है।[1] चार अर्द्धालियो की टेक वाली प्रणाली-रक्षा की चिन्ता मे आदि-ग्रथ के पदो मे वास्तविक टेक तीसरी और चौथी अर्द्धाली बना दी गई है।[2] गोरखवानी के पदो में पहली पक्ति टेक है और दूसरी पक्ति भी। आदि-ग्रथ के पदो मे अतः, पूर्व प्रचलित प्रणाली की रक्षा करने का प्रयास हुआ है। इस चिन्ता के कारण अनेक स्थलो मे टेक के पहले पूरे दो चरण रख दिए गए है।[3] कुछ पदो में टेक की पूर्ववाली पक्तियाँ उसी पद की हैं और कुछ मे तो अन्य पदो के चरण आ गए हैं। यत्र-तत्र एक ही साथ दो-दो टेकें भी साथ आई हैं।[4] कभी-कभी ये दो स्वतन्त्र टेके नही होती बल्कि एक ही टेक दो खण्डो मे लिखी गई है।

(ग) दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ
रुखेर तेंतलि कुँभीरे खाइ।
आँगन घर पण सुन भो विआती
कानेट चोरि निल अधराती। धृ।—कुक्कुरीपा, बौ० गा० दो० २

१ (क) है कोई सत सहज सुख उपजै, जाकौ जप तप देउ दलाली।
एक बूद भरि देइ राम रस, ज्यू भरि देइ कलाली॥ टेक॥
—क० ग्र०, पद १५५, पृ० १३८।

(ख) सुख माँगत दुखु आगै आवै।
सो सुख हमहु न मगिआ भावै॥
बिखिआ अजहु सुरति सुख आसा।
कैसे होई है राजा राम निवासा॥
—स० क०, गउडी ३६, पृ० ३८।

२. ४३ (ख) वाला पद कबीर ग्रथावली में इस प्रकार है—
विषया अजहु सुरति सुख आसा
हूण न देइ हरि के चरन निवासा॥ टेक॥
सुख माँगे दुख पहली आवै, ताथ्या सुख मागया नहीं भावै॥
—पद ८२, पृ० ३८।

३ गहरी करिकै नीव खुदाई ऊपरि मडप छाए।
मरकडे ते को अधिकाई जिनि त्रिणधरि मूड बलाए॥ १॥
हमरो करता राम सनेही।
काहे रे नर गरबु करत हहु बिनसि जाइ झूठी देही॥ टेक॥
—आ० ग्र०, नामदेव, धनासिरी १।

४. टेढी पाग टेढे चले लागे बीरे खान।
भाउ भगति सिउ काजु न कछूऐ मेरो कामु दीवान॥
राम बिसारिअो है अभिमानि।
कनिक कामनी महा सुन्दरी पेखि-पेखि सचु मानि॥
—स० क०, रागु केदारा ५।

सम्भवतया भिन्न-भिन्न स्थलों पर लिखी पंक्तियाँ एक ही टेक के दो खण्ड हैं और उनके साथ लिखे गये एक-एक चरण किसी पूरे एक पद के। इस प्रणाली पर संस्कार करने में गीतों की प्रणाली पूर्णतः रक्षित होगी।[1] बहुत संभव है यह भी टेक किसी दूसरे स्वतन्त्र पद की रही हो।

भिन्न पद के चरणों का अन्यत्र लिख दिया जाना संभव है,[2] और अन्त के चरणों में परिवर्तन भी। एक ही पद में कबीर का दो बार नाम आना संदेहास्पद है, इसी प्रकार एक ही पद में नामदेव का नाम कई बार आना किसी दूसरे कवि की रचना का संकेत करता है। इसके साथ कई पदों के मिल जाने की संभावना भी बनी रहती है। संत कबीर के कई पदों में कबीर का नाम दो चरणों में आया है, ऐसी अवस्था में इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं कि दोनों में से कोई स्थानान्तरित है, अथवा प्रक्षिप्त। कबीर ग्रंथावली वाली योजना के आधार पर यह निश्चित किया जा सकेगा कि कौन से चरण स्थानान्तरित है।[3]

आदि-ग्रंथ और भाषा संस्कार —

आदिग्रंथ की भाषा शैली और पद-व्यवस्था पर सम्पादन के प्रभाव स्पष्ट हैं, यद्यपि सर्वत्र नियम-रक्षा नहीं हो सकी है। पाँचवें गुरु के संरक्षण में संकलित होने के कारण आपके बहुत अधिक पद इस संकलन में हैं। गुरु अर्जुनदेव की रचनाएँ आदिगुरु नानक के सिद्धांतों का भाष्य और टीकाएँ हैं। सवइयों के रचनाकार मथुरा ने इन्हें कवि कवि गुरु और गुरु कवि के रूप में स्मरण किया है। ग्रन्थावली की भाषा में सानुनासिक

---

१ उपयुक्त पद इस प्रकार होना चाहिये—

ठेगी पाग टेढे चले लागे बीरे खान
राम बिसारिओ है अभिमानि।
भाउ भगति सिउ काजु न कछूऐ मेरो कामु दीवानु।
कनिक कामनी महा सुन्दरी पेखि-पेखि सचु मानि॥

२ संत कबीर की ८ वीं साखी में प्रारम्भिक दो पंक्तियाँ अन्यत्र की हैं। ग्रंथावली की ६ वीं गोष्ठी (पृ १ ७) में ये नहीं है।

३ (क) उदाहरण—कहु कबीर परमपद पाई लउ। सतिगुर पूछे नित भउ॥३॥
राम रमत मति परगटी आई। कहु कबीर गुरी सोभी पाई॥४॥
—सं क रागु गउड़ी १४ पृ० ११

(ख) ऐसे काठरत मरता छाज ए सम कर हमारे।
कबीर पूंगरा राम कहै का सम गुरु पीर हमारे॥२॥
कहतु कबीर सुनहु नर नरवै कहु एक की सरना।
केवल नामु जपहु रे प्रानी तब ही निहचै तरना॥३॥
—सं क, रागु बिभास प्रभाती १ पृ० १४१।

प्रयोग अधिक हैं, किन्तु आदि-ग्रन्थ मे कम। पंजाबी उच्चारण के अनुसार अनुस्वारो का उन स्थानो में प्रयोग होता है। "सोचै सोचि न होवई जे सोची लख वार" [1] में सोची पर अनुस्वार नही, किन्तु उच्चारण की दृष्टि से "सोंची" है, इसी प्रकार "जो लाइ रहा लिवतार" में 'रहा' वस्तुत "रहा" है। सम्पादन में पजाबी व्याकरण की रचा का प्रयास हुआ है। व्याकरण की दृष्टि से गुरुओ और सतो को वाणी में समीकरण का प्रयास है, ऐसी अवस्था में सतो की वाणियाँ आदि-ग्रन्थ में भी अपने मूल रूप में नही।

बीजक, कबीर ग्रन्थावली और आदि ग्रथ में आये पदो के अनुशीलन-विवेचन द्वारा कबीर और अन्य सतो की भाषा और रचना-शैली के रूप और पाठ पर विचार किया जा सकता है। अध्येता की दृष्टि से सत-साहित्य का सम्पादन-प्रकाशन अभी नही हुआ है। उपलब्ध सामग्री प्रचुर और प्रामाणिक रूप से प्रामाणिक नही होने पर भी अत्यत उपयोगी है।

बेलवेडियर प्रेस (प्रयाग) ने सतो की वाणियो का सग्रह प्रकाशित कर महात्माओ की वाणियो और उपदेशो को लुप्त होने से बचाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस पुस्तक-माला के प्रबधक के अनुसार हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर उनका सम्पादन हुआ है, किन्तु उन प्रतियो की तिथि आदि का कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नही। "प्राय. कोई पुस्तक बिना दो लिपियो का मुकाबला किये और ठीक रीति से शोधे नही छापी गई है" किन्तु उन प्रतिलिपियो का उल्लेख और तुलना का अवसर प्राप्त नही होने के कारण उनकी प्रामाणिकता सदिग्ध ही बनी रहती है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने महात्मा सुन्दरदास की रचनाओ का सुन्दर सग्रह "सुन्दर-ग्रथावली" में किया है। पाठो का यद्यपि वैज्ञानिक सम्पादन नही किन्तु यह ग्रथावली सत-साहित्य के अध्ययन की विशिष्ट सामग्री उपस्थित करती है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी द्वारा बिहारवाले दरिया साहब की रचनाएँ प्रकाश में आई, जिनके दार्शनिक सिद्धातो पर आपने विशिष्ट निबध प्रस्तुत किया। अप्रकाशित रहने के कारण पाठकों के लिए यह ग्रथ अनुपलब्ध है। दरिया साहब की विशिष्ट रचनाओ का महत चतुरीदास-कृत सपादन आपकी देख-रेख में प्रकाशित हुआ है, जो प्रामाणिक माना जाना चाहिए। पलटूदास की रचनाएँ भी उपलब्ध हो चुकी हैं, किन्तु अभी तक प्रकाश में नही आई है। सम्वत् १६०७ की एक हस्तलिखित प्रति कबीर की कुछ रचनाओ की इन पक्तियो के लेखक को उपलब्ध हुई है। प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन (पटना) के अनुशीलन विभाग में अजब दास कृत रचनाओ की एक छोटी-सी हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, जिसका प्रथम पृष्ठ खो गया है। तिथि लिपिबद्ध नही, अत काल-क्रम निश्चय नही किया जा सकता। यह सत निर्गुणिया सम्प्रदाय का अवश्य है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने हस्तलिखित प्राचीन पोथियो के विवरण में कई कबीर-ग्रथों का उल्लेख किया है। तिथियो के उल्लेख के अभाव में पाठ आदि की प्रामाणिकता असिद्ध ही है।

अन्तिम दो चरण कबीर ग्रन्थावली पद २५६ (पृ० १७६) में नहीं है।

१. आ० ग्रन्थ०, पृ० १ (दूसरी पक्ति)

सम्भवतया भिन्न-भिन्न स्थलों पर लिखी पंक्तियाँ एक ही टेक के दो चरण हैं और उनके साथ लिखे गये एक-एक चरण किसी पूरे एक पद के। इस प्रणाली पर संस्कार करने से गीतों की प्रणाली पूर्णतः रक्षित होगी।[1] बहुत सम्भव है पहली टेक किसी दूसरे स्वतन्त्र पद की रही हो।

भिन्न पद के चरणों का ऊपर लिख दिया जाना संभव है,[2] और अन्त के चरणों में परिवर्तन भी। एक ही पद में कबीर का दो बार नाम आना संदेहास्पद है, इसी प्रकार एक ही पद में नामदेव का नाम कई बार आना किसी दूसरे कवि की रचना का संकेत करता है। इसके साथ कई पदों के मिल जाने की संभावना भी बनी रहती है। संत कबीर के कई पदों में कबीर का नाम दो चरणों में आया है, ऐसी अवस्था में इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं कि दोनों में से कोई स्थानान्तरित है, अथवा प्रक्षिप्त। कबीर ग्रंथावली वाली योजना के आधार पर यह निश्चित किया जा सकेगा कि कौन से चरण स्थानान्तरित है।[3]

आदि-ग्रंथ और भाषा संस्कार —

आदिग्रन्थ की भाषा शैली और पद-व्यवस्था पर सम्पादन के प्रभाव स्पष्ट हैं, यद्यपि समान नियम रक्षा नहीं हो सकी है। पाँचवें गुरु के संरक्षण में संकलित होने के कारण आपके बहुत अधिक पद इस संकलन में हैं। गुरु अर्जुनदेव की रचनाएँ आदिगुरु नानक के सिद्धांतों का भाष्य और टीकाएँ हैं। सवइयों के रचनाकार मथुरा ने इन्हें कवि रूप गुरु और गुरु कवि के रूप में स्मरण किया है। ग्रन्थावली की भाषा में सानुनासिक

---

१ उपर्युक्त पद इस प्रकार होना चाहिये—
टेढ़ी पाग टेढ़े चले लागे बीरे खान
खान विसारिओ है अभिमानि।
भाउ भगति सिउ काजे न कछूए मेरो कामु दीवान।
कनिक कामनी महा सुन्दरी पेखि पेखि सचु मानि॥

२ संत कबीर की ८वीं आसा में आरम्भिक दो पंक्तियाँ अन्यत्र की हैं। ग्रंथावली की ९वीं गौड़ी (पृ० १०७) में वे नहीं हैं।

३ (क) रहाउ—कहु कबीर परमगति पाई साध। संतसंगि सूएँ निज भाव॥ ३॥
राम रमत मति परगटी आई। कहु कबीर गुरि सोझी पाई॥ ४॥
—सं० क०, रागु गउड़ी १४ पृ० १६
(ख) पते आउरन मारा जाने ए राम रूप तुम्हारे।
कबीर पूगरा राम अलह का सभ गुर पीर हमारे॥ ५॥
कहतु कबीर सुनहु नर नारी सुनु एक की सरना।
केवल नामु जपहु रे प्रानी तब ही निहचै तरना॥ ६॥
—सं० क०, रागु बिभास प्रभाती ४ पृ० १८१।

प्रयोग अधिक हैं, किन्तु आदि-ग्रन्थ मे कम। पंजावी उच्चारण के अनुसार अनुस्वारो का उन स्थानो में प्रयोग होता है। "सोचै सोचि न होवई जे सोची लख वार" १ मे सोची पर अनुस्वार नही, किन्तु उच्चारण की दृष्टि मे "सोची" है, इसी प्रकार "जो लाइ रहा लिवतार" में 'रहा' वस्तुत "रहा" है। सम्पादन में पजावी-व्याकरण की रक्षा का प्रयास हुआ है। व्याकरण की दृष्टि से गुरुओ और सतो की वाणी मे समीकरण का प्रयास है, ऐसी अवस्था मे सतो की वाणियाँ आदि-ग्रन्थ में भी अपने मूल रूप मे नही।

वीजक, कबीर ग्रन्थावली और आदि ग्रथ में आये पदो के अनुशीलन-विवेचन द्वारा कबीर और अन्य सतो की भाषा और रचना-शैली के रूप और पाठ पर विचार किया जा सकता है। अध्येता की दृष्टि से सत-साहित्य का सम्पादन-प्रकाशन अभी नही हुआ है। उपलब्ध सामग्री प्रचुर और प्रामाणिक रूप से प्रामाणिक नही होने पर भी अत्यत उपयोगी है।

वेलवेडियर प्रेस (प्रयाग) ने सतो की वाणियो का सग्रह प्रकाशित कर महात्माओ की वाणियो और उपदेशों को लुप्त होने से वचाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस पुस्तक-माला के प्रवधक के अनुसार हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर उनका सम्पादन हुआ है, किन्तु उन प्रतियो की तिथि आदि का कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नही। "प्राय. कोई पुस्तक बिना दो लिपियो का मुकावला किये और ठीक रीति से शोधे नही छापी गई है" किन्तु उन प्रतिलिपियो का उल्लेख और तुलना का अवसर प्राप्त नही होने के कारण उनकी प्रामाणिकता सदिग्ध ही वनी रहती है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने महात्मा सुन्दरदास की रचनाओ का सुन्दर सग्रह "सुन्दर-ग्रथावली" में किया है। पाठो का यद्यपि वैज्ञानिक सम्पादन नही किन्तु यह ग्रथावली सत-साहित्य के अध्ययन की विशिष्ट सामग्री उपस्थित करती है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी द्वारा विहारवाले दरिया साहब की रचनाएँ प्रकाश में आईं, जिनके दार्शनिक सिद्धातों पर आपने विशिष्ट निवध प्रस्तुत किया। अप्रकाशित रहने के कारण पाठकों के लिए यह ग्रथ अनुपलब्ध है। दरिया साहब की विशिष्ट रचनाओ का महत चतुरीदास-कृत सपादन आपकी देख-रेख में प्रकाशित हुआ है, जो प्रामाणिक माना जाना चाहिए। पलटूदास की रचनाएँ भी उपलब्ध हो चुकी हैं, किन्तु अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। सम्वत् १६०७ की एक हस्तलिखित प्रति कबीर की कुछ रचनाओं की इन पक्तियो के लेखक को उपलब्ध हुई है। प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन (पटना) के अनुशीलन विभाग में अजब दास कृत रचनाओं की एक छोटी-सी हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, जिसका प्रथम पृष्ठ खो गया है। तिथि लिपिवद्ध नही, अत काल-क्रम निश्चय नही किया जा सकता। यह सत निर्गुणिया सम्प्रदाय का अवश्य है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने हस्तलिखित प्राचीन पोथियो के विवरण में कई कबीर-ग्रथो का उल्लेख किया है। तिथियो के उल्लेख के अभाव में पाठ आदि की प्रामाणिकता असिद्ध ही है।

अन्तिम दो चरण कबीर ग्रन्थावली पद २५६ (पृ० १७६) में नहीं है।

१. आ० ग्रन्थ०, पृ० १ (दूसरी पक्ति)

सम्प्रदाय-विकास इस अध्ययन की सीमा में नहीं आता किन्तु परवर्ती संत-साहित्य को समझने के लिए साम्प्रदायिक संग्रहों और टीकाओं का अध्ययन अपेक्षित समझा गया है। बीजक की टीकाओं में विचार दास शास्त्री की टीका (दूसरा संस्करण सन् १९२८ ई० प्रयाग) हनुमानदास षट शास्त्री (१९३६ ई० बड़ौदा) महात्मा पूरनसाहिब कृत त्रिज्या टीका (बम्बई, संवत् १९९१) विश्वनाथ सिंह की पाखण्ड-खण्डनी टीका (बम्बई, संवत् १९९१) और मेहींदास की टीका (लखनऊ सन् १९१५ ई०) अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। कबीर-मंसूर कबीर-सम्प्रदाय का कोष है जिसकी रचना स्वामी श्री परमानंद जी ने उर्दू में की थी। पं० माधवाचार्य द्वारा कृत हिंदी अनुवाद संवत् १९९ में प्रकाशित हुआ। पंथ-साहित्य का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ने अधिक किया है, जिसमें कबीर-सागर का व्यापक उपयोग इस अध्ययन में है। स्वसंवेद कार्यालय सीयाबाग, बड़ौदा से कबीर-पंथी साहित्य का प्रकाशन हो रहा है। इस कार्यालय द्वारा प्रकाशित श्री राम रहस्य साहिब विरचित पंचग्रन्थी की परीक्षदास कृत गुजराती तत्त्वज्ञान दीपिका टीका (सन् १९४२) का उपयोग इस अध्ययन में हुआ है।

जन्म-तिथि और जीवन-वृत्त इस अध्ययन की सीमा में नहीं आते। संतों की जन्मतिथियों पर फर्कुहर ने विस्तृत रूप से विचार किया है। मेकालिफ वेसकट विल्सन ट्रम्प भंडारकर आदि का इस दिशा में प्रयास सराहनीय है। भक्तमाल की सामग्री इस दिशा में उपयोगी नहीं। भक्तमालों की सामग्री जीवन-वृत्त अथवा व्यक्तित्व को स्पष्ट नहीं करती। जन गोपाल की 'जनमलीला परची' तथा राघव दास की भक्तमाल में दादू के व्यक्तित्व का परिचय नहीं मिलता। भक्तमाल और टीकाओं में भी जीवन-वृत्त संबंधी ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। डाक्टर जस्टिन इ० ऐबट ने महाराष्ट्री संतों के जीवन-वृत्तों का अंग्रेजी अनुवाद किया है। महीपति के मराठी भक्त-विजय और भक्त लीलामृत के अनुवाद इस ग्रन्थमाला में उपलब्ध हैं, जो आफिस आफ दी पोएट संदेश (पूना) द्वारा प्रकाशित हुए हैं। साम्प्रदायिक आग्रह और पन्थ प्रतिष्ठता के चमत्कार प्रदर्शन की भावना के कारण जीवन वृत्त के अध्ययन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं। आदि-ग्रंथ में आये पदों के आधार पर कबीर का जीवन-वृत्त डा० रामकुमार वर्मा ने 'संत कबीर' में उपस्थित किया है। संत कबीर के पहले बरस मगहर पाइओ पुनि काशी बसे आई।"[१] के द्वारा कबीर के काशी जन्म की कथा संदेहास्पद हो उठती है किन्तु 'मगहर' का विभिन्न स्थलों पर उल्लेख इस मत को अधिकारी ढंग से पुष्ट नहीं करता। यद्यपि मगहर मघहर, और मगहर का क्रम संकेतक है। ग्रन्थावली बीजक और आदि-ग्रन्थ तीनों के सम्मिलित साक्ष्य से मगहर प्रवास की कथा ही पुष्ट होती है। भक्तमालों के एक दूसरे उपयोग की ओर साधारणतया पंडितों का ध्यान नहीं गया है। इनमें सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक चेतना के अध्ययन की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

---

१ रागु रामकली ३।

२. सं० क० रागु धनासिरी ३, पृ० १४१, क० ग्रं० बनारसी, पद ४ २, ६ २२२ और बीजक, शब्द १ ३।

प्रथम बार सामाजिक जीवन और सास्कृतिक चेतना के अध्ययन के लिए विभिन्न भक्तमालो की सामग्री का उपयोग यहाँ किया गया है। जन्म-सबधी किवदतियो मे नामदेव, कबीर और दादू का किसी-न-किसी जलाशय अथवा सरिता के तट पर बहते हुए पाया जाना उल्लिखित है। साधारण कुल में जन्म लेकर असाधारण महत्व और प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले सतो के साथ साम्प्रदायिको द्वारा चमत्कार प्रदर्शित करने के लिए ऐसी कथाएँ जोड दी गईं। कबीर को रामानद के वरदान से प्राप्त विधवा ब्राह्मणी का पुत्र, दादू (दाऊ) को नगर ब्राह्मण और नामदेव को भी ब्राह्मण बनाने का प्रयास हुआ। ईसा-जन्म के सम्बन्ध में भी ऐसी कथा प्रचलित है। जीवन-वृत्त के लिए अधिक उपयुक्त नही होकर भी इस कथा के द्वारा कई सामाजिक तथ्यो का उद्घाटन होता है। अवैध सम्बन्धो से उत्पन्न सतति माताओ का गलग्रह बनती, लोक-लज्जा के भय से यह सतति जलाशय अथवा सरिता के तट पर छोड दी जाती थी एव सतति की इच्छा रखनेवाली संतान-हीन स्त्रियाँ इन्हें पाल पोस कर बढ़ा करती थी। इस निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायता मिलती है कि महत्ता के कारणो मे उच्च जाति थी। अपने पूर्व-पुरुषो को उच्चवर्गीय सिद्ध करने की चेष्टा उस युग मे थी। नीच जन्मा व्यक्तियो में उच्चता की भावना जग चुकी थी और वे अपने को उच्च वर्गीय सिद्ध करना चाहते थे। आभिजात्य के प्रबल मोह के कारण नीच-जन्मा व्यक्ति सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी निम्नश्रेणी ही प्राप्त करता था। वहाँ भी वर्ण-व्यवस्था दृढ होने लगी। इस देश के जीवन में वर्ण-व्यवस्था का ऐसा गहरा प्रभाव रहा कि वर्ण व्यवस्था सर्वत्र प्रतिष्ठित रही। सम्प्रदायो का उत्तरविकास इस दिशा का सकेत करता है। इस्लाम में वर्ण व्यवस्था आई, सिक्खो ने किसी-न-किसी रूप में इसे स्वीकृति दी, कबीर-पथ भी अछूता नही रहा और दादू पथ ने भी इसे अपनाया।

पूर्ववर्त्ती संतो का पारस्परिक सम्बन्ध—

चिन्ता-धारा के उद्भव, विकास, सामान्य-भावभूमि और ऐक्य और पारस्परिक सबध की विवेचना के लिए इनके पारस्परिक सबध और उनकी रचनाओं पर विचार करना अपेक्षित होगा। सत-साहित्य के इतिहास में रामानन्द की महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा है। भक्तमाल के अनुसार अनन्तानन्द, कबीर, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावती, नरहरि, पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेन आदि रामानन्द की शिष्य-मण्डली अथवा परम्परा मे है।[1]

---

१. अनतानंद कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावत नरहरि।
पीपा भावानद रैदास धना सुरसुर की घरहरि॥
—भक्तमाल छप्पय ३६।

तुलनीय—रामानद के शिष्य घनेरे। सिद्ध प्रसिद्ध भेजवत वडेरे।
अनंता अरु सत्य कबीरा। सुरसुरा सुखानद मति धीरा।
भावानद पीपा रविदासा। धना आदि गुन गन परकासा॥
—आ० नि० बो०, पृ० २७।

सम्प्रदाय-विकास इस अध्ययन की सीमा में नहीं आता किन्तु परवर्ती संत-साहित्य को समझने के लिए साम्प्रदायिक संग्रहों और टीकाओं का अध्ययन अपेक्षित समझा गया है। बीजक की टीकाओं में विचार दास शास्त्री की टीका (दूसरा संस्करण सन् १९२८ ई० प्रयाग) हनुमानदास षट शास्त्री (१९५१ ई० बड़ौदा) महात्मा पूरनसाहेब कृत त्रिज्या टीका (बम्बई, संवत् १९६१), विश्वनाथ सिंह की पाखण्ड-खण्डनी टीका (बम्बई, संवत् १९६१) और मेंहीदास की टीका (लखनऊ सन् १९११ ई०) अधिक उपयोगी सिद्ध हुईं। कबीर-मंसूर कबीर-सम्प्रदाय का कोष है, जिसकी रचना स्वामी श्री परमानंद जी ने उर्दू में की थी। पं० माधवाचार्य द्वारा कृत हिंदी अनुवाद संवत् १९९० में प्रकाशित हुआ। पंथ-साहित्य का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ने अधिक किया है, जिनमें कबीर-सागर का व्यापक उपयोग इस अध्ययन में है। स्वसंवेद कार्यालय सीयाबाग, बड़ौदा से कबीर-पंथी साहित्य का प्रकाशन हो रहा है। इस कार्यालय द्वारा प्रकाशित श्री राम रहस्य साहिब विरचित पंचग्रन्थी की युगलदास कृत गुजराती तत्त्वज्ञान दीपिका टीका (सन् १९४२) का उपयोग इस अध्ययन में हुआ है।

जन्म तिथि और जीवन-वृत्त इस अध्ययन की सीमा में नहीं आते। संतों की जन्मतिथियों पर फर्कुहर ने विस्तृत रूप से विचार किया है। मेकालिफ वेस्टकट विल्सन हुम्म भंडारकर आदि का इस दिशा में प्रयास सराहनीय है। भक्तमाल की सामग्री इस दिशा में उपयोगी नहीं। भक्तमालों की सामग्री जीवन वृत्त अथवा व्यक्तित्व को स्पष्ट नहीं करती। जन गोपाल की 'जनमलीला परची' तथा राघव दास की भक्तमाल में दादू के व्यक्तित्व का परिचय नहीं मिलता। भक्तमाल और टीकाओं में भी जीवन-वृत्त संबंधी ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। जस्टिन ई० ऐबट ने महाराष्ट्री संतों के जीवन-वृत्तों का अंग्रेजी अनुवाद किया है। महीपति के मराठी भक्त विजय और भक्त लीलामृत के अनुवाद इस ग्रन्थमाला में उपलब्ध हैं, जो आफिस आफ दी पोएट संतेस (पूना) द्वारा प्रकाशित हुए हैं। साम्प्रदायिक आग्रह और पन्थ-प्रतिष्ठाता के चमत्कार प्रदर्शन की भावना के कारण जीवन वृत्त के अध्ययन की यथोचित सामग्री उपलब्ध नहीं। आदि-ग्रंथ में आये पदों के आधार पर कबीर का जीवन-वृत्त डा० रामकुमार वर्मा ने 'संत कबीर' में उपस्थित किया है। संत कबीर के 'पहले दरसन मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई।'[1] के द्वारा कबीर के काशी जन्म की कथा संदेहास्पद हो उठती है किन्तु "मगहर" का विभिन्न रूपों पर उल्लेख इस मत को अधिकारी ढंग से पुष्ट नहीं करता। यद्यपि मगहर, मघर, और मगहर का क्रम रोचक है। ग्रन्थावली बीजक और आदि-ग्रन्थ तीनों के सम्मिलित साक्ष्य से मगहर प्रवास की कथा ही पुष्ट होती है। ग्रन्थावली में एक दूसरे प्रयोग की ओर साधारणतया पंडितों का ध्यान नहीं गया है। इनमें सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक चेतना के अध्ययन की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

---

१ रागु रामकली ३।

२. सं० ग्र० रागु धनासिरी ३, पृ (४१), क ग्र० ग्रनामी पद ४ ३, पृ० २१७ और बीजक शब्द १ ३।

प्रथम बार सामाजिक जीवन और सास्कृतिक चेतना के अध्ययन के लिए विभिन्न भक्तमालो की सामग्री का उपयोग यहाँ किया गया है। जन्म-सबधी किंवदतियो मे नामदेव, कबीर और दादू का किसी-न-किसी जलाशय अथवा सरिता के तट पर बहते हुए पाया जाना उल्लिखित है। साधारण कुल में जन्म लेकर असाधारण महत्व और प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले सतो के साथ साम्प्रदायिको द्वारा चमत्कार प्रदर्शित करने के लिए ऐसी कथाएँ जोड दी गईं। कबीर को रामानद के वरदान से प्राप्त विधवा ब्राह्मणी का पुत्र, दादू (दाऊ) को नगर ब्राह्मण और नामदेव को भी ब्राह्मण बनाने का प्रयास हुआ। ईसा-जन्म के सम्बन्ध में भी ऐसी कथा प्रचलित है। जीवन-वृत्त के लिए अधिक उपयुक्त नही होकर भी इस कथा के द्वारा कई सामाजिक तथ्यो का उद्घाटन होता है। अवैध सम्बन्धो से उत्पन्न सतति माताओ का गलग्रह बनती, लोक-लज्जा के भय से यह सतति जलाशय अथवा सरिता के तट पर छोड दी जाती थी एव सतति की इच्छा रखनेवाली संतान हीन स्त्रियाँ इन्हें पाल पोस कर बढा करती थी। इस निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायता मिलती है कि महत्ता के कारणो में उच्च जाति थी। अपने पूर्व-पुरुषो को उच्चवर्गीय सिद्ध करने की चेष्टा उस युग में थी। नीच जन्मा व्यक्तियो में उच्चता की भावना जग चुकी थी और वे अपने को उच्च वर्गीय सिद्ध करना चाहते थे। आभिजात्य के प्रवल मोह के कारण नीच-जन्मा व्यक्ति सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी निम्नश्रेणी ही प्राप्त करता था। वहाँ भी वर्ण-व्यवस्था दृढ होने लगी। इस देश के जीवन में वर्ण-व्यवस्था का ऐसा गहरा प्रभाव रहा कि वर्ण व्यवस्था सर्वत्र प्रतिष्ठित रही। सम्प्रदायो का उत्तरविकास इस दिशा का सकेत करता है। इस्लाम में वर्ण-व्यवस्था आई, सिक्खो ने किसी-न-किसी रूप में इसे स्वीकृति दी, कबीर-पथ भी अछूता नही रहा और दादू पथ ने भी इसे अपनाया।

पूर्ववर्त्ती सतो का पारस्परिक सम्बन्ध—

चिन्ता-धारा के उद्भव, विकास, सामान्य-भावभूमि और ऐक्य और पारस्परिक सवध की विवेचना के लिए इनके पारस्परिक सवध और उनकी रचनाओं पर विचार करना अपेक्षित होगा। सत-साहित्य के इतिहास में रामानन्द की महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा है। भक्तमाल के अनुसार अनन्तानन्द, कबीर, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावती, नरहरि, पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेन आदि रामानन्द की शिष्य-मण्डली अथवा परम्परा मे है।[1]

---

१. अनतानंद कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावत नरहरि।
पीपा भावानद रैदास धना सुरसुर की घरहरि॥
—भक्तमाल छप्पय ३६।

तुलनीय—रामानद के शिष्य घनेरे। सिद्ध प्रसिद्ध भेजवत वडेरे।
अनंता अरु सत्य कबीरा। सुरसुरा सुखानद मति धीरा।
भावानद पीपा रविदासा। धना आदि गुन गन परकासा॥
—आ० नि० बो०, पृ० २७।

आगम-निगम-बोध के अनुसार रामानन्द राघवानन्द के शिष्य थे और राघवानन्द ने योग क्रियाओं द्वारा रामानन्द के प्राणों की रक्षा की थी। रामानुज की परम्परा में क्रमश: देवाचार्य हरियानंद राघवानंद, रामानंद, अनंतानंद कृष्णदास आदि हुए।[1] राघवानंद ने आचार की रक्षा नहीं कर सकने के कारण रामानंद को रामानुजीय संप्रदाय से अलग कर दिया और अलग पंथ चलाने की अनुमति दी।[2] रामानुजीय सम्प्रदाय से रामानंदी सम्प्रदाय कई बातों में भिन्न है। अध्यात्म रामायण के बल पर रामानंदी सम्प्रदाय को अद्वैतवादी माना जाता है। तुलसी दास में अद्वैतमत देखने की चेष्टा की जाती है। रामानुजीय सम्प्रदाय में दीक्षित रामानंद की शिष्यता के कारण कबीर और नानक को विशिष्टाद्वैतवादी भी कहा गया है।[3]

कबीर द्वारा रामानंद का शिष्यत्व ग्रहण प्रबल परम्परा द्वारा समर्थित है और प्राय प्रत्येक लेखक ने इस स्थिति को स्वीकृत कर लिया है।[4] शिष्यत्व-ग्रहण संबंधी अनुश्रुति पर विचार करना यहाँ आवश्यक है। कहा जाता है कि विधवा ब्राह्मणी को पुत्रवती होने का आशीर्वाद रामानंद न दिया था। इस आशीर्वाद की कथा काशी मे छिपी नहीं रह सकती थी ऐसी अवस्था में उसे लोक-निंदा का भय क्यों रहता? और कबीर को लहर तालाब के किनारे छोड़ने की आवश्यकता क्यों पड़ती? 'कबीर मंशूर' के अनुसार अष्टानंद न कबीर का जन्मवृत्तान्त रामानद को सुनाया था। शायद इसी कारण अहमद शाह न अष्टानंद को ही कबीर का पिता मान लिया है। रामानंद ने कबीर को यदि शिष्य

---

१ आ नि बो , पृ २६।

२ वही पृ २५ २६।

३ इंडियन फिलासफी (द्वि भा) सर राधाकृष्णन्, पृ ६७ ।

४ ग्रहण—कबीर एण्ड दि कबीर पंथ में उद्धृत तवारीख दबिस्तों का मत पृ० ३७। मेकालिफ—दि सिक्ख रेलिजन भाग ६ पृ १२२।

(क) वेस्टकाट—दि क मि ए पृ ४९ और ३१।

(ख) ग्राउज— 'वाम-मार्ग की बहाँ तक बातें हैं वे सब हिन्दू शास्त्रों की हैं जिनका संचय उन्होंने रामानंद जी के उपदेशों से किया।" हि सा इ , पृ ६६

(ग) ' जिनका ज्ञान उन्हें रामानंद जी के सत्संग से प्राप्त हुआ था"—द्विवेदी कबीर, पृ ६८।

(घ) संत कबीर (प्रस्तावना), पृ ७२।

(ङ) साँचे साधु गुरु रामानंद।
जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसुरानंद।

—वेस्टकाट द्वारा उद्धृत व्यास का पद, राधाकृष्ण ग्रंथावली (१) पृ ४६४ से।

(च) डा मोहन सिंह की धारणा है कि कबीर ने किसी मानव को अपना गुरु नहीं बनाया है। (कबीर-हिज बायग्राफी; पृ २२ २४)

बनाना स्वीकार किया होता तो कबीर को सीढ़ियों पर सोकर दीक्षा-मन्त्र लेने की युक्ति नही करनी पडती। कबीर को शिष्य रूप में ग्रहण करते समय रामानद को किसी प्रकार का संकोच नही होना चाहिये था, कारण उन्ही के वरदान से कबीर का जन्म हुआ था। कबीर-जीवन के सभी उल्लेख इस विषय में एक मत है कि कबीर ने युक्ति से दीक्षामन्त्र पाया और कबीर को शिष्य-रूप मे ग्रहण करने के लिये रामानद तैयार नही थे।[1] आगम-निगम-बोध के अनुसार रामानन्द ने कबीर को दर्शन जब नही दिये तो कबीर गुफा-मदिर मे प्रकट हो गए।[2] जिन ब्राह्मणो ने तत्वा और जीवा को कबीर का शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए जातिच्युत कर दिया था और उनकी लडकियो से विवाह सबध अस्वीकृत कर दिया था,[3] उनका सकोच तो रामानन्द को अवश्य रहा होगा। कबीर "निगुरा" के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। काशी के पण्डितो द्वारा विरोध होने पर प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा के लिए सम्भवतया यह कथा जोड दी गई अथवा यह भी सभव है, कि पथ मे गुरु-माहात्म्य की प्रतिष्ठा के कारण कबीर को रामानद का शिष्य राम-नाम को सामान्य रूप से ग्रहण करने के कारण प्रसिद्ध किया गया। रैदास-सबधी जन-श्रुति से इसकी तुलना की जा सकती है। रैदास के सबध में यह कहा जाता है कि वे पहले जन्म में ब्राह्मण और रामानद की सेवा मे तत्पर रहने वाले शिष्य थे। एक दिन ऐसे बनिया के यहाँ से भोजन की सामग्री ले आए जिसका व्यवहार चमारो से था। इस घटना के कारण रामानद ने उस ब्राह्मण शिष्य को चमार के यहाँ जन्म लेने का शाप दिया और उसने रग्घू नामक चमार के घर घुरविनिया चमाइन के पेट से जन्म लिया, आगे चलकर इसका नाम रविदास (= रैदास) पडा। चमार के घर जाकर रामानद ने स्तन-पान करने का जब आदेश दिया तो बालक रैदास ने दुग्ध-पान किया।[4]

---

१ (क) पुनि कबीर बोल्यो अस बानी। मोंहि मलेच्छ लियो गुरु जानी॥
रामानद मत्र नहिं देहैं। पै उपाय हम कछु रचि लेहैं॥
—वि० सिं० की टीका में कबीर जी की कथा, पृ०१८।

(ख) देखे नहीं मुख मेरो जानिकै मलेच्छ मोको,
जात न्हान गगा कही मग तन डारिये।
तथा—पहुँची पुकार रामानंदजू के पास आइ,
कही कोऊ पूछे तुम नाम-नाम ले उचारिये।
लावो जू पकरि वाको कब हम कियो शिष्य,
लाये करि परदा में पूछी कहि डारिये॥
—प्रियादास की टीका, २५५-५६, पृ०१४२।

(ग) सूद्र के कान न लागा भाई। तीन लोक में मोर बडाई॥
—क० मं० में उद्धृत, पृ० २७०

२ आ० नि० बो०, पृ० ३५।

३. भक्तमाल (भक्ति सुधाकर तिलक), पृ०४०६।

४. रैदास जी की बानी (जीवन-चरित्र), पृ० १।

जन्म-श्रुति और परम्परा के अनुसार कबीर और रैदास में शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें रैदास ने वेद शास्त्र का प्रतिपादन और कबीर ने विरोध किया था।[1] परवर्ती परम्परा के अनुसार वर्णाश्रम के अज्ञान को दूर करने के लिए कबीर ने इनका विरोध किया था नहीं तो वेदों की रचना तो कबीर ने ही की थी। इन दोनों कथाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि रामानंद की उदारता जिसके कारण कबीर रैदास आदि नीच-जन्मा व्यक्तियों का शिष्यत्व-ग्रहण प्रतिपादित किया जाता है और रामानुजीय आचार-बद्धता से मुक्ति प्रमाणित की जाती है, सीमित ही थी एवं कट्टरता का निषेध नहीं बल्कि दृढ़ता से परिलक्षित होती। रामानंद वेद-शास्त्र-विरोधी नहीं थे रैदास को उनका शिष्य सिद्ध करने के लिए वेद शास्त्र का उनके द्वारा जनश्रुति में समर्थन कराया गया जिसका स्वतः खण्डन आदि-ग्रंथ में संकलित रैदास के पदों द्वारा हो जाता है। जनश्रुतियों के इस तात्विक विवेचन द्वारा आचार्य सेन के निष्कर्ष को स्वीकार करने में बाधा पड़ती है और भक्त-माल में नीच जातियों के स्पर्श और संपर्क से बचाने की जो चेष्टा है, वह परम्परा के अनुकूल ही है। रामानंद की कट्टरता उनकी वेद-शास्त्र मान्यता का ही संकेत इन कथाओं म मिलता है।

नाथ-पंथ में गोरखनाथ के मत्स्येन्द्रनाथ को चेताने कथा प्रचलित है। इस धारणा के अनुसार शिष्य ही गुरु है, गुरु ही शिष्य है। इस परम्परा का पालन करते हुए कबीर द्वारा रामानंद को उपदेश दिलाया गया है।[2] आदि-ग्रंथ की बाईं-वर्षों वाली बीड़ में प्राप्त-संबली

१　(क) वही पृ १।
(ख) 'कबीर और रैदास संवाद' (सेनरचित) के अनुसार कबीर और रैदास में सगुण निर्गुण-संबंध में विवाद हुआ था।"
(ग) भक्तमाल का कथन द्रष्टव्य है—
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरशनी।
भक्ति विमुख जो धर्म सो अधर्म करि गायो।
योग यज्ञ व्रतदान भजन बिन तुच्छ दिखायो।
—पद ६, पृ १४।
तथा—संदेह ग्रन्थ खंडन निपुण बानी विमल रैदास की।
सदाचार श्रुति शास्त्रवचन अविरुद्ध उचारयो।
—पद ५९ पृ ११७।
२　मध्ययुगेर मरमियादेर मते रामानंद एई सहज मत पाइयाछ तौर आचार्य गुरुत्व, यो सम्प्रदायगेगुलेर सब सम्भ्रम ठेलिया फेलिया सब आचार निगम विसर्जन दिया रामानुज सम्प्रदायेर अति सम्मानित पद विसर्जन करिते पारिलेन। रामानंद अनेक अनेक अस्पृश्य अन्त्यज ओ नीच जातिर भक्तदेर यद्यपा उत्तम साधकमण्डल परिकोन एवं समाजेर उच्च स्थान हइते नामिया नीच हइते नीचेर पंक्तिते बसिया गेलेन।
—दादू (उपक्रमणिका) पृ० १४।
३　क ग्रं में उद्धृत शब्द कबीर कसौटी का मत, पृ २७२।
'निरंतर-बोध' पारख अंग की साखी, १२।

नामक ग्रंथ संकलित है, जिसमे रामानद और नानक एवं कबीर और नानक की गुष्टि का वर्णन है। लक्षित किया गया है कि सिद्धात-प्रतिपादन की यह परिपाटी है। यह भी सभव है किसी रामानदी साधु ने कबीर का शिष्यत्व ग्रहण किया हो और उसके माध्यम से रामानद के सिद्धातो का खण्डन अथवा अपने मत का मण्डन किया गया हो। कबीर-सम्प्रदाय के ग्रथ और आदि-ग्रंथ आदि के द्वारा रामानद के शिष्यत्व-ग्रहण की परम्परा का समर्थन नही होता। "हम काशी में प्रगट भये है, रामानद चेताये"[1] मे रामानद को उपदेश दिया, यह ध्वनि है। बीजक का उल्लेख[2] भी रामानद व्यक्ति का सकेतक नही। रामानद ब्रह्मानद का पर्याय है। बीजक की साम्प्रदायिक टीकाओ द्वारा यह मत समर्थित है। वि० सि० के अनुसार "तुम हूँ राम ही ते आनद मानत जाउ यह हम (कबीर) चारो युग मे सब को समुझायो"[3] एव पूरन साहेब के अनुसार "विषयानद, जगदानद, गवर्वानद, देवानद, त्रिगुणानद ये सपूर्ण आनद जो आनद मे लय हुए सो रामानद, सर्व उत्कृष्ट आनन्द।"[4] यह अर्थ है। रामानद की व्याख्या करते हुए मेंहीदास ने भी इस परम्परा का समर्थन किया।[5] आदि ग्रन्थ में रामानन्द का उल्लेख इसी व्याख्या का समर्थन करता है।[6]

रामानदी सम्प्रदाय का ब्रह्म-सूत्रो पर निजी भाष्य नही। रामानद कृत श्री आनन्द भाष्य की चर्चा की जाती है। प० वैष्णवदास त्रिवेदी ने इस भाष्य के दार्शनिक मतवाद की स्थापनाओ का विवरण दिया है।[7] आनन्दभाष्य की प्रामाणिकता में पण्डितो को पर्याप्त संदेह है। इस भाष्य को यदि प्रामाणिक माना जाय तो इसके अनुसार रामानन्द ने विशिष्टाद्वैत को ही श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण द्वारा प्रतिपादित माना है। अप्रामाणिक होने पर भी इतना तो सकेत अवश्य मिलता है कि सम्प्रदाय में यही मत मान्य है। फर्कुहर ने अध्यात्म-रामायण के उत्तरी भारत में रामानद द्वारा प्रचारित होने के कारण अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा का प्रयास देखा है। शकरदयालु श्रीवास्तव ने चेतनदास

---

१. क० श०, भाग २, पृ० ६१।

२. आपन आप कीजै बहुतेरा, हाहु न मरम पाव हरि केरा।
इद्री कहा करे विश्रामा, सो कहा गये जो कहत होते रामा॥
सो कहाँ गये जो होत समाना, होय मृतक वह पदहिं समाना।
रामानन्द राम रस माते। कहहि कबीर हम कहि-कहि थाथे॥ — बीजक, शब्द ७१।

३ पा० ख० टीका, पृ० ३१६।

४ त्रिज्या टीका, पृ० १७६।

५ रामानद सोइ भक्तनिन, राम रस बौरान। मतवाला भयो नाम में रूप को नहीं ठेकान॥—मेंहीदास की टीका, पृ० ३६६।

६ राम भगति रामानदु जानै। पूरन परमानन्द बखानै॥
—आ० ग्र०, सेन, धनासिरी १, पृ० ६६५।

७ कल्याण वेदान्त अंक, श्रावण-भाद्रपद १९९३, पृ० २७४-२७७।

नामक साधु लिखित 'प्रसंग-पारिजात' की चर्चा अपने एक निबंध में की है[१] जिसमें स्वामी रामानंद की परिजावली तथा उपदेशों का संग्रह है। इस ग्रंथ के आधार पर कबीर का शिष्य होना प्रमाणित हो सकेगा कारण इसकी समाप्ति माघ कृष्ण सप्तमी अनुसार वि स १५१७ की कही जाती है। पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकी है। सिद्धान्त पंचमात्रा द्वारा भी स्वामी राघवानंद और स्वामी रामानंद के सिद्धान्तों का प्रामाणिक स्वरूप प्राप्त नहीं होता, सम्प्रदाय के उत्तर विकास की दिशा संकेतित अवश्य होती है।

आदि-ग्रंथ में रामानंद का एक पद संकलित है —

> कत जाईए रे घर लागो रंगु।
> मेरा चितु न चलै मन भइओ पंगु॥ रहाउ॥
> एक दिवस मन भई उमंग। घसि चंदन चोआ बहु सुगंध॥
> पूजन चाली ब्रह्म ठाइ। सो ब्रह्मु बताइओ गुर मन ही माहि॥ १॥
> जहा जाईऐ तह जल पखान। तू पूरि रहिओ है सभ समान॥
> बेद पुरान सभ देखे जोइ। ऊहां तउ जाईऐ जउ ईहां न होइ॥
> सतिगुर मैं बलिहारी तोर। जिनि सकल बिकल भ्रम काटे मोर॥
> रामानंद सुआमी रमत ब्रह्म। गुर का सबद काटै कोटि करम[२]॥

इस पद के द्वारा यह संकेत मिलता है कि इस पद का रचयिता पहले सगुणोपासक था, पीछे चलकर 'सतिगुर' के उपदेश से निर्गुण ब्रह्मोपासक हो गया और उसने जान लिया कि ब्रह्म पत्थर आदि में नहीं बल्कि आत्मस्थ है। इस पद में निर्गुणियों के सद्गुरु का साम्प्रदायिक प्रयोग है और "रामानंद सुआमी" अर्थगम एवं संकेतपूर्ण। रामानंद की अन्य रचनाओं में विसर्जन को हनुमत प्रार्थना का एक पद मिला था।[३] रज्जबदास की सर्वांगी में रामानंद का जो पद है, उसमें निर्गुणोपदेश है और 'अन्तरि मन' बोध की व्यवस्था। रामानंद के सगुणोपासक और निर्गुणोपदेशक दो रूप मिलते हैं सम्भवतया ये दो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। आगम निगम बोध के अनुसार रामानंद और कबीर में सिद्धांत विषयक वार्तालाप हुआ था और उस 'गुष्टी' म रामानंद ने सगुणोपासना का पक्ष लिया था और कबीर ने निर्गुणोपासना का।[४] भाष्य-संगती के अनुसार नानक की गोरख रामानंद और कबीर के साथ गोष्ठी हुई थी और नानक ने इन्हें 'सतनाम' का उपदेश दिया था। रामानंद की "स्तुति" में स्वामी रामानंद का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार कबीर ने भी नानक से उपदेश पाया और नानक का जन्म-जन्म कीर्तन किया।[५]

---

१ हिन्दुस्तानी अक्टूबर (१९३२)।
२ आ ग्रं पृ ११९५।
३ ना प्र प [न सं] भाग ४ पृ ३४१।
४ आ० नि बो पृ ३१।
५. ऐसा गुर ज्ञान कीरत ही मूझा। रामानंद सुआमी निरबड़ हूआ॥
—भा सं, अध्याय ११ पृ १९९।

प्रसिद्ध रामानद सगुणोपासक और आदि-ग्रथ वाले रामानद से भिन्न थे। आदि-ग्रंथवाले रामानद ने प्राण-सगली के रामानद की कल्पना दी है और आदि ग्रन्थवाला पद हमारे परिचित और लोक-प्रसिद्ध रामानद का नही है। दीक्षा-सवधी कथाओं के आधार पर यह निश्चय करना कठिन नहीं कि कबीर को रामानद के सत्सग का अवसर अधिक नहीं मिल सका था। और तत्ववादी ज्ञान उन्हें रामानद से नही मिला था। रामानद-प्रचारित "राम" को कबीर ने सहज, ब्रह्म, शून्य, निरजन के स्थान में ग्रहण किया और इस "राम" शब्द की व्याप्ति को विस्तृत किया।

आदि-ग्रथ के पदो में कई सतो का उल्लेख मिलता है—

(१) कबीर—गुरु परसादी जैदेउ नामा भगति कै प्रेमि इनही है जाना।[1]

(२) रविदास —

(क) हरि के नाम कबीर उजागर। जनम-जनम के काटे कागर।
निमित नामदेउ दुधुपिआइआ। तउ जग जनम सकट नहीं आइआ॥[2]

(ख) जाकै भागवतु लेखीऐ अवरु नहीं पेखीऐ तास की जाति आछोप छीपा।
बिआस महि लेखीऐ सनक महि पेखीऐ नाम की नामता सपत दीपा।
जाकै ईदु बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि मानीअहि सेख सहीद पीरा॥
जाकै बाप ऐसी करी पूत ऐसी सरी तिहु रे लोक परसिध कबीरा॥
जाकै कुटुब के ढेढ सभ ढोर ढोवत फिरहि अजहु बनारसी आसपासा।
अचार सहित बिप्र करहि डडउति तिन जनै रविदास दासान दासा।[3]

(ग) नामदेउ कबीर तिलोचन सधना सैनु तरे।[4]

नानक—नामा जैदेउ कबीर त्रिलोचनु अउ जाति रविदास चमिआरु चलईआ।[5]

धन्ना—आठ दाम को छीपरो होइउ लाखीणा।
बुनना तनना तिआगी कै प्रीति चरण कबीरा।
नीच कुला जोलाहरा भइउ गुनीअ गहीरा।
रविदास ढवता ढोर नीति तिन तिआगी माइआ।
परगटु होआ साध सगि हरि दरसनु पाइआ।

सत्ति पुरुष सतिगुरु ते पाया। तब सत्तनाम ले रिदै बसाया।
इग जुग सतिगुरु नानक जपिया, कीट मुरीद कबीरा॥११॥
—वही, अध्याय १३, पृ० १६६।

१. स० क०, रागु गउडी ३६।
२. आ० ग्र०, रागु आसा ५।
३ आ० ग्रं०, राग मलार २।
४. वही, राग मारु १।
५. वही, रागु बिलावलु १०२।

सैन नाइ बुत कारिआ ओहु घरि घरि सुनिआ।
हिरदे वसिआ पारब्रह्मु भगता महि गनिआ ॥[1]

आदि-ग्रंथ के उद्धरणों द्वारा स्पष्टतया सूचित होता है कि कबीर आदि संतों का नाम उस समय तक पौराणिक महत्त्व प्राप्त कर चुका था और उनकी गणना एक ओर तो महादेव और ब्रह्मा जैसे पौराणिक देवताओं के साथ होती थी और दूसरी ओर शुकदेव प्रह्लाद, परीक्षित ध्रुव आदि भक्तों के साथ। आदि-ग्रंथ वाले पदों के द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि उसके संकलन-काल तक जयदेव, नामदेव त्रिलोचन धन्ना सेन कबीर रविदास आदि संत प्रसिद्ध हो चुके थे। रैदास ने नामदेव कबीर त्रिलोचन सधना और सेन का नाम लिया है। और कबीर ने केवल जयदेव और नामदेव का ही। आदि-ग्रंथ में इन संतों की रचनाओं के अतिरिक्त परमानंद वेणी पीपा, मीराबाई शेख फरीद भीखन और सूरदास के पद संगृहीत हैं।

जयदेव के दो पद आदि ग्रंथ में प्राप्त हैं। साधारणतया लेखकों ने आदिग्रन्थ वाले जयदेव और कवि-कोकिल गीत गोविंदकार को अभिन्न माना है।[2] जयदेव के प्रभाव पर ही बाक-शुद्धता में जयदेव की समता करनेवाला कोई कवि नहीं था। राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा कवियों के लिये अत्यंत प्रसिद्धि लाभ कर चुकी है और वहाँ गोवर्धन, उमापतिधर और शरण जैसे पण्डित और प्रतिभा सम्पन्न कवि थे।[3] भक्तमाल और भक्तविजय में दोनों के अभिन्न समझे जाने का कोई संकेत नहीं मिलता। कल्पना और उपमा के प्रयोग रीतिमत माधुर्य और लयात्मक तरलता की दृष्टि से गीत गोविंदकार से आदिग्रंथ का पद कर्ता भिन्न ज्ञात होता है और दोनों का अन्तर निर्दिष्ट और स्पष्ट हो जाता है। आदिग्रन्थ में संकलित दोनों पदों में एक की भाषा तो संस्कृतानुकरणी हिन्दी है और दूसरे की पंजाबी प्रभावपूर्ण हिन्दी। परम्परा के अनुसार जयदेव या तो बंग-निवासी थे अथवा ओड़ुवासी। कबीर के पदों के पूर्वापर की रक्षा करनेवाले आदि-ग्रंथ में जयदेव की भाषा विकृत कैसे होगी? राजा लक्ष्मणसेन की राज-सभा का कवि बारहवीं शताब्दी में हुआ था। हिंदी उस समय अपने इस रूप में क्या इतनी व्यापक हो चुकी थी कि जयदेव जैसा पीयूषवर्षी कवि इस भाषा में रचना करता? और जब कि केशवदास को हिंदी में रचना करने के कारण अनुताप करना पड़ता है। बीजक के अनुसार अच्छे भक्त होने पर भी इन्हें अमृत-तत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई थी।[4]

---

१ वही धन्ना वाला। (आदि ग्रंथ में इसके ऊपर 'महला ५' का संकेत है जिसके अनुसार यह गुरु अर्जुन देव की रचना होनी चाहिए किन्तु यह स्पष्ट ही धन्ना की रचना है।)

२ मैकालिफ—द सिक्ख रिलिजन (भाग ६), पृ ४५।
वड़थ्वाल—हिन्दी का नि स, पृ ११ और चतुर्वेदी उ भा स प०, पृ ९४।

३ गीत-गोविंद सर्ग १ श्लोक ४।

४ नारद ऐसा व्यास दिगंबर नामदेव जयदेव दासा।
उनहि नपरि कहन भदि काहु बहुरी लिये है बासा ॥—बीजक शब्द ८९।

दोनो की भाषा में स्पष्ट अन्तर है —

परमादि पुरुष मनोपिमं सति आदि भाव रत ।
परमदभूतं परक्रिति पर जदि चिति सरब गत ।
केवल राम नाम मनोहरं ।
बदि अंम्रित तत मइअ ।
न दनोति ज समरणेन जनम जरापि मरण भइअं ।[1]

तुलनीय—ललित लवगलता परिशीलन कोमल मलय समीरे ।
मधुकरनिकर करम्बित कोकिल कूजित कुंजकुटीरे ।।
(गीत गोविंद)

जयदेव रचित जो हिंदी का पद कहा जाता है, उसकी भाषा के आधार पर उस पद को जयदेव कृत नहीं कहा जा सकता। उस पद का अन्तिम चरण (वदति जैदेउ-जैदेउ कउ रंमिआ ब्रहमु निरवाणु, लिव लीणु पाइआ)[2] सदेह उत्पन्न करने में समर्थ होता है। "जयदेव"-"जयदेव" कहते हुए अर्थात् नाम-स्मरण द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का सकेत यहाँ सभव है, अन्यथा "जयदेव ने कहा" इस प्रकार का उल्लेख कर कोई व्यक्ति उनके सिद्धातो का प्रतिपादन करता हुआ ज्ञात होता है। कृष्णलीला के मनोरम और सरस गायक जयदेव की भाषा के साथ इसकी भाषा किसी प्रकार मेल नही खाती। आदि-ग्रंथ में सस्कृतानुकरण की प्रवृत्ति अन्यत्र भी दीख पडती है।[3] दादू के पदो में भी ऐसी रचनाएँ मिलती हैं।[4]

नामदेव की गणना सत-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापको में होती है और इस संत के नाम पर अनेकानेक पद आदि ग्रन्थ मे सगृहीत हैं। नामदेव ज्ञानेश्वर के समकालीन माने जाते हैं

---

१. आ० ग्र०, राग गूजरी १।

२ वही, रागु मारू १।

३. एक क्रस्न त सरबदेवा देवदेवा न आतमह।
आतम स्त्री वास्वदेवस्य जे कोई जानसि भेव ।।
—आ० ग्र०, सलोक सहसक्रती महला १, पृ० १३५३।

घटत रूप घटत दीप घटत रवि ससीअर नख्यत्र गगन।
घटत बसुधा गिरिवर सिखड घटत ललना सुत भ्रात हीत ।।
घटत कनिक मानिक माइआ स्वरूपं। नह घटत केवल गोपाल अचुत ।।
वही, सलोक सहसक्रती महला ५, पृ० १३५४।

४ दादू नमो नमो निरजन, नमस्कार गुर देवत।
वदनं सर्व साधवा, प्रणाम पारंगत ।।१।।
परब्रह परापरं सो मम देव निरंजन।
निराकार निर्मल तस्य दादू वदनं— दा० द० बा०, भाग १, पृ० १।

और रानाडे के अनुसार ज्ञानदेव की मृत्यु के पश्चात् अर्द्ध शताब्दी तक जीवित रहे।[१] नामदेव के जीवन चरित्र और काल के सम्बन्ध में मतभेद है। 'नामदेवाचि गाथा' में नामदेव का चरित्र सुरक्षित कहा जाता है। महीपति निरंजन माधव और अन्य व्यक्तियों ने इसी के आधार पर विवरण दिया है। इस ग्रंथ में ज्ञानदेव के साथ तीर्थाटन, चमत्कार प्रदर्शन और शक सम्वत् ११९२ में जन्म लेने का उल्लेख मिलता है। भक्तमाल में भी नामदेव के चमत्कारों का विवरण है।[२] नामदेव की भाषा पर आधुनिकता की छाप है, अतः उन्हें ज्ञानदेव का समकालीन स्वीकार करना कठिन होता है, किन्तु रानाडे ने विस्तृत विवेचन के पश्चात् इस मत को अमान्य कर दिया है।[३] नामदेवाचि गाथा की छपी पोथियों में कबीर मलूकदास और एकनाथ का उल्लेख मिलता है अतः यह कृति (अपने प्रकाशित रूप में) ज्ञानदेवकालीन नहीं हो सकती बल्कि एकनाथकालीन होगी।

कई नामदेवों के होने की सूचना मिलती है। एबट के अनुसार दो अथवा तीन के होने की सम्भावना है।+ नामदेव के पिता दामासेटी जाति के शिम्पी (दर्जी) थे।[४] आदि-ग्रन्थ के पदों में इनका छीपी होना वर्णित है।[५] विषमता को दूर करने के लिए मैकालिफ ने अनुमान लगाया कि इनके परिवार में सम्भवतया दोनों पेशे चलते थे।[६] शिम्पी और छीपी के ध्वनि-साम्य के कारण ही यह भ्रम हुआ है। ज्ञानेश्वर के साथ पंजाब-यात्रा का उल्लेख मिलता है। सोलहवीं शताब्दी तक एकनाथ वर्तमान थे। उस समय नामदेवाचि गाथा प्रसिद्ध हो चुकी थी और नामदेव के आत्म चरित्र परक अभंगों को भी ख्याति मिल चुकी थी। आदि ग्रंथ के पदों का संग्रह संतों की पुस्तकों के आधार पर न होकर उनके अनुयायियों के मुख से सुन कर किया गया था और अनेक संतों की वाणियाँ तो लिखित रूप में थीं भी नहीं। ऐसी अवस्था में नामदेवाचि गाथा के आत्म-

१ मि मरा पृ १८४।

२ भक्त छप्पय ४१ (द्रष्टव्य प्रि० टीका १२९ १४१)

३ मि मरा पृ १८४-८५।

+ स्तोत्रमाला (अं अनु) पृ ६। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने दक्षिण भारत में पाये दर्जन भक्त अथवा कवियों को और उत्तर में भी न्यूनाधिक दो से अधिक ही व्यक्तियों को नामदेव नामधारी बतलाया है। पता नहीं पं चतुर्वेदी का आधार क्या है। (द्रष्टव्य-उ भा सं प पृ १ ५)

४ तुकाराम पृ १२ और स्तोत्रमाला, पृ ८।

५ छीपे के घरि जनमु दैला गुर उपदेश भैला।
संतह को परसादि नामा हरि भेटुला॥
—भा म पगु भाषा ५।

६ हि० का नि श , ६ १४।

चरितपरक पद नामदेव के नाम पर सगृहीत हुए। ऐसे पदों मे चमत्कारो का स्पष्ट वर्णन है।[1] आदि ग्रन्थ के दसवें रागु भैरउ में सुलतान द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन के आग्रह पर मरी गाय को जीवित करने का वर्णन है। इस पद द्वारा स्पष्ट सकेत मिलता है कि कोई अन्य व्यक्ति घटनाओ का आँखो देखा वर्णन कर रहा है, इस घटना का सम्यक् वर्णन यहाँ मिलता है।[2] नामदेव की जन्म-तिथि सन् १२७० है और अलाउद्दीन का दक्षिण भारत पर प्रथम आक्रमण सन १२९४ में हुआ था। नामदेव की आयु उस समय कुल चौबीस वर्षों की थी, अत यह घटना सभव नही।

मन्दिर में प्रवेश करते समय बाहर निकाल दिये जाने, नामदेव का पिछवाडे जाकर कीर्तन करने और देव-मन्दिर के द्वार का उसी ओर फिर जाने की कथा का वर्णन आदि-ग्रथ वाले दो पदो में हुआ है।[3] कबीर ग्रथावली के एक पद में भी इस घटना का उल्लेख मिलता है। आदि-ग्रथ वाले कबीर के वैसे पदो में जिनमें नामदेव का नाम आता है, ग्रन्थावली से पाठान्तर है एव नामदेव की महत्ता स्थापित करने के लिए पाठान्तर करने की सम्भावना बहुत अल्प नही। बीजक और ग्रथावली मे सर्वत्र नामदेव का उल्लेख सम्मान के साथ नही हुआ है। भक्तमाल की प्रियादासी टीका मे एक पद उद्धृत है, जिसमें पदकर्ता का नाम कबीर है। नामदेव और कबीर के नाम पर मिलनेवाले पदो की खिचडी की चर्चा अन्यत्र

---

१ सोइनु कटोरी अम्रित भरी। लै नामे हरि आगे धरी ॥
एक भगत मेरे हिरदै बसै। नामु देखि नारायन हसै ॥
दूधु पियाइ भगतु घरि गइआ। नामे हरि का दरसनु भइआ ॥
—आ० ग्र०, राग भैरउ ३ (नामदेव)

पाड पडोसणि पूछलि नामा कापहि छापणि छवाई हो।
तो पहि दुगुणी मजूरी दैहउ मोकउ बेढी देहु बताई हो।
—वही, राग सोरठ २ (नामदेव)

२. नामा कहे सुनहु बादिसाहू, इहु किछु पतीआ मुझै दिखाइ ॥
इस पतिआ का इहै परवानु। साचि सीलि चालहु सुलतान ॥
नामदेव सभ रहिआ समाइ। मिलि हिंदू सभ नामे पहि जाहि ॥
जउ अबकी बार न जीवै गाइ। त नामदेव का पतीआ जाइ ॥
नामे की कीरति रही ससार। भगत जनाँ ले उधरिया पारि ॥
सकल कलेस निंदक भइया खेदु। नामे नाराइन नाही भेदु ॥
—आ० ग्र०, नामदेव, राग भैरउ १०।

३. लै कमली चलिउ पलटाइ। देहुरै पाछै बैठा जाइ ॥
जिउ जिउ नामा हरि गुण उचरै। भगत जना कउ देहुरा फिरै ॥
—आ० ग्र०, नामदेव, रागभैरउ ६।

फेरि दीआ देहुरा नामे कउ पडीअन कउ पिछवारला।
—वही, नाम०, रागु मलार २।

की गई है। नामदेव संबंधी प्रचलित चमत्कार कथाओं के आधार पर पदों की रचना सदा होती रही और उनमें से कुछ के आदि-ग्रंथ में संग्रहीत होने की सम्भावना है। 'दोऊ हिलमिलि एकै भये। दास कबीर अचंभै रहे।" को हटा देने पर प्रियादास द्वारा उद्धृत पद सुगमता-पूर्वक नामदेव के नाम पर चलाया जा सकता है।[1] प्रसन्न चरित्र-परक पद अधिकांशतया रागु भैरउ के अन्तर्गत आए हैं। इसी राग में एक पद है जिसकी सूरदास के पद से विचित्र समता है, नामदेव वाले पद की अंतिम पंक्तियाँ यथा-स्थान नहीं जान पड़तीं।[2]

नामदेव के अनेक अधिकाधिक मराठी रूप में अथवा मराठी से भावानुवाद स्वरूप हिन्दी पदों में प्राप्त हैं। इन रचनाओं से नामदेव के सिद्धांत और विचारों के जानने में सहायता मिलेगी, जीवन-चमत्कार-सम्बन्धी और सूफी पदों से नहीं। कई समानताओं के रहने पर भी कबीर और नामदेव में अन्तर कम नहीं। नामदेव अद्वैतवाद को सीमित रूप तक ही स्वीकृत करते हैं, रामानुजीय विशिष्टाद्वैती उपासना के वे अधिक समीप हैं।

---

1 हीन हो जाति मेरी जादव राइ। कलि में नामा दर्जी काहे को पठाइ।
वाद पखावज बाजे पाढुरी नाचे। हमरी भक्ति बीठल काहे को राचे॥
पंडव प्रभु जू वचन सुनी पे। नामदेव स्वामी दरशन दीजे॥
—भक्त प्रियादास द्वारा उद्धृत पृ० ८१।

नामदेव कमरी लई उठाई। मंदिर पाछे बैठे जाई।
पायन घुँघरू हाथनि ताल। नामदेव गावे गुण गोपाल॥
मंदिर ऊपर ध्वजा फहरै। अहठि द्वार नामा तन करै॥
नामदेव नरहरि दरशन पाये। चाँद कबीर ढिग ले बैठाये॥
दोऊ हिलमिलि एकै भये। दास कबीर अचम्भै रहे॥
—वही।

2 कबहु खीरि खाड घीउ न भावै। कबहु घर-घर टूक मगावै॥
कबहु कुरनु चने बिनावै। जिउ रामु राखै तिउ रहिये भाई।
हरि की महिमा किछु कथनु न जाई॥१॥ रहाउ॥
कबहु तुरे तुरंग नचावै कबहु पाइ पनहीउ न पावै॥
कबहु खाट सुपेदी सुवावै। कबहू भूमि पैआरु न पावै॥
भनति नामदेउ इकु नामु निसतारै। जिह गुरु मिलै तिह पारि उतारै॥
—ग्रं० ग्रं० नामदेव रागु भैरउ ५।

तुलनीय—जैसे राखहु तैसे रहौं।
जानत हो दुख-सुख सब जन के मुख करि कहा कहौं।
कबहुँक भोजन लहौं कृपानिधि कबहुँक भूख सहौं।
कबहुँक चढ़ौं तुरंग महागज कबहुँक भार वहौं।
कमल नयन घनश्याम मनोहर, अनुचर भयौ रहौं।
सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौं॥
—सू० सा० (भाग १), पद १९१ १ ४१।

विठ्ठल नामदेव के आराध्यदेव हैं और उनके समक्ष कीर्तन करना नामदेव के लिए गौरव का का विषय है। कीर्तन के द्वारा विट्ठल प्रसन्न हो कर स्वय उपस्थित हो जाते हैं।[1] आदि ग्रथ के सकलित पदो मे सगुणोपासना के साथ ही निर्गुणात्मक रूप का कम उद्‌घाटन नहीं हुआ है।[2] इस अध्ययन द्वारा डा॰ मोहन सिंह के इस निष्कर्ष को ग्रहण करना सम्भव नहीं कि कबीर साहब ने अपनी भावना-सृष्टि एव वर्णन-शैली दोनो में ही गोरख नाथ तथा नामदेव का स्पष्ट अनुसरण किया है।[3]

अन्य सतो मे से सघना या सदना का भी एक पद आदि-ग्रथ में सुरक्षित है, जिसमे आर्तभावपूर्ण आत्म-निवेदन और दैन्य-भाव अभिव्यक्त हैं। भक्तमाल में सदना के साथ ही हरिनाम, त्रिलोचन, आशाधर आदि का उल्लेख है।[4] प्रियादास ने अपनी टीका में भी सदना का एक पद उद्धृत किया है :—

मैं तो अति ही दुखित मुरार।
पॉच ग्राह गीलत है मोको गज ज्यों करो उधार।
नाम गरीब निवाज उजासों करन त्रिपय हठतार।
सदना को प्रभु तारौ ऐसे बहुत हे कारो धार॥[5]

सदन कसाई का उल्लेख भक्तो और सतो ने प्रायः किया है। प्रियादास द्वारा उद्धृत पद के अनुसार सदन (सघना) हिंदी में पदों की रचना करते थे[6] और अन्त में जगन्नाथ गए। इस पद में साधन-पद्धति स्पष्ट नही, यद्यपि सगुणोपासना की प्रवृत्ति लक्षित होती है। भगवान की भक्त-वत्सलता के प्रति मोह ही अधिक दीख पडता है, दैन्य का यह भाव सत-साहित्य की निजी वस्तु नही।

पीपा पहले शाक्त और भवानी-भक्त थे, कुछ रामानदी साधुओ की प्रेरणा से बाद में चलकर रामानदी हो गए।[7] प्रियादास की टीका के अनुसार तीर्थाटन के भक्त और छाप-तिलक पर विश्वास करनेवाले थे। आदि-ग्रथवाले पद में काया के महत्व और पिण्डाण्ड-ब्रह्माड के अभेद का वर्णन है। काया ही देवता और देवालय है। इसी में सम्पूर्ण चर-

---

१. अभंग १८५, रानाडे द्वारा मि॰ महा॰ (पृ॰ २००) पर उद्धृत।

२ इमै बीठुलै उमै बीठुलु बीठल बिन ससार नहीं।
थान थनतर नामा प्रणवैं पूरि रहिउ तूं सरब मही।
—आ॰ ग्र॰. नाम॰, रागु आसा २

३ मो॰ सिं॰, कबीर ऐंड दि भक्ति मूवमेंट, भाग १, पृ॰ ४८-४९।

४. भक्त॰, छप्पय ९६।

५. वही, टीका में उद्धृ, पृ॰ २१०।

६. वह पद भाषा के हैं एक कारि गावत हौ।—प्रियादास की टीका में उद्धृत, पृ॰ २१०-११।

७. भक्त॰, छप्पय ६१, पृ॰ १४८।

अन्दर निवास करते हैं। काया ही धूप-दीप और नैवेद्य है।[1] आदि-ग्रंथ का पद संत-परम्परा के अनुकूल है। पूर्ववर्ती संतों की प्रसिद्धि के पश्चात् विभिन्न सम्प्रदायों ने अपने स्व-मत पोषक सिद्ध करने के लिए नवीन सिद्धांत-सम्मत पद उनके नाम पर बनाये।

सेन के सम्बन्ध की विभिन्न परम्पराएँ प्राप्त हैं। रानाडे के अनुसार सेन (आदि ग्रंथ के रचो सेनु) बीदर के राजा की सेवा में नियुक्त थे।[2] भक्त-विजय के अनुसार वह राजा मुसलमान था। इसी प्रमाण के अनुसार उस राजा ने सेन की कृपा से पीताम्बरधारी कृष्ण की चतुर्भुज मूर्ति के दर्शन किये थे और कृष्ण ने उस राजा से भक्ति और भक्त के कारण सगुण रूप धारण करने का रहस्य प्रकट किया था।[3] इस परम्परा के अनुसार सेन वारकरी सम्प्रदाय के भक्त हैं। प्रियादास के अनुसार सेन बांधवगढ़-नरेश के सेवक थे।[4] परम्परानुसार रामानन्द का शिष्य होना तो प्रसिद्ध ही है।[5] विश्वनाथ सिंह की बीजक-टीका के साथ युगलदास कृत कबीर वंश-वर्णन है, जो रघुराज सिंह कृत राम रसिकावली ग्रंथ के अन्तर्गत दिया गया है। इसमें सेन संबंधी जनश्रुति को स्वीकार किया गया है[6] किन्तु राजा द्वारा शिष्यत्व ग्रहण नहीं। इसके अनुसार राजा राम ने कबीर का शिष्यत्व ग्रहण किया था।[7] इसी वंश-वर्णन में संकेत मिलता है कि भक्त नृपति ने धर्मदास का शिष्यत्व ग्रहण किया होगा।[8] राजा राम का समय हुमायूँ, शेरशाह और अकबर के शासन काल में पड़ता है।[9]

---

१ काइआ देवा काइआ देवल काइअउ जंगम जाती।
　काइअउ धूप दीप नइबेदा काइअउ पूजउ पाती॥
　ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दुहाई॥ रहाउ॥
　जो ब्रह्मंडे सोइ पिंडे जो खोजै सो पावै।
　पीपा प्रणवै परम ततु है सतिगुरु होइ लखावै॥
　　　　　　　　　　—आ. ग्रं. रागु धनासिरी १।

२ मि. महा. पृ. ११।

३ भक्त-विजय (अं. अनु.), भाग २ पृ. २४-२५।

४ भक्त टीका ११, पृ. १५८।

५ भक्त सुमन ११।

६ नापित सेन स्वरूप धरि, हरि तिनके तनु माहि।
　देस बघेला रामसी कहिये केहि रूप कांहि॥७१॥
　　　　　　　　　　—बी. पा. का टीका पृ. ६८१।

७ राम सेनपति उन जोध के कबीर शिष्य,
　राजा अरु रानिहूँ का कीन्ही तेहि दास है।
　　　　　　　　　　—वही पृ. ६७८।

८ धर्मदास आवत भये, बाँधव गढ़ हुलसात।
　गुरु विश्वास दृढ़ चाह किय जातु दिये अघात॥१३॥—वही पृ. ६६१।

९. दिल्ली को पुनि रामराय, गये अकबर साह।
　कीन्हों अति सम्मान सो, भक्त मानि नरनाह॥७१॥—वही, पृ. ६८।

धर्मदास मत सोलहवीं शताब्दी मे हुए।[१] सेन द्वारा राजाराम का दीक्षित होना सभव नहीं। सेन-रचित मराठी के जो अभग कहे जाते है, उनमें दैन्य और सगुण स्वरूप का वर्णन है। आदि-ग्रथ में सेन-कृत यह पद आया है—

धूप दीप घ्रित साजी आरती। वारने जाउ कमलापती॥
मंगला हरि मंगला।
नित मंगल राजा राम राई को॥१॥ रहाउ॥
उत्तम दीयरा निरमल बाती। तुही निरंजन कमलापती॥
राम भगतु रामानद जानै। पूरन परमानंद बखानै॥
मदन मूरति मै तारि गोबिंदे। सेन भणै भजु परमानंदे॥[१]

रामानद के इस उल्लेख के आधार पर सेन को रामानंद का समकालीन सिद्ध नहीं किया जा सकता। रामानद का यहाँ उल्लेख किसी व्यक्ति-विशेष के अर्थ मे नही हुआ है। कमलापति ही यहाँ निरजन हैं। राजा रामराइ का उल्लेख बान्धव-गढ़ नरेश की कथा के साथ सयुक्त करने का प्रयास है।

सूरदास के लिए यह प्रसिद्ध ही है कि वे प्रारभ में निर्गुणोपासक थे और वल्लभाचार्य के सत्सग के कारण पुष्टि-मार्ग में दीक्षित हुए थे। आदि-ग्रंथ में सूरदास की प्रसिद्ध पक्ति "छाडि हरि विमुखन को सग" लिख कर हटा दी गई है, यद्यपि भाई बन्नो जी की बीड में पूरा पद मिलता है। आदि-ग्रंथ के सूरदास हिंदी के प्रसिद्ध कवि और भक्त सूरदास नही। मेकालिफ के अनुसार ये मदन मोहन सूरदास टोडरमल के अधीन अकबर के कर्मचारी और[३] भक्तमाल के अनुसार मदन मोहन सूरदास राधाकृष्ण के उपासक और शृङ्गारी कवि थे।[४] आदि-ग्रथवाला पद भी सूरश्याम की रूप-माधुरी का गायक है। मीरा का एक पद भी भाई बन्नो वाली बीड में आया है। मीरा के लिए उल्लेख मिलता है कि वे रैदास की शिष्या थीं।[५] मीरा का प्रभु रैदास के प्रभु की भाँति "निरजन निराकार निरलेपी निरविकार निसाखी" नही रहा बल्कि "मोहनी मूरति साँवरी सूरत नैना बने विशाल" की बानिक धारण करनेवाला हुआ। मीरा का पद केवल भाई बन्नो की बीड में मिलता हैं।

---

१४ स्वतंत्र परिगणना और तर्क द्वारा द्विवेदी धर्मदास को इसी काल का मानते हैं। —द्रष्टव्यः—वि० भा० प०, खण्ड ५, अक ३ (सं० २००३) में "कबीर पंथ और उसके सिद्धात" शीर्षक निबंध।

१. आ० ग्रं०, सैणु, धनासिरी १।

२ भक्त०, प्रि० टीका, पद ४६४, पृ० २६१।

३. वही, छप्पय १२६।

४. खोजत फिरत फिरौं भेद घर को कोई न करत बखानी।
रैदास सत मिले मोहिं सतगुरु दीन्ह सुरत सहदानी॥
—मीराँ माधुरी, पद २७७, पृ० ६६।

पत्तर निवास करते हैं। काया ही धूप-दीप और नैवेद्य है।)[१] आदि-ग्रंथ का पद संत-परम्परा के अनुकूल है। पूर्ववर्ती संतों की प्रसिद्धि के पश्चात् विभिन्न सम्प्रदायों ने उन्हें स्व-मत पोषक सिद्ध करने के लिए नवीन सिद्धांत-सम्मत पद उनके नाम पर बनाये।

सेन के सम्बन्ध की विभिन्न परम्पराएँ प्राप्त हैं। रानाडे के अनुसार सेन (आदि ग्रंथ के रची सैनु) बीदर के राजा की सेवा में नियुक्त थे।[२] भक्त विजय के अनुसार यह राजा मुसलमान था। इसी प्रमाण के अनुसार उस राजा ने सेन की कृपा से पीताम्बरधारी कृष्ण की चतुर्भुज मूर्ति के दर्शन किये थे और कृष्ण ने उस राजा से भक्ति और भक्त के कारण सगुण रूप धारण करने का रहस्य प्रकट किया था।[३] इस परम्परा के अनुसार सेन वारकरी सम्प्रदाय के भक्त हैं। प्रियादास के अनुसार सेन बांधवगढ़-नरेश के सेवक थे।[४] परम्परानुसार रामानन्द का शिष्य होना तो प्रसिद्ध ही है।[५] विश्वनाथ सिंह की भक्तमाल-टीका के साथ भुवनदास कृत बघेल वंश-वर्णन है जो रघुराज सिंह कृत राम रसिकावली ग्रंथ के अन्तर्गत दिया गया है। इसमें सेन संबंधी जनश्रुति को स्वीकार किया गया है[६] किन्तु राजा द्वारा शिष्यत्व ग्रहण नहीं। इसके अनुसार राजा राम ने कबीर का शिष्यत्व ग्रहण किया था।[७] इसी वंश-वर्णन में संकेत मिलता है कि उक्त नृपति ने धर्मदास का शिष्यत्व ग्रहण किया होगा। राजा राम का समय हुमायूँ, शेरशाह और अकबर के शासन काल में पड़ता है।[८]

---

१ काइआ देवा काइआ देवल काइअउ जंगम जाती।
काइअउ धूप दीप नइवेदा काइअउ पूजउ पाती॥
ना कछु आइबो ना कछु जाइबा राम की दुहाई॥ रहाउ॥
जो ब्रह्मंडे सोइ पिंडे जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रणवै परम ततु है सतिगुरु होइ लखावै॥
—आ० ग्रं० रागु धनासिरी १।

२ मि मरा पृ ११।

३ भक्त-विजय (अं अनु), भाग २ पृ० २४ २५।

४ भक्त लीला १ १, पृ० १५८।

५ भक्त छप्पय ११।

६ मानिन सेन स्वरूप धरि, हरि जिनके तनु माहि।
सेस सगमा पमीतो कहिये केहि रूप काहि ॥७१॥
—श्री, पा ल टीका प ६८१।

७ साख मँगवाय सब चीन्ह के कबीर शिष्य,
राजा सब रानिहूँ को कीन्हो हेरि हाथ है।
—वही पृ ६७८।

८ धर्मदास आवत भये, जीवन मन हुलास।
गुरु विश्वास दृढ़ ताहि किय आपु दिये आवास ॥१३॥—वही पृ ६६१।

९ दिल्ली को पुनि रामनृप, गये अकबर शाह।
अति सम्मान सों, [illegible] मानि मरजाद ॥७१॥—वही, पृ ६८।

धर्मदास मत सोलहवी शताब्दी में हुए।[१] सेन द्वारा राजाराम का दीक्षित होना सभम नहीं। सेन-रचित मराठी के जो अभग कहे जाते है, उनमें दैन्य और सगुण स्वरूप का वर्णन है। आदि-ग्रंथ में सेन-कृत यह पद आया है—

धूप दीप घ्रित साजी आरती। वारने जाउ कमलापती॥
मंगला हरि मंगला।
नित मंगल राजा राम राई को ॥१॥ रहाउ॥
उत्तम दीयरा निरमल वाती। तुही निरंजन कमलापती॥
राम भगतु रामानद जानै। पूरन परमानंद बखानै॥
मदन मूरति मै तारि गोबिंदे। सेन भणै भजु परमानदे॥[२]

रामानद के इस उल्लेख के आधार पर सेन को रामानंद का समकालीन सिद्ध नही किया जा सकता। रामानद का यहां उल्लेख किसी व्यक्ति-विशेष के अर्थ में नही हुआ है। कमलापति ही यहां निरजन है। राजा रामराइ का उल्लेख बान्धव-गढ नरेश की कथा के साथ सयुक्त करने का प्रयास है।

सूरदास के लिए यह प्रसिद्ध ही है कि वे प्रारभ में निर्गुणोपासक थे और वल्लभाचार्य के सत्संग के कारण पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित हुए थे। आदि-ग्रथ में सूरदास की प्रसिद्ध पक्ति "छाडि हरि विमुखन को सग" लिख कर हटा दी गई है, यद्यपि भाई बन्नो जी की बीड में पूरा पद मिलता है। आदि-ग्रथ के सूरदास हिंदी के प्रसिद्ध कवि और भक्त सूरदास नहीं। मेकालिफ के अनुसार ये मदन मोहन सूरदास टोडरमल के अधीन अकबर के कर्मचारी और[3] भक्तमाल के अनुसार मदन मोहन सूरदास राधाकृष्ण के उपासक और शृङ्गारी कवि थे।[४] आदि-ग्रथवाला पद भी सूरश्याम की रूप-माधुरी का गायक है। मीरा का एक पद भी भाई बन्नो वाली बीड में आया है। मीरा के लिए उल्लेख मिलता है कि वे रैदास की शिष्या थीं।[५] मीरा का प्रभु रैदास के प्रभु की भाँति "निरजन निराकार निरलेपी निरविकार निसासी" नही रहा बल्कि "मोहनी मूरति साँवरी सूरत नैना बने विशाल" की बानिक धारण करनेवाला हुआ। मीरा का पद केवल भाई बन्नो की बीड में मिलता है।

---

१४. स्वतंत्र परिगणना और तर्क द्वारा द्विवेदी धर्मदास को इसी काल का मानते हैं। —द्रष्टव्यः—वि० भा० प०, खण्ड ५, अक ३ (सं० २००३) में "कबीर पंथ और उसके सिद्धात" शीर्षक निबंध।

१. आ० ग्रं०, सैणु, धनासिरी १।

२ भक्त०, प्रि० टीका, पद ४६४, पृ० २६१।

३. वही, छप्पय १२६।

४. खोजत फिरत फिरौं भेद घर को कोई न करत बखानी।
रैदास सत मिले मोहिं सतगुरु दीन्ह सुरत सहदानी॥
—मीराँ माधुरी, पद २७७, पृ० ६६।

आदि-ग्रंथ के पदों द्वारा पूर्ववर्ती संतों की साधना अथवा परम्परा का आधार ज्ञात सम्भव है। सभी संत संत-परम्परा के प्रतिष्ठापक नहीं। प्रसिद्ध संतों और भक्तों के नाम पर प्रचलित अथवा रचित पद संकलित हो गए हैं।

संत समाज और सूफ़ी मतवाद

मुस्लिम धर्म के आगमन के कारण नवीन घटना घटित हुई। धर्म-प्रचार के क्षेत्र में राजकीय शासन की व्यवस्था से जहाँ प्रेरणा मिली वहाँ हिंदुओं की धार्मिक कट्टरता और 'ना हिंदू ना मुसलमान' कही जाने वाली जातियों को ग्रहण कर सकने की क्षमता के कारण इस सम्प्रदाय को अधिक प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार के नव मुस्लिमों की धारणा किसी सुदृढ़ आधार पर टिकी नहीं थी। प्रभावशाली पंथों की स्थापना के पश्चात् निम्न-वर्गीय हिंदु नव-मुस्लिम भी ऐसे पंथों में सम्मिलित हो जाते थे। प्रारंभिक गुरुओं ने ऐसे शिष्यों की कोई नवीन मंडली नहीं बनाई थी और न इनमें किसी प्रकार का भेद ही रखा था। प्रभावशाली मुस्लिम शिष्यों की मंडली कमशः अलग बनने लगी। कबीर पंथ की 'साहेबवाणी और "कमाली' शाखाएँ एवं दरय पंथ की 'दरियावदासी" और 'गरीब दासी' शाखाएँ इसी प्रकार बन पड़ीं। इस प्रकार सूफ़ी शिष्यों की रचनाएँ भी आदि गुरुओं की बानियों में मिल गईं तथा उन्हें सर्वज्ञ सिद्ध करने के लिए भी ऐसी बानियाँ सम्मिलित कर ली गई।

प्रारंभिक सूफ़ियों में प्रमुख हसन हुज हुज्विरी (मृ सन् ११२९) का प्रभाव-केन्द्र लाहौर है। बाबा फरीदद्दीन (मृ सन् ११२५ का) का प्रभाव-केन्द्र मेम्नु कौंडा के समीप की भूमि है। सूफ़ियों की एक सौ पचहत्तर से अधिक शाखाएँ हैं जिनमें कादिरिया, नक्श बंदिया सुहरावर्दिया, चिश्ती और सुहरावर्दिया शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। सूफ़ियों की विविध शाखाओं में से किसी एक की भी स्थापना इस देश में नहीं हुई। सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में विशेष अंतर केवल गुरु-परम्परा एवं उपासना प्रणाली का अन्तर है। इन्हें विविध शाखाएँ अथवा सम्प्रदाय मानना उचित नहीं, वस्तुतः ये विभिन्न गुरु-परम्पराएँ हैं। सिद्धान्त-विषयक ग्रंथों में अवारिफुल मआरिफ का सर्वोत्तम स्थान है। इस ग्रन्थ की रचना तेरहवीं सदी में शेख शहाबुद्दीन उमर बिन् मुहम्मद इ-सुहरावर्दी ने अरबी में की थी जिसका फ़ारसी अनुवाद महमूद बिन अली काशानी ने किया था। इसका अर्थात् कुछ अंग्रेज़ी अनुवाद सन् १८९१ में प्रकाशित हुआ था। ख्वाजा खान ने अपने 'स्टडीज़ इन तसव्वुफ़' में सिद्धांतों का सुचित संकेत वर्णन किया है। आर्थर जे आर्बेरी का 'एन इन्ट्रोडक्शन टु दी हिस्ट्री आफ़ सूफ़िज्म' सूफ़ीमत का इतिहास न होकर इसके यूरोप में अध्ययन का इतिहास प्रस्तुत करता है। हसन सुहरावर्दी ने इसकी भूमिका में सुहरावर्दिया सम्प्रदाय का संक्षिप्त-किन्तु प्रामाणिक इतिहास दिया है। भारतीय सूफ़ी सम्प्रदायों का प्रामाणिक इतिहास अभी तक हमारे समक्ष नहीं। सूफ़ी-संतों के जीवन-चरितों की भी प्रामाणिक छान-बीन नहीं हो सकी है, अतएव भक्तों के अनुसार इस संबंध में अधिक सहायक नहीं हो सकते। भारतीय सूफ़ी-साधना की सामग्री प्राप्त नहीं है किंतु फ़ारसी सूफ़ी-मत का प्रामाणिक और चमत्कारपूर्ण वर्णन ब्राउन ने अपने लिटरेरी हिस्ट्री आफ़ पर्शिया में किया है, और अपने विषय की यह प्रामाणिक पुस्तक है। सूफ़ी-साहित्य के अध्ययन में निकोलसन का महत्वपूर्ण स्थान है। इस विद्वान ने

केवल सूफी-साहित्य का अनुवाद और सम्पादन ही नही किया वल्कि इसे पश्चिम मे मान्यता दिलाने का सफल प्रयास भी। निकोलसन के "स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टिसिज्म" और "मिस्टिक्स श्राफ इस्लाम" इस विषय के अत्यन्त उपादेय ग्रथ हैं और इस साहित्य के अध्येता के लिए परमावश्यक। सूफी-मत पर अद्वैतवादी वेदान्त का प्रभाव दीख पडता है और सत की धारणा की समानता के कारण ही, सूफी मत का प्रभाव नही देखा जा सकता। हिंदी में चन्द्रबली पाण्डेय कृत "तसव्वुफ अथवा सूफीमत" इस विषय की अकेली पुस्तक है। पुस्तक की रचना भूमिका के रूप मे हुई है अत अव्यवस्था और असम्पूर्णता ही अधिक है।

भारतीय सूफी-साधना को स्पष्टतया लक्षित करने के लिए सूफियो की रचनाएँ देखनी होगी। डा० अब्दुल हक की पुस्तक "उर्दू की इब्तदाई नशो व नुमा" में "सूफिया यकराम का काम" के द्वारा प्रारंभिक काल के सूफियो के सबध में महत्वपूर्ण ज्ञातव्य विषयो का उद्घाटन होता है। वस्तुत भारतीय मतवाद के अध्ययन के लिए इनके साहित्य की परख आवश्यक है। जायसी ग्रन्थावली इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रकाशन है। माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित सस्करण पाठ की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। शुक्ल की भूमिका आवश्यक निर्देशन उपस्थित करती है। परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित सूफी-काव्य-सग्रह भारतीय सूफियो के साहित्य का उपयोगी परिचय उपस्थित करता है।

सूफियो के इतिहास का यह अश सत-साहित्य के अध्ययन के लिए आवश्यक है। भारत में सुहरावर्दिया सम्प्रदाय की नीव वहाउल हक् वहाउद्दीन जकरिया (सन् ११७०-सन् १२६७) ने डाली। इनका प्रधान केन्द्र सिंध में स्थापित हुआ था किन्तु प्रभाव-क्षेत्र सिंध के अतिरिक्त गुजरात और पजाव रहा। सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश के पौत्र जलाल इब्न कबीर (मृत्यु सन् १३८४ ई०) के कई चमत्कारों की कथाएँ प्रचलित हैं और इन्होंने मक्के की कई यात्राएँ की थी। शेख तकी के साथ कबीर के समागम और दीक्षा की चर्चा होती रही है। आदि-ग्रथ के अनुसार शेख तकी और कबीर प्रतिद्वंदी थे।[1] कबीर मशूर के अनुसार शेख तकी सिकन्दर लोदी का गुरु था। कबीर के चमत्कार-प्रदर्शन के कारण सिकन्दर लोदी शरणागत हुआ और इस घटना के कारण शेख तकी में ईर्ष्या जगी। उसने कबीर का

---

१. आ० ग्र, राग मारू ३।

'आदि-ग्रन्थ' के दो पदों (रागु गौड, ४ और रागु भैरउ, १८) में कबीर पर होनेवाले अत्याचारों का उल्लेख है। पदों में सिकन्दर लोदी का उल्लेख नहीं है। 'कबीर साहबजी की परचई' में सिकन्दर लोदी का स्पष्ट उल्लेख है। डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर और सिकन्दर लोदी को समकालीन माना है (स० क०, प्रस्तावना, पृ० ४७)। 'बसनी'ने कबीरुद्दीन का उल्लेख किया है और 'बारी'का मत उद्धृत किया है कि कबीरुद्दीन का 'फतहनामा' सफल रचना है। फरिश्ता के अनुसार 'सम्भल' में धार्मिक विवाद हुआ जिसमें एक हिन्दू विचारक का सिर अलग कर दिया गया। उसका नाम बुद्धन (बुढन) दिया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की वे रचनाएँ प्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं।

विरोध किया। इस विरोध में पण्डितों और मुल्लाओं ने सहयोग दिया और सिकंदर लोदी को कबीर के विरुद्ध उभाड़ा।[1] बीजक में ऊंजी और झूंसी के पीर एवं मानिकपुर के शेख तकी से वार्तालाप[2] और कबीर द्वारा उपदिष्ट होने की चर्चा आई है।[3] विल्सन वेस्टकट ने दो शेख तक्कियों की कल्पना की है। झूंसी के शेख तकी (मृत्यु सन् १४२९ ई०) सुहरावर्दिया सिलसिले के हैं और मानिकपुर वाले शेख तकी (मृत्यु सन् १५४५) चिश्तिया सम्प्रदाय के। कबीर मंसूर में भी तीन कबीरों का संकेत प्राप्त होता है और कबीर के साथ सैयद अहमद कबीर और शेख कबीर का सम्मिश्रण हो गया है। 'के' का अनुमान है कि थोड़े समय तक रामानंद के प्रभाव में रहकर कबीर ने शेख तकी (मानिकपुर अथवा झूंसी में अथवा दोनों स्थानों में) से दीक्षा ली और अपना स्वतंत्र पंथ चलाया।[4] 'के' की यह धारणा निर्भ्रान्त नहीं।

सुहरावर्दिया सम्प्रदाय में दो कबीर हुए हैं—(१) बहाउल हक बहाउद्दीन जकरिया के पुत्र कबीरुद्दीन एवं (२) जलाल इब्न अहमद कबीर जो ऊच की गद्दी के अधिकारी और सैय्यद जलालुद्दीन सुर्खपोश के पौत्र थे। इन्हें मखदूम-ए-जहानिया की उपाधि थी और इन्होंने छत्तीस बार हज किया था।[5] झूंसी अथवा मानिकपुर के शेख तकी से जिस कबीर का वार्तालाप हुआ था वे प्रसिद्ध मर्मी कबीर नहीं बल्कि सम्भवतया सुहरावर्दिया कबीर हैं। शेख तकी से शिक्षाग्रहण का यही रहस्य है। कबीर की हज संबंधी धारणाओं का संगम इस कबीर के साथ संभवता ही है।[6] आदि-ग्रंथ के एक दूसरे सलोक में हज का विरोध स्पष्ट है क्योंकि राह में ही खुदा मिल गया। अतः वहाँ जाने की अपेक्षा नहीं रही।[7] १९८ वाँ सलोक तो प्रक्षिप्त अवश्य है और इसका संबंध जलाल इब्न अहमद कबीर से है। मर्मी कबीर और शेख कबीर में अभिन्नता स्थापित हो जाने पर किसी शिष्य ने बीजक की शेख तकी संबंधी रमैनियाँ कबीर के नाम पर बनाईं और आदि-ग्रंथवाला सलोक भी इस भ्रम के

---

१ क० मं० चतुर्थ अध्याय, पृ० २७७-८२।

२ मानिकपुर ही कबीर बसेरी, मुहबति सुनी शेख तकी केरी।
ऊजी सुनी जवनपुर थाना, झूँसी सुनि पीरन के नामा॥
—बी० रमैनी ४८।

३ नाना नाच नचाय के नाचो नट के भेख।
घट घट अविनाशी अहै, सुनहु तकी तुम शेख॥
—बी० रमैनी ६३।

४ कबीर ऐंड हिज फालोअर्स पृ० १८।

५ आर्बेरी: एन इंट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री आफ सूफीज्म (प्रस्तावना), पृ० ८-९।

६ कबीर हज काबे होइ होइ गइआ केती बार।
—सं० क० सलोक १९८ पृ० २७७।

७ कबीर हज काबे हउ जाइ था आगै मिलिआ खुदाइ।
—वही सलोक १९७।

कारण सकलित हो गया।[७अ] मर्मी कबीर का किसी शेख तकी से साक्षात्कार हुआ था, इसे निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

कबीर के दो चित्र सूफी देशो की वेश-भूषा मे चित्रित मिले हैं—स्वामी युगलानद कबीर-पथी द्वारा प्राप्त और काशी नागरी प्रचारिणी सभा मे सुरक्षित तथा भारत इतिहास सशोधक मण्डल, पूना का चित्र। सत कबीर में मण्डल वाले चित्र की प्रतिलिपि छपी है। इन दोनो चित्रो के सूफी कबीरो के होने की सभावना कम नही। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि इन दोनो चित्रो के मूल में कबीर के सूफी शिष्यों की कल्पना है।

गोमती तीर निवासी किसी पीताम्बर पीर से कबीर की भेंट होने की चर्चा आदि-ग्रथ के एक पद में आई है। इस पद के अनुसार पीताम्बर पीर कठ में माला धारण करते और रामनाम जपते थे। जिह्वा से राम के सहस्र नाम लेकर कबीर के प्रणाम करने की चर्चा उसमें आई है। उनकी सेवा में नारद और शारदा लगी रहती थी और समीप ही उनकी स्त्री कमला दासी बनी बैठी रहती थी। उनका दर्शन हज से भी पवित्र माना गया है।[१] "पीर" और "हज" शब्द मुस्लिम प्रभाव घोषित करते हैं किन्तु पीताम्बर हिंदुत्व-सूचक है। "वाहु वाहु क्या खूब गावता है" मे सिक्खो की साम्प्रदायिक शब्दावली का प्रयोग है। पीताम्बर पीर यदि कोई उपदेशक थे, तो रामनाम लेने और कठी-माला धारण करने के कारण उनका सूफी होना सिद्ध नही होता। पीताम्बर का अर्थ कृष्ण, गोविंद आदि है। विष्णु की पत्नी कमला है, और नारद-शारदा इनका गुण-गान करते हैं। "गोमती तीर" भी सकेतात्मक ही है। गो का अर्थ है, जिह्वा और सरस्वती। "गोमती" अतः जिह्वा द्वारा नाम-स्मरण का सकेतक हो सकती है। नामदेव के एक पद[२] मे भी "मीर मुकुन्द" का प्रयोग आया है जिसके द्वारा स्पष्ट ही लक्षित होता है कि परम प्रिय और परम तत्व के लिए मीर, पीर का प्रयोग होता आया है, किसी लौकिक देहधारी व्यक्ति के लिए नही।

सूफी-काव्य-परम्परा की आवश्यक शाखा ईरानी काव्य-धारा है, और इनके काव्य का अच्छा सग्रह बाँके बिहारी और कन्हैयालाल ने अपने "ईरान के सूफी कवि" मे उपस्थित किया है।

पूर्वागत धर्म-साधना की परम्परा—

इस विशाल और विस्तृत देश में अनेक उद्गमो से उद्भूत अनेकानेक विचार-धाराएँ स्वतः गुम्फित और समन्वित होती हुई प्रवाहित होती रही। केवल सामाजिक-सास्कृतिक

---

७ अ. जलाल-इब्न-अहमद कबीर की मृत्यु सन् १३८४ में हुई थी। खजीन अस्तुल असफिया (फर्स्ट वाल्यूम, पृ० ४४६) में कबीर को शेख तकी का शिष्य कहा गया है। इस ग्रथ में कबीर का जन्म १३९४ सन् माना गया है। महात्मा कबीर और कबीर अहमद में उलझन पैदा हो गई है।

१ सं० क० रागु आसा १३, पृ० १०३।

२. आ० ग्र० नाम०, रागु तिलग २।

नाथ सम्प्रदाय पर ब्रिग्स के "गोरखनाथ और कनफटा योगीज" कई दृष्टि से उपादेय है किंतु मौलिक आधारो की छानबीन कर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "नाथ-सम्प्रदाय" की रचना की है। जिसके द्वारा सत-काव्य की परम्परा का सूत्र हाथ आता है। हिंदी के नाथ-पंथी साहित्य का उद्धार पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने "गोरखबानी" द्वारा किया है। मोहन सिंह-कृत "गोरखनाथ एंड मिडिवियल मिस्टिसिज्म" की उपादेयता सीमित ही है। राहुल सांकृत्यायन ने "काव्य-धारा" में प्राचीन साहित्य का उपयोगी सकलन दिया है। अनेक-पंथो और सम्प्रदायो का साहित्य उपलब्ध नही, इनके प्रकाशन से परम्परा के स्पष्ट दर्शन संभव हैं।

गोरखनाथ के अभ्युदय-काल मे अनेक बौद्ध, शैव और शाक्त सम्प्रदाय पथ में दीक्षित हो गए। गोरखनाथ की गोरखवसी मे काली से मुठभेड हुई थी। काली हार गई और समस्त शाक्त शिष्य गोरखनाथी सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए। तभी से गोरक्ष सम्प्रदाय मे काली-पूजा प्रचलित हो गई।[1] कबीर मशूर मे आद्याशक्ति और निरजन पर जीत की कथा विस्तारपूर्वक दी हुई है[2], अतः सिद्ध होता है कि कुछ शाक्त और निरजन पथी कबीर-पथ में दीक्षित हुए। सभी सम्प्रदायो ने अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए पुराणो और उपनिषदो की रचना की, शून्य पुराण और अल्लाहोपनिषद् की रचना इसी प्रवृत्ति की सूचना देती है। निरंजन-पथ का इतिहास यह सकेत देता है कि इसके विभिन्न दल क्रमशः गोरख-पथ, कबीर पथ, दादू-पथ मे अन्तर्भूत होते रहे और सम्प्रदाय में इनकी शाखाएँ भिन्न बनी रही। कबीर मंशूर में मूल निरजन पथ[3] को कबीर-पथ की बारह शाखाओ में गिना गया है।[3अ] नानक अपने को निरंकारी कहते हैं। अनेक विस्मृत पथों में अलखिया सम्प्रदाय है, जिसका साहित्य विलुप्त हो चुका है। अनेकानेक पथो का परिचय देनेवाला परशुराम चतुर्वेदी का उत्तरी भारत की सत परम्परा नामक ग्रथ वस्तुत सत-साधना, परम्परा और साहित्य का कोष है, जिसकी सहायता से महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आ सकेंगे।

कबीर : संत-मत के प्रवर्तक और प्रतिनिधि—

समस्त उत्तराखड में गोरखनाथ के पश्चात् सबसे प्रचण्ड व्यक्तित्व लेकर जन्म लेने-वाले व्यक्ति कबीर थे। साधारण जनता के अध-विश्वास और पौराणिक धर्म के वाह्याचार, उच्चता-नीचता की विषम धारणाओ के साथ सघर्ष कर उनकी व्यर्थता का प्रतिपादन और प्रचार कबीर ने सशक्त वाणी के द्वारा किया। कर्तृत्व शक्ति की अलौकिक धारणा के

---

१ द्रष्टव्य-नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १४८।

२. कबीर मंशूर, पृ० ६५६-५७।

३ निरञ्जन का तिब्बती रूप (905 pamed) नानक-निर्ग्रंथ है। इसके आधार पर निरञ्जनपथ का सबध, जैन मतवाद से जोडा जा सकता है, काल-कृत कारणों से जिसमें कई परिवर्तन हो गए।

३ अ. वही, पृ० २९६।

दिशाएँ अन्य संतो में दीख पड़ती है। पीपा ने कबीर-प्रचारित "सत्यनाम" से लाभ उठाया था और धन्ना को भी कबीर का महत्व स्वीकृत है।[1] भक्तमाल और जन्म-परिचय की कथा द्वारा विरोध सूचित होने पर भी आदि-ग्रंथ वाले रविदास पर कबीर का स्पष्ट प्रभाव है और उन्होंने श्रद्धा के साथ कबीर को स्मरण किया है और उन्हें जन्म-जन्म के बंधन तोड़नेवाला, संसार-सागर को तिरनेवाला एवं नीच कुलोद्भव होने पर भी लोक-प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाला माना है।[2] "रैदास जी की बानी" के अनुसार निर्गुण भक्ति के प्रताप से कबीर ने सदेह मुक्ति पाई थी।[3]

दादू के गुरु के संबंध में भी कुछ उसी प्रकार की कथा कही जाती है, जो नानक के साथ सम्बद्ध है। दादू के गुरु का नाम दादू-पंथी परम्परा के अनुसार वृद्धानंद अथवा वुड्ढन बाबा था।[4] गुरु माहात्म्य मत-मत के अनुकूल होने पर भी दादू ने किसी व्यक्ति विशेष का इस संबंध में संकेत नहीं दिया है। विल्सन ने उक्त वृद्धानंद को कबीर की परम्परा में माना है।[5] सुधाकर द्विवेदी दादू को कमाल का शिष्य कहते हैं और दादू नाम भी कमाल का ही दिया हुआ मानते हैं।[6] दादू दयाल की बानी (बेलवेडियर प्रेस) के सम्पादक के अनुसार साहिब की वाणी में कहीं से उनके गुरु का नाम नहीं खुलता, परंतु कबीर साहिब की उन्होंने जगह-जगह महिमा की (गाई) है और कहीं-कहीं साखियाँ भी कबीर साहिब की दी हैं जिन्हें क्षेपक नहीं कहना चाहिए।[7] सिद्धों में कम्बलाम्बरपाद के पद हैं जो पद में कामालि बन गए हैं, क्या कबीर के "कमाल" में "कामालि" का संयोग संभव नहीं ?

दादू ने नाम स्मरण का प्रभाव प्रकट करते हुए नारद, शिव, शुकदेव, प्रह्लाद के साथ कबीर, पीपा, रैदास का उल्लेख भी किया है।[8] अहं का त्याग कर प्रेम करनेवालों में

---

१ आ ग्र०, रागु आसा २।

२ आ० ग्र०, रागु आसा ५, रागु मारू १, एवं रागु मलार २।

३. रै० बा०, पृ० ३३।

४ द्रष्टव्य—

दादू (सेन) द्वारा उद्धृत गोपालदास दादू पंथी का साक्ष्य, पृ० ३४-३५।

तीजे पहर निकट भई साझा। खेलत रहे सो लड़कन माझा।
बीते जबहि एकादस बयस। बूढा रूप दियो हरि दरस॥

५ रेलि० से० हि०, पृ० १०३।

६ दा० द० बा०, भाग १, जीवन-चरित्र, पृ० २ पर उद्धृत।

७. दादू दयाल की बानी, भाग १, जीवन-चरित्र, पृ० २।

८. कहँ था नारद मुनि जना, कहाँ भगत प्रह्लाद।
परगट तीनउँ लोक में, सकल पुकारैं साध॥ ११॥
कह सिव बैठा ध्यान धरि, कहाँ कबीर नाम।
सो क्यों छाना होइगा, जेरे कहेगा राम॥

—दा० द० बा०, भाग १, पृ० २७।

विल्सन ने कबीर को काल्पनिक दिव्य पुरुष समझा।[1] कबीर-पंथी उनके चारों युगों में प्राकट्य की कथा कहते हैं और उन्हें संसारी जीव मानना उपयुक्त नहीं समझते। कबीर-पंथ के अनुसार कबीर साहेब अयोनिज अनादि स्वयंसिद्ध परम-स्वरूप और आवश्यकतानुसार होकर में बार-बार अनेक रूप से प्रकट होकर जीवों को चेतानेवाले पुरुषस्वरूप सद्गुरु हैं। यह परम्परा संत-मत और कबीर पंथ को अभिन्न मानती है।[2] कबीर-पंथ की धर्मदासी शाखा काशी के जुलाहा कबीर को अपने पंथ का प्रवर्तक नहीं मान एक भिन्न अलौकिक दिव्य पुरुष मानती है, जो भिन्न भिन्न युगों में भिन्न नामों से प्रकट होते आते हैं। कबीर-पंथियों का मुख्य क्षेत्र उत्तर प्रदेश और मध्य भारत है। पंजाब बिहार और दक्षिण के प्रान्तों में भी इसके अनुयायी हैं। कबीर-पंथ की बारह शाखाओं का सविस्तर वर्णन अक्षय कुमार दत्त (भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय भाग १) जी० डी० राम (सम्प्रदाय) और हजारी प्रसाद द्विवेदी (विश्व भारती पत्रिका सन् १९४५) ने किया है। इन बारह पंथों के अतिरिक्त कबीर पंथी नानक पंथ (सिक्ख धर्म) दादू-पंथ आदि पंथ मलूकदासी पंथ और बाबालाल पंथ को कबीर मत और पंथ के अन्तर्गत मानते हैं।[3] कबीर मंसूर के अनुसार गुरु नानक ने कबीर से दीक्षा ग्रहण की थी; इसी पंथ के अनुसार सम्वत् १५५१ में नानक देव कबीर से मिलने काशी गये। मार्ग में ही भेंट हो गई और शिष्यत्व ग्रहण किया।[4]

अन्य पंथानुयायी कबीरपंथियों के दावे को स्वीकार नहीं करते और अपनी स्वतंत्रता उद्घोषित करते हैं। प्राण-संगली में तो नानक द्वारा रामानंद और कबीर को उपदिष्ट तक करा दिया गया है, जिसकी चर्चा अन्यत्र हुई है। कबीर और नानक की भेंट संबंधी चर्चा प्रामाणिक आधार पर नहीं है। इतना उल्लेख अवश्य मिलता है कि सं० १५५१ अथवा १५५४ में नदी में स्नान करते समय गुरु नानक की भेंट किसी वृद्ध संत से हुई थी।[5] 'एफ० ए० को' को भेंट की सम्भावना स्वीकृत है।[6] नानक की रचनाओं में कबीर शब्द का उल्लेख है यद्यपि इसका प्रयोग परमात्मा और कबीरदास दोनों के लिए हुआ है।[7] जन्मसाखी के अनुसार नानक के गुरु कोई बाबा सिद्ध अथवा सिद्ध पीर थे।

शिष्य नहीं होने पर भी नानक कबीर की विचार प्रणाली से परिचित और प्रभावित अवश्य थे। पूर्ववर्ती परम्परा का नवीन विकास कबीर में दीख पड़ता है, जिसकी पूर्ण

---

१. रैलि० सै० हि० पृ० ६८।
२. सद्गुरु कबीर साहेब मोतीदास चैतन्य पृ० ५।
३. क० मं० पृ० ११७ और स० क० सा० पृ० ८ की पाद-टिप्पणी।
४. क० मं०, पृ० ११७ की पाद-टिप्पणी।
५. खालसा : गुरु नानक (आधार : भारत परिक्रमा प्रयाग, सं० १९७६) पृ० २१।
६. कबीर एण्ड हिज फालोअर्स, पृ० १८।
७. हक कबीर करीम तू बे ऐब परवरदिगार ॥ आ० ४ राग तिलंग १।
नामा छीपा कबीर जुलाहा पूरे गुरते गति पाई।
—आदि श्री गुरु ग्रं० साहिब जी पृ० १६ और ४८८।

है।[1] राघो दास के प्रमाण पर निर्गुण सम्प्रदाय की स्थापना नानक, कबीर, दादू और जगन ने की। मध्व, विष्णु-स्वामी, रामानुज और निम्बार्क ने सगुणोपासना की रीतियाँ चलाईं, उसी प्रकार इन सतो ने अपनी पद्धति निरजन के अगुण, अरूप, एव अकल स्वरूप से चलाई।[2] हरिदास निरजनी ने अपने पथ-प्रदर्शक के रूप में गोरख, गोपीचद, नाभादास, कबीर आदि सतो को स्मरण किया है और कबीर के सबध मे कहा है कि वे राम के रग में रँग कर सभी वर्णों में श्रेष्ठ हो गए। पचेन्द्रियो को वशीभूत कर लिया और निश्शकतापूर्वक कथनी और करनी में सामजस्य स्थापित किया।[3]

बाबा मलूकदास ने भी कबीर को भक्त-शिरोमणि और सद्गुरु को पहचाननेवाला माना है। प्रह्लाद, नामदेव और नानक की गणना भी इस कोटि में होती है।[4] गरीबदास के ग्रंथ साहेब में भी कबीर का उल्लेख श्रद्धापूर्वक किया गया है।[5]

दादू को वृद्धानद अथवा शेख बुढ्ढन का शिष्य कहा जाता है। कुतवन ने शेख बुढ्ढन को सच्चा पीर कहा है।[6] बहुत सम्भव है, वे दीक्षा-गुरु भी रहे हो। आईन-ए-अकबरी में एक शेख बुढन शत्तारी का उल्लेख है, जो शाह सिकदर लोदी के समकालीन और शेख

---

१. कोइक गोरख को गुरु थापत, के उक दत्त दिगम्बर आदू।
कोउक कथर कोउक भर्थर, कोउ कबीर कि राखत नादू॥
कोउ कहै हरिदास हमार जु यू करि ठानत बाद बिबादू।
और तु सत सबै शिर ऊपर, सुन्दर के उर हैं गुरु दादू॥
—सु० वि०, श्री गुरदेव को अग, पृ० २।

२. राघोदास की भक्तमाल (ह० लि०) परशुराम चतुर्वेदी द्वारा उ० भा० सं० प० के ४६२ में पृष्ठ पर उद्धृत।

३. श्री हरिपुरुष जी की वाणी, साखी ३७, पृ० १८२।

४ हमारा सतगुरु बिरले जाने।
सुई के नाके सुमेर चलावै, सो यह रूप बखानै॥ १॥
की तो जाने दास कबीरा, की हरनाकस पूता।
की तो नामदेव औ नानक, की गोरख अवधूता॥ २॥
—स० बा० स० (भाग २), पृ० १०२।

५ गैबी ख्याल विशाल सतगुरु अचल दिगबर थीर है।
भक्त हेत काया धरि आये, अविगति सत्य कबीर है॥
नानक दादू अगम अगाधू, तिरि जहाज खेवट सही।
सुख सागर के हंस आये, भक्ति हिरबर उर धरी॥
—गरीबदास का ग्रथ साहेब (बड़ौदा, १६८१), गुरदेव को अग।

६. सेख बुढ़न जग साचा पीरू। नाम लेत सुध होय सरीरू॥
कुतबन नाम लेइ पावरे। सरबर दो दुहु जग नीर भरे॥
—मृगावती

कबीर अपमस्त माने गए हैं और आन्तरिक प्रवृत्तियों एवं इन्द्रिय रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाले सच्चे सूरमा। कबीर अपना सर्वस्व अर्पण कर हरि के साथ एकाकार हो उठे थे। जहाँ न पृथ्वी है, न आकाश वैसे निराधार में स्थान-संधान करना सहज नहीं। मन चित्त और आत्मा को एकनिष्ठ कर सहज स्थिति प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। अनेकानेक बाधाओं का अतिक्रमण कर कबीर ने उसी सहज शून्य में अपनी स्थिति पाई थी, जहाँ काल की गति नहीं बाधा-बंधन का प्रवेश नहीं। कबीर का अनुकरण करना कठिन और विषम है।[1] कबीर की वाणी अमृत भरी है किंतु बावरी दुनियाँ उस अमृत को पीती नहीं एवं अनेक प्रकार समझा-बुझा कर कहने पर भी उसका अनुसरण नहीं करती।[2] कबीर का प्रिय ही दादू का प्रिय है, उसे छोड़ कर दादू किसी अन्य को अपना प्रियतम बनाना नहीं चाहते।[3] दादू-पंथी रज्जब दास ने दादू के साथ कबीर को भी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।[4] सुंदरदास ने जयदेव नामदेव रामानन्द रैदास कबीर पीपा आदि संतों के समान ही दादू को हरि का सेवक माना है।[5] दादू को अपना गुरु मानते हुए भी सुन्दरदास ने कबीर का स्मरण गोरख और दत्तात्रेय के साथ किया है और इन संतों को अपने सिर के ऊपर माना

१　दादू रहणि कबीर की कठिन विषम यहु चाल।
　अधर एक सौं मिली रहा, जहाँ न झंपै काल॥ १८॥
　　　　　　　　　　—दा० द० बा (भाग १) मधि को अंग, पृ १७१।

२　कबीर बिचारा कहि गया, बहुत भाँति समझाइ।
　दादू दुनियाँ बावरी ताके संगि न जाइ॥ १८६।
　　　　　　　　　　—वही साध को अंग, पृ १४१

३　जो था संत कबीर का सोइ वर वरिहौं।
　मनसा वाचा कर्मना मैं और न करिहौं॥ ११॥
　　　　　　　　　　—वही पीव पिछाण को अंग, पृ १६२

४　गुरु दादू र कबीर की काया भई कपूर।
　रज्जब रीमत्या देखि करि सरगुण निरगुण मूर॥
　　　　　　　　　　—द्वं ग्रं भाग १ प ६६ पर उद्धृत।

५　सुन्दर विलास श्री गुरुदेव का अंग पृ ७।
　तथा सहजानंद ग्रं पृ ११।

पद—कोई पिवै राम रस प्यासा रे।
　गगन मंडल में अमृत सरवै उनमनि के घर वासा रे।
　गोरख नाथ मछंदरी दमिया माह कबीर अभ्यासा रे।
　गुरु दादू परसाद बापुरूं पायी सुन्दर दासा रे॥
　　　　　　　　　　—सुं ग्रं (२) पृ ८०१।

उसने लिखा है कि वस्तुत वे हिंदू धर्म में जा मिले। फ्रेडरिक पिंकाट ने "दि डिक्शनरी आव इस्लाम" में वेश भूषा तथा रहन सहन के हवाले देकर गुरु नानक को इस्लाम धर्मावलम्बी तक सिद्ध कर दिया। राजनीतिक कारणों से सिक्खों को जब अलग सम्प्रदायानुयायी मानने की आवश्यकता हुई तो मेकालिफ ने अपने "दि सिक्ख रेलिजन" में सिक्ख-मत को अलग सम्प्रदाय उद्घोषित किया।

ग्रियर्सन ने "माडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान" में इन सतो का उल्लेख किया है, किन्तु इस लेखक के अनुसार भारतीय भक्तिधारा का मूल स्रोत क्रिश्चियन था। ग्रियर्सन की हिंदी सेवाएँ अमूल्य हैं, और इसका महत्वपूर्ण अश उसके द्वारा प्रकाशित हुआ। ग्रियर्सन ने अपनी समग्र प्रतिभा और सम्पूर्ण तर्क-शक्ति का प्रयोग इस तथ्य के प्रतिपादन-निरूपण में लगाया।[१] इतर धर्मों में करुणा और मानव-महत्व की कल्पना ईसाई विद्वानो के लिए सभव नही थी। पण्डित वालजी भाई, नामक एक भारतीय ईसाई ने तो यहाँ तक लिख मारा कि ईसाई पादरियो द्वारा "कवीर-पथ" की स्थापना हुई थी।[२] स्वय "की" इस सम्भावना को असभव नही मानता।[3] ईसाई अनुवादको के समक्ष बाइबिल की भाषा का आदर्श था, अतः अनुवाद के समय उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग अनायास ही हो जाता था। बाइबिल की भाषा और सतो के पदो के अगरेजी अनुवाद की भाषा मे साम्य द्वारा इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नही।

भारतीय राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गाधी के पदार्पण करने के साथ राजनीति केवल अवकाश-सम्पन्न कुछ शिक्षित व्यक्तियो के मनोरजन और उन्नति का माध्यम न रह, वह जन-जीवन मे प्रवेश पा गई एव हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का स्वर शक्तिशाली हुआ। खिलाफत आदोलन इसकी क्षमता और शक्ति का सूचक है। भारत पर शासन की दृढता और रक्षा की दृष्टि से अगरेज लेखकों ने साधारणतया दोनो के विरोध को ही व्यापक रूप में प्रचारित किया है, ऐसा विचार भारतीय विचारको में अकुरित होने लगा। एकता के सूत्र इतिहास और साहित्य में खोजे जाने लगे और फलस्वरूप १९२२ में डाक्टर ताराचद ने "इफ्लुएन्स आव इस्लाम आन इडियन कल्चर" नामक निबध प्रस्तुत किया, जिसमे सर्वत्र मुस्लिम प्रभाव देखने की चेष्टा की गई। उक्त विद्वान के अनुसार कबीर क्षमतापूर्ण उपदेशक, सच्चे मार्ग-प्रदर्शक और हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के प्रतिष्ठापक थे। कबीर ने दोनो धर्मों के महत्वपूर्ण उपदेश एकत्र किए और उनका प्रचार किया।[४] नानक के सबध मे उक्त लेखक के विचार हैं कि उनका लक्ष्य हिंदू-मुस्लिम में ऐक्य-स्थापना था, कारण सघर्ष की समाप्ति को सामाजिक व्रण की चिकित्सा के लिए आपने आवश्यक समझा था।[५] सत-साहित्य में दोनो धर्म-साधनाओ के बाह्याचार को स्पष्टतया लक्षित किया गया है किंतु दोनो के सामान्य तत्वों का निर्देश

---

१. ग्रिय०—मार्डन हिंदूज्म एड इट्स डेट टु दि नेस्टोरियन्स,
—ज० र० ए० स०, सन् १९०७, पृ० ३११।

२. कबीर एंड हिज फालोअर्स में 'की' द्वारा उल्लिखित, पृ० १६६।

३. वही, पृ० १६६।

४ इफ्लुएन्स आव इस्लाम, पृ० १४६।

५. वही, पृ० १६८।

अब्दुल्ला अंसारी के वंशज थे। अनुमानतः इनका समय सोलहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सत्रहवीं के प्रारंभिक भाग तक था। मानकबेग का समय (वि० सं० १५२१-वि० सं० १५५५) इससे कुछ पूर्व पड़ता है किन्तु दादू (सं० १६०१-सं० १६६०) का समय ठीक इनके साथ मेल खा जाता है और शिष्यत्व की सम्भावना रह जाती है। दादू सूफिया और सूफी-सम्प्रदाय में दीक्षित थे पीछे चलकर सम्भवतया कबीर-पंथ के प्रभाव में आकर निर्गुणिया हो गए।[1] विभिन्न सम्प्रदाय के मतों का थोड़ा-बहुत समन्वय हो जाना और संतों की विशिष्ट प्रवृत्तियों के द्वारा उनकी पूर्व धर्म-साधना का संकेत मिलता है।

अध्येता और उनका दृष्टिकोण—

भारतीय मानस-गठन और मनःस्थिति के सम्यक् ज्ञान के लिए यहाँ के साहित्य, सामाजिक रीति-नीति और धर्म-साधना से परिचय प्राप्त करने की चेष्टा विदेशी विद्वानों ने की। अपने अथक परिश्रम और अध्यवसाय के कारण नवीन विश्लेषणात्मक अध्ययन का द्वार उन्होंने उन्मुक्त किया और कई क्षेत्रों में उनकी रचनाएँ सदा महत्वपूर्ण रहेंगी और इन विदेशी विद्वानों के आभार से किसी दिन मुक्ति नहीं मिल सकेगी। साम्प्रदायिक संकीर्णता और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध और प्रतिपादित करने करने की उत्कण्ठा एवं विजित जाति की हीनता-ग्रंथि को बलवत् करने का प्रयास भी देखा जा सकता है। इन विदेशी विद्वानों में विल्सन शीर्ष स्थानीय हैं कारण अपने 'रेलिजस सेक्ट्स आव दि हिन्दूज' नामक ग्रंथ के द्वारा भारत के विभिन्न सम्प्रदायों की चर्चा का श्रीगणेश इसने किया। [illegible] के साथ सम्पर्क रहने पर भी संतों के संबंध में इसके विचार सुनी-सुनाई बातों के आधार पर हैं अतः प्रामाणिक नहीं। सम्प्रदायों का सामान्य परिचय देना ही इस लेखक का अभीष्ट था। किसी अन्य व्यक्ति के उपनाम के रूप में कबीर को इसने अनुमित किया।[2] कबीर पंथी भी इसे 'कर बीर' का परिवर्तित रूप मानते हैं और उनकी धारणा के अनुसार कबीर किसी एक देश अथवा काल के विशिष्ट व्यक्ति नहीं। अर्नेस्ट ट्रम्प ने आदि-ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद सन् १८७७ ई० में प्रकाशित कराया और उसकी भूमिका के रूप में सिक्ख-सम्प्रदाय की संक्षिप्त रूप-रेखा भी प्रस्तुत की। आदि नानक और परवर्ती गुरुओं पर कबीर का प्रभाव स्वीकार करते हुए उसने लिखा है कि गुरु नानक ने तत्कालीन हिंदू दर्शन का अनुकरण किया जो भक्तों का अत्यंत लोक-प्रिय भगवद्गीता दर्शन था।[3] गुरु गोविंद सिंह के लिए तो

---

१ उपजा अनुभव ज्ञान अपारा। आयो कबीर गुरु होहि साथ ॥
मिले कबीर समाधि लगाई। अद्यानंद प्रकाश समाई ॥
पद से पद साखी से साखी। रहनि गहनि सबही सी भाखी ॥
निर्गुण ब्रह्म को किया समाधू। तब ही चले कबीर साधू ॥
—श्री गरीबदास दादू पंथी कृत दादू पंथ की जन्मसाखी, [illegible] में पृ० १४५ पर उद्धृत।

२ विल्सन एस्सेज आन दि रेलिजस सेक्ट्स आव दि हिंदूज, पृ० ६८ (टिप्पणी)।

३ आदि-ग्रन्थ (अं० अनु०) भूमिका पृ० ६७।

उसने लिखा है कि वस्तुत वे हिंदू धर्म मे जा मिले। फ्रेडरिक पिकाट ने "दि डिक्शनरी आव इस्लाम" में वेश भूषा तथा रहन सहन के हवाले देकर गुरु नानक को इस्लाम धर्मावलम्बी तक सिद्ध कर दिया। राजनीतिक कारणो से सिक्खो को जब अलग सम्प्रदायानुयायी मानने की आवश्यकता हुई तो मेकालिफ ने अपने "दि सिक्ख रेलिजन" में सिक्ख-मत को अलग सम्प्रदाय उद्घोषित किया।

ग्रियर्सन ने "माडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान" में इन संतो का उल्लेख किया है, किन्तु इस लेखक के अनुसार भारतीय भक्तिधारा का मूल स्रोत क्रिश्चियन था। ग्रियर्सन की हिंदी सेवाएँ अमूल्य हैं, और इसका महत्वपूर्ण अश उनके द्वारा प्रकाशित हुआ। ग्रियर्सन ने अपनी समग्र प्रतिभा और सम्पूर्ण तर्क-शक्ति का प्रयोग इस तथ्य के प्रतिपादन-निरूपण में लगाया।[1] इतर धर्मो में करुणा और मानव-महत्व की कल्पना ईसाई विद्वानों के लिए सभव नही थी। पण्डित वालजी भाई, नामक एक भारतीय ईसाई ने तो यहाँ तक लिख मारा कि ईसाई पादरियो द्वारा "कबीर-पंथ" की स्थापना हुई थी।[2] स्वय "की" इस सम्भावना को असभव नही मानता।[3] ईसाई अनुवादको के समक्ष बाइबिल की भाषा का आदर्श था, अतः अनुवाद के समय उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग अनायास ही हो जाता था। बाइबिल की भाषा और सतो के पदो के अगरेजी अनुवाद की भाषा मे साम्य द्वारा इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नही।

भारतीय राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गाधी के पदार्पण करने के साथ राजनीति केवल अवकाश-सम्पन्न कुछ शिक्षित व्यक्तियो के मनोरजन और उन्नति का माध्यम न रह, वह जन-जीवन मे प्रवेश पा गई एव हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का स्वर शक्तिशाली हुआ। खिलाफत आदोलन इसकी क्षमता और शक्ति का सूचक है। भारत पर शासन की दृढता और रक्षा की दृष्टि से अगरेज लेखकों ने साधारणतया दोनो के विरोध को ही व्यापक रूप में प्रचारित किया है, ऐसा विचार भारतीय विचारको में अकुरित होने लगा। एकता के सूत्र इतिहास और साहित्य में खोजे जाने लगे और फलस्वरूप १९२२ मे डाक्टर ताराचद ने "इन्फ्लुएन्स आव इस्लाम आन इडियन कल्चर" नामक निबध प्रस्तुत किया, जिसमें सर्वत्र मुस्लिम प्रभाव देखने की चेष्टा की गई। उक्त विद्वान के अनुसार कबीर क्षमतापूर्ण उपदेशक, सच्चे मार्ग-प्रदर्शक और हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के प्रतिष्ठापक थे। कबीर ने दोनो धर्मों के महत्वपूर्ण उपदेश एकत्र किए और उनका प्रचार किया।[4] नानक के सबध में उक्त लेखक के विचार है कि उनका लक्ष्य हिंदू-मुस्लिम में ऐक्य-स्थापना था, कारण सघर्ष की समाप्ति को सामाजिक व्रण की चिकित्सा के लिए आपने आवश्यक समझा था।[5] सत-साहित्य में दोनो धर्म-साधनाओ के बाह्याचार को स्पष्टतया लक्षित किया गया है किंतु दोनों के सामान्य तत्वो का निर्देश

---

१. ग्रिय०—माडर्न हिंदूइज्म एड इट्स डेट टु दि नेस्टोरियन्स,
—ज० र० ए० स०, सन् १९०७, पृ० ३११।

२. कबीर एंड हिज फालोअर्स में 'की' द्वारा उल्लिखित, पृ० १६६।

३ वही, पृ० १६६।

४. इन्फ्लुएन्स आव इस्लाम, पृ० १४६।

५. वही, पृ० १६८।

नहीं।[1] मिश्र-बन्धुओं का यही विचार था कि जाति के जुलाहे होकर भी आप हिंदू धर्म के एक प्रसिद्ध सुधारक ही गए हैं।[2] कबीर सुधारक थे किन्तु किसी धर्म को सुधारना न तो उनका लक्ष्य था और न उद्देश्य। वे तो मनुष्य मात्र को सुधारना चाहते थे चाहे वह हिंदू हो, चाहे मुसलमान योगी और पण्डित हो अथवा काजी एवं मुल्ला। डाक्टर बड़थ्वाल ने संत-मत को बौद्ध धर्मानुकूल मध्यम मार्गी माना है। अपने कथन के समर्थन में विद्वान लेखक ने दादू की दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।[3] औपनिषदिक तत्त्व की कल्पना द्वारा संतों की विचारधारा का पर्यवेक्षण संभव तो हुआ किन्तु सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका के अध्ययन का अभाव ही रहा। संत-काव्य का मध्यम मार्ग बौद्ध मध्यम मार्ग से भिन्न है। संन्यास प्रधान बौद्धधर्म संत के लिए मध्यम मार्ग नहीं हो सकता। दादू की उक्त वाणी के अनुसार संत न तो संसारी है और न एकांत त्यागी।[4] मधि साम्प्रदायिक शब्द है जिसकी व्याख्या कबीर ग्रन्थावली में उपलब्ध है।[5] शुक्ल ने तुलसी को मानदण्ड मान कर संतों को धोखा झोंकनेवाला माना। उनके अनुसार [illegible] शास्त्रों और कर्मठों की दू-दू, मैं-मैं तो थी ही बीच में मुसलमानों से अविरोध प्रदर्शन के लिए भी अपढ़ जनता को राह लगानेवाले कई एक पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप उपासना का मोटिया रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की सिद्ध विद्वानों का उपहास, वेदान्त के दो चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था।[6] दोनों सम्प्रदायों में एकता स्थापित करना अथवा अभेद दिखलाने की चर्चा इनके

---

१ हिंदू मूये राम कहि। मुसलमान खुदाई।
कहै कबीर सो जीवता दुइ मैं कदे न जाई॥ क० ग्रं०, पृ० २४०

हिंदू तुरक न होइगा साहिब सेती काम।
षट दरसन के संग न जाइगा निर्पख कहिगा राम॥४४॥ दा० द०
बा० (भाग १), पृ० १७१।४६)

ना हम हिंदू होहिगे ना हम मुसलमान।
षट दरसन में हम नहीं हम राते रहिमान॥ द० बा० (भाग १), पृ० १७३।४९

२ हि० सा० इ० (मिश्रबन्धु), पृ० ७६।

३ हि० का० नि० स० पृ० १५८।

४ ना हम छाड़ै ना गहैं, ऐसा ज्ञान विचार।
मधि भाव सेवैं सदा दादू मुकति दुवार॥ दा० द० बा० (भाग १) पृ० १७०।

५. अवधू अमरपुरी घर किया मधि निरंतर बास।
गगनमंडल बिरक्त रहै, पिंडा धर बिसवास॥
—क० ग्रं०, मधि को अंग पृ० ४७१

सुरति समांणी निरति मैं अजपा मांहैं जाप।
लेख समांणां अलेख मैं यूँ आपा मांहैं आप॥
—वही परचा को अंग, पृ० १७।२१

६ गोस्वामी तुलसीदास पृ० १८।

संबंध में होती रही है। वैयक्तिक स्वतंत्रता के द्वारा उद्भूत मानववाद की जो प्रतिष्ठा हुई उसका स्वर रवीन्द्रनाथ ठाकुर में सुनाई पड़ा।[1]

सम्प्रदायो के अध्ययन के विच्छिन्न प्रयास होते रहे है। सामान्य धर्म-साधना का परिचय भी दिया जाता रहा है, किंतु सामाजिक भूमिका में प्रवाहशील जीवंत चेतना की धारा नही देखी जा सकी है। धर्म-साधनाओ के घात-प्रतिघात का पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषण आचार्य क्षितिमोहन सेन ने किया है। उनके जाति-भेद, भारतीय संस्कृति, मध्ययुगीन रहस्य-वाद, दादू, कबीर आदि ग्रन्थो में धाराओ का परिचय प्राप्त होता है। उपलब्ध सामग्री का आकलन कर डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को सामाजिक ऐतिहासिक भूमिका में देखने का सफल प्रयास किया और धर्म-साधना और पंथ के इतिहास का अध्ययन कर परवर्ती विकास का संकेत-निर्देश भी। आदि-ग्रन्थ के सुरक्षित साहित्य की ओर अध्येता का ध्यान तो गया था, कारण दास और हरिऔध दोनो व्यक्तियो को उस सामग्री की सूचना थी। कबीर-ग्रंथावली के परिशिष्ट रूप में आदि-ग्रन्थ में आये अतिरिक्त पदो का संग्रह दास ने दिया है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने "कबीर का रहस्यवाद" के विशद विवेचन के पश्चात् संत कबीर का सम्पादन किया है, और इसका प्रकाशन महत्वपूर्ण घटना है। डाक्टर वर्मा आदि-ग्रंथ के पदो को सर्वाधिक प्रामाणिक मानते है, हमने अन्यत्र लक्षित किया है कि आदि ग्रंथ के पाठ भी पूर्णतया विश्वसनीय नही, उसमें भी पाठान्तर और भ्रम है।

भूमिका रूप में सिद्ध और नाथ-साहित्य के अध्ययन की चर्चा की जा चुकी है; नामदेव आदि मराठी संतो के अध्ययन द्वारा कई महत्वपूर्ण विषयो की ओर संकेत मिलता है। संत-साधना केवल हिंदी प्रांतो में सीमित नही थी। स्थानीय कारणो से स्वरूप में अन्तर अवश्य था। सगुणोपासना का भक्तिरूप दक्षिण में विकसित होकर शास्त्र-पुराण-सम्मत बना। नामदेव की एक कथा मूर्ति को दूध पिलाने का चमत्कार प्रदर्शित करती है तो दूसरी कथा मंदिर में प्रवेश नही पाने की चर्चा करती है। अस्पृश्यास्पृश्य का जितना कठोर बंधन दक्षिण में है, उतना उत्तरी भारत में नही। मध्ययुग संत-काव्य और साधना से परिपूर्ण है, केवल भारत में ही नही बल्कि अन्यत्र भी। धर्म की रूढिवादिता और सामाजिक विषमता के कारण इस प्रकार के भाव-जागरण में सहायता मिलती है। पूर्वी प्रान्तो में बंगाल, मगध, और कामरूप में साधनाओ की विभिन्नता थी, जिसका प्रभाव संत शब्दावली पर पड़ता है। ऐसी अवस्था में इन प्रान्तो के व्यापक जीवन, उसकी परम्परा और साधना-पद्धति का परि-चय अपेक्षित है। बंगाली, आसामी, उडिया, पंजाबी, मराठी साहित्य के इतिहास से सहा-यता लेना अनिवार्य है।

विभिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य होता रहा है। प्रस्तुत अध्ययन किसी एक क्षेत्र को ही अपने आप में पूर्ण स्वीकार नही करता। वस्तुत अन्य मानवीय चेतनाओ से विच्छिन्न करके साहित्य का तात्त्विक अध्ययन नही किया जा सकता। साहित्य परम्परा का विकास और तत्कालीन चेतना का फल भी है। मानव की कथा सामाजिक स्थिति की

---

१. द्रष्टव्य—दादू की भूमिका।

प्रेरणा और सांस्कृतिक चेतना के संघटन का इतिहास है। प्रेरणा के बीज समाज में सुरक्षित रहते हैं, सांस्कृतिक चेतना और वैयक्तिक प्रतिभा उसे पल्लवित करती है। मनुष्य इतिहास का फल और निर्माता भी है। सामाजिक भूमिका का महत्त्व भी निरपेक्ष नहीं आर्थिक निर्धारण भी एकमात्र सत्य नहीं। दर्शन अधर में नहीं पनपता। नैतिक धारणाएँ निर्पेक्ष नहीं।

सन्त साहित्य की सामाजिक भूमिका, सांस्कृतिक चेतना काव्य-परम्परा और दार्शनिक चैतन्य के माध्यम से अध्ययन करने का प्रयास इन पृष्ठों में हुआ है। व्यक्तित्व की विशिष्टता नहीं बल्कि समग्र भूमिका ही व्यक्तित्व विश्लेषण और अध्ययन की दिशा है। इसलिए व्यक्तित्व की चैतन्य धारा साहित्य में प्रतिफलित और अभिव्यक्त होती रही है।

★ ★ ★

समाज और परिस्थिति

खुरासान खसमाना कीया हिंदुसतानु डराइया ।
आवै दोसु न देई करता, जमुकरि मुगलु चढाइया ॥
—आदि-ग्रंथ (नानक)

धधा करत चरन कर घाटे आउ घटी तन खींना ।
—क० ग्र० (पृ० १७१।२४४)

देवलि जाऊँ तो देवी देखौं, तीरथ जाऊँ त पाणीं ।
ओछी बुधि अगोचर वाणीं, नहीं परंम तत जाणीं ॥
—क० ग्र० (पृ० १५४।१६७)

ऐतिहासिक स्थिति

★

मुस्लिम आक्रमण के पूर्व भारत—

गुप्त साम्राज्य के पतन से विशृंखल होती हुई राजशक्ति को सुदृढ कर थानेश्वर-नृपति हर्षवर्धन "सकलोत्तरापथनाथ" के विरुद से विभूषित हुआ। हुऐन्त्साग के विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय पच-प्रान्त (सौराष्ट्र, कान्यकुब्ज, मिथिला-मगध, गौड और उत्कल) ने उसकी अधीनता स्वीकार की थी। हर्ष की मृत्यु सन् ६४३ ई० में हुई और भारतीय इतिहास का नवीन अध्याय यहाँ से आरम्भ होता है। दक्षिण भारत पर हर्ष का अधिकार नही था और दाक्षिणात्य नृपति स्वतंत्र रहे। छठी शती के अन्त में पल्लवो का विशेष उत्कर्ष बढ़ा और कांची को इन्होंने अपना केन्द्र बनाया। पल्लवो और चालुक्यों में शीघ्र ही सघर्ष प्रारम्भ हुआ और पुलकेशिन् द्वितीय ने पल्लवो को परास्त किया।[1] पुलकेशिन् द्वितीय वातापी के चालुक्यों में महान् प्रतापी, परम नीति-निपुण और अ-साधारण योद्धा हुआ। दक्षिण भारत में यह हर्ष का समर्थ विरोधी था। दोनो विन्ध्य के दोनो ओर अपनी शक्ति के प्रसार में संलग्न रहे। नर्मदा पर दोनो की सीमाएँ टकरा गईं और इस सघर्ष में हर्ष की श्री पराभूत हुई। पल्लवो ने थोडे समय के लिए चालुक्यो की राजधानी वातापी पर अधिकार कर लिया किंतु यह अधिकार क्षणिक था और पुलकेशिन् द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य ने पल्लवो से काची छीन ली। चालुक्यों की दो और शाखाएँ थी। वेंगी और कल्याण के चालुक्यो का अधिकार आंध्रदेश और कलिंग के एक भाग की भूमि पर रहा। सन् १०७० ई० में राजेन्द्र चोड द्वितीय के कारण पूर्वी चालुक्य और चोड दोनो कुल मिल कर एक हो गए। इस मिश्रित कुल का शासन दो शताब्दियों तक चला। कल्याण के चालुक्यो का प्रारम्भ राष्ट्रकूटो के सामन्त-

---

१. ए० इ०, ४, पृ० १४२-४३।

नृपति के रूप में हुआ था। परमारों ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट पर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। तत्कालीन परिस्थिति से लाभ उठाकर तैलप ने स्वतंत्रता उद्घोषित की और इस प्रकार स्वतन्त्र राजकुल की स्थापना हुई।

मान्यखेट के राष्ट्रकूटों का प्रताप दन्तिदुर्ग के काल में प्रारम्भ हुआ जिसने आठवीं सदी के मध्य में महाराष्ट्र से चालुक्यशक्ति को उखाड़ फेंका। कांची कोसल कलिंग, मालवा लाट के नृपतियों को उसने पराजित किया था। राष्ट्रकूटों की राज्य-श्री प्रायः ढाई सौ वर्षों तक उत्कर्ष पर रही। कृष्ण तृतीय के शासन काल में कालिंजर और चित्रकूट तक अधीन हुए। दक्षिण तो उसके प्रभाव का क्षेत्र था ही। पांड्य और केरल नृपति पराजित हुए और सिंह-नरेश भी नत-मस्तक हुआ। राष्ट्रकूटों के प्रबल प्रताप का वर्णन अरबी पर्यटकों ने किया है। ८५१ ई० में लिखता हुआ सुलेमान अमोघवर्ष प्रथम की गणना बगदाद के खलीफा और चीन तथा कुस्तुन्तुनिया के सम्राटों के साथ संसार के चार सर्व शक्तिमान् राजाओं में करता है।[1] राष्ट्रकूट पौराणिक धर्म के अनुयायी थे।

दक्षिणापथ के छोटे राज्यों में देवगिरि के यादव वारंगल के काकतीय कोंकण के शिलाहार, बनवासी के कदम्ब तलकाड के गंग और द्वार-समुद्र के होयसल परिगणित हैं। सन् १२९४ ई० में अलाउद्दीन ने देवगिरि के नृपति रामचन्द्र की यशपूर्वक शरण ली और आक्रमण किया। विवश होकर रामचन्द्र ने सन्धि कर ली। रामचन्द्र के समय में सन् १२९० ई० में सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी टीका लिखी। पल्लव चोल चेर और पाण्ड्य राजाओं का उत्थान और अपकर्ष होता रहा। मलिक काफूर के आक्रमण के पूर्व दक्षिण भारत स्वतंत्र रहा। सिन्ध पर अरबों का क्षणिक अधिकार हुआ था, उसकी चर्चा यथास्थान होगी। दक्षिण का इतिहास इसलिए महत्वपूर्ण है कि भक्ति आंदोलन का उद्भव दक्षिणापथ में होता है और इस पर विभिन्न धाराओं के प्रभाव की चर्चा होती रही है।

उत्तरी भारत

हर्ष-साम्राज्य के विघटन के पश्चात् उसके ध्वंसावशेष पर कई छोटे छोटे-राज्यों का निर्माण हुआ। प्राचीन गण-व्यवस्था नष्ट हो गई और कोई राज-सत्ता इन बिखरी हुई शक्तियों को एक-सूत्रता न दे सकी। सामन्तिक शासन की प्रथा इसके मूल में है। समर्थ नृपति की अपनी शक्ति के समय सामन्त तो अधीनता स्वीकार कर लेते थे पर शक्ति के ह्रास के साथ ही स्वातन्त्र्य-प्राप्ति की चेष्टा में लगते और इस प्रकार प्रत्येक नवीन शासक की समस्या होती थी [illegible] उद्दंड सामन्तों को पुनः अपने अधीनस्थ करना। ऐसा [illegible] और [illegible] हुआ तो समस्या जटिल हो जाती थी। प्रत्येक [illegible] अपनी [illegible] के लिए प्रयत्न करता था।[2] इतिहासकारों ने पारस्परिक

---

१ [illegible] प्राचीन भारत का इतिहास पृ० ११२।

२ [illegible] अनेक बार [illegible]
　　[illegible]
　　　　—[illegible] ([illegible]) [illegible] २२।

स्पर्द्धा को लक्ष्य करते समय इस तथ्य की ओर अधिक ध्यान नही दिया है। चक्रवर्ती सम्राटो का शासन एक केन्द्रीय व्यवस्था न होकर सघ-बद्ध व्यवस्था थी, जिसके छिन्न होने मे अधिक समय नही लगता था।

हर्ष ने अपनी राजधानी थानेश्वर से कन्नौज में हटाई। हर्ष की मृत्यु के प्रायः ७५ वर्ष बाद सन् ७२५ ई० मे यशोवर्मन् नामक शक्तिमान् नृपति कन्नौज का शासक हुआ। इसकी मृत्यु के प्राय बीस वर्षों के पश्चात् आयुध कुल के शासन का प्रादुर्भाव हुआ। कन्नौज की श्री पालो और राष्ट्रकूटो के प्रलोभन का कारण बनी। पाल और राष्ट्रकूटो के सघर्ष से लाभ उठाकर प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय ने चक्रायुध को पराजित कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। महमूद के आक्रमण तक (सन् १००८ ई०) इसका राज्य कन्नौज पर बना रहा, किन्तु उस आक्रमण का सामना न कर सकने के कारण राज्यपाल मैदान छोड भागा। राज्यपाल चन्देल नृपति गण्ड की सेना के साथ युद्ध करते मारा गया और त्रिलोचनपाल सिंहासनाधिकारी हुआ। महमूद के दूसरे आक्रमण ने उसकी शक्ति क्षीण कर दी।

इस साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर सात राज्यो ने अपना प्रभुत्व जमाया, अन्हिलवाड के चालुक्य, बुदेलखण्ड (जेजाकभुक्ति) के चन्देल, ग्वालियर के कच्छपघात, डाहल के चेदि, मालवा के परमार, दक्षिण राजपूताना के गुहिल और शाकम्भरी के चाहमान। कन्नौज की केन्द्रीय भूमि पर गहडवालो का आधिपत्य हुआ। इस काल का इतिहास इन राजपूत-कुलो के पारस्परिक सघर्ष, ईर्ष्या-प्रतिस्पर्द्धा और विग्रह की करुण किन्तु रक्त-रजित गाथा है।

चन्द्रदेव ने गहडवालो के राजकुल की नीव डाली और काशी, अयोध्या, कान्यकुब्ज और इन्द्रस्थान (दिल्ली) पर शासन किया।[1] सुलतान मसूद तृतीय ने गजनी की सेना भेजी थी, जिसे गोविन्दचन्द्र ने मार भगाया था। गोविन्दचन्द्र ने मगध और पूर्वी मालवा पर भी अधिकार कर लिया। गोविन्दचन्द्र के पश्चात् विजयचन्द्र और तत्पश्चात् भारतीय इतिहास में सर्वाधिक बदनाम जयचन्द्र हुआ। पृथ्वीराज रासो के साक्ष्य पर इसे देशद्रोही का पर्याय बना कर जितना अन्याय इस नृपति के साथ किया गया है, वैसा किसी और नृपति के साथ नही। मुसलमानो के साथ वीरतापूर्वक युद्ध हुआ, जयचन्द्र समरभूमि में मारा गया।

चौहानो का वश अग्निकुलीय, अत. सम्भवतया विदेशी था, जिसे ब्राह्मण-शक्ति ने मूर्धाभिषिक्त कर क्षत्रियत्व प्रदान किया। सन् ११५३ में विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव इस कुल का प्रसिद्ध नरेश हुआ। इसी ने गहडवालो से दिल्ली छीन कर अपना आधिपत्य जमाया। विग्रहराज की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली पर गहडवाल-नरेश का आधिपत्य हो गया। चौहानो में अत्यत प्रसिद्धि-प्राप्त नरेश पृथ्वीराज तृतीय हुआ। पृथ्वीराज रासो में इसके सबंध की अनेक अविश्वसनीय घटनाएँ उल्लखित हैं। सन् ११९२ ई० में शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी द्वारा पराजित होकर पृथ्वीराज मारा गया। शिहाबुद्दीन ने अजमेर और दिल्ली के सिंहासन पर पृथ्वीराज के पुत्र को वार्षिक कर देने की शर्त पर बिठाया।[2] उसे भगाकर हरिराज ने अपना अधिकार कन्नौज पर जमाया, किन्तु सन् १३०१ ई० में कुतुबुद्दीन ने उसे पराजित कर चौहान शासन का अन्त कर दिया।

---

१ इ० ऐं०, १८, पृ० १६।

२. ब्रिग्स, हि० रा० म० पा०, भाग १, पृ० १७५।

नृपति के रूप में हुआ था। परमारों ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट पर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उत्क्रांत परिस्थिति से लाभ उठाकर तैलप ने स्वतंत्रता उद्घोषित की और इस प्रकार स्वतन्त्र राजकुल की स्थापना हुई।

मान्यखेट के राष्ट्रकूटों का प्रताप दन्तिदुर्ग के काल में प्रारम्भ हुआ जिसने आठवीं सदी के मध्य में महाराष्ट्र से चालुक्यसत्ता को उखाड़ फेंका। कांची कोसल कलिंग, मालवा लाट के नृपतियों को उसने परास्त किया था। राष्ट्रकूटों की राज्य-श्री प्रायः ढाई सौ वर्षों तक उत्कर्ष पर रही। कृष्ण तृतीय के राजत्व काल में कालिंजर और चित्रकूट तक अधीन हुए। दक्षिण तो उसके प्रभाव का क्षेत्र था ही। पांड्य और केरल नृपति पराजित हुए और सिंह-नरेश भी नत-मस्तक हुआ। राष्ट्रकूटों के प्रबल प्रताप का वर्णन अरबी पर्यटकों ने किया है। ८५१ ई० में लिखता हुआ सुलेमान अमोघवर्ष प्रथम की गणना बगदाद के खलीफा और चीन तथा कुस्तुन्तुनिया के सम्राटों के साथ संसार के चार सर्व शक्तिमान् राजाओं में करता है।[1] राष्ट्रकूट पौराणिक धर्म के अनुयायी थे।

दक्षिणापथ के छोटे राज्यों में देवगिरि के यादव वारंगल के काकतीय कोंकण के शिलाहार, वनवासी के कदम्ब तलकाड के गंग और द्वार-समुद्र के होयसल परिगणित हैं। सन् १२९४ ई० में अलाउद्दीन ने देवगिरि के नृपति रामचन्द्र की धनपूर्ण राजधानी पर आक्रमण किया। विवश होकर रामचन्द्र ने सन्धि कर ली। रामचन्द्र के समय में सन् १२९० ई० में सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी टीका लिखी। पल्लव चोल चेर और पांड्य राजाओं का उत्कर्ष और अपकर्ष होता रहा। मलिक काफूर के आक्रमण के पूर्व दक्षिण भारत स्वतंत्र रहा। सिन्ध पर अरबों का क्षणिक अधिकार हुआ था, उसकी चर्चा यथास्थान होगी। दक्षिण का इतिहास इसलिए महत्वपूर्ण है कि भक्ति आंदोलन का उद्भव दक्षिणापथ में होता है और इस पर विभिन्न धाराओं के प्रभाव की चर्चा होती रही है।

उत्तरी भारत

हर्ष-साम्राज्य के विघटन के पश्चात् उसके ध्वंसावशेष पर कई स्वतंत्र राज्यों का निर्माण हुआ। केन्द्रीय संघ-बद्धता नष्ट हो गई और कोई राज-सत्ता इन बिखरी हुई शक्तियों को एक-सूत्रता न दे सकी। सामन्तिक शासन की प्रथा इसके मूल में है। स्वतंत्र नृपति को बलवती शक्ति के समक्ष नतमस्तक हो अधीनता स्वीकार कर लेते थे उस शक्ति के हटते ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति की चाह में लगते और इस प्रकार प्रत्येक नवीन शासन की समस्या होती थी इस स्वतंत्रता अभिलाषी कहलानेवाले नृपतियों को पुनः अपने अधीनस्थ करना। ऐसा नृपति यदि योग्य और पराक्रमशाली हुआ तो समस्या कठिन हो जाती थी। प्रत्येक महत्वाकांक्षी शासक अपनी प्रभुत्व-स्थापना के लिए प्रयत्न करता था।[2] इतिहासकारों ने पारस्परिक

---

१ र० च० प्राचीन भारत का इतिहास पृ० १६२।

२ तुलसी—को है एक एक हैं अनेक छाक छोनिपाल
आने आने का ही बोली बदले का?
—कवितावली (तुलसी), उत्तरकाण्ड २२।

पूर्वी सीमान्त के राज्यो में नैपाल का सम्पर्क भारत से अधिक तिब्वत और चीन से था। इस राज्य के इतिहास का निश्चित ज्ञान अशुवर्मन के काल से मिलने लगता है। जायसवाल के अनुसार ५९५ ई० में अशुवर्मन ने सवत् चलाया और उसकी मृत्यु ६३९ और ६४३ ई० के बीच किसी समय हुई।[1] इस भू-भाग का इतिहास तिमिराच्छन्न है। स्पष्टतया इतना ही कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म और उसकी महायानी शाखा का प्रभाव इस पर अधिक रहा। पीछे चल कर शैव-धर्म प्रतिष्ठित हुआ।

गौड को कन्नौज के यशोवर्मन, काश्मीर के ललितादित्य, कामरूप के श्री हर्ष आदि ने पद दलित किया। आठवी सदी में गोपाल यहाँ का शासक चुना गया। पालवशीय राजा निम्न कुलोद्भव और बौद्ध थे, इस धर्म के महायानी स्वरूप को प्रतिष्ठा मिली। गोपाल के पुत्र धर्मपाल ने राज्य-विस्तार की नीति अपनाई और कुछ काल तक तो उसके समस्त उत्तरापथ के अधिपति होने की सम्भावना रही। राष्ट्रकूटो से यह पराजित हुआ। इसके पुत्र देवपाल ने उडीसा और प्राग्ज्योतिप पर अधिकार कर लिया। नारायण पाल के समय प्रतीहारो ने उत्तर बगाल और मगध को अधिकृत कर लिया। क्रमशः पाल समृद्धि नष्ट होती गई और विजयसेन ने मदनपाल को गौड से वहिष्कृत कर दिया। सेन-कुल में वल्लाल सेन की प्रसिद्धि वर्ण-धर्म की रक्षा के लिए "कुलीन प्रथा" के प्रचारित करने के कारण है। इस वश का लक्ष्मण सेन पृथ्वीराज, तृतीय जयचन्द्र और शिहाबुद्दीन का समसामयिक था।

कामरूप अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रहा। पालो के उत्कर्षकाल मे इसे भय जरूर बना रहा। तेरहवी सदी में शान जाति की अहोम शाखा ने अधिकार किया और उसी के नाम पर इसका नाम आसाम पडा। इस पर आधिपत्य जमाने के मुसलमानो के सारे प्रयास विफल हुए। मुहम्मद-इब्न-अख्तियार की सेना बीहड प्रान्त मे नष्ट हुई।

कलिंग भी स्वतत्र ही रहा, यद्यपि पाल और सेन नृपतियो से कई बार लोहा लेना पडा। तेरहवी सदी से इस पर मुसलमानो के आक्रमण प्रारम्भ हुए और सोलहवी सदी में जहाँगीर के साम्राज्य का अग बना।

पश्चिमी सीमा पर सिन्ध, काबुल-पजाब और काश्मीर के स्वतन्त्र राज्य थे। सिन्ध के साथ अरबो का व्यापारिक सबध पुराना था। इस देश पर रायो के कुल और छछ के ब्राह्मण कुलो ने प्रायः दो सौ वर्षों तक राज्य किया। छछ नामक ब्राह्मण मत्री ने रायो के अन्तिम राजा की मृत्यु पर उसकी विधवा पत्नी से विवाह कर लिया और स्वय रायो के सिंहासन पर बैठा। छछ-पौत्र दाहिर के राजत्व काल में अरबी मुसलमानो के आक्रमण इस भू-भाग पर हुए और मुहम्मद-इब्न-कासिम ने ७१२ ई० में इस पर अधिकार कर लिया। काबुल-पजाब में कुषाण-वशी शाहियो ने सातवी सदी से नवी तक राज्य किया। इस कुल के अन्तिम राजा लगनर्मान् को सिंहासन च्युत कर उसके ब्राह्मण मत्री कल्लर ने "हिन्दु शाही" कुल की स्थापना की। जयपाल के समय मुस्लिम शक्ति ने अपना प्रभाव दिखलाना शुरू किया। सुबुक्तगीन के साथ कई चोटें हुई।

---

१. जायसवाल क्रॉनालोनी आफ नेपाल, १० ११।

त्रिपुरी के कलचुरी शासन का प्रतिष्ठाता कोक्कल प्रथम था। नवीं शती के अन्त और दसवीं शती के आरंभ में वह प्रबल हुआ जिस कारण राष्ट्रकूट और प्रतीहार तक उसकी सहायता के इच्छुक हुए। सन् १ ११ में गांगेयदेव नरेश हुआ और पूर्व में उसने प्रयाग और वाराणसी पर अधिकार कर लिया। तिरहुत पर भी उसका अधिकार था। गांगेयदेव का पुत्र लक्ष्मीकर्ण इस कुल का सर्वशक्तिमान् व्यक्ति हुआ और समस्त उत्तर भारत उसके भय से आतंकित हुआ। इसके पश्चात् ही इस कुल का महत्त्व-पूर्ण पराक्रमशाली हुआ और अन्तेम कलचुरी शक्तियों ने इस राज्य के क्षेत्रों पर अधिकार जमाया।

बुंदेलखण्ड के चन्देल ने प्रतीहारों के मांडलिक नृपतियों के रूप में शासन प्रारंभ किया और पीछे चल कर अपनी स्वतंत्रता उद्घोषित की। इस कुल के गंड ने आनंदपाल की की सहायता के लिए सेना भेजी थी। इस नृपति को महमूद के आक्रमणों से टक्कर लेनी पड़ी थी। इस कुल का अन्तिम कीर्तिमान् नरेश परमर्दि (परमल) हुआ। पृथ्वीराज ने इसे पराजित किया था किन्तु इसने अपना अधिकार पुनः प्राप्त किया। कुतुबुद्दीन के साथ १२ ३ में इसका भयानक युद्ध हुआ और महोबा पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

मालवा के परमारवंशीय नृपति वसिष्ठ के अग्नि-कुण्ड से उत्पन्न माने गए हैं।[1] इस कुल में वाक्पति मुंज अत्यंत प्रतापी राजा हुआ। सम्भवतया सन् ९९३ और ९९८ ई के बीच वह तैलप द्वारा मार डाला गया। इसने कर्णाट लाट (केरल और चोल) राजाओं को पराजित किया, कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी को लूटा मेवाड़ पर चढ़ाई कर नष्ट किया और मालवा से मिला हुआ प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया। परमार-कुल का सबसे अधिक कीर्तिशाली और शक्तिशाली राजा भोज हुआ। भोज के पराक्रम और दान की कथाएँ जन-श्रुतियाँ बन चुकी हैं। उदयपुर की प्रशस्ति के अनुसार उसने चेदीश्वर, इन्द्ररथ, भीम, तोग्गल कर्णाट और लाट के राजाओं, गुर्जर-नरेशों एवं तुरुष्कों (मुसलमानों) को हराया था।[2] अलबेरूनी के अनुसार सन् १ ३ ई में धार और मालवे पर भोजराज का अधिकार था।[3] भोज के उत्तराधिकारी निर्बल सिद्ध हुए। अलाउद्दीन के सेनापति ने सन् १३ ५ ई में मालवा को नष्ट-भ्रष्ट किया। इस प्रकार इस कुल के शासन की समाप्ति हुई।

अन्हिलवाड़ के चालुक्यों को १ २५ ई में महमूद का सामना करना पड़ा और उनका राजा भीम प्रथम आतंकित होकर भाग निकला। महमूद के लौट जाने पर उसने पुनः अपना आधिपत्य जमाया। भीम द्वितीय के राजत्व काल (११७८ ई) में शिहाबुद्दीन ने भारत पर हमला किया किन्तु पराजित हुआ। सन् ११९७ में कुतुबुद्दीन ने राजधानी पर अधिकार कर लिया। सन् १२९७ ई में अलाउद्दीन ने अपनी सेना भेजी। करणदेव बघेल राजधानी छोड़कर भागा। उलुग खाँ और नसरत खाँ ने राजधानी को तहस-नहस किया। कालान्तर में गुजरात से हिन्दू राज्य का लोप हो गया और मुसलमानों का वहाँ आधिपत्य।

---

१ नवसाहसांक चरित (पद्मगुप्त), सर्ग ११।६८ ९६

२ राजा भोज पृ० ९७ पर उद्धृत।

३ सचाऊ (अनु) भाग १, पृ १९१।

पूर्वी सीमान्त के राज्यो मे नेपाल का सम्पर्क भारत से अधिक तिव्वत और चीन से था। इस राज्य के इतिहास का निश्चित ज्ञान अशुवर्मन के काल से मिलने लगता है। जायसवाल के अनुसार ५९५ ई० मे अशुवर्मन ने सवत् चलाया और उसकी मृत्यु ६३९ और ६४३ ई० के बीच किसी समय हुई।[1] इस भू-भाग का इतिहास तिमिराच्छन्न है। स्पष्टतया इतना ही कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म और उसकी महायानी शाखा का प्रभाव इस पर अधिक रहा। पीछे चल कर शैव-धर्म प्रतिष्ठित हुआ।

गौड को कन्नौज के यशोवर्मन, काश्मीर के ललितादित्य, कामरूप के श्री हर्ष आदि ने पद-दलित किया। आठवी सदी में गोपाल यहाँ का शासक चुना गया। पालवशीय राजा निम्न कुलोद्भव और बौद्ध थे, इस धर्म के महायानी स्वरूप को प्रतिष्ठा मिली। गोपाल के पुत्र धर्मपाल ने राज्य-विस्तार की नीति अपनाई और कुछ काल तक तो उसके समस्त उत्तरापथ के अधिपति होने की सम्भावना रही। राष्ट्रकूटो से यह पराजित हुआ। इसके पुत्र देवपाल ने उडीसा और प्राग्ज्योतिष पर अधिकार कर लिया। नारायण पाल के समय प्रतीहारो ने उत्तर बगाल और मगध को अधिकृत कर लिया। क्रमशः पाल समृद्धि नष्ट होती गई और विजयसेन ने मदनपाल को गौड से बहिष्कृत कर दिया। सेन-कुल में बल्लाल सेन की प्रसिद्धि वर्ण-धर्म की रक्षा के लिए "कुलीन प्रथा" के प्रचारित करने के कारण है। इस वंश का लक्ष्मण सेन पृथ्वीराज, तृतीय जयचन्द्र और शिहाबुद्दीन का समसामयिक था।

कामरूप अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रहा। पालो के उत्कर्षकाल मे इसे भय जरूर बना रहा। तेरहवी सदी में शान जाति की अहोम शाखा ने अधिकार किया और उसी के नाम पर इसका नाम आसाम पडा। इस पर आधिपत्य जमाने के मुसलमानो के सारे प्रयास विफल हुए। मुहम्मद-इब्न-अख्तियार की सेना बीहड प्रान्त में नष्ट हुई।

कलिंग भी स्वतत्र ही रहा, यद्यपि पाल और सेन नृपतियो से कई बार लोहा लेना पडा। तेरहवी सदी से इस पर मुसलमानो के आक्रमण प्रारम्भ हुए और सोलहवी सदी में जहाँगीर के साम्राज्य का अग बना।

पश्चिमी सीमा पर सिन्ध, काबुल-पजाब और काश्मीर के स्वतन्त्र राज्य थे। सिन्ध के साथ अरबो का व्यापारिक सबध पुराना था। इस देश पर रायो के कुल और छछ के ब्राह्मण कुलो ने प्रायः दो सौ वर्षों तक राज्य किया। छछ नामक ब्राह्मण मत्री ने रायो के अन्तिम राजा की मृत्यु पर उसकी विधवा पत्नी से विवाह कर लिया और स्वय रायो के सिहासन पर बैठा। छछ-पौत्र दाहिर के राजत्व काल में अरबी मुसलमानो के आक्रमण इस भू-भाग पर हुए और मुहम्मद-इब्न-कासिम ने ७१२ ई० मे इस पर अधिकार कर लिया। काबुल-पजाब में कुषाण-वशी शाहियो ने सातवी सदी से नवी तक राज्य किया। इस कुल के अन्तिम राजा लगनर्मान् को सिहासन च्युत कर उसके ब्राह्मण मत्री कल्लर ने "हिन्दु शाही" कुल की स्थापना की। जयपाल के समय मुस्लिम शक्ति ने अपना प्रभाव दिखलाना शुरू किया। सुबुक्तगीन के साथ कई चोटें हुईं।

---

१. जायसवाल क्रॉनालोजी आफ नेपाल, १० ११।

कश्मीर का इतिहास अधिक प्रकाश में है। राजतरंगिणी के अनुसार कर्कोटक उत्पल गुप्त और लोहर वंश के नृपतियों ने इस पर शासन किया। इनमें कई राजा प्रसिद्ध हुए। उत्पल कुल का अवन्तिवर्मन् प्रतापशाली राजा हुआ। अपार रक्तपात के पश्चात् शंकरवर्मन् ने पिता का राज्य प्राप्त किया। शंकरवर्मन के काल में प्रजा अत्यन्त पीड़ित रही और देश कंगाल हो गया। धन-लोलुपता के कारण इसने मन्दिरों को लूटा-खसोटा एवं धार्मिक अनुष्ठानों पर कर लगाया। दुर्भाग्य की कथा यहीं से प्रारम्भ होती है। तन्त्रिन् और एकांगों के गृहयुद्ध से यह रम्य भू भाग क्षत-विक्षत हो गया। उन्मत्तावन्ती के क्रूर शासन में जनसाधारण की स्थिति भयानक थी। गुप्तकुल के शासकों में दिद्दा सबसे अधिक प्रभावशालिनी हुई। क्षमता साहस क्रूरता, महत्त्वाकांक्षा की यह प्रतीक थी। लोहर-कुल का राज्य सन् १००१ ई में प्रारम्भ हुआ। महमूद ने इसे अधीन करने का असफल प्रयास सन् १ २१ ई० में किया। इसके बाद का इतिहास रक्तपात लूट-खसोट क्रूरता और अधार्मिकता का है। शाहमीर नामक व्यक्ति ने १३१२ ई में कश्मीर पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार कश्मीर पर मुसलमानों का आधिपत्य हुआ।

मुस्लिम शक्ति

सम्पूर्ण भारत पर मुसलमानों ने किसी एक ही समय में साम्राज्य स्थापित नहीं कर लिया। इस कार्य में प्रायः पाँच सौ वर्ष लग गये। इस घटना को कालक्रम और प्रभाव के अनुसार निम्नलिखित विभागों में विभक्त किया जा सकता है, (१) सिन्ध पर अरबों का अधिकार (२) काबुल के शाहीय कुल का निष्कासन, (३) महमूद के आक्रमण और पंजाब पर अधिकार (४) शहाबुद्दीन गोरी का दिल्ली और कन्नौज पर आधिपत्य तथा (५) अलाउद्दीन खिलजी के हाथों रणथंभोर, मालवा और गुजरात की पराजय।

अरब आधिपत्य

सन् ७१२ ई० में दाहिर के शासन-काल में मुहम्मद इब्न-कासिम ने सफलतापूर्वक सिन्ध पर आक्रमण किया। इसके पूर्व भी कई आक्रमण हो चुके थे किन्तु मुसलमानों को सफलता नहीं मिली थी। इस युद्ध में वीर दाहिर की मृत्यु हुई और सिन्ध पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया। सिंध के पश्चात् जुनैद ने अरबों की साम्राज्य-प्रसार वाली नीति अपनाई और मीनमल ने गुजरात और उज्जैन तक धावे किये किन्तु इनकी प्रसार नीति व्यापक रूप में सफल नहीं हुई। दक्षिण में चालुक्यों, पूर्व प्रतीहारों और उत्तर में कर्कोटकों ने उनका प्रसार रोक दिया। अरबों ने भारतीय विद्याएँ सीखीं और हिंदुओं के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया। हिन्दू-मन्दिर विध्वस्त नहीं किये गये और धार्मिक विषयों में एक सीमा तक स्वतंत्रता थी यद्यपि "खिराज" और 'जजिया' नामक कर देने पड़ते थे। गृह-कलह और पारस्परिक स्पर्धा के कारण सिन्ध स्थित अरबों के मुल्तान और मन्सूरा में दो-दो स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। महमूद गजनवी की मृत्यु के बाद उत्तरी सिन्ध में हिन्दू-राज्य की स्थापना हुई जो चौदहवीं सदी के मध्य तक चलती रही।

ब्रिग्स के अनुसार सुम्रा नामक जमीन्दारों ने सिंध पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया और पाँच सौ वर्षों तक स्वतन्त्र रहे।[1] अरबी मुसलमानो का प्रभाव अवशिष्ट नही रहा।

शाहियों का निष्कासन

कुषाणवंशीय राजाओ ने "शाहिय" उपाधि धारण कर कावुल पर शासन किया। अलवेरूनी इन्हें "हिन्दू तुर्क" कहता है। लम्बी अवधि तक इन्होने वहाँ शासन किया। ये सम्राट् हिन्दू धर्म ग्रहण कर चुके थे। ब्राह्मण मन्त्री "कल्लर" ने "हिन्दू-शाही" कुल की स्थापना की। याकव ने ८७०-७१ ई० में काबुल पर अधिकार कर लिया और हिन्दू शाहियो ने उद्भाण्ड पुर को अपनी राजधानी रखी। अफगानिस्तान में मुसलमानो की नींव दृढ हो जाने पर शाही-सीमा पर सुबुक्तगीन के आक्रमण होने लगे। तारीख-ए-यामिनी के अनुसार सुबुक्तगीन ने भारत पर कई आक्रमण किये और जिन नगरो में कभी मुसलमानो ने पदार्पण नहीं किया, उन्हें विजित किया।[2] जयपाल ने स्वय कावुल पर आक्रमण किये किन्तु उसे सफलता नहीं मिली और उसे सन्धि करनी पडी। जयपाल ने सन्धि की शर्तों को पूरा करना अस्वीकार कर दिया एव अन्य राजाओ से सहायता माँगी। सुबुक्तगीन ने यह समाचार सुन कर जयपाल पर आक्रमण करने की ठानी। मार्ग में पडनेवाले मन्दिरो को ध्वस्त किया, नगरों में आग लगाई,[3] हिन्दुओ की हत्याएँ की और इस प्रकार इस्लाम की स्थापना की।

महमूद के आक्रमण

सुबुक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी महमूद हुआ। भारत की धन-राशि से आकृष्ट महमूद ने १००१ ई० में आक्रमण किया और जयपाल की पुनः पराजय हुई। ग्लानि और सताप से दग्ध जयपाल ने चितारोहण किया और अनंगपाल राजा हुआ। महमूद के आक्रमणो ने उसे भी शान्ति नही लेने दी। सन् १०२१-२२ में उसकी हत्या हुई और सन् १०२६ ई० में उसके पुत्र तथा अधिकारी भीम की मृत्यु के साथ वह राज-कुल समाप्त हो गया। महमूद ने राज्य की स्थापना नहीं की, लूटपाट ही उसका उद्देश्य था और धर्म-प्रचार के नाम पर हिन्दू-मन्दिरो को ध्वस्त करना अभिप्राय। उसके कई आक्रमण हुए किन्तु शासन-क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से उसने पजाब और सिन्ध को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत मिला लिया। महमूद के पश्चात् के उत्तराधिकारियो ने पूर्वी अफगानिस्तान, पजाब और सिन्ध पर प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक शासन किया। किन्तु उनका प्रभाव क्रमश. विलुप्त होता गया और सन् ११७३ ई० तक आते-आते महमूद के उत्तराधिकारियो का अधिकार समाप्त हो गया। महमूद का उद्देश्य भारतीय साम्राज्य की स्थापना नही था और न उसने मुस्लिम साम्राज्य की नींव डाली। उसके आक्रमणो के कारण मुस्लिम साम्राज्य-स्थापना के मार्ग की बाधाएँ दूर हुईं और मार्ग प्रशस्त हुआ।

---

१. ब्रिग्स : हि० रा० म० पा०, भाग ४, पृ० ४१०-११।
२. ऐलियट ऐंड डाउसन, भाग २, तारीख-ए-यामिनी, पृ० १६।
३. वही पृ० २३।

मुहम्मद गोरी विजय-यात्रा और दिल्ली पर अधिकार

महमूद और उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल तक भारत भूमि के अत्यल्प थोड़े से भाग पर मुस्लिम शासन था। मुसलमानों के आक्रमण से भारतीय जनता संत्रस्त अवश्य हुई और उनका भय अधिक काल तक बना भी रहा किन्तु स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका था। गियासुद्दीन मुहम्मद ने सन् ११७३ में गजनी पर अपना अधिकार जमाया और अपने भाई मुहम्मद गोरी को वहाँ का शासक नियुक्त किया। सन् ११७५ में उसने मुल्तान के मुसलमानों के विरुद्ध अभियान किया और उसके गढ़ को जीत लिया। सन् ११७८ में उसने गुजरात पर आक्रमण किया और पराजित हुआ किन्तु दूसरे वर्ष पेशावर को अधीन कर लिया। पंजाब के यवमवियों के पतन और पराजय से भारतीय-आक्रमण का द्वार खुल गया। अजमेर में उस समय चौहानों का शासन था। अजयराज ने बारहवीं सदी के प्रारम्भ में अजमेर को बसाया था। गहड़वाल कुलीय जयचन्द्र कन्नौजाधिपति था और पृथ्वीराज से उसकी अनबन थी। 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में मतभेद है यद्यपि उसका लेखक 'चन्दबरदाई' पृथ्वीराज का समसामयिक और मित्र समझा जाता है। पृथ्वीराज रासो' के साक्ष्य पर पृथ्वीराज के वीरता-प्रदर्शन के कारणों में नारियाँ रहीं और उन युद्धों में वीर खेत आते रहे। पृथ्वीराज के शासन-काल में भारतीय इतिहास की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना घटित हुई। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया। सन् ११९१ में पराजित शहाबुद्दीन ने सन् ११९२ में पुनः आक्रमण किया।[1] इस युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु हुई। इसके फलस्वरूप अजमेर और दिल्ली पर मुसलमानों का आधिपत्य हुआ। जयचन्द्र भी मुसलमानी आक्रमण से बचा नहीं और कन्नौज भी अधिकृत हो गया। भारतीय इतिहास का मुस्लिमकाल वस्तुतः कुतुबुद्दीन ऐबक से प्रारम्भ होता है, जो दास था किन्तु अपनी बुद्धिमत्ता के कारण मुक्त हुआ था। तबकात-ए-नासिरी का यह कथन भ्रामक है कि कुतुबुद्दीन ने ११९१ ई० में दिल्ली को अधीन किया। सन् ११९४ में जयचन्द्र पराजित किया गया और मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने बिहार और नदिया के इलाके को अधीन किया। सन् १२०६ ई० की अठारहवीं जून को कुतुबुद्दीन लाहौर में सम्राट घोषित हुआ। तबकात ए-नासिरी के अनुसार आरामशाह की मृत्यु के समय हिन्दुस्तान चार राज्यों में विभक्त था (सिन्ध में नासिरुद्दीन कुबाचा दिल्ली और उसके आस-पास की भूमि पर सुलतान शैयद शम्सुद्दीन लखनौती के इलाके में खिलजी लाहौर पर कभी मलिक ताजुद्दीन कभी मलिक नासिरुद्दीन कुबाचा और कभी सुलतान शम्सुद्दीन का आधिपत्य रहा।[2] मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने सेनापति की सेवाओं के पुरस्कार रूप में जागीर पाई थी और मुंगेर और बिहार पर आक्रमण कर धन एकत्र किया था। उसके आक्रमण सदा होते रहे। इसी साक्ष्य के अनुसार नालंदा के विहार और पुस्तकालय को इसने नष्ट-

---

१ तबकात-ए-नासिरी इलियट एण्ड डाउसन भाग १ पृ २९१
२ वही, पृ १ ।
३ वही, पृ १ १ ।

भ्रष्ट किया। इसके आक्रमणो के कारण लखनौती, विहार, वग और कामरूप के हिन्दुओं में भय का साम्राज्य छाया हुआ था।[1] लक्ष्मणसेन वख्तियार खिजली से पराजित होकर लखनौती भाग गया और नदिया को मुसलमानो ने नोचा-खसोटा। अल्तमश का राजत्वकाल भी सघर्षो का काल रहा। नासिरुद्दीन कुवाचा के साथ लाहौर के लिए युद्ध हुआ। अन्य स्थानो में स्थानीय शासको ने विद्रोह किया। उसने आजीवन युद्ध किए और उत्तरी भारत के अधिकाश को आशिक रूप में अधीन किया। भारतीय इतिहास में "दास-वश" के नाम में जो राज कुल प्रसिद्ध है उसके उत्तराधिकार की अव्यवस्था और सेनापति एव अमीरो के पारस्परिक द्वेष और प्रतिद्वद्विता के कारण मुसलमानी राज्य केवल शासन मात्र थे। इनके शासन का अर्थ मुख्य दुर्गों और राजधानियो पर अधिकार था। ग्रामीण जनता प्रायः स्वतन्त्र थी। केवल सघर्ष-काल और युद्ध-यात्राओ में इन्हें कष्टो का सामना करना पडता था। स्थानीय शासको का अभाव न था और केन्द्रीय शासन-व्यवस्था दृढ नही थी। नियमित शासन न था।

कुतुबुद्दीन के राजत्वकाल में उत्तरी भारत पर मुसलमानो का दिल्ली से कालिंजर तक और लखनावती से लाहौर तक अधिकार हो गया। किन्तु यह भ्रम से रिक्त नही कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत ने अधीनता स्वीकार कर ली। केन्द्र से दूर प्रान्तो पर नाममात्र का अधिकार था। मुस्लिम आधिपत्य का अर्थ गढो पर अधिकार था। सन् १२१० ई० में कुतुबुद्दीन के पश्चात् आरामशाह शासक बना, सम्पूर्ण भारतीय साम्राज्य पर अधिकार रख सकना जिसके बूते का काम नही था। अल्तमश दास-वश का सर्व-प्रधान सम्राट् हुआ। अल्तमश के राजत्व का प्रारम्भ कठिनाइयों के वीच हुआ और अपने आधिपत्य को प्रभावपूर्ण और वास्तविक बनाने के लिए उसे अनेकानेक युद्ध करने पडे। सघर्ष द्विविध था, एक ओर उसके सहधर्मी प्रतिद्वद्वी थे और दूसरी ओर पराजित हिन्दू भूपति थे जिन्हे अपनी पराजय स्मरण थी। चगेज खाँ के आक्रमण ने स्थिति को और अधिक सकटापन्न बना दिया था। अल्तमश ने साम्राज्य की छिन्न-भिन्न होनेवाली शक्ति का एकीकरण किया और सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपना आधिपत्य जमाया।

अल्तमश ने ख्वाजा कुतुबुद्दीन नामक सूफी के सम्मानार्थ लाट खडी कराई, जिसे कुतुब साहब की लाट कहा जाता है। अल्तमश ने इस सूफी सत को शेख-उल-इस्लाम की उपाधि से विभूषित करना चाहा किन्तु उन्होने अस्वीकार कर दिया।[2] किन्तु इन सूफियो का भारतीय जनता पर प्रभाव सदिग्ध ही है। अल्तमश के उत्तराधिकारियो की शक्ति-हीनता के कारण राजकीय परिस्थिति डाँवाडोल होती रही। अमीरो में आपसी मतभेद और शासक के साथ सम्बन्ध-योग के कारण विषमता और अधिक गहरी हुई। रुकुनुद्दीन और रजिया बेगम

---

१. वही पृ० २०७।

२ ई० प्र० : मि० इ०, पृ० १४२ (टिप्पणी)
इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूफी-सत उस समय मुस्लिम धर्म के प्रवर्तको में थे और समन्वय-सामंजस्य की चेष्टा से अधिक मुस्लिम आस्था को प्रचारित करने की समस्या उनके समक्ष थी।—द्रष्टव्य-दक्खिणी हिन्दी (पृ०२६) पर डाक्टर अब्दुलहक का वक्तव्य।

के राजत्वकाल की घटनाएँ इसके प्रमाण स्वरूप रखी जा सकती हैं। प्रादेशिक शासक स्वतन्त्र होने लग गये और केन्द्रीय शासन में अमीरों के पारस्परिक संघर्ष और शासकों के उनके हाथों में शिथिलता होने के कारण मुस्लिम राज्य की सुव्यवस्थित व्यवस्था सम्भव नहीं थी। संघर्ष और विनाशशील परिस्थिति में बलबन ने साम्राज्य की रक्षा की। नासिरुद्दीन-काल की एक घटना से स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम धर्म ग्रहण करने पर भी स्थानीय मुसलमानों के अधीन रहना तुर्क मुस्लिम अपना अपमान समझते थे और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर षड्यन्त्रों की बात चलती थी।[1] स्वयं राजधानी में ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि तबकात-ए-नासिरी का लेखक ६ महीने तक मस्जिद नहीं जा सका था। बलबन का सारा समय विविध विरोधों के शमन में गया यद्यपि उसने शासन-पटुता दिखलाई। उसकी समस्या पठान सरदारों और पराजित हिन्दू राजाओं की शक्ति क्षीण करने की थी। मंगोलों के आक्रमण का भय था ही अतः उसकी शासन व्यवस्था युद्धकालीन ही थी, उससे भिन्न नहीं हो सकती थी। फरिश्ता के अनुसार बलबन हिन्दुओं को कोई उत्तरदायित्वपूर्ण पद नहीं देता था।[2] बलबन के पश्चात् जो केन्द्रीय शासन की अव्यवस्था बढ़ी उससे लाभ उठाकर जलालुद्दीन खिलजी ने अपना आधिपत्य दिल्ली के सिंहासन पर सन् १२९० में जमाया। उत्तर भारत की इस वार्ता के साथ स्मरण रखने योग्य है कि दक्षिण से अरबी मुसलमानों के आठवीं सदी में आने पर भी इनका राज्य अधिक समय तक टिका नहीं रहा। मुहम्मद इब्न-कासिम की मृत्यु के पश्चात् अंसारी जाति के कुछ व्यक्तियों ने शासन किया और उनके पश्चात् स्थानीय जमींदारों का अधिकार हो गया। सुम्रा ने सिन्ध पर आधिपत्य जमाया।[3] इन राजाओं का इतिहास तिमिराच्छन्न है किन्तु दिल्ली के मुसलमान शासक आक्रमण करते और कुछ नगरों को अधीनस्थ करते रहे। वहाँ अधीनस्थ शासकों को भी उसने नियुक्त किया। शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के एक दास नासिरुद्दीन कुबाचा ने अपने को स्वतन्त्र रूप में शासक घोषित किया।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत इस काल तक स्वतन्त्र था और हिन्दू राजा राज्य कर रहे थे। बारहवीं सदी तक उत्तर के किसी मुसलमान नृपति ने दक्षिण भारत में प्रवेश करने का साहस नहीं किया। ग्यारहवीं सदी के आरम्भ से ही कृष्णा के उत्तर-पश्चिम में देवगिरि के यादव नृपतियों का शासन था और उसके दक्षिण में होयसल नरेश शासन कर रहे थे। दक्षिण-पूर्व में पाण्ड्य-वंश का प्रमुख था। मालाबार तट पर त्रावनकोर की जातियों ने अधिकार जमा लिया था। होयसल-नृपतियों का इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान था कारण अन्य राजाओं ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। सन् १२९४ में अलाउद्दीन ने सोना, जवाहिरात आदि सम्पत्ति लूटने के लिए यादव राजधानी देवगिरि पर चढ़ाई की। यादव नरेश रामचन्द्र ने सामना किया किन्तु विजय-श्री अलाउद्दीन के पक्ष में थी। पराजित रामचन्द्र सन्धि के लिए बाध्य हुआ। उसके पुत्र शंकर ने सन्धि को स्वीकार नहीं कर

---

१ ई म, मि० इ पृ ११२ २१
२ वही इ १०१-७१ (पाद टिप्पणी)
३ हिन्द; हि ए म पा भाग ४, इ ४२१।

युद्ध किया किन्तु अन्त में वह भी पराजित हुआ। सन् १२९५ ई० अपने चाचा और स्नेहाविल सुलतान जलालुद्दीन खिलजी की हत्या कर अलाउद्दीन दिल्ली का सुलतान बना। काजी अला-उल-मुल्क की सम्मति पर ध्यान दिया जाय तो उस समय तक रणथम्भोर, चित्तौड़, चदेरी, मालवा, धार, और उज्जैन मे हिन्दुओ के स्वतन्त्र राज्य थे।[१] अलाउद्दीन ने रणथभोर, चित्तौड़ पर आक्रमण किए और उन पर विजय पाई। देवगिरि के प्रयाण-काल में मालवा और गुजरात पर विजय पाई। उत्तरी भारत मे पूर्णतया मुस्लिम सत्ता की प्रतिष्ठा का श्रेय अलाउद्दीन को मिलना चाहिए। दक्षिण में इसके प्रभाव का अनुभव हिन्दू नृपतियो ने किया। देवगिरि के यादव और वारगल के काकतीय नृपति मलिक काफूर द्वारा पराजित हुए। यह घटना सन् १३०७ में घटित हुई।[२] रामचन्द्र का पुत्र शकर देवगिरि का नरेश हुआ। उसके विद्रोह करने पर मलिक काफूर ने पुनः १३१२ ई० में आक्रमण किया। शकर युद्ध मे मारा गया और इस प्रकार देवगिरि पर मुसलमानी अधिकार हो गया।

अलाउद्दीन के पश्चात् राजनीतिक क्षेत्र मे वही अव्यवस्था उत्पन्न हुई जो प्रत्येक प्रतापी सम्राट् के पश्चात् पूर्व-मध्यकाल की विशेषता रही और इसके वाद कई शक्तिहीन नरेश हुए। खिलजियो के पश्चात् तुगलको का दिल्ली पर अधिकार हुआ। गयासुद्दीन तुगलक का उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक भारतीय इतिहास मे विक्षिप्त की उपाधि से विभूषित किया जाता है। यद्यपि अभागा आदर्शवादी ही उसके लिए उपयुक्त उपाधि हो सकती है। मुल्लाओ, शेख और मौलवियो की असीम शक्ति को सीमित करने का इसने प्रयास किया, कारण इससे राजकीय शासन व्यवस्था मे इनके कारण वाधा पडती थी।[3] राजत्व-काल के अन्तिम भाग में प्रादेशिक विद्रोह हुए और उसके जीवन का अन्त इनके शमन के लिए हुआ। इसकी मृत्यु के पश्चात् पुन साम्राज्य का विघटन हुआ और इसके भग्नावशेष पर कई स्वतन्त्र राज्य उठ खडे हुए। फिरोज का राजत्व-काल मुस्लिम धर्म के आक्रामक स्वरूप का द्योतक है। वह कट्टर मुसलमान था और मुस्लिम कानून और न्याय-व्यवस्था ही उसके शासन के मूल स्तभ वने। इलियट ने फिरोज की तुलना अकबर से की है जो निश्चित रूप में अनुचित है। फिरोज शाह ने अपने भाई मुहम्मद तुगलक के नाम पर जिसका वास्तविक नाम "जौना" था, जौनपुर का नगर वसाया। दिल्ली का साम्राज्य जो फिरोज शाह के समय में ही सीमित हो चुका है था, उसकी मृत्यु के पश्चात्

---

१. अलाउद्दीन ने नवीन धर्म की स्थापना और सिकन्दर की भाँति यात्रा करनी चाही थी। उक्त काजी ने सलाह दी कि सिकन्दर की भाँति विजय करने का समय नहीं, कारण अरस्तू जैसा योग्य मंत्री उसके पास नहीं था। अत उसे इन हिन्दू राजाओं को विजित करना चाहिए।—ई० प्र०, मि० इ०, पृ० १९४

२. इलियट : हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग ३, पृ० ७७ और २००

३ द्रष्टव्य : इब्न-बतूता का उद्धरण—
ई० प्र० : मि० इ० में पृ० २३८ की पाद-टिप्पणी।

भिन्न भिन्न हो गया और दिल्ली का महत्त्व जाता रहा। प्रदेश पर प्रदेश स्वतन्त्र होते रहे। अमीर सरदार प्रादेशिक शासक विद्रोह खड़ा करते और स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करते। फिरोज के निर्बल उत्तराधिकारियों के प्रभुत्व पर तैमूर लंग का धावा प्रबल आघात सिद्ध हुआ। तैमूर ने १३९८ ई० में भारत पर आक्रमण किया। तैमूर की खूनी तलवार भारतीय इतिहास की भयानक और मर्मबेधी घटना है। जाफरनामा और मलफुजात-ए-तैमूरी दोनों इस रक्त रंजित घटना का रोमांचक चित्रण करते हैं। इस घटना के पश्चात् शासन छिन्न भिन्न हो गया। राजधानी और अन्य प्रादेशिक क्षेत्रों में भी अव्यवस्था स्पष्ट दीख पड़ने लगी। भयानक अकाल और महामारी के कारण जनता की वर्णनातीत दुर्दशा हुई। इस विशाल साम्राज्य के भग्नावशेष पर स्वतन्त्र राज्य उठ खड़े हुए। मालवा में दिलावर खाँ ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना सन् १४०१ ई० में की। गुजरात के प्रादेशिक शासकों का केन्द्रीय शासन के साथ संबंध उसकी सत्ता और क्षमता पर निर्भर करता रहा। तैमूर के आक्रमण से उत्पन्न होनेवाली अव्यवस्था से लाभ उठाकर यहाँ का प्रादेशिक शासक जफर खाँ स्वाधीन हो गया। जौनपुर स्वतन्त्र हो गया और बंगाल तो किसी समय पूर्णतया अधीन हुआ नहीं था। दक्षिण में बहमनी और विजयनगर दो प्रधान साम्राज्य स्थापित हुए। विजयनगर के स्वतन्त्र हिन्दू-साम्राज्य के कारण हिन्दू-धर्म और साहित्य को संरक्षा प्राप्त रही। विजयनगर के नृपतियों को "सर्व वर्णाभिमाचार प्रतिपालनतत्पर" कहा गया है।[१]

यह स्पष्ट है फिरोज शाह की मृत्यु के पश्चात् कोई ऐसा प्रभावशाली सम्राट नहीं हुआ जो भिन्न भिन्न होनेवाले साम्राज्य को एक सूत्र में पुनः बाँध सके। इन निर्बल सम्राटों के शासन-काल पारस्परिक संघर्ष विग्रह और विद्रोह से परिपूर्ण रहे। सन् १५२६ ई० में बाबर ने दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार किया। हुमायूँ का काल शान्तिपूर्ण नहीं रहा। शेरशाह ने अपने अल्पकालीन शासन-काल में नवीन स्फूर्ति दिखलाई और इस प्रकार अकबर के सुदीर्घकालीन नियंत्रित राज्य-व्यवस्था की पथ-सूचना मिली। अकबर की नीति का पालन यद्यपि पूर्णतया नहीं हुआ किन्तु जहाँगीर और शाहजहाँ के काल अपेक्षाकृत शान्ति और सुव्यवस्था के युग रहे। फिरोज की पद्धति औरंगजेब ने अपनाई और दोनों के राज्यकाल पतनोन्मुख साम्राज्य के अपने अपने युगों में अन्तिम गौरव के स्तम्भ रहे। लड़खड़ाता हुआ मुगल साम्राज्य औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् साँसें गिनता रहा और पश्चिमी जातियों की कूटनीतिज्ञता के कारण अन्त में घुटने टेक दिए।

मुस्लिम-काल के इस संक्षिप्त विवरण द्वारा कुछ निष्कर्षों पर पहुँचने में हमें सहायता मिलती है, जिसका संत-साहित्य से स्पष्ट संबंध है। भक्ति का उद्भव दक्षिण में हुआ पर दाक्षिणात्य में वहाँ मुस्लिम प्रभाव अलाउद्दीन के समय में दीख पड़ा। उसके पूर्व वह मुस्लिम आक्रमणों से मुक्त रहा। उत्तरी भारत के आक्रान्त नरेशों ने दाक्षिणात्य में राज्य-वंशों की स्थापना की और इस प्रकार हिन्दू धर्म ने नवीन प्रेरणा दक्षिण में पाई।

---

१ एपि इंडि भाग ३ पृ ११७।
विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य श्री वासुदेव उपाध्याय :
विजयनगर साम्राज्य का इतिहास।

भारतीय विद्या, सस्कृति और विचार-धारा का सुदृढ गढ दक्षिण रहा। शकराचार्य का समय पूर्णतया निश्चित नहीं, अधिकाश विद्वानो को ९ वीं सदी मान्य है। डा० के०वी० पाठक ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि आचार्य का काल सन् ७८८ से सन् ८२० तक है। प० बलदेव उपाध्याय जन्मकाल को और पूर्व ले जाने के पक्ष में है।[1] श्री वैष्णव सम्प्रदाय के यामुनाचार्य ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, जिनका जन्म सन् ९५३ में मदुरा या वीर-नारायणपुर में हुआ था। मदुरा पाड्यो की राजधानी थी। चोल और पाड्य वशीय नृपतियो में इस पर अधिकार करने के लिए सदा सघर्ष होता रहा और यामुनाचार्य के समय उस पर चोल नृपति का अधिकार था। रामानुजाचार्य को चोल राजा कुलुत्तग की धर्मान्धता के कारण श्रीरगम् से मैसूर जाना पडा। ताराचद द्वारा निरूपित सम्पर्क और सबध की धारणा भ्रम से मुक्त नही। मुस्लिम धर्म के जिस सस्कार की चर्चा इस विद्वान् लेखक ने की है, उसका विकास ईरान मे हुआ। अरबी सतों में आचरण की पवित्रता और सामान्य जीवन का स्वर ही स्पष्ट हो सका था। उस काल के किसी मुस्लिम सत के आकर्षक चरित्र और व्यक्तित्व का पता नही चलता। शकर और रामानुज केवल सन्यासी नही थे बल्कि प्रचण्ड दार्शनिक थे और दार्शनिक तत्ववाद का इस्लाम में उद्भव परवर्ती घटना है। अलबेरूनी का साक्ष्य यदि स्वीकार किया जाय तो हिन्दुओ और मुसलमानो में इतना अधिक अन्तर था कि दोनो में सम्पर्क की सम्भावना नही थी, यह अन्तर केवल भाषा और वेश-भूषा में ही नही था बल्कि मुस्लिम आस्थाएँ हिन्दू विश्वासो से नितात भिन्न थीं और उसी प्रकार हिन्दू धारणाएँ मुस्लिम विचारो से। हिन्दुओ का विरोध सभी विधर्मियो से था और वे अहिंदुओ को म्लेच्छ कहते थे और किसी प्रकार का सम्पर्क नही रखना चाहते थे।[2]

हिंदुओ के जात्याभिमान का इसने विवरण देते हुए लिखा है कि हिंदू (ब्राह्मणो से तात्पर्य है) किसी अन्य हिन्दू को अपना ज्ञान नही देते, विधर्मियो की बात तो एकदम भिन्न है।[3] चौदहवी सदी में भारत की यात्रा करनेवाले इब्नबतूता ने भी इस विरोध को परिलक्षित किया था। भारतीय साहित्य पर मुस्लिम प्रभाव का आरम्भ फर्कुहर चौदहवी शताब्दी के मध्य से मानता है।[4] ताराचद स्वय अपने तर्कों और निष्कर्षों पर विश्वास करते नही दीख पडते और इस प्रकार के प्रदान को पुष्ट प्रमाणो द्वारा समर्थित नही मानते।[5]

प्रारम्भिक मुस्लिम शासकों के समक्ष विविध समस्याएँ थी। उत्तराधिकार-सबधी अनिश्चितता के कारण सुलतान की मृत्यु नई विपत्तियाँ लेकर आती। राजसभा में सरदारो, अमीरों और मन्त्रियो का बोलबाला था। षड्यंत्रो में बेगमें कभी-कभी महत्वपूर्ण सहयोग

---

१. शकराचार्य, पृ० ३७।
२. सचाउ, अ० इ०, भाग १, पृ० १९-२० और २२-२३।
३. सचाउ, अ० इ०, भाग १, पृ० १०
४. एन आउटलाइन आव रेलिजस लिटरेचर आव इण्डिया, पृ० २८४।
५. इ० इ० इ० क०, पृ० १०७-१०८।

देती। सहसा आक्रान्त होकर भी देश पर पूर्ण अधिकार नहीं हुआ था और इतनी विशाल भूमि में व्यवस्था तो शीघ्र स्थापित नहीं हो सकी थी। शान्तिपूर्ण वातावरण और व्यवस्था तो मुगलकाल में मिली। न्याय-विभाग काजी के हाथों में था और सम्राटों को भी उन्हें अनुशासन में रखने की कठिन समस्या थी। अलाउद्दीन ने अपने को इनके महत्त्व से मुक्त करने की चेष्टा की किंतु सीमित सफलता ही मिल सकी। दीन-इलाही की स्थापना में भी यह आंशिक रूप से कारण था। धर्म-परिवर्तन के विविध कारण थे; धर्म-वैविध्य के प्रभाव से अधिक हिंदुओं की सामाजिक रीति-नीति, धर्म-सम्प्रदाय-मठन एवं राजनीतिक तथा आर्थिक कारण थे।

प्रारंभिक काल में मुल्लाओं और मौलवियों के प्रभाव और अधिकार के कारण सूफी संतों का महत्त्व अधिक नहीं था। कुछ नरेशों ने इनके प्रति उदारता अवश्य दिखाई थी किन्तु वह गौण थी। सिकंदर लोदी द्वारा कबीर को तंग करनेवाली अनुश्रुति इस तथ्य की ओर संकेत करती है। संत-साधना ने सूफी-साधना से अधिक प्राप्त करने के बदले इसे अधिक दिया ही है। प्रारम्भिक सूफी संतों का प्रभाव-क्षेत्र भारत का उत्तरी-पश्चिमी भाग है। अली-बिन्-उसमान अल-हुजवीरी की मृत्यु लाहौर में हुई। ख्वाजा मुइनुद्दीन का प्रभाव क्षेत्र अजमेर रहा और जमालुद्दीन ने उच्छ को अपना निवास-स्थान बनाया एवं शेख फरीद ने पाक पट्टन को। सुहरावर्दी सिलसिले के शेख जलालुद्दीन तबरीजी ने तेरहवीं सदी के अन्त में बंगाल की यात्रा की।

सिंध और पंजाब इस्लामी प्रभाव में सर्वप्रथम आए, और अधिक समय तक रहे। सूफी-प्रभाव यहीं सर्व प्रथम पड़ना चाहिए। किन्तु संत-परम्परा का प्रारम्भ न तो सिंध से होता है और न पंजाब में। हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य को संत-साधना के मूल में स्वीकार करनेवाले व्यक्तियों को स्मरण रखना चाहिए था कि इस ऐक्य विधान की समस्या सर्वप्रथम सिंध और पंजाब में उठ खड़ी हुई थी। ऐक्य-विधान संभव नहीं हो सका था ऐसी बात नहीं किन्तु वह ऐक्य-विधान अनायास और निम्नस्तर के नवधर्म ग्रहण करनेवाले समाज की अभिन्नता के कारण था। हिंदू नृपतियों द्वारा सामंजस्य की चेष्टा नहीं हुई थी। निम्न स्तरीय सामंजस्य सामान्य विचार-पद्धति के अपरिवर्तित स्वरूप के कारण था। ऐक्य की आयासपूर्ण चेष्टा तो मुगलकाल की है। संत-परम्परा का नवीन विकास सिद्धों की भूमि और प्रभाव-क्षेत्र में होता है। भक्ति का उद्गम न तो मुस्लिम प्रभाव के कारण है और न संत-साधना का विकास दोनों को समन्वित करने का प्रयास।

सामाजिक स्थिति

परम्परा

वर्णाश्रम भारतीय समाज का मेरुदण्ड रहा है और गार्हस्थ्य सामाजिकता का आधार। मध्यकालीन सामाजिक स्थिति कोई विच्छिन्न और स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। अब्बवर्तीय लेखकों ने मुस्लिम आक्रमण के कारण विक्षुब्ध और बिखरी सामाजिक शृंखला की चर्चा ही अधिक की है। भारतीय समाज के विघटन और मुस्लिम आक्रमण की समकालीनता के

कारण भ्रमो का हो जाना अनिवार्य था। मुस्लिम आक्रमण ने विघटन की क्रिया को गति अवश्य दी किन्तु भारतीय समाज का नव-स्वरूप-निर्माण केवल इसी एक कारण से सम्भव नहीं हो सकता। इस आक्रमण के पूर्व और कई आक्रमण हो चुके थे और आक्रमणकारी भारतीय जन-समूह के अंग बन चुके थे। परम्परा के अध्ययन द्वारा ही अभिनव परिवर्तनो को लक्षित किया जा सकता है।

वैदिक काल तक आर्य "गृहस्थ" (गृह + स्थ—घरेलू जीवन व्यतीत करनेवाले) हो चुके थे। कृषि और पशु-पालन उनके प्रधान पेशे थे। भूमि सम्पत्ति हो चुकी रहती है। वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा कर्मानुसार थी। "पुरुष सूक्त" में चातुर्वर्ण्य का स्पष्ट उल्लेख है। वर्णों की प्रतिष्ठा में भी अन्तर अवश्य आ चुका था।[1] यद्यपि ऐसा उल्लेख प्राप्त है कि कृतयुग में धर्म (वर्णाश्रम धर्म) नही था, इसका उद्भव त्रेता में हुआ।[2] प्रारम्भ में यह विभाजन आर्य —आर्येतर जातियो के रूप में रहा होगा, क्रमश. आर्यों और आर्येतर जातियो के सम्बन्ध से उत्पन्न जातियाँ बनी। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह के कारण उत्पन्न सन्तानो ने "आर्यत्व" प्राप्त किया। आर्यीकरण आर्येतर जातियों की केवल स्वीकृति द्वारा ही नही हुआ था। वर्ण-व्यवस्था श्रमगत न रह कुल-गत होने लगी। वर्ण-व्यवस्था जटिल और गहरी इस काल तक नही हुई थी, वर्ण-परिवर्तन के प्रमाण वैदिक-पौराणिक साहित्य में उपलब्ध हैं। सूत्र-काल में वर्ण-शुद्धता पर ध्यान दिया जाने लगा था। फलस्वरूप विवाह और भोजन विषयक सकीर्णताएँ सामाजिक जीवन में आने लगी थी। आचार-नियमो में स्थानिक कारणो से अन्तर आया। धर्मशास्त्रों में द्विजातियों—ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो का वर्णन है और उनके कर्तव्य एव धर्माचरण भी नियत हैं। इनके सेवक रूप में शूद्रो का उल्लेख है। अन्तर्वर्ण-विवाह, अवैध सम्बन्ध आदि के कारण उत्पन्न सकर वर्णों के साथ निम्नवर्ण अछूत—जैसे चाण्डाल, म्लेच्छ, श्वपच आदि का भी उल्लेख प्राप्त है। शूद्रो को अध्ययन का अधिकार नही था और वे सम्पत्ति के अधिकारी भी नही थे।[3] वैदिक साहित्य में जहाँ ब्राह्मण-क्षत्रिय की चर्चा है, वहाँ वैश्यो के सम्बन्ध में कुछ अधिक नही कहा गया है। वैश्यों-श्रेष्ठियो का महत्व बाद में चल कर प्रतिष्ठित हुआ। कृषि इनकी जीविका थी और व्यापार साधारणतया इनके हाथ में था। सख्या में शूद्रो के अतिरिक्त अन्य वर्णों से इनकी सख्या अधिक थी।[4] होपकिन्स के अनुसार महाकाव्य काल में इनका महत्व बढा और धन-सचय करनेवाली जाति के रूप में इनका उल्लेख हुआ है।[5]

---

१ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य' कृतः। ऊरुतदस्ययद्वैश्य' पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥
—ऋ० १०।९०, यजु० वाज ३१।११।

२. दी कल्चरल हिस्ट्री आव वायु पुराण, पृ० २०।

३. "शूद्र अन्यों के दास हैं और यथेच्छा से रखे और निकाले जा सकते हैं। उनका वध भी सम्भव है।"—एतरेय ब्राह्मण।

४. वैदिक इण्डिया, जिल्द २, पृ० २३३–५।

५ ज० ए० ओ० स० १३, पृ० ७३।

ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और क्षत्रियों के शक्ति-ऐश्वर्य के कारण इनके सम्बन्ध के उल्लेखों का अपेक्षाकृत अभाव ऐसा नहीं जो समझ न आ सके। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार श्रम-विभाजन की स्थिरता रहने पर भी वर्णों में संघर्ष – विरोध हुआ। ब्राह्मणों ने राज्यों की स्थापना की और क्षत्रियों ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। बौद्ध साहित्य में जहाँ श्रेष्ठियों का वर्णन है, वहाँ ब्राह्मण-क्षत्रियप्रधानता का भी स्पष्ट उल्लेख। इस प्रधानता के कारण ही जातक निदान कथा में कहा गया है– 'लोकमान्य ब्राह्मण और क्षत्रिय इन्हीं दो कुलों में (बुद्ध) पैदा होते हैं। आजकल क्षत्रिय कुल लोकमान्य है, इसी में जन्म लूँगा।'[१] क्षत्रिय श्रेष्ठता के प्रमाण अम्बट्ठ सुत्त में मिलते हैं, जहाँ क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ दिखलाया गया है।[२] यह प्रक्रिया उपनिषद् में ही प्रारम्भ हो गई थी। बृहदारण्यक के अनुसार विभूतियुक्त कर्म करने के लिए ब्रह्म ने क्षत्रिय रूप की रचना की। अर्थात् देवताओं में इन्द्र वरुण सोम रुद्र मेघ यम मृत्यु और ईशानादि को क्षत्रिय ने उन्हें उत्पन्न किया। क्षत्रिय से कोई श्रेष्ठ नहीं। अतः राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठ कर क्षत्रिय की उपासना करता है।[३] छांदोग्य के जैवलि प्रवाहण ने आरुणि उद्दालक से कहा था कि पञ्चाग्निविद्या विद्या पुरातन काल में ब्राह्मणों के पास नहीं थी और क्षत्रियों में ही इस विषय का प्रशासन था।[४]

वैदिक धर्म का प्राधान्य मध्य देश में रहा और इस प्रकार विस्तार के कारण सुदूर स्थित भू-भागों में ब्राह्मणत्व का आतिशय महत्त्व अधिक नहीं था। बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण उच्चता को स्वीकार न कर आचरण को ही प्रधान माना। बौद्धधर्म की शिक्षा के अनुसार क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य शूद्र म्लेच्छ और पुक्कस आत्म-संयमी और उदार चेता होकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं, यदि उन्हें आत्मिक शान्ति मिल चुकी हो। कोई उच्च नहीं और कोई नीच नहीं।[५] केवल बड़ा कहाने कुल अथवा जन्म के कारण कोई ब्राह्मण नहीं होता सत्य और आचार संयुक्त व्यक्ति ही ब्राह्मण होता है।[६] ब्राह्मण प्रभाव से स्वतन्त्र रहने की चेष्टा करने पर भी वर्ण – व्यवस्था का प्रभाव तत्कालीन पूर्वी प्रान्तों में था। बंगाल और बिहार के ब्राह्मण इस भू भाग के नहीं, वे मध्य देश से यहाँ आये। 'कुलतत्त्वार्णव' के अनुसार शूद्रक ने पुत्रेष्टि यज्ञ के लिए सारस्वत ब्राह्मण को बंग में बुलाया। किन्तु कुलशास्त्रों के अनुसार आदिशूर ने कान्यकुब्ज अथवा कोलांच से बंगाल में पाँच ब्राह्मणों को बुलवाया। राढ़ीय ग्रंथों के अनुसार शांडिल्य गोत्रीय क्षितीश काश्यप गोत्रीय वीतराग वात्स्यगोत्रीय सुधानिधि, भरद्वाजगोत्रीय मेधातिथि और सावर्णगोत्रीय सम्बरी आये थे। इन्हें सात्विक

---

१ राहुल बुद्ध चर्या पृ० १
२ खत्तियो सेट्ठो जनेतस्मिं ये गो त्त पटिसारिनो।
(गोत्र लेकर चलनेवाले जनों में क्षत्रिय श्रेष्ठ है।)—दीघनिकाय।
३ बृह १।४।११।
४ छां ५।३।७
५ वज्रसूचि जातक।
६ धम्मपद-ब्राह्मणवग्गो ११ पृ ५५।

ब्राह्मण कहा गया है।[1] वर्ण-व्यवस्था इस पूर्वी भू-भाग में जहाँ सिद्धो, नाथो और कबीर का प्रभाव अधिक रहता है—अधिक सबल नही थी, इनका आर्यीकरण बाद में हुआ और आर्येतर तत्वो का मिश्रण इस भू-भाग में अधिक हुआ है।

राजनीतिक अधिकार के दावेदार क्षत्रिय और धर्माचरण के विशेषाधिकारी ब्राह्मण के अतिरिक्त वैश्य-समाज था जो व्यवसायी, कृषक, पशुपालक था।[2] उत्तर वैदिक काल में अनेक प्रकार के पेशों का उल्लेख मिलता है। सूत-व्याध, जलोपजीवी, गोप, कर्षक, रथकार, सुवर्णकार, रजक, रज्जुकार, वयनकर्ता, कुम्हार, रसोइया, लोहार, नर्तक, गायक आदि पेशेवर थे। बौद्धकाल तक आते-आते भूमि के बडे-बडे स्वामी होने लग गए थे।[3] इन श्रेष्ठियों की बडी-बडी खेतियाँ थी और साथ ही साथ सार्थवाह भी। ये अधिक ऐश्वर्यशाली और समृद्ध थे, समाज में इनका बडा मान था। इन्हें अपने राज्यो में बसाने के लिए राजा लोग लालायित रहते थे।[4] इनमें भी आर्थिक कारणो से स्तर-भिन्नता आ रही थी। जैन और बौद्ध धर्म के अभ्युदय काल में वैश्य वर्ग ने कृषि छोड व्यापार को अपनाना आरम्भ किया। कुछ धार्मिक कारण थे और अधिकतया समृद्धि-प्राप्ति का जितना सुलभ साधन व्यापार था, उतना कृषि नही। धार्मिक मतवादो के प्रचार में इस वर्ग का विशिष्ट सहयोग रहता आया है।

शूद्रो की स्थिति सर्वथा दयनीय थी। मनुस्मृति के अनुसार पशु-पालन और द्विजातियो की सेवा का अधिकार ही शूद्र को है।[5] पराशर स्मृति के अनुसार सेवा ही शूद्र का परमधर्म है।[6] युद्ध में पराजित व्यक्ति प्रारम्भ में बदी थे और उनसे कार्य लिया जाता था। अनार्यों के स्वतन्त्र लोगो का सामान्य उल्लेख ही प्राप्त होता है। आर्येतर विजित वर्ग को दास का गौरवशाली पद मिला और स्वतन्त्र लोगों को दस्यु की उपाधि। दस्यु स्वतन्त्र रहता था और अवसर प्राप्त होने पर आर्यों की गौएँ चुरा लिया करता था। बौद्धकाल में दासप्रथा की अधिकता थी। वैभवशाली व्यक्ति अनेक दास रखता था। पिप्पली माणवक ने प्रव्रज्जित होते समय अपने दासो से कहा था—"यदि तुममें से एक-एक को पृथक् दासता से मुक्त करें तो सौ वर्ष से भी कम में न हो सकेगा। तुम्ही अपने आप शिरो को धोकर दासता से मुक्त हो जाओ।"[7] शूद्रो और आर्यों का भेद बना रहा।

वाणिज्य-व्यवसाय को अपनानेवाले वैश्य-समाज से कृषि-कर्म करनेवाले तथा अन्य उपयोगी धंधे में लगे वैश्यों का दल क्रमशः भिन्न होने लगा। वाणिज्य-व्यवसाय में सलग्न श्रेष्ठी वैभव के कारण भी भिन्न होता जा रहा था और जो लोग अन्य धन्धो मे

---

१. दि अर्ली हिस्ट्री आव बगाल : सतीशचन्द्र सील (भाग २) पृ० ३४।
२. कृषिकर्म च वाणिज्य वैश्यवृत्तिरुदाहृता—विष्णुस्मृति (पराशर) ५/३।
३. सुत्तनिपात, १४, बुद्धचर्या, पृ० ४२।
४ बुद्धचर्या, पृ० १५३ में मेंढक श्रेष्ठी की कथा।
५. मनुस्मृति ८/४१० पशूनां रक्षण चैव दास्य शूद्र द्विजन्मनाम्।
६. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा परमो धर्म उच्यते।—प० स्मृ० १/६६।
७. बुद्धचर्या, पृ० ४४।

रहे उनकी गणना कालान्तर में शूद्रों में होने लगी। शतपथ ब्राह्मण[1] में जातियों की विभिन्नता के लक्षण मिलने लगते हैं। सीमाओं की निकटता के कारण वैश्यों और शूद्रों का अन्तर अधिक स्पष्ट नहीं रहा। वैश्यों की गणना द्विजातियों में अवश्य थी किन्तु क्षत्रियों की भाँति वैश्यों के ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के उदाहरण उपलब्ध नहीं होते। उच्चवर्णीय सम्पर्क के कारण शूद्रों के दो वर्ग हैं। उच्च वर्णों के सम्पर्क में आनेवाले शूद्र अपने को अवशिष्ट शूद्रों से उच्च समझते रहे। पंचमवर्ण के लोग और घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। जंगलों में वास करना एवं अन्य जीवन व्यतीत करना इनके लिए स्वाभाविक ही था। सम्भवतया ये लोग द्रविड़ों से भी भिन्न थे।[2]

आर्य आर्येतर-संगम में आर्येतर जातियों की स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वर्ण-व्यवस्था जब तक अत्यन्त दृढ़ नहीं हो गई थी तब तक यह सम्मिश्रण क्रिया अबाध गति से चलती रही। आर्येतर जातियों की सुन्दरी स्त्रियाँ सहज ही आर्यों के विलास का उपकरण बनने लगीं। स्वतन्त्र परिचारिकाओं के रूप में भी इनकी स्थिति उचित होती है।[3] जाति की दृढ़ धारणाओं के कारण वर्ण विभाजन की रेखाएँ स्पष्ट होने लगी थीं। वर्णों के अनुलोम अथवा प्रतिलोम विवाह से, तथा वर्णों के बहिष्कृत समुदाय में अथवा भिन्न संकर जातियों के अन्तर्विवाह से जातियों की संख्या में वृद्धि होती रही है। वैदिक काल में इस प्रकार की प्रक्रिया नहीं दीख पड़ती। छान्दोग्य में पिता पुत्र के वर्ण का आधार रहता है। युवावस्था में परिचारिणी जबाला ने सत्यकाम को पाया था और वह उसके कुल-गोत्र को नहीं जानती थी। सत्यकाम को अ-ब्राह्मणेतरत्व के निर्णय द्वारा हारिद्रुमत गौतम ने वीर्य को प्रधानता दी क्षेत्र को नहीं।[4] बौद्ध-काल में वर्ण-शुद्धता की समस्या का विकास होने लगता है। दीघनिकाय के अम्बट्ठ सुत्त द्वारा ब्राह्मण-कन्या और क्षत्रिय-कुमार के सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र को ब्राह्मणत्व प्राप्ति का उल्लेख है। वर्ण-दोष के कारण स्त्री-प्राप्त करने में उच्च वर्णवाले व्यक्ति को कठिनाई होने लगी थी। सम्भवत मेहता का विचार बौद्ध-साहित्य के अनुसार क्षत्रियों में अधिक था ब्राह्मण आचार को ही ब्राह्मणत्व का निर्णायक मानते रहे। क्षत्रियों के गृहों में शूद्र परिचारिकाओं का अभाव न था और इन राजकुमारों को इनके साथ एकान्त-वास करने में भी कोई संकोच नहीं रहा। इस प्रकार के सहवास से उत्पन्न कन्याओं का विवाह वर्णशुद्ध क्षत्रियों के साथ कर दिया जाता था यद्यपि इतरा गर्भाधार मिल जाने के कारण इन कन्याओं और उनकी संतानों का अपमान भी कम नहीं होता रहा।[5](क)

---

१ शतपथ १, १/१२।

२ डा घोषाल : भारत एटिक्वारिक (१९'६, पृ २२ २६)।

३ छान्दोग्य ४/४/२।

४ वही ४।४।८

५ जातक – (५) चन्द्रवर्ती पृ० ४ ६ में प्रसेनजित् का वासभ क्षत्रिया से विवाह और विदूडभ नामक पुत्र का जन्म।

वैदिक काल मे स्त्रियो को स्वतन्त्रता थी। पर्दे की प्रथा न थी। यज्ञ-क्रियाओ में समान भाग लेनेवाली थी। उत्तर वैदिक काल में ही उनकी स्थिति उतनी उच्च नही रह गई थी। उपनिषत्काल मे स्त्रियो में दो वर्ग दीख पडते हैं, गार्गी और मैत्रेयी जैसी प्रत्युत्पन्नमतिका एव प्रगल्भा तथा याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी कात्यायनी जैसी। पुरुषो को एक से अधिक विवाह का अधिकार तो था ही। सपत्नियो में द्वेषभाव भी कम नही था। शूद्रा स्त्रियो के ग्रहण का अधिकार ब्राह्मणो को रहा, फलस्वरूप गृहो में दो प्रकार की पत्नियाँ रही—ब्राह्मणी और अ-ब्राह्मणी। नारियो के जिन दो रूपो का उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है उनमें एक रूप में आर्य स्त्रियो की प्रतिष्ठा है, कारण यज्ञ-क्रिया में भाग लेनेवाली स्त्री अनार्य नही हो सकती और दूसरे में अनार्य स्त्रियो की भर्त्सना है।[1] शूद्रो और स्त्रियो का स्मृति-काल में सहवर्गीकरण दोनो के कष्ट और अधिकार की समानता के कारण ही नही है, जैसा अधिकाश विद्वान् समझते हैं, वल्कि वाह्मण गृहो में शूद्रा स्त्रियो की उपस्थिति के कारण भी है। वौद्धकाल में ही धर्माचरण के अधिकार स्त्रियो से छिन रहे थे, बुद्ध ने अत्यन्त सतोष के साथ प्रव्रज्या का अधिकार इन्हें दिया। सस्कृत नाटको मे स्त्रियो के प्राकृत बोलने का रहस्योद्घाटन भी इस सकेत के द्वारा सम्भव है क्योकि शूद्रा स्त्रियो को शिक्षा-दीक्षा अत धर्मानुष्ठान के सम्वन्ध में सीमित अधिकार ही रहे। पर्दे की प्रथा न रहने पर भी स्त्रियाँ गृहो की सीमा में घिरने लग गई थीं। मेगास्थनीज ने परिलक्षित किय था कि पुरुष अनेक स्त्रियो के साथ विवाह करते थे तथा स्त्रियो का क्रय भी सम्भव था। कुछ स्त्रियो को योग्य समझ कर वे विवाह कर लेते थे और अन्यो को पुत्रोत्पादन और आनन्द के लिए।[2]

वर्ण-व्यवस्था के इस सामान्य अध्ययन के साथ हमारा ध्यान समाज के उस विभाजन की ओर स्वभावतया जाता है जिसे आज की भाषा में आर्थिक विभाजन कहते हैं। क्षत्रियो को भूमिपति होने का अधिकार उनकी युद्ध-प्रियता के कारण मिल चुका था। वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति के कारण श्रेष्ठी (सेठो)—वर्ग की प्रधानता होने लगी और धार्मिक सम्प्रदायो में दान द्वारा उन्होने श्रेष्ठता भी पाई। धनियो का वर्ग दूसरो के श्रम से भोग-विलास की सामग्री और प्रसाधन जुटाने में व्यस्त था। भोग-विलास के साधनो के

तुलनीय :—महाभारत के शन्तनु मत्स्यगधा से विवाह करते हैं, जिससे कौरव और पाण्डव जैसे प्रख्यात कुलों की स्थापना हुई किन्तु इस प्रसग से इतना स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में ही वर्ण-शुद्ध पत्नी से उत्पन्न पुत्र और इतर जातीय पत्नी से उत्पन्न पुत्रों के स्तर में भिन्नता आ गई थी और वर्ण-शुद्ध पुत्रो के अधिकार अधिक माने जाने लगे थे। धीवरराज का भीष्म से आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करवाना इसकी ओर स्पष्ट सकेत करता है।

१ (क) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वा तत्राफला क्रिया॥—मनु० ३।५६

(ख) स्वभाव एप नारीणां नराणामिह दूषणम्।—वही, २/२१३

२ मेगास्थनीज का भारत विवरण, पृ० ४०।

कारण रईसों का वर्ग बन चुका था। ऐसे लोगों के ऐश्वर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन साहित्य में उपलब्ध है, एसे वर्णनों को पूर्ण सत्य नहीं मानकर भी विलासी जीवन का संकेत माना जा सकता है। पिण्डोली भारद्वाज की सम्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसके शरीर को उबटन कर फेंक देने का चूर्ण ही मगध की नाली से बारह नाली भर होता था। हाते के भीतर साठ बड़े बहुबच्चे थे। बारह योजन तक फैले खेत थे। १४ गाँवों के गाँव १४ हाथियों के १४ घोड़ों रथों के झुण्ड थे।[1] राजा और दूसरे धनी मानी लोग भोग विलास का जीवन व्यतीत करने वाले और समाज के अगुआ थे। इनकी देखा-देखी ब्राह्मणों में भी यह प्रवृत्ति आने लगी थी।[2] विशाखदत्त द्वारा वर्णित चाणक्य के त्यागपूर्ण जीवन वाले ब्राह्मणों का यद्यपि अभाव न था।[3] इस सम्पन्नता का आधार वर्ण के साथ ही साथ सम्पत्ति-ऐश्वर्य होने लगा था और ऐसे रईसों की भावना साधारण लोगों में आने लगी थी।

साधारण जीवन

यद्यपि शूद्रों की गणना चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत होती रही है, किन्तु वैदिक काल में आर्यों के वस्तुतः तीन ही वर्ण रहे। इनसे व्यवहार और इनकी स्त्रियों से सम्बन्ध निषिद्ध और निन्द्य समझा जाता रहा। अन्यों के भृत्य होने के कारण इन्हें समानता का अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता था? जीविकोपार्जन की समस्या साधारण लोगों के लिए उत्तरवैदिक काल में उत्पन्न हो चुकी थी। युवती सुन्दरियों को यौवन का विक्रय करना पड़ता था। बुद्धकालीन समाज में भूख मिटाने के लिए हाथ पसारनेवाले दया की भीख माँगनेवाले तथा दूसरों का उच्छिष्ट अन्न बटोरनेवालों का अभाव न था। पेट के मारे अपमानित जीवन को परम रोग कहा है।[4] निर्धनों की अच्छी-खासी संख्या थी। रोजी नहीं मिलने पर लोग चोरी और लूटपाट द्वारा अपनी जीविका चलाने का प्रयास करते थे। बुद्ध के अनुयायियों तक को चोर और डाकू तंग करते थे। अशोक के समय में भी वेतनभोगी और दास से उचित व्यवहार नहीं किया जाता था (अशोक का ९ वाँ, शिलालेख)। शूद्रवर्ग समाज का निम्नतम वर्ग था और विभिन्न वर्गों में विभाजित भी था (वही ७ वाँ ११ वाँ और १३ वाँ अभिलेख)। अशोक ने भी स्वीकार किया है कि उसके पूर्व साधारण

---

१ बुद्धचर्या ६ ४२।

२ सुत्तनिपात में बुद्ध-वचन सुत्त।

३ मुद्राराक्षस अंक ३ १५।
उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णमेतत्॥—पृ० ५०

४ "जिघच्छा परमा रोगा"

प्रजा की सुनवाई राजा के यहाँ नही होती थी (६ वाँ अभिलेख)। उस काल में जगली जातियाँ भी थी, जिन्हें समय-समय पर सभ्य (आर्यीकरण) बनाने का प्रयास हुआ (१३ वाँ अभिलेख)। शूद्रो को पालि में बसल (वृषल) कहा जाता रहा और ऐसे लोग हीन समझे जाते रहे। वर्ण-हीनता के कारणो में धन-हीनता भी सम्मिलित थी। मनु के अनुसार इनकी जीविका के साधन अत्यन्त परिमित है। दासता के बदले उन्हें पुरस्कार रूप मे प्राप्त होते रहे फटा-पुराना वस्त्र, भोजन के पश्चात् बचा हुआ उच्छिष्ट अन्न, पछोडन और टूटे-फूटे बर्तन और भाण्ड।[1] सेवावृत्ति की कठिनता और कठोरता एव भृत्यो के दैन्यपूर्ण जीवन का करुण चित्र विशाखदत्त की कुचकी उपस्थित करती है। प्राण सदा भय-शकित रहते और चाटुकारिता श्वान वृत्ति के समान अधम मानी गई है।[2] दरिद्रता के अभिशापो का वर्णन शूद्रक ने भी किया है।[3] नियम के अनुसार इन्हें स्वतन्त्र वृत्ति ग्रहण करने का अधिकार नही था। अनुशासन की कठोरता में भी सामाजिक श्रेष्ठता प्राप्त करने की चेष्टा इन हीन-वर्ण और धन-हीन वर्ग ने की है तभी तो मनु को विधान बनाना पडा कि अधम जाति-व्यक्ति उत्तम जाति के लोगो जैसा काम-धाम कर यदि जीविका चलावे तो राजा उसका धन छीन ले और शीघ्र ही उसे देश निकाला दे-दे।[4]

वर्ण-श्रेष्ठता की धारणा दो प्रकार से साधारण व्यक्तियो मे आई—प्रथम धन-सम्पत्ति-अर्जन द्वारा और द्वितीय शूद्रा स्त्रियो से उत्पन्न द्विजातियों की सन्तानों द्वारा।[5] ऐसी सन्तानें अधिकार प्राप्त कर दुर्दान्त हो उठती थी। बौद्ध धर्म में दीक्षित साधारण व्यक्तियो में भी महत्व-प्रतिपादन का प्रयास दीख पडेगा। विदेशी आक्रमणों द्वारा

---

१. उच्छिष्टमन्न दातव्य जीर्णानि वसनानि च।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदा.॥—मनुस्मृति

२. कष्टं खलु सेवा।
भेतव्यं नृपतेस्ततः सचिवतो राजस्ततो वल्लभा—
दन्येभ्यश्च भवन्ति येऽस्य भवने लब्धप्रसादा विटाः।
दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनै पिण्डार्थमायस्यतः
सेवा लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः।
—मुद्राराक्षस, तृ० अ०, ४१।

३. मृच्छकटिक, अक ५, ४२।

४. यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
त राजा निधन कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्।—मनुस्मृति।

५. ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला भविष्यन्ति।
महानन्दिसुत. शूद्रागर्भोद्भवाऽतिलुब्धो महापद्मोनन्दः
परशुराम इवापरोऽखिल क्षत्रान्तकारी भविता।
—विष्णु पुराण, ४/२४

सामाजिक व्यवस्था अव्यवस्थित और विक्षुब्ध तो होती थी किन्तु श्रृंखला किसी दिन टूटी नहीं बिखर नहीं गई। विचलित वर्ण-व्यवस्था को नवीन रूप से प्रतिष्ठित करने का प्रयास द्विज सम्राट् और स्मृतिकार और उनके भाष्यकार करते रहे। बाह्य आक्रमणकारी इस व्यवस्था में घुस गए थे। पेशा और वर्ण दोनों की एकता स्थापित कर मेगास्थनीज ने महत्वपूर्ण भ्रम की सृष्टि की है किन्तु उसके विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि किसानों चरवाहों वणिकों और श्रमजीवियों की संख्या ही अधिक थी। समाज में मंत्रियों और उपदेशकों का महत्वपूर्ण स्थान था और विवाहादि सम्बन्धी कई सुविधाएँ उन्हें प्राप्त थीं। जातियों में स्थिरता आ गई थी और पेशे को बदलने का अधिकार छिनता जा रहा था। विभिन्न पेशे के स्त्री-पुरुष में विवाह-संबंध अनुचित माना जाता था। किसान शिल्पी पेशे की कन्या से विवाह नहीं कर सकता था और न शिल्पी किसान की कन्या से। प्रथा के अनुसार व्यवसाय और पेशे (जिसे ग्रीस ने भ्रमवश जाति समझ लिया है) का परिवर्तन अनुचित था।[1]

वर्ण-व्यवस्था का नवीन संस्कार गुप्तकाल में आकर संभव हुआ। अनुष्ठान-क्रियाओं का नवीन विकास हुआ और संस्कृत को नई प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। धर्म शास्त्रों के नूतन संस्करण हुए; मनुस्मृति को तत्कालीन समाज के उपयुक्त बनाया गया एवं याज्ञवल्क्य बृहस्पति तथा नारद स्मृतियों में भी संस्कार किया गया। सूत्रों की अभिनव व्याख्या टीका और भाष्य के द्वारा नूतन प्रचलित प्रणालियों को मान्यता और समर्थन प्राप्त हुआ।

गुप्तकाल को इतिहासकारों ने 'स्वर्ण-युग' की संज्ञा दी है। राजनीतिक क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई किन्तु सामाजिक स्तर में विभिन्नता न आ सकी। अन्तर्जातीय विवाह के जो उदाहरण प्राप्त हैं वे वस्तुतः राजन्य वर्ग के हैं। हीन-वर्ण और धनहीन व्यक्ति पर शासन-व्यवस्था का विश्वास न था। कृपण दीन अनाथ और आतुर जनों का अभाव न था। फाहियान[2] के यात्रा-वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि नीच जाति के व्याध पशुओं मार कर और मुर्गों का आखेट कर जीविकोपार्जन करते थे। चाण्डाल नगरों से बाहर रहते थे। भूमि पर जन-साधारण का अधिकार नहीं था। लगान के रूप में उपज का निश्चित भाग देकर भी वे भूमि जोतने का अधिकार पाते रहे।[3] अपने स्वामियों पर राजाओं का प्रेम मतलब के अनुसार कम अथवा अधिक होता रहता था। जनता में चोरों का भय रहता था और उनके आक्रमण से होनेवाली संघर्ष में व्यक्तियों के प्राण जाते थे।[4] वात्स्यायन के कामसूत्र से संकेत मिलता है कि धनी और रसिक लोग वारांगनाओं की संगति

---

१ मेगास्थनीज का भारत-विवरण पृ. ६१ और १५५।

२ द्रष्टव्य—बील का बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आव दि वेस्टर्न वर्ल्ड।

३ द्रष्टव्य—(क) मुद्रा के विषय में मनुष्यों के साथ व्यवहार।
(ख) द्रष्टव्य—कृपणदीनानाथातुर जनोद्धरणमंत्रदीक्षाद्युपगतमनसः।
(ग) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य १ ७२ प्रयाग के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति।

४ द्रष्टव्य—कुमारसम्भव ३/१ और मालविकाग्निमित्र में मालविकादर्शन।

मे दिवस व्यतीत करते थे। पतियो की उपेक्षा गृह-पत्नियो को सहन करनी पडती थी। कण्व का स्नेह ही शकुन्तला की विदाई पर आँसुओ के रूप में नही उमडा वल्कि उसमें आशका का उद्वेग भी है। स्त्रियो के विषय में पुरुष की शकाएँ उभरी हुई थी।[1] शाकुंतल के अनुसार नगर के अधिकारी राजाओ के सम्बन्धी होते थे और साधारण लोगो के प्रति उनका वर्ताव शिष्ट नहीं था। अपने सम्बन्ध के कारण जैसे अत्याचार करने का विशेषाधिकार उन्हें प्राप्त था। राजकीय सिपाहियो का चरित्र उत्कर्षपूर्ण नही था। समाज-व्यवस्था का आधार मनु-स्थापित ही रहा।[2] कर-विधान अत्यन्त कठिन था, सभी वर्णो और आश्रमो के व्यक्तियो को कर देना पडता था। अरण्य में रहनेवाले वानप्रस्थी तथा तपस्वी वन में उत्पन्न होनेवाले नीवार धान्य का षष्ठाश राजा के अधिकारियो को देने के लिए नदी के तट पर जमा कर देते थे।[3] गुप्तकालीन विधान ने वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा की, यद्यपि इसका सघटन नए सिरे से हुआ। जाति-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था वन गई। हर्ष के काल तक आते-आते हिन्दू-जाति का स्वरूप आज की स्थिति में आने लगा। विवाह के सम्बन्ध में कुछ छूटें राजन्य वर्ग को मिली। ह्यूनसाग ने चार वर्णों के अतिरिक्त जातियो का वर्णन किया है। उसके अनुसार जन-समुदाय ने अपने अनुसार जातियाँ वना ली है और उनका वर्णन (सख्या की अधिकता से) सभव नही।[4] ये जातियाँ मिश्रित थी, उनकी सख्या भी अधिक थी। चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत उनकी गणना की चेष्टा नही थी। गाँवो के वाहर रहनेवाले कसाई, मछुआ, नचैया, फाँसी देनेवाले, मेहतर आदि पचम वर्णों का भी उल्लेख है और इन्हें वलपूर्वक वस्तियो से वाहर रखा जाता था।[5]

सघटन-विघटन के कारण जातियाँ-उपजातियाँ वन रही थी। सामाजिक व्यवस्था में कुछ जातियो को अधिक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त न था और कुछ जातियो को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। आश्रमवासी ऋषि विवाहित थे किन्तु उत्तर-काल में वैराग्य-प्रधान धर्म-व्यवस्था के कारण ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित हुआ तो अनेकानेक व्यक्ति विशेष कारणो से वैराग्य ग्रहण करने लगे। ऐसे विरागी सदा ब्रह्मचर्य-पालन में क्षम न होकर विवाह कर लेते अथवा किसी स्त्री से सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे। इनकी सन्तान को समाज ने ग्रहण नही किया। समाजच्युत व्यक्तियो की सख्या भी नगण्य नही थी। बौद्ध धर्म की महायान शाखा और उसके उत्तर विकास के कारण इनमें महत्ता की चेतना आती रही। आश्रम भ्रष्ट गृहस्थो की सन्तानो में भी महत्त्व की भावना जगी।

ब्राह्मण-क्षत्रिय सघर्ष में ब्राह्मणो ने सहायता के लिए शूद्रो को भी उच्चता प्रदान की। महायान के कारण हीन-जन्मा व्यक्तियो में महत्व की धारणा जो आई थी उसके स्वरूप का

---

१ स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
सदृश्यते किमुत या: प्रतिबोधवत्य।—शाकु० ५/२२

२ नृपस्यवर्णाश्रमपालन यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः—रघु० १४/६६

३, रघु० ५।

४ वाटर्स भा० १, पृ० १६८।

५, वाटर्स, भा० १, पृ० १४७।

सामाजिक व्यवस्था अव्यवस्थित और विक्षुब्ध तो होती थी किंतु शृंखला किसी दिन टूटी नहीं बिखर नहीं गई। विकसित वर्ण-व्यवस्था को नवीन रूप से प्रतिष्ठित करने का प्रयास द्विज सम्राट् और स्मृतिकार और उनके भाष्यकार करते रहे। बाह्य आक्रमणकारी इस व्यवस्था में घुस गए थे। पेशा और वर्ण दोनों की एकता स्थापित कर मेगास्थनीज ने महत्त्वपूर्ण भ्रम की सृष्टि की है, किन्तु उसके विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि किसानों चरवाहों वणिकों और श्रमजीवियों की संख्या ही अधिक थी। समाज में मंत्रियों और उपदेशकों का महत्त्वपूर्ण स्थान था और विवाहादि सम्बन्धी कई सुविधाएँ उन्हें प्राप्त थीं। जातियों में स्थिरता आ गई थी और पेशे को बदलने का अधिकार सिमटा जा रहा था। विभिन्न पेशे के स्त्री-पुरुष में विवाह-संबंध अनुचित माना जाता था। किसान शिल्पी पेशे की कन्या से विवाह नहीं कर सकता था और न शिल्पी किसान की कन्या से। प्रथा के अनुसार व्यवसाय और पेशे (जिसे ऐरियन ने भ्रमवश जाति समझ लिया है) का परिवर्तन अनुचित था।[1]

वर्ण-व्यवस्था का नवीन संस्कार गुप्तकाल में आकर संभव हुआ। अनुष्ठान क्रियाओं का नवीन विधान हुआ और संस्कृत को नई प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। धर्म शास्त्रों के पुनः संस्करण हुए; मनुस्मृति को तत्कालीन समाज के उपयुक्त बनाया गया एवं याज्ञवल्क्य बृहस्पति तथा नारद स्मृतियों में भी संस्कार किया गया। सूत्रों की अभिनव व्याख्या टीका और भाष्य के द्वारा नूतन प्रचलित प्रणालियों को मान्यता और समर्थन प्राप्त हुआ।

गुप्तकाल को इतिहासकारों ने 'स्वर्ण-युग' की संज्ञा दी है। राजनीतिक पक्ष में आशातीत उन्नति हुई किन्तु सामाजिक स्तर में विभिन्नता न आ सकी। अन्तर्जातीय विवाह के जो उदाहरण प्राप्त हैं वे वस्तुतः राजन्य वर्ग के हैं। हीन-वर्ण और धनहीन व्यक्ति पर शासन-व्यवस्था का विश्वास न था। कृषक दीन असहाय और आतुर वर्गों का अभाव न था। फाहियान[2] के यात्रा-वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि नीच जाति के व्याध पक्षी मार कर और मृगों का आखेट कर जीविकोपार्जन करते थे। चाण्डाल नगरों से बाहर रहते थे। भूमि पर जन-साधारण का अधिकार नहीं था। लगान के रूप में उपज का नियत भाग देकर भी वे भूमि जोतने का अधिकार पाते रहे।[3] अपने स्वामियों पर राजाओं का प्रेम मतलब के अनुसार कम अथवा अधिक होता रहता था। जंगल में चोरों का भय रहता था और उनके आक्रमण से होनेवाले संघर्ष में व्यक्तियों के प्राण जाते थे।[4] वात्स्यायन के कामसूत्र से संकेत मिलता है कि धनी और रसिक लोग वेश्याओं की संगति

---

१ मेगास्थनीज का भारत विवरण पृ ५१ और १२८।

२. द्रष्टव्य—बील का बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड।

३ द्रष्टव्य—(क) कृषि के विषय में मनुष्यों के साथ व्यवहार।
(ख) द्रष्टव्य—[illegible]।
(ग) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ([illegible] प्रकार के दानपत्र पर चन्द्रगुप्त की प्रशस्ति।

४ द्रष्टव्य—कुमारसम्भव ३/१ और मालविकाग्निमित्र में [illegible]।

सुलतानो ने कारणवश आक्रमण किए, वे युद्धो मे सलग्न हुए, किन्तु इनसे अवकाश मिलते ही अपने मन्त्रियो के हाथ में शासन-व्यवस्था एव मुल्लाओ के हाथ मे न्याय-व्यवस्था छोड देते रहे। अमीर-उमराव का वडा प्रभाव था और उनकी इच्छा के विरुद्ध जाना सुलतानो के लिए निरापद नही था। अमीर-उमरा का जीवन भारतीय रईसो के विलासी जीवन की समकक्षता रखता है।

धार्मिक कट्टरता, यद्यपि शासको के अबाध विलासी जीवन के लिए बाधक थी किन्तु अपने अनुयायियो की साहसिकता एव आवेश को अक्षुण्ण और भारतीय विद्रोह के शमन की क्षमता सुरक्षित रखने के लिए उलमाओ से समझौता रखना मुस्लिम शासको के लिए आवश्यक था।[1] शासको ने इन उलमाओ के प्रभाव में आकर धार्मिक विस्तार में योग-दान किया। कुछ स्वतत्र धार्मिक विस्तार के इच्छुक भी थे। मन्दिर गिराए गये, स्वतन्त्रतापूर्वक उपासना का द्वार वद हुआ। कुछ शासको के यहाँ इन उलमाओ का प्रभाव वडा गहरा था और उनके प्रभाव में आकर शासक उदार-चेता सूफियो और सतो पर अत्याचार करते थे।[2] न्यायाधिकरण मे इस वर्ग का प्रभुत्व[3] भारतीय जनता की दृष्टि मे सन्तोषप्रद नही था किंतु धर्मान्ध-अनुयायियो को सन्तुष्ट करने का कोई अन्य साधन सुलतान के पास नही था। धार्मिक श्रद्धागत किए गए कार्यों और इस न्यायाधिकरण का अधिकार हस्तान्तरित करने में भिन्नता है। उलमा और सुलतान का पारस्परिक सहयोग दोनो के लिए हितकर था। कुरान के आदेशों के द्वारा जहाँ उलमाओ ने सुलतान के अबाध अधिकार को धार्मिक मान्यता दी, वहाँ सुलतान की छत्र-छाया में उलमा को साधारण लोगो से अधिक अधिकार प्राप्त हुए। इन उलमाओ का सामाजिक व्यवस्था मे वही स्थान था, जो हिन्दू-समाज में पौराणिक पण्डितो का था। हिन्दू पण्डितो के समक्ष ध्वस्त होती-सी सामाजिक परम्परा को बचाने की समस्या थी और उलमाओ के समक्ष विरोधी तत्ववाली सामाजिक व्यवस्था में अपने प्रभुत्व को अक्षुण्ण रखने और रीति-रिवाज का प्रचारित करने की समस्या थी। मुस्लिम सस्कृति की स्वरूप-रक्षा में जहाँ ऐसे व्यक्ति सफल हो सके वहाँ दोनो के समन्वय और सामजस्य में बाधा पहुँची। उलमाओ ने हिन्दुओ को या तो मुसलमान बनाना चाहा अथवा धर्म-परिवर्तन नही करने पर उनकी हत्या चाही।[4]

राज-सभा अथवा दरबार की प्रथा को फारस से प्राप्त कर भारत में प्रचलित करने का दावा कुँवर मुहम्मद अशरफ ने[5] किया है। राजसभाओ की परम्परा अत्यत प्राचीन काल

---

१ अलबेरूनी ने शासन व्यवस्था और धार्मिकता के गँठबन्धन की भरि-भूरि प्रशसा की है (भाग १, पृ० ६६)

२ दियो हुकुम करियो नहीं देरी। गगा बोरहु भरि पग बेरी।
सुनि अनुचर पग पाइ जँजीरे। बोरयो गगा माहँ कबीरे।
—कबीर जी की कथा, विश्व० की टीका,

३ द्रष्टव्य—तारीखए-बहादुर शाही हुसेनशाह, पृ० ४१।

४ अलबेरूनी, भाग १, भूमिका पृ० २३।

५ लाइफ एंड कंडिशन आव दि पीपुल आव हिंदुस्तान (सन् १२००-१५५०) जे० ए० एस० बी०, भाग १ (सन् १६३५), पृ० १६२।

विकास पौड्रीय पाल-वंश के उत्थान में दीख पड़ा। बंगाल के पाल सम्राट् महायान बौद्ध और शूद्र थे। शूद्रों के राज्याभिषेक के कारण निम्न-वर्ग में चेतना की विशिष्ट लहर उठी। इसकी दो धाराएँ स्पष्ट हैं पहली गौड़ाधिपति पालवंशीय शासन-सत्ता के रूप में और दूसरी गौड़ देश में चौरासी सिद्धों के धार्मिक जीवन और काव्य की चरमता के रूप में।

भारतीय समाज के इस संक्षिप्त अध्ययन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुस्लिम सत्ता की प्रतिष्ठा के पूर्व भारतीय समाज की स्थिति निम्नलिखित थी —

(१) समाज में कई प्रकार की विषमताएँ थीं इनमें पाण्डित्य और मौर्ख्य, एवं ऐश्वर्य तथा रंकता का विभाजन स्पष्ट था।

(२) वर्ण-विभाजन जाति-विभाजन के रूप में परिणत हो चुका था।

(३) सामान्य वर्णों में भी आत्मोन्नति की प्रबल आकांक्षा जग चुकी थी। शूद्रों के एक दल ने राजनीतिक सत्ता हस्तगत कर क्षत्रियों के साथ स्पर्द्धा करनी चाही और दूसरे दल ने ज्ञान के क्षेत्र में पण्डितों और धर्माचार्यों को ललकारा। शूद्रों की सीमा में आनेवाले वैश्य एवं धर्मच्युत संन्यासी श्रमण ने अपने महत्त्व का प्रतिपादन अधिक आवेश के साथ किया।

(४) समाज में स्त्रियों का सम्मानपूर्ण स्थान नहीं रह गया था स्वतंत्रता उनकी छिन चुकी थी और वे घर के घेरे में घिर चुकी थीं।

(५) धनिकों का जीवन अत्यन्त विलासपूर्ण था। साधारण जनता सेवक एवं मूर्खों का जीवन किसी प्रकार स्पृहणीय नहीं रहा था।

मुस्लिम आक्रमण के साथ भारतीय सामाजिक विभाजन में नई कड़ियाँ जुटती हैं। सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक व्यवस्था उपासना पद्धति और नैतिक धारणा के विचार से मुस्लिम आक्रमणकारी और शासक भारतीय सामाजिक व्यवस्था से भिन्न थे। शासकों के साथ दो प्रकार की और श्रेणियाँ थीं, उच्च पदस्थ सेनाधिकारियों और साधारण सैनिकों की। विजय के पश्चात् उच्च पदस्थ सेनाधिकारियों को शासन-व्यवस्था का अधिकार मिलता था और राजकीय रीति-नीति और रहन-सहन की नकल अमीर-उमरा करते रहे। साधारण सैनिक स्थानीय स्त्रियों से विवाह करते और संतानोत्पत्ति का क्रम चलता रहा। अमीर उमरा का जीवन साधारण लोगों के जीवन से भिन्न था ऐशोआराम की सारी सामग्रियाँ उपलब्ध थीं। राजाओं का जो चरित्र भारतीय साहित्य में उपलब्ध है वह किसी भी नरपति के लिए स्पृहणीय हो सकता है। कालान्तर में हिन्दू राजाओं के किले आदि जो मुस्लिम शासकों के हाथ में आए, उनसे उनका प्रभावित होना आश्चर्यजनक नहीं और राजकीय जीवन पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट ही आता है। इनमें से अधिक शासकों को न तो शासन व्यवस्था की चिन्ता थी और प्रजा-पालन की। अबाध वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करने की अपूर्व सुविधा प्राप्त होती, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता न थी। गणतन्त्रात्मक इस्लाम के लिए राजा की अपरिमित निरंकुशता का अतिरंजित प्रदर्शन स्पृहणीय नहीं। जनता को गुलाम के समान पृथ्वी पर लेट कर नमस्कार[1] करना इस्लाम प्रणाली के विरुद्ध है। युग

---

१ इ० मु० ११९ और के० ट० (१) पृ० ७४ और बरनी (१) पृ० ९२ कु० मु० अशरफ द्वारा उद्धृत)

सुलतानो ने कारणवश आक्रमण किए, वे युद्धो मे सलग्न हुए, किन्तु इनसे अवकाश मिलते ही अपने मन्त्रियो के हाथ में शासन-व्यवस्था एव मुल्लाओ के हाथ में न्याय-व्यवस्था छोड देते रहे। अमीर-उमराव का बडा प्रभाव था और उनकी इच्छा के विरुद्ध जाना सुलतानो के लिए निरापद नही था। अमीर-उमरा का जीवन भारतीय रईसो के विलासी जीवन की समकक्षता रखता है।

धार्मिक कट्टरता, यद्यपि शासको के अबाध विलासी जीवन के लिए बाधक थी किन्तु अपने अनुयायियो की साहसिकता एव आवेश को अक्षुण्ण और भारतीय विद्रोह के शमन की क्षमता सुरक्षित रखने के लिए उलमाओ से समझौता रखना मुस्लिम शासको के लिए आवश्यक था।[1] शासको ने इन उलमाओ के प्रभाव में आकर धार्मिक विस्तार मे योग-दान किया। कुछ स्वतत्र धार्मिक विस्तार के इच्छुक भी थे। मन्दिर गिराए गये, स्वतन्त्रतापूर्वक उपासना का द्वार बंद हुआ। कुछ शासको के यहाँ इन उलमाओ का प्रभाव बडा गहरा था और उनके प्रभाव में आकर शासक उदार-चेता सूफियो और सतो पर अत्याचार करते थे।[2] न्यायाधिकरण में इस वर्ग का प्रभुत्व[3] भारतीय जनता की दृष्टि में सन्तोषप्रद नही था किंतु धर्मान्ध-अनुयायियो को सन्तुष्ट करने का कोई अन्य साधन सुलतान के पास नही था। धार्मिक श्रद्धागत किए गए कार्यों और इस न्यायाधिकरण का अधिकार हस्तान्तरित करने में भिन्नता है। उलमा और सुलतान का पारस्परिक सहयोग दोनो के लिए हितकर था। कुरान के आदेशों के द्वारा जहाँ उलमाओ ने सुलतान के अबाध अधिकार को धार्मिक मान्यता दी, वहाँ सुलतान की छत्र-छाया में उलमा को साधारण लोगो से अधिक अधिकार प्राप्त हुए। इन उलमाओ का सामाजिक व्यवस्था में वही स्थान था, जो हिन्दू-समाज में पौराणिक पण्डितो का था। हिन्दू पण्डितों के समक्ष ध्वस्त होती-सी सामाजिक परम्परा को बचाने की समस्या थी और उलमाओ के समक्ष विरोधी तत्ववाली सामाजिक व्यवस्था में अपने प्रभुत्व को अक्षुण्ण रखने और रीति-रिवाज का प्रचारित करने की समस्या थी। मुस्लिम सस्कृति की स्वरूप-रचा में जहाँ ऐसे व्यक्ति सफल हो सके वहाँ दोनो के समन्वय और सामजस्य में बाधा पहुँची। उलमाओ ने हिन्दुओ को या तो मुसलमान बनाना चाहा अथवा धर्म-परिवर्तन नही करने पर उनकी हत्या चाही।[4]

राज-सभा अथवा दरबार की प्रथा को फारस से प्राप्त कर भारत में प्रचलित करने का दावा कुँवर मुहम्मद अशरफ ने[5] किया है। राजसभाओ की परम्परा अत्यत प्राचीन काल

---

१ अलबेरूनी ने शासन व्यवस्था और धार्मिकता के गँठबन्धन की भरि-भूरि प्रशसा की है (भाग १, पृ० ६६)

२ दियो हुकुम करियो नहीं देरी। गंगा बोरहु भरि पग बेरी।
सुनि अनुचर पग पाइ जँजीरे। बोरयो गगा माहँ कबीरे।
—कबीर जी की कथा, विश्व० की टीका,

३ द्रष्टव्य—तारीखए-बहादुर शाही हुसेनशाह, पृ० ४१।

४ अलबेरूनी, भाग १, भूमिका पृ० २३।

५ लाइफ एंड कडिशन आव दि पीपुल आव हिंदुस्तान (सन् १२००-१५५०) जे० ए० एस० बी०, भाग १ (सन् १९३५), पृ० १६२।

से भारत में रही है। इसे स्पष्ट करने के लिए साहित्यिक प्रमाणों की अपेक्षा नहीं। राज सभा के पण्डित कवि अधिकारी एवं विदूषक नर्तकी और संगीतज्ञ की कथाओं से साहित्य भरा पड़ा है। विलास की कथाएँ सर्वथा नवीन नहीं।

उलमाओं इमामों और काज़ियों के अतिरिक्त धार्मिक नेताओं का एक दूसरा दल था, जिसे किसी दूसरी संज्ञा के अभाव में सूफ़ी ही कहना उपयुक्त होगा। प्रारंभ में यह सुधार प्रिय सामान्य जीवन व्यतीत करनेवालों का दल था। दार्शनिक मतवाद से उसका सम्बन्ध तो बाद में चल कर हुआ। यह सम्प्रदाय जीवन के सामान्य पथ पर ध्यान रखनेवाला विलास पूर्ण जीवन की अपेक्षा नैतिकता का आग्रह रखनेवाला सम्प्रदाय था। राजनीतिक क्षेत्र में उलमाओं का प्रभुत्व था जिन्होंने सुलतान की कृपा प्राप्त करने के लिए कुरान के आदेशों की मनिमत व्याख्या की थी किन्तु सूफ़ियों ने भारतीय और मुस्लिम विचार-धारा के साम्य की ओर अधिक ध्यान रखा। कुँवर मुहम्मद अशरफ़ के अनुसार इस्लाम की अन्तर्निहित आत्मा और मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिए उन्हें समझौते का मार्ग त्याग करना पड़ा क्योंकि उनके अनुसार मुहम्मद अन्तिम पैगम्बर थे और उनके आदेशों के आधार पर ही मुस्लिम समाज की व्यवस्था और नियंत्रण आवश्यक है।[1] सैद्धान्तिक रूप में इस विचार-धारा का पोषक होने पर भी सूफ़ियों ने भारतीय मतवाद और साधन-प्रणाली अपनाई।[2] कुछ सूफ़ियों ने तो मुस्लिम उपासना तक का वर्जन किया। इस सम्प्रदाय ने नाथ-पंथियों और अन्य साधु-संन्यासियों को देखा और उससे प्रभाव प्राप्त किया। नाथ-पंथियों के चमत्कार प्रदर्शन की ओर भी इनका ध्यान कम न था। इस सम्प्रदाय का प्रभाव न तो राजन्य वर्ग और विलासी-जीवन व्यतीत करने वाले अमीर-उमरा पर था और न मौलवी-मुल्लाओं पर। हिन्दू अभिजात्य वर्ग भी इस सम्प्रदाय के प्रभाव में नहीं आया केवल निम्न-स्तर पर की कुछ जातियाँ और कुछ व्यक्ति इनके प्रभाव में आए। केवल कुछ सूफ़ियों का ही प्रभाव सुलतान और राजन्य वर्ग पर पाया जाता है।

मुस्लिम-समाज में सबसे अधिक संख्या उन व्यक्तियों की है जिन्होंने किसी कारण-वश धर्म-परिवर्तन किया था। न तो इस्लाम केवल तलवार के बल ही फैला और न मात्र प्रेम के ही कारण बल्कि उन कारणों के साथ हिन्दुओं की संकुचित-अतिप्रिय सामाजिक धारणाओं का भी हाथ था। सुलतानों की दास-दासियाँ आदि भी इस्लाम ग्रहण कर महत्वप्राप्ति की चेष्टा करती रहीं।[3] दासी-संबन्ध से उत्पन्न पुत्र अन्य पुत्रों की अपेक्षा योग्य होने पर राज्याधिकार भी प्राप्त कर लेते थे।[4] इस प्रकार राजप्रासाद की सीमाओं में

---

१ वही पृ १४१।

२ हौं हौं कहत सबै मति खोई। जौ तू नाहिं आहि सब कोई ॥
(क) आपुहि गुरु सो आपहु चेला। आपुहि सब औ आप अकेला ॥—जायसी
(ख) जो मरजंक सो पिउ है हेरत जंग न जाहि ॥—जायसी

३ कुँवर मुहम्मद अशरफ़ ला क अफ़ द पिपुल आफ़ हिन्दुस्तान ज र अ० आफ़ ब भाग १ १९१८, पृ १११ और १८२।

४ इब्निबतूता, आमिर उल-हिकायत (अनु पृ १८४)

इन्हें चाहे जो महत्व मिला हो, इनमे से कुछ रईसो के वर्ग मे आ गये हो, किन्तु सामाजिक व्यवस्था में इन्हें महत्वपूर्ण स्थान नही प्राप्त हो सका। शासक की दृष्टि से इन दासो और सैनिको का महत्वपूर्ण स्थान था, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के आधार में किसी प्रकार अन्तर नही आया। मुस्लिम-समाज के वर्गीकरण की दृष्टि से सुलतान, उसके निकट सम्बन्धी और रईसो का एक वर्ग था। यह वर्ग धन-धान्य से पूर्ण था, ऐश्वर्यशाली विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करता था, अहले दौलत था। दूसरे वर्ग में विद्या-व्यवसायी थे, उलमा, न्यायाधिकारी काजी, सैयद आदि। यह वर्ग प्रधानता और कार्य की दृष्टि से ब्राह्मणो के समकक्ष रहा। तीसरा वर्ग उन लोगो का था जो राजकीय कृपा को ही प्रधान मानते और सुलतान-रईस को प्रसन्न करने के लिए वैयक्तिक महत्व और सम्मान को महत्वपूर्ण नही मानते। उस काल के कलावन्त, नर्तकियाँ, सगीतज्ञ आदि इसी कोटि में जाते है।[1]

निम्नतम वर्ग है उन व्यक्तियो का जिनका न तो शासन-व्यवस्था से सम्बन्ध था और न जिन्हे किसी प्रकार का राजनीतिक अधिकार प्राप्त था। अधिकारी इस दल के लोगो को विशेष प्रकार से तग किया करते और कर-वहन का बोझ इन पर पडता। गाँवो के मुखिया और अन्य अधिकारी सम्पत्तिशील और प्रभावशाली होते जा रहे थे।[2] साधारण वर्ग के हिन्दू और मुस्लिम में विशेष अन्तर नही था। कारण विशेष से इन्होंने धर्म-परिवर्त्तन कर लिया था किन्तु इनके विश्वासो और स्थिति मे किसी विशेष प्रकार का अन्तर नही आया था। इनकी सामाजिक स्थिति ज्यो की त्यो रही। मुस्लिम शासक अपने धर्मानुयायियो के प्रति कभी-कभी सदय अवश्य होते और विशेष प्रकार का बर्ताव करते अतः हिन्दू मुस्लिम धर्म को अपना कर अपने प्राण बचाने अथवा सुविधा प्राप्त करने की चेष्टा भी करते रहे।[3]

भारतवर्ष में आकर मुस्लिम समाज ने हिन्दुओ की रीति नीति अपनाई। मुस्लिम-समाज के विभिन्न स्तरो में विभेद और अन्तर आ गया, एक दूसरे का सम्पर्क छूट गया।[4] वर्ण-भेद की धारणा जम गई,[5] और निम्न वर्ग को उच्चवर्गीय मुस्लिम-समाज की समकक्षता नही प्राप्त हो सकी।[6] इस समाज में भी नीच-ऊँच का भाव आ गया था।[7]

---

१ एफ० जे० ४६, और टी० एम० ८६, १२८।
तुलनीय—पराधीन पर बदन निहारत मानत मूढ बड़ाई।
हँसे हँसत बिलसैं बिलखत है ज्यों दर्पन मैं झाई॥—सू० सा०, पद १६५।

२ अमीर खुसरो, क़ु० खु० पृ० ७३३।

३. अलाउद्दीन ने अपने मुस्लिम बन्दियों को मुक्त करने और काफिरों को कुचलवा देने का आदेश दिया।—अमीर खुसरो, के० के० पृ० ८८१।

४ हबीबुल्ला: दि फाउडेशन आव मुस्लिम रूल इन इडिया, पृ० २७२
सैयद मुहम्मद लतीफ हिस्ट्री आव द पंजाब, पृ० ४४-४५ (कलकत्ता, १६१)

५. कुँअर मुहम्मद अशरफ, जे० र० ए० ब० (१६३५) पृ० १६१।

६ इम्परीयल गजेटियर आव इडिया, भाग २, पृ० ३२६।

७ तहवाँ मोहि जनम विधि दीन्हा, कासिम नाम जाति का हीना॥
—हस जवाहर, सूफी काव्य-सग्रह, पृ० १५४।

उच्चवर्गीय समाज

समाज के नाना-विध विभाग के दो मूल स्तर हैं—उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय। उच्चवर्गीय हिंदू अथवा मुसलमान के जीवन में विशेष अन्तर नहीं था। मुस्लिम आक्रमण के कारण प्रथमतः हिंदुओं का उच्च वर्ग की स्थापना भी सम्भव हुई। धर्म-संबंधी जिन अत्याचारों की कथाएँ प्रचलित हैं उनका प्रत्यक्ष संबंध इसी वर्ग से था। मन्दिर गिराये गए, मूर्तियाँ तोड़ी गईं और प्रकट रूप से धर्म-साधना और उपासना का अधिकार नहीं रहा।[1] वल्लभाचार्य के शब्दों पर म्लेच्छों से आक्रान्त देश नाना प्रकार के पापों का स्थान बन गया। सत्पुरुष पीड़ित हुए, समग्र लोक व्यग्र और व्यथित हुए। गंगादिक श्रेष्ठ तीर्थ दुष्टों से आवृत थे अतः उनका महत्व तिरोहित हो चुका था और देवता अप्रसन्न हो गए थे। अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक तथा अन्य मंत्र नष्ट हो रहे थे लोग ब्रह्मचर्यादि व्रतों से हीन थे, यहाँ तक कि ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर वेद-मंत्र भी हीन हो रहे थे। देश का वैभव पूर्णतया मटियामेट हो गया। हिंदू भूमि के कणों की भाँति महत्वहीन और अशक्त हो गए। उनके पूर्व वैभव की कथाएँ ही अवशिष्ट रह गई थीं। अधिकांश नृपतियों के राजत्व-काल में साधारण हिंदुओं को घोड़े की सवारी करने सुंदर वस्त्र पहनने पान खाने अथवा हथियार रखने का अधिकार नहीं था।[3] हिंदुओं की सुन्दरी स्त्रियों के लिए मुस्लिम शासकों का आकर्षण भी कम नहीं था।[4] आक्रमण के कारणों में केवल धार्मिक मतवाद का प्रचार अथवा राजनीतिक सत्ता का प्रसार ही नहीं बल्कि स्त्रियों का सौन्दर्य भी था।[5]

हिंदुओं को मृत्यु के घाट उतारा गया[6] अथवा उन्हें इस्लाम स्वीकार करने को बाध्य किया गया। मंदिरों को ढाह कर उनके पत्थरों से मस्जिदें चुनवाई गईं। मालवे पर अधिकार होने पर महमूदशाह खिलजी ने भोज की भोजशाला को तुड़वा कर मस्जिद में परिणत कर दिया।[7] आक्रमण के समय ऐसी दुर्दशा हो जाती थी जैसे जान पड़ता था कि रावण की सेना टूट पड़ी है।[8] राजाओं और सम्राटों ने स्वेच्छाचार विकराल रूप धारण कर चुके थे।[9]

---

१ एलियट (भाग १), तारीख-ए-यामीनी पृ २८ और १७।
२ वल्लभाचार्य कृष्णाश्रय षोडश ग्रंथ, श्लोक २, ३ और ४।
३ एलियट (भाग ३) तारीख-ए-फिरोजशाही, पृ १८८।
४ तब यह अलाउदी 'आग-दहू'। लेहुँ नारि चितउर कै सूरू ॥
—जायसी, पद्मावत, पृ २४८।
५ एलियट (भाग २), जामिउल हिकायत, पृ १९१।
६ वही तबकात-ए-नासिरी पृ ३ ७।
७ एपि॰ इं॰ भाग ८, पृ॰ २४१ २९।
८ लंका चढ़त जस भो दल पारथ नौ गढ़ तोड़।
सेने बहा सब गरजे आई। धरती धरम सुमेरु डराई ॥—जा॰ ग्रं॰ पृ २९८।
९ गोंड गँवार नृपाल महि यमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल ॥—तुलसी दो॰ ५५६।

ब्राह्मण विद्यापति की प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है—ठाकुर ठग हो गये, चोरो ने जबरदस्ती घर ले लिए, नौकरो ने स्वामियो को बदो बना लिया, धर्म गया, धधा डूब गया, दुष्ट सज्जनो का परिभव करने लगे, कोई आचार-विचारवाला व्यक्ति न रहा, जाति-कुजाति में विवाह होने लगा एव अधम और उत्तम का भेद मिट गया।[1] हिंदू और मुसलमान दोनों के साथ रहने में एक के धर्म से दूसरे का उपहास होता है। कही अजाँ की बाँग, कही वेद का पाठ, कही बिसमिल्ला, कही कर्ण-छेद, कही ओझा, कही ख्वाजा, कही व्रत, कही रोजा, कही तोबा, कही कूजा, कही नमाज, कही पूजा। तुर्कों को देखकर ऐसा जान पडता है मानो वे हिन्दुओ को निगल जावेंगे।[2]

राज-व्यवस्था शिथिल थी। सैनिको को एकत्र कर लूट-पाट द्वारा राज्यो की स्थापना होती।[3] ऐसे नृपतियो के सहायक और सेवको की बन आती, प्रजा पर विपत्तियो का पहाड टूटता और उसके धन का अपहरण होता। सम्राट् ऐसे ही लोगो का सम्मान करता जिसके द्वारा उसकी महत्वाकाक्षाएँ उभरती।[4]

मुस्लिम राज्यो की स्थापना के साथ मुल्ला और काजी की प्रधानता जिस मात्रा में बढी, उसी मात्रा में हिंदू राज्यो के विघटन द्वारा ब्राह्मणो और पण्डितो का महत्व घटा। धार्मिक असहिष्णुता का कठिन आघात इसी वर्ग को सहन करना पडा। सत ज्ञानेश्वर इन धर्मान्तको के कथन का उल्लेख आसुरी मनुष्य द्वारा कराते हैं,—"मै तुम्हारे ईश्वर को निगल जाऊँगा, तुम्हारे वेदो को विष दे दूँगा और अपने महत्व से उनकी सत्ता का नाश कर डालूँगा।"[5] इन आसुरी प्रकृति के व्यक्तियो के लिए कहा है,—ये आसुरी प्राणी कभी शौच या शुद्धता को स्वीकार नही करते। शराब रखने का बरतन जैसे कभी पवित्र नही हो सकता, उसी प्रकार ऐसे लोग भी कभी पवित्र नही हो सकते।[6] राजाओ से मिलनेवाले दानो का अन्त होने लगा, परम्परा तो कुछ दिनो तक चलती रही किंतु हिंदू राज्यो के विघटन के कारण प्रथा क्रमशः लुप्त होती गई।

---

१. कीर्तिलता, द्वि० प०, पृ० १६

२. वही, पृ० ४३-४४

३. सुलतानु होवा मेलि लसकर तखति राखा पाउ।
हुकुम हासलु करि बैठा।—आ० ग्र०, सिरि रागु १, पृ० १४

४. चोर चतुर बटपार नट प्रभु प्रिय भँडुआ भड।
सब भच्छक परमारथी कलि सुपथ पाखड॥—तु०, दोहा०, ५४६
काल कराल, नृपाल कृपालन राज समाज बडोई छली है।
—कवि०, उत्तर ८५

५. हिंदी ज्ञानेश्वरी, पृ० ३६८

६ वही, पृ० ४०१

अभिजात वर्ग

राजन्य वर्ग की विलासिता तो प्रसिद्ध ही है। दिल्लीश्वर की समता जगदीश्वर से होती थी। अव्यवस्था फैली हुई थी। जिसके पास थोड़ी सेना एकत्र हो जाती, वही स्वाधीन शासक बन जाता।[1] सुलतान माण्डलीक राजाओं का सरदार था।[2] साधारण प्रजा की वह चिन्ता नहीं करता था। कर वसूल करना तथा अपने सुखोपभोग के लिए धन एकत्र करना ही उसके आक्रमणों का उद्देश्य होता था। शस्त्र-बल से अनेक राजाओं को सुलतान अपने वश में करता था। राज्य शासन में वह परम स्वतंत्र था किसी प्रकार की अधिकार-सीमा नहीं थी।[3] अधीन और पराजित व्यक्तियों की वह हत्या करता धर्म-परिवर्तन करता कभी-कभी छोड़ भी दिया करता था।[4] शत्रुओं को पराजित कर नवीन नगर बसाकर सुलतान विजय-यात्रा करता हुआ राजधानी को लौट जाता था।[5] खुशामदी व्यक्ति राजा को घेरे रहते और विचारवान् व्यक्तियों को उसके पास तक फटकने नहीं देते। राजाओं के यहाँ ऐसे ही व्यक्तियों का ही सम्मान था। शासनाधिकरण क्रूर था।[6] प्रजा के भाग्य से कभी कभी कोई कृपालु राजा अथवा अधिकारी होता था।[7]

---

१ आ ग्रं० सिरी रागु १ पृ० १४

२ और है भाव काल के राजा, मैं तिनमें सुलतानु। सू० सा०, १४५

गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल। दोहा, ५५६

३ नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड विडंब प्रजा नितहीं।

—रा० च० मा०, उत्तर १०१

सुभग द्विज विस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीकमनि रावन राज करइ निज मंत्र॥ बा० का० १८२

४ सुभाहीन मलीन सुर सरोषेहि मिलिहहि आइ।
तब मारिहउँ कि छाँड़िहउँ भली भाँति अपनाइ॥ बा० का०, १८१

५. रिपु जीति सब नृप नगर बसाई। निजपुर गवने जय जस पाई॥

—बा० का०, १७५

६ नर को सठन धनिक मो राजा परजा का कामों करे विचारा।

—कबीर, सेलेक्सन्स फ्राम हिंदी लि० पृ० १८

कलि काती राजे कसाई धरमु पंख करि उडरिया।
कूड़, अमावस सचु चंद्रमा दीसै नाही कह चढ़िया॥

—आ० ग्रं० रागु माँझ वार ११ का सलोकु १

कलि में नृप होइ हैं अन्यायी।—सू० सा०, ४१४

७ भाखी भाग किसान सम नीतिनिपुन नरपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ-कबहुँ कलिकाल॥ दोहा० ५०७

प्रजा की गाढ़ी कमाई का अपव्यय होता था और धन विलासिता के लिए पानी की भाँति बहाया जाता था। निर्बाध विलासिता का जीवन चलता था।[1] राजा थोडे ही में प्रसन्न होता था तथा तुरत ही क्रोध करता था। सबध जोडने और तोड़ने में समय नही लगाता था।[2]

ब्राह्मण-वर्ग अनुदार, स्वार्थी, जात्याभिमानी, आचार-प्रवण, दभी और कठोर बन चुका था। गाँवो में इनका प्रभुत्व अधिक था किंतु नगरो में जीविका के लिए इस वर्ग को मुस्लिम शासको का आश्रय लेना पडता और सेवा-वृत्ति स्वीकार करनी पडती थी।[3]

प्रकट रूप में ऐसे व्यक्ति अपनी साधना और उपासना-पद्धति को छिपाते और एकान्त में उसका आचरण करते थे। यह व्यवहार अपने धर्म-विरोधी शासको को प्रसन्न करने के लिए था। वेद-शास्त्र से इनका सबध छूट गया था और मुस्लिम अधिकारियो की चाटुकारिता के लिए यह वर्ग एक दूसरे की निंदा करता था।[4] जिन्हें यह सुविधा नही प्राप्त हो सकी थी, वे व्यापार आदि पेशे करने लगे किन्तु समाज में ऐसे व्यक्तियों का सम्मान नही था।[5] पैत्रिक व्यवसाय नष्ट नही हुआ था, सस्कार पूजा के अवसर पर उनके द्वारा ही कार्य सम्पन्न कराया जाता था। पुरोहित वर्ग बन चुका था और जजमानो के यहाँ की वृत्ति रूढ़ हो चुकी थी। पौरोहित्य भी बहुत अच्छी दृष्टि से नही देखा जाता था। विद्वान और शास्त्राभ्यासी ब्राह्मण पौरोहित्य करना नही चाहते थे।[6] चौबीस एकादशियो और अन्य व्रत त्योहार का इनके यहाँ अधिक महत्व था, क्योकि दान पाने का अवसर था। साधारण रूप से वेद-पुराण का ज्ञान-अभ्यास नही रहने पर भी जातिगत श्रेष्ठता को मानता था। स्पृश्यापृश्य का विचार बद्धमूल हो चुका था।[7] साधारण शिक्षित ब्राह्मण कथा-वाचक

---

१. बरनौ राज मदिर रनिवासू। अछरिन्ह भरा जानु क बिलासू॥
सोरह सहस पदुमिनी रानी। एक-एक ते रूप बखानी॥
अति सुरूप औ अति सुकुवारा। पान फूल के रहहिं अधारा॥
—जा० ग्र०, (गुप्त) पृ० १५२।४६

२. थोरेहिं कोप कृपा पुनि थोरेहिं, बैठिके जोरत-तोरत गाढे।—कवि०, उत्त० ५४

३ भक्त विजय, अध्याय ११, पृ० १८०

४. आ० ग्रं०, पृ० २५५ और ३१८
परगट लोकाचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासों राता॥
—जा० ग्रं०, पृ०, १०६।१०

५. ब्राह्मण एक हुत निपट भिखारी। सो पुनि चला चलत बैपारी॥
रिन काहू सन लीन्हेसि काढ़ी। मकुतहँ गये होइ किछु बाढ़ी॥
—जा० ग्रं०, पृ० ३५।१

६ कृपा करो मम प्रोहित होहु। कियो बृहस्पति मो पर कोहु॥
कह्यो पुरोहित होत न भलौ। विनसि जात तेज-तप सकलौ॥
पै तुम विनती बहु विधि करी। तातैं मैं मन में यह धरी॥—सू० सा०, ४१६

७. क० ग्र०, पद २५१, पृ० १७३-७४

होता था और इस प्रकार जीविकोपार्जन करता था।[1] ऐसे पंडित्य आभिजात्य को अधिक महत्व देते और अस्पृश्यता के विचारों का पोषण करते।[2] आचार का पक्ष अब साधारण तथा इनके लिए त्याज्य था।[3] किन्तु दक्षिणा और सुस्वादु भोजन के लोभ में शूद्रों के घर उनकी सामग्रियों द्वारा प्रस्तुत व्यंजन का भोग लगाते थे।[4] ऐसा काम किन्तु नीच समझा जाता था और ऐसे ब्राह्मणों को सम्मान नहीं मिलता था। दक्षिणा का लोभ इसमें अभिलिप्त था।[5] साधारण लोगों की धारणा थी कि अधिक पढ़ना अहितकर है, कारण अधिक विद्या पढ़ने पर भी ब्राह्मण भिक्षाटन करता है।[6] ब्राह्मण वैष्णवों और संतों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे प्रारंभ में वैष्णव नीच-कुलोद्भूत थे किन्तु बाद में चलकर वैष्णव ब्राह्मणों ने अपने लिए सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया। वैष्णवों को ब्राह्मण भोजन के समय ब्राह्मणों की पंक्ति नहीं प्राप्त होती थी इन्हें अलग बिठाया जाता और साधारणतया इनके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार भी नहीं होता था।[7] ब्राह्मण अन्त्यजों को आशीर्वाद तक नहीं देते थे।[8] स्पर्श-भय से अंधकार रहते ही चल पड़ते थे। आत्माभिमानी ब्राह्मण निम्नवर्गीय व्यक्तियों को दीक्षा नहीं देते थे। निम्न कुलोद्भूत संतों के प्रति आभिजात्य वर्ग का विशेषतया ब्राह्मण-वर्ग का, व्यवहार उपयुक्त नहीं था इन संतों को पौराणिक ज्ञान के द्वारा नीचा दिखलाने की चेष्टा सदा होती थी।[9] सामाजिक विरोध के कारणों में ब्राह्मण और धनी वर्ग का अपमानजनक व्यवहार ही प्रधान था।

दीक्षा का सामाजिक महत्व होने के कारण नीचजन्मा संत कई प्रकार के साधनों का उपयोग करते। दीक्षा नहीं मिलने पर भी इन संतों के अनुयायी अपने आदि गुरु को किसी विशिष्ट मताचार्य का शिष्य होना प्रचारित करते।[1] विभिन्न सम्प्रदायों के शिष्यों का एक साथ ही रामानंद की शिष्यता प्राप्त करने का यह रहस्य है। नीचजन्मा व्यक्तियों से दीक्षा

---

१ चा चं, पृ १८।१५

२ भक्त लीलामृत पृ २६१

३ वही पृ १८१

४ भक्त विजय अध्याय ११ पृ २१५
बाभन के कुल बैठे पैठे बराभन के सिलमली।—लोक कहावत।

५ चा चं पृ २१

६ पंडित पुनिजन दुख अपार। बाढ़ भरम दुख परम गँवार॥
—मैथिल कोकिल विद्यापति, पृ २०
बहुत पढ़े सो मांगे भीख बहुत पढ़े बीमन अब मार।
—भ क, पृ १८।२

७ भक्त-विजय, पृ ५१ और ११७

८ वही, पृ १३ और ११

९ भक्त-विजय पृ ११८

१ [illegible] भक्तमाल में रामानंद-कबीर-प्रसंग।

लेने पर ब्राह्मण जाति-च्युत कर दिए जाते थे और ऐसे व्यक्ति के साथ रोटी-बेटी का सबध स्थापित नही किया जाता था।[1] क्षत्रियादि जातियाँ भी कच्ची रसोई ब्राह्मणो को नही देती थी।[2] भक्तमाल के अनुसार जाति की वर्तमान व्यवस्था तो भोजन की पक्ति से चली।[3] नानक के अनुसार क्षत्रिय म्लेच्छो की भाषा और रहन-सहन ग्रहण करते जा रहे थे और इस प्रकार सभी एक-वर्ण के हो रहे थे।[4]

निम्नस्तरीय जीवन

मध्यकाल में जाति-बधन की जटिलता स्थिर हो चुकती है। वर्ण-विभेद जाति-भेद में परिणत हो चुकता है और एक-वर्ण और जाति की अनेक शाखाएं-प्रशाखाएँ बन जाती हैं। केवल जाति-गत उच्चता-नीचता के भाव ही स्थिर नही होते बल्कि एक ही जाति की विभिन्न शाखाओ मे यह धारणा बद्धमूल हो जाती है। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण यह अनुशासन कठोरता आई। इतना तो स्पष्ट है कि सगठित धर्म से हिन्दू धर्म को पहली बार मुकाबला करना पडा और समाज-च्युत व्यक्तियो के लिए उस धर्म-सगठन में स्थान मिल जाता था, शासक वर्गीय धर्म की स्वीकृति के कारण उन्हें कुछ अधिकार भी प्राप्त हो जाते थे। पेशे के अनुसार जातियो का वर्गीकरण होने के कारण उच्च-नीच की धारणा को और अधिक बल मिला। गाँवो का जीवन स्वतत्र इकाई के रूप में चलता था। पेशे को बदलने की सुविधा देने पर गाँवो के सघबद्ध जीवन की सामूहिक इकाई नष्ट हो जा सकती थी, अत उसे बदलने का अधिकार नही दिया जा सकता था। ग्रामीण अर्थ-शास्त्रीय व्यवस्था के कारण जाति-सगठन में जटिलता और कठोरता आई। जातियो-उपजातियो का पूर्ण वर्णन सम्भव नही। विदेशी यात्री इस जटिलता को समझने में अक्षम रहे, उन्होने जाति का आधार नस्ल अथवा धर्म-सम्प्रदाय को माना है। नस्ल और पेशे को मिलाकर देखने की प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही आ रही है।[5] वैश्य और शूद्र का विभाजन इस काल में मिटने-सा लगता है[6] और छुआछूत की धारणा को प्रश्रय मिलने लगता है। अन्त्यजो से इन्हें भिन्न मानना चाहिए, जिनकी आठ जातियो या उपजातियो का उल्लेख अलबेरूनी ने किया है।[7]

---

१. कबीर से दीक्षा लेने के कारण तत्वा-जीवा जाति च्युत कर दिये गए थे—
कानाकानी भई द्विज जानी जाति गई पाँति,
न्यारी करि दई कोउ बेटी नहीं लेत है।—भक्त०, पद ३१०, पृ० १६१

२. भक्तलीलामृत, अध्याय ४४, पृ० २८७

३ भक्तमाल (टीका) ५८४, पृ० ३१६

४. खत्रीआ त धरमु छोडिआ मलेछ भाखिआ गही।
स्रसटि सम इक वरन होइ धरम की गति रही।—आ० ग्र०, नानक १, राग धनासिरी।

५ मेगास्थनीज का भारत-विवरण, पृ० ४३-४५

६. सचउ-अलबेरुनीज इडिया, भाग १, पृ० १०१

में विभक्त मान लिया है।[1] जायसी ने उक्त स्थान पर पद्मिनी नायिकाओ की छत्तीस जातियो (भेदो) का वर्णन किया है।[2] जायसी ने "छत्तीस कुरी" का प्रयोग किया है।[3], जिसका अर्थ "क्षत्रियो का छत्तीस कुल" शुक्ल लेते है, वहाँ वानिनी भी "वारित" है। जायसी इस स्थल पर क्षत्रियो के छत्तीस कुल का सकेत नही देते, बल्कि सुन्दरी नारियो का उल्लेख कर रहे हैं। "पवनियो" के अन्तर्गत "अगरवारिनी", "चदोलिनी", और "चौहानी" की गणना अपर्याप्त परिचय का द्योतक है, उसी प्रकार "बामनि" और "कैथिन" की इस अनुबध मे चर्चा उपयुक्त नही। माताप्रसाद गुप्त ने परिशिष्ट में जो पद दिया है उसमे पवनियो का सविस्तार वर्णन आया है।[4] जैन कवि बनारसी दास ने भी "पवनियो" की छत्तीस जातियो का उल्लेख किया है।[5] जिसमे स्पष्टतया कुछ मुस्लिम हैं तथा "किसान"

---

१. लाइफ ऐंड कडीशन आव दि पिपुल आव हिंदुस्तान, पृ० १६३

२. घर घर पदमिनि छतीसो जाती। सदा बसंत दिवस औ राती ।।—जा० ग्र, पृ० ४५

३. मैं अहान पदुमावति चली। छतीस कुरी मैं गोहने अली ।।
मैं कोरी संग पहिरि पटोरा। बाँभनि ठाउँ सहस अंग मोरा ।।
अगवारिनि गज गवन करेई। बैसनि पाव हस गति देई ।।
चंदेलिनि ठवँकन्ह पगु ढारा। चली चौहानी होइ अनकारा ।।
चली सोनारि सोहाग सोहाती। औ कलवारि पेम मधु माँती ।।
बानिनी भल सेंदुर दै माँगा। कैथिनी चली समाइ न अगा ।।
पटुइनि पहिरि सुरग तन चोला। औ बरइन मुख सरस तँबोला ।।
—जा० ग्र०, पदमावत १८५, पृ० २४५

४ रगरेजनि बहु राती सारी। चली चोख सो नाइन बारी ।।
ढँठोरिनि चली बहु ठाठर कीन्हें। चली अहिरिनि काजर दीन्हें ।।
गूजरि चली गोरस कै माती। तँबोलिन चली रंग बहु राती ।।
चली लोहारिनि पैने नैना। भाँटिनी चली मधुर मुख बैना ।।
गफिनि चली सुगधि लगाए। छीपिनि छीपई चीर रँगाए ।।
मालिनि चली फूल ले गाँथे। तेलिनि चली फूलाएल माँथे ।।
कै सिंगार बहु बेसवा चली। जहँ लगि मूँदी बिगसी कली ।।
नटिनीं डोमिनि ढोलनि, सहनाइनि भेरकारि।
निरतत तत विनोद सौं, बिहँसत खेलत नारि ।।
—मा० गु०, जा० ग्रं०, परि० पद १८५ अ

५ सौसगर दरजी तबोली रंगवाल ग्वाल बाढई संगतरास तेली धोबी धुनिआ।
कदोई कहार काछी कलाल कुलाल माली कुदीगर कागदी किसान पटचुनिआ।
चितेरा बिचेरा बारी लखेरा ठठेरा राज, ढुआ छप्परबध नाई भार-भुनिया।
सिकलीगर हवाईगर सुनार लुहार धीमर चमार एई छत्तीस पठनिया ।।
—अर्द्ध कथानक, पद २६ पृ० ४

कोई पदमियों का भेद नहीं। यह वर्णन जायसीवाले वर्णन से युक्ति-संगत है। निम्नवर्गीय जाति ने धर्म-परिवर्तन के पश्चात् भी अधिकांशतया अपना पेशा नहीं छोड़ा।

जाति भेद की विविधता के साथ आचार-त्याग की चर्चा होती रही है। कलियुग में वर्णाश्रम-व्यवस्था भिन्न जायगी और सभी एकाचारी होंगे, इसकी चर्चा सर्वत्र प्राप्त होती है।[१]

साधु-संगठन और उसका सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव

मध्यकाल में सामाजिक अव्यवस्था के कारणों में साधु-संन्यासी-सम्प्रदाय और संगठन थे। बौद्ध भिक्षुओं और श्रावकों की सुसंगठित परम्परा का नूतन विकास शंकराचार्य के वैरागी संगठन में हुआ था। सिद्धों और नाथों की परम्परा भी अक्षुण्ण रही। यह तो स्पष्ट है कि पूर्व-मध्य-काल के अन्त तक अनेकानेक धार्मिक सम्प्रदाय और संगठन थे। प्रत्येक सम्प्रदाय में दो प्रकार के अनुयायी थे साधारण गृहस्थ और संन्यासी। धर्म-सम्प्रदायों में संन्यासियों और गृह-विरक्तों को अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। राज्याधिकरण और स्थानीय शासकों का संरक्षण प्राप्त कर धार्मिक सम्प्रदायों का साधु-संगठन शक्तिशाली हो उठा था। धार्मिकता के भय और साधु-संगठन की कठोरता से आतंकित जनता इनका विरोध नहीं कर सकती थी। वैरागियों और सिद्धों के सम्प्रदाय गोरखनाथी सम्प्रदाय में अन्तर्भूत हो गए। धर्म-साधना के क्षेत्र में सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्तित्व गोरखनाथ का हुआ। सरहपाद ने ऐसे साधु-संन्यासियों को लक्षित किया था जो शरीर पर भस्म लगाकर विहार करते थे और सिर पर जटाओं का भार वहन करते थे।[२] एकदण्डी और त्रिदण्डी लोग भी थे[३] सम्भवतया शांकर वैरागियों का यह सम्प्रदाय था। सरहपाद ने नग्न रहने वाले रोम-केश उखाड़नेवाले क्षपणकों के समूह की चर्चा की है।[४] कुछ लोग मयूर-पंख धारण करते।[५] बौद्ध श्रमणों के भी क्षेत्र भिक्षु स्थविर आदि भेद थे। सिद्ध-साहित्य में अनेक प्रकार के साधकों का संकेत प्राप्त होता है। कपाली कापालिक और कमाली की चर्चा आई है।[६] योगियों का प्रसंग

---

१ पैशुन्यबहुला लोके भविष्यति युग क्षये। (महा भा वन , १६)
शूद्रप्रायेषु वर्णेषु (भागवत १२।२।१४)
शूद्रप्रायास्तथा वर्णा भविष्यन्ति कलौयुगे। (वि पु ४।१।२१)
विप्राणामपि शूद्राचारत्वात्तैकवर्ण्य—माधेश भट्ट।
युग अधम्र्मे है जाती भाहाया शूद्र पद—जम।
जाति-पाँति बिन सब विसराई मन्त्र अमन्त्र तरे ला लाई—सूर सागर ४१५
२. आहरिय्हिं उद्धूलिअच्छारें सीस सु वाहिअ ए जड़ भारें॥ दो० ४
३ वही १
४ दोहा ८९ ८७
५. दोहा (टीका) पृ ११-१२
६ चर्या १ /२ १ /४ ११/२ ११/८ और १८/२

कम नही ।[१] सहज-पथी, सामी (स्वामी), भिक्षु, निरजन-लीन साधु, नाथ, तत्री और योगिनी का उल्लेख प्राप्त होता है। कापालिको में चक्री, कुण्डलधारी और कठी धारण करनेवाले व्यक्ति थे। योगीश्वरो का एक भिन्न सम्प्रदाय था। अवधूत उस समय भी साधु-सगठन मे महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। सत-साहित्य मे भी साधुओ के विभिन्न सम्प्रदायो का उल्लेख मिलता है। सबसे अधिक प्रभावशाली दल योगियो का था जिनसे सतो की बार-बार मुठभेड होती थी। गोरखपथी योगियो के प्रभाव की चर्चा सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य में प्राप्त है। तुलसीदास के साक्ष्य पर भक्ति को भगानेवाले गोरखनाथ हुए और कबीर स्थल-स्थल पर उनसे विवाद करते दिखलाई पडते हैं और हठयोग के स्थान में नारदीय भक्ति की प्रतिष्ठा करते हुए। इनके साथ शाक्तों का सम्प्रदाय था, जो विकृति की अवस्था तक पहुँच चुका था। इन शाक्तो के प्रति सामान्य रोष भक्ति-साहित्य में प्रकट हुआ है। कबीर-साहित्य में विभिन्न प्रकार के साधको और साधनाओ की चर्चा आई है। नग्न घूमनेवाले योगी, सिर का मुण्डन करानेवाले सिद्ध,[२] योगी, यती, तपस्वी और ब्रह्मचारी, शाक्त, बैरागी,[४] सहजिया,[५] निरजन पथी, मौनी, बनखण्डी[६] आदि भेद साधको के थे। कबीर-ग्रथावली के अनुसार भी इनके अनेक सम्प्रदाय थे।[७] जायसी ने भी इनके भेदो का वर्णन किया है। कबीर बीजक के अनुसार तो योगियो का सैन्य-सगठन तक था।[८] इन पथो और सम्प्रदायो के साथ मुस्लिम सतो, फकीरों और सूफियो के सगठन भी थे।[९]

साधु-सन्यासियों का यह दल सर्वत्र घूमता रहता और जन-साधारण को आतकित करता था। स्त्री की मृत्यु और सम्पत्तिनाश के कारण लोग सन्यासी हो जाते थे। चोरी-

---

१. दो० ६४,१०१ चर्या० १०/२, ११/५, २२/२, ३०/३, ४१/२ और ४२/५

२. स० क०, रागु गउडी ४, बी०, शब्द ३८

३. वही, गउड़ी १३

४. वही, गउडी ४७ और रागु मारू ८

५ वही, गउड़ी ४८

६. वही, गउडी ७०

७. मुनियर पीर डिगबर मारे, जतन करता जोगी।
जगल महि के जंगम मारे, तूर फिरै बलवती ॥
वेद पढ़ता ब्राह्मण मारा, सेवा करता स्वामी।
अरथ करता मिसिर पछाड्या, तूर फिरै मैमंती ॥
—क० ग्र०, पद १८७, पृ० १५१

जोगी जती तपी सन्यासी, अहनिसि खोजैं काया ॥—वही, पद १६२

८ बीजक, ६९वीं रमैनी।

९ पीरां मुरीदां काजिया, मुला अरु दरवेस।
कहाँ थे तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस ॥—क० ग्रं० पद २५७

बकैती आदि कर भी पकड़े जाने के भय से लोग साधु-सम्प्रदायों में सम्मिलित हो जाते अथवा तीर्थ-यात्रा को निकल जाते। चोर-डाकू आदि भी साधु-वेश धारण कर घूमते और अवसर प्राप्त होने पर अपना कार्य-साधते थे। अकाल के समय साधु-संन्यासियों की संख्या बढ़ जाती थी। गृहस्थी के झंझट के कारण अकर्मण्य व्यक्ति भी संन्यासियों के दल में आ मिलते और मौज उड़ाते। व्यवसाय नष्ट होने पर महाजनों के भय से और घर पर कर्कशा स्त्रियों के त्रास से संन्यासी बनने का मार्ग खुल जाता था। स्त्रियों के लिये और उनके विरोध के कारण भी लोग भागी बन जाते थे। साधु-संन्यासी की काम-वासना-तृप्ति का साधन थीं योगिनियाँ यदि से असंतुष्ट कामार्त्ता नव-यौवनाएँ और कुटनियाँ। भिक्षा लेते समय सुन्दरी स्त्रियों पर मोहित होना सन्त-मत से उन्हें वशीभूत करना सहज और स्वाभाविक था। ऐसी स्त्रियों के कारण साधु-संन्यासी मार्ग छोड़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।[1] जो घर त्याग कर विरागी होते थे वे भी जोड़-बटोर हो रहे थे और स्त्रियों से अवैध संबंध स्थापित कर वर्ण-संकरों की संख्यावृद्धि कर रहे थे। इन संतानों को किसी अन्य परिवार में परिपालित होने के सिवा और कोई चारा नहीं था।[2] अवैध संतानें अलग-अलग जातियों की सृष्टि कर रही थीं। आश्रम-च्युत संन्यासी अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था उसकी संतति भी दीक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं रखती थी। ऐसी संतति को वर्णाश्रम से च्युत संस्कारहीन और नीचकुलोद्भव माना जाता था एवं शास्त्रानुसार मृत्यु ही उसके लिए एकमात्र प्रायश्चित्त थी।[3] दीक्षा नहीं प्राप्त होने पर भी ऐसी संतानों में अनेक प्रसिद्ध भक्त और पाण्डित्यपूर्ण हुए। ज्ञानदेव को उनके बड़े भाई निवृत्तिनाथ ने दीक्षित किया क्योंकि ब्राह्मणों ने दीक्षा देने से अस्वीकार कर दिया था। नाथ सिद्ध-सम्प्रदाय में उनका दीक्षित होना सरल था। आश्रम च्युत ब्राह्मण संन्यासियों के विशाल पुत्रों ने विभिन्न सम्प्रदायों में दीक्षित होकर उन शास्त्रानों को शास्त्र सम्मत सिद्ध किया। निम्नवर्गीय भक्ति इस प्रकार के विद्वानों का सहयोग पाकर शास्त्र सम्मत हो गई। साधु-संगठन के कारण अनेकानेक जातियाँ बनीं। सराक (श्रावक), गोसाईं, बैरागी, जोगी अतीत विरक्त कुनबी लिंगायत कपाली आदि जातियाँ साधु-संगठनों के परिवर्तित रूप हैं। जाति संगठन की विभिन्नता के कारणों में पूर्व-परिचित धर्मों के विभिन्न विभाजन बौद्ध-जैन सम्प्रदायों के गृह-त्यागी श्रमण और श्रावक एवं गृहस्थों के सम्बन्ध, पेशे की विभिन्नता अन्तर्जातियों के विकास विभिन्न जातियों की संकर-संतति और साधुओं के संगठन का गृहस्थ रूप था। साधु-संगठनों का पारस्परिक विरोध उनके गार्हस्थ्य रूप में भी बना रहा। अन्यत्र यह परिलक्षित किया जा चुका है कि साधु-संन्यासी के नाते उन्हें जो सफलता प्राप्त थी गहस्थाश्रम में प्रवेश के कारण नहीं रही। इस तरह हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने की चेष्टा इनमें लक्षित होती है। राजनैतिक कारणों और नीचजन्मा व्यक्तियों की राजत्व प्राप्ति से यह धारणा और दृढ़ हुई। सामाजिक संगठन में इन गृहस्थ साधु-संगठनों का व्यापक प्रभाव पड़ा।

---

१ ब्रह्म-स खा पर ७२१ पृ १८७

२ दासबोध, कबीर दादू नामदेव आदि की कथाएँ।

३ भक्त ज्ञानेश्वर प्रसंग, और भक्त विजय (अध्याय ८, पृ० ११७) संत तुकाराम (प्रथम खीथरे पृ १२) मिरिर्लियम इन महाराष्ट्र (अध्याय २ पृ ३१)

जन-जीवन

यह तो स्पष्ट है कि सामान्य जनता में हीनवर्ण और सामान्य सास्कृतिक चेतना के व्यक्तियो का बाहुल्य था और इनका जीवन विलासी आभिजात्य वर्ग की सेवा में व्यतीत होता था। मुस्लिम आक्रमण का प्रत्यक्ष प्रभाव आभिजात्य नागर जीवन पर पडा। विशिष्ट परिस्थितियो में पूरी की पूरी जाति ने भी धर्म-परिवर्तन किया किंतु उनके सामान्य जीवन, रीति-नीति, सस्कार आदि में अपेक्षाकृत कम ही परिवर्तन हुआ। धर्म-परिवर्तन के कारण सभव है हिन्दू नागरिको के अत्याचार कुछ अशो में कम हो गए हो किंतु उनका निर्बाध शोषण चलता रहा। हिंदू अधिकारी का स्थान सुलतान के स्थानीय शासक ने और पण्डितो का स्थान काजी, मुल्ला, शेख, सैयद ने लिया। साधारण जनता के प्राण न तो बेगार से छूटे और न इन्हें समाज में सम्माननीय स्थान प्राप्त हो सका। जिस आर्थिक स्थिति के आधार पर सामाजिक स्तर में उच्चता प्राप्त होती है, उसका साधारणतया अभाव ही इनके जीवन में रहा। कुछ व्यक्तियो ने इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था मे उच्चता का विधान किया[1] किंतु इनकी सख्या नगण्य थी। अमीर खुसरो के अनुसार निर्धन कृषको की आँखो से उमडनेवाले रक्ताक्त आँसुओ की बूँदें राजकीय मुकुट की मणियाँ थी।[2] नागरिक जीवन की विलासिता और तत्कालीन समाज की अव्यवस्था के कारण कुछ पेशेवर जातियो का सौभाग्य पलटा। इस काल मे तलवार, रेशमी कपडो, सुगधियो के व्यापारी और पेशा करने-वाली जातियो एव राज, सगतराश, तम्बोली आदि का सम्मान बढा। अन्य पेशा करनेवाले व्यक्तियो से इनकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी।

गाँवो का जीवन अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण वातावरण में व्यतीत होता था किंतु उनकी आर्थिक स्थिति सतोषजनक नही थी। कर वसूल करनेवाले व्यक्ति यमदूत की भाँति प्राण हरण करनेवाले थे। जो कुछ जमा-पूँजी रहती उसे दीवान के समक्ष उपस्थित करना पडता था। दीवान के बुलाने की उपेक्षा नही की जा सकती थी। बाकी रहने पर घर-जमीन से मुक्ति मिल जाती थी। जिसे धरती, सतान और स्त्री नही, वही सुखी था, कौडी-कौडी कर जोडा हुआ धन पराया हो जाता था।[3] सारा जीवन अभाव और दु खो

---

१ पेशाइन कस्साब बूदम बाद जान गस्तम शेख।
गल्ला चू ऐ जान शबद इम्साल सैय्यद मेशवम्।।
(पहले साल मैं कसाई था, दूसरे साल शेख हुआ, यदि इस साल गल्ले का दाम बढ़ा तो मैं सैयद हो जाऊँगा।)—कुक के ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव दि एन० डब्लू० पी० एण्ड अवध (भाग ४) के ३१५ वें पृष्ठ पर उद्धृत।

२. कुल्लियात-ए-खुसरो, पृ० २०४ ५।

३. अमलु सिरानो लेखा देना। आये कठिन दूतजम लेना।।
चलु दरहालु दीवानि बुलाइआ। हरि फुरमानि दरगह का आइआ।।
करउ अरदासि गाव किछु बाकी। लेउ निबारि आज की राती।।
—मालु धनु जोरिया भइया पराइआ।।
—स० क०, रागु सूही ३

न थे। तेल के अभाव में सिर पर जटाएँ बन जाती थी।[1] सारा परिवार रोजगार करता, परिश्रम करता फिर भी भरपेट अन्न मुहाल था।[2] खाने को कठिनता से सत्तू मिलता और पहनने को फटे-पुराने जीर्ण वस्त्र थे। सोने के लिए टूटी-सी मचान होती थी।[3] जन-जीवन कठिनाइयों का ही जीवन था जिसके चित्र आज भी लोक जीवन में प्राप्त है।

नगर-जीवन

नगर-जीवन अपनी आशकाओ, महत्वाकाक्षाओ और विलासिता से पूर्ण था। यह लक्षित किया जा चुका है कि मुस्लिम-आक्रमण के कारण यही जीवन सबसे अधिक विश्रृंखल हुआ था। मुस्लिम आक्रमण के पूर्व अनेक समृद्धशाली नगर थे, जहाँ से विलासितापूर्ण जीवन के साथ साधारण और ग्रामीण जनता के जीवन का कोई मेल नही था। व्यापार धनी बनने का सर्वश्रेष्ठ साधन था, अत ब्राह्मण तक व्यापार करने लग गये थे, मृच्छकटिक का चारुदत्त ब्राह्मण ही था, जो केवल व्यापार ही नही करता था बल्कि सेठो के मुहल्लो में रहता भी था। रईसी विलास इन नगरो के लिए निजी वस्तु था। धनी पुरुषो के आवास अलग मुहल्ले में होते थे। कला का गहरा सबध इसी वर्ग से था। द्रव्य का अधिक महत्व इन नगरो में था। राजा के सबंधी अधिकारी थे और धांधली करते थे। न्यायाधिकरण उनकी सहायता करता था। नगरो के वैभव-विलास का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन साहित्य में उपलब्ध है। साधारण धारणा के अनुसार मुस्लिम शासकों के जीवन और विलासिता का अन्योन्याश्रय सबध है किंतु नगर-जीवन की उन्मद विलासिता और विलास-

---

१. शूली जातः कदशनवशादभैक्ष्ययोगात्कपाली
वस्त्राभावाद्विगतवसन स्नेहशून्यो जटावान्।
इत्थ राजस्त्व परिचयादीश्वरत्व मन्याप्त
नद्यापि त्व मम नरपते! ह्यर्धचन्द्र ददासि ॥

(भोज के सम्बन्ध की किंवदती, राजा भोज, पृ० ३५७)

२. सुग्गे से परदेशी अपने घर का समाचार पूछता है, उस पर सुग्गे का उत्तर है—
माँई तोहरा कूटनी, बहिनी तोरा पिसनी।
कि जइथा कइली ना, तोरा दउरी दोकनिया ॥

—एक भोजपुरी गीत।

३ बाबा घरे रहलीं त दूध भात खइलीं,
अरे सइयाँ घरे सतुआ मोहाल।
बाबा घरे रहिलीं त चुनरी पहिरलीं,
अरे सइयाँ घरे लुगरी पुरान।
बाबा घरे रहलीं त सजिया डेसवलीं,
अरे सइयाँ घरे टुटही मचान।—भोजपुरी गीत।

प्रियता के चित्र अपभ्रंश-साहित्य में अंकित हैं। भविसयत्त कहा[1] में गयउर (गजपुर) के विलासी जीवन की स्पष्ट झाँकी मिलती है। इस ग्रंथ के अनुसार कोई व्यक्ति उसके वर्णन में समर्थ नहीं था।[2]

नगरों के बाहर विलासोपवन थे, जिनमें अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे फूल खिलते थे।[3] इन उपवनों में भ्रमर और अनेकानेक पक्षी क्रीड़ा करते थे।[4] इन नगरों में ऊँचे-ऊँचे प्रासाद और ऊँची अट्टालिकाएँ होती थीं।[5] प्रमोदवन पुष्पवाटिका कृत्रिम नदी और झरने फव्वारे, हिंडोले और फूलों की सेज आदि विलास की सारी सामग्रियाँ उपलब्ध थीं।[6] राज-पथ पर भयानक भीड़ होती थी मनुष्यों के सिर से सिर टकराते थे। चलते समय स्त्रियों की चूड़ियाँ टूटती थीं। ब्राह्मण का चन्दन वारांगना के हृदय से लगता था और वेश्याओं के पयोधरों से यतियों का हृदय चूर-चूर होता था। लोग भीड़ के मारे पिसते थे। राज-पथ विशाल जन-समुद्र की भाँति दीख पड़ता था।

बाजारों में भयानक भीड़ होती थी वाणिज्य की अवस्था अच्छी थी एवं सोना-चाँदी मणि-माणिक्य कपूर केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों का विक्रय अधिक था।[8] वणिक वर्ग

---

१ धनपाल भविसयत्त कहा; गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज (२), सम्पादक—सी डी दलाल और पाण्डुरंग दामोदर गुणे।

२ तें गयउर को वण्णिवइ समत्थु—वही

३ पप्फुल्लिय कुसुमिय ललिय उववन कुसुम चम्पक सोहिआ।—कीर्तिलता पृ० २७
वन अँबराउ बास कहुँ पावा—पा म० ३७।
पुनि फुलवारी लागि चहुँ पासा। बिरिछ बेधि चंदन भै बासा।—वही, ३२

४ भमरत्थाय विगुद महुअर सद्द मानस मोहिआ।—कीर्ति० पृ २७
बसहिं पंखि बोलहिं बहु भाषा। करहिं हुलास देखि कै साखा॥—पा० म ।

५. ऊँची पवरी ऊँच अवासा।—पा म , ३९

६ भवेश्वरसूरिकृत संयममंजरी की टीका (भविसयत्तकहा की भूमिका ६ ४ पर उद्धृत।) और कीर्तिलता पृ ३२

७ प्रथम कीर्तिलता पृ २१ और उसमान—
पुनि झुमिरु सिधि मधुपुर लागा। बनबन भाँति परम सुख पागा॥
जो कछु चाहिय सबै बिकाई। निरखत देखि मीत मन पाई॥
कहुँ पंच अमरित जेवनारा। कहुँ सुगन्धि करें मनुहारा॥
कहुँ नाच कहुँ कथा अनूपा। कहुँ बिप्रन पाठ सखिर रूपा॥
—उसमान : चित्रावली (ना० प्र० स० पृ ११)

८. सोनारन्ह मह मण्डप बराखा कनक सिरि मोहहिं कर चाख।
रतन पदारथ मानिक मोती, हीरा लाल सो अनबन जोती॥
—पा म में सिंहलद्वीप वर्णन।
और कीर्ति , पृ २८।

धनोपार्जन के किसी साधन को हेय अथवा नीच नही समझता था।[1] दूकानो पर सुन्दरी स्त्रियाँ बैठ कर विक्रय करती तथा वैसी दूकानो पर भीड भी स्वाभाविकतया अधिक होती थी। सुखपूर्वक क्रय-विक्रय के साथ घाते में रसिकतापूर्ण बातें मिलती थी।[2] आश्चर्य नही इन दूकानो पर वस्तुओ के क्रय-विक्रय से अधिक कटाक्षो और चितवनो का विक्रय होता था। सेठ-साहूकार वैभव के मद में चूर होकर गद्दियो पर बैठते थे, इनके आश्रम मे कलाविद् आश्रय प्राप्त करते और इनकी चाटुकारिता करते। नर्तक, गायक और कवि का सम्मान इनके यहाँ अधिक था।[3] हिंदू राज्यो के विशृङ्खल होने के कारण हिंदू कलाकार इनके यहाँ आश्रय पाते थे। इन धनिको के पुत्र उच्छृङ्खल होते, हाट-बाट-गलियो का चक्कर काटते और नागरिको के भय का कारण बनते थे।[4] आशिकी का बाजार गर्म था। नवयुवको की टोलियाँ वेश्यालयो के चारो ओर चक्कर काटती वेश्याओ के कटाक्ष इनके हृदय वेधते थे। इनके सजे-सजाए प्रकोष्ठ होते थे और दिव्य वस्त्रो से सुसज्जित होकर वेश्याएँ वहाँ बैठती थी। सखियाँ इन्हें छेडती, चतुर हास-विलास-पटु और विन्यासपूर्ण ढग से सजी वेश्याएँ आकर्षण का कारण थी।[5] कानो में आभूषण डोलता था और मुख में ताम्बूल लाली भरता था। हाथो की वीणाएँ मनोमुग्धकारिणी थी। कितने धनी युवक वहाँ जाकर फँसते और सर्वस्व गँवाकर पश्चाताप की आँच में तपते थे।[6] मीर, वली, सालार और ख्वाजा सड़को पर घूमते थे। विद्यापति के समय तक जौनपुर आदि मे मुसलमानों की सख्या अधिक हो चुकी थी। शराब और भग का इन्हें व्यसन लग चुका था। इनका स्वभाव बडा क्रोधी होता था, वे अकारण नाराज होते और कडवे वचन बोलते थे।[7] अफसर घूसखोर थे। धन ऐंठने के लिए धनिको को तग करते और धन-प्राप्ति के पश्चात् छोड देते। घूस में प्राप्त सामग्री का आपस में बँटवारा किया जाता था। बडे-से-बडे अधिकारो को भी घूस की चाट थी।[8]

---

१. "भविसयत्त कहा" तथा
बनियाँ बानि न छोडै पसध्या मारे जाय।
पसध्या मारै जाय चूरि को मरम न जानी॥
निसु दिन तोलै घाटि यह परी बानि पुरानी॥—पल० बा० (भाग १) पद १६०

२ कीर्ति० पृ० ३२

३. बैठे साहु बिभौ मदमाति। गावहिं गीत कलावत पाँति।—५५८
धुरे पखावज बाजै ताति। सभा साहिजादे की भाँति॥
दीनहि दान अखडित नित्त। कवि बदीजन पढहिं कवित्त॥ ५५६
—अर्द्धकथानक (बनारसीदास)

४. भविसयत्तकहा तीओं सन्धि, घत्ता ५, पृ०, १५

५. कीर्ति०, पृ ३४

६. जायसी ग्रन्थावली, ३८

७ कीर्त्ति० पृ० ४०

८. हाकिम कौं दीवान कौ कोतवाल के गेह।
जथाजोग सबकौं दियौ, कीनौ सबसौं नेह॥—अ० क०, पृ० ४६।५४१

धर्मान्ध-मुसलमान भी कम अत्याचार नहीं करते थे। रास्ते में चलते व्यक्तियों को बिना किसी विचार के बेगार में पकड़ लेते, ब्राह्मण के माथे पर बछिया चढ़ाते, उनके माथे का टीका चाटते एवं जनेऊ तोड़ देते थे। साधारण से साधारण मुसलमान भी सम्भ्रान्त हिन्दुओं को दुत्कार देता था।[1] आक्रमण के समय नागरिक और धनिक वर्ग का जीवन सर्वाधिक संकट और संत्रस्त होता था। धनिक वर्ग अपना धन छिपा देता, स्वयं निर्धन का सा वेश धारण कर लेता था। राज्य-परिवर्तन के समय सेठों पर सबसे अधिक विपत्ति आती और बस्तियाँ श्मशान-सी लगती और नगर उजाड़ हो जाता था।[2]

मृच्छकटिकम् के प्रमाणानुसार नगरों में द्यूत-गृह स्थापित थे और वहाँ चोरों एवं मद्यपों का अखाड़ा जमता था। वेश्याओं की संख्या और महत्ता नगण्य न थी। नैतिकता का अभाव हो रहा था, यहाँ तक कि ब्राह्मण भी सेंधमार चोर हो गए थे। शर्विलक इसका प्रमाण है। वैभव-विलास के साथ इन नगरों में दीन-दुखियों और धनहीन व्यक्तियों का अभाव नहीं था। अधिकारियों के सेवक तक ऐंठ और अहंकार में चूर रहते थे।[3] सच्चे और योग्य व्यक्तियों का सम्मान नहीं था।[4]

आभूषण

आभूषणों का व्यापक प्रेम इस युग में देखा जाता है। केवल स्त्रियाँ ही नहीं पुरुष तक आभूषण धारण करते थे। बालकों के अंगों को आभूषण से सजाया जाता था। नजर लगने के डर से काजल लगाना भी आवश्यक था। उत्तर मध्यकाल के चित्रों और मूर्तियों में अलंकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट है। भारत-कला-भवन में संगृहीत चित्रों की जो प्रतिलिपियाँ 'भारत की चित्र-कला' में प्रकाशित हैं उनमें सिर, ललाट, कण्ठ, नाक, पंजा, कमर और पैरों के आभूषण हैं जिनमें कंठमी (कण्ठा) चन्द्रहार और एक लड़ी स्पष्ट है। राजपूत और पहाड़ी शैली के चित्रों में भारतीय आभूषण चित्रित हैं। उत्तर मध्यकालीन एस वे

---

१ कीर्ति, पृ ४४

२ भयो बबर जौनपुर माँझ, प्रजा अनाथ भई बिन साँझ।
पुरजन लोग भए भयभीत, हिरदै व्याकुलता मुख पीत॥
—अर्धकथानक पद २४७

द्रष्टव्य—वही, पृ २४ पद ११२-११३ और पृ ४१ पद ४६३-६४ और ४६७ ६६

३ ऐंठी बाल, पाग सिर ऐंठी, ऐंठे पावों। सू सा, पद १ १
हीं बड़ हीं बड़ बहुत कहावत सूधैं कहत न बात। वही पद १६२

४ जाहिर जहान में जमानो एक भाँति भयो।
बेचिये बिबुध-धेनु रासभी बेसाहिये॥—कवि ७६
चतुर चौहरे को बनाव बाग आरम्भ।
हँसिबे को कोई गुरुजन आर्घ्यिय है॥—वही पद ८८

प्राप्त शिव-विवाहवाली मूर्ति में सिर, कान, कमर, हाथ-पैर और उँगलियो के आभूषण हैं। हाथो के कई प्रकार के आभूषण उनमें हैं। वर्ग-स्तरों के कारण आभूषणो के आकार-प्रकार, स्वरूप और सख्या में अन्तर आता था। कुरूपा स्त्रियो में अपने को अलकृत करने की प्रवृत्ति प्रबल दीख पडती है। आभिजात्य वर्ग की स्त्रियाँ केशो को सजा-सँवारकर मोतियो अथवा फूलो की मालाओं से मण्डित करती। कानो को कर्णफूल और तरकी घेरते थे, कुछ लटकनेवाले कर्णफूल भी होते थे। नाक में नकवेसर शोभा पाती थी, जिसमें मोती पिरोए होते थे।[1] कठ में मुक्ताओ की मालाएँ होती थी जिनमे अन्य रत्न भी जडे हुए रहते थे। तीन प्रकार की मालाएँ होती थी, कण्ठ के सटा हुआ कण्ठहार होता था जिसे कठश्री भी कहा जाता था। दूसरी माला हृदय तक लटकती थी जिसमें वर्तुलाकार रत्नखचित आभूषण हुआ करता था, जिसे चौकी कहा जाता था। कमर तक लटकती हुई माला होती थी, जो एकलडी, दुलडी अथवा तिलडी होती थी। कठश्री की भी कई लडियाँ होती थीं, पाँच सात की सख्या अप्रचलित नही थी।[2] ललाट पर शीशफूल की शोभा थी, "आड" का भी प्रचलन था। कण्ठ में हँसली के प्रकार का आभूषण भी होता था और कानों में कुण्डल। शीशफूल और कुण्डल दोनो मे रत्न रहते थे।[3] भुजाओ में बाजू (बाजूबद) और टाड, कलाई में कगन और पहुँची एव चूडियाँ होती थी।[4] उँगलियो में मणि मण्डित मुद्रिकाएँ पहरी जाती थी।[5] कमर में फुदीदार नीवी और किंकिनी पहनने का प्रचलन था।[6] कमर में घुँघरूदार करधनी और क्षुद्र घटिका भी पहनी जाती थी।

---

१. मोतिन माल जराय कोटि कौ, करनफूल नकवेसरि।—सूर० २१५८
वेसरि में मुक्ता—वही, ३२३१
वेसर बनी सुभग नासा पर मुक्ता परम सुढार।—सू० सा० ३२२८
द्रष्टव्य—भारत की चित्रकला, फलक ८ ग

२. कठसिरी उर पदिक विराजत गजमोतिन के हार। सू० सा०, ३२२८
कंठसिरी मुक्ताइल माला सोहै अभरन।—जा० ग्र० १११, पृ० १६४
कठसिरी दुलरी तिलरी तर और हार एक नौसरि।—सू० सा०, २१५८
द्रष्टव्य—भारतीय मूर्तिकला, फलक २३।

३. स्रवन समीप दुइ दीप सँवारे। कुडल कनक रचे उजियारे॥
मनि कुंडल चमकहिं अति लोने। जनु कधौं लौकहिं दुहु कोने॥
—जा० ग्र०, ११०, पृ० १६३

४. बाहू कंगन टाड सलोनी। डोलती बाँह भाउ गति लोनी॥—वही
द्रष्टव्य—भारतीय मूर्तिकला, फलक २३।
बहु ठोंकर ककन बाजूबद, एते पर है तौकी।—सू० सा० २१५८
रत्नजटित गजरा बाजूबद, सोभा भुजनि अपार। वही, ३२२८

५. और पहिरे नग जरी अगूठी।—जायसी

६. कनक किंकनी—नूपुर कलरव—कूजत बाल मराल।—सू० सा० १६७३

नरखों के आभूषण थे पायल नूपुर बेहर और बिछिया। बिछिया रत्नजटित भी होती थी।[1] ब्रज-नारी की शोभा का वर्णन करते हुए सूरदास ने आभूषणों का ब्यौरा ही उपस्थित कर दिया है।[2] बालकों के आभूषणों में बघनखा कठुला आदि अधिक प्रचलित थे। तुलसी की मर्यादा राम को अधिक अलंकृत नहीं कर सकी अतः "पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये" द्वारा ही संतोष किया।

जायसी के सोलह शृंगार और बारह आभरण के वर्णन में गड़बड़ी है। जायसी के समय में कानों में झुमके नाक में कील, गले में माला हाथ में पहुँची और कंगन कमर में करधनी और पावों में पायल एवं बिछुआ अधिक लोक प्रिय थे। प्राचीन शीशफूल, टीका, बेसर आदि का प्रचलन कुछ-कुछ कम हो चला था। स्नान करना चंदन लेपन, सिंदूर तिलक अंजन लगाना पान खाना आभरण नहीं बल्कि शृंगार थे। जायसी ने षोडश शृंगार का शरीर की षोडश कलाओं के साथ एकीकरण कर दिया है। दीर्घ केश अंकुश नयन और ग्रीवा लघु दशन कुच ललाट और नाभि सीधा नासिका कमर, पेट और अधर, एवं सुभर कपोल नितम्ब कलाई और जाँघ ये सोलह कलाएँ थीं।[3] आभरण का अर्थ आभूषण न रहकर परिष्कार और भोगाय्य विधायक मण्डन हो चुका था।[4] अंग-संस्कार की परिकर्मा अथवा संस्कार कहते थे।

साधारण जीवन में सोलह शृंगार और बारह आभरण का अन्तर किसी दिन नहीं था। इनके विविध स्वरूपों के ब्यौरा विवेचन की न तो सामान्य जीवन को अपेक्षा थी और न अवसर ही। कबीर ग्रंथावली के अनुसार पायल और बिछुआ की चलन के साथ काजल, अंजन और सिंदूर का उपयोग था। सोलह शृंगारों से इन निम्न चेतना-स्तर के संतों का

---

१ चूरा चाँद सुवस उठियारा। पायल बीच करहि झनकारा॥
  अनवट बिछिया नखत तराईं। पहुँचि सकै को पायन ताईं॥
  — जा ग्रं, नखशिख खंड २

२ बनी ब्रजनारि शोभा भारि।
  बानि बेहरि, चारु लहँगा अंग रँग-रँग सारि।
  किंकिनी कटि क्वणित कंकन कर चुरी झनकार॥
  हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिन हार।
  कंठश्री दुलरी बिराजति चिबुक स्यामल बिंदु।
  सुभग बेसरि ललित नासा रीझि रहे नँद नंद॥ (शेष उस पार)
  श्रवन वर ताटंक की छवि और ललित कपोल।— सू सा १९९२

३ जायसी ग्रंथावली ९ ११८/१

४ अर्थस्वराभरणं परिष्कारो विभूषणम् मण्डनं च—अमरकोष, मनुष्य वर्ग ६/१ १

परिचय अधिक नही ।[1] नानक के अनुसार कठों में हार, हाथ में कगन, अंगुली में मुँदरी, ललाट पर पट्ट (माँगटीका) आदि आभूषण धारण किये जाते थे । दाँतों में मजन (मिस्सी) और आँखों में सुरमा का प्रयोग होता था ।[2] आभिजात्य वर्ग का विभेद बना हुआ था, रागमाला की नायिकाओं में अलकरण की जैसी प्रधानता है, वैसी राजपूत कलम की काँगडा-शैली में नही । सूरदास को इनका जितना विस्तृत ज्ञान है, उतना कबीर और नानक को नहीं ।

इन अलकारो के प्रति स्त्रियो का असाधारण आकर्षण था किंतु निर्धनता और आवश्यक द्रव्य के अभाव में इनका शौक पूरा नही होता था । अकाल के समय अथवा तंगी आने पर यदि अलकारो को बेचना होता तो वे अधिक दु खी होती, उनका हृदय विदीर्ण हो जाता । ऐसी अवस्था में पति की विवशता और साधारण जीवन की विषमता का करुण चित्र स्वत. अंकित हो जाता । सौ-सौ बहाने बनाकर भी स्त्रियाँ इन आभूषणो की रचा करना चाहती ।[3] कई अवस्थाओ में उनका आभूषण-प्रेम उनके पतन का कारण होता । धनिको और धनी साधु-सन्यासियो के भुलावे में वे आ जाती । शृङ्गारो से सजी युवतियो पर राजाओ, अधिकारियों और योगियो की दृष्टि पडती और उनके आगे प्रलोभन का जाल फैलाया जाता । हाट घाट पर इनसे छेड-छाड होती ।[4] आभूषण-प्रेम विपन्नता को और अधिक तीव्र बना देता था ।

घरेलू जीवन

वैभव-विलास की अबाध धारा में तरगायित जीवन और दरिद्रता की आँच में तपनेवाले सामान्य जीवन मे कोई तुलना नही हो सकती ।[5] एक ओर तो धनिको के ऊँचे-

---

१. का चूरा पाइल झमकावै । कहा भयो बिछुवा ठमकावै ।।
का काजल स्यंदूर कै दीयै । सोलह सिंगार कहा भयो कीजै ।।
अजन मजन करै ठगौरी । का पचि मरै निगौडी बौरी ।।
—क० ग्र०, पद १३६, पृ० १३२-३३

२. आ० ग्र०, आसा घरु ५, महला १, पृ० ३५६ ।

३. धनिया काढ नहि नाक के नथियवा, त खरची चलाइब बलमू ।
पियवा हँसे लगिहै दरबारे देयदवा, त नथिया बिकइले बलमू ।—भोजपुरी गीत

४ छेले नष्ट हाटे । बउ नष्ट घाटे ।—बगाली कहावत
मैले फुल्ल के अगरो धीश्रा बुतैलो सगरो टीया '—भोज० कहावत

५ एकनि दीना पाट पटबर, एकनि सेज निवारा ।
एकनि दीना गरे गूदरी, एकनि सेज पगारा ।। क० ग्रं०
कोई भीखकु भीखिया खाइ । कोई राजा रहिआ समाइ ।
किसही मानु किसे अपमानु । ढाहि उसारे घरे धियानु ।।
—नानक १, रागु आसा ४, पृ० ३५४

ऊँचे प्रासाद थे जिनके भीतर प्रवेश पाने का भी अधिकार नहीं था। एक ओर मदन-विमुग्धित प्रासाद थे जिनके जीवन से अप्सरा-लोक की कथाएँ विकसित की जहाँ वैभव का उन्मद प्रदर्शन और विलास की उन्मादपूर्ण फेनिल जलधारा प्रवाहित थी[१] तो दूसरी ओर जर्जर घर था बहेरी तक टीकी नहीं और थोलती धरती रही थी कि अब गिरी कि तब गिरी।[३] वर्षा में ऐसे घर की दुर्दशा कल्पना की वस्तु है। मिट्टी का घर, फिरहर टूटी और छाजन से छन-छनकर आती हुई वर्षा की बूँदें ऐसे घर में रहने से तो बाहर मैदान में रहना अच्छा।[४] जहाँ धर्म की लिप्सा प्राप्त ऐश्वर्य के उन्मद प्रदर्शन में उमरती वहाँ दरिद्रता किसी प्रकार संतोष के क्रोड़ में सहज आनन्द की ही कल्पना कर सकती है।

व्यवसाय की अस्थिरता तथा आवश्यक आय के अभाव में जीवन दुखद विषम और विषादपूर्ण था। साहित्य की प्रभावपूर्ण स्थिति की विषमता और विषमता के कारण निम्नस्तर के जीवन में पारिवारिक कलह की प्रचुरता थी। गार्हस्थ्य जीवन में

---

१ द्रष्टव्य—जायसी-ग्रंथावली चित्तौरगढ़-बरनन,—११४ ४६, पृ ४९२-९३
तथा—स्थाने-स्थाने देखे सब अपरा नगर। सकल नगरे देखे उच्च-उच्च घर॥
सुवर्नेर घर सब पताका रचित। सकल देखीर लोक रतने भूषित॥
पाथरेर सकल देखे नार नाना रंग। प्रति घर द्वारे देखे हिरण्मेर दंत॥
अन्य-अन्य राजनगर करिया बाखानि। सुवर्नेर कलसे सम्बलोक ताल धानि॥
—डेल करयसुरेश कृत गोरख विजय, पृ ११

३ घर चाल री बहीड़ो टेटी, ओलोली घरराइ। क ग्रं, पद २२ पृ ९९
टूटी छाति मेघ जल बरसै।—ए ग्रा २१
द्रष्टव्य—भक्त विजय भाग १ अध्याय ११, पद २८, १ ११

४ अब न रहूँ नारी के घर मैं इन मैं बाइ रहूँ मिलि हरि मैं।
छिगहर घर अरु झिगहर टाटी घन गरजत कंपै मेरी छाती।
—क ग्रं पद २७१, पृ २८१

गुरुनीप—लिथ विदठी किंचर बीखा छिगहर, थाला बुद्धा कंपेसा।
जद पच्छा आवद सभो बाहद सरचा दीसा मंपेसा॥
जद अदुरा करद निसा हाशद पेरे आगी नपिछा।
वर पाखी संमरि, किसे मितरि, अप्पा अप्पी सु बकमा॥
जमर—ह का भा, १ ३१४

(कबीर के उपर्युक्त पद में यद्यपि 'नारी का घर' आया है किन्तु प्रतीकत्व के भीतर से सामान्य घरों की दुरवस्था विचित है।)

प्रभावपूर्ण विवशता रही।[1] कबीर-पत्नी को मानसिक सताप है कि कबीर को ताना-बाना नही सूझता और हाथ में माला ले रक्खी है। साधु-सत आकर कार्य में और बाधा डालते हैं, इन्हें भगाना सभव नही होता। इस जीवन में कभी सुख नही मिला।[2] अन्न का बडा महत्व था, इसी के कारण ज्ञान छांटा जाता, और ध्यान धारण किया जाता था।[3] पेट बडा वैरी था, इसी के कारण दूसरे व्यक्तियो की अधीनता स्वीकार करनी पडती। आँख के बिना काम चल सकता था, शय्या का अभाव भी अधिक कष्ट नही देता किंतु जब तक पेट में अन्न नहीं, तब तक चैन कहाँ![4] दुखी व्यक्ति जहाँ जाता है, वही दुःख पाता है, कही उसे चैन नही, शान्ति नही।[5] सारा परिवार दरिद्रता के कारण बेहाल रहता था, आय बढ़ाने की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ जाती थीं।[6] ऐसे व्यक्तियो को

---

१ गिरहस्थी में जब रहे पेट को रहे हैरान।
पेट को रहे हैरान तसदिया से मिल्यौ अहारा।
साग मिल्यौ बिनु लोन रही तब ऐसी धारा॥
—प० सा० बा० (भाग १), पद २४२, पृ० १०८

२. ताना बाना कछू न सूझै ····
जब की माला लई निपूते तब ते सुखु न भइयो।
—स० क०, रागु बिलावलु ४, पृ० १५५

३. सलोकु चरपट नाथ के ३, पृ०, २०
पेट भरौं राम रावरोई गुन गाइ कै। तुलसी, क० उत्तर ६१।

४. पै यह पेट मरा बिसवासी, जेइ सब नाव तपा सन्यासी।
जो न होत अस बैरी, केहुन केहु के आस॥
—जा० ग्र०, पद्मा० (बनजारा खड) ७, पृ० ३७

पेट को पढ़त गुन गढ़त चढ़त गिरि,
अटत गहन-बन अहन असेट की।
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट को ही पचत बेचत बेटा-बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें,
आगि बडवागि तें बडी है आगि पेट की।—तुलसी, क० उत्तर ९६

५. लै घरि जाहिं तहाँ दुख पइये, बुधिबल कछू न बसाई।
—क० ग्र०, पद १९३
दुख संताप कलेस बहु पावै, सो न मिलै जे जरत बुझावै।—वही, रमैणी

६. स० क०, रागु गउड़ी ५४, पृ० ५७।

कभी-कभी कुछ धन प्राप्त हो जाता तो वे पृथ्वी में गाड़ कर रखते थे।[1] उदर-पूर्ति के निमित्त लोग कर्म अकर्म का विचार त्याग चुके थे।[2]

इस आर्थिक स्थिति के कारण घरेलू जीवन शान्तिमय नहीं था।[3] अशान्तिपूर्ण वातावरण के भय से पुरुष घर के भीतर नहीं जाना चाहता था, बाहर-बाहर ही रहता था।[4] घर घर में कलह और वैमनस्य का राज्य था। पिता-पुत्र पुरुष-पत्नी सास-बहू और ननद भावज के सम्बन्ध सुखकर नहीं थे। पुत्र के निठल्लेपन के कारण माता रोती है कि बच्चों का भरण-पोषण कैसे होगा?[5] घरेलू झगड़ों का करुण चित्र संत-साहित्य में मिलता है। तुकाराम ने अपने कटु अनुभवों का वर्णन अपने एक अभंग में किया है,— संसार में पीड़ा हुई इसलिए घर छोड़ दिया ढोरों को भगा दिया। जब कुछ पूरा न पड़ा तब वैसा का वैसा ही रह गया। जो कुछ थोड़ा बहुत धन था वह पूर्णतया नष्ट हो गया। भाग्यहीन हो जाने के कारण स्त्री-पुरुष भाई सबका नाता और स्नेह छूट गया। लोगों को मुख दिखाते न बना अतएव कोनों और जंगलों में रहने लगा और इस प्रकार एकान्तवास का प्रेम बढ़ गया। पेट भरने में बड़ी तंगी हुई।[6] निठल्ले पतियों पर प्रौढ़ा पत्नियों की खीझ उतरती थी।[7]

---

१ कबहूँ पाप करैं पावत धन। गाड़ि धूरि तिहि देत।—सू० सा० ११८

२ मलिन मंद मति डोलत घर-घर उदर भरन के हेत।
सुख कछु धरम निज पर निंदा संगति सुजस न लेत।।—सू० सा०
नट ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक कौतुक ठाठ ठटो—तुलसी कवि० उत्तर ८८
बकरिन पीनि करि जीविका नवीने करे।—भक्त टीका राधा संग्रही, पृ० २११

३ गर्भ अजीत रहत जब होइ। बहुरि किसोर होइ पुनि सोइ।।
सुंदरी नारी ताहि बिवाहै। असन बसन बहु विधि सो चाहै।।
बिना माया सो कहाँ ते आवै। तब यह मन में बहु दुख पावै।।
पुनि लक्ष्मी हित उद्यम करै। भाग बस उद्यम खाली परै।।
तब यह रहै बहुत दुख पाइ। कहँ लौं कहौं कह्यो नहिं जाइ।।
कैसेहू जो धन नहीं पावै। — — — ।।
—सूरसागर सभा संक० पद ३९४ पृ० ११७

४ घर मरें कबी न आवई, बाहर को उठि धावई।।—दा० द० स० ४

५ सुमि सुमि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई।।
—सं० क० गूजरी २, पृ० १२९

६ संत तुकाराम, पृ० ७८ पर उद्धृत अभंग।

७ माय का पाछार नसा नाक कातार गोसाईं। अंगमली कराकद।
काला न कमरा सेंद मा मरया।—मो० कराकद।

सास-पतोहू और ननँद-भावज का शाश्वत विरोध चलता रहता था। घर नित्यश. इनके संग्राम का अखाडा बना रहता था।[1] ऐसी अवस्था मे पति से भी विशेष प्रेम की आशा नही थी। पतियो की दुर्दशा थी। रात्रि के अन्धकार में सबके सो जाने पर ही पति-पत्नी में भेंट की सम्भावना थी और कुछ रात रहते ही पति उठकर बाहर आ जाता था। पतिकक्ष में स्त्रियाँ अधिक रात गिरने पर ही जा पाती थी और कुछ रात रहते चुपके आ जाती।[2] ननँदें पति-पत्नी मिलन में बाधा-स्वरूप बनकर आती। पिता-गृह से पर्याप्त धन नही लाने पर वधुओ का असम्मान होता और उन्हें सास-ननँद के वाग्वाणो से विद्ध होना पडता था। कन्याएँ मायके इसकी सूचना किसी प्रकार भेजती और यह सूचना उन कन्याओ के माता-पिता के कष्ट और मर्मान्तिक व्यथा का कारण बनती। धनहीन पिता कन्या की चिन्ता दूर करने में किसी प्रकार समर्थ नही था।[3] आश्चर्य नही कि इस विषम परिस्थिति और दारुण व्यवस्था के कारण कन्याएँ ससुराल जाने से भय खाती थी। द्विरागमन का समाचार सभी अवस्थाओ में उमग और उल्लास की धारा प्रवाहित न कर

---

१. मारिआ सासु नणद घरे शाली—कण्हया, ज० डि० ले० जिल्द ३०

सासु बुरी घरि वासु न देवै। पिउ सिउ मिलण न देइ बुरी॥

—आ० ग्र०, नानक १, पृ० ३५५

दुसरे सासु ननद मारै बोली, छतिया मोरी फट जाई।

—प० सा० वा० (भाग ३), पद ४५

ननदी विषेर काँटा। विष मारवा देय खोंटा।—चण्डीदास

प्रतिबोल ननन्द बाछे।—श्रीकृष्ण-कीर्तन, पृ० ३४४

तोहरी मइयाँ सइयाँ बडी रे दरुनिया,
आरे तेलवा नापि रे नापि देई।
तोहरी बहिनिआ पियवा बड़ी रे निठूरिया,
लोइआ रे गनिके हाथे देई।—भोज० ग्राम०

सब तो खिसानी भई, अति जरि बरि गई, गई पति पास यह बधू नहीं काम की।
अन्न ही जवाब दियो, कियो अपमान मेरो, आगे क्यों प्रमाण करै, भरै श्वास चाम की॥

—भक्तमाल, पद ४६६, पृ० २४६

२ भक्त० पद ३१, पृ० ४२।

३. सुता ससुरारि भयो छूछक विचारि सास देत बहु गारि जाके निपट अभाव है।
पिता सो पठाइ कही छाती लै जराइ इन जोपै कछू दियो जाइ आवो इहि दाव है॥
चले गाडी टूटी-सी लै बूढे उमे बोल जोरि पहुँचे नगर छोर द्विज कह्यो जाइ है।
सुनतहि आई देखि मुँह पियराई फिरी, दाम नहीं एक तुम कियो कहा आइ है॥

—भक्त० पद ४३०-३१, पृ० २२६

चिन्ता और मनोव्यथा का सागर उमाड़ता था।[1] पूर्व प्रेमियों से विवाह नहीं होने के कारण यह व्यथा और मर्मान्तिक पीड़ा होती थी। कन्याएँ ऐसी अवस्था में घर से भाग खड़ी होतीं और अपने माता-पिता की चिन्ता शोक संताप और अपमान का कारण बनतीं। माता पिता को कन्या के कुशल-कल्याण से नाक बचाने की चिन्ता अधिक सताती।[2] ऐसी कन्याएँ जाति कुल का विचार नहीं करतीं और नीच कुलोद्भव व्यक्तियों के प्रेम-पाश में आबद्ध होतीं।[3] यद्यपि इसके लिए पीछे चलकर इन्हें पश्चात्ताप कम नहीं होता था।[4]

भाग्यातीत कष्ट होने पर भी ससुराल जाना आवश्यक था अतः भयभीत रहना स्वाभाविक था। प्रायः लोगों के प्रति आक्रोश की भावना प्रकट की जाती। श्वसुरालय-गमन यदि थोड़े समय के लिए भी टल सकता तो कन्याएँ प्रयत्न करतीं। अनेक अवस्थाओं में वर नादान होते और विवाह का मर्म नहीं समझते; उनकी नवयौवना पत्नियाँ मनोव्यथा और परिताप में जलती-भुनतीं। अर्थ-कष्ट की विवशता के कारण द्विरागमन के पश्चात् ही युवक परदेश चले जाते और कुछ कमा कर लाने की चिन्ता करते। परदेश में रहते समय अन्य स्त्रियों से संबंध हो जाता और वह पत्नियों के मानसिक क्लेश का कारण बनता। इधर परिवार में देवर से हँस-बोल सकने की स्वतन्त्रता होने के कारण देवर-भावज में कोमल और मधुर भाव जगना स्वाभाविक था। युवक और रसिक देवर भाभियों के स्नेह-अर्जन की चेष्टा कम नहीं करते एवं इसकी चरम परिणति अवैध यौन संबंध में होती।[5]

१　भरहर भरहर काँपै जीव ना जानूं का करिहै पीव।—क० ग्रं० पद १६०

आइ गइले मा मोरा गवना के पतिया।
पतिया रे बाँचत फाटेला मोर छतिया।
छाई लेले अमवा बीचे रे अदसिया।
हम ना जइबीं ससुररि के नगरिया।
रहबि कइसे उहाँ सोचिबें दिन रतिया।—भोज० गीत

२　आधी रात निकसी मौं बसी हिये मूरति सो पूरन सनेह सुधि-बुधि बिसराई है।
भोर भयो शोर पर्यो पिता मात शोच कर्यो करिकै यतन ठौर-ठौर ढूँढि आई है।
—भक्त० ४०१ प १ ८

३　रूप विना वर देखि तिय पै न भावै कुल जाति।
जो इनके निरखे बसैं ताही को वपयत।—भक्त प १२४

४　चढ़ु बनिनो ए गोरिला जाति छोरे तुमना,
बाबा के मर्यादा मैं चौपिका रिपहुतौं एक्नी। भा ती
परोसि मोयमार हाते चाला चाले हवे चावे।—बंजारी महावत ॥

५　ननमुखा के नारी बाटे बनेने भतारी　देवरा क नारी बाटे प्रेम-पियारी।
—भो० गीत

रात में चहिरनी रे तिन देवरनी देवरा के तिन ननदनी रे पिया रात के रात।
—भोज० पो

पति से स्नेह प्राप्त पत्नियाँ सास से अधिकार-प्राप्ति के लिये झगडा करती।[1] असफल होने पर सारी खीझ पति पर उतारी जाती। सहज प्रेम का स्वाभाविक स्रोत सूख जाने के कारण इन स्त्रियो का स्वभाव तिक्त और कर्कश हो उठता। सतो को प्राय: इसी प्रकार की स्त्रियो से पाला पड़ा था। ऐसी स्त्रियो की कठोरता जीवन को कटु और तिक्त बनाने के लिए पर्याप्त होती। इन कर्कशाओ के भय से भूत तक भाग खडे होते थे।[2] कपटी साधु और वचक योगी ऐसी स्त्रियो से सबध स्थापित करते और उन्हें भगा ले जाते। सताई हुई अथवा असतुष्ट स्त्रियाँ ऐसे वचको अथवा साधुओ पर आसक्त हो जाती; कुछ अवस्थाओ में पतियो की हत्या तक कर डालती और अन्त में योगिन बनकर शेष जीवन व्यतीत करती।[3] कुटनी स्त्रियाँ ऐसी पत्नियो के पतन में अधिक सहायक होती। आभूषण की इच्छा, मेले में घूमने का शौक रखनेवाली और कामार्त्ता नवयौवनाएँ पति-परिवर्तन में हिचकती नही और पर-पुरुष-गामिनी होती थी।[4] सपत्नी के कारण भी स्त्रियाँ अन्य

---

१. मायेर पेटे भात नेइको, बउयरे चन्द्रहार।
मायेर गलाय दिये दाडि। बउके पराय ढाकाई शाडी॥ बगाली कहावत
छीपा बाजे सासु बेटा तोहार, बाजा बाजे सइयाँ भले हमार।
तुहुँ बिअइलु सासु टाटी लगाई, हम लिहली पाँचो बजवा बजाई।—भोज० गीत

२ होत ही प्रात जो घात करै तिय पाय परोसिनि सो बल गाढ़ी।
हाथ नचावति मूँड खुजावति पौरि खडी अति कोटिन बाढ़ी॥
ऐसी बनी नख तें शिख लौं मनो क्रोध के कुंड में बोरि कै काढ़ी।
ईंट लिए पिय को मग जोवती भूत-सी भामिनि भौन मे ठाढ़ी॥
—भक्त० (टीका) पृ० २१५

३. विषयी कुटिल चारि साधु भेष लियो धारि,
कीनी मनुहारि कही तिया निज दीजिये। भक्त० पद ३००
बोल्यो एक नाम साधु एक निशि देहु तिया,
लेहु कही भागो सग भागी सीता नाम है। वही, पद २६६
मेरी बहुरिआ की धनिया नाउ। ले राखिओ रामजनीआ नाउ॥
कहतु कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुडियन मेरी जाति गँवाई॥
—स० क०, रागु आसा ३३, पृ० १२३
यही जोगिआ के कारन माई, सहौं जगत उपहासी।
—प० सा० बा० (भाग ३), पद ६२
जबतें दृष्टि परी जोगी पर कल न परै दिन राती।—वही, पद ६३

४. द्रष्टव्य—भोजपुरी ग्रामगीत में "चोरिला" और "लचिया-कुँअर" के प्रसग, पृ० २६१ और २६८-३००

पतियों का वरण करती थीं।[1] सामान्य कुलों की स्त्रियाँ भी रनिवासों तक में स्थान पातीं उनका सदा सम्मान नहीं होता था और वे अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिए अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचतीं।[2] स्त्रियों के कारण उच्च वर्णों के व्यक्ति भी अपनी कुल-परम्परा का त्याग करते थे।[2अ] दान देते समय ब्राह्मण स्त्रियों पर आसक्त हो जाते थे और छल-बल से उन्हें अधीन करने की चेष्टा करते थे। स्वयं असफल होने पर तान्त्रिकों की कामाग्नि उभारते थे।[3] बादशाहों और अन्य राजाओं की चढ़ाई के समय अन्य विरोधी राजा अपना बदला चुकाने के लिए उनकी सुन्दरी स्त्रियों को फुसलाने की चेष्टा करते थे।[4] स्त्रियों को फुसलाने के लिये कुटनियों का उपयोग किया जाता था। कुटिनियाँ अत्यंत कुशल और तपी होती थीं। स्त्रियों को मिठाइयाँ अत्यंत प्रिय थीं और उन्हें फँसाने का यह अच्छा साधन भी था।[5] युवती स्त्रियाँ भी वियोग अथवा किसी अन्य कारण से योगिनी बन जाती थीं।[6] योगिनियाँ योगियों का-सा वेष धारण करती थीं।[7] इनका उपयोग स्त्रियों को फँसाने और दूती-कर्म के लिये होता था। इनके भुलावे में स्त्रियाँ साधारणतया आती थीं।[8]

---

१ कहु कबीर जब बहुरी आई बड़ी अब सुहाग टरियो।
बहुरी संग भई अब मेरे जेठी अउर धरियो॥
—ग्रं० क०, राग आसा २ पृ ११९

२ दासी लै पटरानी कीन्ही कौन न्याय यह बूझे।—सू० सा०, पद ४२७०
चौरी की चौरी बाजो। वही, पद ४२१८।

२ अ अजामिल विप्र कनौज निवासी। सो भयो जुवती कै घर बासी।
जाति-पाँति तिन सब बिसराई। भक्ष-अभक्ष करै सो खाई॥
—सूरसागर, षष्ठ स्कंध ४१५

३ द्रष्टव्य—पदमावत में राघव चेतन प्रसंग और भक्त पद १८८, पृ २११।

४ कुंभलनेर-राय देवपालू। राजा केर सत्रु हिय सालू।
वह पै सुना कि राजा बाँधा। पाछिल बैर सँवरि छर साधा॥
—जा० ग्रं० पृ ३०३।

५ जा० ग्रं० पृ ३४।

६ कंत हमार गएउ परदेसा। तेहि कारन हम जोगिन भेसा।
—जा० ग्रं०, पृ ११२

७ जस ही भए बैरन हर कीन्हा। सारि परोसिहि कंथा दीन्हा॥
बिरह अभूत जटा बैरागी। छाला काँध जाप कंठ लागी॥
मुद्रा स्रवन नाहिं थिर जीऊ। तन तिरसूल अधारी पीऊ॥
—जा० ग्रं० पृ ११११।

८ जाई देखि, दूर मैनन बाढ़ई। बेर बजु जहाँ पंठ बैठि जाई।
—जा० ग्रं०, पृ ११४।

इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि प्रतिव्रता अथवा सुशीला स्त्रियो का अभाव था। सुशीला स्त्रियाँ परिवार के प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम करती, उनका यथायोग्य आदर करती और परिवार में आनद की धारा प्रवाहित करती।[१] पारिवारिक जीवन की महत्ता के कारण ऐसी स्त्रियाँ परिवार मे सम्मान प्राप्त करती और प्रिय के प्रेम-सम्पादन में सफल होती। ऐसी गृहणियो के पुण्य-प्रताप से गृह ही स्वर्ग और तीर्थराज प्रयाग था। ऐसी पुण्य-चरित्र स्त्रियाँ पति की प्रसन्नता के लिए सर्वस्व, यहाँ तक कि पातिव्रत्य को तिलाजलि देने को प्रस्तुत रहती।[२]

पिता-पुत्र का सम्बन्ध भी सदा आदर्श नही था। सस्कार के नाम पर और जाति-पाँति की धारणागत विवशताओ के कारण व्यय करना पडता था। सभी पुत्र पिताओ को भोजन नही देते अथवा दे पाते। उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देते और भर्त्सना करते थे।[३] वृद्धावस्था का कारुणिक चित्र सत-साहित्य में उपलब्ध है। आँखो में पानी भर-भर आता है, दाँत हिलने लगे, बूढ़ा रात-दिन खाँ-खाँ करता है और रात भर नींद नही आती। पुत्र और वधू नाक-भौं सिकोडते हैं, बहुत पुकारने पर भी शीघ्र पास नही फटकते। कुटुम्ब के लोग बातें नहीं करते। पुत्र-पौत्र घृणा की दृष्टि से देखते है।[४] मरते समय सभी लोग गाडे हुए धन की चिन्ता करते थे।[५]

---

१. सबसे रहै अधीन टहल वह सबकी करती।
सास-ससुर और ससुर ननद देवर से डरती।
सबका पोषन करै सभन की सेज बिछावै।
सबको लेय सुलाय, पास तब पिय के जावै।
सूतै पिया के पास सभन को राखै राजी॥
—प० सा० बा० (भाग १) पद १०६, पृ० ४६

२. द्रष्टव्य—कबीर और लोई सबधी कथायें (भक्त-विजय और भक्तमाल)

३. जीवत पित्रहि मारहि डंडा, मूवा पित्र ले घाले गगा।
जीवत पित्र हू अंन न ख्वावे, मूवा पाछे प्यड भरावे।
जीवत पित्रकू बोलै अपराध, मूँवा पीछे देहि सराध॥
—क० ग्र०, पद ३५१, पृ० २०७।

४. नैनहु नीरु बहै तनु खीना भये केस दुधवानी।
रूपा कंठु सबदु नहीं उचरै अब किया करहि परानी॥
—आ० ग्र०, भीखनजी, रागु सोरठ २।

विशेष रूप से द्रष्टव्य—सहजोबाई की बानी, पृ० २७-२६।

५. कोई कहै कछु द्रव्य बताओ। धरा ढका कछु करज दिखाओ॥
—स० बा०, चौपाई ६०, पृ० २८

धन का महत्व

धन केवल महत्वपूर्ण ही नहीं था बल्कि महत्व-सम्पादन का साधन भी था। संसार की प्रतिष्ठा और महत्ता धार्मिकता तथा विद्वत्ता के मूल में धन ही था। धन के कारण अत्यंत कुरूप व्यक्ति की गणना सुंदर व्यक्तियों में होती थी। धन राज-सम्मान और धर्म-कर्म का आधार था। धनवान व्यक्ति बुद्धि और बल की महिमा से मण्डित माना जाता।[1] धन का माहात्म्य प्रकट और धनवान् अत्यंत पुण्यवान माना जाता था।[2] थोड़ा धन होने होने पर ही अभिमान जगने लगता था।[3] जो कुछ भेंट लेकर जाता था वही सम्मान पाता था।[4] माता पिता स्त्री पुत्र और मित्र आदि सभी धन के इच्छुक थे और धनवान का ही सम्मान करते थे।[5] प्रिय से प्रिय व्यक्ति की मृत्यु के समय भी लोगों का उसके धन की ओर विशेष ध्यान रहता था।[6] निर्धन का कहीं आदर नहीं था, धन का सर्वत्र सम्मान था।[7] धन की महत्ता के कारण निर्धन सभी जगह अपने

---

१ दरब तें गरब करे जो चाहा। दरब तें धरती सरग बेसाहा ॥
दरब तें हाथ आव कबिलासू। दरब तें अछरी छाँड न पासू ॥
दरब तें निरगुन होइ गुनवंता। दरब तें कुबुज होइ रूपवंता ॥
दरब रहै भुइँ दिपै लिलारा। अस मन दरब देइ को पारा ॥
दरब तें धरम करम औ राजा। दरब तें सुद्ध बुद्धि बल गाजा ॥
—जा ग्रं, पृ० ११६

२ भक्त विजय पृ ११२।

३ जाति पाँति हमतें बड़ नाहीं नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत याते जातें अधिक तुम्हारी गैयाँ।
—सूर सागर पद ८६१

४ भक्त विजय पृ ९९।

५ मात पिता कोइ का नहीं सब ही बेगाना।
धन जहाँ पहुँचे नहीं नहिं मीत पिछाना ॥ च० बा० भाग १ पद २६

६ सहजो धन माँगै कुटुम्ब जाको मरा बखान।
जो कछु है सो दे हमैं, फिर पाछे मरि जाय ॥
—सहज प्रकाश पृ० १९

७ पैसे बिन बाप कहै पूत ही कपूत भयो,
पैसे बिन भाई कहै भाई को दुखदाई है।
पैसे बिन नार कहै मेरो या घर नहीं
पैसे बि ससुर कहै कौन को जमाई है।
पैसे बिन बंदे की प्रतीति नाहीं पंचन में,
पैसे बिन आइ पर घेर घेरी काई है।
—मलूक (पैसा) पृ ११८

खाता था[1] और धनवान् यदि निर्धन के यहाँ पहुँच जाता तो वह निर्धन अपने को धन्य मानता था।[2] स्त्रियाँ धनहीन व्यक्तियो को निकम्मा समझती, पिता उसे कुल डुबोनेवाला समझता, मित्र मित्रता का अधिकारी नही मानता, बुद्धि-विहीन मनुष्य महत्वहीन था, कोई उसका सम्मान-कर्ता नही था।[3] साधारण वित्त ही धनवान बनाने में समर्थ होता था।[4]

धनी और प्रभावशाली शिष्यो के लिए मठो और विभिन्न सम्प्रदाय के साधुओं में विरोध होता था और पारस्परिक संघर्ष कभी-कभी बडा उग्र रूप धारण कर लेता था।[5] निर्धन एवं साधारण वित्तवाले व्यक्ति को शिष्य बनाने में अनिच्छा प्रकट की जाती थी।[6] दीक्षित होने पर अधिकाधिक भेंट चढाना आवश्यक गुण था।[7] मदिरो में साधारण

---

१. द्रव्यहीन भटकत फिरै ज्यों सराय के स्वान।
झिडकि दियो जेहि घर गया, सहजो रह्यो न मान ॥

—सहज प्रकाश, पृ० २७

निरधन आदरु कोई न देई। लाख जतन करै आहु चिति न धरई।
जउ निरधन सरधन कै जाइ। आगे बैठा पीठि फिराइ ॥

—स० क०, रा० भैरउ ८, पृ० २१३

२. जउ सरधनु निरधन कै जाइ। दीआ आदरु लीआ बुलाइ ॥

—सं० क० भैरउ ८, पृ० २१३

३. रिद्धि विहूणइ माणुसह न कुणइ कुवि समाणु।
सउणिहि मुच्चउ फल रहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥

—सोमप्रभ : कुमारपाल प्रतिबोध

४. मन दस नाज टका दस गठियाँ, टेढौ टेढौ जात।

—क० ग्र०, पद ४००, पृ० २२०

हौं बड हौं बड बहुत कहावत, सूधै कहत न बात ॥

—सूर सागर, पद ३६५

अति अभिकार जनावत यातें जातें अधिक तुम्हारे गैयाँ।

—वही, पद ८६३

५. भक्त०, पद २६३, पृ० १४० और १४१।

६. भक्त०, पृ० १४०।

७. आयो कोऊ शिष्य हीन लायो भेंट लाखन की।

—भक्त० ५११, पृ० २६६

तहाँ बनजारो आइ सपति चढाइ दई,
और सग पालकिहू महिमा निहारिये। वही, ५१४, पृ० २७४

पूजाएँ स्वीकृत नहीं होती थीं ।[1] दक्षिणा के लोभ के कारण ब्राह्मण कहीं भी जा सकते थे ।[2] धनोपार्जन ,की विद्या ही बड़ी विद्या थी और माता पिता उसी विद्या के सीखने का उपदेश अपनी संतति को देते थे । धन-हरण के लिये शिष्य बनाए जाते थे । धन देने पर भी शिष्यों को मानसिक शान्ति नहीं प्राप्त थी ।[3] साधु-संन्यासियों तक ने धन एकत्र कर लिया था ।[4] और राजसी जीवन व्यतीत करते थे । सम्मान और कुलीनता का मापदण्ड सम्पत्ति और ऐश्वर्य ही था ।[5]

मध्ययुग में चतुराई की महत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी थी और चतुरता नागर सभ्यता की आधार थी । सामान्य जनता को ठगना ही इन चतुर व्यक्तियों का कार्य था ।[6] बाजारों में ठग और बटमार, आदि होते और हाथ की सफाई और चतुराई के द्वारा दूसरों का धन अधिकृत करते थे ।[7]

कृषक-जीवन

कृषक जीवन अपनी असुविधाओं से परिपूर्ण था । समय पर वर्षा नहीं होती थी, अतः बोया हुआ अन्न उत्पन्न नहीं होता था अथवा पौधे सूख जाते थे । बार-बार अकाल पड़ता

---

१ भक्त विजय, पृ १९६ ।

२ ब्राह्मण जहाँ दच्छिना पावा । सरग जाइ जो होइ मोखावा ॥
—बा मं पृ० २१०।१

३ हरइ शिष्य धन सोक न हरई । सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥
मातुपिता बालकन्हि बोलावहिं । उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ॥
—रा च मा०, उत्तर ९९

४ बहु दाम सँवारहिं धाम जती ।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही ॥—रा च मा , उत्तर १ १ ।
तपसी भये धनवंत लावै सब भये भिखारी । पलटू बा० (२) पृ ७४

५ धनवंत कुलीन मलीन अपी ।
—रा च मा० उत्तर १ १ ।

६ दीजिए विवेक एक चातुरी लों ज्यों जाते
एक ओर चारो वेद एक ओर चातुरी ।—भक्त (टीका)

७ का० वं , १७-१८, पृ० १४२-४९ ।

८ बरसा समय न बरसा होइ । बिना अन्न दुख पावै कोइ ॥
—प. मा , ना खं ४९।४

था, लोग भूखो मरते थे।[1] इस प्रकार के विपत्ति-काल में लोग विदेश जाने[2] और धर्म-परिवर्तन करने के लिए विवश होते थे।[3] समर्थ स्वामी रामदास ने अकाल का वर्णन करते हुए लिखा है,—"धरती के अतिरिक्त और कुछ बाकी न बचा। लोग अपना स्थान छोडने पर विवश हुए। जो वही रहे, उनमें से हजारों उसी स्थान पर मर-मिट गए। कुछ लोग स्वधर्म छोडकर विधर्मी बन गए। कोई जहर खाकर और कोई पानी में डूब कर मर गये।"[4] अवदुल हमीद लाहौरी ने अकाल का वर्णन करते हुए लिखा हैं,—आखिरकार अकाल इस हद को पहुँचा कि आदमी आदमी को खाने लगे। पुत्र-प्रेम छोड कर अपने बच्चे को खाने में भी लोगो ने कमी न की। जिधर देखें उधर लाशो के ढेर नजर आने लगे।"[5]

राजा कृषि से उत्पन्न अन्न बलपूर्वक ले लेता था।[6] अधिकारियो का प्रबल प्रचण्ड प्रताप था। उनकी आज्ञा यमराज की आज्ञायें थी, उनकी आज्ञा भग करने का कुफल साधारण प्रजा को भुगतना पडता था। नियत अवधि के भीतर कार्य नहीं करने पर कठिन दण्ड भोगना पडता था। यहाँ तक कि दण्ड के भय से कुछ लोग घर-द्वार छोड कर भाग खडे होते थे।[7] काजी की आज्ञाओ और न्याय-व्यवस्था के लिए क्या कहा जाय, इस विधान के कारण अपनी स्त्री भी पराई हो जाती थी।[8] इन साधारण लोगों का जीवन कष्टो और पीडाओ की करुण कथा थी, उन्हें पूछनेवाला कोई नही था; न तो बुद्धि ही काम देती और न बल ही काम करता था। सुलतान और अन्य शासनाधिकारियों से तो इन्हें अधिक संबध नही था, आक्रमण के समय ही इनका प्रभाव ज्ञात होता था किंतु स्थानीय अधिकारी बहुत तग करते थे। गाँव के ठाकुर खेत को नाप लेते, कायस्थ पटवारी का हिसाब कभी होता ही

देव न बरषहिं धरनी बए न जामहिं धान।—रा० च० मा०, उत्तर १०१

१. कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिन अन्न दुखी सब लोग मरैं।
—मानस, उत्तर १०१

२ तेहि कलिकाल बरष बहु बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउ दुकाल बिपति बस तब मैं गयउँ बिदेस॥—मानस, उत्तर १०४
सावन सुक्ला सप्तमी जो गरजै अधिरात।
तुम जाओ प्रिय मालवा, मैं जाऊँ गुजरात॥ घाघ और भड्डरी।

३. भक्त लीलामृत, अध्याय ४४, पृ० २७८-७६।

४. सत तुकाराम, पृ० ३६ से उद्धृत।

५ बादशाहनामा।

६. कलि में नृप होइहैं अन्याई। कृषी अन्न लैहैं बरिआई॥
—सू० सा०, द्वा० स्कं, ४६३४

७. भक्तलीलामृत, अध्याय ४५, पृ० ३०२।

८. कीर्त्तिलता, पृ० ४२।

पूजाएँ स्वीकृत नहीं होती थीं ।[१] दक्षिणा के लोभ के कारण ब्राह्मण कहीं भी जा सकते थे ।[२] धनोपार्जन ,की विद्या ही बड़ी विद्या थी और माता पिता उसी विद्या के सीखने का उपदेश अपनी संतति को देते थे। धन-हरण के लिये शिष्य बनाए जाते थे। धन देने पर भी शिष्यों को मानसिक शान्ति नहीं प्राप्त थी ।[३] साधु-संन्यासियों तक ने धन एकत्र कर लिया था।[४] और राजसी जीवन व्यतीत करते थे। सम्मान और कुलीनता का मापदण्ड सम्पत्ति और ऐश्वर्य ही था।[५]

मध्ययुग में चतुराई की महत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी थी और चतुरता चाकर सम्पन्नता की आधार थी। सामान्य जनता को ठगना ही इन चतुर व्यक्तियों का कार्य था।[६] बाजारों में ठग चोर बटमार, आदि होते और हाथ की सफाई और चतुराई के द्वारा दूसरों का धन अधिकृत करते थे।[७]

कृषक-जीवन

कृषक जीवन अपनी असुविधाओं से परिपूर्ण था। समय पर वर्षा नहीं होती थी, अतः बोया हुआ धान्य उत्पन्न नहीं होता था अथवा पौधे सूख जाते थे।[८] बार-बार अकाल पड़ता

---

१ भक्त विरुद, पृ० १९६।

२ ब्राह्मण जहाँ दक्षिना पावा। सरम जाइ जो होइ बोलावा ॥

—जा ग्रं पृ ११ ।३

३ हरइ शिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥
मातुपिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ॥

—रा च मा उत्तर ९९

४ बहु दाम सँवारहिं धाम जती।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही ॥—रा च मा उत्तर १ १।

तपसी भये धनवंत सावै सब भये भिखारी। पलटू बा (१) पृ ७४

५. धनवंत कुलीन मलीन अपी।
—रा च० मा० उत्तर १ १।

६ कीबिद विवेक एक चातुरी सो क्यों मावे
एक ओर चारो वेद एक ओर चातुरी।—भक्त (टीका)

७ जा० ग्रं , १७,-१८, पृ० १४२-४९ ।

८ बरषा समय न बरसा मेघ। बिना अन्न दुख पावै लोग ॥

था, लोग भूखो मरते थे।[1] इस प्रकार के विपत्ति-काल में लोग विदेश जाने[2] और धर्म-परिवर्तन करने के लिए विवश होते थे।[3] समर्थ स्वामी रामदास ने अकाल का वर्णन करते हुए लिखा है,—"धरती के अतिरिक्त और कुछ बाकी न बचा। लोग अपना स्थान छोडने पर विवश हुए। जो वही रहे, उनमें से हजारो उसी स्थान पर मर-मिट गए। कुछ लोग स्वधर्म छोडकर विधर्मी बन गए। कोई जहर खाकर और कोई पानी में डूब कर मर गये।"[4] अबदुल हमीद लाहौरी ने अकाल का वर्णन करते हुए लिखा है,—आखिरकार अकाल इस हद को पहुँचा कि आदमी आदमी को खाने लगे। पुत्र-प्रेम छोड कर अपने बच्चे को खाने में भी लोगो ने कमी न की। जिधर देखे उधर लाशो के ढेर नजर आने लगे।"[5]

राजा कृषि से उत्पन्न अन्न बलपूर्वक ले लेता था।[6] अधिकारियो का प्रबल प्रचण्ड प्रताप था। उनकी आज्ञा यमराज की आज्ञायें थी, उनकी आज्ञा भग करने का कुफल साधारण प्रजा को भुगतना पडता था। नियत अवधि के भीतर कार्य नही करने पर कठिन दण्ड भोगना पडता था। यहाँ तक कि दण्ड के भय से कुछ लोग घर-द्वार छोड कर भाग खडे होते थे।[7] काजी की आज्ञाओ और न्याय-व्यवस्था के लिए क्या कहा जाय, इस विधान के कारण अपनी स्त्री भी पराई हो जाती थी।[8] इन साधारण लोगो का जीवन कष्टो और पीडाओ की करुण कथा थी, उन्हें पूछनेवाला कोई नही था, न तो बुद्धि ही काम देती और न बल ही काम करता था। सुलतान और अन्य शासनाधिकारियो से तो इन्हें अधिक सबध नही था, आक्रमण के समय ही इनका प्रभाव ज्ञात होता था किंतु स्थानीय अधिकारी बहुत तग करते थे। गाँव के ठाकुर खेत को नाप लेते, कायस्थ पटवारी का हिसाब कभी होता ही

देव न बरषहिं धरनी बए न जामहिं धान।—रा० च० मा०, उत्तर १०१

१. कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिन अन्न दुखी सब लोग मरैं।
—मानस, उत्तर १०१

२ तेहि कलिकाल बरष बहु बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउ दुकाल बिपति बस तब मैं गयऊँ बिदेस॥—मानस, उत्तर १०४
सावन सुक्ला सतमी जो गरजै अधिरात।
तुम जाओ प्रिय मालवा, मैं जाऊँ गुजरात॥ घाघ और भड्डरी।

३. भक्त लीलामृत, अध्याय ४४, पृ० २७८-७९।

४. सत तुकाराम, पृ० ३६ से उद्धृत।

५ बादशाहनामा।

६. कलि में नृप होइहैं अन्याई। कृषी अन्न लैहैं बरिआई॥
—सू० सा०, द्वा० स्कं, ४९१४

७. भक्तलीलामृत, अध्याय ४५, पृ० ३०२।

८. कीर्त्तिलता, पृ० ४२।

नहीं था।[1] इन स्थानीय अधिकारियों की अधिकार-लिप्सा लोलुपता और नीचता के कारण सामान्य जीवन विषम हो रहा था। लगान देनेवाले जमादार और न्यायकर्ता मुंसफ प्रजा को बसने नहीं देते। आवश्यकता से अधिक जमीन नाप लेते।[2] बेगार करना पड़ता था किन्तु उसके बदले में कुछ मिलता नहीं था।[3] राजा बड़ा प्रपंची हो गया था उसे प्रजा बसाने की चिंता नहीं थी सदा उजाड़ने की ही चिन्ता थी।[4] राजा से भी अधिक उसका समाज क्रूर था।[5] प्रजा कभी-कभी राजसभा में पुकार मचाती और कोई-कोई शासक ऐसे क्रू

---

१ गांइ का ठाकुर खेत को नेपै, कायथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम।
खोटौं महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरो दीवान दाद नहिं लागै इक बाँधै इक मारै हो राम॥
—क ग्रं , पद ११२, पृ० १६१

बाबा अब न बसउ इह गाउ।
घरी घरी का लेखा माँगै काइथु चेतू नाउ॥
धरमराइ जब लेखा माँगै बाकी निकसी भारी।
पंच किसनवा भागि गए लै बाधिओ जीउ दरबारी॥
—सं क राग मारू ७ पृ १६१

पंच प्रजा अति प्रबल बली मिलि मन विधान जौ कीनौ।
अधिकारी जमलेखा माँगै तातै हौं आधीनौ।
घर मैं गथ नहिं भजन तिहारौ जौन दिवैं मैं छूटौं।
धर्म जमानत मिल्यो न चाहै, तातै ठाकुर लूटौ।
अहंकार पटवारी कपटी झूठी लिखत बही।
लागे धरम बतावै अधरम बाकी सबै रही॥ सूरसागर, १८८

रैयत एक पंच ठकुराई दस बिधि है मो व्यथा।
—प ग्रा० (१), पद १६५

२. मड़ बाढ़ी दस छुपक चालहि पंचमहि बसन न देही।
डोरी पूरि मापहि नाही बहु बिसटाला लेही॥
—सं क राग गउड़ी ५, पृ १६१

३ की बेगारि न भाड़ा पावा।—क ग्रं पद ११ , पृ० १६१
४ राजा देस बड़ो परपंची। रैयत रहत उजारी।—धी बचन ६६
५ परे वज्र या नृपति-सभा पै कहति प्रजा अकुलानी।—सू सा २८
काज अकाज सुपाज पृथ्वीजन परम-समाज बटोरे बही है।—कवि बलर ८८

अधिकारियो को दण्ड भी देता था।[1] किंतु ऐसी अवस्था कम ही आती थी। पहरेदार ही जब चोर थे तो कौन रक्षा करता ?[2]

उपज का महत्वपूर्ण अश राज्य-कर के रूप में और स्थानीय अधिकारियो के पेट में जाता, शेषाश में पण्डित-पुजारी, खेतो के कर्मकर और कृषि-सबधी व्यावसायियो का भाग था। बचे-खुचे अश पर ही उसे सतोष करना पडना पडता था। अधिकारलोलुप भूमिपति अधिक और अन्यायपूर्ण कर लेते। कर बढने के कारण साधारण प्रजा को केवल हल बैल आदि ही बेचना नही पडता था वलिक दूध-पीते वच्चो को भी। विधवाओ और धनहीन जनता को भी इन करो का बोझ उठाना पडता था।[3] करो की क्रूरता के कारण किसान अपनी जमीन छोडकर भाग खडे होते, जमीन जोतने-बोने के लिए शासनाधिकारी उन पर अत्याचार भी कम नहीं करते थे और इस प्रकार उन्हें विवश किया जाता था।[4] किसान के जीवन का करुण चित्र तुकाराम के एक अभग में मिलता है,—"पाडुरग हमारा चौधरी है। उसी ने जोतने के लिये हमें खेत दिया है। जिसमें से फसल निकालकर हम पेट पालते हैं। उसकी वाकी जो मुझे देनी है, वह माँग रहा है। आज तक उसकी सत्तर की बाकी मे दस दे चुका हूँ। पर वह अब तो घर मे आकर खटिया पर बैठ गया है और समान भाव से तकाजा लगा रहा है। अब तो घर वाडी, वर्तन जो कुछ है, उसे देकर उसकी लगान चुकानी पडेगी। विना वकाया चुकाये अब तो छुटकारा नही है।"[5] अभाव ग्रस्त गृहस्थो के घर मे साधु-सत का आगमन विपन्नता और अभाव की वेदना को और तीव्र बना देता था। इस अवसर से लाभ उठाकर धनी व्यापारी और दूकानदार पत्नियो के सबध मे अनुचित प्रस्ताव करते और प्रलोभन देते। ऐसे प्रस्ताव और प्रलोभन सदा व्यर्थ नही जाते थे। स्वय भरपेट भोजन में असमर्थ, पडोसी उधार देने को तैयार नही, ऐसी विकट परिस्थिति में साहूकारो के अनुचित प्रस्तावो को स्वीकार करने की विवशता उपस्थित हो जाती थी।[6] साधु-सत भी कम दबग नही थे, जहाँ पालथी लगा दी फिर उठने का नाम नही लिया। स्वय भूखे रहकर भी उनके लिए उत्तमोत्तम भोजन का प्रबध करना पडता था।[7]

---

१ प्रभु तें प्रभुगन दुखद लखि, प्रजहिं सभारै राउ।
कर तें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ॥—दोहा०, ५०१

२. पाहरूई चोर हेरि, हिय हहरानु है।—कवि० उत्तर ८०

३ मानिकचन्द्र राजार गान, एसपेक्ट्स आव बगाली सोसाइटी। पृ० २२२ से उद्धृत

४. मोरलैण्ड फ्राम अकबर टु औरगजेब। पृ० २५४

५. सत तुकाराम, पृ० ७८ से उद्धृत।

६. द्रष्टव्य-भक्त• पृ० १५४, अध्याय ११, पृ० १७६।

७ लरकी बारकिन सेवौ नाहि। मुडिआ अनु दिन धापै जाहि॥
इक दुइ मदरि इक दुइ बाट। हम कउ सायरू उन्ह कउ खाट॥
मूड पलोसि कमर बधि पोथी। हम कउ चाबु न उन कउ रोटी॥
—स० क०, रागु गौंड ६, पृ० १६६।

सद्गृहस्थों का ऐसे साधु संत से भय खाना स्वाभाविक और अनिवार्य था। एक ओर धर्म का भय और दूसरी ओर इनके अत्याचारों का भीषण आतंक था।[1] तथाकथित साधु-संन्यासी खेत की फसलें काट लेते तथा रखवालों की एक नहीं चलती थी।[2] सामान्य जीवन की विपन्नताओं के कारण भरपेट अन्न कठिन था। अच्छा अन्न मिलना सौभाग्य की बात थी।[3] पुरुष भाजी खाते, स्त्रियाँ तड़के उठकर घर का काम सँभालतीं। कृषक-जीवन की दयनीय अवस्था थी। जिस कृषक के घर में चार बैल और दो गाएँ हों तथा मीठे बोल वाली पत्नी हो वह अपने सौभाग्य को सराहने का अधिकारी समझा जाता था।[4]

सामाजिक जीवन में श्रम का महत्व होते हुए भी इसका सम्मान नहीं था। सभी सुखाभिलाषी अकर्मण्य जीवन व्यतीत करनेवाले थे। राजाओं और सामन्तों का जीवन अकर्मण्य सुखोपभोग का था। साधु-संत का राजसी ठाठ सामन्तीय जीवन की झाँकी उपस्थित करता था। निम्नवर्गीय संतों को सम्भवतया उदारतापूर्वक भिक्षा भी नहीं मिलती थी। ऐसी अवस्था में श्रम का सामाजिक महत्व प्रतिष्ठित कराने के लिये दैवी चमत्कारों के माध्यम से किम्वदन्तियों ने ईश्वर से साधारण श्रम करवाए।[5] मध्यकाल में चतुराई का सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था।[6] चतुरता नागर सभ्यता की मुख्य देन और मूल है। सामान्य और विशेष व्यक्तियों को ठगना ही इन चतुर व्यक्तियों का लक्ष्य था। नगरों में स्थान-स्थान पर खेल-कूद नाच-तमाशे की भीड़ रहती। इन भीड़ों में गिरहकट और चोर मिले रहते तथा अवसर मिलते ही लोगों की गाँठ कतर लेते थे।[7] इन चतुर व्यक्तियों में जादूगर और दुकानदारों का महत्वपूर्ण स्थान था। सादगी और सच्चाई के कारण सदा नुकसान ही उठाना पड़ता था। वणिक लोग वस्तुओं को व्यवहार (लागत)

---

१ ग्रन्थ—भक्त० (टीका) पृ० ३३२।

२ पकि रह्यो खेत संत नाय करि तोरि लेत।
जिते रखवारे दुखसेत घोर कियो है।
—भक्त०, पद ४५८, पृ० ३३७।

३ पति रहिबा कै पूरि कचौरी, पति रहिबा कै साग।
पति रहिबा कै बैठीं बिरचरवा चतुर मोरेलै गाय ॥—लोक गीत।

४ च्यारि बरदा धेनु दुइ, मिठा बुलिख नारि।
बहु पूत कुलिंगिपहि घाघर जलमलें नारि ॥
—म० हि० हि० वि० का मो० पृ० २७ पर उद्धृत।

५ तुलनीय—कबीर, सेन आदि के संबंध की दन्त कथायें, जिनके अनुसार ईश्वर ने इन भक्तों के बदले सेवा की थी। नामदेव की छप्पर भी उससे छवाई गई है।

६ कीजिये विवेक एक चातुरी सों कह्यो चाहे
एक ओर चारो वेद एक ओर चातुरी।—भक्त०

७ चरपट चोर गाँठि छोरा मिले रहहि ओहि नाच।
जो एहि हाट सजग भा गथ ताकर पै बाँच ॥—जा० ग्रं० १८।१६

मूल्य पर बेचते थे।[1] व्यापारियो की नीचता और बेईमानी के दर्शन चण्डीकाव्य और शखमाला में होते हैं।[2] इन हाटों और बाजारो से कुछ लोग अपना सर्वस्व गँवाकर लौटते।[3] ठग, चोर आदि वहाँ होते और सभी मिलकर सर्वस्व अपहरण का प्रयास करते।[4] जैसे बनिया पूरे बाट नीचे खिसका देते और घटिया से सौदा तौलकर देते। बाटों के चक्कर में भोले-भाले बिक्रेताओ को फँसा लेते,[5] पसंगा मार कभी पूरा नही तौलते। पूरा परिवार इसी प्रकार के गठमारों का समूह होता था।[6] ग्वाला दूध में पानी मिलाने में सकोच नही करता था।[7]

धार्मिक-स्थिति

वैदिक-पौराणिक—

वैदिक धर्म का मूलभूत आधार है वर्णाश्रम व्यवस्था, प्रत्येक आश्रम और वर्ण के आचार भिन्न भिन्न माने गए हैं। ईश्वरत्व की कल्पना, पूजोपासना के स्वरूप में भिन्नता नहीं होने पर भी आचार-गत विभिन्नता थी। बौद्धधर्म ने इस व्यवस्था को झकझोरने का प्रयास अवश्य किया और इस प्रकार आश्रम वस्तुत. दो रह गये—साधारण गृहस्थ और गृहत्यागी सन्यासी-भिक्षु। भारतीय धर्म-साधना में इन दोनो की स्पष्टता बाद में सदा रही है। वैदिक-साहित्य में इस विभिन्नता की सूचना नही मिलती किन्तु विनयपिटक में साधारण गृहस्थो के आचारों की अलग चर्चा है। प्रारम्भ में पुराणो द्वारा वैदिक धर्म की व्याख्या की जाती थी और जन-सामान्य की सुविधा के लिए आख्यान और कथा का प्रयोग होता था। प्राचीन कथाओं अथवा आख्यानो के सन्निवेश के कारण ही पुराण की सज्ञा है।

---

१. सत तुकाराम को सादगी और सचाई के कारण अपना सर्वस्व गँवाना पडा था।
—द्रष्टव्य, संत तुकाराम, पृ० ३८। तथा कीर्तिलता, पृ० २८।

२. अ० ब० सो०, पृ० २४६।

३. कोई चला लाभ सौं कोई मूर गँवाय।—जा० ग्र०, पृ० १४५।३७।

४. जा० ग्र०, पृ० १४१।३६

५. संत तुकाराम, पृ० ३८। तुलनीय—
पूरा बाट तरे खिसकावै, घटिया को टकटोरे।
पसंगा मौंहे करि चतुराई, पूरा कबहुँ न तोले।।
—पलटू साहब की बानी।

६ घर में वाके कुमति बनिआइन सबहिन को झकझोरे।
लरिका वाका महा हरामी, अमरित में विष घोले।।
—पलटू बानी (३), पद ६१, पृ० ५४।

७. भक्त विजय, पृ० ५६।

सद्गृहस्थों का ऐसे साधु-संत से भय खाना स्वाभाविक और अनिवार्य था। एक ओर धर्म का भय और दूसरी ओर इनके अत्याचारों का भीषण आतंक था।[1] तथाकथित साधु-संन्यासी खेत की फसलें काट लेते तथा रखवालों की एक नहीं चलती थी।[2] सामान्य जीवन की विपन्नताओं के कारण भरपेट अन्न कठिन था। अच्छा अन्न मिलना सौभाग्य की बात थी।[3] पुरुष बासी खाते स्त्रियाँ तड़के उठकर घर का काम सँभालतीं। कृषक-जीवन की दयनीय अवस्था थी। जिस कृषक के घर में चार बैल और दो गाएँ हों तथा मीठे बोल वाली पत्नी हो वह अपने सौभाग्य को सराहने का अधिकारी समझा जाता था।[4]

सामाजिक जीवन में श्रम का महत्व होते हुए भी इसका सम्मान नहीं था। धनी सुखाभिलाषी अकर्मण्य जीवन व्यतीत करनेवाले थे। राजाओं और सामन्तों का जीवन अकर्मण्य सुखोपभोग का था। साधु-संत का राजसी ठाठ सामन्तीय जीवन की झाँकी उपस्थित करता था। निम्नवर्गीय भक्तों को सम्भवतया उदारतापूर्वक भिक्षा भी नहीं मिलती थी। ऐसी अवस्था में श्रम का सामाजिक महत्व प्रतिष्ठित कराने के लिये दैवी चमत्कारों के माध्यम से किम्वदन्तियों में ईश्वर से साधारण श्रम करवाए।[5] मध्यकाल में चतुराई का सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था।[6] चतुरता नागर सभ्यता की मुख्य देन और मूल है। सामान्य और निरीह व्यक्तियों को ठगना ही इन चतुर व्यक्तियों का लक्ष्य था। नगरों में स्थान-स्थान पर खेल-कूद नाच-तमाशे की भीड़ रहती। इन भीड़ों में गिरहकट और चोर मिले रहते तथा अवसर मिलते ही लोगों की गाँठ कतर लेते थे।[7] इन चतुर व्यक्तियों में साहूकार और दुकानदारों का महत्वपूर्ण स्थान था। सादगी और सच्चाई के कारण सदा नुकसान ही उठाना पड़ता था। वणिक् लोग वस्तुओं की व्यवहार (सामग्र)

१　ग्रन्थ—भक्त० (टीका) पृ ५५२।

२　पकि रह्यो खेत संत भाग करि तोरि लेत।
　　जिते रखवारे सुखदेव शोर कियो है।
　　　　　　—भक्त, पद ४८८, पृ ५५७।

३　घरि रहिया कै पूरि कचौरी, घरि रहिया कै दाल।
　　घरि रहिया कै कैसी बिरवानी बहुत मोटेहै गाल॥—लोक गीत।

४　चारि बरधा बेनु दुइ मिष्ठ बुलनि नारि।
　　बहु मुंव कुदंबिनहि गम्मर कबूलईं आरि॥
　　　　　　—अ मि हि वि भ भो, पृ २७ पर उद्धृत।

५.　सुदनीप—कथा, सेन आदि के संबंध की प्रचल कथाएँ, जिनके अनुसार ईश्वर ने उन भक्तों के बदले सेवा की थी। नामदेव की छप्पर भी उससे छवाई गई है।

६　कीजिये विवेक एक चातुरी को बाध्यो बाते
　　एक ओर बारी बेर एक ओर चातुरी।—भक्त

७　चरपट चोर गाँठि छोर मिले रहहिं ओहि नाच।
　　जो एहि हाट सजग भा गथ ताकर पै बाँच॥—जा ग्रं, १८।१६

वैदिक-पौराणिक अथवा ब्राह्मण-धर्म यात्रा, दान, पूजा स्वर्ग-कामना और परलोक में विश्वास, पुण्य-धर्म में आस्था, वर्णाश्रम की योग्यता में श्रद्धा, होम, बलि-यज्ञ में विश्वास रखता है। यह सामान्य आभिजात्य वर्ग की आस्था थी।

वैष्णव धर्म

वैष्णव धर्म का उद्‌भव किन कारणों और परिस्थितियों के हुआ, इसका ऐतिहासिक विवरण अनुमान-सापेक्ष्य ही है। वैदिक साहित्य मे अग्नि, वरुण, सविता, मित्र, इन्द्र, अदिति, पृथ्वी, देवी, विष्णु, रुद्र आदि देवताओं के स्वरूप का मनोरम वर्णन उपलब्ध है। इसके आधार पर कई विद्वानो ने उस समय ही मूर्ति-पूजा की कल्पना की है।[1] वैदिक काल में विष्णु की प्रधानता नही दीख पडती। सूर्य परम पराक्रमी देवता है, पीछे चलकर दोनो का एकीकरण हुआ है। विष्णु को चक्रस्वामी कहा गया है और काल-चक्र के रूप में सूर्य की कल्पना होती रही। पतजलि ने पाणिनि के सूत्र की टीका करते समय वासुदेव को आराध्य देवता के रूप में स्वीकार किया है। इसके आधार पर भाडारकर ने भागवत सम्प्रदाय तथा मूर्तिपूजा को पाणिनि के समय से प्राचीन माना है।[2] मेगास्थनीज के अनुसार मथुरा के शूरसेनी यादव हरिक्लिस (हरिकृष्ण, वासुदेव) की पूजा करते थे। ई० पू० २०० के नगरी के शिलालेख मे सकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए मन्दिर बनाने का उल्लेख है। दूसरी और तीसरी शताब्दी में पूजा का प्रचार हो चुका था और उदयपुर में इस सम्बन्ध के कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं।[3] महाभाष्य (जिसकी रचना शुंग-काल में हुई थी) शिव, स्कद और विशाख की मूर्तियो का उल्लेख करता है किन्तु उस काल की मूर्तियो के अवशेष प्राप्त नही। विदिशा और घोसुद्र के अभिलेखो वैष्णवधर्म के व्यापक प्रचार की सूचना मिलती हैं, यहाँ तक कि अनेक ग्रीको ने भागवत धर्म स्वीकार कर लिया था।[4] ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्म साथ-साथ चल रहे थे, राजाओं में सहिष्णुता के भाव थे। भागवत (वैष्णव धर्म) के इतिहास में गुप्तकाल अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है कारण प्राय सभी गुप्त सम्राट वैष्णव थे और "परम भागवत" की विरुद धारण करते थे यद्यपि अन्य धर्मो के प्रति सहिष्णुता के भाव थे। फाह्यान के विवरण से स्पष्ट है कि मध्यदेश में बौद्ध धर्म का ह्रास हो चला था और वैष्णव पौराणिक धर्म का प्रभाव-विस्तार। गुप्तकालीन कुछ मूर्तियाँ सम्भवतया विष्णु की हैं और ई० सन् ४५६ में चक्रपालित ने भगवान् विष्णु का मन्दिर बनवाया था।[5] (ई० इ० जिल्द १५) कुमार गुप्त के शिलालेखो से सूचना मिलती है कि शिव, विष्णु, बुद्ध, सूर्य तथा कार्तिकेय की पूजा का प्रचार

---

१. इण्डियन इमेजेजः वृन्दावन भट्टाचार्य, भारत-कला-भवन, काशी प्रस्तावना

२ रा० गो० भा०—वै० शै० एन्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृ०—१०

३ आर्किऑलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १९०६—१०

४. एपिग्राफिका इण्डिका २० (अप्रैल १९२६), पृ० ५४।

५. (ई० ए० जिल्द १५)

सृष्टि-प्रारंभ विस्तार और लय, मन्वन्तर अवधि और घटना तथा वंशानुचरित का वर्णन इनमें है। बाद में धार्मिक सम्प्रदायों ने सृष्टि-प्रकरण के सम्बन्ध में अथवा अन्य स्थलों पर अपने इष्ट देवता की महत्ता का प्रतिपादन किया। वैदिक काल में देवों (देवताओं) की प्रचुरता थी जिनके विकास में प्राकृतिक शक्तियों के स्वरूप का आधार था। देवताओं की कल्पना के साथ कुल-पति की धारणाओं का मिश्रण होता रहा। कुल पति का कुल देवता बन जाना असम्भव नहीं। वैदिक काल के देवताओं के महत्व में परिवर्तन होता रहा है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मन्त्रों द्वारा प्रार्थना की जाती थी द्रव्य द्वारा यज्ञ किया जाता था। पौरोहित्य का सम्मान था कर्म-काण्ड की प्रधानता थी। सारे देवताओं के एक होने के संकेत भी मिलते हैं।[1] पौराणिक धर्म-साधना में देवताओं की संख्या अल्प नहीं होती बल्कि संख्या बढ़ती है। वैदिक देवता भी पौराणिकों की श्रद्धा के पात्र बनते हैं। इन्द्र के स्थान में विष्णु का गौरवास्पद माहात्म्य स्थापित होता है। ब्रह्मा का कोई सम्प्रदाय नहीं दीख पड़ता। शैव-सम्प्रदायों का आधिक्य है। व्रतोपवास की अधिकता है, वैराग्यपूर्ण बौद्ध धर्म में व्रतों के व्रतों की महत्ता स्थापित की। देव मन्दिरों का निर्माण हो रहा था उनमें देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा होती थी और उनके पूजा-विधान का राजकीय आयोजन था। गुप्तकालीन एकतंत्र केन्द्रीय शासन का प्रभाव उस काल की धर्म-साधना पर पड़ा। दान का महत्व बढ़ गया था। देवमन्दिर के निर्माण संस्कार और उचित व्यवस्था के लिए दान का महत्व था। ब्राह्मण उस दान के अधिकारी थे। अग्निहोत्र और पंचमहायज्ञ (अध्यापन होम तर्पण बलि और अतिथि-पूजा) का आदरणीय महत्व स्थापित था। देवताओं में विष्णु राम, कृष्ण महेश काली, हनुमान की पूजा अधिक होती थी। विष्णु के विभिन्न स्वरूपों की पूजा-आराधना होती रही। गुप्तकाल की इमारतों का अभाव है, उनके अवशेष विष्णु-शिव के सम्मिलन की सूचना देते हैं। धार्मिक आचरण में धार्मिक ग्रंथों के पाठ की महत्ता स्वीकृत हो चुकी थी। वेदपाठ तीर्थाटन श्लोकपाठ आदि आचरण इस पौराणिक धर्म के आवश्यक विधान थे। पौराणिक धर्म बौद्ध धर्म से भिन्न नहीं बल्कि उसका विस्तार और प्रसार है। पौरोहित्य का प्रभाव सम्मानीय था और साधारण जनता धर्मोपासना के तत्त्वसार को भूल चुकी थी इसे सिद्धों नाथों और सन्तों ने स्पष्ट रूप से लक्षित किया था। अपने विश्वासों के फैलाने तथा साधारण जनता को अपनी अधिकार-सीमा में रखने के लिए ब्राह्मणों ने अनेकानेक पुराणों की रचना की अथवा प्राचीन पुराणों के नवीन संस्करण किये। कुछ लोगों ने इसे ब्राह्मण-धर्म की संज्ञा दी है किन्तु इसके लिए वैदिक ब्राह्मण पौराणिक कोई भी संज्ञा उचित नहीं। अशोक के समय में कई धर्म और सम्प्रदाय थे। साधु-संन्यासी एवं गृहस्थों के धर्माचरण में अन्तर था। (१२वां शिला लेख) श्रमण के साथ ब्राह्मण का उल्लेख बार-बार हुआ है (द्रष्टव्य तृतीय शिलालेख) और आजीविक और निर्ग्रन्थ उस काल के अन्य सम्प्रदाय थे। (सातवां शिलालेख) किन्तु ब्राह्मण यहाँ सम्प्रदाय विशेष के लिए आया है (द्रष्टव्य कोशाम्बर-अशोक) एवं सभी स्थानों में ये पाये जाते थे (१३वां शिलालेख)

---

१ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋग्वेद १, १६४, ४६

भक्ति भगवत्प्राप्ति की एकमात्र साधिका मानी गयी है।[1] भागवत धर्म वस्तुतः वर्णाश्रम-विहित आचारो के साथ परमपद प्राप्ति को लक्ष्य माननेवाला सम्प्रदाय है।[2] पाचरात्र या नारायणीय धर्म का कृष्णोपासक रूप सात्वतो (यादवो) में प्रचलित हुआ था। प्राचीन नारायणीय अथवा पाचरात्रधर्म नारायण अथवा उसके किसी अवतार (नृसिंह, वामन; दाशरथी राम) की पूजोपासना करता था।

इस विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णवता के दो स्वरूप हैं, विष्णु तथा उसके अवतारो की पूजाराधना जो सामान्यत प्रचलित रही और वैष्णवो की साम्प्रदायिकता जिसका विकास मध्ययुग के प्रारम्भ में स्पष्ट होता है। शकर ने उपासना के इस स्वरूप को देखा था। क्योंकि उन्होंने उपासना और उपासक को कृपण कहकर ब्रह्मप्राप्ति में अधम स्वीकार किया है।[3] शाकर अद्वैतवाद बौद्ध शून्यवाद और विज्ञानवाद का खण्डन करता है, किन्तु शून्यवाद का भावात्मक स्वरूप अद्वैतवाद बना है। बौद्ध भिक्षुसघ की भाँति संन्यासी-सघ की स्थापना शकर ने की। बौद्ध एव पौराणिक मतो का वास्तविक एकीकरण हुआ। पचदेवोपासना प्रचलित रही, शिव, विष्णु, गणपति, देवी और सूर्य की उपासना का प्रभाव बढा। बौद्ध-जैन प्रभाव के कारण जीवहिंसा और मासभक्षण कम हो गया था और अन्य सभी मतो ने इसे पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया था। अलबेरूनी के समय तक वैष्णवो को साधारण सज्ञा "भागवत" थी। अष्टमातृक पूजा ब्राह्मणो मे प्रचलित थी।[4] वैष्णव विष्णु का स्वरूप भी कई विभिन्न धाराओं के समन्वय से विकसित हुआ है। बौद्ध और जैन जैन धर्मों के २४ बुद्धो और २४ तीर्थंकरो की धारणा में बुद्ध और महावीर के पूर्व धर्मोपदेशकों और मतो का मान्य होना है, उसी प्रकार विभिन्न मतो के परम देवत् का विष्णु में विलयन और विष्णु के विभिन्न अवतारो की कल्पना आश्चर्यजनक नही। राजाओ तथा जन-सामान्य की धार्मिक सहिष्णुता के उल्लेख जो ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलते हैं, उसके मूल में राजाओ की उदारवृत्ति ही नही बल्कि विश्वासों का अभेद ही है। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ गुप्तकाल के बहुत पूर्व से हो चुका था। एक साथ ही विभिन्न मतो में श्रद्धा रखी जा सकती थी। एक ही राजा को अनुयायी सिद्ध करने के लिए बौद्ध-जैन ग्रथ तथा पुराण उत्सुक दीख पडते हैं। साधारण लोग ब्राह्मण, गुरु और यति में समान भाव से श्रद्धा रखनेवाले थे।[5] गो-ब्राह्मण का महत्व स्थापित था।[6]

---

१. न साधयति मा योगो न साख्य धर्म उद्भव।
न स्वाध्यायस्थो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता। भाग० ११।१४।२०

२. भाग० ११।२०।६

३ इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधको येनैव क्षुद्रब्रह्मवित् तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो, गौ० पा० प्रका० २।१ पर शकर भाष्य

४ सचाउ, अलबेरूनीज इण्डिया, भाग १, पृ० १२१।

५ मद्रस्तस्यात्मजोऽभूत् द्विजगुरुयतिषु प्रायश प्रीतिमान् यः।
—गुप्तशिलालेख १५, (फ्लीट)।

६ तदेतत्प्रवृत्त य उच्छिन्द्यात् स गोब्रह्महत्यया सयुक्तो भवेत्।—वही, सख्या ५

था और इसके मंदिर बन रहे थे। फाह्यान के विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि भोजन निरामिष था लोग प्याज-लहसुन नहीं खाते थे किन्तु साहित्यिक प्रमाणों से यह प्रमाणित नहीं होता। स्वयं फाह्यान चाण्डालों द्वारा नगर के बाहर मांस-क्रय विक्रय की चर्चा करता है। 'शकुन्तला का माढव्य ब्राह्मण होकर शूकर का भुना हुआ मांस खाता है।

वैष्णव मत की दार्शनिक व्याख्या इस समय तक उपलब्ध नहीं। विष्णु की पूजा उपासना का यह अर्थ नहीं कि वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना हो गई और वैष्णव अन्य देवी-देवताओं की आराधना-पूजा नहीं करते थे। भागवत धर्मी राजाओं की सहिष्णुता प्रदर्शित करती है कि शिव सूर्य आदि देवताओं की उपासना का विरोध नहीं था। वैदिक कर्म काण्ड के विरोध में जिन बौद्ध और जैन धर्मों का आविर्भाव हुआ था उनमें अहिंसा तत्व का प्रबल आग्रह है। उपनिषदों के तत्व-ज्ञान की सीमा तक न पहुँचनेवाली जनता वैदिक देवताओं की पूजा-उपासना करती रही, कारण-विशेष से किसी एक का महत्व अधिक हो गया। वैष्णव धर्म ने आचार-बहुल ब्राह्मण धर्म का विकसित स्वरूप लिया जिसमें बौद्धों की अहिंसा स्वीकृत हुई। हर्ष ने पशुओं की हत्या और मांस-भक्षण दण्डनीय घोषित किया था, (बील भाग १ पृ २१४) अत उस समय मांस प्रचलित अवश्य रहा होगा। विष्णु के २४ अवतारों की कल्पना २४ बुद्धों और २४ तीर्थंकरों के अनुसार जान पड़ती है। बुद्ध को विष्णु अवतार रूप में ग्रहण करना सूचित करता है कि विभिन्न देवताओं का समाहार इस देव-रूप में हो गया है। वैष्णव धर्म के साम्प्रदायिक स्वरूप का विकास दक्षिण में हुआ। डा त्रिपाठी[1] के अनुसार हर्षवर्धन आदि उत्तर भारतीय सम्राटों से उपेक्षित होकर उत्तर में वैष्णव धर्म बहुत निर्बल हो गया और दक्षिण में इसका प्रचार बढ़ा। हर्षवर्धन द्वारा भागवत धर्म उपेक्षित नहीं हुआ था। उसके पूर्वज सूर्योपासक थे और वह शासन के २६वें वर्ष तक परम माहेश्वर (शैवोपासक) था।[2] प्रयाग के अधिवेशन में भी उसने सूर्य और शिव की मूर्तियों की पूजा की और ब्राह्मणों को भोजन कराकर दक्षिणा दी। हर्ष के राज्यविघटन के उपरान्त भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का प्रभाव भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अधिक होता है। शैव और वैष्णव धर्म साथ साथ चल रहे थे। पुराणों में स्पष्ट लक्षण है कि विष्णु और शिव में भिन्नता नहीं।

दक्षिण के आलवार वैष्णव भक्ति के प्रचारक रहे हैं इन भक्तों में स्त्रियाँ भी थीं। इनका उत्कर्ष-काल छठी शताब्दी से आरम्भ होता है।[3] विष्णु को वासुदेव, नारायण भगवत् आदि नामों से पुकारते हैं। वैष्णव धर्म के दो आधार-ग्रंथ हैं—भागवत जिसे पुराण की कोटि प्राप्त है और नारदीय भक्ति सूत्र। प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय में भागवत की अपनी टीका है। ब्रह्मसूत्र और गीता के साथ भागवत को प्रस्थानत्रयी में स्थान मिला। भागवत में

---

१ हिस्ट्री आव एन्शियण्ट इण्डिया पृ २६७।

२ बाँसखेड़ा और मधुबन के लेख।

३ दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, पृ ५२।
कृष्णस्वामी ऐयंगर अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इण्डिया।

के कारण ही प्रकट नही होता बल्कि अनुयायियों के विभिन्न मत और व्यक्तित्व के कारण उत्पन्न होता है। ह्वेन-त्सांग के विवरण के अनुसार उसने किसी लोकायत को पराजित कर बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। यह परम्परा सदा चलती रही और साम्प्रदायिक आचार्यों ने यह पद्धति अपनाई। अनुयायियो में विभिन्न मतवाले व्यक्ति एक सूत्र में बँधे नही रह सके और बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ही पारस्परिक विरोध स्पष्ट हो गया। सम्भवतया "अष्टादश निकाय" के आधार पर ही प्रोफेसर कीथ ने बौद्ध-सघ के अट्ठारह वादो की कल्पना की। सघ की द्वितीय सगीति मे दो स्पष्ट दल उठ खड़े हुए—स्थविरवादी और महासघिक। स्थविरवादी वस्तुतः रुढिवादी थे और महासघिक परिवर्तन के पक्षपाती थे। अशोक के बाद भारत में यवन, शक, हूण, कुशन आदि जातियो का शासन रहा, इनके द्वारा बौद्ध धर्म अपनाया गया और इसका विशेष प्रचार हुआ। इन विदेशियो के कारण आचार-विचार, सिद्धात-नियम में अवश्य अन्तर आया। प्रादेशिक विभिन्नताओ के कारण भी विभेद उत्पन्न हुए होंगे। कनिष्क के काल मे चौथी सगीति सर्वास्तिवादिन शाखा की हुई और इस प्रकार दो विभिन्न मतवादियो का दल सगठित हो गया—हीनयान और महायान। हीनयान प्रारभिक स्वरूप की रक्षा में सलग्न रहा, यद्यपि उसमें भी कई सम्प्रदाय सगठित हुए। महायान में जन-साधारण की धारणाओ का सन्निवेश हुआ और वह आचार-शील प्रधान व्यवहार मात्र न रहकर आस्था-भक्तिपरक धर्म बन गया। प्रारभिक धर्म (शील) का यह धार्मिक (भक्ति-मूलक) स्वरूप हो गया। बौद्ध-काल में ही श्रावक-आचार और गार्हस्थ्य विचार में अन्तर दीख पड़ता है। व्यवहार-पक्ष की दृष्टि से ही यह भेद है। सम्भव है स्थविरवादी श्रावको का सम्प्रदाय हो, और महायान का विकास जन-धारणा के अनुभाओं में हुआ हो। मानव-जीवन के विभिन्न अन्तिम लक्ष्य और उनकी प्राप्ति की विभिन्नता के कारण ही वैमत्य और विभिन्नताएँ दीख पड़ती है। बौद्धधर्म का महायानी रूप हिन्दू-धर्म के भक्तिवादी स्वरूप का बौद्धधर्मीय विकास है। बुद्ध इस अवस्था में आकर केवल मानव-गुरु, आचार्य और पथ-प्रदर्शक ही नही रहे, बल्कि उस प्रकार के व्यक्तिगत देवता बन गए जिसे साधारण जनता अपना दु ख-सुख सुना सके, जिसकी करुणा प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य बना सके। यह कथन अनावश्यक नही होगा कि बुद्ध का यह स्वरूप ईश्वर से विभिन्न नही और इसी रूप में वे विष्णु के अवतार बनने में समर्थ हो सके। अवतारवाद के मूल में विशिष्ट पुरुषों का ईश्वरत्व-समीकरण था। बोधिसत्व की कल्पना, षट्पारमिताओ का अनुष्ठान, बोधिचित्त का विकास, आध्यात्मिक उन्नति की दशभूमियाँ, बुद्धत्व का चरम लक्ष्य, धर्मकाय, संयोगकाय तथा निर्वाणकाय—त्रिविध कायो की कल्पना और धर्मशून्यता के तत्व महायान की हीनयान से विभिन्नता प्रकट करते है।[1] महायान का लक्ष्य केवल व्यक्तिगत अभ्युत्थान अथवा कल्याण नही, बल्कि ससार के समस्त प्राणियो का दुःख-नाश और निर्वाण प्राप्त करा सकने की क्षमता प्राप्त करना है।[2] इस चरमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनुष्ठानो का विधान किया गया जिसे "बोधिचर्या" की सज्ञा मिली। इस महायान की अनेक शाखाएँ होती रही, चैत्यवादी अन्धक सम्प्रदाय में वैपुल्यवादी अथवा

---

१ द्रष्टव्य—धर्म और दर्शन, पृ० ११२ पर टिप्पणी।

२. द्रष्टव्य—'बोधिचर्यावतार'।

विभिन्न मतो की प्रधानता के अनुरूप विभिन्न मतवादो का प्रतिपादन हुआ होगा किन्तु काल-क्रम से उनका सधान मिलना कठिन है। जिनका सधान मिलता है वे हैं—कालचक्रयान, वज्रयान, सहजयान और मत्रयान।

कालचक्रयान

लौकिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तुत्रिकाल की सीमा से वाधित है। वे त्रिकाल है गत, आगत और गम्यमान, भूत, भविष्य और वर्तमान। त्रिसध्या की कल्पना भी इसके साथ सम्बद्ध है, प्रात मध्याह्न और सध्या। शून्यता क्या त्रिकाल वाधित है? शून्यता और करुणा काल और लोक (काय) से वाधित नही वल्कि शून्यता ही काल-चक्र है। काल तो माया का प्रपच है और शून्यता निर्विकल्प ज्ञान। धर्मचक्र के साथ कालचक्र का सम्बन्ध लक्षित किया जा सकता है। काल-चक्रयान के अनुसार वार-तिथि-नक्षत्र-योग-करण-राशि-क्षेत्रि-सक्रान्ति का विचार महत्वपूर्ण है। नानक ने परम तत्व के विवरण में उसे "अकाल-मूर्ति" (अकालुमूरति) कहा है। अकालमूर्ति कहने का तात्पर्य है कि जन्म-जरा-मरण-भय से मुक्ति और काल-क्रम के सम्बन्ध से त्राण देनेवाला है। काल-चक्रयान की कल्पना काल (मृत्यु) से मुक्ति प्राप्ति के लिये भी हो सकती है। कवीर वीजक का पद है—

जो चरखा जरि जाय बढैया ना मरै।
मैं कातौ सूत हजार। चरखुला जिन जरै॥

* * * *

कह कबीर सतो सुनहु चरखा लखै न कोइ।
जाको चरखा लखि परो आवागमन न होइ॥

चक्र और चरखा की तुलना करने से स्पष्टतया चक्रयान के स्वरूप की कल्पना सम्भव हो सकती है। विज्ञानवादी परम्परा के अनुसार सव कुछ विज्ञप्ति मात्र है। ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय दोनों हैं। "चरखा" काल का चक्र है जो सदा चलता रहता है और प्राणी का उद्देश्य है इस चक्र के क्रम को रुद्ध करना। आवागमन की भी चक्र-प्रणाली है। इस प्रकार चक्र की कल्पना से कई प्रकार के मतो की उद्भावना होती रही। विष्णु की कल्पना चक्रस्वामी के रूप में है। सुदर्शन चक्र तो प्रसिद्ध ही है। चक्र का यह स्वरूप सदा मान्य रहा है। काल की स्थिति दिनमान है अष्ट-प्रहर, जो चरखे के साथ "अष्टदल" हो गया। काल रूप में यम की पूजा तो -'मुद्राराक्षस" में वर्णित ही है।

वज्रयान

शून्यता ही एकमात्र वज्र के समान दृढ, अपरिवर्तन-शील, अच्छेद्य, अभेद्य अदाही और अविनाशी है, अत "शून्यता" को वज्र की सज्ञा मिली। वेतुल्लवादी के अनुसार अवस्था-विशेष में मैथुन अपेक्षित है। शून्यता की स्थिति महा सुख की स्थिति है जिसकी कल्पना युगनद्ध के रूप में होती रही। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए विराट्-पूजा-पद्धति का विधान है। कठोर साधना द्वारा स्थिर भाव से वोधि-चित्त की प्राप्ति ही तो उद्देश्य है, जो अविचलित

वैतुल्यवादी का उल्लेख आवश्यक है, कारण इस मतवाद के अनुसार विशेष पर्वों पर स्त्री-पुरुष-संयोग अथवा मैथुन उचित था। महायान के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं—माध्यमिक या शून्यवादी तथा योगाचार। नागार्जुन का 'माध्यमिक" मतवाद बुद्ध की "मध्यम प्रतिपदा' से साम्य रखता है। कठोर दैहिक क्लेश और अविरत भोग-सुख की मध्यम कड़ी का रूप माध्यमिक मतवाद है। तात्विक दृष्टि से शून्यवादी दर्शन के अनुसार शून्यता न तो पूर्ण अभावात्मक है और न पूर्ण भावात्मक ही। निर्वाणस्थिति में न निरोध है न उत्पत्ति वह न नाशमान है न शाश्वत न अनेकार्थ है न एकार्थ उसमें न आगमन है न निर्गमन। वस्तुतः 'न उसे शून्य कहा जा सकता है और न अशून्य, न दोनों और न दोनों से भिन्न ही। महायान की दूसरी प्रमुख धारा विज्ञानवाद अथवा योगाचार की है। सैद्धान्तिक तत्ववाद विज्ञानवादी है और उसका साधन योगाचार जिस प्रकार शून्यवाद तत्ववाद है और माध्यमिकता उसका साधन अथवा आचार। विज्ञानवाद के अनुसार चित्त (चित्+त) अथवा विज्ञान परम्परा अर्थात् प्रज्ञा का अनुभव सत्य है, बाह्यजगत् असत्य एवं अस्तित्वहीन है वस्तुतः उसकी स्थिति मन के प्रत्यय अथवा अनुभूति में है। लंकावतार सूत्र के अनुसार हमारा दृश्य जगत् का ज्ञान बिल्कुल निराधार है दृश्य पदार्थों में कोई तत्व नहीं है। दृश्य जगत् न तो आलय विज्ञान ही है न उससे भिन्न; लहरों को समुद्र से न भिन्न कहा जा सकता है, न अभिन्न।[1]

बौद्धधर्म के इस विवरण के साथ इसे भी ध्यान में रखना होगा कि गुप्तकालीन पौराणिक धर्मोत्थान के कारण बौद्धधर्म के प्रचार और विकास में बाधा पड़ी। फाह्यान ने लक्ष्य किया था कि पंजाब और बंगाल में बौद्धधर्म की प्रधानता थी मथुरा में भी प्रभाव था किन्तु मध्यप्रदेश में पौराणिक धर्म की महत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। बौद्धधर्म में भी पौराणिक धर्म की पद्धति और जनधारणाओं का अपूर्व सम्मिश्रण हो चुका था। हुएन्-त्सांग के अनुसार बौद्धधर्म का प्रचुर प्रचार था किन्तु इतना स्पष्ट है कि अनेक सम्प्रदाय उस समय बन चुके थे। स्वयं धर्म के परस्पर विरोधी अट्ठारह सम्प्रदायों का उल्लेख उसने किया है। अनेक प्रकार के सन्यासियों का उल्लेख है जिनको भूत कापालिक कुलिक सांख्य आदि कहते थे। कैशलुंचक, पाशुपत पांचरात्रिक, भागवत आदि परिव्राजकों का हवाला मिलता है। हर्षचरित' में इनका विशद वर्णन प्राप्त है। बौद्धधर्म का मौलिक विकास ही उसके उत्तर विकास का स्वरूप है।

बौद्ध धर्म के उत्तर विकास में 'तन्त्र' की प्रधानता है। तन्त्रों के विभिन्न अर्थों में अनुष्ठान को प्रधान समझना चाहिए। अनुष्ठान अथवा साधन द्वारा ही परम सत्य अथवा परम तत्व की उपलब्धि होती है साधना के लिए तत्व-विवेचन एवं सिद्धान्त-निरूपण की अपेक्षा होगी। तन्त्रों को 'आगम' इसीलिए कहते हैं कि इनके द्वारा साधनभूत साधना का निरूपण होता है। तन्त्रों के इस स्वरूप के कारण ही वैष्णवतंत्र शैव-तंत्र शाक्त-तंत्र आदि विभिन्न तन्त्रों की रचना हुई। बौद्ध धर्म का तान्त्रिक विकास इसकी नई-दिशा का संकेत उपस्थित करता है। महायान के विभिन्न स्वरूपों को लेकर इसके तीन रूपों का स्वरूप-निर्धारण हुआ।

१ इंडियन आइडियलिज्म पृ० ९१।

अग थे।[1] सहजज्ञान का अवधूती मार्ग बाद मे चलकर नाथ-सम्प्रदाय में लक्षित हो नई शाखा का प्रवर्तक हुआ।

कबीर बीजक के[2] साक्ष्य को यदि स्वीकार किया जाय तो सहजयानियो का तीसरा सम्प्रदाय भी था जो भोग में योग की स्थिति मानता था वस्तुतः यही सहजयान का वस्तविक स्वरूप और उत्तर विकास था।

मंत्रयान

अथर्ववेद में तत्र, मत्र, भूत-प्रेत-साधना की चर्चा है। आर्येतर धर्म साधना के साथ इसका सबध लक्षित किया गया है। पार्वत्य प्रदेश में जाकर बसनेवाली जातियो मे यह साधना के रूप में प्रचलित हुई। नगरो में रहवाले अनार्यों ने इसे गुह्य स्वरूप दिया और इसका सम्बन्ध महायान के साथ होकर नवीन स्वरूप का विधायक हुआ।

शैव और शाक्त मत

शिव के वैदिक अवैदिक स्वरूप को लेकर पण्डितो में गहरा मतभेद है। सैन्धव सभ्यता-काल में शिव के पशुपति स्वरूप का सकेत मिलता है। उपलब्ध लिंग और योनि-प्रतिमाओं से प्रमाणित होता है कि उस काल में जननेन्द्रिय की पूजोपासना होती थी। श्वेताश्वर उपनिषद् में शिव परमेश्वर रूप में प्रतिष्ठित हैं। महाभारत में शैव मत का उल्लेख है। कुषाण नृपति वीम-कदाफिसेज ने शैव-सम्प्रदाय को मान्यता दी थी; उसके सिक्कों पर "माहेश्वर" लिखा प्राप्त होता है और उन पर एक ओर शिव और नान्दी की आकृति खुदी हुई है। कुषाण-काल और उसके पश्चात् नाग-भारशिव युग में शैव मत की प्रधानता रहती है। नाग-कुलाधीश अपने को "भारशिव" कहते थे कारण वे शिव के परम भक्त और पीठ पर शिव-लग का भार वहन करनेवाले थे।[3] ग्वालियर राज्य की पद्मावती के वे आदि-निवासी थे। जायसी ने "पद्मावत" में सिंहल द्वीप में योगी-सिद्धि-प्राप्ति की चर्चा की है। पद्मावती की प्राप्ति ही सिद्धिलाभ है, भारशिवो की पद्मावती के साथ इसका सम्बन्ध मिलाया जा सकता है। हर्षचरित के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि शिव उस समय मुख्य देवों में थे और कापालिक मत प्रभावशाली था। गोरक्ष सिद्धात सग्रह के अनुसार शकर के अद्वैतमत का पराभव किसी कापालिक के हाथ हुआ था। राष्ट्रकूट-नृपतियों ने दक्षिण में शैव मत-प्रचार में अधिक योग दिया। वैष्णव धर्म के साथ ही शैव धर्म का प्रचार हुआ। उनके ताम्र-पत्रो पर शिव की स्तुति और योगमुद्रा में अकित शिव की मूर्ति मिलती है।

---

१ आँख न मूदों कान न रूधो तनिक कष्ट ' नहीं धारों।
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारो।
सबद निरतर से मन लागा मलिन बासना त्यागी।
उठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी।—शब्दावली।

२. क० बी० कहरा १, वि० दास० टीका, पृ० ३०३।

३ जायसवाल—जे० बी० ओ० रि० सो०, मार्च-जून, १९३३।

है, जिसका स्खलन नहीं होता। शुक्र ही मत्त बज्र है। जिस आसन से सिद्धि-लाभ होती है, उसे सिद्धासन कहते हैं और इसकी साधना द्वारा अलौकिक कार्यों के सम्पादन की क्षमता आती है। वज्रयान का सम्बन्ध मगध से था और तत्कालीन बिहार और बंगाल में पालवंशीय शासन था। इन शूद्र राजाओं के शासन में तान्त्रिक बौद्ध मत का व्यापक प्रसार हुआ। सिद्धों में अनेक शूद्र अथवा नीचजन्मा हैं और स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध नहीं। जिन्हें धार्मिकशास्त्र वर्जित माना गया है, उनका भी सम्बन्ध किसी न किसी रूप में नीचकुलोद्भव व्यक्तियों से था। वज्रयान की साधना गुह्य और गोप्य थी।

सहजयान

जिस प्रकार मन्त्रयान वज्रयान का पूर्व स्वरूप है उसी प्रकार सहजयान इसका उत्तर विकास। वज्रयान की गुह्य साधना का सूक्ष्म रूपान्तर सहजयान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सहजयान देवी-देवता को न तो मान्यता देता है और न मंत्र-मुद्रा-पूजा-आचार-अनुष्ठान की स्वीकृति। सहज-सम्प्रदाय के अनुसार मिट्टी, काठ अथवा पत्थर के देवता की पूजा व्यर्थ है, बाह्याचार महत्त्वहीन है। पौराणिक ब्राह्मण धर्म का ही इन्होंने प्रत्याख्यान नहीं किया बल्कि उन सभी साधनाओं की अवहेलना की जिनका आधार कृच्छ्र-साधन अथवा काया-कष्ट है। दोहाकोष 'और चर्यागीत' के आधार पर इसके सिद्धान्तों का निरूपण किया जा सकता है। सहजयानियों का परम लक्ष्य हुआ सहज-सुख। वस्तुतः सहज उस पारमार्थिक अवस्था की संज्ञा है जिसमें मानसिक ज्ञान सम्पूर्णतया नष्ट ही जाता है। सभी विभेद नष्ट हो जाते हैं, संस्कार नष्ट हो जाता है, सांसारिक मोह छूट जाता है और शून्यता की प्राप्ति होती है।

कबीरदास ने लक्ष्य किया था कि 'सहज' 'सहज' की रट लगानेवाले सहज की गतिविधि से परिचित नहीं।[1] सहजपंथ के तीन विभाजन हुए—अवधूती चाण्डाली डोम्बीनी अथवा बंगाली। अवधूती में द्वैत रहता है चाण्डाली में केवल अद्वैत ज्ञान रहता भी है नहीं भी रहता और बंगाली में केवल अद्वैतज्ञान रहता है। डोम्बी और बंगाली का समीकरण एक विचित्र तथ्य की ओर संकेत देता है, भोजपुर में आज भी 'बंगड़िया डोमों' की प्रसिद्धि है। कबीरदास ने जिस सहज पंथ को देखा था उसकी दो शाखायें हो चुकी थीं। परिक्रमा सेवा दण्डवत पूजा नाम-स्मरण नैवेद्य-अर्पण आदि एक शाखा द्वारा अपने साधन-पथ के आवश्यक अंग रूप में स्वीकृत थे।[2] यह वस्तुतः उसकी वैष्णव परिणति थी। जिसका पूर्ण विकास चैतन्य प्रभावित गौड़ीय वैष्णव-साधना को महत्त्व देती थी जिसके अनुसार आँख मूँदना मुद्रा धारण करना आसन लगाना आदि साधना के आवश्यक

---

१ सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हैं कोई।
—क ग्रं सा ४ च प ४२

२ जहँ जहँ डोलों सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवों तब करौं दण्डवत् पूजों और न देवा।
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खाँव पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव न राखौं दूजा।—शब्दावली

अग थे।[1] सहजज्ञान का अवधूती मार्ग बाद में चलकर नाथ-सम्प्रदाय में लक्षित हो नई शाखा का प्रवर्तक हुआ।

कबीर बीजक के[2] साक्ष्य को यदि स्वीकार किया जाय तो सहजयानियों का तीसरा सम्प्रदाय भी था जो भोग में योग की स्थिति मानता था वस्तुतः यही सहजयान का वस्तविक स्वरूप और उत्तर विकास था।

मंत्रयान

अथर्ववेद में तत्र, मत्र, भूत-प्रेत-साधना की चर्चा है। आर्येतर धर्म साधना के साथ इसका सबध लक्षित किया गया है। पार्वत्य प्रदेश में जाकर बसनेवाली जातियो मे यह साधना के रूप में प्रचलित हुई। नगरो में रहवाले अनार्यों ने इसे गुह्य स्वरूप दिया और इसका सम्बन्व महायान के साथ होकर नवीन स्वरूप का विधायक हुआ।

शैव और शाक्त मत

शिव के वैदिक अवैदिक स्वरूप को लेकर पण्डितो में गहरा मतभेद है। सैन्धव सभ्यता-काल में शिव के पशुपति स्वरूप का सकेत मिलता है। उपलब्ध लिंग और योनि-प्रतिमाओ से प्रमाणित होता है कि उस काल में जननेन्द्रिय की पूजोपासना होती थी। श्वेताश्वर उपनिषद् में शिव परमेश्वर रूप में प्रतिष्ठित हैं। महाभारत में शैव मत का उल्लेख है। कुषाण नृपति वीम-कदाफिसेज ने शैव-सम्प्रदाय को मान्यता दी थी; उसके सिक्कों पर "माहेश्वर" लिखा प्राप्त होता है और उन पर एक ओर शिव और नान्दी की आकृति खुदी हुई है। कुषाण-काल और उसके पश्चात् नाग-भारशिव युग में शैव मत की प्रधानता रहती है। नाग-कुलाधीश अपने को "भारशिव" कहते थे कारण वे शिव के परम भक्त और पीठ पर शिव-लग का भार वहन करनेवाले थे।[3] ग्वालियर राज्य की पद्मावती के वे आदि-निवासी थे। जायसी ने "पद्मावत" में सिंहल द्वीप में योगी-सिद्धि-प्राप्ति की चर्चा की है। पद्मावती की प्राप्ति ही सिद्धिलाभ है, भारशिवो की पद्मावती के साथ इसका सम्बन्ध मिलाया जा सकता है। हर्षचरित के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि शिव उस समय मुख्य देवों में थे और कापालिक मत प्रभावशाली था। गोरक्ष सिद्धात सग्रह के अनुसार शकर के अद्वैतमत का पराभव किसी कापालिक के हाथ हुआ था। राष्ट्रकूट-नृपतियों ने दक्षिण में शैव मत-प्रचार में अधिक योग दिया। वैष्णव धर्म के साथ ही शैव धर्म का प्रचार हुआ। उनके ताम्र-पत्रो पर शिव की स्तुति और योगमुद्रा में अकित शिव की मूर्ति मिलती है।

---

१ आँख न मूदों कान न रूधो तनिक कष्ट नहीं धारो।
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारो।
सबद निरतर से मन लागा मलिन बासना त्यागी।
उठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी।—शब्दावली।

२. क० बी० कहरा १, वि० दास० टीका, पृ० ३०३।

३ जायसवाल—जे० बी० ओ० रि० सो०, मार्च-जून, १९३३।

शैव-मत के साथ योग और तन्त्र के अन्तर्भाव का समय निश्चित करना सहज नहीं। वामन पुराण के अनुसार शैव पाशुपत कालदमन तथा कापालिक चार विभिन्न शैव सम्प्रदाय हैं।[१] राजपूताना, गुजरात आदि भागों में पाशुपत-सम्प्रदाय की प्रधानता थी। दक्षिण के तामिल प्रदेश में शैव सिद्धांत मत का प्रचलन रहा। कर्णाटक के वीर शैव मत के अनुयायियों की संज्ञा लिंगायत है। इस सम्प्रदाय के सन्तों की संख्या तीन सौ से ऊपर बतलायी जाती है जिनमें प्राय साठ स्त्रियाँ थीं।[२] भारशिवों की भाँति ये लोग शिव लिंग गले में सदा लटकाए रहते थे। वीर शैव मत वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। काश्मीर में प्रचलित शैवमत प्रत्यभिज्ञा तन्त्रवादी और अद्वैतवादी है। दार्शनिक रूप में अद्वैतवाद और साधन रूप में भक्ति को मान्यता प्राप्त रही।

शैव सिद्धांतों के अनुसार परमतत्त्व शिव ही है, वह परमतत्त्व अनादि, शाश्वत अनंत शुद्ध सच्चिदानंद है। संसार के समग्र जीव पशु हैं अर्थात् पाश द्वारा आबद्ध। इस बन्धन के द्वारा ही जीवों को पशुत्व-प्राप्ति होती है। शिव नित्य मुक्त और स्वतंत्र हैं अतः पति हैं। गुरु की दीक्षा के बिना जीव को पशुत्व के पाश से मुक्ति नहीं मिल सकती।

मध्यकाल में शैवों का नाथ-सम्प्रदायी रूप महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली हुआ। इसके विभिन्न नाम मिलते हैं—सिद्ध मत योग-सम्प्रदाय अवधूत-मत इत्यादि और इनकी साधना पद्धति के सिद्धमार्ग योग-मार्ग अथवा अवधूत मार्ग। कापालिक मत वस्तुतः बड़ा रहस्यमय सम्प्रदाय रहा है। कालामुख और कापालिक मत शैव-मत के भयंकर रूप हैं। कपाल-पात्र में भोजन शव भस्म-लपाना लगुड़-धारण, सुरा-कुंभ-स्थापन तथोक्त देवोपासन के साथ रुद्राक्ष-माला जटाजूट कपाल, भस्म इन सम्प्रदायों के विशिष्ट चिह्न हैं। गुप्त क्रियाओं द्वारा अनेकानेक सिद्धियों के इच्छुक कापालिक भैरव भक्त थे। माधवाचार्य कृत शंकर विजय और भवभूति के मालती माधव में इन कापालिकों के कर्मों का भयावह वर्णन प्राप्त होता है। सुरा-सेवन मानव-बलि शव-साधना आदि इसके मुख्य अंग रहे हैं।

शाक्त मत

महाभारत के एक अंश में दुर्गा के कुमारी काली कपाली महाकाली चण्डी कात्यायनी कराला, विजया कौशिकी उमा कांतारवासिनी नामों का उल्लेख है।[३] शिव की पत्नी उमा हिमवान्-पुत्री पार्वती हैं और शिव-प्राप्ति के लिए कठोर तपश्चर्या करती हैं। पुलिंद, शबर बर्बर आदि जातियों की उपास्या के रूप में धारबम और विन्ध्य पर्वत पर रहने-वाली देवियाँ हैं। देवी-कल्पना के मूल में शक्ति-भावना है। शक्तिपूजा-पद्धति गोप्य गुह्य तथा गोपनीय मानी जाती है। शाक्त पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं—काश्मीर, कांची कामाख्या।

---

१ वा पु (१/८९-९१)।
२ वीर शैव फिलासफी ऐंड मिस्टिसिज्म पृ १।
३ दर्शन साहित्य का इतिहास।—देव पृ ९ २

कामाख्या के सम्बन्ध में बगाल-विहार में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। शैव मत का प्रसिद्ध केन्द्र काशी है, शाक्त-पूजा-सम्बन्ध से यहाँ एक कामाख्या नामक मुहल्ला आज प्रसिद्ध है। शाक्तो के दो मुख्य वर्ग हैं कौलिक और समयी। शाक्त मत में योग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। शक्ति के सयोग से ही शिव सृष्टि करने में समर्थ है। "शैव" शक्तिहीन शकर का प्रतीक है और "इ" शक्ति-वाचक है अत शक्तिहीन शिव शव-रूप हैं। शाक्त सम्प्रदाय के अनुसार शिव और शक्ति परम तत्व है। ज्योतिःस्वरुप शिव स्फूर्ति-रूप में शक्ति में प्रवेश करता है तथा "विंदु" रूप ग्रहण करता है। शक्ति शिव में प्रवेश करती है और बिन्दु का विकास होता है। इससे एक स्त्रीतत्व का उदय होता है जिसे "नाद" कहते हैं। "नाद" और "बिंदु" के सयोग से ऐसे तत्व का उद्भव होता है जो स्त्री-पुरुष की शक्तियों की गहन समानता प्रदर्शित करने के कारण "काम" कहलाता है। पुरुष और स्त्री शक्ति के प्रतीक श्वेत और रक्त बिंदु मिलकर "कला" को जन्म देते हैं। "काम" में सयुक्त नाद बिंदु तथा कला के सयोग से "काम-कला" का आविर्भाव होता है। कुलार्णव-तंत्र के अनुसार हृदयग्रथि का खुलना, सर्व सशयो का विनाश, कर्म-पाश से मुक्ति ही साधना के लक्ष्य है।[1] जीवन्मुक्त की वहाँ भी कल्पना है। जिसका इन्द्रियसमूह निष्पद हो गया है, जिसने अपने मन और वायु को अपने में लीन कर लिया है जो शव के समान स्थित है, वह जीवन्मृत जो समाधिस्थ है, उसकी सुनने, सूँघने, स्पर्श करने, देखने की क्रिया समाप्त हो जाती है, उसे सुख-दुःख में अन्तर नहीं मालूम होता, उसके मन में कोई सकल्प नहीं रहता, न वह कुछ जानता है और न समझता है, बिल्कुल काष्ठ की भाँति पड़ा रहता है।[2]

ह्रासोन्मुख बौद्ध-धर्म का शाक्त तन्त्रमत से सयोग और इनका अन्तर्भाव भारतीय साधना के इतिहास का महत्वपूर्ण प्रसग है। "शून्यता" भाव का निर्गुण, निष्कल, निष्क्रिय ब्रह्म हो जाना कठिन न था और "शक्ति" का "मायात्व" रूप भी प्रकट है। शाक्तमत के अनुसार अद्वैतवादी दृष्टिकोण माया को ही प्रधान बना देता है और ब्रह्म निष्क्रिय होने के कारण माया के अधीन हो गया। शाक्त तन्त्र ब्रह्म की दो अवस्थाओं की कल्पना करता है—सशक्त (शिव) और अशक्त (शव)। शक्ति ही ब्रह्म को सशक्त करती है अत वह शक्ति (माता) के अधीन है। इस प्रकार सम्पूर्ण उपासना शक्ति की ही उपासना है।

आलोच्य काल में शाक्त-मत में वामाचार के नाम पर नृशस व्यापार चल रहे थे। टोना, टतर, मतर, भूत-प्रेत की उपासना,—कारण ये सभी शक्ति के ही प्रतिरूप हैं—अधिक प्रचलित हो गई थी। भैरवी-चक्र के द्वारा गुप्त यौन-स्वातत्र्य का प्रभाव बढ़ गया था।

"लोकायत" सम्प्रदाय, जिसे चार्वाक और बार्हस्पत्य भी कहा जाता है, अबाध सुखोपभोग का इच्छुक रहा। सभव है लोकायत सम्प्रदाय ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्म में प्रवेश कर

---

१ भिद्यते हृदयग्रथिश्छिद्यन्ते सर्वसशयः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परात्मनि। कुलार्णव, उल्लास ९/२४

२. वही, उल्लास ९। १२, १३, १४

शैव-मत के साथ योग और तन्त्र के अन्तर्भाव का समय निश्चित करना सहज नहीं। वामन पुराण के अनुसार शैव पाशुपत कालदमन तथा कापालिक चार विभिन्न शैव सम्प्रदाय हैं।[1] राजपूताना गुजरात आदि भागों में पाशुपत-सम्प्रदाय की प्रबलता थी। दक्षिण के तामिल प्रदेश में शैव सिद्धांत मत का प्रचलन रहा। कर्णाटक के वीर शैव मत के अनुयायियों की संज्ञा लिंगायत है। इस सम्प्रदाय के सन्तों की संख्या तीन सौ से ऊपर बतलायी जाती है जिनमें प्रायः साठ स्त्रियाँ थीं।[2] भारशिवों की भांति ये लोग शिव लिंग गले में सदा लटकाए रहते थे। वीर शैव मत वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। काश्मीर में प्रचलित शैवमत प्रत्यभिज्ञा तत्त्ववादी और अद्वैतवादी है। दार्शनिक रूप में अद्वैतवाद और साधन रूप में भक्ति को मान्यता प्राप्त रही।

शैव सिद्धांतों के अनुसार परमतत्त्व शिव ही है, वह परमतत्त्व अनादि, शाश्वत अनंत शुद्ध सच्चिदानंद है। संसार के समग्र जीव पशु हैं अर्थात् पाश द्वारा आबद्ध। इस बन्धन के द्वारा ही जीवों को पशुत्व प्राप्ति होती है। शिव नित्य मुक्त और स्वतंत्र हैं अतः पति हैं। गुरु की दीक्षा के बिना जीव को पशुत्व के पाश से मुक्ति नहीं मिल सकती।

मध्यकाल में शैवों का नाथ-सम्प्रदायी रूप महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली हुआ। इसके विभिन्न नाम मिलते हैं—सिद्ध-मत योग-सम्प्रदाय अवधूत-मत इत्यादि और इनकी साधना पद्धति के सिद्धमार्ग योग-मार्ग अथवा अवधूत मार्ग। कापालिक मत वस्तुतः बड़ा रहस्यमय सम्प्रदाय रहा है। कालामुख और कापालिक मत शैव-मत के भयंकर रूप हैं। कपाल-पात्र में भोजन शव-भस्म-लगाना लगुड़-धारण, सुरा-कुंभ-स्थापन तंत्रोक्त देवोपासन के साथ रुद्राक्ष-माला जटाजूट, कपाल, भस्म इन सम्प्रदायों के विशिष्ट चिह्न हैं। गुप्त क्रियाओं द्वारा अनेकानेक सिद्धियों के इच्छुक कापालिक भैरव भक्त थे। माधवाचार्य कृत शंकर विजय और भवभूति के मालती माधव में इन कापालिकों के कर्मों का भयानक वर्णन प्राप्त होता है। सुरा-सेवन मानव-बलि शव-साधना आदि इसके मुख्य अंग रहे हैं।

शाक्त मत

महाभारत के एक अंश में दुर्गा के कुमारी काली कपाली महाकाली चण्डी कात्यायनी कराला विजया कौशिकी उमा कांतारवासिनी नामों का उल्लेख है।[1] शिव की पत्नी उमा हिमवान्-पुत्री पार्वती हैं और शिव-प्राप्ति के लिए कठोर तपश्चर्या करती हैं। पुलिंद शबर बर्बर आदि जातियों की उपास्या के रूप में अरण्य और विन्ध्य पर्वत पर रहने-वाली देवियाँ हैं। देवी-कल्पना के मूल में शक्ति भावना है। शक्तिपूजा-पद्धति गोप्य गुह्य तथा गोपनीय मानी जाती है। शाक्त पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं—काश्मीर, कांची कामाख्या।

---

१ वा पु (६/८६-९१)।
२ वीर शैव फिलासफी ऐंड मिस्टिसिज्म पृ १।
१ दर्शन साहित्य का इतिहास।—देव पृ ५२

पर रहनेवाले अवयवहीन चौरगीनाथ के कटे हुए अग पूर्वरूप मे जुड गए। रहस्य का सकेत मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरक्खनाथ (गोरखनाथ) को बतलाया। शम्भु के समय से परम्परानुगत अद्वैतानन्द का रहस्योद्घाटन किया।[1] ज्ञानेश्वर में भक्ति और योग का समन्वय है। गोरखनाथ में अद्वैतवाद और योग की साधना का समन्वय दीख पडता है। तुलसीदास ने ठीक लक्ष्य किया था कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर भगाया था।[2] मध्यकाल में अद्वैत की नवीन व्याख्या के साथ भक्ति-मार्ग के सतुलन का जो प्रयास हुआ उसके विरुद्ध गोरखनाथ में शाकर अद्वैतवाद के साथ योग की साधना-पद्धति का सामजस्य है। साधना की दृष्टि से पतजल योग शास्त्र के साथ सम्बन्ध जुटा। मत्स्येन्द्रनाथ के कौल-मार्ग का नवीन विधान गोरखनाथ ने प्रवर्तित किया। गोरखनाथ के प्रबल पराक्रम और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण अनेक प्राचीन मत उसके मत में अन्तर्भूत हो गये और इस सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओ का सगठन हुआ।

गोरखनाथ का काल कई दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। मुसलमानी धर्म के प्रवेश और बौद्धधर्म के उत्तर विकास की अवस्था में शैव-शाक्त मतो की विभिन्नता के कारण विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। गोरखनाथ ने विभिन्न योगपरक सम्प्रदायो का विशाल सगठन किया। नाथ सम्प्रदाय साधना-प्रधान धर्म-साधना है जिसका परम काम्य है कैवल्या-वस्थावाली सहज समाधि की प्राप्ति। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद-पाठ से नही, ज्ञान से नहीं, वैराग्य से भी नही।[3] गोरखबानी मे गोरख-पथ के उत्तर विकास के पर्याप्त सकेत मिलते हैं जिसके अनुसार दशम द्वार अथवा ब्रह्मरध्र में सदा ध्यान केन्द्रित रखने, निराकार की उपासना, अजपा का जाप और आत्म-तत्व पर विचार करने से सभी प्रकार की व्याधियाँ नष्ट हो जाती है तथा पाप-पुण्य से ससर्ग छूट जाता है। निरतर एक समान सच्चे हृदय के साथ "राम" में रमना ही एक मात्र उद्देश्य है और इसी के द्वारा परम निधान ब्रह्मपद उपलब्ध होता है।[4] गोरखबानी के पदो का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो विभिन्न साधनाओ का समीकरण और सस्कृत मे लिखे ग्रथो द्वारा प्रवर्तित मार्ग की भिन्नता स्पष्ट हो सकेगी।

मध्यकाल के सन्तो के समय नाथ-सम्प्रदाय का जो स्वरूप था, वह जोगी (योगी) कहलाता था। जोगी अवधूत, रावल उसके नाम थे। सम्प्रदाय की दृष्टि से इनकी भिन्नता

---

१. हिन्दी ज्ञानेश्वरी, पृ० ५३७-५३८।

२. गोरख जगायो जोग भोग भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो कलि ही छरो सो है।—कवि० उत्तर ०८४

३. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १३०-१३१।

४ रहिबा दसवै दुआरि। सेइवा पद निराकार।
जपिले अजपा जाप। बिचारिलै आपै आप॥
छुटिला सबै वियाप। लिपै नहीं वहाँ पुनि पाप॥
अहोनिसि समाधान। निरतर रमेबा राम।
कथै गोरखनाथ ग्यान। पाइया परम निधान।—गोरखबानी, पद ३३, पृ० १२७

पर रहनेवाले अवयवहीन चौरगीनाथ के कटे हुए अग पूर्वरूप में जुड गए। रहस्य का सकेत मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) को वतलाया। शम्भु के समय से परम्परानुगत अद्वैतानन्द का रहस्योद्घाटन किया।[1] ज्ञानेश्वर में भक्ति और योग का समन्वय है। गोरखनाथ मे अद्वैतवाद और योग की सावना का समन्वय दीख पडता है। तुलसीदास ने ठीक लक्ष्य किया था कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर भगाया था।[2] मध्यकाल में अद्वैत की नवीन व्याख्या के साथ भक्ति-मार्ग के सतुलन का जो प्रयास हुआ उसके विरुद्ध गोरखनाथ में शाकर अद्वैतवाद के साथ योग की सावना-पद्धति का सामजस्य है। साधना की दृष्टि से पतजल योग शास्त्र के साथ सम्वन्ध जुटा। मत्स्येन्द्रनाथ के कौल-मार्ग का नवीन विवान गोरखनाथ ने प्रवर्तित किया। गोरखनाथ के प्रवल पराक्रम और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण अनेक प्राचीन मत उसके मत में अन्तर्भूत हो गये और इस सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओ का सगठन हुआ।

गोरखनाथ का काल कई दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। मुसलमानी धर्म के प्रवेश और वौद्धधर्म के उत्तर विकास की अवस्था में शैव-शाक्त मतो की विभिन्नता के कारण विपम परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। गोरखनाथ ने विभिन्न योगपरक सम्प्रदायो का विशाल सगठन किया। नाथ सम्प्रदाय सावना-प्रधान वर्म-सावना है जिसका परम काम्य है कैवल्यावस्थावाली सहज समाधि की प्राप्ति। यह सव गुरु की कृपा से होता है, वेद-पाठ से नही, ज्ञान से नही, वैराग्य से भी नहीं।[3] गोरखवानी में गोरख-पथ के उत्तर विकास के पर्याप्त संकेत मिलते है जिसके अनुसार दशम द्वार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में सदा ध्यान केन्द्रित रखने, निराकार की उपासना, अजपा का जाप और आत्म-तत्व पर विचार करने से सभी प्रकार की व्याधियाँ नष्ट हो जाती है तथा पाप-पुण्य से ससर्ग छूट जाता है। निरतर एक समान सच्चे हृदय के साथ "राम" में रमना ही एक मात्र उद्देश्य है और इसी के द्वारा परम निवान ब्रह्मपद उपलव्ध होता है।[4] गोरखवानी के पदो का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो विभिन्न साधनाओं का समीकरण और सस्कृत में लिखे ग्रथो द्वारा प्रवर्तित मार्ग की भिन्नता स्पष्ट हो सकेगी।

मध्यकाल के सन्तो के समय नाथ-सम्प्रदाय का जो स्वरूप था, वह जोगी (योगी) कहलाता था। जोगी अवधूत, रावल उसके नाम थे। सम्प्रदाय की दृष्टि से इनकी भिन्नता

---

१ हिन्दी ज्ञानेश्वरी, पृ० ५३७-५३८।

२. गोरख जगायो जोग भोग भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो कलि ही छरो सो है।—कवि० उत्तर ०८४

३. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १३०-१३१।

४. रहिबा दसवै दुआरि। सेइवा पद निराकार।
जपिलै अजपा जाप। विचारिलै आपै आप॥
छुटिला सवै वियाप। लिपै नहीं तहाँ पुनि पाप॥
अहोनिसि समाधान। निरतर रमेवा राम।
कथै गोरखनाथ ग्यांन। पाइया परम निधान।—गोरखवानी, पद ३३, पृ० १२७

रही हो किन्तु सन्त को इस विभेद का परिचय नहीं था। कबीरदास का नाथ-सम्प्रदाय के जिस रूप से परिचय था वह सम्भवतया 'अवधूत-भाग ही था। सूरदास ने ऊधो के माध्यम से योगी का जो स्वरूप रखा है उसमें सम्भवतया अवधूत-योगी-ऊधो का रूप था बना है। जायसी ने सिद्ध योगी और अवधूतका अलग-अलग नाम गिनाया है।[1] किन्तु वर्णन के समय जायसी की दृष्टि योगियों की ओर रही थी। जायसी के अनुसार गोरखपंथी सिद्ध 'गोरख गोरख' की रट लगाते थे हाथ में किंगरी कान मे कुंडल गले में रुद्राक्ष की माला हाथ में कमंडल कंधे पर व्याघ्रचर्म पैरों में खड़ाऊँ धारण करते थे तथा मेखला सिंगी चक्र धँधारी अधारी कंथा और सोंटा इनके विशिष्ट चिह्न थे। पैरों में पँवारी सिर पर छत्र और बगल में खप्पर रखते। इनका वस्त्र लाल अर्थात् गेरुए में रँगा होता था।[2]

दक्षिण की सन्त-साधना

मानभाव सम्प्रदाय

दक्षिण में मानभाव सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। इस मत के उपास्य देवता श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय हैं। सम्प्रदाय के वर्ग हैं उपदेशी और संन्यासी। गृहस्थ (उपदेशी) वर्ण-व्यवस्था मानते हैं किन्तु संन्यासी शूद्र और स्त्री भी हो सकते हैं। इनका परमेश्वर निर्गुण निराकार भी होकर सगुण स्वरूप धारण कर भक्तों की रक्षा करता है। 'गीता' इनका मान्य ग्रंथ है और इनपर मानभावी संतों ने स्वमत प्रदर्शिका टीकाएँ लिखी हैं। महानुभाव पंथ के सम्बन्ध में सामान्यतया विश्वास किया जाता है कि यह वेद शास्त्र और ब्राह्मण का विरोधी है। उसके अनुयायी ऐसा बाबा उपस्थित करते हैं कि यज्ञ की पशु-बलि का विरोध करते हुए भी वेद को मान्यता देते हैं तथा वर्णाश्रम में उनका विश्वास है। श्रीबलदेव उपाध्याय के अनुसार वर्ण-व्यवस्था में स्वीकार भी करते हैं और हिन्दुओं का वर्ण भेद मिटाकर सबमें समानता और मैत्री का प्रचार करते हैं।[3] इस सम्प्रदाय में भी योग स्वीकृत है। महाराष्ट्र में मानभावों के प्रति घोर अपवाद दीख पड़ती है।

मानभाव-पंथ का कितना प्रभाव ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वर पर पड़ा यह कहना कठिन है। योग की चर्चा दोनों में है और ज्ञानेश्वर ने गीता पर अपनी प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी टीका लिखी है। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में एक नए 'देव' की कल्पना लेकर जिस अवतार की स्थापना हुई उसका प्रबल प्रभाव महाराष्ट्र जीवन पर पड़ा। यह तीर्थ-स्थान है पंढरी अथवा पंढरपुर और उस परम दैवत का नाम हुआ विठ्ठल। विठ्ठल संस्कृत शब्द नहीं और उसका अर्थ है 'ईंट पर खड़ा"। पुंडलीक अथवा पुंडरीक से जोड़ा जाता है, अनुश्रुति के

---

१ जायसी ग्रंथावली १ पृ १४।
२ वही १२६ पृ १ ६।
३ धर्म और दर्शन प ११।

श्रीकृष्ण के आने पर मातृ-सेवा में संलग्न होने के कारण भगवान् की ओर एक ईंट फेंक-कर कहा—"महाराज, इस ईंट पर विश्राम कीजिए।" और भगवान् श्रीकृष्ण दोनों पैर जुटाकर ईंट पर खड़े हो गए। यही कारण है, उनका नाम है "विट्ठल अर्थात् विठोबा।" प्रत्येक एकादशी और विशेषतः आषाढ़ एवं कार्तिक की एकादशी को कंधे पर पताका और हाथ में झांझ लेकर मुख से "पुंडलीक वरदा हरि विट्ठल" मंत्र का जयघोष करनेवाले भक्तों की वहाँ अपार भीड़ होने लगी और इस सम्प्रदाय का नाम पड़ा "वारकरी"। संत ज्ञानेश्वर के कारण इस सम्प्रदाय की महत्ता अधिक बढ़ी और ज्ञानेश्वरी टीका ने इसका प्रभाव विस्तार किया। गहिनी नाथ से दीक्षित निवृत्ति नाथ (इनके बड़े भाई) से नाथ-पंथी योग की शिक्षा इन्हें मिली थी। अतः, ज्ञानेश्वर में भक्ति और योग का मधुर मिलन दीख पड़ता है। कर्मकाण्डी ब्राह्मण धर्म का यहीं प्रत्याख्यान हुआ है। ज्ञानेश्वर के समकालीन किन्तु उनकी मृत्यु के बाद वर्षों तक जीवित रहनेवाले नामदेव के कारण इस पथ को लोकप्रियता मिली। अभंग नामक मराठी छंदों में इनकी विपुल रचना मिलती है। इस काल में अनेक संत महाराष्ट्र में हुए। प्रत्येक जाति का अपना संत था। कुम्हारों में गोरा और राका, मालियों में सांवता, सुनारों में नरहरि, तेलियों में जोगा, चूड़ी बनानेवालों में शामा, महारों में बंका और चोखा नामक संत हुए, वेश्याओं में कान्होपात्रा दासी जनाबाई। भिक्षा नहीं मांगकर अपने व्यवसाय द्वारा जीवकोपार्जन करना, जाति-पाँति भूलकर परस्पर नमस्कार-वंदन एवं गले लगाना, अभंग रचना और गाना, गाते-गाते तन्मय हो जाना इनके विशिष्ट लक्षण हैं। इस पथ के चार-सम्प्रदाय हैं—चैतन्य, स्वरूप, आनंद और प्रकाश। तुकाराम इस चैतन्य सम्प्रदाय के हैं यद्यपि गौड़ीय चैतन्य के साथ इनके सम्बन्ध का कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नहीं। आनंद सम्प्रदाय के अन्तर्गत नारद, वाल्मीकि, रामानंद, कबीर आदि संत माने जाते हैं। इस वारकरी सम्प्रदाय के साथ उत्तरी संतों का स्पष्ट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता है। नामदेव में कीर्तन प्रधान भक्ति-भावना की प्रधानता है।

भक्ति-आन्दोलन

भागवत के साथ ही शांडिल्य और नारद भक्ति-सूत्रों का भक्त-समाज में सम्मान-पूर्ण स्थान है। इनकी तिथि निश्चित कर सकना अत्यन्त कठिन है। भाषा की प्राचीनता तथा नारदीय-सूत्रों में शाण्डिल्य के उल्लेख के कारण शाण्डिल्य सूत्र नारद-भक्ति-सूत्र से प्राचीन है। शाण्डिल्य-सूत्रों में दार्शनिक ऊहापोह अधिक है और नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति की व्याख्या। भक्ति कर्म और ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[1] अन्य विचारकों की भाँति ज्ञान और भक्ति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध न मानकर नारद-भक्ति को ही परम काम्य और लक्ष्य मानते हैं।[2] "स्पन्द कारिका" में पाँचरात्र श्रुति तथा पाँचरात्र उपनिषदों के उल्लेख मिलते हैं। यामुनाचार्य ने अपने "आगम प्रामाण्य" में पांचरात्र संहिताओं का निर्देश किया है। शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य में पाँचरात्र मत की कड़ी आलोचना

---

१. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। ना० सू० २५ तुलनीय गीता, अध्याय ११/५३-५४
२. ना० भ० सूत्र, २६-३०।

की है।[1] यमुनाचार्य के पश्चात् रामानुजाचार्य ने महाभारत तथा पुराण के अनेक प्रमाणवाक्य उद्धृत कर पांचरात्रागमों को प्रमाण रूप में स्वीकृत किया है।[2] उपनिषदों की ठीक-ठीक व्याख्या शंकर ने की है अथवा रामानुज ने इस प्रश्न को लेकर महत्वपूर्ण विवाद भाज उठ पड़ा है। रामानुज शंकर की भाँति अद्वैतवादी हैं किन्तु इनका अद्वैत विभिन्न प्रकार का मत: विशिष्ट है और रामानुज हैं विशिष्टाद्वैतवादी। भक्ति को दृढ़ दार्शनिक आधार देने का श्रेय रामानुजाचार्य को है। अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है, जीव और प्रकृति उसके विशेषण हैं, इस विशिष्ट रूप में ब्रह्म ही एक तत्व है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव ईश्वर की भाँति ही नित्य है वह अविद्याजन्य कल्पना का स्वरूप मात्र नहीं। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को भिन्न भिन्न प्रकार से समझाने की चेष्टा की गई है जैसे अंश-अंशी अवयव-अवयवी गुण-गुणी के द्वारा। मुक्ति में भी जीव ब्रह्म से भिन्न व्यक्तित्ववाला होता है और उपनिषदों में वर्णित ईश्वर और जीव की एकता अभेदसूचक नहीं, ऐक्य तो है वह विशिष्ट प्रकार का है।[3] रामानुज के अनुसार ईश्वर का निरन्तर स्मरण ही यथार्थ ज्ञान है, यही ध्यान उपासना अथवा भक्ति है। मुक्ति का अर्थ आत्मा परमात्मा का एकीकरण अथवा एकमेक होना नहीं बल्कि ब्रह्म प्रकार हो जाता है।

रामानुजाचार्य यमुनाचार्य के शिष्य थे। यमुनाचार्य की परम्परा वैष्णव भक्तों की है जिनकी परम्परा का प्रारम्भ शैव भक्तों के साथ छठी शताब्दी से हुआ था। रामानुज का श्री वैष्णव सम्प्रदाय इसी शाखा की विशिष्ट कड़ी है। ब्रह्म की सगुण रूप में प्रतिष्ठा इस सम्प्रदाय में हुई थी। सारी जनश्रुतियाँ और परम्पराएँ रामानंद को रामानुज से सम्बद्ध मानती हैं। कल्याण के वेदान्तांक के परिशिष्ट भाग में श्री वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों का उल्लेख है किन्तु वहाँ रामानुज की शिष्य परम्परा में रामानन्द की गणना नहीं की गई है। रामानंद के आनंद भाष्य की प्रामाणिकता अभी तक संशयास्पद ही है। रामानंद चाहे रामानुज की शिष्य-परम्परा में हों अथवा नहीं किन्तु इतना स्पष्ट है कि उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन दक्षिण से आया और तत्कालीन समाज में इसका प्रभाव अधिक रहा। भक्ति का दक्षिणोद्भव पुराण-सम्मत है। पद्मपुराण के अनुसार भक्ति का जन्म प्रसिद्ध देश में, वृद्धि कर्नाटक में, कुछ काल तक स्थिति महाराष्ट्र में और जीर्णता गुर्जर में प्राप्त हुई। विष्णुपुराण के अनुसार भक्ति के उपदेष्टा कालिय अर्थात् कलिमलदेशीय हैं और इसके द्वारा नारी और शूद्र भी सहज ही इष्ट सिद्धि-लाभ करते हैं। भक्ति के उद्भव और विकास की धाराओं से दो संकेत स्पष्ट मिलते हैं। भक्ति का प्रारम्भ और विकास नीच कुलोद्भव अथवा वर्ण-कुलोत्तर संयोग के कारण वर्णसंकर संतति में हुआ। भक्तमाल की टीका में 'हरिभक्ति कलिका' का श्लोक उद्धृत किया गया है। वाल्मीकि कुब्जा विदुर आदि के उल्लेख संकेतपूर्ण हैं। ब्राह्मण-वैष्णव की भेंट दुर्लभ मानी गयी है।[4] पौराणिक भक्तों में विख्यात नारद आदि प्रसिद्ध हैं और

---

१ शा भा २/२/४२/४५।
२ श्रीभाष्य २/२/४२।
३ वही १/१/११।
४ दुर्लभा वैष्णवी नारी दुर्लभो विप्रवैष्णव।
दुर्लभो वैष्णवो राजा अतिदुर्लभ दुर्लभ:॥—प्रियादास द्वारा उद्धृत।

नारदीय भक्ति-सूत्र और प्रतिलोमज व्यास भागवत पुराणकार हैं उत्तरीय भागवत और वैष्णव धर्म का भक्ति-सामजस्य नारदीय भक्ति का स्वरूप निर्णायक है। अत भक्ति-तत्व को दक्षिण में स्पष्टता मिली। भक्ति के दो स्वरूप प्रचलित हुए, शास्त्र-सम्मत-धारा (वैधीशाखा) और शास्त्र-विरोध करनेवाली धारा, जो प्राचीन परम्परा का अनुगमन करती कभी योग और कभी ज्ञान के साथ सबद्ध होती रही। रामानुज, ज्ञानेश्वर, नामदेव को इसी भूमिका में देखना आवश्यक है।

मुस्लिम-धर्म-साधना

भारतीय धर्म-साधना को जिस सगठित सम्प्रदाय से होड लेना पड़ा वह इस्लाम था। अरब की विस्तृत मरुभूमि में इस मतवाद का जन्म हुआ और इसके प्रवर्तक थे हजरत मुहम्मद (५७१ ई०–६३२ई०)। कुरान-शरीफ इस धर्म का मान्य धार्मिक ग्रथ है जो ज्ञान के परम कोष के रूप में स्वीकृत है। मुहम्मद साहब कठोर एकेश्वरवादी थे, जो भारतीय ब्रह्मवाद से भिन्न हैं। ईश्वर की एकता और मुहम्मद साहब की पैगम्बरता पर आस्था मुस्लिम विश्वासो का मूल है।[1] मुस्लिम धर्म-साधना स्थूल दृष्टि से निर्गुणोपासक है किन्तु वह मुख्यत स्थूल एकेश्वरवादी है। नमाज, रोजा, जकात, नबी पर ईमान इसके आवश्यक अग है। मुस्लिम विश्वास के अनुसार निर्णय के दिन जीव जीवित हो उठेंगे और परमात्मा उनका न्याय करेगा। पाप-पुण्य के अनुसार उनके लिए अक्षय स्वर्ग अथवा नरक का विधान करेगा। ईश्वर इस दृष्टि से नितात निर्गुण अथवा निराकार नही, अनेक दैवी शक्तियो का निराकरण कर ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। प्राचीन अरब में नाना देवी देवताओ की उपासना प्रचलित थी, इसी भूमिका में इस्लाम के एकेश्वरवाद की विवेचना होनी चाहिए। मुस्लिम धर्म मे अल्लाह के साकार (तअसीम) और सगुण (तशबीह) स्वरूप की धारणा है। अल्लाह की कल्पना इस धर्म में महादेव अथवा महेश्वर के रूप में हुई। देव-दृष्टि से अल्लाह के अतिरिक्त और कोई पूजनीय नही, उसके समान कोई महत् नही। कुरान में उसके मूर्त स्वरूप का विशद विवरण तथा उसके राज्यसिंहासन का भव्य-चित्रण प्राप्त है। कुरान के अनुसार इस ईश्वर की शक्ति अपार है, वह कर्ता, हर्ता-भर्ता सभी कुछ है। अपनी इच्छा मात्र से वह सृष्टि की रचना और सचालन करता है। वह जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण नही। वह कठोर शासक है और दयालु और कृपालु भी। अपने उपासको पर उसका अशेष अनुराग है और अ-भक्तो पर सीमाहीन क्रोध। वह स्वयभू है, भगवान है, रब्ब है, रहीम है, उदार है, घोर कठोर शासक है, गनी है, नित्य है और कर्ता है। अर्थात् अद्वितीय है, वेदाती ब्रह्मवाद के स्थान मे इसे अद्वितीय एकेश्वर कहना उचित है। प्रत्येक मुसलमान का विश्वास होता है कि परमात्मा एक है, वह अपने आप वर्तमान है। शून्य से उसने वस्तुओ का निर्माण किया है। उसका अस्तित्व किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर नही करता। तत्व, गुण और कार्यो मे वह अद्वितीय है। उसके कार्यो में कोई अन्य भाग नही लेता। उसके तत्व, ज्ञान हमसे भिन्न हैं और विभिन्न हैं उसकी इच्छाएँ, शक्ति और

---

१ लाइलाहइल्लल्लाह मुहम्मददुर्रसूलल्ला। कुरान।

२ द्रष्टव्य-इन्साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम।

की है।[१] यामुनाचार्य के पश्चात् रामानुजाचार्य ने महाभारत तथा पुराण के अनेक प्रमाणवाक्य उद्धृत कर पांचरात्रागमों को प्रमाण रूप में स्वीकृत किया है।[२] उपनिषदों की ठीक-ठीक व्याख्या शंकर ने की है अथवा रामानुज ने इस प्रश्न को लेकर महत्वपूर्ण विवाद आज उठ पड़ा है। रामानुज शंकर की भाँति अद्वैतवादी हैं किन्तु उनका अद्वैत विशिष्ट प्रकार का अतः विशिष्ट है; और रामानुज हैं विशिष्टाद्वैतवादी। भक्ति को दृढ़ दार्शनिक आधार देने का श्रेय रामानुजाचार्य को है। अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है, जीव और प्रकृति उसके विशेषण हैं, इस विशिष्ट रूप में ब्रह्म ही एक तत्व है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव ईश्वर की भाँति ही नित्य है, वह अविद्याजन्य कल्पना का स्वरूप मात्र नहीं। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को भिन्न भिन्न प्रकार से समझाने की चेष्टा की गई है जैसे अंश-अंशी अवयव-अवयवी गुण-गुणी के द्वारा। मुक्ति में भी जीव ब्रह्म से भिन्न व्यक्तित्ववाला होता है और उपनिषदों में वर्णित ईश्वर और जीव की एकता अभेदमूलक नहीं, ऐक्य जो है वह विशिष्ट प्रकार का है।[३] रामानुज के अनुसार ईश्वर का निरन्तर स्मरण ही यथार्थ ज्ञान है, यही ध्यान उपासना अथवा भक्ति है। मुक्ति का अर्थ आत्मा परमात्मा का एकीकरण अथवा एकमेक होना नहीं बल्कि ब्रह्म प्रकार हो जाना है।

रामानुजाचार्य यमुनाचार्य के शिष्य थे। यमुनाचार्य की परम्परा वैष्णव भक्तों की है जिनकी परम्परा का प्रारम्भ शैव भक्तों के साथ छठी शताब्दी में हुआ था। रामानुज का भी वैष्णव सम्प्रदाय इसी शाखा की विशिष्ट कड़ी है। ब्रह्म को सगुण रूप में प्रतिष्ठा इस सम्प्रदाय में हुई थी। सारी जनश्रुतियाँ और परम्पराएँ रामानंद को रामानुज से सम्बद्ध मानती हैं। कल्याण के वेदान्तांक के परिशिष्ट भाग में भी वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों का उल्लेख है किन्तु वहाँ रामानुज की शिष्य परम्परा में रामानन्द की गणना नहीं की गई है। रामानंद के आनंद भाष्य की प्रामाणिकता अभी तक संदेहास्पद ही है। रामानंद चाहे रामानुज की शिष्य-परम्परा में हों अथवा नहीं किन्तु इतना स्पष्ट है कि उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन दक्षिण से आया और तत्कालीन समाज में इसका प्रभाव अधिक रहा। भक्ति का दक्षिणोद्भव पुराण-सम्मत है। पद्मपुराण के अनुसार भक्ति का जन्म द्रविड़ देश में वृद्धि कर्णाटक में, कुछ काल तक स्थिति महाराष्ट्र में और जीर्णता गुजर में प्राप्त हुई। विष्णुपुराण के अनुसार भक्ति के उपदेष्टा कालिन्द अर्थात् कलिंगदेशीय हैं और इसके द्वारा नारी और शूद्र भी सहज ही इष्ट सिद्धि-लाभ करते हैं। भक्ति के उद्भव और विकास की धाराओं से जो संकेत स्पष्ट मिलते हैं। भक्ति का प्रारम्भ और विकास नीच कुलोद्भव अथवा वर्ण शूद्रोत्तर संयोग के कारण उत्पन्न संतति में हुआ। भक्तमाल की टीका में 'हरिभक्त लतिका' का श्लोक उद्धृत किया गया है। वाल्मीकि कुब्जा विदुर आदि के उल्लेख संकेतपूर्ण हैं। ब्राह्मण-वैष्णव की भेंट दुर्लभ मानी गयी है।[४] पौराणिक भक्तों में जितनी नारद आदि प्रसिद्ध हैं और

---

१ शा भा २/२/४१/४२।
२ श्रीभाष्य २/२/४२।
३ वही १/१/११।
४ दुर्लभा वैष्णवी नारी दुर्लभो विप्रवैष्णवः।
दुर्लभो वैष्णवो राजा अतिदुर्लभ दुर्लभः॥—प्रियादास द्वारा उद्धृत।

नारदीय भक्ति-सूत्र और प्रतिलोमज व्यास भागवत पुराणकार हैं उत्तरीय भागवत और वैष्णव धर्म का भक्ति-सामजस्य नारदीय भक्ति का स्वरूप निर्णायक है। अत भक्ति-तत्व को दक्षिण में स्पष्टता मिली। भक्ति के दो स्वरूप प्रचलित हुए, शास्त्र-सम्मत-धारा (वैधीशाखा) और शास्त्र-विरोध करनेवाली धारा, जो प्राचीन परम्परा का अनुगमन करती कभी योग और कभी ज्ञान के साथ सबद्ध होती रही। रामानुज, ज्ञानेश्वर, नामदेव को इसी भूमिका मे देखना आवश्यक है।

मुस्लिम-धर्म-साधना

भारतीय धर्म-साधना को जिस सगठित सम्प्रदाय से होड लेना पडा वह इस्लाम था। अरब की विस्तृत मरुभूमि मे इस मतवाद का जन्म हुआ और इसके प्रवर्तक थे हजरत मुहम्मद (५७१ ई०–६३२ई०)। कुरान-शरीफ इस धर्म का मान्य धार्मिक ग्रथ है जो ज्ञान के परम कोष के रूप में स्वीकृत है। मुहम्मद साहब कठोर एकेश्वरवादी थे, जो भारतीय ब्रह्मवाद से भिन्न है। ईश्वर की एकता और मुहम्मद साहब को पैगम्बरता पर आस्था मुस्लिम विश्वासो का मूल है।[1] मुस्लिम धर्म-साधना स्थूल दृष्टि से निर्गुणोपासक है किन्तु वह मुख्यत स्थूल एकेश्वरवादी है। नमाज, रोजा, जकात, नबी पर ईमान इसके आवश्यक अग है। मुस्लिम विश्वास के अनुसार निर्णय के दिन जीव जीवित हो उठेंगे और परमात्मा उनका न्याय करेगा। पाप-पुण्य के अनुसार उनके लिए अक्षय स्वर्ग अथवा नरक का विधान करेगा। ईश्वर इस दृष्टि से नितात निर्गुण अथवा निराकार नही, अनेक दैवी शक्तियो का निराकरण कर ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। प्राचीन अरब में नाना देवी देवताओ की उपासना प्रचलित थी, इसी भूमिका मे इस्लाम के एकेश्वरवाद की विवेचना होनी चाहिए। मुस्लिम धर्म में अल्लाह के साकार (तअसीम) और सगुण (तशवीह) स्वरूप की धारणा है। अल्लाह की कल्पना इस धर्म में महादेव अथवा महेश्वर के रूप मे हुई। देव-दृष्टि से अल्लाह के अतिरिक्त और कोई पूजनीय नही, उसके समान कोई महत् नही। कुरान में उसके मूर्त स्वरूप का विशद विवरण तथा उसके राज्यसिंहासन का भव्य-चित्रण प्राप्त है। कुरान के अनुसार इस ईश्वर की शक्ति अपार है, वह कर्ता, हर्ता-भर्ता सभी कुछ है। अपनी इच्छा मात्र से वह सृष्टि की रचना और सचालन करता है। वह जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण नही। वह कठोर शासक है और दयालु और कृपालु भी। अपने उपासको पर उसका अशेष अनुराग है और अ-भक्तो पर सीमाहीन क्रोध। वह स्वयभू है, भगवान है, रब्ब है, रहीम है, उदार है, घोर कठोर शासक है, गनी है, नित्य है और कर्ता है। अर्थात् अद्वितीय है, वेदाती ब्रह्मवाद के स्थान में इसे अद्वितीय एकेश्वर कहना उचित है। प्रत्येक मुसलमान का विश्वास होता है कि परमात्मा एक है, वह अपने आप वर्तमान है। शून्य से उसने वस्तुओ का निर्माण किया है। उसका अस्तित्व किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर नही करता। तत्व, गुण और कार्यों में वह अद्वितीय है। उसके कार्यों में कोई अन्य भाग नही लेता। उसके तत्व, ज्ञान हमसे भिन्न हैं और विभिन्न हैं उसकी इच्छाएँ, शक्ति और

---

१. लाइलाइल्लल्लाह मुहम्मददुर्रसूलल्ला। कुरान।

२ द्रष्टव्य-इन्साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम।

भाषागत धादि नामों के मतिरिक्त उसके प्रवयवों से हमारे प्रवयवों की कोई समानता नहीं। मानवीय व्यापार भी उसकी सृष्टि के अंग हैं। वह सभी वस्तुओं के चतुर्दिक छाया रहता है। प्रत्येक वस्तु के वह समीप और साथ है किन्तु उसके सामीप्य और साहचर्य का हमें भान नहीं होता।[1] यह इत्तादिया सम्प्रदाय का दृष्टिकोण है जो द्वैतवादी है। मुस्लिम विचार-धारा अद्वैतपरक नहीं। इस्लाम की महत्ता सामाजिक दर्शन के कारण मानी जाती है जिसकी चर्चा हम अन्यत्र कर रहे हैं किन्तु इतना स्मरण रखना उचित है कि भारत में इस्लाम पूर्णतया सफल नहीं हो सका। मिस्र उत्तरी अफ्रीका, एशियामाइनर, फारस मध्य एशिया आदि भू-खण्ड जो इस्लाम के झंडे के नीचे आए पूर्णतया इस्लामी हो गये। केवल चीन और भारत इसके अपवाद स्वरूप हैं। भारत ने उतनी आसानी से इस्लाम को नहीं स्वीकार किया तलवार की धार, राज्याश्रय का मोह, प्रचारकों की फुसलाहट पूर्णतया विजयी न हो सकी और हिन्दू धर्म ने सफलतापूर्वक इसका विरोध किया।[2]

भारतीय धर्म-साधना और सामाजिक संगठन ने जहाँ अन्य विजातियों को आत्मसात् कर लिया वहाँ वह इस्लाम को अपने में घुला-मिला लेने की क्षमता न रख सकी। मुस्लिम शासकों ने मुस्लिम धर्म के प्रचार के लिए अथक प्रयत्न किया कारण उसकी सामाजिक शिला पर ही उनका शासन व्यवस्थित रूप से चल सकता था। व्यापारी, साधक और उपदेशकों का दल इस कार्य में सहायक था जिन्हें शासन-व्यवस्था की ओर से छूट थी एवं न्याय-व्यवस्था में समानता का व्यवहार नहीं था। अमीर खुसरो ने अपने समसामयिक अलाउद्दीन के धर्म-प्रचारोत्साह का सविस्तर वर्णन खजाईन-ए-फ़ुतूह में किया है।[3] इस्लाम के स्वीकार करने के कई कारण थे राज्य-शासन में अधिकार, सामाजिक विषमता का निराकरण सुल्तान और शासकों की सेवा करने की कामना, मनुस्मार हिन्दू-समाज की संकुचित धारणा, धर्म प्रचारकों की उदारता, न्यायाधिकरण का पक्षपात अकाल और भोजनाभाव के कारण मुस्लिम सूबों में प्राप्त अन्न आदि। भारतीय इस्लाम सफल इस अर्थ में रहा कि भारतीय समाज में अपना स्वत्व-विलयन नहीं कर सका और असफल इस अर्थ में कि सम्पूर्ण भारत को इस्लामी बनाने में असमर्थ रहा और भारतीय धर्म-साधना के तत्वों को ग्रहण किया। साधु-संन्यासियों के जो संगठन हिन्दू-समाज में सम्मान्य नहीं थे उनको सूफ़ी ने आश्रय दिया। इनके हिंदू और मुस्लिम रूप आज भी प्राप्त हैं। कबीरदास इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं उस समय निम्नस्तरीय समाज के दोनों रूपों की विभाजक रेखा भी क्षीण थी।

सूफ़ी सम्प्रदाय

सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति और उस मत के उद्भव के सम्बन्ध में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचना सम्भव नहीं। कुछ विचारकों के अनुसार आदम[4] (प्रथम पुरुष) ही सूफ़ी था और यह मत उसकी परम्परा में ही चला। सूफ़ी सम्प्रदाय इस्लामी है, अतः कुछ विचा-

---

१　इम्प—एर मीर अहमद कृत तसनीफ-ए अहमदिया।
२　इण्डियन इस्लाम पृ ७।
३　इण्डियन इस्लाम पृ० ११ पर उद्धृत।
४　अदीब इन लाहौर पृ ११८।

रकों को कुरान में ही इसके आदिम भाव और विचार मिले। सूफी मत का शास्त्र-सम्मत धर्म से विरोध होने के कारण कुछ लोगों की धारणा है कि मुहम्मद साहब ने स्वय इसकी शिक्षा नही दी थी, इसका रहस्य एक अन्य व्यक्ति को बतला दिया था। प्रारम्भ में सूफी वह व्यक्ति था जो विलासपूर्ण जीवन के विरोध मे सामान्य और नैतिक जीवन का पक्षपाती रहा। वह प्रेम का पुजारी नही, सद्भाव की मूर्ति था। धार्मिक कृत्यो अथवा विश्वासो में कोई विभिन्नता नही, केवल आचरण की विभिन्नता थी। सूफी भक्तिनो मे रबिया का नाम बडी श्रद्धा के साथ लिया जाता है, जो अपने को परमात्मा की दुलहिन कहती है। माधुर्य-भाव की पूर्ण परिणति रबिया में हुई।[1] राजनीतिक दृष्टि से ईरान अरब द्वारा पराजित होकर भी सास्कृतक दृष्टि से विजयी हुआ। तसव्वुफ का व्यापक और प्रचलित स्वरूप ईरान में ही विकसित हुआ। कुरान की नई व्याख्याएँ की गईं। इस प्रकार इस्लामी दर्शन की विभिन्न शाखाएँ हुईं और विभिन्न सम्प्रदाय सगठित हुए।

भारत में मुस्लिम धर्म के प्रसार और प्रचार में सूफियो का गहरा हाथ रहा है। प्रारभिक सूफी-मत और उत्तर विकास की भिन्नता को स्पष्ट रूप से नही हृदयंगम करने के कारण अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण भ्रम हुए हैं। मुस्लिम धर्म-प्रचारको से इनमें भिन्नता है। सूफीमत का स्पष्ट विकास ईसा की दसवी शताब्दी मे मिलता है। इन प्रचारको का कोई सघ नही बल्कि वस्तुत वे व्यक्ति थे जिनमे दार्शनिक मत-भेद अथवा आचार की विभिन्नता नही थी। सक्षम व्यक्तित्व के साथ शिष्यो-प्रशिष्यो की मण्डली जुट जाती और इस प्रकार नये दरवेश-खान्दान उठ खडे होते। पुराने मुर्शिदो के शिष्य नए प्रभावशाली गुरुओ की परम्परा में दीक्षित हो जाते। इनका उद्देश्य दार्शनिक सिद्धात-निरूपण अथवा मतवाद की प्रतिष्ठा न थी बल्कि साधारण जनता में मुस्लिम धर्म का प्रचार था। इसमें सन्देह नही कि साधारण जनता को इस्लाम में दीक्षित करने का श्रेय इन्हें भी है।[2] अलामूतमारस से नूर सतागर (लोक-कथाओं में वह नूर सौदागर हो गया) इस्लामिया दल के अध्यक्ष द्वारा भारत भेजा गया। वह सिद्धराज (सन् १०९४–११४३ ई०) के शासन-काल में गुजरात पहुँचा। उससे प्रभावित होकर कन्बी, खरवास और कोरी नाम की नीची जातियो ने अपना धर्म परिवर्तित किया। खोजा लोग नूर सतागर को अपना प्रधान धर्मोपदेशक मानते हैं। सूफी लोगो का प्रारभिक प्रभाव सिंध में पडा। हसन सुहरावर्दी के अनुसार इनका सफल नेतृत्व मुलतान के बहा-अल्-हक बहा-अल्-दीन जकरिया (११७०–१२६७ ई०) ने किया। बुखारा के सैयद जलालुद्दीन १२४४ ई० में सिंध आए। सैयद सदरुद्दीन और उनके सुपुत्र कबीरुद्दीन के प्रयास से अनेक लोगो ने मुस्लिम धर्म स्वीकार किया। पजाब की कई जातियाँ जलालुद्दीन के पोते सैयद अहमद कबीर (उपाधि-मखदूम-ए-जहानियाँ) के कारण इस्लाम में दीक्षित हुई। चिश्तिया खान्दान के प्रतिष्ठापक ख्वाजा अबू-अब्द-अल्लाह चिश्ती (मृ० सन्० ९६५६) थे और इस सम्प्रदाय का भारत-प्रवेश ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (सन् ११४२-१२३६) के साथ हुआ। शाहाबुद्दीन की सेना के साथ ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती भारत आए

१ मैकडॉनल्ड, मुसलिम थियोलोजी, पृ० १७३।
२ प्रीचिंग्स आफ इस्लाम, अर्नाल्ड सर थाम्स।

बाधाकृति आदि नामों के अतिरिक्त उसके अवयवों से हमारे अवयवों की कोई समानता नहीं। मानवीय व्यापार भी उसकी सृष्टि के अंग हैं। वह सभी वस्तुओं के चतुर्दिक छाया रहता है। प्रत्येक वस्तु के वह समीप और साथ है किन्तु उसके सामीप्य और साहचर्य का हमें भान नहीं होता।[1] यह इत्तादिया सम्प्रदाय का दृष्टिकोण है जो द्वैतवादी है। मुस्लिम विचार-धारा अद्वैतपरक नहीं। *इस्लाम की महत्ता सामाजिक बन्धन के कारण मानी जाती है,* जिसकी चर्चा हम अन्यत्र कर रहे हैं किन्तु इतना स्मरण रखना उचित है कि भारत में इस्लाम पूर्णतया सफल नहीं हो सका। मिस्र उत्तरी अफ्रीका, एशियामाइनर, फारस मध्य एशिया आदि भू-खण्ड जो इस्लाम के झंडे के नीचे आए पूर्णतया इस्लामी हो गये। केवल चीन और भारत इसके अपवाद स्वरूप हैं। भारत ने उतनी आसानी से इस्लाम को नहीं स्वीकार किया तलवार की धार, राज्याश्रय का मोह, प्रचारकों की फुसलाहट पूर्णतया विजयी न हो सकी और हिन्दू धर्म ने सफलतापूर्वक इसका विरोध किया।[2]

भारतीय धर्म-साधना और सामाजिक संगठन ने जहाँ अन्य विजातियों को आत्मसात् कर लिया वहाँ वह इस्लाम को अपने में घुला-मिला लेने की क्षमता न रख सकी। मुस्लिम शासकों ने मुस्लिम धर्म के प्रचार के लिए अथक प्रयत्न किया कारण उसकी सामाजिक शिला पर ही उनका शासन व्यवस्थित रूप से चल सकता था। व्यापारी, साधक और उपदेशकों का दल इस कार्य में सहायक था जिन्हें शासन-व्यवस्था की ओर से छूट थी एवं न्याय-व्यवस्था में समानता का व्यवहार नहीं था। अमीर खुसरो ने अपने समसामयिक अलाउद्दीन के धर्म प्रचारोत्साह का सविस्तर वर्णन तवारीख-ए-अलाई में किया है।[3] इस्लाम के स्वीकार करने के कई कारण थे राज्य-शासन में अधिकार, सामाजिक विषमता का निराकरण सुल्तान और शासकों की सेवा करने की योग्यता, अनुदार हिन्दू-समाज की संकुचित धारणा, धर्म-प्रचारकों की उदारता, न्यायाधिकरण का पक्षपात अकाल और मोहताजखाना के कारण मुस्लिम सूत्रों में प्राप्त अन्न आदि। भारतीय इस्लाम सफल इस अर्थ में रहा कि भारतीय समाज में अपना स्वरूप-विलयन नहीं कर सका और असफल इस अर्थ में कि सम्पूर्ण भारत को इस्लामी बनाने में असमर्थ रहा और भारतीय धर्म-साधना के तत्त्वों को ग्रहण किया। साधु-संन्यासियों के जो संगठन हिन्दू-समाज में सम्मान्य नहीं थे उनमें कुछ ने आश्रय पाया। इनके हिन्दू और मुस्लिम रूप आज भी प्राप्त हैं। कबीरदास इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं, उस समय निम्नस्तरीय समाज के दोनों रूपों की विभाजक रेखा भी क्षीण थी।

सूफी-सम्प्रदाय

सूफी शब्द की व्युत्पत्ति और इस मत के उद्भव के सम्बन्ध में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचना सम्भव नहीं। कुछ विचारकों के अनुसार आदम[4] (प्रथम पुरुष) ही सूफी था और यह मत उसकी परम्परा में ही चला। सूफी सम्प्रदाय इस्लामी है, अतः कुछ विचा-

---

१ इस्लाम—सर सैयद अहमद कृत तहजीब-ए-अहमदिया।
२ इण्डियन इस्लाम पृ ७।
३ इण्डियन इस्लाम पृ० ११ पर उद्धृत।
४ स्टडीज इन तसव्वुफ, पृ ११८।

चर्चा विवेचना है। आडवारो की भक्ति-पद्धति में विरह-कातरता, प्रेमोन्माद की चरमता है। सूफी प्रेम की एकागिता के साथ जो दार्शनिक तत्ववाद जुटा वह भारतीय अद्वैतवाद है। इस्लाम के एकेश्वरवादी अद्वितीयवाद और भारतीय अद्वैतवाद के एकीकरण का प्रयास बाद में चलकर हुआ जिसकी स्पष्ट परिणति दाराशिकोह के "दो समुद्रो के सगम" में परिलक्षित हुई। जायसी एक ओर तो इस्लामी परम्परा में आरम्भवादी हैं और दूसरी ओर भारतीय परम्परा मे अद्वैतवादी भी। सूफी-साधना ने दोनो धर्म-सम्प्रदायो के विभिन्न तत्वो में अविरोध दिखाकर मत-परिवर्तन का मार्ग स्पष्ट किया। इन सूफियो का एक ऐसा दल भी रहा जो "कुफ्र-रीति" और इस्लामी रीति में अभेद देखता था।

सूफियो के दो विभेद है—शास्त्रानुयायी और शास्त्रनिरपेक्ष। एक सम्प्रदाय मुहम्मद साहब तक में विश्वास नही रखता, उसके अनुसार प्रलय के दिन एक छोटा-सा समुदाय अलग खडा था। मुहम्मद साहब के परमात्मा से प्रश्न पूछने पर उसने कहा और लोग तुम्हें (मुहम्मद साहब को) जानते हैं और यह स्वतत्र समुदाय उसे (स्वय परमात्मा को) जानता है। सर्वात्मवाद और तसव्वुफ को एक मान लेने के कारण कई महत्वपूर्ण भ्रम फैले हैं। सूफी-सम्प्रदाय का महत्व इसकी दार्शनिक उद्भावना में नही बल्कि इसकी साधना-प्रणाली और प्रतीक-पद्धति में दीख पडेगी। सूफी मतवाद चार मुकामात स्वीकार करता है—शरीअत, तरीकत, मारिकत और हकीकत। सूफी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठित शब्दावली में आरिफ, सालिक, तालिब, हाल, जज्ब, विसाल, जौक, इश्क, जाहिद, बेखुदी आदि हैं।[1] रसूल, निर्णय का दिवस, स्वर्गीय दूत (फिरिश्ता) आदि पर सूफी विश्वास रखता है। जन्मान्तर-वाद और कर्मवाद में उसका विश्वास नही। सृष्टि-प्रक्रिया भी उसकी मुसलमानी विश्वासो के अनुसार होती है। भारतीय सूफीमत का स्पष्ट निदर्शन जायसी में मिलता है। भारतीय सूफीमत की विशेषता है, इस्लामी एकेश्वरवाद के साथ वेदान्ती ब्रह्मवाद का अनमेल गठबन्धन,[2] आवागमन में अनास्था रखते हुए भी माया में विश्वास, साधन रूप में इस्लाम के साथ प्रेम-साधना और कुछ अशो में यौगिक क्रियाओ में आस्था, मुहम्मद के ईश्वर-दूतत्व, नमाज, आचरण की पवित्रता, मुस्लिम आचार इसके प्रमुख लक्षण हैं। काव्य के पक्ष में सूफी-सम्प्रदाय ने साम्प्रदायिक भाषा और शैली का विकास किया है।

प्रारभिक काल में सूफियो को शासको और काजीमुल्ला का विरोध सहन करना पडा था। मुस्लिम शासको में विलासितापूर्ण जीवन का जो स्पष्ट मोह था, वह सूफी आस्था के विरुद्ध है। काजी-मुल्ला इस्लाम के जिस वैधीरूप के पक्षपाती थे, वह सूफियो को मान्य नही था। शासको पर प्रभुत्व-स्थापन के लिए सूफियो और मुल्ला वर्ग में विरोध उठ खडा होता था। शासको ने प्रारभिक अवस्था काल में मुल्लाओ के समर्थन की प्राप्ति के लिए उनका साथ दिया था। सूफी-मुल्ला दोनो के उद्देश्य में एकता रहने पर भी साधन और प्रणाली में अतर था।

---

१ अवारिफुल मारिफत की भूमिका, पृ० ४–५।

२. द्रष्टव्य—जायसी ग्रथावली में ब्रह्म (पृ० ४, ११६ ३५३, ३५७) और अल्लाह (पृ० १-२) सबधी विचार।

और अजमेर को अपना निवास स्थान बनाया जहाँ सन् १२३६ ई० में आपकी मृत्यु हुई। इस सम्प्रदाय को निजामुद्दीन औलिया (१२३८–१३२५) के कारण प्रतिष्ठा मिली जिसकी दरगाह दिल्ली के समीप है।[१] कहा जाता है कि ख्वाजा मुइनुद्दीन का पहला शिष्य कोई जोगी सम्भवतया नाथ-पंथी हुआ। हिन्दुओं में भी ख्वाजा की अच्छी प्रतिष्ठा हुई अनेक लोग शिष्य-मुरीद हुए और इनके प्रभाव के कारण कुछ लोग मुसलमान बने। अजमेर की यात्रा करते समय आप दिल्ली में ठहरे और इस अल्प काल में ही ७० व्यक्ति मुसलमान हुए। प्रारंभ में हिन्दुओं और मुसलमानों का विरोध प्रबल नहीं था। इस प्रारंभिक काल में बौद्धों और मुसलमानों में संघर्ष हुआ। बौद्ध धर्म के तान्त्रिक स्वरूप और नाथ-पंथी साधुओं और गृहस्थों के इस्लाम में दीक्षित होने के कारण यौगिक क्रियाएँ सूफियों में भी प्रविष्ट हो गई। सिकन्दर लोदी के समकालीन शेख बडन सुत्तारी ने अपने चाचा शेख रिजकुल्ला को दीक्षा दी थी। शेख रिजकुल्ला का उपनाम मुश्तकी था और उनकी हिन्दी उपाधि राजन अथवा रज्जन थी। रज्जन ने जोत निरंजन नामक हिन्दी ग्रंथ लिखा।[२] जायसी की यौगिक क्रियाओं का विस्तारपूर्ण ज्ञान है। तेरहवीं शताब्दी के मध्य में ईराक के बू-अली-कलंदर ने पानीपत को अपना स्थान चुना और धर्म-प्रचार किया। यहाँ के समीपवर्ती मुसलमान अपने को अमरसिंह का वंशज कहते हैं।[३]

अबुल फजल के अनुसार माया-मुक्त जीव की तपश्चर्या और ईश्वरोपासना में नवीन मार्गरत अथवा जहेरम का उद्बोधक विशिष्ट सम्प्रदाय का संस्थापक स्वीकार किया जाता था जिसकी शिष्य प्रणाली उसके मार्ग का अनुगमन करती प्रसार करती थी।[४] इस लेखक ने सूफियों के चौदह खान्दान का उल्लेख किया। प्रोफेसर असकरी की स्थापना है कि भ्रमवश उसने सुत्तारी का यहाँ उल्लेख नहीं किया है कारण इस खान्दान का उल्लेख उसके ग्रंथ में ही अन्यत्र प्राप्त है। सभी प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि सूफी सम्प्रदाय का आगमन ईसा की १२ वीं शताब्दी में होता है, तेरहवीं शताब्दी में इसको प्रतिष्ठा होती है और चौदहवीं शताब्दी में इसका महत्वपूर्ण प्रभाव दीख पड़ता है।

सूफियों के प्रसिद्ध सम्प्रदायों में सुहरावर्दिया चिश्तिया कादिरिया नक्शबंदिया और सुत्तारी है। आत्मा-परमात्मा-संबंध की दृष्टि से सूफियों के दो प्रधान सम्प्रदायों की चर्चा होती है और वे हैं—हुलुलिया जिसका विश्वास था कि परमात्मा उनमें प्रविष्ट हो गया है और सभी पवित्र व्यक्तियों की आत्मा में वह प्रविष्ट हो जाता है, एवं इत्तिहादिया जिसके अनुसार परमात्मा प्रत्येक शुद्ध और प्रबुद्ध व्यक्ति के साथ एकत्व स्थापित करता है, वह अग्नि है और आत्मा ज्वलनोपजीवी कोयला। आत्मा-परमात्मा से एकत्व स्थापित कर परमात्मा-स्वरूप बन जाती है। सूफी-साधना प्रेम-साधना है। भारतीय साधना-पद्धति में प्रेमाभक्ति का अभाव नहीं था। भागवत और नारद-भक्ति-सूत्र में प्रेम स्वरूप की सम्यक्

---

१ इण्डियन इस्लाम पृ ४२।

२ ज बि रि सो सूफी सेंट्स आफ बिहार, प्रो असकरी भाग ३७।१ २, १९५१।

३ अर्नाल्ड पृ २८२।

४ आईन-ए-अकबरी, भाग ३ पृ० ३५७।

व्यक्तित्व नाथो और योगियो को एकत्व-सूत्र मे बांध रखने मे असमर्थ हो चला था और योगियो के अनेकानेक पथ प्रचलित हो चले थे। गोरखनाथ के सबल व्यक्तित्व के कारण जो सम्प्रदाय कनफटा योगियो के दल में अन्तर्भूत हो गए थे, कालान्तर में वे विच्छिन्न होने लगे, और इनके स्वतन्त्र दल हो गए। इनके अतिरिक्त वैष्णव साधु-भक्त और वैरागी सन्यासी थे। दिगम्बर साधुओ का भी परिव्राजक सम्प्रदाय था। योगियो में कुछ नग्न रहनेवाले और कुछ बाघाम्बर धारण करनेवाले थे।[१] कुछ के सिर घुटे होते, कानो में मजूषा होती और होता शरीर पर भस्म का लेप।[२] सत-साहित्य में कापालिको के सबध मे अधिक उलेख नही मिलता। शाक्तों में इनकी गणना कर इनके प्रति रोष प्रकट किया गया है। भैरवानन्द नामक कापालिक का वर्णन साहित्य मे आया है कि जिसके सिर पर अनेक रगो की टोपी थी, जो दोनो कानो को ढँक रखती थी। वह बत्तीस अगुल लम्बा दण्ड हाथो से उछालता था। गले में विचित्र रूप से सजा हुआ योग-पट्ट था, पैरो में पादुका थी और तडातड सिंगी बजाता था। चर्यापदो में कपाली, कापाली, कवाली के साथ अवधूत, भिक्षु, योगिनी और नाथ का भी उल्लेख प्राप्त है। कबीर-ग्रथावली में लुचित, मुडित, मौनी और जटाधारी सन्यासी साधुओ का स्पष्ट रूप में कथन है।[२] योगी, यती, तपी और सन्यासियो को तो ज्ञान-हीन मानते ही हैं।[3] जैनी साधुओ से भी सतो का परिचय था।[४]

पौराणिक साधु-सन्यासियो में वेदी, शब्दी, मौनी और बनखण्डी (वानप्रस्थी) उल्लेखनीय हैं। गोरखबानी के साक्ष्य पर दडी, कापडी, पावडी, नागा, मौनी और दूधाधारी साधु थे।[५] योग की परम्परा प्राचीन थी और योगियो के विभिन्न सम्प्रदाय थे। सिद्धि-प्राप्ति के लिए उत्तर दिशा महत्वपूर्ण समझी जाती थी। साधु-सन्यासी चार-पाँच जमात बाँधकर रहते और दसबीस मिलकर इधर-उधर भटकते थे, अफीम और भ ग खाते थे।[६] घर त्याग कर कुटी छवाते थे और यह तामसी त्याग उन्हें भिक्षा माँगने को बाध्य करता था। चेले-चेलियो के समूह से वे भिक्षा मँगवाते थे। घर की सुन्दरी स्त्रियो का त्याग कर किसी असुन्दर के साथ रमण की लालसा रखते थे।[७] योगी, सिद्ध, अवधूत से सतो का अच्छा

१. पर्या०, १०/२, १०/४, ११/२, ११/५, १८/२।

२. क० ग्रं०, पद १३३, पृ० १३०, बीज०, सबद ३८।
तुलनीय सरहपादीय दो० को०, ८६-८७।

३. स० क०, रागुआसा ५, गउडी ५१, क० ग्रं०, पद १६२, पृ० १५२।

४ बीज०, रमैनी ३०।

५. डडी सो जो आपै डडे।—गो० बा० पद ७६।
कापडी साधु तीरथ भ्रमाया।—वही, पद ६६।
पावड़िया पग फिलसै अवधू, लौहे छीजत काया।
नागामूनी दूधाधारी एता जोग न पाया।—वही, पद ३६
दूधाधारी परघरि चित, नागा लकडी चाहै नित।
मौनी करै मत्र की आस, बिनु गुरु गुदडी नहीं बेसास।—वही, पद ४६

६. गो० बा०, सबदी १७६ और २०८।

७. मिदर छाडै कुटी बँधावै। त्यागै माया और मँगावै।
सुदरी छाडै नकटी बासै। तातै गोरख अलगे न्हासै॥—गो० बा०, सबदी २०६

सम्प्रदाय-संगठन

विभिन्न सम्प्रदायों के इस संक्षिप्त उल्लेख के साथ हम इस स्थिति में हैं कि तत्कालीन धर्म-सम्प्रदायों के संगठन का परिचय प्राप्त कर सकें। साधारणतया समाज दो भागों में विभक्त था—संन्यासी और गृहस्थ। वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार एक ही व्यक्ति ब्रह्मचारी गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर संन्यास ग्रहण करता था किन्तु संन्यासियों के दल संगठित होते रहे। पाणिनिकाल में 'मस्करी' परिव्राजकों का एक सम्प्रदाय था। बौद्ध ग्रंथों में ६२ और जैन ग्रन्थों १६३ पंथों की चर्चा आई है। जैन-बौद्ध सम्प्रदायों ने अपने मतवाद के प्रचार के लिए संन्यासी-संघों का संगठन किया। इस प्रकार साधारण गृहस्थ से भिन्न धर्माचारी संन्यासी-संघों की परम्परा सुदृढ़ हुई। साधारण जनता के लिए आवश्यक छूटें थीं। बौद्धों के उत्तर विकास, शैव-शाक्त-वैष्णवमतों की स्थापना के कारण संन्यासी अथवा गृह-त्यागी विरागियों की संख्या बढ़ती रही। शंकर ने मठों की स्थापना विहारों के अनुकरण पर की और मठाधीशों को महानुशासन के द्वारा निर्दिष्ट प्रान्तों में भ्रमण और धर्मोपदेश की व्यवस्था दी। स्वयं शंकर ने दिग्विजय कर अनेक इतर मतवादियों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। भक्तों के भी अपने अलग-अलग सम्प्रदाय हैं और उनकी विभिन्न संन्यासी-मण्डली। योगियों में साधन-प्रणाली की विभिन्नता के कारण भी अनेकानेक पंथों की स्थापना हुई।

मध्यकाल में आते-आते साधु-संन्यासियों के संगठनों का बाहुल्य हो चुका रहता है। हमने अन्यत्र लक्षित किया है कि इन साधु-संगठनों का प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर गहरा था। यहाँ इनके कुछ सम्प्रदायों और संगठनों की चर्चा अपेक्षित है। सरहपा ने ऐसे गृह-त्यागी संन्यासियों का उल्लेख किया है जो भस्म रमाते और सिर पर जटायें धारण करते थे। *कोई एकदण्डी था कोई त्रिदण्डी।*[1] *गोरखबानी में औघड़ी (पैरों में लोहे की सांकल* जकड़कर चलनेवाले) नाथा नीमी और दूधाधारी सम्प्रदायों का उल्लेख है। भिक्षा माँगकर खाना और गाँवों से बाहर पेड़ों के नीचे वास करना इनके लिए आवश्यक था। वनों में रहनेवाले गेरुआ वस्त्रधारी होते थे।[2] कापड़ी-संन्यासी तीर्थ-यात्रा के महत्त्व की प्रतिष्ठा चाहते थे। स्त्री के मरने के पश्चात् धन नष्ट होने अथवा अकाल-दुष्काल में भरपेट अन्न की आशा से मनुष्य संन्यासी हो जाता था। इनके गृहस्थाश्रम में लौटने का द्वार बंद होने से इनकी संख्या में वृद्धि होती रही। अनुन्दरी और विकसाप स्त्रियाँ योगिन बनती थीं। ऐसे योगियों का अभाव नहीं था जो धन जोड़-जोड़ कर ऐश्वर्यशाली हो गए थे, जिनकी तोंदें निकल आई थीं और जिनकी कामतृप्ति रखेलियों द्वारा होती थी।[4]

कबीरदास और उनके परवर्ती संतों का जिनसे गहरा परिचय है, वे हैं—योगी पंडित और काजी मुल्ला। वस्तुतः इन तीन प्रकार की आचार-पद्धतियों से इन्हें लोहा लेना पड़ा था। संत के प्रमाण पर यह स्पष्टतया लक्षित किया जा सकता है कि गोरखनाथ का सामंजस्यपूर्ण

---

१ दो को, १-४।
२ गो बा पृ १२/१६४।
३ बड़थ्वालजी ने इन्हें 'रमता-राम' नाम दिया है। द्रष्टव्य सपादक की भूमिका पृ ४८।
४ गो बा पृ ७०/१४७ ४८।

व्यक्तित्व नाथो और योगियो को एकत्व-सूत्र में बाँध रखने मे असमर्थ हो चला था और योगियो के अनेकानेक पथ प्रचलित हो चले थे। गोरखनाथ के सबल व्यक्तित्व के कारण जो सम्प्रदाय कनफटा योगियो के दल में अन्तर्भूत हो गए थे, कालान्तर में वे विच्छिन्न होने लगे, और इनके स्वतन्त्र दल हो गए। इनके अतिरिक्त वैष्णव साधु-भक्त और वैरागी सन्यासी थे। दिगम्बर साधुओ का भी परिव्राजक सम्प्रदाय था। योगियो में कुछ नग्न रहनेवाले और कुछ बाघाम्बर धारण करनेवाले थे।[१] कुछ के सिर घुटे होते, कानो मे मजूषा होती और होता शरीर पर भस्म का लेप।[२] सत-साहित्य मे कापालिको के सबध में अधिक उलेख नही मिलता। शाक्तो मे इनकी गणना कर इनके प्रति रोष प्रकट किया गया है। भैरवानन्द नामक कापालिक का वर्णन साहित्य मे आया है कि जिसके सिर पर अनेक रगो की टोपी थी, जो दोनो कानो को ढँक रखती थी। वह बत्तीस अगुल लम्बा दण्ड हाथो से उछालता था। गले में विचित्र रूप से सजा हुआ योग-पट्ट था, पैरो में पादुका थी और तडातड सिंगी बजाता था। चर्यापदो में कपाली, कापाली, कवाली के साथ अवधूत, भिक्षु, योगिनी और नाथ का भी उल्लेख प्राप्त है। कबीर-ग्रथावली में लुचित, मुडित, मौनी और जटाधारी सन्यासी साधुओ का स्पष्ट रूप में कथन है।[२] योगी, यती, तपी और सन्यासियो को तो ज्ञान-हीन मानते ही हैं।[3] जैनी साधुओ से भी सतो का परिचय था।[४]

पौराणिक साधु-सन्यासियो में वेदी, शब्दी, मौनी और वनखण्डी (वानप्रस्थी) उल्लेखनीय है। गोरखबानी के साक्ष्य पर दडी, कापडी, पावडी, नागा, मौनी और दूधाधारी साधु थे।[५] योग की परम्परा प्राचीन थी और योगियो के विभिन्न सम्प्रदाय थे। सिद्धि-प्राप्ति के लिए उत्तर दिशा महत्वपूर्ण समझी जाती थी। साधु-सन्यासी चार-पाँच जमात बाँधकर रहते और दसबीस मिलकर इधर-उधर भटकते थे, अफीम और भ ग खाते थे।[६] घर त्याग -कर कुटी छवाते थे और यह तामसी त्याग उन्हें भिक्षा माँगने को बाध्य करता था। चेले-चेलियो के समूह से वे भिक्षा मँगवाते थे। घर की सुन्दरी स्त्रियो का त्याग कर किसी असुन्दर के साथ रमण की लालसा रखते थे।[७] योगी, सिद्ध, अवधूत से सतो का अच्छा

---

१. पर्या०, १०/२, १०/४, ११/२, ११/५, १८/२।

२. क० ग्र०, पद १३३, पृ० १३०, बीज०, सबद ३८।
तुलनीय सरहपादीय दो० को०, ८६-८७।

३ स० क०, रागुआसा ५, गउडी ५१, क० ग्रं०, पद १६२, पृ० १५२।

४ बीज०, रमैनी ३०।

५. डडी सो जो आपै डडे।—गो० बा० पद ७६।
कापडी साधु तीरथ भ्रमाया।—वही, पद ६६।
पावडियाँ पग फिलसै अवधू, लौहे छीजत काया।
नागामूनी दूधाधारी एता जोग न पाया।—वही, पद ३६
दूधाधारी परधरि चित, नागा लकडी चाहै नित।
मौनी करै मंत्र की आस, बिनु गुरु गुदडी नहीं बेसास।—वही, पद ४६

६ गो० बा०, सबदी १७६ और २०८।

७. मिदर छाडै कुटी बँधावै। त्यागी माया और मँगावै।
सुदरी छाडै नकटी बासै। तातै गोरख अलगे न्हासै॥—गो० बा०, सबदी २०६

परिचय है। जायसी ने संन्यासियों के कई भेदों का उल्लेख किया है जिनमें जाप करनेवाले जपी तप करनेवाले तपस्वी-तपी ऋषेश्वर (रिखेसर) संन्यासी दमवती उपासी (उपवासी) सुम्न तपसी (सुम्नबादी) दिगम्बर जैन नागा (नग्नक) सरस्वती उदासी महेश्वर-सम्प्रदायी (महेसुर) जंगम यति शाक्त सेवरा खेवरा बानप्रस्थी सिद्ध साधक प्रमुख हैं।[1] इनमें सेवरा (श्रावक) और खेवरा (खप्परधारी) शाक्त हैं। महेश्वर शैव मत है, और जायसी ने जिसे 'रेसेसुर' सम्प्रदाय कहा है वह सम्भवतया 'रसेश्वर' सम्प्रदाय है जिसे कबीर ग्रंथावली में 'अर्नथी योगी'[2] कहा गया है। गोरखपंथियों के उस काल में संघटित अखाड़े थे और इनके पास युद्ध के साधन भी। बात-बात में संघर्ष हो जाना असम्भव नहीं था और सैन्य-संगठन के कारण संघर्ष भयानक हो उठता था।[3] दादू ने जोगी जंगम सेवड़ा बौद्ध संन्यासी और शेख-विरक्तों के छः सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।[4] फ़तुहात-ए-फ़िरोज़शाही के अनुसार मुसलमानों में भी इस प्रकार के सम्प्रदाय थे जिनके सदस्य रात्रि की नीरवता में पूजोपासना करते और सम्मिलित रूप में सुरा-पान करते। उपासक माता भगिनी पत्नी अथवा पुत्री को साथ लाता और अंधकार में जिसका वस्त्र पकड़ लेता उसी के साथ संभोग करता चाहे वह अपनी माता अथवा पुत्री ही क्यों न हो।[5] इससे भैरवी चक्रों का स्मरण हो जाता है और यह सम्प्रदाय निश्चय ही किसी तांत्रिक संघ का इस्लामी परिवर्तन था। इब्नबतूता के अनुसार चमत्कार और विविध शक्ति प्राप्ति की इच्छा करनेवाले मुसलमान भी तान्त्रिकों-योगियों के पीछे लगे रहते।[6]

सम्प्रदाय-निर्माण का कार्य प्रगति पर था। साधारण-सी स्वतंत्रता दिखलाने पर भी सम्प्रदाय भिन्न हो जाता था। किंवदंती के अनुसार साधारण-सी आचार-भिन्नता के कारण रामानन्द को रामानुज के सम्प्रदाय से भिन्न हो जाना पड़ा था। प्रत्येक संत-महन्त प्रभावशाली व्यक्तियों को दीक्षित करने और अपने सम्प्रदाय के विस्तार के लिए व्यग्र था। इन मत-भेदों में सदा संघर्ष होता रहता था वाद-विवाद होते थे यहाँ तक की शस्त्रों की झनझनाहट भी सुनाई पड़ने लगती। सभी अपने मत और पंथ की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में व्यग्र और व्यस्त थे। सम्प्रदाय वेश की किसी विशेषता अथवा गुरु-परम्परा के कारण विभिन्न नाम ग्रहण करते थे। सिद्धों के नाम पर जो सम्प्रदाय चल पड़े पीछे चलकर उन्हें शास्त्रीय स्वरूप देने की चेष्टा हुई। कन्थाली (कंथाली) के अनुयायी कंथारी पीछे चलकर कंथाधारी-खिंथाधारी-खिंथड़ हो गये। मेखल धारण करनेवाले और मेखल के अनुयायी मेखली।

इस्लामी फ़कीरों में काज़ी, पीर औलिया मुल्ला शेख और दरवेश से संत-साहित्य का स्पष्ट परिचय है। नानक ने सालिक और सादिक का उल्लेख किया है।[7] सूफ़ी-मत का

---

१ जा ग्रं १०, पृ १४।
२ क ग्रं पद ९४ पृ १६८।
३ बीजक रमैनी ६९; [illegible] रत्नसेन का सिंहल-गढ़ घेरा (जा ग्रं)
४ दा द बा (भाग १), भेष को अंग ३१ पृ १८६।
५ इलियट ऐंड डाउसन (भाग ३) पृ ४२६।
६ इब्नबतूता की भारत-यात्रा पृ २६२-६३।
७ पीरां मुरीदां काजियां मुल्लां अरु दरवेस।
कहाँ तें तुम किनि कीन्हें अवधि है तब भेष ॥—क ग्रं पद २५७ पृ १७८।

प्रभाव बढ़ चला था। भारतीय मुसलिम-समाज का संबध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इन सम्प्रदायों के विभिन्न सम्प्रदाय से था। सूफी उपासक शेख कहलाते थे और इनका प्रभाव भी बढ़ चला था। फतुहात-ए-फिरोज में एक ऐसे शेख का उल्लेख मिलता है जो "अनलहक" का दावा करता था और उसके शिष्य "आमीन आमीन" कहा करते थे। फिरोजशाह ने उसे जीवित जलवा दिया था।[1] स्त्रियो पर भी इस सम्प्रदाय का प्रभाव था। काजी रोजा रखता था, नमाज पढता था, कलमा स्मरण करता था। न्यायाधिकारी होने के साथ ही साथ धार्मिक विषयो का भी वह अधिकारी था। धर्मोन्माद के कारण अ-मुस्लिमो पर वह अन्याय करता था।[2] मुल्ला को जीभ और स्वाद पर वश नही था, उसका मन सदा चचल रहता। दरवेश रग-विरगे कपडे पहनता था।[3] पीर मुरीद बनाने की चिंता मे व्यस्त रहता था और सैयद अपनी उच्चता के दभ में चूर। जौनपुर भूसी और ऊच पीरो के गढ़ थे। मौलाना कुरान पढ़ाने का कार्य करता था और उसकी तुलना शास्त्रज्ञ पण्डितों से की जा सकती है।

जिन सम्प्रदायो का परिचय भी विलुप्त हो रहा है, उनके सबध का साधारण साहित्य-प्रकाश में आ रहा है किंतु तत्कालीन पथो का पूर्ण परिचय प्राप्त करना असभव-सा ही है। निरंजन और धर्म-पथ की चर्चा इधर अधिक हुई। सत-मत के क्षेत्रवाले सहजिया और अलखिया सम्प्रदाय सन्त मत में पीछे चलकर अन्तर्भूत हो गये। निरजन सम्प्रदाय का एक अलग पथ "अलख निरजन पथ" चला, इसके मूल निरजन पथ और निरकारी शाखाओ का उल्लेख मिलता है। तुलसीदास ने अलखिया सम्प्रदाय के साधुओ को परिलक्षित किया था।[4] जो अचित्य पथ कोई अद्वैती पथ था जो पीछे चलकर अचित सिद्ध के साथ सयुक्त हो गया। रामानदी पथ के जो सात अखाडे है[5] वे वस्तुत पूर्व-प्रचलित पथ थे जो सतमत में अन्तर्भूत हो गये। पथ-निर्माण का यह क्रम मध्य-काल में सदा चलता रहा। टाटबी शाक्त सम्प्रदाय रहा होगा और निर्वाणी बौद्ध। निर्वानी सम्प्रदाय का उल्लेख गुलाल ने योगी, यति तपी और सन्यासी के साथ किया है।[6]

पीर पैकाबर सालिक सादिक।—आ० ग्र०, पृ० ३५८।

१ सुरेन्द्रनाथ सेनः स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री, पृ० ११६।
पीर पैकाम सालिक सादिक सुहदे अउर सहीद।
सेख मसाइक काजी मुला दरि दरवेस रसीद॥—सिरी रागु महला १, पृ०५३(आदि ग्रथ)

२ सं० क०, रागु आसा १७ और २६, बीजक, ४९ वीं रमैनी।

३. बीजक, रमैनी ४९।

४ हम लख हमहि हमार लख, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम भज नीच॥

५ टाटबी, निरालबी कह सतोषी विख्यात।
निर्वाणी दीगम्बरी, खाकी निरमोही सात॥—आ० नि० बो०, पृ० ३३

६. मैं जोगी जती तपी निर्वानी, कपि ज्यों बाँधि नचावै।
सन्यासी वैरागी मौनी धै धै नरक मिलावै॥—गुलालबानी, पृ० ४

वैष्णव साधु-संन्यासी की संख्या नगण्य नहीं थी। वैष्णवों में उच्चवर्गीय लोग थे और निम्नकुलोद्भव व्यक्ति भी[१] किन्तु इनका अन्तर भी रह गया था। वैष्णवों के प्रति विरोध कम हो चला था। इनके भी अलग-अलग सम्प्रदाय थे। वैष्णव शालग्राम और मूर्ति की पूजा करते माला जपते अथवा उँगलियों पर गिन-गिन कर ध्यान करते थे। इनके सिर घुटे हुए होते शरीर पर छापा लगाते और तिलक लगाते थे। कीर्तन करते थे।[२] तीर्थ और व्रत का माहात्म्य प्रतिष्ठित था।[३] 'अमर सुखनिधान' में कबीर और धर्मदास की गुष्ठि हुई है जिसमें वैष्णव आराधना का स्वरूप स्पष्ट है।

> शालिग्राम की सेवा करई। दया धरम बहुत चित धरई॥
> साधु भक्त के चरन पखारै। भोजन कराइ अस्तुति उचारै॥
> भागवत गीता बचन कहाई। प्रेम भक्ति रस पियै अघाई॥
> मनसा बाचा भजै गोपाला। तिलक देइ तुलसी की माला॥
> द्वारका जगन्नाथ होइ आवै। गया बनारस गंगा न्हावै॥
>
> रामकृष्ण को सुमिरै तीरथ व्रत दृढ़ नेम।
> मथुरा परसत जब भये भे कबीर सौं भेंट॥[४]

सर्वसाधारण की धर्म-भावना

साधारण जनता विद्याहीन और पाण्डित्य-रहित थी। अधिकांश जनता अशिक्षित ही नहीं बल्कि विद्याविचारहीन थी। व्यावसायिक शिक्षा तो परम्परा द्वारा कर्मकर जातियों को प्राप्त होती ही थी उसके साथ धार्मिक विश्वास भी परम्परागत ही था। जनसाधारण विश्वास करना जानता था। पूजा व्रत और उपासना का महत्व था। दान देना अत्यन्त पुण्य कार्य माना जाता था। यम-भय सबसे बड़ा भय था। राजाज्ञा से साधारण प्रजा—इन्हें साधारण रूप में प्रजा ही तो कहा जाता था—उतना नहीं डरती थी जितना साधु-संन्यासी से। धर्म व्यवस्थापक पुरोहित और मौलवी का कम आतंक नहीं था। देवी-देवताओं की पूजा के साथ कुलदेवता ग्राम देवता की पूजा प्रचलित थी। भूत-भैरवी शीतला और प्रेत की पूजा होती थी।[५] घर-घर कलश की स्थापना होती थी नीम पथरा माते थे और उन पर शीतला आदि

१ साषत बांभण मति मिलै वैसनौं मिलै चंडाल। —क ग्रं भषि कौ अंग पृ ५१।
२ द्रष्टव्य—क॰ ग्रं भेष कौ अंग पृ ४५ और सूर सागर पद ४४९ पृ १८९।
३ क ग्रं १८९।
४ तुलनीय आगम-निगम बोध पृ १२।
५ गण गन्धर्व असुर सुर किन्नर। दैत्य पिशाच प्रेत विद्याधर॥ —क बी ।
हरि तजि पूजत प्रेत। —सू सा पद २११।
घर घर कलस देइ सब राखहिं, बहु विधि रचहिं बनाई हो।
नाचहिं पचरा मूड़ कँपावहिं, मोरवहिं सकल कमाई हो॥ —सु बा पृ २२।
देवहर पूजत समय सिरानो। —वही पृ १।

का आवेश आता था। देवघर की पूजा होती थी। प्रेत-डाकिनी का ही भय नही था वल्कि इन पर अटूट विश्वास भी था। ओझा और सयानो की अधिक चलती थी। इनके कई भेद और नाम थे—गुनी, ओझा और सयाना।[1] साधारण जनता साधु-सन्तो से जितना डरती थी, उतना ही इन पर विश्वास करती थी।

कई प्रकार के रोगो से लोग ग्रस्त होते थे। सन्निपात, शूल, दाद, कडु, गलगण्ड, घेघा, क्षय, गाँठ, ज्वर और तिजारी का उल्लेख भक्ति-साहित्य मे मिलता है। इन रोगो को दूर करने के लिए ततर-मतर, जोग-टोटरम का आश्रय लिया जाता था।[2] धार्मिकता अन्ध-श्रद्धा मात्र थी। मास-भक्षण और सुरापान निषिद्ध नही था, सामान्य जनता पूजा-पाठ और उपासना के नाम पर इनका अबाध सेवन करती थी। देवी के सामने वलि प्रदान करना धार्मिक कृत्य का आवश्यक अग था। भग पीना तो साधारण कर्म ही था। जाति-पाँति का भेद-भाव, छूत-छात का रोग केवल उच्चवर्गीय समाज में ही प्रचलित नही था वल्कि निम्न-वर्गीय समाज मे भी विस्तृत रूप से फैला हुआ था। शकुनो पर घोर विश्वास था। मछली, भरा कलश, दही, फूलों की माला आदि के दर्शन शुभ शकुन थे[3] और यात्रा के समय इनका मिलना अष्टसिद्धि-दाता समझा जाता था, इसके विपरीत अपशकुनो का दीख पडना अत्यन्त हानिकर।[4] यात्रा और शकुन के विचार किए विना कोई कार्य नही किया जाता था। अन्ध-श्रद्धा के साथ धर्मान्धता के गठवन्धन के कारण सामान्य जनता की धर्म-भावना कुठित थी। पण्डित और मौलवी, साधु-सन्त इनकी अन्ध-श्रद्धा से लाभ उठा कर अपने जीवन के लिए सुख-सुविधा का विधान कर रहे थे। अशिक्षित और नव धर्म-परिवर्तित मुसलमान हिन्दुओ के विभिन्न देवी-देवता की पूजा करते, मानता मानते और वलि प्रदान कराते थे। निम्न वर्गीय हिन्दू-मुसलमान सन्तो और उनके चमत्कारो में अन्ध-श्रद्धा रखते, उनसे झाड-फूँक कराते, दोआ-तावीज लेने और रोगमुक्त होने के लिए फूँक लगवाते थे।

---

१ जावत गुनी गारुडी आए।
ओझा वेद सयान वोलाए॥ —जा० ग्र०, प्रेमखण्ड २, पृ० ५६।

२ तत्र मत्र सब अउखध जानहि अतितउ मरना। —स० क०, पृ० ९५।
सापन को मत्र भूत-प्रेतन को मत्र रचि,
पानी पढि दिअे ते न व्यथा रहै गात की। —भक्त० (टीका), पृ० १८५।
टोना टोमन सहस विष करि देखो सव कोय। —वही, पृ० १९४।

३. आगे सगुन सगुनिये ताका। दहिने माछ रूप के टॉका॥
भरे कलस तरुनी जल आई। 'दहिउ लेहु' ग्वालिन गोहराई॥
मालिन आव मौर लिअे गाँथे। खजन वैठ नाग के माथे॥
दहिन मिरिग आई वन धाएँ। प्रतीहार वोला खर वाएँ॥
—जा० ग्र०, जोगी खड १०, पृ० ६४।

४ रोवै वृषभ, तुरग अरु नाग। स्यार द्यौस निसि वोलै काग॥ —सू० सा, पद २८४।
तुलसी की दोहावली मे शकुन-अशकुन का वर्णन है। —दो० ४५५-४६२।

धार्मिकता बाह्याचार मात्र थी। स्नान-पूजा-पाठ तीर्थयात्रा दान व्रत और उपवास संध्या-तर्पण आदि की क्रिया धार्मिक समझी जाती थी और इन्हें ही धार्मिकता का अन्त समझा जाता था। भय के कारण इन कृत्यों का विधान था। स्त्रियों में धार्मिक अन्ध-श्रद्धा थी। ऐपन से हाथ की छाप दीवाल पर जमा कर स्त्रियाँ पूजा करती थीं।[1] स्त्रियाँ मानता अधिक मानती थीं[2] और इष्ट-काम पर गीत-वाद्य के साथ पूजा करने को जाती थीं। सन्तान की इच्छा के कारण योगी-संन्यासी-फकीर में इनकी अटूट श्रद्धा थी और अपनी इस अन्ध-श्रद्धा के कारण कम क्षति नहीं उठानी पड़ती थी। जाति-पाँति का इतना अधिक विचार था कि ठौर ठौर उसके सम्बन्ध में पूछताछ की जाती थी।[3] बहुत सम्भव है निम्न-जाति के प्रति जो धारणा थी उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ लोगों ने योगियों का रूप धारण किया।[4] योगियों और यतियों की पूजा करने वालों का बड़ा सम्मान था और लोगों का विश्वास था कि वे असम्भव काम भी कर सकते हैं। तुलसी ने भी लक्षित किया था कि साधारण जनता भेड़ों की भाँति धँसनेवाली थी।[5] सन्तों का यही समाज था इसी समाज को वह सांस्कारिक चैतन्य देना चाहता था।

---

१ अपनी ऐपन निजहथा तिय पूजहिं निज भीति। —दोहा ४५४।

२ जायसी-ग्रंथावली (शुक्ल) पृ १२।४।

३ जातिहि जाति पूछ सब कोऊ। —जायसी ग्रंथावली (शुक्ल) पृ ११।

४ का पूछहु अब जाति हमारी। हम जोगी औ तपी भिखारी। —वही पृ १२१।
जोगिहि कौन जाति हो राजा। —वही पृ १११।

५ तुलसी भेड़ी की धँसनि जड़ जनता सनमान। —दोहा ४९५।

नैतिक धारणा

सती सतोषी सावधान सबद भेद सुविचार।
सतगुर के प्रसाद थे, सहज सील मत सार॥

—क० ग्र० (पृ० ६३।६१२)

सचु पाया सुख ऊपनॉ, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब साई मिल्या हजूरि॥

—क० ग्र० (पृ० १४।२६)

धार्मिकता बाह्याचार मात्र थी। स्नान-पूजा-पाठ तीर्थयात्रा दान व्रत और उपवास सन्ध्या-तर्पण आदि की क्रिया धार्मिक समझी जाती थी और इन्हें ही धार्मिकता का अन्त समझा जाता था। भय के कारण इन कार्यों का विधान था। स्त्रियों में धार्मिक अन्ध-श्रद्धा थी। ऐपन से हाथ की छाप दीवाल पर लगा कर स्त्रियाँ पूजा करती थीं।[1] स्त्रियाँ मानता अधिक मानती थीं[2] और इष्ट-काम पर गीत-वाद्य के साथ पूजा करने को जाती थीं। सन्तान की इच्छा के कारण योगी-संन्यासी-फकीर में इनकी अटूट श्रद्धा थी और अपनी इस अन्ध-श्रद्धा के कारण अन्य क्षति नहीं उठानी पड़ती थी। जाति-पाँति का इतना अधिक विचार था कि ठौर ठौर उसके सम्बन्ध में पूछताछ की जाती थी।[3] बहुत सम्भव है निम्न-जाति के प्रति जो धारणा थी उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ लोगों ने योगियों का रूप धारण किया।[4] योगियों और यतियों की पूजा करने वालों का बड़ा सम्मान था और लोगों का विश्वास था कि वे असम्भव काम भी कर सकते हैं। तुलसी ने भी लक्षित किया था कि साधारण जनता भेड़ों की भाँति धसनवासी थी।[5] सन्तों का यही समाज था इसी समाज को वह सांस्कृतिक चैतन्य देना चाहता था।

---

१ ऐपनी देत निरखत निज मूरति निज भाँति।—दोहा ४५४।

२ जायसी-ग्रंथावली (शुक्ल) पृ० १२।४।

३ जाति पाँति पूछ नहिं कोई।—जायसी ग्रंथावली (शुक्ल) पृ० ३६।

४ का पूछहु अब जात हमारी। हम जोगी औ तपी भिखारी।—वही पृ० १२९।
[illegible] जाति होइ जाता।—वही पृ० ११९।

५ [illegible]

नैतिक धारणा

सती सतोषी सावधान सबद भेद सुविचार।
सतगुर के प्रसाद थे, सहज सील मत सार॥

—क० ग्र० (पृ० ६३।६१२)

सचु पाया सुख ऊपनॉ, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब साई मिल्या हजूरि॥

—क० ग्र० (पृ० १४।२६)

नैतिक धारणा

नैतिकता की प्राचीन काल में धर्म सज्ञा थी। धर्म की विभिन्न व्याख्याओ में जैमिनीय मीमासा के अनुसार यज्ञादि वेद-विहित कर्म ही धर्म है।[1] पूर्वमीमासा कर्म को मोक्षप्रद मानती है और धर्म की काम्यता मोक्ष अथवा वैकुण्ठ की प्राप्ति के लिए है। धर्म वह है जिसके द्वारा आत्माभ्युदय हो या निश्रेयस् अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो।[2] व्यापक धारणा के अनुसार धर्म रहा प्रकृति अथवा स्वभाव, जिसकी परिणति रीति-नीति, उपासना-विधि, कानून-व्यवस्था आदि के रूपो में हुई, अत धर्म वह हो गया जो सृष्टि को धारण करता है, अथवा जिसके द्वारा सृष्टि परिचालित और रक्षित होती है, अथवा जिसे विज्ञ और ज्ञानी जन धारण करते है।[3] धार्मिकता के मूल में विशिष्ट आचार की मान्यताएँ हैं, धर्म में विश्वास अथवा भावना से अधिक महत्त्व धार्मिक रीति-नीति एव उपासना-विधि का है, इस प्रकार धर्म आचार का व्यापक नाम ग्रहण कर लेता है। साम्प्रदायिक मतवाद का आग्रह इस रीति-नीति की भिन्नता और श्रेष्ठता प्रतिपादन के मोह और आवेश के कारण है। धर्म ऐसी अवस्था में साम्प्रदायिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है और आचार बन बैठता है उसका स्वरूप।[4]

साम्प्रदायिक आचार-बहुलता के साथ आत्म-सुख और वैयक्तिक आनन्द की धारणा भी धर्म के साथ सम्बद्ध रही एव इसके साथ ही धार्मिक सुख अर्थात् धार्मिक आचरण-जन्य सुख अथवा आनद की कल्पना भी समाविष्ट थी। वेद-स्मृति विहित कर्म, पुण्यात्मा के आचरण एव आत्म-प्रियता धर्म के प्रमाण रूप में स्वीकृत रहे हैं।[5] कहीं-कही धर्म-तत्त्व को अत्यत गूढ

---

१ जैमिनीय मीमासा सूत्र, १।१।२।

२ वैशेषिक सूत्र (कणाद), १।१।२।

३ धरति विश्व लोकान् वा यद्वा ध्रियते पुण्यात्मभि।

४ आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरुच्यत। —विष्णु सहस्रनाम।

५ वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन।
एतच्चतुर्विध साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्। —महा०, २।१२।

मानकर केवल पुण्यात्मा के आचरण को प्रमाण माना गया है।[1] वेद अखिल धर्म-मूलक माने गए हैं और आत्म-तुष्टि की भी मान्यता रही यद्यपि साधु-चरितों की आत्म-तुष्टि सीमा के रूप में निर्धारित हुई।[2]

विहित कर्मों से भिन्न आचार की धारणा में नैतिकता के स्वरूप का विकास होता है। व्यक्ति और व्यक्ति व्यक्ति और समाज समाज और समाज एवं समाज और व्यक्ति के संबंध निर्वाह की समस्या नैतिकता को जन्म देती है और इन्हीं संबंधों का निर्धारण नीति-शास्त्र करता है। नैतिकता स्वयं अपना मानदण्ड और फल है इस कथन का इतना ही अर्थ है कि नैतिकता निर्वाह में व्यक्ति का उद्देश्य-विशेष की ओर लक्ष्य नहीं होना चाहिए। मानवीय संबंधों की जटिलता और दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण नैतिक धारणाओं में संस्कार और परिवर्तन होता रहता है। धर्मों के मूल में ऐहिक सुखोपभोग आत्म-विकास की संभावना और सांसारिक कर्मों के निर्वाह की धारणा है। 'पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च' (न्यायसूत्र ४।१।६२) की टीका में धर्म को संसार-व्यापार के यथावत् निर्वाह के विधानों का संग्रह कहा गया है। जीवन के सहज-स्वाभाविक स्वरूप धार्मिक कृत्यों के बुद्धिहीन आचरण अथवा लोक-व्यवहार के निर्वाह के रूपों में नैतिकता की धारणा स्वरूप ग्रहण करती रही है।

आचार और दार्शनिक मतवाद

आचार-नैतिकता यदि सहज और स्वाभाविक है, मनुष्य पर उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं तो उसकी चिन्ता व्यर्थ है। यदि साम्प्रदायिक विधानों का परिपालन मात्र है, तो नैतिकता की प्रेरणा अपेक्षित नहीं। आत्म-प्रतीति और लोक-व्यवहार के यथावत् निर्वाह की धारणाएँ नैतिकता के स्वरूप का निर्धारण करती हैं इस प्रकार जीवन और जगत्-संबंधी दृष्टिकोण नैतिक-भावना का नियंत्रण करता है। पारस्परिक कर्तव्यों के स्थिरीकरण में विचारात्मकता की अपेक्षा इसलिए होगी कि विचार ही समस्त भौतिक और आध्यात्मिक विकास का साधन है। आत्म-प्रतीति का यहाँ तात्पर्य है व्यक्ति की समस्त संभावनाओं का पूर्ण अनुभव और तदनुसार संभावनाओं का अन्तिम सीमा तक आचरण। इसके द्वारा आनंद की स्थिति प्राप्त होती है, अतः जीवन के नियमों और उनके परिपालन की सीमाओं का ज्ञान सदाचार की भित्ति है। जीवन के उद्देश्य का स्वरूप-निर्धारण जीवन और जगत्-संबंधी दृष्टिकोण के द्वारा होता है। यथार्थवादी दृष्टिकोण रखनेवाले विचारकों के अनुसार नैतिकता का आधार यथार्थ स्थिति की प्रकृति का विचार है। यथार्थ-संबंधी धारणाओं का प्रभाव नैतिकता-संबंधी विचारों पर पड़ता है। जीवन-जगत् और चिरंतन सत्य-संबंधी दृष्टिकोण और नैतिकता-दर्शन का अविच्छेद्य संबंध है। जड़वादी चार्वाक दर्शन का आचार-शास्त्र आत्म-परक आनंदवादी दर्शन के नीति शास्त्र से भिन्न होगा। दुःखवादी बौद्ध-दर्शन में आचरण का महत्त्व तत्त्ववाद के स्वरूप के कारण ही इतना स्पष्ट रहा। भौतिक सुखवादी और आत्मिक आनंदवादी की दृष्टि में आत्म

---

१ तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥ —महा.।

२ मनु २।६।

विकास और प्रतीति के स्वरूप में अन्तर रहेगा। वैदिक कर्म देवताओ को प्रसन्न करने के लिए है अत वैदिक कर्म-काड इनके प्रिय साधनार्थ नियमानुकूल आचरण मात्र है। इस नैतिकता के मूल में देवता अथवा महत् दैवत की अप्रसन्नता का भय है। बुद्ध ने सम्बुद्ध ज्ञान को आचार-नीति का नियामक माना था किंतु उनके कथनो ने वेद-वाक्यो की प्रतिष्ठा पाई।[1] ब्राह्मण और श्रावक आचार के आदर्श का अतर इनके दृष्टिकोण का अन्तर ही प्रकट करता है।

चार्वाक दर्शन सुखवादी नैतिकता की घोपणा करता हुआ उद्घोपित करता है—स्वर्ग और नरक पुरोहितो की मिथ्या कल्पनाएँ है। अपने व्यावसायिक लाभ के लिए पुरोहित-वर्ग नाना प्रकार के भय और प्रलोभन देकर वैदिक आचारों को करने के लिए वाध्य करता है। लोक प्रवृत्त्यनुसारी लोकायत मत का सस्कार कामसूत्र में होता है जहाँ नैतिकता मानवीय वासनामूलक प्रवृत्तियो के अतृप्त रखने मे नही, वल्कि शिष्ट और सयत सुख-लिप्सा में है। बौद्ध-दर्शन का दृष्टिकोण लौकिक है, लौकिक जीवन से असम्बद्ध प्रश्नो पर वह विचार नही करता है।[2] बौद्ध आचार मनुष्य का महत्त्व स्वीकार करता है, कारण मनुष्य स्वय अपना विधाता है और आचरण-परिशुद्धि द्वारा निर्वाण प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है। शील के लिए विवेक और प्रज्ञा का महत्त्व भी इस दर्शन ने स्वीकार किया था।[3] गीता-दर्शन कर्म-योग शास्त्र है और इसकी प्रमुख समस्या है कर्म-अकर्म की मीमासा। कर्म का अर्थ वेद-विहित क्रिया और निर्धारित जीवन-व्यापार तथा अकर्म से समस्त कर्मों का अभाव और बुरे कर्म दोनो लेना चाहिए। महाभारतीय दु ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति का एकत्व-स्थापन मनु-काल में इस रूप में प्रकट होता है—वह कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए जिसके करने से हमारी अन्तरात्मा सतुष्ट हो और जो कर्म इसके विपरीत हो उसे छोड देना चाहिए।[4] महाभारत का आदर्श था—हमारे जिस कर्म से लोगो का हित नही हो सकता अथवा जिसके करने में स्वय अपने आपको लज्जा का वोध हो, उसे कभी नही करना चाहिए।[5]

स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है कि दार्शनिक चिन्ता-धारा और मतवाद के साथ नैतिकता और आचार-सबधी धारणाओ में परिवर्तन होता रहा है। महाभारत में स्वीकार किया गया है कि युगमान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

---

१ द्रष्टव्य—"जैसे भिक्षुओ! महासमुद्र स्थिर धर्म है—किनारे को नही छोडता, ऐसे ही ही भिक्षुओ, जो मैंने श्रावको के लिए शिक्षा-प्रद (आचार-निगम) प्रज्ञापित (विहित) किए, उन्हें मेरे श्रावक प्राण के लिए अतिक्रमण नही करते।"
—विनय पिटक (राहुल), पृ० ५११।

२ द्रष्टव्य—मज्झिम निकाय (राहुल), २।२।३, पृ० २५१ और २।३।२, पृ० २८१।

३ शील प्रक्षालित प्रज्ञा है, प्रज्ञा-प्रक्षालित शील है, जहाँ प्रज्ञा है वहाँ शील, जहाँ शील है वहाँ प्रज्ञा। —दीघ निकाय (राहुल), १।४, पृ० ४६।

४ मनुसहिता, ४।१६१।

५ म० भा०, शातिपर्व, १२४।६६।

नैतिकतानुशासन की समस्या

नैतिकतानुशासन के संबंध में दो स्पष्ट परिकल्पनाएँ हैं—पहली कल्पना के अनुसार मनुष्य किसी ईश्वरीय विधान का पालन करता है, इस मत के अनुसार दैविक विधान अनुल्लंघनीय है और उसका उल्लंघन अथवा विरोध ही पापाचरण है। वैदिक नैतिकता के मूल में इसी अनुशासन का आधार है। दूसरी धारणा के अनुसार मानवीय आत्मोपलब्धि ही नैतिकता का उद्देश्य है सदाचार का सार किसी विधान का अन्धानुसरण और अतर्क्य पालन मात्र नहीं। सदाचरण ऐसी अवस्था में स्वतन्त्र चेतना इच्छा-शक्ति और ज्ञान की सम्यक परिणति है। ईश्वरीय-विधान के रूप में नैतिकता की प्रतिष्ठा भय द्वारा उत्पन्न श्रद्धा और निष्ठा के आधार पर होती है। यह ईश्वर कठोर शासक और नियामक होता है, नियमोल्लंघन करने पर दण्डित करता है और पालन पर पुरस्कृत। यह नियम-पालन क्रमशः प्रसन्नता-विधायक होता जाता है। स्वर्ग और नरक की कल्पना प्रलोभन और भय के आधार पर निर्भर करती है। वैदिक देव भय भी उत्पन्न करता है और साधु-चरित व्यक्तियों से प्रेम भी करता है, उपासकों पर दया-दृष्टि रखता है और उन्हें अपना आश्रय भी देता है।

औपनिषदिक काल में श्रेय और प्रेय के विरोध स्पष्ट थे। ईश्वरीय विधान के साथ आत्म-सामंजस्य ने श्रेय का और वैयक्तिक सुख की धारणा ने प्रेय का स्वरूप ग्रहण किया था। वैयक्तिक योग-क्षेम से विवेकपूर्ण श्रेय का वरण ही श्रेष्ठ माना गया। धार्मिक कृत्यों के द्वारा श्रेय-प्राप्ति सम्भव मान ज्ञान-भक्ति-विहीन कर्मवाद की प्रतिष्ठा होती है। बौद्ध-विचारधारा ने ईश्वर-विधान की विवशता से आचरण-शुद्धता को स्वतंत्र और मुक्त किया। यह मुक्ति किन्तु क्षणिक सिद्ध हुई और आचार नियमों और बंधनों से पुन जकड़ गया। निवृत्तिमूलक बौद्धधर्म में श्रेय और प्रेय का संघर्ष अधिक विषम हुआ एवं श्रेय-विधेयात्मक आचार मुक्ति अथवा निर्वाण का साधन। निवृत्ति-मूलक संन्यास-भाव ने श्रेयस् को प्रेयस् से नितांत विच्छिन्न करके देखा।

वेद-स्मृति में पुण्यवान् के आचरण और स्व-प्रियत्व[1] को आचार प्रामाण्य के आधार रूप में प्रतिष्ठा मिली है। वेद-स्मृति पर आधारित नैतिकता विधान-गत है और सदाचार अनुकृति की प्रवृत्ति का संकेतक। धर्म-शास्त्र को अतर्क्य[2] और सदाचार को प्रामाण्य स्वीकार कर नैतिकता-संबंधी आन्तरिक चैतन्य का विरोध किया गया और नैतिकता के आधार बने भय और प्रलोभन क्योंकि श्रुति-स्मृति में कहे हुए धर्म के आचरण से मनुष्य इस लोक में कीर्ति पाता है और परलोक में स्वर्गादि सुख प्राप्त करता है। वेद को अपौरुषेय स्वीकार करने का अर्थ हुआ वेद-शास्त्र आधारित आचार और वर्णाश्रम की स्वीकृति। आचार-बहुल धर्म को शास्त्रीय आधार देने की सदा चेष्टा होती रही है।

मुस्लिम नैतिकता का मूल-स्रोत कुरान शरीफ है। आधार रूप में इन ग्रंथों के आधार को संत-कवि ने प्रामाण्य नहीं माना था। संत उस कवी का विकसित स्वरूप उपस्थित करता है जिसने वेद और शास्त्र की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की थी। पुराण को उसने कुरान नहीं बना दिया था। वेद-स्मृति-कुरान का ज्ञान ही जब अधूरा और मार्ग-प्रदर्शन में अक्षम है फिर उसके आधार पर निर्मित नैतिकता निर्भ्रान्त कैसे हो सकती है? व्यावहारिक रूप में धर्म-

---

१ मनु २।१२। २ वही २।११। ३ वही २।९।

सम्प्रदाय, कानून और सामाजिक रीति-नीति ही नैतिकता के अनुमापक रहे हैं। सभी देशो में यह अवस्था रही है। तत्कालीन परिस्थिति, चेतना और सस्कार के कारण इनको मान्यता मिलती रहती है किंतु प्रमाणो की रूढि-बद्धता के कारण नैतिक भावनाओ के विकास की सीमाएँ अवरुद्ध हो जाती है, व्याख्याओ की नवीन उद्भावनाओ द्वारा परिवर्तित जीवन की मान्यताओ को सबद्ध करने की चेष्टा होती है। स्मृति-ग्रथो की नवीन व्याख्याओ के द्वारा पूर्व धारणाओ को ऋषि-सम्भव, अत अव्यवहार्य कह तद्भिन्न व्यावहारिकता को ग्राह्य बतलाया गया है। रूढिवादिता और परम्परा-पालन का यह दूसरा स्वरूप-मात्र था। मन प्रसाद को नैतिकता के निश्चायक रूप में अधिक मान्यता नही मिली, इसके प्रतिकूल विहित कर्म को मन प्रसाद का कारण माना गया। व्यास ने आत्मानुकूलता के ग्रहण और आत्म-प्रतिकूलता के त्याग की व्यवस्था दी थी किंतु नैतिक धारणा के विकास में इनका स्थान गौण ही रहा। कर्म-काड की अनावश्यक रूप में प्रतिष्ठा, वैयक्तिक प्रेरणा और कर्म करने की स्वतंत्रता की मान्यता एव अनेकानेक दलो में विभक्त होने की प्रवृत्ति हिन्दू नैतिकता के अन्तर्गत लक्षित की गई है।[1]

धर्म और नैतिकता की अतिवादी रूढिवादिता के कारण विरोध का स्वर स्पष्ट होने लगता है। इस रूढिवादी धारणा के कारण विरोध केवल सहज और स्वाभाविक ही नही बल्कि अनिवार्य होता है। ऐसी नैतिकता का पालन अनैतिक और विरोध नैतिक हो जाते हैं। शास्त्र पर आधारित समाज-व्यवस्था के कारण जिस विषम परिस्थिति के दर्शन मध्य-काल में होने लगे थे, उसका प्रतिफलन ही सत-काव्य मे दीख पडता है। सास्कृतिक चेतना के विकास की जो स्थिति इनमे प्रतिफलित हुई थी और जिस स्वरूप के दर्शन तत्कालीन समाज में हो रहे थे उसकी प्रतिक्रिया सत-साहित्य में प्रकट हुई। रूढिगत नैतिकता के कारण लोक-व्यवहार, सामान्य नीति-धर्म के पालन और आत्म-कल्याण के मार्ग में विरोध देखकर ही सत ने इसका विरोध किया। सत कवि का ध्यान सबसे अधिक इस तथ्य की ओर गया था कि धर्म के आधार पर जाति-भेद की प्रतिष्ठा है और वर्ण-व्यवस्था के आधार पर धार्मिकता का संगठन हुआ है। स्मृति वेद की पुत्री (अर्थात् वेद के आधार पर रचित) है और इनके द्वारा मनुष्य को बधन में कसने का प्रयास हुआ है। मनुष्य ने इस प्रकार अपने आपको फाँस लिया है। यह बधन कुछ ऐसा कठोर, निर्मम और हृदय-शून्य हो गया है कि इससे मुक्ति सभव नही हो पाती।[2] सत इसीलिए तो इससे मुक्ति की कामना रखता है। वेद और अन्य धार्मिक पुस्तको से अलग रहने का अर्थ है, उनके आधार पर निर्भर और निर्धारित समाज-व्यवस्था और नैतिक धारणाओं से मुक्ति।

---

१ इवोल्यूशन ऑव हिन्दू मॉरल आइडियाज ' शिव स्वामी, पृ० १८१।

२ वेद की पुत्री सिम्रिति भाई। साकल जेवरी लैहै आई।।
आपन नगरु आपतें बाधिआ। मोह कै फाधि काल सरु साधिआ।।
कटी न कटै तूटि नह जाई। सा सापनि होइ जग कउ खाई।।
—स० क०, रागु गउडी ३०।
'आपन नगरु' के स्थान में 'आपन गरु' होना चाहिए। द्रष्टव्य—बीजक, २३वी रमैनी।

सदाचार का नियामक

संत कवि कर्ता की बुद्धि को सदाचार की कसौटी मानता है। 'परिणाम साधन की भव्यता का मापदण्ड है' इस भयावह सिद्धांत का प्रतिपालन-समर्थन संत-साहित्य में अप्राप्य ही है। समत्वप्राप्त सिद्ध और बुद्धि को सदाचार की कसौटी माननेवाले व्यक्ति में व्यावहारिक दृष्टि से अंतर है। ऐसे सिद्ध द्वारा अ-कर्म की सम्भावना नहीं रहती किंतु व्यक्ति-विशेष की बुद्धि के भ्रष्ट होने का भय बना रहेगा। अबाधित चैतन्य के जागरण को ही संत-कवि सिद्धि मानता है अन्यथा समत्व-बुद्धि प्राप्त सिद्ध और वंचक में कोई विभाजक रेखा नहीं रह जाती। संत के अनुसार गंधहीन सुहावने लाल फूलों का जैसे महत्त्व नहीं वैसे ही बुद्धिहीन चैतन्य रहित मनुष्य व्यर्थ बेकाम और महत्त्वहीन है।[1] बाह्याचार धर्म के बाह्यस्वरूप कर्म-कांड और भजना-पद्धति को संत-मत ने स्वीकार नहीं किया था चैतन्यहीन आचरण की फलदायिनी क्षमता में उसकी आस्था नहीं थी। ऐसे आचरण के द्वारा नैतिकता का आग्रहपूर्वक निर्वाह भी वह संभव नहीं मानता।[2] आचार-विचार में उलझा हुआ मन ढोंगादि के बाह्याचार में उलझ जाता है, विचार-हीन आचार में आस्था नहीं जम सकती।[3]

संत के अनुसार भाव ही प्रधान है, भावना-हीन अचैतन्य पठन-पाठन यहाँ तक कि श्रवण भी व्यर्थ है। भावात्मकता ही महत्त्वपूर्ण है। भावों की अनुभूति ही अपेक्षित है, केवल पढ़ने-सुनने से कोई लाभ नहीं।[4] भावानुभव वह चैतन्य प्रकाश है जिसके द्वारा सभी प्रकाशित हो जाते हैं। अन्धानुवृत्ति आचार और परम्परानुगत आचरण को व्यर्थ ही नहीं बल्कि अकर्म बना देते हैं।[5] तत्त्व की पहचान उससे परिचय ही आत्म-चैतन्य का साधन है, जीवन का नियामक है। मनुष्य इसे नहीं पहचानता यही तो रोना है।[6] अनुभव के प्रकाश में तत्त्व की वास्तविकता का कथन करनेवाला ही प्रमाण है।[7] 'कहंता' से 'सुनंता' श्रेष्ठ है और 'सुनंता' से 'गुनंता', 'गुनंता' से 'गहंता' श्रेष्ठ है और 'गहंता' से करंता। और इसका नियामक है अपरिच्छिन्न आत्म-चैतन्य-जन्य प्रतीति।

---

१ बड़ा बनाया मानवा बिना बुद्धि बेतूल।
कहा लाल ले कीजिये बिना बास का फूल॥ क० बी० साखी १२४।

२ लिखा पढ़ु किया तपु किया ब्रत पूजा। जाके हिरदै भाउ है दूजा।
रे जन मनु माधव सिउ लाइए। चतुराई न चतुरभुज पाइए॥
परहरु लोक अरु लोकाचार। —सं० क० राग गउड़ी ९ पृ० ८।

३ तटि तीरथ नही मनु पतीआइ। चार-अचार रहे उरझाई॥
—सं० क० गउड़ी ९ पृ० ११।

४ पढ़े गुने कछू समझु न परई पोथी भाव न दरसी। —र० बा० पृ० ११।

५ स्मृति बेद पुरान पढ़े सब अनुभव भाव न दरसै।
लोह हिरण्य होय धौं कैसे जो नहिं पारस परसै॥ —क० बीज० शब्द १४।

६ ध्यावो तत्त भजन अरु सेवक परम तत्त्व नहीं चीन्हें। —र० बा० पृ० ९।

७ अनुभौ परमाण भया जिनको तिनहीं की बात प्रमाण है भी। —प० बा० पृ० ५।

तत्त्ववाद और सदाचरण

तत्त्ववाद की धारणा के साथ सदाचार और नैतिकता का प्रश्न सम्बद्ध है। सिद्धात को स्पष्ट करने के लिए हमे यहाँ इतना ही अवकाश प्राप्त है कि वैदिक देवता को प्रसन्न करने के लिए उन कार्यो का विधान या जो उन देवताओ को प्रिय थे। देवत्व के प्रियत्व की धारणा क्रमश रूढ और भावनाहीन कर्म-काण्ड वन गई। क्षणिकवादी वौद्ध-दर्शन की शून्य-स्वरूपता ही निर्वाण वन गई। आचरण द्वारा शून्यता-प्राप्ति, भव-चक्र का स्थिरीकरण ही नैतिक है। ससार भव-चक्र है, अत वैराग्य इस चक्र को स्थिर करने मे सहायक होगा। साख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति दोनो को चिरतत्त्व मानता है। सृष्टि-प्रक्रिया में प्राकृतिक तत्वो की अ-समता अथवा विपमता है। इस तत्त्व के कारण इसका व्यावहारिक पूरक हुआ योग। यौगिक क्रियाओ द्वारा साधक सुख, दु ख, मोह की साम्यावस्था मे पहुँचना चाहता है। अद्वैती शकर के लिये जगत् प्रातिभासिक है, विवर्त है, जीवन-जगत्-व्यापार अत विवर्त के फल होगे, इस प्रकार इस जीवन की समस्त नैतिकता ससार-त्याग के आधार पर निर्भर करेगी। ईश्वर की व्यावहारिक सत्ता एक ओर शकर को वेदाचार को प्रामाण्य मानने को वाध्य करती है तो दूसरी ओर पारमार्थिक सत्ता वैराग्य-प्रधान निवृत्ति-मार्ग को मान्यता देने को विवश। सगुणोपासक अपने इष्टदेवता को सर्वश्रेष्ठ गुणो का आगार और प्रतिष्ठापक मानता है। इष्ट असीम है किंतु जीव ससीम। मोक्ष का अर्थ है जीव की ससीमता से मुक्ति। जीव की सीमाएँ हैं उसके गुणो की सीमा, अत असीम गुणो का ग्रहण ही असीमता-ग्रहण है। जीव गुणो के ग्रहण और प्राप्ति द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है, स्वय ईश्वर नही हो सकता।

सत का परम-तत्त्व आत्म-तत्त्व से विभिन्न और विच्छिन्न नही। परम तत्त्व केवल निमित्त कारण ही नही वल्कि उपादान कारण भी है। उपादान और कार्य में रूप का ही अन्तर है। जीव का चैतन्य वाधित है, उस विच्छेदक के दूर करने से जो स्वरूप प्रकट होगा, वह उसका सहज स्वाभाविक स्वरूप है। सदाचार का इस अवस्था में शील ही नियामक और निर्धारक है। सत कवि वाह्य ससार की वास्तविकता, सकीर्ण व्यवस्था और सकुचित सीमा को स्वीकार नही कर पाता, इसके मूल में भी तत्त्ववाद का ही स्वरूप है। ससीम की असीमता में विश्वास रखने के कारण आन्तरिक शील में उसका विश्वास है। प्रकृति को ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार करने के कारण अविकृत मानवता के साथ प्राकृतिक विरोध की कल्पना वह नही कर सकता। उद्बुद्ध, जाग्रत और चेतन अथच स्वरूपात्मक ज्ञान—अविकृत मानवात्मक धारणा का प्रत्यक्षीकरण उसके शील का आधार है। सहज स्वरूप की इस धारणा ने सामजस्य-पूर्ण स्थिति की प्रतिष्ठा की अत नैतिक भावना का आधार अन्त करण की वृत्ति है जिसे व्यापक रूप में शील कहा जा सकता है, किंतु शालीनता, छद्मशालीनता, दब्बूपन अथवा रूढपरम्पराओ का अनुयायीपन नही।

सत-विचारक नैतिकता को ईश्वरीय विधान नही मानता और उस विधान के अनुशासन-निमित्त किसी ग्रथ को प्रामाण्य भी नही[१]। सगुण मतवाद से केवल परम-तत्त्व-

---

१ कवीर पढिवा दूर करि, आथि पढ्या ससार।
पीड न उपजी प्रीति सू, तो क्यू करि करै पुकार॥ —क० ग्र०, पृ० ३८।३७६।

निरूपण में भिन्नता नहीं—निर्गुणिया होने पर भी परम-तत्त्व को वह अगाध गुणों का आधार मानता है, उसमें उदात्त गुणों का अभाव नहीं [१] बल्कि उससे भिन्न नैतिक-धारणा निर्गुण मत में है। प्रवृत्तिमार्गी कहे जाने वाले सूर और तुलसी की चिन्ता-धारा वैराग्य-प्रधान और व्यावहारिक दृष्टि से निवृत्तिमूलक है। तुलसी की नैतिक धारणा वर्णाश्रमाश्रित मर्यादावाद को स्वीकृति देती है। ऐसी नैतिकता में वैयक्तिक स्वतन्त्रता और नैतिकता की स्वतंत्र चेतना का विरोध रहता है। इस मर्यादा की सीमा स्वीकार कर लेने पर मोक्ष-निष्पक्ष व्यक्तित्व नियम-पालक मात्र रह जाता है। अनैतिकता के मूल में संत-कवि के अनुसार माया-सम्भूत लौकिकता का मोह एवं आत्म-साक्षात्कार के अभाव से पूर्ण जड़ीभूत जीवन है। इस मायिकता से मुक्ति का फल होगा लौकिक व्यवहार की जड़ता और चेतनाहीन नियमाचार के पालन से मुक्ति। संत का विश्वास था कि चैतन्य-राशि की अनुभूति से पूर्ण और जाग्रत जीवन अनैतिक नहीं हो सकता।[२] अनैतिकता को संत जड़ता से भिन्न नहीं समझता। उसके अनुसार आचार अथवा आचरण निःश्रेयस् की प्राप्ति का साधन से अधिक फल है अतः सहज अथवा आन्तरिक प्रेरणा।

नीत्यनुशासन के मूल में सम्प्रदाय और वर्ग-गत धारणाओं की प्रधानता रहती है। जन-साधारण इस रूढ़िवादिता का समर्थन अचेतन रूप से करता है, इसलिए नहीं कि इसमें उसका व्यापक कल्याण अन्तर्निहित है, बल्कि इसलिए कि वह इसे कल्याणप्रद समझता रहा है अथवा उसे ऐसा समझाया जाता रहा है। नीत्यनुशासन के पीछे कानून और राजनीति का सत्तात्मक अधिकार रहता है और सामाजिक स्वत्वाधिकार और सत्ताधिकार की शक्ति। सामाजिक स्वीकृति मूल्य बनकर और मूल्यों को गौण बना देती है। संत-कवि उस सामाजिक बंधन को स्वीकार नहीं कर पाता जो उसके विकास के व्यापक प्रसार का अवसर न दे। सामाजिक बंधनों को मनुष्य ने इसलिए स्वीकृति दी थी कि आत्म-विकास और आत्मोन्नति के मार्ग में अधिकाधिक सुविधा मिल सके और अनावश्यक संघर्ष और बाधाएँ दूर हो जाएँ। समाज में वैयक्तिकता के चैतन्य सामंजस्य का वह इच्छुक था नीत्यनुशासन के जड़-प्रयोग का नहीं। आत्म-दमन और दमन की ओर उन्मुख नैतिकता का विरोध संत ने सहज भाव से किया है। ब्रह्म की सर्वगत व्यापकता और सत्ता स्वीकार करने के कारण समाज-नीति के दबाव का निराकरण स्वतः हो गया। राजनीतिक सत्ता के क्रियात्मक विरोध की अपेक्षा नहीं थी कारण वैयक्तिक स्वतंत्रता के उद्बोध में उसकी अमान्यता स्वतः हो गई।

पढ़त गुनत ऐसे सब मारे किनहूँ खबरि न जानी। —सं क राम आशा ८ पृ ९८।
अलिफ एक अल्लाह का जे पढ़ि करि जाने कोइ।
कुरान कतेबा इल्म सब पढ़ि करि परा होइ॥ —दा बा (१) पृ २५।८९

१ नाद बिन्द भौ मसि करौं मैतनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ॥ —क ग्रं पृ १२।५९९।

२ प्रगट प्रकाश गिआन गुर गमित गतिगुर ते सुधि पाई। —सं क रामकली २
बहु रैयाग विमल विवेक मुरत सहज सरूप संभारा। —रै बा पृ ११।१।९
गहीर गहीवर राम जल मांहैं मंजन सार।
दादू गरभ गत गये मन के मैल विकार॥ —दा बा (१) पृ २२।९९

नैतिकता की कई धाराओ को वह आत्मसात् कर सका था। बौद्ध धर्मगत सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् विमुक्ति[1] के साथ आचार-शास्त्रीय, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह[2] को उसने ग्रहण किया और धृति, क्षमा, दम, धी, विद्या (ज्ञान्), अक्रोध को भी सम्मिलित कर लिया। इनके आधार में वैयक्तिक भावना का सामजस्य भी उसने चाहा। वह आधुनिक अर्थों में व्यक्तिवादी नही था। तत्कालीन रूढिवादी समाज-व्यवस्था को वह स्वीकार नही करता है, किंतु वह समाज-विरोधी नही था।[3] वह परम्परागत, रूढि-रूढ, मानव-कृत विषय और विकास-बाधक नैतिकता और आचार-पद्धति को अग्राह्य और अ-नैतिक अवश्य मानता है। आत्मा की व्यापकता व्यक्ति को पूर्णतया वैयक्तिकता पूर्ण व्यक्तित्व (Individualised individual) नही रहने देती, उसे व्यापक समाजीकृ तव्यक्तित्व भी वनने नही देती वल्कि सृष्टि की अन्तर्निहित व्यापकता के मूर्तीकरण अथवा प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप वनाती है। ऐसी अवस्था में आनदवादी से भिन्न आधिभौतिक सुखवादी वह नहीं हो सकता और न पूर्णतया दु.खवादी ही हो सकता है। सत में भारतीय चिन्ता-धारा का वह स्वरूप मिलता है जिसमें आधिभौतिक सुखवाद के आग्रह और आध्यात्मिक दु खवाद के मोह का निराकरण सभव हुआ। सतोद्घोषित नैतिकता न अबाध सुखोपभोग ही रही और न विधि-निषेध मात्र। उसकी व्यापक नैतिक भावना के मूल मे अनुभूति और प्रतीति की चेतना रही। सत नीति-शास्त्री नही, किंतु पूर्णतया नैतिक है।

सत-मत कोई मान्य-स्वीकृत व्यवस्थापूर्ण सम्प्रदाय अथवा दल नही, साम्प्रदायिक आग्रह और हठवादिता के दर्शन तो वाद में चलकर हुए। किम्वदती के अनुसार कबीर के पुत्र कमाल ने ही सम्प्रदाय-सगठन का विरोध किया था। साम्प्रदायिक धार्मिकता के साथ इसका सबध जुडा हुआ नही था। सत-कवि मन को वह सुसस्कृत स्वरूप देने का आग्रह रखता है अथवा उसे आवृत्त करनेवाले मोहावरण को छिन्न कर उस शुद्ध रूप को देखना चाहता है जिसके द्वारा निर्लिप्त भाव से सदाचरण (पुण्य कर्म) सभव है।[4]

परलोक-कामना से शुद्धाचरण करनेवाली धारणा इस देश में व्यापक रूप से प्रचलित रही। परलोक की कामना से सदाचरण करना लोभ का ही दूसरा स्वरूप है। सत को यह

---

१ दीघनिकाय (राहुल), सगीति परियाय सुत्त, ३।१०।

२ मनु०, १०।६३।

३ रहस्यवादियो पर यह सामान्य आक्षेप है, इसकी चर्चा के लिए द्रष्टव्य—अडरहिल दि एसेंशियल्स ऑव मिस्टिसिज्म, पृ० २५।

४ मन तू ज्योति सरूपु है आपणा मूल पछाणु।
मन हरि जी तेरे नालि है गुरमती रगु माणु॥
मूल पछाणहि ता सहु जाणहि मरण जीवण की सोझी होई।
गुर परसादी एको जाणहि ता दूजा भाव न होई॥
मनि साति आई वजी बधाई ता होआ परवाणु।
इउ कहै नानक मन तू जोति सरूपु है आपण मूल पछाणु॥
—आ० ग्र०, आसा पहला ३, छतघरु ३।

अभीष्ट नहीं। उसके अनुसार परलोक का मोह भी बंधन ही है, अप्राप्ति का भय सदाचार को स्थायित्व नहीं दे सकता। विधि-निषेध निषेधात्मक है इसके द्वारा नैतिकता को विधेयात्मक नहीं बनाया जा सकता इस बहाने सदाचार के कुछ कार्य करा सकना सम्भव अवश्य है। पर लोक की अमान्यता भी पुरातन काल से आ रही है। बुद्ध ने परलोक को महत्त्व नहीं दिया था और न इसके लिए किये जानेवाले खटराग को ही पसंद किया था। बुद्ध के लिए परलोक अथवा स्वर्ग प्राप्त करने की अपेक्षा स्रोत-आपन्न होना अधिक महत्त्वपूर्ण था—

पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं।[1]

परलोक का भय नाथ-सम्प्रदाय तक में विद्यमान था। परार्ई निंदा करने से मद्य मांस भाँग खाने से इक्कहत्तर सौ 'पुरखा' नरक चले जाते हैं। माँस खाने से दया-धर्म का नाश होता है, मदिरा पीने से प्राणों में नैराश्य छा जाता है, भाँग खाने से ज्ञान-ध्यान खो जाता है और ऐसे प्राणी यम के दरबार में रोते हैं।[2] सदाचार के लिए लोक-बाह्य कारणों की प्रतिष्ठा में इस लोक का तिरस्कार निहित है। संत प्रातिभज्ञानवादी की भाँति नैतिकता को मध्यवहार्य अथवा व्यावहारिक जीवन से असम्बद्ध नहीं मानता एवं उपयोगितावादी की तरह लोक-व्यवहार को ही चरम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं करता क्योंकि व्यवहारोपयोगी जीवन को वह बाह्य ही मानता है। यहाँ लोक-जीवन का तिरस्कार नहीं बल्कि लोक-जीवन की सीमाओं के संकोच की अमान्यता है। नैतिकतापूर्ण जीवन-व्यवहार उसका लक्ष्य नहीं बल्कि जीवन का वह स्वरूप-विकास काम्य है जिसमें मानव-जीवन की सहज अनुभूतियाँ सुरक्षित हैं और जो आदर्श-जीवन-निर्माण के आधार हैं। वह जीवन के सत्य-स्वरूप का उद्घाटन करना चाहता है, नैतिकता जिसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। नैतिकता की चर्चा तो वह अधिक नहीं करता जीवन-क्रम में उसका विश्वास है।

सामाजिक स्तरों में भिन्नता है, समाज का धर्मगत संस्कारगत व्यवसायगत रुचि वैचित्र्यगत उद्देश्यगत विभाजन किया जा सकता है और व्यक्ति एक साथ ही अनेक सामाजिक स्तरों के साथ सम्बद्ध है। संत समाज को 'इकाई' नहीं मानता वह इन सभी इकाइयों की विभिन्नता भी देखता है किंतु व्यक्ति-व्यक्ति की अन्तर्निहित एकता में उसकी आस्था है।[3] इस तत्त्ववादी दृष्टिकोण के कारण उसके समाज-दर्शन और नैतिक धारणा में अंतर आता है। सामाजिक व्यवस्था की अस्वीकृति भी संत-साहित्य में उपलब्ध है, वह केवल वैयक्तिक स्वतंत्रता की भावना के कारण ही नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था के आमूल परिवर्तन की आकांक्षा से भी है।

---

१ विश्व भारती पत्रिका (सं २ १ वि) में शान्तिभिक्षु के निबंध से उद्धृत।
२ गो बा पद १६४-६५ पृ ५६।
३ गरब भूल गई गरि जानिबा बूझे वादविवादा। —सं म रागु आसा २८।
एक अनेक बिआपक पूरक जत देखउ तत सोऊ। —नामदेव (आ ग्रं) रागु आसा १।
घट घट अंतरि सरब निरन्तरि केवल एक मुरारी। —वही।
सरबे एकु अनेके सुआमी सभ घट भुगतै सोई ॥ —दै बा पद ५२ पृ ४४।

वर्ग की कसौटी

बुद्ध की सामाजिकता ब्राह्मण और शूद्र की भिन्नता स्वीकार करती थी, न तो कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने के कारण ब्राह्मण होता है और न शूद्र के घर मे जन्म लेने से शूद्र। मनुष्य का कर्म ही ब्राह्मण अथवा शूद्र बनाता है।[1] जन्म की अपेक्षा श्रेष्ठता-सम्पादक के रूप में गुण-कर्म की प्रधानता गीता में भी है।[2] पुराणो तक में ऐसा विधान है।[3] यह विचार-धारा सिद्धो-नाथो से होती हुई आई। सत-कवि गुण-कर्म को श्रेष्ठता-विधायक मानता हुआ सबकी समानता देखता है।[4] सम-तत्त्व-स्वरूपी जीव कर्मों के कारण भिन्न होता है। कर्म दो प्रकार के होते है, सासारिकता से आबद्ध करनेवाले और मुक्ति देनेवाले। मूर्खों के सारे कर्म आशा-बद्ध, अहकारपूर्ण अत बंधनकारी होते है। आशा से किए गये कर्म-धर्म बधन-हेतु है।[5] आसुरी भाव और अहकार के वशीभूत होकर किए गये कर्म पाखण्डपूर्ण हैं। अन्तर्मल को अत धोने की अपेक्षा है, केवल स्नानादि बाह्य कर्म आन्तरिक शुद्धता में अक्षम होगे।[6]

मनुष्यो की एक जाति है, धर्म-व्यवसाय आदि के कारण इस एकजातीयता में अतर नही आता। अनेक जातियो का विभाजन मनुष्य ने किया है, यह कृत्रिम, अ-प्राकृत, अ-नैतिक, अ-मगलकारी, अत मानवीय विकास का बाधक है। उच्चता जन्म के कारण नही, आत्माभिमान व्यर्थ है। गर्भावास में न तो कुल का चिह्न है और न जाति का, एक ब्रह्म-बिंदु से ही सबकी उत्पत्ति है। ब्राह्मण और शूद्र में जातिगत कोई अतर नही। जन्म

---

१ न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो।
—विश्ववाणी (२।३।५) में भदत आनद कौसल्यायन के निबध से।

२ चातुर्वण्य मया सृष्ट गुणकर्मविभागश । —गीता

३ जातो व्यासस्तु कैवर्त्या श्वपाक्याश्च पराशर ।
शुक्या शुक कणादाख्यस्तथोलूक्या सुतोऽभवत् ॥ भविष्य पुराण ॥

४ जो तू करता करम विचारा। जन्मत तीनि दड अनुसारा॥
जनमत सूद्र मुए पनि सुद्रा। क्रीतिम जनेउ घालि जग द्वन्दा॥ —वी०, रमैनी ६२।
नाना रूप बरन एक कीन्हा। चारि बरन उहि काह न चीन्हा। —वही, रमैनी ६३।

५ जब तक भगति सकामता, तब लगि निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलैं, निहकामी निज देव। —ग्र०, पृ० १९।१९२

६ अतरि मलु निरमल नही कीना बाहर भेस उदासी।
हिरदे कमल घटि ब्रह्म न चीना काहे भइआ सनियासी॥—आ० ग्र०, त्रिलोचन, गूजरी १।
पाखडि मैलु न चूकई भाई अतरि मैलु विकारी।
इन विधि डूबी माकुरी भाई ऊडी सिर कै भारी॥ —आ० ग्र०, नानक १, सोरठि।
अतरि मैलु तीरथ भरमीजै। मनु नही सचा किया सोच करीजै॥
—आ० ग्र०, रामकली महला १, असट पदीआँ।

से न तो कोई दूषित है और न कोई पवित्र।[१] जाति और वर्ण-गत भेद अनुदार और मानवता-विरोधी है। छुआछूत विचार का भ्रम है। जल में छूत कम जाती है। जन्म में छूत है और फिर मरण में भी छूत कम नहीं। पवित्रापवित्र का विचार थोथा है, भला कौन पवित्र है? आँखों में छूत है, बोली में छूत है, कानों में छूत है, भोजन में छूत लगती है उठते-बैठते छूत लगती है।[२] जन्म की इस उच्चता-विधायक धारणा में संत को विश्वास नहीं उसकी दृष्टि में उच्चता-विधायक है ऊँची करनी सज्जनोचित आचरण। उच्च कुल में जन्म लेनेवाला व्यक्ति भी आचरण-हीन होकर निंदित ही होता जैसे सुरा-भरण से दूषित स्वर्ण पात्र।[३]

कर्म को संतों ने विभिन्न रूपों में देखा है। कर्म के अर्थों में आचरण लोक-व्यवहार, बाह्याचार, कर्म-कांड पूजोपासना आदि हैं। 'करनी' को बंधनकारी और मोक्षप्रद दोनों माना गया है। कर्म का फल एक जन्म से ही नहीं मिलता। कर्माचरण का फल इसी जन्म तक सीमित नहीं आज की नीचता पूर्वार्जित पुण्य के कारण ब्राह्मण का जन्म उच्च कुल में हुआ है, ऐसा संत का विश्वास नहीं किन्तु पूर्व-जन्म की तपहीनता के फलस्वरूप इस जन्म में जुलाहा होने का संकेत आया है।[४] नीच-जन्मा होने की कुंठा किसी संत में नहीं दीख पड़ती बल्कि इसे वह एक प्रकार का वरदान ही मानता है और विश्वास करता है कि इसी नीचता के कारण प्रभु के दर्शन सुलभ हुए हैं। उच्चता अहंकार की जननी है और अहंकार बुद्धि की समता को सीमित-संकुचित कर देता है।[५] लोभ उसे प्रश्रय देता है।[६]

संत कवि के अनुसार कर्म तभी तक बंधनकारी है जब तक उनसे वासना और कामना सम्बद्ध रहती है। गीतोक्त कर्म-फल की आशा के त्याग की परम्परा यहाँ स्पष्टतया लक्षित की जा सकती है और इसके साथ ही भारतीय निर्गुण (निष्काम) भक्ति का स्वरूप सम्बद्ध हो गया है। वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा-जन्य संताप की सम्भावना नैतिकता के बाह्य आधार

---

१ गरभवास महि कुलु नहीं जाती ब्रह्म बिंदु ते सभु उतपाती।
कहु रे पंडित बामन कब के होए, बामन कहि कहि जनमु मत खोए॥
—सं० क० राग गउड़ी ७ पृ० १।

२ जलि है सूतकु थलि है सूतकु सूतक ओपति होई।
जनमे सूतकु मूए फुनि सूतकु सूतकु परज बिगोई।
कहु रे पंडीआ कउन पवीता। —सं० क० रागु गउड़ी ४१।

३ ऊँचे कुल कहा न जानिये जो करनी ऊँच न होय।
कनक कलस मद से भरा साधन निंदा सोय॥—सं० बा० सं० (१) पृ० १२।

४ पूरब जनम हम ब्राह्मन होते ओछे करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूकी पकरि जुलाहा कीना॥ —कबीर।

५ हउमै जाति है हउमै करम कमाहि। हउमै एई बंधना फिरि फिरि जोनी पाहि॥
—आ० ग्रं० वार आसा महला १।

६ अमल सिरन वहु जनम सिराने तनु मनु धनु नहीं धीरे।
लालच बिखु काम लबध राता मनु बिसरे प्रभु हीरे।—आ० ग्रं० धन्ना रागु आसा १।

को स्वीकार करती है, सीमित भौतिक आकाक्षा सत को इस सघर्ष से बचा लेती है। सघर्ष की सामाजिक भूमि और आधार परिवर्तित हो जाते हैं और सामाजिक नैतिकता का प्रश्न स्वय हल ढूँढ लेता है। व्यष्टि का निजी कल्याण सम्माजिक कल्याण से भिन्न नही है और न दूसरो के अ-कल्याण का साधन ही। आत्मा वस्तुत व्यष्टि नही, व्यापक समष्टि-तत्त्व की ईकाई और अन्य आत्माओ के साथ तात्विक रूप में सम्वद्ध है। फिर इस आत्मा की उपलब्धि के पश्चात् विच्छिन्न अहम् भावना के लिये स्थान ही कहाँ रहेगा? ब्रह्मज्ञान, आत्म-ज्ञान हो जाने पर जब बुद्धि अत्यत सम और निष्काम हो जाती है, वैराग्य और समत्व प्राप्त कर लेती है, कर्म-अकर्म, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म की मीमासा व्यर्थ होगी।

समत्व-बुद्धि प्राप्त व्यक्ति का प्रत्येक आचरण मानवता-विधायक आदर्श की भाँति होगा। अनीति के मूल मनुष्य की राग-द्वेषात्मक बुद्धि है। उसके मम हो जाने पर धर्माधर्म का विचार लोक-व्यवहार की परिचालना एव कल्याण-कामना के कारण ही नही होगा। सत-मत मे आचरण और व्यवहार को स्वतन्त्र और विच्छिन्न नही माना गया है, बुद्धि और चैतन्य के जागरण की सीमा के कारण यद्यपि बौद्धधर्म जैसी विवृत्ति अपेक्षित नही हुई। कर्मकाण्ड के विवृत्तिपूर्ण विधि-निषेध की भूमिका में ही बौद्ध-धर्म-गत आचरण की विवृत्ति देखी जा सकती है। सत की व्यवसायात्मक बुद्धि स्थिर होकर सब भूतो मे एक आत्मा के दर्शन करती है और यही उसके नैतिकानुशासन का आधार है और कर्मशीलता का लक्ष्य। सत्पुरुष विधि-निषेध के नियामक हैं, अनुयायी अथवा दास नही। नीति-शास्त्रीय यह उपपत्ति अत्यधिक मात्रा में वैदिक, बौद्ध, ईसाई आदि सभी धर्मों को स्वीकृत है। सत-कवि ने इसे नई दिशा दी थी। धार्मिक नैतिकता की व्यवस्था में कर्तव्याकर्तव्य की सीमा सत ने नही देखी। गीतोक्त वर्णाश्रमधर्ममूला नैतिकता के स्थान में व्यक्तिनिष्ठ नवीन सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना के आधार पर समत्व की स्थापना सत ने चाही।

संत-मतीय नैतिकता और सदाचार

तत्कालीन जीवन, सामाजिक व्यवस्था और सास्कृतिक चेतना की भूमिका में ही सदाचार-सबधी धारणाओ का विवेचन सम्भव होगा। अन्यत्र लक्षित किया गया है कि अनेक सत निम्नवर्गीय चेतना का प्रतिनिधित्व करते थे। नामदेव छीपी, धन्ना जाट, कबीर जुलाहे, रैदास चमार, दादू धुनियाँ, नानक और पलटू बनियाँ थे। इनमें से कई के अनुयायियो ने अपने आदि गुरुओ को उच्च वर्णोद्भूत सिद्ध करने की चेष्टा की। जीवन के प्रत्येक स्तर में आभिजात्य वर्ग से इनकी भिन्नता थी, अत उच्चवर्गीय मानदण्डो के द्वारा इनकी व्यावहारिकता की जाँच और विवेचना अनीतिपूर्ण होगी। नैतिक धारणाओ का सम्बन्ध देश, काल, पात्र, सामाजिक सस्थान और कार्य-प्रणाली तथा सास्कृतिक चेतना के साथ है। विवशता और परवशता व्यक्ति के चैतन्य को कुण्ठित कर देती है।[१] वह मत्र-परिचालित जड जीवमात्र रह जाता है। किसी मान्यता को स्वीकार कर लेने में भी इसी प्रकार की विवशता है, अत सत-कवि सर्वप्रथम इस परवशता से मुक्ति चाहता है। इस मुक्ति के अभाव में चैतन्य धारणा अर्थहीन है। साहस-प्रदर्शन अहम्मन्यता दम्भ, अक्खडपन का सूचक मात्र नही बल्कि आतरिक

---

१ दावा किसही का नही, बिन बिलाइति बढ राज। —क० ग्र०, पृ० ५९।५७३।

दृढ़ भावना आत्म-विश्वास और नैतिक साहस का सांकेतिक-निर्देशक है। नैतिक मान्यताएँ नियम बनकर प्रवचन मात्र रह जाती हैं और ऐसी उदारताशयता विवशता का विस्तार। संत-कवि इस रूढ़िगत विवशता को स्वीकार नहीं करता।

संत-कवि का विश्वास था कि स्वार्थ में स्नेह की संभावना नहीं और जब तक स्वार्थ है तबतक स्नेह हो भी नहीं सकता। प्रीति के अभाव में स्नेह का निर्वाह समय कैसे होगा ?[१] लोभ के कारण किया गया कर्म—धार्मिक कृत्य भी अनुचित अतः अनैतिक है। लोभ विवशता है विवशता में फँसे जीव दूसरों को मुक्त कैसे कर सकेंगे ?[२] वासना—स्वार्थ की भावना सर्वत्र परिव्याप्त है और मानवीय पीड़ा का मूल कारण यही स्वार्थपरता है। सांसारिकता मोह की वासना है। वासना के कारण ही देवता और मानव दोनों दग्ध होते हैं।[३] स्वर्ग-वासना बैकुंठ की कामना चैतन्य भाव के विकास-मार्ग की प्रत्यक्ष बाधाएँ हैं। संसार, लोक-वृत्ति और लोकाचार के त्याग का अर्थ नैतिकता और सदाचार का त्याग नहीं बल्कि आचार-रूप स्वार्थ वृत्ति का त्याग है जिसके सीमन में अनैतिकता फलती-फूलती है। सांसारिक दुःखों के कारण हैं—मानव की स्वार्थ-बुद्धि का विस्तार एवं महत्त्वाकांक्षा की अपरिसीम और कभी संतुष्ट न हो सकनेवाली धारणा। स्वार्थों की भीषण टकराहट की ही सांसारिक संघर्ष सत्ता है। पराये को स्वार्थ और स्वार्थ को पराया बनाना ही संत का लक्ष्य रहा है। बौद्धधर्म के अनुसार संसार में स्वार्थ का बंधन छूट नहीं सकता। गीता में जिस व्यावहारिक आचार-तत्त्व की धारणा है उसमें 'स्वधर्म' अर्थात् व्यवस्थापित धर्म की श्रेष्ठता अतः विवशता रह जाती है। संत-कवि इन दोनों धर्मनामों को अमान्य करता है।

गार्हस्थ्य और वैराग्य

निवृत्ति और प्रवृत्ति को वैराग्य और गार्हस्थ्य की भूमिका में देखने का प्रयास होता रहा है। सगुण भक्ति को प्रवृत्तिमूलक और निर्गुणोपासना को निवृत्तिमूलक मानने का यह मोह रहा है। वर्णाश्रम धर्म में गार्हस्थ्य जीवन की प्रतिष्ठा थी। बौद्ध धर्म-साधना में संन्यास और गृहत्याग का जो महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ था वह गार्हस्थ्य का नहीं। आधिभौतिक सुखवाद के विरोध के कारण उसमें प्रतिष्ठित नारी-महत्त्व का विरोध हुआ। शांकर सम्प्रदाय का आधार बौद्धधर्म का सन्यास-प्रधान विधान हुआ। प्रवृत्ति के विरोध में कर्तव्य-पालन भी निवृत्ति-मूलक हुआ। निःश्रेयस् की प्राप्ति सामान्य रूप से सांसारिक आचरण से उदासीनता और उसकी प्राप्ति के साधनों में संलग्नता आवश्यक करती है। बौद्धधर्म में साधनागत काया-कष्ट के अतिवादी स्वरूप का जो विरोध है[४] उसकी अविच्छिन्न धारा संत-काव्य में प्रवाहित-सी

---

१ प्रीति बिना कैसे बंधै सनेहु। जब लग रसु तब लग नहीं नेहु।—सं क गउड़ी २१।
बिन्ना सीची नाँ बुझै दिन दिन बधती जाइ।—क ग्रं पृ ११।१५।
२ या पहि जाउ आपु छूटकावनि ते बाधे बहु फंधा।—सं क गउड़ी ५१।
३ सुरिनर दाधे लागी आगि। निकटि नीर पसु पीवसि भागि।—सं क गउड़ी २४।
४ बौद्ध-दर्शन-मीमांसा बलदेव उपाध्याय पृ ७२।

दीख पड़ती है। धम्मपद के अनुसार वैराग्य ही सब धर्मो में श्रेष्ठ है।[1] विवाह का विरोध काया-कष्ट के रूप में यहाँ स्वीकृत नही हुआ था। वैराग्यप्रधान जीवन एव सासारिक कामोपभोग तथा वामाचार-सम्मत अबाध स्त्री-प्रसग के मध्य का मार्ग सत ने ग्रहण किया। सयमित इन्द्रिय-तृप्ति के साथ सासारिकता मे वैराग्य की भावना स्थापित कर कबीर ने योग को भोग और भोग को योग की भूमिका में देखा।

कबीर ने लक्षित किया था कि गृह-त्यागी सन्यासी, वैरागी जोड़-बटोरू और माया-फद मे फँसनेवाले हो रहे थे। गृह-त्याग गृहस्थाश्रम के सभी बधनो से परिपूर्ण था, अत सासारिक माया-मोह की भर्त्सना करते समय सन्यासियो की सासारिकता की ओर सत की दृष्टि स्पष्ट रूप से गई थी। कबीर ने कहा—गृहस्थाश्रम मे रहना है तो धर्म का पालन करो, नही तो वैराग्य धारण करो। वैराग्य लेकर गृहस्थाश्रम के बधन में पडनेवाला महा अभागा है।[2] गृही को घर की चिंता सताती है, सन्यासी को भीख की,[3] अत दोनो प्रकार की चिन्ताओ से वह मुक्ति चाहता है। सत के लिए घर और वन एक समान हैं, उसने देखा था कि भावो की प्रेरणा ही महत्त्वपूर्ण है अत प्रेरणाहीन मनुष्य का कही रहना अनुचित होगा[4] और जिसमें भावना की महत्ता है उसके लिए सभी स्थान समान।[5] माया से मुक्ति के लिए वैराग्य की अपेक्षा है[6] तो सन्यास की वासनाजन्य विकृति से त्राण के लिए गृहस्थाश्रम का पालन।

सत-समाज में सहज जीवन का अर्थ क्रमश परिवर्तित होता गया। जहाँ घर मे निष्काम भाव से, उदासीन भाव से रहना काम्य था[7] वहाँ ससार का त्याग अपेक्षित होने लगा। सत ने सभवत देख पाया कि सयमित विषय-तृप्ति और अबाध इन्द्रिय-तृप्ति का अन्तर स्पष्ट रूप में नही रखा जा सकता। गृहस्थ वैरागी भी कालक्रम से गार्हस्थ्य की सासारिकता में लिप्त होने लगे। गार्हस्थ्य-वैराग्य की महत्ता के मूल में सन्यास-च्युत गृहस्थ-सन्यासियो का दल था। इस दल ने भी क्रमश गृहिणी और गृह-त्याग की अपेक्षा समझी।[8]

सत जीवन की समस्याओ के हल में नैतिकता का स्वरूप देखता रहा। हस-स्वरूपी जीव (हस देह) के अकथ गुणो की चर्चा परवर्ती कबीर-पथ में हुई। सत-मत के कवियो ने परिवर्तन, परिवर्धन के साथ इस स्वरूप को स्वीकृत किया है। हस-रूप मानवीय आदर्श की पूर्णता है। चैतन्य आत्म-तत्त्वोपलब्धि के पश्चात् निर्गुण-सगुण का भेद मिट जाता है। हस देह

---

१ धम्मपद, पृ० २०।१। २ स० क० सलोकु २४३।

३ ग्रिही तो च्यता घणी, वैरागी तो भीख।
दुहूँ कात्या बिचि जीव है, दौ हनै सतो सीष। —क० ग्र०, पृ० ५७।५५४।

४ ना घर भला न वन भला, जहाँ नही निज नाँव।
दादू उनमनि मन रहै, भला न सोई ठाँव॥ —दा० वा० (१), पृ० २४।७८।

५ जहाँ रहूँ तहँ राम सूँ, भावै कदलि जाइ।
भावै गिरि परबत रहूँ, भावै गेह बसाइ॥ —दा० वा० (१), पृ० २१।४५।

६ ना मे जोग धिआन चितु लाइआ।
बिनु वैराग न छूटसि माइआ॥ —स० क०, रागु गउडी ३४।

७ स० बा० स०, भाग २, पृ० १०५।२। ८ वही, पृ० ११९।

दृढ़ भावना आत्म-विश्वास और नैतिक साहस का सांकेतिक-निर्देशक है। नैतिक मान्यताएँ नियम बनकर प्रधान मात्र रह जाती हैं और ऐसी उदारारायता विषमता का विस्तार। संत-कवि इस कल्पित विषमता को स्वीकार नहीं करता।

संत-कवि का विश्वास था कि स्वार्थ में स्नेह की सम्भावना नहीं और जब तक स्वार्थ है तबतक स्नेह हो भी नहीं सकता। प्रीति के अभाव में स्नेह का निर्वाह सम्भव कैसे होगा?[१] लोभ के कारण किया गया कर्म—धार्मिक कृत्य भी अनुचित अत अनैतिक है। लोभ विषमता है, विषमता में फँसे जीव दूसरों को मुक्त कैसे कर सकेंगे?[२] वासना—स्वार्थ की भावना सर्वत्र परिव्याप्त है और मानवीय पीड़ा का मूल कारण यही स्वार्थपरता है। सांसारिकता मोह की वासना है। वासना के कारण ही देवता और मानव दोनों बद्ध होते हैं।[३] स्वर्ग-वासना बैकुण्ठ की कामना चैतन्य भाव के विकास-मार्ग की प्रत्यक्ष बाधाएँ हैं। संसार लोक-वृत्ति और लोकाचार के त्याग का अर्थ नैतिकता और सदाचार का त्याग नहीं बल्कि आचार-रूप स्वार्थ वृत्ति का त्याग है जिसके आँगन में अनैतिकता फलती-फूलती है। सांसारिक दुःखों के कारण हैं—मानव की स्वार्थ-बुद्धि का विस्तार एवं महत्त्वाकांक्षा की अपरिसीम और कभी संतुष्ट न हो सकनेवाली धारणा। स्वार्थों की भीषण टकराहट की ही सांसारिक संघर्ष संज्ञा है। परार्थ को स्वार्थ और स्वार्थ को परार्थ बनाना ही सत का लक्ष्य रहा है। बौद्धधर्म के अनुसार संसार में स्वार्थ का बंधन छूट नहीं सकता। गीता में जिस व्यावहारिक आचार-तत्त्व की धारणा है उसमें 'स्वधर्म' अर्थात् व्यवस्थागत धर्म की श्रेष्ठता अतः विषमता रह जाती है। संत-कवि इन दोनों वर्जनाओं को अमान्य करता है।

गार्हस्थ्य और वैराग्य

निवृत्ति और प्रवृत्ति को वैराग्य और गार्हस्थ्य की भूमिका में देखने का प्रयास होता रहा है। सगुण भक्ति को प्रवृत्तिमूला और निर्गुणोपासना को निवृत्तिमूला मानने का मत मोह रहा है। वर्णाश्रम धर्म में गार्हस्थ्य जीवन की प्रतिष्ठा थी। बौद्ध धर्म-साधना में संन्यास और गृहत्याग का जो महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ था वह गार्हस्थ्य का नहीं। आधिभौतिक पुरुषार्थ के विरोध के कारण उसमें प्रतिष्ठित नारी-महत्त्व का विरोध हुआ। शांकर सम्प्रदाय का आधार बौद्धधर्म का संन्यास-प्रधान विधान हुआ। प्रवृत्ति के विरोध में कर्तव्य-पालन भी निवृत्ति-मूलक हुआ। नि श्रेयस् की प्राप्ति सामान्य रूप से सांसारिक आचरण से उदासीनता और उसकी प्राप्ति के साधनों में संलग्नता आमंत्रित करती है। बौद्धधर्म में साधनागत काया-कष्ट के अतिवादी स्वरूप का जो विरोध है[४] उसकी अविच्छिन्न धारा संत-काव्य में प्रवाहित-सी

---

१ प्रीति बिना कैसे बँधै सनेहु। जब लग रसु तब लग नहीं नेहु।—सं क गउड़ी २१।
जिव्हा सीची नां बुझै दिन दिन बधती जाइ।—क ग्र पृ ११।१५।

२. जा पहि जाइ आपु छुटकावहि ते बाधे बहु फंधा।—सं क गउड़ी ५१।

३ सुरिनर दाधे लागी आगि। निकटि नीर पसु पीवसि नागि।—स क गउड़ी २४।

४ बौद्ध-दर्शन-मीमांसा बलदेव उपाध्याय पृ ७२।

दीख पडती है। धम्मपद के अनुसार वैराग्य ही सब धर्मों मे श्रेष्ठ है।[1] विवाह का विरोध काया-कष्ट के रूप में यहाँ स्वीकृत नही हुआ था। वैराग्यप्रधान जीवन एव सासारिक कामोपभोग तथा वामाचार-सम्मत अबाव स्त्री-प्रसग के मध्य का मार्ग सत ने ग्रहण किया। सयमित इन्द्रिय-तृप्ति के साथ सासारिकता मे वैराग्य की भावना स्थापित कर कबीर ने योग को भोग और भोग को योग की भूमिका में देखा।

कबीर ने लक्षित किया था कि गृह-त्यागी सन्यासी, वैरागी जोड़ू-बटोरू और माया-फद में फँसनेवाले हो रहे थे। गृह-त्याग गृहस्थाश्रम के सभी बधनो से परिपूर्ण था, अत सासारिक माया-मोह की भर्त्सना करते समय सन्यासियो की सासारिकता की ओर सत की दृष्टि स्पष्ट रूप से गई थी। कबीर ने कहा—गृहस्थाश्रम मे रहना है तो धर्म का पालन करो, नही तो वैराग्य धारण करो। वैराग्य लेकर गृहस्थाश्रम के बधन में पडनेवाला महा अभागा है।[2] गृही को घर की चिंता सताती है, सन्यासी को भीख की,[3] अत दोनो प्रकार की चिन्ताओ से वह मुक्ति चाहता है। सत के लिए घर और वन एक समान हैं, उसने देखा था कि भावो की प्रेरणा ही महत्त्वपूर्ण है अत प्रेरणाहीन मनुष्य का कही रहना अनुचित होगा[4] और जिसमे भावना की महत्ता है उसके लिए सभी स्थान समान।[5] माया से मुक्ति के लिए वैराग्य की अपेक्षा है[6] तो सन्यास की वासनाजन्य विकृति से त्राण के लिए गृहस्थाश्रम का पालन।

सत-समाज मे सहज जीवन का अर्थ क्रमश परिवर्तित होता गया। जहाँ घर मे निष्काम भाव से, उदासीन भाव से रहना काम्य था[7] वहाँ ससार का त्याग अपेक्षित होने लगा। सत ने सभवत देख पाया कि सयमित विपय-तृप्ति और अबाध इन्द्रिय-तृप्ति का अन्तर स्पष्ट रूप में नही रखा जा सकता। गृहस्थ वैरागी भी कालक्रम से गार्हस्थ्य की सासारिकता में लिप्त होने लगे। गार्हस्थ्य-वैराग्य की महत्ता के मूल मे सन्यास-च्युत गृहस्थ-सन्यासियो का दल था। इस दल ने भी क्रमश गृहिणी और गृह-त्याग की अपेक्षा समझी।[8]

सत जीवन की समस्याओ के हल में नैतिकता का स्वरूप देखता रहा। हस-स्वरूपी जीव (हस देह) के अकथ गुणो की चर्चा परवर्ती कबीर-पथ में हुई। सत-मत के कवियो ने परिवर्तन, परिवर्धन के साथ इस स्वरूप को स्वीकृत किया है। हस-रूप मानवीय आदर्श की पूर्णता है। चैतन्य आत्म-तत्त्वोपलब्धि के पश्चात् निर्गुण-सगुण का भेद मिट जाता है। हस देह

---

१ धम्मपद, पृ० २०।१। २ स० क० सलोकु २४३।

३ ग्रिही तो च्यता घणी, वैरागी तो भीख।
दुहूँ कात्या विचि जीव है, दौ हनै सतो सीष। —क० ग्र०, पृ० ५७।५५४।

४ ना घर भला न बन भला, जहाँ नही निज नाँव।
दादू उनमनि मन रहै, भला न सोई ठाँव॥ —दा० बा० (१), पृ० २४।७८।

५ जहाँ रहूँ तहँ राम सूँ, भावै कदलि जाइ।
भावै गिरि परबत रहूँ, भावै गेह बसाइ॥ —दा० बा० (१), पृ० २१।४५।

६ ना मे जोग धिआन चितु लाइआ।
बिनु वैराग न छूटसि माइआ॥ —स० क०, रागु गउडी ३४।

७ स० बा० सं०, भाग २, पृ० १०५।२। ८ वही, पृ० ११९।

की पाँच प्रकृतियाँ है, इनमें से प्रत्येक की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ है और इस प्रकार ५ × ५ = २५ प्रकृतियों से इस देह का निर्माण होता है—

१ धर्म—मिथ्या-त्याग सत्य-ग्रहण संयम-हीनता अचञ्चल और अहंकार-नाश।
२ दया—अद्रोह समता मैत्री निर्मयता समदर्शिता।
३ शील—क्षुधा-निवारण (तितिक्षा) प्रियवचन शान्ति-बुद्धि प्रत्यक्ष पारख और प्रत्यक्ष सुख।
४ विचार—अस्ति-नास्तिपद का निर्णय यथार्थ-ग्रहण व्यवहार-शुद्ध-भाव और संचितता (ज्ञान-विज्ञान) की प्राप्ति।
५ सत्य—निर्णय निर्भय प्रकाश स्थिरता और क्षमा।[1]

नाथ-सम्प्रदायान्तर्गत विविध बत्तीस लक्षणों के कथन है।

१ त्याग पारछ्या—निरलोमी निहचक निरवासिक निहिसबर।
२ विचार पारछ्या—निरमाही निरवम निर्सक निरवान।
३ बमेक (विवेक) पारछ्या—सरवंगी सावधान सति सारग्राही।
४ सतोष पारछ्या—अजाचीक अवांछीक ममानीक अस्थिर (स्थिर)।
५ निविस पारछ्या—निहितरं निहपरपंच निरदुंदी निरलेप।
६ सहज पारछ्या—सुमनी सुहृदो सीतल सुखदाई।
७ सील पारछ्या—सुचि संजम सति स्त्रोता।
८ सुंनि पारछ्या—स्यौ लवि ध्यान समाधि।[2]

नाथ-सम्प्रदायान्तगत धारणा नकारात्मक अधिक है और संत-मत में भावात्मक धारणाओं की प्रधानता है। बौद्ध धर्म के अष्टांगिक मार्ग की अहिंसा अचौर्य अ-व्यभिचार अ-मृषावचन अपिशुन-वचन अ-कटु वचन अ-संप्रलाप अ-लोभ अ-प्रतिहिंसा अ-मिथ्यादृष्टि निष्कामता अ-द्रोह आदि में नकारात्मक स्वरूप के दर्शन होते है।

नाथ-पंथ और संत-मत की नैतिक भावना

संत-मत को नाथ-सम्प्रदाय का परिवर्तित स्वरूप[3] मानते समय दोनों मतों की नैतिक भावना के अन्तर को साधारणतया नहीं देखा गया। नाथ-पंथी संन्यास-प्रधान आदर्श को स्वीकार करता है, गार्हस्थ्य के प्रति अनादर भाव और शुष्कता इस भाव में स्पष्टतया लक्षित होती है। नाथपंथीय धारणा के अनुसार गृहस्थ के लिए ज्ञान संभव उपयुक्त और साधक नहीं।

१ विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—गोरखबानी पृ १८३-८९ (वचन-क्रम में अंतर है)।
२ गो बा (ग) – (१) पृ २४१।
३ द्रष्टव्य—निर्गुण धारा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति-धारा का बल पहले योग के ही घाट पर बहा था।—बड़थ्वाल योग-प्रवाह, पृ ७५। हिन्दी में आये जानेवाले पदों में यह (नैतिकता का) स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इस स्वर ने परवर्ती संतों के लिए आचरण-शुद्धि-प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।—द्विवेदी नाथ सम्प्रदाय पृ १८७।

गृहस्थ दयनीय और विवश जीव है। गृहस्थ का ज्ञान, व्यसनी का ध्यान, बूचे का कान, वेश्या का मान और वैरागी का माया बटोरना समान भाव से निरर्थक है।[1] स्त्री का साथ रहना शान्ति में बाधक है[2], उसके साथ रहनेवाले पुरुष की अवस्था नदी के किनारे खडे पेड की-सी होती है, उसके जीवन की आशा थोडी ही है।[3] भग राक्षसिन है[4], अत पुरुष को अकेला रहना चाहिए, एकान्त-सेवक करना चाहिए, एकाकीपन की काम्य है।[5] नाथ-पथी का उद्देश्य है गोरख-स्वरूप की प्राप्ति, देवलोक की अप्सराएँ, मृत्युलोक की स्त्रियाँ और पाताल लोक की नाग-कन्याएँ जिस गोरख को प्रभावित करने में असमर्थ हैं। उसने माया को मार दिया है, घर-बार को छोड दिया है, कुटुम्ब और भाई-बन्धु त्याग दिए हैं।[6] नाथ-पथी के लिए कहा जाता है कि नौ लाख पतुरियाँ उसके आगे नाचती हो और सहज ज्ञान-वैराग्य का अखाडा उसके पीछे हो।[7] समत्व दृष्टि को जो मान्यता मिली है उसके आधार-रूप मे वैराग्य की प्रधानता है यद्यपि भोग और त्याग मे समत्व की चर्चा आई है। वस्तुत आसक्ति-हीनता का तात्पर्य ही समत्व से लिया गया है। नाथ-पथी के अनुसार यद्यपि अधाकर खाना भी मौत है, बिल्कुल नही खाना भी मौत है। सयम के द्वारा ही मुक्ति मिलती है।[8]

सत-सम्प्रदाय वैराग्य और गृह-त्याग को अनिवार्य नही मानता, उसके लिए समत्व-प्राप्ति से अधिक भावात्मक सबद्धता की अपेक्षा है। हृदय की शुद्धता ही काम्य है।[9] अहकार ही आचरण-शुद्धता का विरोधी है।[10] भावात्मक एकता की ही अपेक्षा है।[11] सत-साहित्य आत्मा की निर्मलता की अनिवार्यता स्वीकार करता है। यह निर्मलता पूर्णता के परिचय द्वारा सहज ही प्राप्त हो जाता है—

पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्ही आतमा, ताथैं सदा हजूरि ॥[12]

वैष्णवीय अहिंसा और संत-मत

अहिंसा केवल वैष्णवीय नैतिकता नही . भारतीय धर्म-साधना में इसकी प्रतिष्ठा रही है। गौतम बुद्ध की अहिंसा, अतिवादी जैनधर्म की अहिंसा और कर्म-काण्डी यज्ञ-विधान की हिंसा की मध्यवर्तिनी है। सत-मत अवस्था विशेष में बौद्धो की भाँति मास खाने की अनुमति नही देता। जैनो की जीव-दया का प्रभाव वैष्णव धर्म में दीख पडता है। वैष्णवो की

---

१ गो० बा०, पृ० ७७।
२ वही, पृ० ६९।
३ वही, पृ० १३८।
४ वही, पृ० १४४।
५ वही, पृ० ६१।
६ गो० बा०, पृ० १४०।
७ वही, पृ० २१७।
८ वही, पृ० ५१।
९ क० ग्र०, पृ० २१४।
१० पढें गुनें उपजे अहमारा अध वर डूबे वार न पारा। —क० ग्र०, पद १३२, पृ० १३०।
११ किआ जपु किया तपु सजमो किआ वरतु किआ असनानु।
जब लगु जुगति न जानीऐ भाव भगति भगवान। —स० क०, गउडी ६३।
१२ क० ग्र०, पृ० ४।३५।

अहिंसा अधिकांशतया बाह्य है। वैष्णव अहिंसक है किन्तु इसलिए नहीं कि सभी जीव अभिन्न हैं बल्कि जीव-हिंसा से वह भयभीत है। वध्यमान जीव पर अनुग्रह करता है कारण उस पर भी अनुग्रह किया गया है। हत्या उसे अच्छी नहीं लगती। आचार-प्रधानता के कारण भक्ष्याभक्ष्य का विचार उसे करना है। संत-कवि सभी जीवों में अभिन्नता देखता है। सबमें तो वही परम-तत्त्व है, सभी ब्रह्म-स्वरूप है।[1] संत-कवि अपने को उस जीव से भिन्न नहीं देखता भिन्नता जो दीख पड़ती है, वह आकस्मिक है, बाह्य है, तात्त्विक नहीं। मिट्टी के देवी-देवता बनाकर उनके आगे जीवों का बलिदान कुशलता-विधायक नहीं हो सकता। निर्जीव की पूजा के लिए सजीव का बलिदान धर्म नहीं भ्रम का पाखण्ड अवश्य है।[2] संत की धारणा के अनुसार सबके व्यापक कल्याण में ही अपना कल्याण है और इस कल्याण से भिन्न कोई व्यापक लोक-कल्याण नहीं। सदाचार का मूल है प्राणि-मात्र के प्रति दया और करुणा। संत की कल्याण-कामना का अधिक व्यापक आधार है। महाभारतीय[3] परोपकार की पूर्ण प्रतिष्ठा संत-काव्य में दीख पड़ती है किन्तु परोपकार का आचरण वह उच्चता की दृष्टि से नहीं करता। परोपकारी होने का गर्व भी नहीं पालना चाहता क्योंकि अन्य गर्वों की भाँति यह भी अनुन्नति और पतन का कारण और मूल है। किसी प्रकार की उच्चता का प्रदर्शन संत का काम्य नहीं।[4] तामस् और राजस् त्याग को वह उचित नहीं समझता, उसके त्याग का लक्ष्य है सात्त्विक त्याग। दया जीव करुणा एक ही तत्त्व की विभिन्न संज्ञाएँ हैं। परोपकार की अन्तिम सीमा तक वह पहुँचना चाहता है वह उस देश में मरने का इच्छुक है जहाँ उसके मांस का भी उपयोग पशु-पक्षी के भोजन में हो जाय।[5]

संत-समाज की धारणा

संत के जीवन का लक्ष्य है भय से मुक्ति। पाप-पुण्य का भय स्वर्ग-नरक की चिन्ता जीवन-मरण की आशंका और विधि-विधान की कुंठा त्याज्य है। भय के कारण ही चिंता आशंका और कुंठा है। भय अविचार और अज्ञान का फल है। सच्चे विचारक को पाप-पुण्य स्पर्श नहीं कर पाते जीवन-मरण का भय उसे संत्रस्त नहीं कर पाता और स्वर्ग-नरक की चिन्ता उसे नहीं सताती।[6] संसार के अधिकाधिक दुःखों के मूल में यही भय है। जिसका

१ ईभै बीठलु ऊभै बीठलु बीठल बिनु संसारु नहीं।
थान थनंतरि नामा प्रणवै पूरि रहिओ तूं सरब मही। —आ० ग्रं० नामदेव आसा २।
२ सरजीउ काटहि निरजीउ पूजहि अंतकाल कउ भारी। —ग्रं० क० रागु गउड़ी ४९।
३ श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्। —महाभारत।
४ आपा गर्व गुमान तजि मद मत्सर हंकार।
गहै गरीबी बंदगी सेवा सिरजनहार॥ —दादू० सं० बा० सं० (१) पृ० ९१।
५ हरि भज साफल जीवना पर उपकार समाइ।
दादू मरणा तहँ भला जहँ पशु-पंखी खाइ॥ —वही पृ० ७८।
६ ग्रं० क० रागु गउड़ी ।

वास्तविकता के साथ परिचय को गया, सत्य को प्रत्यच्च कर लिया, वह भय नही करता और न किसी को भयभीत करता है। न तो वह स्वय डरेगा और न किसी को डरावेगा।[1] हिंसा का भय भी एक प्रकार का भय ही है, भय के कारण अहिंसा मे प्रवृत्ति और हिंसा का त्याग भी अनैतिक होगा। सत-कवि भय के कारण हिंसा का त्याग नही करता वल्कि समस्त जीव के प्रति उसकी व्यापक समवेदना है। वैयक्तिक सग्रह के मूल में भी भय का निवास है। सग्रहकर्ता एक भय से छूटने के लिए अन्य अनेकानेक भयो को सृष्टि करता है। भय से त्राण तो नही मिल पाता, अन्य विविध भयो का भय अवश्य जग जाता है। गीतोक्त अनासक्त कर्म मे तात्त्विक दृष्टि से अनासक्ति की वासना रह जाती है, अन्यथा प्रेरणा का अभाव हो जायगा। सत-कवि आसक्ति को असग्रह, अपरिग्रह की ओर उन्मुख करता है, अनासक्त सग्रह से इस असग्रह को भिन्न समझा जाना चाहिए।

सत-कवि का विश्वास है कि मानवीय धर्मो का मूल है जीवन का प्रसार, विस्तार और उन्नति एव जीवन का ह्रास और नाश है अधर्म। अत जीवन के प्रति उसका उदार दृष्टिकोण है, जीव और जीवन के प्रति सम्मान का भाव है। इस सम्मान भाव के कारण वह काया-कष्ट को गर्हित समझता है। आत्म-तोष और आत्म-सम्मान के लिए निज उपार्जित द्रव्य से जीविका-निर्वाह को सत ने आवश्यक समझा था। दूसरो द्वारा उपार्जित वस्तु में स्वाद नही, आनन्द नही, बल्कि हीनता है, आत्मसम्मान की हानि है। वैराग्य को उसने भिक्षा माँगने का साधन नही बनाया था। अपने निर्वाह और अन्य साधु-सतो की अभ्यर्थना-योग्य वस्तुओ की अपेक्षा उसे थी कितु भिक्षाटन पर जीनेवाला परान्नभोजी वह नही बन सकता, उसे अपने पसीने की गाढ़ी कमाई पर विश्वास था। अह-भाव की तुष्टि के लिए यह वृत्ति अथवा आडम्बर नही था और न था श्रेष्ठता दिखलाने के लिए मिथ्या गर्व। परान्न भोजन के कारण आहत सम्मान से वह अपनी रच्चा चाहता था। कबीर को अपनी मधुकरी प्यारी है।[2] कितु यह मधुकरी सासारिक जीवो से प्राप्त भिक्षान्न नही बल्कि सीमाहीन राज्य के अधिकारी की मधुकरी है। अपने व्यवसाय के प्रति प्रेम और श्रम का महत्त्व, अत, पूर्ववर्ती सन्तो ने समझा था। सम्प्रदायो की सीमा में प्रवेश पाकर सन्त-मत वैराग्य-प्रधान सगठन की ओर पीछे चल-कर झुका। श्रम-सबध क्रमश छूटता गया कितु इस मत के नेताओ ने इस महत्त्व को अगीकृत किया था।[3] उनका व्यावसायिक कर्म वैसा नही था जो उच्चता-विधायक समझा जा सके, ऐसी अवस्था में उनकी श्रम-महत्व सम्बन्धी धारणा अविचल धैर्य और अटूट साहस का परि-चायक है। व्यवसाय में लगा रहकर व्यावसायिक दृष्टि न रखना सतो की निजी विशेषता है।

सत के लिए सृष्टि मायात्मक, विवर्त्त और आभास मात्र है किंतु यह मानव-जीवन व्यर्थ नही। आत्म-प्रतीति का सुलभ अवसर इसे इस जीवन में प्राप्त है। यह देश विराना

---

१ वही, गउडी १०।

२ कबीर भली मधुकरी नाना विध को नाज।
दावा काहू को नही वडा देस वड राज॥ —स० क०, पृ० २७२।

३ सत समरथ में राखि मन, करिय जगत को काम।
जग जीवन यह मत्र है, सदा सुक्ख विसराम॥ —स० वा० स०(१), पृ० ११८।

विनयपिटक[1] के अनुसार निष्कामता, प्रविवेक (एकान्त चिन्तन), अद्रोह, विषयो का अ-ग्रहण, तृष्णा का क्षय और मोह के नाश द्वारा अर्हत्व प्राप्त होता है। दीघनिकाय[2] में बुद्ध में लोक-हित, कुशल-अकुशल-विवेक, निर्वाण-गामिनी प्रतिपदा का ज्ञान, समान रूप से प्रिय और मदहीन, यथावादी तथाकारी और यथाकारी तथावादी क्षीणास्रव तथा तीर्णविचिकत्स (सशयहीन) गुणो का समावेश माना गया है। गीता में स्थितप्रज्ञ,[3] भक्तिमान् पुरुष[4] और त्रिगुणातीत पुरुष[5] के लक्षण विस्तार के साथ प्रस्तुत किए गए है उनमें समता है और उनके अनुसार सर्वारम्भ परित्याग, तुल्यनिंदात्मसस्तुति, उदासीनता, अनाकाक्षा, स्थिरता, अ-विकार सुख-दु ख मानापमान-तुल्यता आदि मुक्तात्मा के परिणाम है। नाथ-सम्प्रदाय में गोरखनाथ के अनुसार अचानक फट से बोलना नही चाहिए, जोर-जोर से पाँव पटककर चलना भी नही चाहिए, गर्व नही करना चाहिए, सहज स्वाभाविक स्थिति में रहना चाहिए। अधकचरे या अधमरे की भाँति छलकना भी उचित नही, ज्ञान छाँटना भी नही चाहिए, चित्त की अस्थिरता, काम-क्रोध-अहकार का निवारण तथा अधिक खाना भी नही चाहिए और अत्यन्त उपवास भी नही करना चाहिए।[6] इस भूमिका में सत-लक्षण पर विचार करना, सत-कवियो की नैतिक भावना पर प्रकाश डालने में क्षम होगा। स्तुति और निंदा इन दोनो से रहित होना, लोहा और सोना में तुल्यबुद्धि, काम, क्रोध, मोह और अहकार का त्यागी, तृष्णा और माया से मुक्त होना वास्तविक सत का लक्षण है।[7] चाह मिटना, स्थिरता की प्राप्ति, सासारिक रकता में श्री, शान्त और शीतल वाणी, पावनत्व, कलुप का त्याग, सुबुद्धि और विवेक साधु के लक्षण हैं। ऐसे साधुओ के दर्शन सौभाग्य का फल है और इनकी सगति पुण्य का हेतु। इनकी सगति से 'मन' हरि रूप हो जाता है।[8] दया, दान, दीनता, दीनबधुता, शीतलता, समदृष्टि, काम, क्रोध, मद-लोभ से राहित्य, षड्विकारो से हीनता, ब्रह्म-भाव-रस में लीनता, निर्भीकता, निर्वैर, सशयहीनता में साधुत्व है जिनकी आधे क्षण की सगति कल्मष धोनेवाली है।[9] परोपकार ही सन्त का जीवन है, दूसरो के लिए ही वह शरीर धारण करता है, वृक्ष, नदी और सत तीनो की एक ही अवस्था है।[10] ससार में वह कमल-पत्र की नाई रहता है और अन्तर में ज्ञान की सुगन्ध रहती है।[11] साधु होना अत्यत कठिन है, वेश आवश्यक नही, वस्तुत अन्तर का भाव ही सत-असत का निर्णायक है। सत का मिलन लोहे को स्वर्ण बना देता है।[12] जग की आशा-निराशा से परे, काम-क्रोध से हीन, निंदा-स्तुति में तुल्य-भाव, दुष्ट-मित्र में समान भाव, न जीने की प्रसन्नता और न मरने का दु ख, भूख-प्यास की चिन्ता से मुक्त मनुष्य ही सत है।[13]

---

१ महावग्ग ५, १।३, पृ० २०२-२०३।
२ महागोविंदसुत्त २।६, पृ० १६७-१६८।
३ गीता, २।५५-७२।
४ वही, १२।१३-१७।
५ वही, १४।२२-२५।
६ गोरखबानी, पृ० ११-१२।
७ स० क०, राग केदारा १।
८ स० बा० स० (१), पृ० १५८।
९ वही, पृ० १७८।
१० वही, पृ० १९८।
११ वही, पृ० १९८।
१२ वही, पृ० २०१।
१३ वही, पृ० २१७-२१८।

है किंतु इस जीवन का महत्त्व कम नहीं। मनुष्य-जन्म दुर्लभ है बार-बार नहीं मिलता।[१] इस बार जो प्राप्त हो गया है सो हो गया है इसकी स्वीकृति अपेक्षित है। इसके आगे बैकुंठ भी तुच्छ है।[२] स्वर्ग-अपवर्ग की कामना भी व्यर्थ है। मानव-जीवन अनमोल है इसे खोना उचित नहीं।[३] सगुणोपासक का महत्त्व स्वामि-भक्ति में है और सन्त का आत्म-प्रतीति में। सगुणोपासक अपने आपको विनय और प्रार्थना को प्रभु के चरणों में अर्पित कर देता है और संत अपने में परमतत्त्व की प्रभा देखता है। सगुणोपासक में दास-भाव है और निर्गुणोपासक में सहज आत्म-विश्वास। संत बार-बार पुकार कर कहता है कि मानव तुम महत्त्वहीन नहीं नगण्य भी नहीं व्यर्थ भी नहीं।

सन्त का स्वरूप

प्रत्येक सम्प्रदाय प्रत्येक धर्म अपनी मान्यता के अनुसार गुणों का आदर्शीकृत रूप अपने देव-विषयक कल्पनाओं में उपस्थित करता है। मानवीय गुणों के आदर्शीकृत रूप का आरोप पारलौकिक सत्ता में हो जाता है जिसका आभास इस लोक के मनुष्य में प्राप्त होगा। वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना में इसका समावेश अवश्य हो जाता है। वैदिक ऋषियों के बहुदेववाद और इसके अन्तर्भूत देववाद में इसके प्रत्यक्ष दर्शन मिलते हैं। इन्द्र की रूप-योजना में इस आदर्श के दर्शन होते हैं। बौद्ध-धर्म की धारणा के अनुसार अर्हत् इस कल्पना का मूर्त स्वरूप है। औपनिषदिक ब्रह्म-भावना की व्याप्ति ऐसे स्वरूप के विधान के प्रतिकूल है किन्तु आत्मज्ञानाधिकरण में उस आदर्श की परिणति दीख पड़ती है। कठोपनिषद् के अनुसार जो पाप-कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है वह आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता।[४] इसके भाष्य में शंकराचार्य का कथन है जो दुश्चरित प्रतिषिद्ध कर्म अर्थात् श्रुति-स्मृति से अविहित पाप-कर्म से अविरत-अनुपरत है वह नहीं जो इन्द्रियों की चंचलता के कारण अशान्त अर्थात् उपरतिशून्य है वह भी नहीं जो असमाहित अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र नहीं है—जो विक्षिप्तचित्त है वह भी नहीं तथा समाहित चित्त होने पर भी उस एकाग्रता के फल का इच्छुक होने के कारण जो अशान्त चित्त है—जिसका चित्त निरंतर व्यापार करता रहता है वह पुरुष भी इस प्रस्तुत आत्मा को केवल आत्मज्ञान द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता। अर्थात् जो पाप-कर्म और इंद्रियों की चंचलता से हटा हुआ तथा समाहित चित्त और उस समाधान के फल से भी उपशान्तमना है वह आचारवान् साधक ही ब्रह्मज्ञान द्वारा उपयुक्त आत्मा को प्राप्त कर सकता है।[५]

---

१ मनुष जनम दुर्लभ अहै होय न बारंबार। —सं बा सं (१) पृ ११८।

२ राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु संग में सो बैकुंठ न होय। —सं बा सं (१) पृ १८।

३ सुंदर मनुषा देह की महिमा कहिये काहि।
चारो वेद देवता तू क्यों खोवै ताहि॥ —सं बा सं (१) पृ ११।
कस्तूरी तन में बसै जाने नाहिं गँवार।
फाम मुगध मो ताहि [illegible] बिना पुरुष नित नाहि॥ —वही पृ १२१।

४ कठ २।२४।

५ इसी पर शांकर भाष्य।

विनयपिटक[1] के अनुसार निष्कामता, प्रविवेक (एकान्त चिन्तन), अद्रोह, विपयो का अ-ग्रहण, तृष्णा का क्षय और मोह के नाश द्वारा अर्हत्व प्राप्त होता है। दीघनिकाय[2] में बुद्ध में लोक-हित, कुशल-अकुशल-विवेक, निर्वाण-गामिनी प्रतिपदा का ज्ञान, समान रूप से प्रिय और मदहीन, यथावादी तथाकारी और यथाकारी तथावादी क्षीणास्रव तथा तीर्णविचिकत्स (सशयहीन) गुणो का समावेश माना गया है। गीता मे स्थितप्रज्ञ,[3] भक्तिमान् पुरुष[4] और त्रिगुणातीत पुरुष[5] के लक्षण विस्तार के साथ प्रस्तुत किए गए है उनमें समता है और उनके अनुसार सर्वारम्भ परित्याग, तुल्यनिंदात्मसस्तुति, उदासीनता, अनाकाक्षा, स्थिरता, अ-विकार सुख-दु ख मानापमान-तुल्यता आदि मुक्तात्मा के परिणाम है। नाथ-सम्प्रदाय में गोरखनाथ के अनुसार अचानक फट से बोलना नही चाहिए, जोर-जोर से पाँव पटककर चलना भी नही चाहिए, गर्व नही करना चाहिए, सहज स्वाभाविक स्थिति मे रहना चाहिए। अधकचरे या अधमरे की भाँति छलकना भी उचित नही, ज्ञान छाँटना भी नही चाहिए, चित्त की अस्थिरता, काम-क्रोध-अहकार का निवारण तथा अधिक खाना भी नही चाहिए और अत्यन्त उपवास भी नही करना चाहिए।[6] इस भूमिका में सत-लक्षण पर विचार करना, सत-कवियो की नैतिक भावना पर प्रकाश डालने में क्षम होगा। स्तुति और निंदा इन दोनो से रहित होना, लोहा और सोना में तुल्यबुद्धि, काम, क्रोध, मोह और अहकार का त्यागी, तृष्णा और माया से मुक्त होना वास्तविक सत का लक्षण है।[7] चाह मिटना, स्थिरता की प्राप्ति, सासारिक रकता में श्री, शान्त और शीतल वाणी, पावनत्व, कलुप का त्याग, सुबुद्धि और विवेक साधु के लक्षण हैं। ऐसे साधुओ के दर्शन सौभाग्य का फल हैं और इनकी सगति पुण्य का हेतु। इनकी सगति से 'मन' हरि रूप हो जाता है।[8] दया, दान, दीनता, दीनबधुता, शीतलता, समदृष्टि, काम, क्रोध, मद-लोभ से राहित्य, पड्विकारो से हीनता, ब्रह्म-भाव-रस में लीनता, निर्भीकता, निर्वैर, सशयहीनता में साधुत्व है जिनकी आधे क्षण की सगति कल्मप धोनेवाली है।[9] परोपकार ही सन्त का जीवन है, दूसरो के लिए ही वह शरीर धारण करता है, वृक्ष, नदी और सत तीनो की एक ही अवस्था है।[10] ससार में वह कमल-पत्र की नाई रहता है और अन्तर मे ज्ञान की सुगन्ध रहती है।[11] साधु होना अत्यत कठिन है, वेश आवश्यक नही, वस्तुत अन्तर का भाव ही सत-असत का निर्णायक है। सत का मिलन लोहे को स्वर्ण बना देता है।[12] जग की आशा-निराशा से परे, काम-क्रोध से हीन, निंदा-स्तुति में तुल्य-भाव, दुष्ट-मित्र मे समान भाव, न जीने की प्रसन्नता और न मरने का दु ख, भूख-प्यास की चिन्ता से मुक्त मनुष्य ही सत है।[13]

---

१ महावग्ग ५, ११३, पृ० २०२-२०३।
२ महागोविंदसुत्त २१६, पृ० १६७-१६८।
३ गीता, २।५५-७२।
४ वही, १२।१३-१७।
५ वही, १४।२२-२५।
६ गोरखबानी, पृ० ११-१२।
७ स० क०, राग केदारा १।
८ स० बा० स० (१), पृ० १५८।
९ वही, पृ० १७८।
१० वही, पृ० १९८।
११ वही, पृ० १९८।
१२ वही, पृ० २०१।
१३ वही, पृ० २१७-२१८।

महात्मा गोस्वामी तुलसीदास ने संत-असंत के लक्षण और स्वरूप पर विस्तृत रूप में विचार किया है। सत सुखदाता और दु:खदाता दोनों में समबुद्धि रखते हैं और समान रूप से सब का हित करते हैं।[1] इनका चित्त सरल होता है और लोक-मंगल की व्यापक भावना उनमें रहती है।[2] वे निःस्वार्थ भाव से सबका हित-साधन करते हैं।[3] श्रद्धा क्षमा मैत्री दया शीतलता सरलता उनके आवश्यक लक्षण हैं।[4] निन्दा-स्तुति को समान समझते हैं, परदुःख कातरता उनका स्वाभाविक गुण है, उनका हृदय नवनीत की भाँति कोमल होता है दूसरों के दुःख-ताप से अनायास द्रवित हो जाता है।[5] सन्त-समागम से राग-द्वेष का नाश होता है भव से मुक्ति मिलती है। सदा सन्तोष समता और शान्ति की प्राप्ति होती है। जितेन्द्रियता विशुद्धि त्रिकालाबाधित्व हर्ष-शोक-समत्व की अवस्था संतों की होती है।[6]

सत कवि इन गुणों को स्वाभाविक और सहज मानता है। अन्य विचारधाराएँ जहाँ इन गुणों की प्राप्ति और अभ्यास के लिए चेष्टा की आवश्यकता समझती हैं वहाँ सत कवि इनमें आत्मा की नित्य-स्वरूपता देखते हैं फलस्वरूप आत्मज्ञान वास्तविक सत्ता का साक्षात्कार कराकर इस स्वरूप को प्रकाश्य और प्रकाशित बना देता है। निर्गुण-भावना की दार्शनिक विचारधारा का अनुकरण करता हुआ भी गुणादर्शों का अभाव सत कवि नहीं देखता। भारतीय चिन्ता-धारा की यह सामंजस्यपूर्ण प्रवृत्ति प्रत्येक विचारक में दीख पड़ती है। नैतिकता में मानवीय गुणों का पूर्ण उत्कर्ष ही परिलक्षित होगा। इस प्रकार सन्त-साहित्य की नैतिकता प्राणवान्, सशक्त मानवता की स्थापना के लिए सचेष्ट और सतत प्रयत्नवान् है। दार्शनिक क्षेत्र में अव्यक्त अन्तर्भूत सत्ता का आलोक जहाँ वह देखता है, नैतिकता के क्षेत्र में वहाँ वह पूर्णतावादी दृष्टिकोण रखता है।

निष्कर्ष

(१) साध्य के प्रति सचाई और साधन-साध्य की नैतिकता के पारस्परिक आधार की भावना संत-साहित्य की चैतन्य भावप्रधान धारा है।

(२) मानवीय आनन्द की प्राप्ति के लिए नैतिक जीवन के साथ सहज स्वाभाविक स्वरूप के तादात्म्य की परिकल्पना इस साहित्य में प्राप्त है।

(३) नैतिक बाह्य एवं अन्धानुकरण का फल नहीं बल्कि आत्मगत चैतन्य-स्वरूपता है।

(४) सबमूल एकात्मता में विश्वास और जीवन के प्रति उदार और व्यापक दृष्टिकोण की मान्यताएँ ही मान्य हैं।

(५) व्यक्ति की पूर्णता में ही सामाजिक पूर्णता है सामाजिक मानों के आधार पर व्यक्ति का समानीकरण (Standardisation) नहीं एवं आध्यात्मिक पूर्णता से भिन्न कोई अन्य आचारात्मक पूर्णता नहीं। इसी स्वरूप में नैतिकता रचनात्मक तथा सारवान् और महत्त्वपूर्ण है।

---

१ मानस बा १। २. मानस बा १। ३ मानस अरण्य ४६।
४ मानस अरण्य ४६ उत्तर १८। ५ मानस उत्तर १२९।
६ विनय-पत्रिका ११६।११ (श्रीहरितोषिणी टीका पृ २७२)।

(६) जीव-जगत्-संवधी धारणाएँ नैतिक मूल्यो का निर्धारण करती है, सम्वन्ध-मीमासा का यही आधार है और इसी आधार पर विचारो और प्रवृत्तियो का रूप-गठन होता है। अन्तरात्मा की सहज प्रेरणा ही सम्वन्ध-निर्धारण करती है।

(७) नैतिकता आन्तरिक चेतना का वाह्य प्रकाश है, चैतन्यहीन नैतिकता अनैतिक है, अत आचार को भी अनुभवात्मकता की कसौटी पर खरा उतरना पडेगा। यही 'स्वसवेद' है।

(८) सदाचार की रूढ धारणाओ में स्वतन्त्र सदाचार की प्रेरणा सत-साहित्य का विषय है। नैतिकता का आधार है सार्वभौम चेतना के साथ वैयक्तिक जीवन का सामजस्य और सामरस्य।

(९) नैतिक जीवन ही नैतिकता को कसौटी है और आत्म-चेतना ही नीत्यानुशासिका। ऐसी अवस्था मे श्रेय-प्रेय का अन्तर मिट जाता है और दोनो मे अभिन्नता स्थापित हो जाती है।

(१०) मनुष्य स्वय अपना विधायक है, वह नगण्य नही, दीन-हीन भी नही। मानव-जीवन व्यर्थ नही। सन्त-साहित्य अत आर्त्तभाव की दीनता नही, वल्कि आत्म-विश्वास की क्षमता है।

सांस्कृतिक चेतना

जो दरसन देख्या चहिए, तौ दरपन मॉजत रहिये।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ॥

—कबीर ग्रंथावली

सांस्कृतिक चेतना

स्वरूप

'सस्कृति' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और अग्रेजी के 'कल्चर' का समानार्थसूचक। इसके सम्बन्ध की मान्यताओ में पर्याप्त मत-भेद और विरोध है।[1] इसकी सीमाएँ एक ओर धर्म का स्पर्श करती है तो दूसरी ओर साहित्य को अपने बाहुपाश में आबद्ध करती हैं। सस्कृति भौतिक साधनो के सचयन के साथ ही आध्यात्मिकता की गरिमा से मण्डित होती है। वेश-भूषा, परम्परा, पूजा-विधान और सामाजिक रीति-नीति की विवेचना भी सस्कृति के अन्तर्गत होती है। देश, धर्म और जाति की विभिन्नता के आधार पर भारतीय, पाश्चात्य, अग्रेजी, फ्रासीसी, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई तथा आर्य, चीनी, सामी सस्कृतियो की भी चर्चा होती है। इस देश में बगाली, गुजराती, मराठी, पजाबी सस्कृतियो की विभिन्नताओ का प्रचार किया जाता है। आध्यात्मिक और भौतिक सस्कृतियों की चर्चा करते हुए भारतीय सस्कृति को आध्यात्मिक और पाश्चात्य संस्कृति को भौतिक मानने की तो प्रथा-सी चल पडी है। सस्कृति का सम्बन्ध साहित्य, कला और दर्शन से अवश्य है किन्तु ये ही सस्कृति नही, बल्कि सकेतक हैं। साम्राज्य-सगठन के साथ भी इसका सम्बन्ध देखा जाता रहा है।

वातावरण, वैयक्तिक परिस्थितियाँ, भौतिक साधन व्यक्ति और समाज की सास्कृतिक चेतना को स्वरूप देते रहे हैं। प्रकृति की सीमाओ पर मनुष्य ने जो विजय चाही उसका भौतिक स्वरूप सभ्यता और आत्मिक, आध्यात्मिक अथवा मानसिक स्वरूप सस्कृति है। सभ्यता बाह्य प्रकृति पर हमारी विजय का गर्व-ध्वज है और सस्कृति अन्त प्रकृति पर विजय-प्राप्ति की सिद्धि। सामाजिक सस्थान, आर्थिक प्रेरणा-प्रक्रिया और भौगोलिक स्थिति की

---

१ सस्कृति-सम्बन्धी विभिन्न मतो के लिए द्रष्टव्य कटेम्परेरी सोशिओलॉजिकल थिअरीज (न्यूयार्क, १९२८), अध्याय १३।

भूमिका में मानसिक घात-प्रतिघात क्रिया-प्रक्रिया और ज्ञानात्मक विकास होते हैं। सांस्कृतिक चेतना कई भूमिकाओं की समष्टिगत परिणाम और जीवन की ईकाईभूत प्रेरणा है। संस्कृति वह संगम है जो जीवन की संगति और सामञ्जस्यपूर्ण सतत प्रवहमान चिर-चैतन्यधारा की ईकाई है। सामाजिक भूमिका में मानवाश्रित समता का ऐक्य ज्ञान आस्था तथा नैतिकता कानून रीति-नीति को स्वरूप देती है। जीवन की भौतिक प्रणाली आध्यात्मिक प्रेरणा को स्वरूप देती है और आध्यात्मिक-सांस्कृतिक चेतना भौतिकता का अनुशासन है। नाना प्रकार की धर्म-साधनाओं कलात्मक प्रयत्नों और सेवा-भक्ति अथवा योगमूलक अनुभूतियों में जीवन का सत्य ही व्यापक और परिपूर्ण रूप प्राप्त करता रहा है। जन्मजात संस्कार, भौतिक प्रणाली सांस्कारिक चेतना की भूमिका मे जीवन अनुप्राणित नियन्त्रित और अनुशासित होता रहा है।

भारत का सांस्कृतिक विकास

संस्कृति के क्षेत्र में देश धर्म और जातिगत आधार का विचार उपयुक्त नहीं। मूलतया मानव-मात्र की सांस्कृतिक चेतना एक ईकाई है, जो कुछ विभिन्नता दीख पड़ती है वह अभिव्यक्ति के साधनों की सीमा और परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण। परम्परा के विकास सामाजिक परिवेष्टन के नवीन स्वरूप और अन्य संस्कृतियों के आदानावलम्बन के कारण सांस्कृतिक चेतना म अन्तर आता है। एक ही समाज में विभिन्न स्तर होते हैं और सांस्कृतिक चेतना इन विभिन्न स्तरों में पृथक्-पृथक स्वरूप लेगी। समाज का वर्गीय विभाजन सांस्कृतिक स्वरूप की सीमा और अनुशासन है।

ऐसे तो सप्त-सिन्धव को आर्यों का आदि-देश माननेवाले विचारकों का अभाव नहीं। उनके अनुसार आर्य लोग न तो ध्रुव-प्रदेश में रहते थे न मध्य एशिया में न पश्चिमोत्तर यूरोप में। उनका घर सप्त-सिन्धव में ही था। यहीं से उनकी संस्कृति दूर देशों तक गई।[1] अधिकांश विद्वानों के मतानुसार आर्य कहीं बाहर से अवश्य आये। भारतीय संस्कृति-संगम में तीन स्पष्ट धाराएँ दीख पड़ती हैं—आर्य-समूह की संस्कृति आर्येतर मूल सैन्धव संस्कृति एवं आर्य-आर्येतर संस्कृति-संगम। काल-क्रम में इनकी सीमाएँ परस्पर घुलती-मिलती रहीं।

आर्यों के कई गिरोह भारतवर्ष में आए। वेद की विभिन्न शाखाएँ इसका संकेत उपस्थित करती हैं। बहुत सम्भव है, इन विभिन्न गिरोहों के विभिन्न देवता थे। पूर्वागत *आर्यों में विधि-विधान और रूढ़ि-मोह से मुक्ति साधनात्मक आस्था एवं वैयक्तिकता अधिक* जो दीख पड़ती है उनके मूल में आर्येतर संस्कृति-संगम का प्रभाव और आर्य-धारणा की दृढ निष्ठा का अभाव है। परवर्ती आर्यों में कर्म-काण्ड की वैधानिकता रूढ़ि-बद्ध धारणाओं की दृढ़ता और सामूहिक जीवन की चेतना ही अधिक दीख पड़ती है। पूर्वागत और परवर्ती आर्यों में सांस्कृतिक विभिन्नता थी। परवर्ती आर्यों म भी सांस्कृतिक चेतना का रूपान्तर होने लगा और ऋग्वेदीय चेतना अथर्ववेदीय स्वरूप ग्रहण करने लगी। आर्येतर जातियाँ आर्य-तप में

---

१ सम्पूर्णानन्द आर्यों का आदिदेश (प्र सं) पृ २१४।

सम्मिलित की जाकर शूद्रत्व प्राप्त कर सकी। आर्य-संघ में सम्मिलित वर्ग आर्यों की रीति-नीति, धर्म-व्यवस्था और आचार को स्वीकार कर लेता है अथवा कर लेने को विवश होता है। आर्येतर संस्कृति आर्य-प्रभाव से अधिकाधिक मुक्त रह कर आदिम जातियों में विकसित होती है।

परवर्ती आर्य-संस्कारों को केवल आर्येतर धारणाओं के साथ ही संघर्ष नहीं करना पड़ा, बल्कि पूर्ववर्ती आर्य-संस्कारों का विरोध भी सहन करना पड़ा था। आर्येतर जातियाँ शीघ्र वश में नहीं हुई और आर्य-संस्कृति आर्येतर संस्कृति को न तो पूर्णतया आत्मसात् ही कर पाई और न उसे नष्ट करने में ही समर्थ हो सकी। वर्ण-व्यवस्था की पुरुष सूक्तवाली धारणा के साथ शान्तिपर्व की धारणा का मेल नहीं खाता। ब्राह्मणों का वर्ण श्वेत, क्षत्रियों का लोहित, वैश्यों का पीत और शूद्रों का असित अथवा काला माना गया है। दीघनिकाय के अनुसार ब्राह्मण शुक्ल वर्ण होते थे और अन्य कृष्ण वर्ण।[1] बौद्धकाल में नाना जाति, नाना गोत्र एवं नाना कुल के व्यक्ति थे।[2] उन्हीं प्राणियों में क्षुद्र आचारवाले जीव थे। 'क्षुद्र आचार' 'क्षुद्र आचार' करके शूद्र अक्षर उत्पन्न हुआ।[3] महाभारत के अनुसार ब्रह्मा ने पहले ब्राह्मणमय जगत् की ही सृष्टि की थी, बाद में सभी कर्मानुसार नाना वर्ण को प्राप्त हुए। हिंसा-प्रिय, अनृत-प्रिय, लोभी और सर्वकर्मोपजीवी, शौच-परिभ्रष्ट कृष्ण-वर्ण ब्राह्मण शूद्र हो गये। कर्मों से ही पृथक्-पृथक् ब्राह्मण लोग ही वर्णान्तर को प्राप्त हुए।[4] वर्ण-व्यवस्था प्रारम्भ में सांस्कृतिक स्तरों के स्पष्ट विभाजन की सूचना देती है।

बौद्धकालीन चेतना में वैदिक आचार-प्रधान वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध सशक्त स्वर सुनाई पड़ता है। दीघनिकाय के अनुसार आचार की कसौटी पर कसे जाने पर सभी खरे नहीं उतर सकते थे। ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते और ब्रह्मा के सम्बन्ध में मिथ्या-भाषण करते थे। क्षत्रियों में कितने जीवहिंसक, मिथ्यालापी और मिथ्याचारी थे।[5] वस्तुतः सांस्कृतिक चेतना के स्तरों में उच्चवर्गीय चेतना और निम्नस्तरीय धारणा का पार्थक्य सदा रहा। भारतीय संस्कृति को ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय संस्कृति कहना उचित नहीं। उच्च वर्गों में नृत्य, गीत, नाटक-लीला, वाद्य, अश्लील भाव-प्रदर्शन एवं जीव-जन्तुओं को लड़ाना-भिड़ाना, कुश्ती, जूआ आदि मनोरंजन के साधन थे। सौंदर्य-प्रसाधन के रूप में अंजन, माला, मुख-चूर्ण का उपयोग होता था[6] और चारित्रिक स्खलन के उदाहरणों का अभाव नहीं था।

साधारण जनता में अन्धविश्वास, भविष्यद्वाणी में विश्वास, अपने कुशल की चिन्ता और भय सदा बना रहता था। पाखंडी ब्राह्मणों और श्रमणों की बन आती थी। लोग धर्म-भीरु होने के कारण वंचकों के चंगुल में फँसते थे। वृष्टि-अतिवृष्टि, मँहगी-सस्ती, रोग-आरोग्य की चिन्ता सभी को सदा सताती रहती थी।[7] चमत्कार दिखाकर उन्हें फाँसने और फँसाने का प्रयास होता था। मन्त्र-बल से जीभ बाँधना, कुमारी अथवा देववाहिनी के शरीर पर देवता

---

१ दी० नि०, ३।४, पृ० २४०।
२ वही, पृ० २४१।
३ वही, पृ० २४५।
४ शा० प०, १८८।१३।
५ दी० नि०, पृ० २४१।
६ वही, १।१, पृ० ३-४ और १।२, पृ० २५।
७ दी० नि०, १।१, पृ० ५।

बुलवा कर साधारण लोगों को चमत्कृत किया जाता था।[1] भूत-प्रेत की कथाएँ प्रचलित
असुरों भूतों प्रेतों यक्षों और गन्धर्वों में लोगों का बड़ा विश्वास था।[2] निर्धनों की स
कम नहीं थी। कुछ लोगों की रोजी नहीं चलती थी और इतनी पर्याप्त आय नहीं होती
कि पुत्र द्वारा माता-पिता आदि परिवार के व्यक्तियों का भरण-पोषण सम्भव हो सं
उचित सम्पत्ति-विभाजन के अभाव में अनायास कष्ट और दरिद्रता बढ़ती जाती थी।[3] ऐ
अवस्था में लोग चोरी करते थे। वे तेज हथियारों द्वारा प्राणघात करते राहियों को लू
थे। दरिद्रता के कारण जन-साधारण आयु-हीन असत्यभाषी और दुराचारी हो रहा थ
ऐसे लोगों के लिए कोड़े (कुद्दूप) ही सामान्य थी।

नागर-सभ्यता की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चली थी। मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता का स
विकास दीख पड़ता है। चम्पा राजगृह, श्रावस्ती साकेत कौशाम्बी वाराणसी कुशन
आदि महानगरों की प्रसिद्धि हो चुकी थी।[4] विराग-प्रेमी वीणा पर अपने व्यथा भरे गी
गाते चलते थे और कभी-कभी उनकी प्रेमिकाएँ आकृष्ट होकर सदय हो जाती थीं। अव
होकर मिलन के अवसर ढूँढने का भी प्रयास किया जाता था। पंचशिख गन्धर्वराज तिम्बर
कन्या सूर्यवर्चसा पर अनुरक्त था किन्तु वह अन्य के प्रति अनुरक्त थी। वीणा पर अर्हद् सम्बन्
पद गाने के कारण पंचशिख को एक बार समागम का अवसर प्राप्त हुआ था।[5]

जातक कथाओं के अनुसार भिक्षाचार द्वारा जीवन व्यतीत करनेवालों की अच्छी संख्
थी। उनके भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे। एक सम्प्रदाय छोड़ कर दूसरा सम्प्रदाय ग्रहण किय
जा सकता था।[6] भिक्षाचारी योगाभ्यास भी करते थे। अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता सि
करने के लिए प्रत्येक सम्प्रदाय का उपदेशक विभिन्न साधनों का अवलम्बन लेता था। सेठों
और प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करने की चेष्टा होती थी। भिक्षु
और संन्यासी निर्दिष्ट नियमों का पालन नहीं कर रहे थे।[7] उन्होंने धन-संग्रह प्रारम्भ कर
दिया था। अधिक सामग्रियों के एकत्र होने के कारण वे ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे
थे। उनके दासों की संख्या बढ़ चली थी और वे भृत्यों का पकाया अन्न भोजन करने लगे
थे।[8] भिक्षु-नियमों के पालन में असमर्थ और ऐसा जीवन-ग्रहण करने के कारण पश्चात्ताप
करनेवाले व्यक्ति गृहस्थ बन जाते थे।[9]

---

१ वही पृ ३।
२. वही ३।४ पृ २४५।
३ दी नि ३।३ पृ २१५ २१६।
४ दी नि २।८ पृ १५१ और १६६।
५. वही २।८ पृ १८२ १८३।
६ जातक (प्र सं०) [illegible] जातक पृ १२३ १२४।
७ वही निदान कथा पृ ११७ [illegible] पृ ११७।
८ जातक (प्र सं) देवधम्म पृ १६१।
९ वही [illegible] १।१।४ पृ १५४।

जातक कथाओ में सास्कृतिक चेतना के विभिन्न स्तरो को झाँकी मिलती है। आभिजात्य वर्गों की ऐश्वर्यमयी विलासिता, कला-प्रियता के साथ साधारण जनता की निरीहता, विवशता और मर्मभरी व्यथा के स्पष्ट दर्शन होते हैं। दुर्बलो का घात होता था, अनौचित्य का आधिक्य था। चोर दण्ड से बच जाता था और अ-चोर फँस जाता था। राज्याधिकरण पक्षपाती था।[1] राजकुल में उत्पन्न व्यक्ति दण्ड से बच जाते थे। शासक वर्ग प्रमादी था।[2] जिन घाटो पर निम्नवर्गीय जन स्नानादि करते थे उन घाटो पर उच्चवर्गीय अहकारपूर्ण व्यक्ति स्नानादि कर्म करना अपमानजनक समझते थे।[3] जातको में समाज की उस अवस्था के स्पष्ट सकेत मिलते हैं, जो मध्यकाल में दीख पडती है यद्यपि उसमें रूपान्तर कम नही हुआ था। आभिजात्य वर्ग का अबाध सुखोपभोग, सुख के साधनो पर उनका एकाधिपत्य एव विलासपूर्ण कला को मान्यता दीख पडती है। निम्न वर्ग की कुण्ठित चेतना उनके जीवन और धारणा को स्वरूप देती थी। ग्रामाधिकारियो का अत्याचार, चोरो का भय, करो की भयानकता, अभावग्रस्त कारुणिक जन-जीवन के स्पष्ट चित्र इन कथाओ में प्राप्त हैं। ग्रामीण जनता हतचेत, मूर्ख और अटट गँवार थी। उनकी सास्कृतिक चेतना सजग नही थी। उनकी सरलतापूर्ण मूर्खता की अनेकानेक कथाएँ जातको में मिलती है। अन्धविश्वास का साम्राज्य था। ज्योतिषियो और नक्षत्र-योग बतलानेवालो का अधिक सम्मान था।[4] देवी-देवता के लिए भेड, बकरी, मुर्गे आदि की बलि दी जाती थी। वृक्षो की पूजा होती थी। वनो में वन-प्रतिग्राहक देवताओ की प्रतिमा बना कर बलि-पूजा की जाती थी।[5] जन्तर-मन्तर में विश्वास अधिक था। झाड-फूँक करनेवाले ओझा-गुनी अधिक थे।

दासी रखने की प्रथा प्रचलित थी। राजन्य वर्ग और सेठ-साहूकारो के यहाँ नृत्य-बालाएँ रहती थी। इन नृत्य-बालाओ से ऐसे व्यक्तियो का स्नेह और ससर्ग रहता था।[6] सन्यास-प्रधान बौद्ध-धर्म स्त्रियो के प्रति अनुदार था, अत उन्हें कौओ के समान लोभी और कामाचार की इच्छा होने पर हीन-जाति, हीन-पेशा आदि का विचार न कर जिस-तिस का सेवन करनेवाली कहा गया है।[7]

साधु-सन्यासियो की दशा गृहस्थो से भिन्न नही थी। लोभी, बेशर्म, भिक्षुक अधिक थे। कार्षापण, अर्धपाद, मावक आदि सिक्को के लिए बाजार, चौरास्ते तथा राजद्वार पर उपदेश देते फिरते थे।[8] गप मारनेवाले, आत्म-प्रशसा करनेवाले, ठग-विद्या में पारगत साधु

---

१ वही, पृ० २२८-२९।

२ वही, १।३।२२, पृ० २३०-३१।

३ तित्यजातक १।३।२५, पृ० २४०।

४ जातक (प्र० ख०), नक्खत, पृ० ३३५।

५ वही, पचा० पृ० ३५७।

६ वही, कुलावक, पृ० २६८।

७ वही, असातमन्त, पृ० ३७४-७५।

८ वही, महासु०, पृ० ४४२-४३।

चारों ओर घूमते-फिरते रहते थे।[1] आजीवक निवस्त्र एवं धूलि-मण्डित रह कर एकान्त वनों का सेवन करते थे। महाविकट भोजन करते बछड़े आदि का गोबर खाते तथा ओढ़ने-बिछाने के लिए वस्त्र नहीं लेते और न आग ही तापते थे।[2] वे बहु-भक्षण योग का विचार करते और गृहस्थ इनसे पूछताछ कर यदि पर्याप्त दक्षिणा नहीं देते तो क्रोध के कारण अहित करने में तत्पर हो जाते थे।[3] भिक्षुओं अथवा शिष्यों से झगड़ा कर भिक्षु-संन्यासी आश्रम छोड़ भाग गये होते इधर-उधर घूमते-फिरते मजदूरी अथवा नौकरी से जीविका-निर्वाह करते एवं दरिद्र स्त्रियों से सहवास कर सन्तान उत्पन्न करते। ऐसे आश्रम-च्युत व्यक्तियों का आगमन निषिद्ध होता था एवं पता लगने पर गाँववाले उन्हें अपने यहाँ से मार भगाते। ऐसे व्यक्तियों को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते थे।[4] मध्यकालीन समाज से यह समाज अधिक भिन्न नहीं था।

सांस्कृतिक चेतना का नवीन संस्कार

गुप्तकाल में आकर संस्कृति के भारतीय स्वरूप ने एक निश्चित दिशा ग्रहण कर ली थी। ब्राह्मण-धर्म और तत्सम्बन्धित विचारधारा के प्रभाव के कारण विशिष्ट शैली का विकास हुआ था। इस काल में ललित कलाओं को असाधारण सफलता मिली। सम्राटों के संरक्षण में कवि संगीतज्ञ शिल्पी और चित्रकार अपनी कलाओं के उत्तरोत्तर विकास में संलग्न थे। मूर्तिकला के क्षेत्र में स्वरूप अनेकात्मक हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ। अन्य धर्मों की मूर्तियाँ भी भव्य और मनोहारिणी हैं। गुप्तकालीन मन्दिरों की कला विशेष विमुग्ध कारिणी है। अजन्ता के अनेक भित्ति-चित्र इसी काल में चित्रित हुए थे। अवलोकितेश्वर का तात्त्विक विचार-मग्न ध्यानी बुद्ध की भावपूर्ण मुद्रा अवलोकनीय है। इसके मधुर चित्रों की भव्यता अवर्णनीय है। साहित्य और वाङ्मय के क्षेत्र में यह युग अनुपमेय है। संस्कृत साहित्य की जितनी समृद्धि इस काल में हुई उतनी और कभी नहीं। समुद्रगुप्त विद्याव्यसनी गुणज्ञ कलाकार राजा में अनुपम बुद्धि-विलास और कवित्व शक्ति से शोभित था। कालिदास विशाखदत्त अमरसिंह धन्वन्तरि जैसे कवि शास्त्रकार कोशकार और चिकित्सक इस युग में हुए। उत्तर गुप्त काल में भी आर्यभट्ट वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिष और गणित के ज्ञान को समृद्ध किया।

गुप्त साम्राज्य की छिन्नभिन्नता के साथ भारत की केन्द्रीय सत्ता नष्ट हो गई। यद्यपि विभिन्न शक्तियों के उत्थान का क्रम [illegible] न किया। हर्ष विद्याव्यसनी और विद्वानों का संरक्षक था। [illegible] और बाणभट्ट की रचना इसी काल में हुई। [illegible] एवं [illegible] के रूप में भी हर्ष प्रसिद्ध है किन्तु इसके [illegible] होने में विद्वानों को सन्देह है। [illegible] के विभिन्न समाज [illegible] की ओर

१ [illegible] (१९८) पृ० [illegible]।
२ [illegible] ([illegible]) पृ० ११५।
३ [illegible] ([illegible]) पृ० ११।
४ [illegible] पृ० ११[illegible]।

कला-प्रेमी थे, उनके सरक्षण में साहित्य और शिल्प-कलाओ का विकास हुआ किन्तु इतना स्पष्ट है कि कलाओ में नवीन उद्भावनाओ के दर्शन नही होते। यशोवर्मन् के समकालीन भवभूति और वाक्पतिराज थे। विभिन्न क्षेत्रो में विभिन्न राज्यो की स्थापना और जडीभूत जीवन की चेतनाहीनता साहित्य और कला के क्षेत्र में परिलक्षित हुई।

मध्यकाल में यद्यपि सस्कृत में साहित्य रचना होती रही, भवभूति, राजशेखर, जयदेव प्रभृति प्रतिष्ठित कवि हुए किन्तु सस्कृत से अधिक उन्नति प्राकृत साहित्य की हुई। हर्षवर्धन के विच्छिन्न साम्राज्य के भग्नावशेष पर जिन राज्यो का सगठन हुआ उनके अधिकाश अधिपति साधारणतया परम्परागत आर्य नहीं, बल्कि आर्यीकृत हिन्दू थे। अपभ्रश भाषाओ का विकास इसी काल में होता है जिसके उत्तर विकास के रूप में हिन्दी, बँगला, गुजराती, महाराष्ट्री, उडिया, आसामी, पजाबी आदि आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं। नाटको में जिन्हें विभाषा कहा गया है वे विभिन्न जातियो की भाषाएँ होगी।[1] ऐसी जातियाँ जब राज्यपद पर प्रतिष्ठित हुई तो अपनी भाषाओ को भी महत्त्व दिया। अपभ्रश भाषा और उसके साहित्य का विकास भिन्न-भिन्न केन्द्रो में होता रहा। अपभ्रश भाषाओ का साहित्य धर्म-साधनाओ से सम्बद्ध रह कर ही सम्भवतया बच पाया। जैन भाण्डागारो से अपभ्रश की अनेकानेक रचनाएँ प्राप्त हुई। इनमें कुछ तो सिद्धान्त ग्रन्थ हैं और कुछ चरित काव्य हैं, जिनमें चरित काव्य द्वारा उपदेश देने की चेष्टा है। जैनेतर साहित्य की उपेक्षा हुई है किन्तु इसके कुछ अश प्राप्त है। स्फुट काव्यो में जोइन्दु (योगीन्द्र) के परमात्म प्रकाश तथा योगसार, मुनि रामसिंह का पहुडदोहा हैं। सोमप्रभ का कुमारपाल प्रतिबोध, अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) का सदेश रासक अधिक महत्त्वपूर्ण है। हेमचन्द्र के उद्धरणो में स्फुट पद्य है जिनमें पूर्ण मात्रा में काव्यत्व है। अपभ्रश के चरित काव्यो में स्वयभू का 'पउम चरिउ' (रामायण), पुष्पदन्त के 'जसहर चरिउ', णाय कुमार चरिउ (नाग कुमार चरित्र) और 'महापुराण', कलकामर का 'करकण्डु चरिउ', हरिभद्र के 'सनत्कुमार चरित' और 'नेमिनाह चरिउ', धनपाल का 'भविसयत्त कहा' प्रकाशित और महत्त्वपूर्ण हैं। शार्ङ्गधर के 'हम्मीर रासो' और 'हम्मीर काव्य' का उल्लेख मिलता है। 'वीरगाथा' की कही जानेवाली रचनाएँ वस्तुत उत्तरकाल की रचनाएँ हैं और अपभ्रश-काल के चरित काव्यो की परम्परा के नवीन स्वरूप हैं। 'चरित काव्यो' की परम्परा 'जायसी' में जाकर स्पष्ट होती हैं, जहाँ कथा के माध्यम से सूफी मत का उपदेश दिया जाता है।

गौडीय पालो के उद्भव से मगध-क्षेत्र में बौद्ध धर्म को नवीन प्राण-दान मिला। शकर-विजय में सुधन्वा के सम्बन्ध मे जो उल्लेख है वह गौडीय शशाक पर पूर्णतया चरितार्थ था।[2] पाल-काल में बौद्ध-धर्म को सरक्षण प्राप्त हुआ और पूर्वकाल में गुह्य साधना के

---

१ शावराभीर चाण्डाल सचरद्रविडोद्रजा।
दीना वनेचराणा च विभाषा नाटक स्मृता॥ —भ० ना०, १७।१९।

२ दुष्टमतावलम्बिन बौद्धान् जैनानसख्यातान् राजमुख्याननेकविद्याप्रसगैर्निर्जित्य तेषा शीर्षाणि परशुभिश्छत्वा बहुषु उदूखलेषु निक्षिप्य-कटभ्रमणैश्चूर्णीकृत्य चैवन्दुष्टमतध्वसमाचरन् निर्भयो वर्तते।

चारों ओर घूमते फिरते रहते थे।[1] आजीवक निवस्त्र एवं मुक्ति-मण्डित रह कर एकान्त व्रतों का सेवन करते थे। महाविकट भोजन करते बछड़े आदि का गोबर खाते तथा ओढ़ने-बिछाने के लिए वस्त्र नहीं लेते और न आग ही तापते थे।[2] वे ग्रह-नक्षत्र योग का विचार करते और गृहस्थ इनसे पूछताछ कर यदि पर्याप्त दक्षिणा नहीं देते तो क्रोध के कारण अहित साधन में तत्पर हो जाते थे।[3] भिक्षुओं अथवा शिष्यों से झगड़ा कर भिक्षु-सन्यासी आश्रम छोड़ भाग खड़े होते इधर-उधर घूमते-फिरते मजदूरी अथवा नौकरी से जीविका-निर्वाह करते एवं दरिद्र स्त्रियों से सहवास कर सन्तान उत्पन्न करते। ऐसे आश्रम च्युत व्यक्तियों का अत्यन्त निरादर होता था एवं पता लगने पर गाँववाले उन्हें अपने यहाँ से मार भगाते। ऐसे व्यक्तियों को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते थे।[4] मध्यकालीन समाज से यह समाज अधिक भिन्न नहीं था।

सांस्कृतिक चेतना का नवीन संस्कार

गुप्तकाल में आकर संस्कृति के भारतीय स्वरूप ने एक निश्चित दिशा ग्रहण कर ली थी। ब्राह्मण-धर्म और तत्सम्बन्धित विचारधारा के प्रभाव के कारण विशिष्ट शैली का विकास हुआ था। इस काल में ललित कलाओं को असाधारण सफलता मिली सम्राटों के संरक्षण में कवि संगीतज्ञ शिल्पी और चित्रकार अपनी कलाओं के उत्तरोत्तर विकास में संलग्न थे। मूर्तिकला के मध्य आरम्भ स्वरूप अनेकानेक हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ। अन्य धर्मों की मूर्तियाँ भी भव्य और मनोहारिणी हैं। गुप्तकालीन तक्षकों की कला विस्मय विमुग्ध-कारिणी है। अजन्ता के अनेक भित्ति-चित्र इसी काल में चित्रित हुए थे। अवलोकितेश्वर का तात्त्विक विचार-मग्न ध्यानी बुद्ध की भावपूर्ण मुद्रा अवलोकनीय है। इसके चतुर चितेरों की सफाई अवर्णनीय है। साहित्य और वाङ्मय के क्षेत्र में यह युग अतुलनीय है। संस्कृत साहित्य की जितनी समृद्धि इस काल में हुई उतनी और कभी नहीं। समुद्रगुप्त विद्याव्यसनी गुणज्ञ कलाकार, शास्त्र में कुशाग्र बुद्धि-विलासी और कविराज संज्ञा से लांछित था। कालिदास विशाखदत्त अमरसिंह धन्वन्तरि जैसे कवि नाटककार, कोषकार और चिकित्सक इस युग में हुए। उत्तर गुप्त काल में भी आर्य भट्ट वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिष और गणित के ज्ञान को समृद्ध किया।

गुप्त साम्राज्य की विशृंखलता के साथ भारत की केन्द्रीय एकता नष्ट हो गई यद्यपि विशृंखल शक्तियों के एकीकरण का प्रयास सकलोत्तरापथनाथ हर्ष ने किया। हर्ष विद्या-व्यसनी और विद्वानों का संरक्षक था। हर्षचरित' और कादम्बरी की रचना इसी काल में हुई। प्रियदर्शिका रत्नावली एवं नागानन्द के रचयिता के रूप में भी हर्ष प्रसिद्ध हैं किन्तु इनके हर्ष-रचित होने में विद्वानों को संदेह है। राजपूत-काल के विभिन्न सम्राट् विद्याव्यसनी और

---

१ वही भीमसेन जातक (१।८।८) प० ४६२।
२. वही नमनन (१।५।८९) पृ ११५।
३ वही लोमहंस (२।१।४) पृ ५११।
४ वही लोगक पृ ११९।

चरित काव्यो में अभाव नही। मन्दिर-निर्माण और मूर्त्ति-स्थापना ही इनके लक्ष्य हैं, जिस प्रकार चरित-काव्यो के माध्यम से उपदेश देने की प्रथा। इनके तीन केन्द्र बेरुल (एलोरा), एलिफेंटा और मामल्लपुरम् मध्यदेश से दूर है। इस युग की मूर्तियो के अध्ययन से धार्मिक प्रतिक्रिया देखी जा सकती है।

अजता की गुफाओ मे सातवी शताब्दी के जो भित्ति-चित्र प्राप्त हैं, उनमें ह्रास के लक्षण स्पष्ट होने लगते है। बाघ के भित्ति-चित्र भी इसी शैली का अनुगमन करते हैं। बादामी में चालुक्यो के बनवाए गुफा-मन्दिरो मे चित्र हैं और सित्तनवासल मे पल्लव राजाओ के कटवाए गुफा मन्दिरो में भी पौराणिक दृश्य उत्कीर्ण मिलते है। कलाओ में शिथिलता और परम्परा-पालन के लक्षण स्पष्ट हैं। राय कृष्णदास के अनुसार इस काल के मूर्ति एव मन्दिर निर्माता कलाकार न रह कर शिल्पी मात्र रह गए थे।[१] दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी से सर्वतोमुख ह्रास और अध पतन का प्रारम्भ होता है। स्फूर्ति और ओज के अभाव मे सरक्षण की भावना अधिक है। पुनरावर्तित हिन्दू धर्म अपनी रक्षा के लिए चिन्तित है, और भव्यता-प्रदर्शन के लिए अपेक्षाकृत विस्तृत पृष्ठभूमि ग्रहण करता है।

बौद्ध-जैन आदि धर्म ब्राह्मण धर्म के इस प्रत्यावर्तन पर नवीन स्वरूप का निर्माण करना चाहते है। ब्राह्मण भाव-भूमि पर अ-ब्राह्मण और इस्लामी दोनो आक्रमण तीव्र हो जाते हैं। जडीभूत जीवन की समस्याएँ प्रखर हो जाती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय-सघर्ष ने ब्राह्मण-शूद्र समझौते का रूप लिया। क्षत्रियो को परास्त करने के लिए ब्राह्मणो ने केवल शस्त्र-ग्रहण ही नही किया बल्कि शूद्रो को मूर्धाभिषिक्त कर क्षत्रियत्व प्रदान किया तथा नवोत्थित राजपूत-शक्ति का सगठन किया। कात्यायन और राक्षस ने शूद्र महापद्मनद को 'सर्व क्षत्रान्तक' बनाया था। चाणक्य ने वृषल चन्द्रगुप्त को पुन क्षत्रियत्व प्रदान किया। शूद्र को भी पच महायज्ञ करने का अधिकार मिला। पतजलि के अनुसार सभी शूद्र यज्ञ-कर्म से बहिष्कृत न थे।[२] ब्राह्मणो ने अपनी शक्ति-रक्षा के लिए शूद्रो को यह अधिकार दिया। ऐसी अवस्था में ओझा की यह धारणा मान्य नही हो सकती कि "ज्यो-ज्यो समय गुजरता गया, शूद्रो के अशिक्षित होने से इनका पच यज्ञो का अनुष्ठान भी छूटता गया।"[३]

पूर्वगुप्त काल की भारतीय सस्कृति के साथ ग्रीक, ईरानी, शक, आभीर, कुषाण आदि की चेतना का विनियोग होने लगा था और इस प्रकार नवीन सास्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस के साक्ष्यानुसार विदेशी जातियो के भारत-प्रवेश के कारण उनके आचार-विचार का अलक्ष्य भाव से प्रवेश हो रहा था।

---

१ भारतीय मूर्तिकला, पृ० ११३।

२ शूद्राणामनिखसितानाम् (२।४।१०) इस पर पतजलि का भाष्य है—एव तर्हि यज्ञात्कर्मणो निखसितानाम्। इसकी टीका करते हुए कैय्यट ने लिखा—शूद्राणा पचयज्ञानुष्ठानेऽधिकारोस्तीतिभाव। शूद्रोऽपि द्विविधो ज्ञेय श्राद्धी चैवेतरस्तथा॥

३ गौ० ही० ओझा मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, पृ० ३८।

रूप में सुरक्षित विकृत बौद्ध धर्म को स्पष्ट रूप से मत-प्रचार की प्रेरणा मिली सिद्धों का साहित्य इस प्रवृत्ति का दिग्दर्शक है। सिद्धों की भाषा को महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने प्राचीन बंगला माना है और राहुल सांकृत्यायन ने मगही। चर्याचर्य विनिश्चय डाकार्णव आदि रचनाएँ इसी परम्परा में आती हैं।

जैनों के उद्भव के साथ पुनः संस्कृत साहित्य को प्रधानता मिली। राज्यों के उत्थान-पतन के साथ संस्कृत साहित्य का भी उत्थान ह्रास चलता रहा। भोज-सम्बन्धी किम्वदन्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत कवि सर्वत्र समादर प्राप्त नहीं कर पाता था और उसकी अवस्था दयनीय थी।[1] इन किम्वदन्तियों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जीविका के अभाव में जैसे ब्राह्मण चोर हो गये थे और सेंध लगा कर चोरी करते थे।[2] साहित्य के क्षेत्र में नवीनता स्फूर्ति एवं भव्यता नहीं बल्कि ह्रासोन्मुख चारुता और कला परम्परा का अनुगमन है। शास्त्रों के क्षेत्र में नवीन उद्भावनाओं के स्थान में व्याख्या और भाष्य टीका और वृत्ति का युग आया। ब्राह्मण साधना और साहित्य अपनी रक्षा में संलग्न दीख पड़ते हैं। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में नई स्मृतियों के निर्माण के स्थान पर प्राचीन स्मृतियों पर भाष्य और टीकाओं की रचना हुई। मेधातिथि गोविन्दराज और कुल्लूकभट्ट कृत गोविन्दराज मनुस्मृति की टीकाएँ और विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा व्याख्या इस युग में लिखी गई है। धर्म शास्त्रों के आधार पर निबन्ध ग्रंथों की रचना हुई। निबन्धकार विभिन्न प्रान्तों के हैं और प्रान्तीय विशेषताओं का उनमें उद्घाटन हुआ है। बंगाल में जीमूतवाहन शूलपाणि और रघुनन्दन मिथिला में श्री दत्त उपाध्याय चण्डेश्वर और वाचस्पति मिश्र दक्षिणापथ में देवण्ण भट्ट हेमाद्रि और माधवाचार्य एवं काशी में नारायण भट्ट नन्द पण्डित कमलाकर भट्ट आदि अधिक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित निबन्धकार हैं। इनके अध्ययन द्वारा विभिन्न प्रान्तीय समाज-व्यवस्था एवं तत्कालीन परिस्थिति को समझने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिल सकती है। दक्षिणी शास्त्रकारों ने मामा और बुआ की कन्या से विवाह का विधान किया है और उत्तर में प्रचलित ग्रंथों के लेखकों न इसे दक्षिणी आचार कह कर उपेक्षा की है। निबन्धकारों की रचना में देशाचार, लोकाचार कुलाचार का आधार किया है।

मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में भारतीय मूर्तिकला और स्थापत्य का मनोरम विकास दीख पड़ता है। मूर्तिकला म घटनाओं के बड़े-बड़े दृश्य अंकित किए जाते हैं, इस प्रवृत्ति का अपभ्रंश

---

१ एक गरीब ब्राह्मण नदी पार कर रहा था। राजा भोज उधर आ निकले और पूछा—
किम्मात्रं जलं विप्र!—ब्राह्मण कितना जल है?
उत्तर जानुदघ्नं नराधिप!—हे राजा घुटनों तक पानी है।
प्रश्न कथं सेयमवस्था ते?'—तुम्हारी यह अवस्था क्यों है?
उत्तर 'न सर्वत्र भवादृशा'।—आपकी तरह सर्वत्र गुणग्राही नहीं है।
—राजा भोज पृ १४३-१४४ से उद्धृत।

२. वही पृ १५९-९ १६२।
तुलनीय मृच्छकटिक का 'शर्विलक'।

और तिब्बती से अनूदित मन्त्र-शास्त्र के द्वारा हठयोग, त्राटक, स्वरोदय, भूतावेश आदि की प्रक्रियाओं और इतिहास का ज्ञान होता है। जन-समाज में भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस, ब्रह्म-राक्षस, असुर, नाग आदि के उपद्रवों का आतक फैला हुआ था। कौशिक-सूत्र मे विभिन्न सकटो के समय अथर्व मन्त्रों के विनियोग की चर्चा है। भूत-पिशाच-प्रेत और जन्तर-मन्तर पर आदिवासी जातियो का अटूट विश्वास है। जन-समाज की इस धारणा का मूल उत्स आर्येतर ही था। छोटा नागपुर की मुडा, उराँव, खरिया, असुर आदि आदिवासी और घासी, तूरी, लोहार, डोम, गोड आदि अर्द्ध हिन्दू जातियो की आस्था द्वारा इसका पोषण मिलता है।[1] मृत पुरखो की आत्मा और भूत-प्रेत के लिए बलि की पूजा आज भी प्रचलित है। वर्षा और समृद्धि के लिए नर-बलि उत्तम समझी जाती है। भूत-बाबा ही रोग का कारण मानी जाती है। चुडैल, भूतिनी और डाकिनी का भय जन-समूह को सन्त्रस्त करता है। ग्राम-देवताओं के पुजारी आदिवासी जातियो के होते है।[2] दक्षिणी विहार मे भी गोरया के पुजारी दुसाव ही होते है।

मुसलमानो के भारत में अधिकार जमाने के पूर्व की सास्कृतिक पृष्ठभूमि का निष्कर्ष अत इस प्रकार दिया जा सकता है

(१) उच्चवर्गीय सास्कृतिक चेतना की धारा राजन्यवर्ग, अधिकारी, ब्राह्मण मन्त्री और कोषाध्यक्ष—कोषाधिकारी सेठ-साहूकार मे मिलती है। सेठ-साहूकार धन द्वारा धर्म-गठनों को समृद्धशाली बना अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान समाज मे बना रहे थे।

(२) सभी वर्णों के लोग अपने पेशे छोड कर अन्य पेशो को अपना रहे थे। ब्राह्मण राजा और पुरोहित ही नही रहे, बल्कि व्यापार और चौर कर्म तक करने लगे थे। क्षत्रिय कृषि-कर्म में सलग्न हो रहे थे। जैन धर्म के प्रभाव से वैश्य कृषि-कर्म को नीचा समझ छोड रहे थे और विपुल अर्थ-सचय की सम्भावना से व्यापार-वाणिज्य को अपना चुके थे। विभिन्न पेशा अधिकृत करने वाले समुदाय से जात्याभिमान दूर नही हुआ था।

(३) शूद्रों, कर्मकरो और निम्न-वर्ग में अन्धविश्वास का आधिक्य, धर्म-भावना का रूढ-सस्कार और सास्कृतिक चेतना की प्रसुप्ति थी।

(४) आश्रम-च्युत साधु-सन्यासी और भिक्षु की सास्कृतिक चेतना भिन्न थी। सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित होने के कारण उन्हें जो प्रतिष्ठा मिली थी किन्तु गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के कारण छिन गयी थी, उसके प्रति यह वर्ग सदा सजग रहा। गृहस्थ धर्मानुयायी और सन्यासी-गृहस्थ का अन्तर स्पष्ट था।

(५) क्षत्रिय-वैश्य-विरोध के कारण ब्राह्मणो ने जिन शूद्र वर्गों को मूर्धाभिषिक्त किया, उनमे स्वभावतया स्वाभिमान और उच्चता की भावना का जागरण सम्भव हुआ।

---

१ द्रष्टव्य टी० हडसन, दि प्रिमिटिव कल्चर ऑव इण्डिया और राची गजेटियर, पृ० ९०।
२ मेमोआयर्स ऑव एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल, भाग १, सन् १९०६, पृ० १२१-८१, 'रिलिजन एण्ड कस्टम्स ऑव दि ओराव' शीर्षक निबन्ध।

विभिन्न जातियाँ भारतीय समाज में घुल-मिलकर एक हो रही थीं और सामाजिक व्यवस्था का पुनर्गठन संभव कर रही थीं। इसका गहरा प्रभाव भारत की सामाजिक व्यवस्था पर पड़ा। विभिन्न वर्णों में इन जातियों का समावेश हुआ। कर्मानुसार इन वर्णों के व्यक्तियों को वर्णत्व प्राप्त हुआ। शकों ने सूर्य-पूजा को विशेष रूप में प्रतिष्ठित किया। अलबेरूनी के अनुसार भारत के सम्पूर्ण सूर्य-मन्दिरों के पुजारी ईरानी मग होते थे। भविष्य पुराण के अनुसार राजा साम्ब ने सूर्य-पूजा का प्रचलन कराना चाहा किन्तु देशी ब्राह्मणों ने पूजा में पौरोहित्य करना अस्वीकार कर दिया अतः उक्त राजा ने शक-द्वीप से मग जाति के ब्राह्मणों को बुलवाया।[1] आभीर जाति के मिश्रण ने कृष्ण-लीला में राधा-प्रवेश को संभव किया। कुषाण भारतीय पूजा धर्म-साधना और उपाधियाँ स्वीकृत कर सांस्कृतिक विनियोग के प्रतीक बने। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था में नवीन तत्त्वों के प्रवेश सम्मिश्रण और समन्वय के कारण आचार विचार वेश-भूषा खान-पान रीति-नीति आस्था-दृष्टिकोण धर्म और साधना एवं कला-साहित्य के क्षेत्रों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए।

साधारण जनता के जीवन और दृष्टिकोण में विशेष अन्तर नहीं आया था। वर्ण व्यवस्था का नवीन परिवर्तन उच्च वर्गीय परिवर्तन का सूचक है। अन्धविश्वास जादू-टोना एवं मंतर-जंतर में अटूट विश्वास जीवन में दृढ़मूल हो चुके थे। राजा लोग शत्रु-नाश के लिए जादू-टोना और अभिचार का आश्रय लेते थे। पिशाच-बाधा के कारण प्रभाकरवर्धन का रोग समझा जाता था।[2] पुत्र प्राप्ति के लिए स्त्रियाँ ग्रहों के प्रसन्न करने ताबीज पहनने जड़ें बाँधने गीदड़ को मांस-पिण्ड खिलाने तथा शकुन का आदर कादम्बरी में उल्लिखित है।[3] भूत-बाधा से गर्भ की रक्षा करने के लिए पलंग के नीचे राख के अम्बार बनाने गोरोचन से भूर्ज-पत्रों पर लिखे मन्त्रों के बाँधने कात्यायनी से रक्षा के लिए मोर-पंखों से उतरने सफेद सरसों के बिखेरने आदि क्रियाओं का वर्णन बाण ने किया है।[4] भूत-प्रेत-डाकिनी की बाधा से लोग अधिक भयभीत रहते थे और इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए पशु-पक्षी की बलि दी जाती थी। देवी को प्रसन्न करने के लिए नर-बलि तक की प्रथा अप्रचलित नहीं थी। तान्त्रिक वामाचारी कापालिक पर्वतों पर यज्ञानुष्ठान करते और स्त्री-बलि और अन्य नृशंस-निदारुण कार्य किया करते थे।[5] पिशाचों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से नर-मांस काट-काट कर फेंका जाता था। कर्पूरमंजरी का भैरवानन्द नामक वामाचारी योग-बल से सद्यःस्नाता राजकुमारी को पकड़ ले जाता है। 'जसहर चरिउ' का कौलाचार्य भैरवानन्द विचित्र वेशधारी था। सिद्धि-प्राप्ति में मत्स्य मद्य मांस मैथुन का सेवन स्वीकृत था।[6] तिब्बती साधकों

---

१ भविष्य पुराण ब्राह्मपर्व अध्याय ११९।

२. हर्ष-चरित (नि प्रे) पृ १५४।

३ कादम्बरी (नि प्रे) पृ १२८१ ।

४ वही पृष्ठ १११ १७।

५ द्रष्टव्य मालती माधव' में अघोरघण्ट-प्रसंग।

६ द्रष्टव्य यारी पूजा दीहि मरि, मर्यो मांस मद बोद। —क ८ पृ ४१।

और तिब्बती से अनूदित मन्त्र-शास्त्र के द्वारा हठयोग, त्राटक, स्वरोदय, भूतावेश आदि की प्रक्रियाओ और इतिहास का ज्ञान होता है। जन-समाज मे भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस, ब्रह्म-राक्षस, असुर, नाग आदि के उपद्रवो का आतक फैला हुआ था। कौशिक-सूत्र मे विभिन्न सकटो के समय अथर्व मन्त्रो के विनियोग की चर्चा है। भूत-पिशाच-प्रेत और जन्तर-मन्तर पर आदिवासी जातियो का अटूट विश्वास है। जन-समाज की इस धारणा का मूल उत्स आर्येतर ही था। छोटा नागपुर की मुडा, उराँव, खरिया, असुर आदि आदिवासी और घासी, तूरी, लोहार, डोम, गोड आदि अर्द्ध हिन्दू जातियो की आस्था द्वारा इसका पोषण मिलता है।[1] मृत पुरखो की आत्मा और भूत-प्रेत के लिए बलि की पूजा आज भी प्रचलित है। वर्षा और समृद्धि के लिए नर-बलि उत्तम समझी जाती है। भूत-बाधा ही रोग का कारण मानी जाती है। चुडैल, भूतिनी और डाकिनी का भय जन-समूह को सन्त्रस्त करता है। ग्राम-देवताओ के पुजारी आदिवासी जातियो के होते है।[2] दक्षिणी विहार मे भी गोरया के पुजारी दुसाध ही होते है।

मुसलमानो के भारत में अधिकार जमाने के पूर्व की सास्कृतिक पृष्ठभूमि का निष्कर्ष अत इस प्रकार दिया जा सकता है

(१) उच्चवर्गीय सास्कृतिक चेतना की धारा राजन्यवर्ग, अधिकारी, ब्राह्मण मन्त्री और कोषाध्यक्ष—कोषाधिकारी सेठ-साहूकार में मिलती है। सेठ-साहूकार धन द्वारा धर्म-गठनो को समृद्धशाली बना अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान समाज मे बना रहे थे।

(२) सभी वर्णों के लोग अपने पेशे छोड कर अन्य पेशो को अपना रहे थे। ब्राह्मण राजा और पुरोहित ही नही रहे, बल्कि व्यापार और चौर कर्म तक करने लगे थे। क्षत्रिय कृषि-कर्म में सलग्न हो रहे थे। जैन धर्म के प्रभाव से वैश्य कृषि-कर्म को नीचा समझ छोड रहे थे और विपुल अर्थ-सचय की सम्भावना से व्यापार-वाणिज्य को अपना चुके थे। विभिन्न पेशा अधिकृत करने वाले समुदाय से जात्याभिमान दूर नही हुआ था।

(३) शूद्रो, कर्मकरो और निम्न-वर्ग में अन्धविश्वास का आधिक्य, धर्म-भावना का रूढ-सस्कार और सास्कृतिक चेतना की प्रसुप्ति थी।

(४) आश्रम-च्युत साधु-सन्यासी और भिक्षु की सास्कृतिक चेतना भिन्न थी। सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित होने के कारण उन्हें जो प्रतिष्ठा मिली थी किन्तु गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के कारण छिन गयी थी, उसके प्रति यह वर्ग सदा सजग रहा। गृहस्थ धर्मानुयायी और सन्यासी-गृहस्थ का अन्तर स्पष्ट था।

(५) क्षत्रिय-वैश्य-विरोध के कारण ब्राह्मणो ने जिन शूद्र वर्गों को मूर्धाभिषिक्त किया, उनमें स्वभावतया स्वाभिमान और उच्चता की भावना का जागरण सम्भव हुआ।

---

१ द्रष्टव्य टी० हडसन, दि प्रिमिटिव कल्चर ऑव इण्डिया और राची गजेटियर, पृ० ९०।
२ मेमोआयर्स ऑव एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल, भाग १, सन् १९०६, पृ० १२१-८१, 'रिलिजन एण्ड कस्टम्स ऑव दि ओराव' शीर्षक निबन्ध।

(६) धर्म-विरोध जो दीख पड़ता है, वह ज्ञानी-पण्डित ब्राह्मणों के प्रति अशिक्षित और संस्कारहीन शूद्रों का विरोध नहीं बल्कि ज्ञान-विज्ञान से हीन अन्य पेशों में संलग्न अथवा ढोंगी ब्राह्मणों एवं अन्य जातियों के प्रति अपेक्षाकृत सुघरे और सामाजिक चैतन्य प्राप्त निम्न वर्गों का विरोध था।

(७) जन-साधारण जिसकी संख्या अनुपात में सर्वाधिक थी अन्धानुकरण म सलग्न चैतन्य-हीन रूढ़ि और परम्परा का परिपोषक विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के उथले विचारों को मानने वाला और हीन-चेतस था।

मुस्लिम विजय और उसका प्रभाव

मुस्लिम आक्रमणों का सब-प्रथम प्रभाव सिंध और पंजाब पर पड़ा। दक्षिण में हिंदू राजाओं से मुस्लिम व्यापारियों को सहयोग मिला था। स्थानीय स्त्रियों से विवाह कर इन्होंने अपनी संख्या भी बढ़ाई थी। पंजाब म मुस्लिम शक्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक समय तक रही और उसके पश्चात् सहसा सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर आधिपत्य हो गया। मुस्लिम आक्रमणकारियों के साथ मुल्ला काजी व्यापारी और सूफ़ी संत और महात्मा आए। स्थानीय स्त्रियों से उत्पन्न संतति और धम-परिवतन के कारण इनकी संख्या बढ़ने लगी। इस धर्म-समवाय में विभिन्न स्तर हुए।

(१) राजन्य-वग अधिकारी और शासक स्थानीय शासक आदि का उच्च वग जिनका विलासमय जीवन साधारण व्यक्तियों की ईर्ष्या का विषय था।

(२) मुल्ला-मौलवी का वग जो यहाँ के ब्राह्मण-वर्ग का समकक्ष था। धर्म और कानून संबंधी विषयों म जिन्हें विशेषाधिकार प्राप्त था। इन विषयों पर इनका मत ही मान्य था। इस वग का उद्देश्य मुस्लिमों की संख्या बढ़ाना था।

(३) राजनीतिक कारणों से धम-परिवतन करनेवाले उच्चवर्गीय हिंदु, जिनकी संख्या अधिक नहीं थी। राज्य-केन्द्रों में ही ऐसे व्यक्तियों का समाज था। इनमें अधिकांश व्यक्ति उच्च कुलोद्भव और सम्मानित श्रेणी के थे। स्थानीय शासकों में इन्हें स्थान मिला था। मुस्लिम धम-ग्रहण करने पर भी उच्चता की भावना इनसे दूर नहीं हो सकी थी। कुछ लोगों का धम-परिवतन तो बाह्य था। वेश-भूषा आदि के कारण न तो वे मुसलमान ही जान पड़ते थे और न हिंदू ही।

(४) मुस्लिम-सबंध से उत्पन्न भारतीय नारियों की संतति। इनमें दो प्रकार का वग हुआ। प्रतिक्रिया के कारण कुछ तो बहुत ही कट्टर सिद्ध हुए और कुछ सांस्कृतिक चैतन्य के सामंजस्य के कारण अत्यन्त उदार। मुल्ला और मौलवियों का विरोध सामंजस्यवाले वग के प्रति स्पष्ट रहा।

(५) मुस्लिम प्रचारकों के प्रचार हिन्दुओं की अनुदारता अकाल-दुष्काल में इस्लामी मठों में भोजन करने के कारण धम-परिवतन करनेवाले निम्नवर्गीय हिंदु। सामाजिक अत्याचार से त्राण प्राप्त करने अथवा सामाजिक स्तर में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने के लिए भी धम-परिवतन किया गया। अन्यत्र कहा जा चुका है कि आभिजात्य वर्ग

के सेवको को ससर्गगत मम्मान चाहे जो मिला हो सामाजिक व्यवस्था मे इन्हे सम्माननीय स्थान नही प्राप्त हो सका था। न तो ये हिन्दू रह सके और न मुसलमान होकर भी ये पूर्णतय मुसलमान ही हो मके थे। ये नाम-मात्र को मुसलमान थे। रीति-नीति, सस्कार-विचार हिन्दुओ के रहे। मुस्लिम साधारण विश्वासो मे इनके कारण परिवर्तन हुए। इस सम्प्रदाय की सास्कृतिक चेतना निम्न-स्तर की ही रही।

जिन जातियो मे उच्चता की भावना थी, किंतु सामाजिक कारणो से उच्चता प्राप्त नही हो सकी थी, उस जाति ने धर्म-परिवर्तन द्वारा उच्चता-विधान की चेष्टा की। विशिष्ट जातियो का सामूहिक रूप में धर्म-परिवर्तन इसका सकेत उपस्थित करता है।

प्रश्रय देने की नीति, सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था की आन्तरिक अक्षमता, पारस्परिक सघर्ष तथा नवोत्थित धर्म के आवेश और प्रेरणा के कारण मुस्लिम धर्म भारतीय धर्म-साधना में घुल-मिल कर एक नही हो सका। सघर्प विभिन्न स्तरो का विभिन्न स्तरो के साथ था। राजन्य-वर्ग और शासनाधिकारियो के सघर्ष में भारतीय नृपति पराजित हुए, वर्णाश्रम आचार अव्यवस्थित हुआ, शास्त्राभिमानी पडितो का सम्मान गया। मुस्लिम शासको के साथ काजी और मुल्ला की व्यवस्थाएँ आई। हिंदू सेठ-साहूकारो को भी इस राजनीतिक उपप्लव में पर्याप्त क्षति उठानी पडी। मुस्लिम शासक पक्के मुसलमान से अधिक जीवन के आनन्दोल्लास के इच्छुक थे। धार्मिक व्यवस्था की अधिक चिन्ता न कर, इन विपयो मे मुल्ला-मौलवी को सम्पूर्ण अधिकार सौंप विलासमय जीवन व्यतीत करने में सलग्न रहे। अधिकारो पर आघात होने के कारण ब्राह्मण और राजन्य वर्ग में प्रवल प्रतिक्रिया हुई।

सामान्य जनता की धार्मिक भावनाएँ रूढ और परम्परागत रही। धर्म-परिवर्तन करने पर भी सस्कार ज्यो-के-त्यो रहे। अन्धविश्वास और जडता से पिण्ड नही छूट सका। प्रचारको ने भी मूढ जनता को ठगने और अपने धर्म मे दीक्षित करने के लिए उनकी सास्कृतिक चैतन्य-हीनता से लाभ उठाया। ततर-मतर, भूत-प्रेत, झाड-फूँक और चमत्कारो के प्रति बद्धमूल आस्था रही। धार्मिक भावना का वह स्वरूप नही था जो शास्त्रो मे वर्णित है बल्कि उसमें शास्त्र-बाह्य आचार, आस्था और विश्वास का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

इस्लाम के आगमन से हिंदू आभिजात्य वर्ग की धारणाओ में अधिक रूढिवादिता आई, सकुचित मनोभाव का जागरण हुआ। भक्ति-धारा को शास्त्र-सम्मत, शास्त्रीय एव आगम-निगम-प्रतिपादित कर वैष्णव धर्म की धारा में मिला दिया है। वेद-विरोध, रूढिवाद, वैदिक आचार, वर्णाश्रम, पुस्तकीय ज्ञान के विरोध का स्वर जो पुरातन काल से सुनाई पडता रहा, गुप्तकालीन नवोत्थित हिंदू-धर्म का शासन-सत्ता से विच्छेद होने के कारण स्पष्ट होने लगा था। सिद्धो और नाथो की वाणी में बौद्ध-धारणा का सूत्र प्राप्त होता है। समाज और उसकी सास्कृतिक चेतना के रूप में इस स्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। निम्न कुलोद्भव व्यक्तियो ने अपनी उच्चता का जो प्रतिपादन किया उसका विरोध आभिजात्य वर्गीय हिंदुओ द्वारा हुआ। तुलसी का खीझ भरा विरोध स्पष्ट है और कबीर का उत्तर देने के लिए भक्ति को श्रुति-सम्मत लोक-कल्याण का सोपान उन्होने स्वीकार किया।

साधारणतया यह विश्वास कर लिया जाता है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण भारतीय सांस्कृतिक धारा और चेतना को गहरा धक्का लगा। क्रमश समन्वय और सामजस्य की

भावना थी जिसके कारण उस संस्कृति का जन्म हुआ जिसे हिंदू-मुस्लिम संस्कृति कहते हैं।[1] हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य की भूमिका में ही इस विश्वास पर विचार किया जा सकता है। दो संस्कृतियों की टक्कर अथवा सम्मिश्रण उच्चवर्गीय समाज की प्रतिक्रियाएँ हैं। निम्न-स्तर के जीवन में जो परिवर्तन हुआ वह पूर्णतया सांस्कृतिक नहीं था। निम्नवर्गों की चेतना के स्वरूप जीवन के प्रति दृष्टिकोण अथवा आस्था के स्वरूप में विशेष अंतर नहीं आया। साधु-संन्यासियों के साथ फकीर पीर और औलिया का मान बढ़ा देवी-देवता की जगह पर कब्रों की पूजा आई पंच देवता के स्थान पर पंचपीरों की गाथा गाई गई किंतु जीवन का मूल-मंत्र जंतर-मंतर पर से विश्वास नहीं हटा गंडे तावीज की मान्यता और बढ़ी। कब्रों की पूजा में चैत्य-पूजा का स्वरूप सुरक्षित रहा।

उच्चवर्गीय समाज दो कारणों से अधिक विक्षुब्ध हुआ। मुस्लिम सत्ता की स्थापना के साथ धार्मिक कृत्यों में बाधा पड़ी और उसके साथ ही निम्नवर्गीय जातियों की धर्म-परिवर्तन द्वारा अपने विरोध को प्रकट कर सकने की क्षमता भी थी। सामाजिक संचित धारणाओं के कारण रूढ़िवादिता और बढ़ी और उच्च वर्गीय समाज अपने आप में संकुचित होता रहा। इस वर्ग के साहित्यिक प्रतिनिधि तुलसीदास हैं। उच्चवर्गीय हिंदुओं ने इस्लाम ग्रहण कर दोनों के सामंजस्य की पृष्ठभूमि उपस्थित की और सूफी संतों ने दोनों के सामान्य तत्वों का निरूपण कर धार्मिक सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त किया एवं यहाँ के कुछ आचार और आचरण ग्रहण कर जनता को आकृष्ट करने की चेष्टा की। कुलीन मुसलमानों में यह दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ इस वर्ग का प्रतिनिधित्व जायसी करते हैं। सामान्य जनता का वह वर्ग था जो साधु-संन्यासियों की संतति होने अथवा शास्त्रज्ञ पण्डितों द्वारा उच्च स्थान दिये जाने के कारण अपनी उच्चता के प्रति जागरूक था। कबीर इस वर्ग के प्रतिनिधि हैं। कालक्रम से सीमाएँ मिटती गईं और पारस्परिक आदान-प्रदान संभव हुआ।

मध्यकाल में निम्न वर्गों और वर्णों में उच्चता-विधान का स्वर है, वह इस्लामी स्वर नहीं बल्कि परम्परा का विकास है जिसकी धारा वैदिक काल से ही कभी प्रकट और कभी प्रच्छन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। मुस्लिम आक्रमण ने इस चेतना को थोड़ी स्पष्टता दी और पौराणिक पूजा-उपासना की असमता को प्रकट कर दिया। उच्चता-विधान की प्रक्रियाओं के दो स्वरूप हैं—

(१) दूसरों की समानता और समता प्राप्त कर *आत्म-सम्मान* का प्रकाशन और प्रतिष्ठा।

(२) अपने कुसंस्कारों के त्यागपूर्ण संस्कार द्वारा उस नैतिकता-मूलक सांस्कृतिक चैतन्य का जागरण जो समता का मूलाधार है।

१ द्रष्टव्य—ताराचंद इन्फ्लुएंस ऑव इस्लाम आन हिंदू इंडियन पृ १३६ १३७। ईश्वरी प्रसाद हिस्ट्री ऑव मिडिवियल इंडिया पृ ५। सुनीतिकुमार चटर्जी कल्चरल फ्लोरेशन इन इंडिया पृ १६७-६८।

समता की प्रतिष्ठा के लिए पाण्डित्याभिमानी पडितो के आचार-प्रवण, भावना-शून्य पूजोपासना की व्यर्थता और अपने स्वसवेद्य ज्ञान की प्रतिष्ठा का साधन कबीर ने ग्रहण किया। कबीर की अक्खडता इस मनोवैज्ञानिक भूमिका मे ही स्पष्ट हो सकती है। सतो की जो दो धाराएँ दीख पडती है, वस्तुत ये दो विभिन्न धाराओ के परवर्ती स्वरूप है जिनके विकसित स्वरूप मे अधिक अतर नही रहा। हिंदू धर्म की परम्परा मे पला वैष्णव धर्म नारदीय भक्ति का आधार लेकर एक ओर शास्त्र-सम्मत होता रहा और दूसरी ओर योग और ज्ञान का आधार लेकर निम्नवर्गीय सतो की चेतना को जागरित करता रहा। सूफी-मत ने स्थानीय कारणो से अपना स्वरूप परिवर्तित किया और इसकी दो धाराएँ स्पष्ट हुई अधिकाधिक पूर्व-धारणा जिसने सामजस्य और समन्वय चाहा और अधिकाधिक भारतीय विचार-धारा का साधारण इस्लामी परिवर्तन। सत-मत की अन्तिम कडी में दोनो का मेल हो गया है, दो विभिन्न धाराएँ एकरूप हो गई। विचारो की थोडी समानता के कारण न तो ये धाराएँ औपनिषदिक विचार-धारा के मध्यकालीन रूपान्तर तथा शास्त्रीय हैं और न शास्त्र और वर्ण-विरोध के कारण अ-शास्त्रीय और वेद-विधान विरोधी अन्य धर्म-सम्प्रदायो के विरोध के रूपान्तर अथवा मूर्खो के उद्गार ही। व्यक्तिगत उच्चता की घोषणा करते हुए आत्म-सस्कार की अपेक्षा उन्होने स्वीकार की है। सत समाज-सुधारक नही थे, ऐसी कोई प्रतिज्ञा उन्हाने स्वीकार नही की थी किंतु मनुष्य को, व्यक्ति को उन्होने अवश्य सुधरने का सदेश दिया। व्यक्तिगत साधना सामाजिक स्वरूप ले सकी। इन सतो की क्षमता हीन-सस्कार वाले व्यक्तियो में सांस्कृतिक चैतन्य के जागरण द्वारा प्रकट हुई। सामान्य जनता के जडीभूत जीवन में आशा, प्रेरणा, आस्था की चेतना का जागरण इन सतो के द्वारा सम्भव हो सका। इस चेतना के सबध की निम्नलिखित मान्यताएँ सतो ने दी—

(१) उच्चता और नीचता का विधायक वैयक्तिक कर्म है। नीच कर्म करनेवाला ब्राह्मण भी नीच और उच्च कर्म करनेवाला निम्नकुलोद्भव व्यक्ति भी पूज्य है। व्यक्तिगत उच्चता का मानदण्ड है कर्म और आचरण की पवित्रता, न कि जन्म।

(२) शास्त्रज्ञान उच्चता की कसौटी नही, कारण वह निर्भ्रान्त नही।

(३) वर्ग, सम्प्रदाय, जाति आदि बाह्य है, मनुष्य मूलतया और तात्त्विक रूप मे एक है। वह एक की विभिन्न रूपाकृतिगत अभिव्यक्ति है। एक ही अनेक बना है और अनेकत्व का वही सूत्र है। आत्म-स्वरूप का ज्ञान समता और समानता का विधायक है।

यहाँ इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम दो मे नीच बनाने वाले तर्कों, मतवादो और मापदण्डो का खण्डन है और तीसरे में विभिन्न मापदण्ड का विधान। इन सतो को समन्वयवादी कहने की प्रथा-सी चल पडी है यद्यपि आचार्य शुक्ल के अनुसार चोट पहुँचानेवाली गर्वोक्तियाँ, लोक-व्यवस्था का तिरस्कार एव भक्त के प्रधान गुण दैन्य का अभाव कबीर में है।[1] गर्वोक्तियाँ अभिमान को चूर्ण कर अपनी प्रतिष्ठा के लिये है एव व्यापक करुणा, प्रेम-स्नेह-दया उन शापित, तापित, उत्पीडित निरीह जीवो के लिए हैं जिन्हें मनुष्य कहलाने का अधिकार नही था। उनके आत्म-सम्मान को जगाने के लिए ललकार है। ऐसे विपन्न जीवन को एक साथ ही आशा,

---

१ जा० ग्र० (भूमिका), पृ० १४।

आत्मविश्वास और चेतना संत-साहित्य दे सका था संस्कारहीन को सांस्कृतिक चैतन्य की प्रेरणा दे सकने में समर्थ हो सका था। संत-साहित्य का उद्देश्य दो विभिन्न सांस्कृतिक चेतना में सामंजस्य स्थापित करना नहीं था बल्कि संतों के जीवन उपदेश और काव्य के समक्ष समस्या थी सामरस्य स्थापित करने की जिसकी स्थापना व्यापक जीवन-तत्त्व और आध्यात्मिक चेतना के आधार पर हो सकी थी। यदि समन्वय और सामंजस्य देखने का ही मोह हो तो इस साहित्य में हिंदू-मुसलमान ऊँच-नीच ब्राह्मण-शूद्र के समन्वय अथवा ऐक्य का प्रश्न नहीं था बल्कि मनुष्य के साथ मानवीय चेतना के सामंजस्य की समस्या थी।

संत-काव्य की सांस्कृतिक चेतना का आधार है स्वानुभूति प्रातिभ अथवा स्वसंवेद्य ज्ञान। धर्म-आचार शास्त्र और पूजोपासना की रूढ़िगत धारणा इसमें नहीं। कथा शिक्षा-क्षेत्र और आभिजात्य वर्ग का साहित्य अध्ययन की सामग्री उपस्थित नहीं कर सकता। संत-कवि की आध्यात्मिकता शास्त्रीय अथवा एकेडमिकल नहीं उसकी चेतना के लिए रूढ़ि और संकोच की सीमा नहीं। जीवन के प्रति सहज व्यापक और उदार दृष्टिकोण है।

संत-कवि की सांस्कृतिक चेतना न तो ग्रहण का मोह रखती है और न त्याग की आसक्ति।[1] सगुणोपासक-आभिजात्य धर्मीय भक्त में ग्रहण की आकांक्षा है, वह ब्रह्म को रूप की सीमा में आबद्ध कर लेने का इच्छुक है उसकी विभूति को लोक-चरता में देखता है। योगी के चित्त-वृत्ति-निरोध में संसार और सांसारिकता के त्याग का दम्भ है। संत-मत न तो गृह-त्याग का मिथ्या दम्भ पालना चाहता है, और न रूपासक्ति को अपना सोपान समझता है। न तो वह पूरे अर्थों में गृही है और न पूरे अर्थों में सन्यासी। संत न तो भोग को मान्यता देता है और न विराग की आसक्ति पालता है।

संत की चेतना व्यष्टि और समष्टि के संघर्ष को नहीं देखती। मध्यकाल में यह समस्या इस रूप में उपस्थित भी नहीं हुई थी विरोध व्यष्टि और समष्टि में नहीं था बल्कि व्यष्टिगत समष्टि और वैयक्तिक व्यक्ति में था। समाज से नितांत विच्छिन्न निरपेक्ष व्यक्तित्व की कल्पना संत-साहित्य में नहीं सामाजिकता के रूढ़िवादी विकास के कारण जो विकृतियाँ आ गई थीं उनके निराकरण द्वारा नवीन-स्वरूप-निर्माण का विधान संत ने किया था। संत की साधना आत्म-विकास की आवश्यक भूमिका है यह जानता है मुक्ति-दुःख-दैन्य ताप-परिताप पीड़ा व्यथा से त्राण उसके अधीन है, किन्तु उसकी ऐकान्तिक साधना का सामाजिक मूल्य है। सामाजिक अनुबन्ध में ही आत्म-संस्कार की धारणा स्वरूप ग्रहण करती है। संत-साधना निर्पेक्ष-

---

१ काहे बाबू घरि रहै, काहे बन मांहि जाइ।
घर बन रहिता राम है, ताही सौंल्यौ लाइ।
जिमि प्राणी करि जागिया घर बन एक समान।
घर मांहै बन ज्यों रहै, सोई साध सुजान॥ —दा द बा (२) पृ १०२।
मिही ती व्यस्था पंथी बैरागी तो मीन।
दुहुँ दाम्या बिचि जीव है दो हमै नंती गोन॥ —क ग्रं पृ ५०१।

क्तिक नही, मात्र वैयक्तिक भी नही। व्यक्ति का महत्त्व वह मानता है।[1] शास्त्रीय मान्यताओं ने जीवन-विकास के पथ को अवरुद्ध कर रखा था, उच्च-वर्गीय रूढ आचारो से मुक्ति और धर्म-ग्रथो के अध्ययन की अक्षमता के कारण विचार-स्वातन्त्र्य की क्षमता सन्तो में थी। विभिन्न सामाजिक स्तरो का शास्त्रीय सगठन सन्त की दृष्टि मे जीवन के विकास का साधन नही। धर्म को वह विश्वास, जीवन का मूल्याकन तथा आदर्श और उसकी प्रतीति का साधन मानता है। इस व्यापकता और महत्ता का कारण है निजत्व-बोध आत्म-प्रतीतिजन्य चैतन्य जिसके कारण सामजस्यपूर्ण अन्विति सम्भव होती है। समग्र विश्व और विश्व-नियन्ता को वह अन्तर्गत जो देखना चाहता है, उसका कारण है व्यक्ति की व्यापक महानता के दर्शन का आवेश। उसका अभिप्राय था व्यक्ति के समीकृत रूप से अधिक जीवन की पूर्णता की प्रतीतिजन्य प्रातिभ अभिव्यक्ति। जीवन इस प्रकार एक नवीन अर्थ ग्रहण कर सकने में समर्थ हुआ।

सन्त ने यह सब जान-बूझकर, सोच-समझकर किया, ऐसा स्वीकार करना उचित नही, अचेतन रूप में ही स्वत सभी तत्त्व अभिव्यक्त और समाविष्ट हो गए। जीवन की इस यथार्थता के कारण सत-साहित्य में नवीन शक्तिमत्ता है जिसमें प्रवृत्ति का उल्लास और निवृत्ति का सतोष है। सन्तोषपूर्ण किन्तु आवेशमय, उल्लासपूर्ण जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का सकेतक है। यह मानववाद की भूमिका नही, जो मानव बुद्धि, तर्क-क्षमता पर निर्भ्रान्त विश्वास रखती है, यह मानव-कल्याणवाद की प्रज्ञप्ति नही, जो पशु-दया का परिवर्तित स्वरूप है एव यह जीव-दया का सशोधित स्वरूप भी नही, जो अपनी उच्चता का दर्पमय गर्व रखती है, उच्चता की दम्भपूर्ण यह दाम्भिकता नही, जो थोथे ज्ञान के कारण जागरित होती है और न जीवन की दैन्यपूर्ण विवशता ही है। सन्त-कवि पुकार-पुकार कर कहता है, जीवन विवशता नही, लाचारी नहीं, भाग्यवादी निराशा उसे किसी क्षण मान्य नही। सन्त अन्तरात्मा को जीवन का विधेयक तथा अनुमापक मानता है। उसकी सास्कृतिक चेतना मूर्ति, चित्र और सगीत में अभिव्यक्ति नही हो सकती, उसके पास इन माध्यमो का अभाव था, बल्कि सामरस्य की उस दृष्टि में प्रकट होती रही जो जीवन-व्यापार और व्यवहार में अभिव्यक्त होती है। भावना की सचाई और गहराई पर उसका अटूट विश्वास है, जिसके द्वारा भौतिक साधनो को आन्तरिक प्रेरणा की सहजता में आस्था और चैतन्य के जागरण का सस्कार सन्त-साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त हो सका।[2] मानवीय वृत्तियो के परिष्कार को ही सन्त ने सहज और स्वाभाविक माना है और उसकी वास्तविक प्रकृति को विकारजन्य। कृत्रिमता का वह सबल विरोधी है, जाति-धर्म-व्यवस्था, सम्पत्ति, धर्माचरण, रूढ विधि-विधान को वह, अत, सहज ही छोड सका था। सत्य के सहज आलोक को देख सकने में सन्त समर्थ हो सका था, जो साधना, अभिव्यक्ति, भक्तियोग-मूलक अनुभूतियो को आलोकित कर सकने में समर्थ हुआ।

---

१ जेती देषौं आतमा, तेता सालिगराम।
साधू प्रतपि देव है, नही पाथर सूँ काम॥ —क० ग्र०, पृ० ४४।५ (४३०)।

२ आपा तजै और हरि भजै, नखसिख तजै विकार।
सब जिउ ते निर्बैर रहै साधु मता है सार॥ —बीजक, साखी १३७।

सन्त की सांस्कृतिक चेतना सम्बद्ध कर्मिता अथवा कलात्मक प्रयत्नों में नहीं देखी जा सकती। उसकी सांस्कृतिक चेतना उस अन्तःप्रेरणा को जागरित कर सकने में समर्थ हुई जो जीवन को पूर्णता की आकांक्षा, वृत्तियों के संस्कार और महत्ता दे सकी थी। अन्तरात्मा की स्वच्छता में ही सत्य के सहज आलोक की झाँकी मिल सकती है, अतः इस दर्पण को स्वच्छ रखना आवश्यक है, अतः इसे माँजते रहने की अपेक्षा है।[1] अन्तश्चेतना की जागरूक धारा द्वारा आत्म-संस्कार की सांस्कारिक चेतना ही सहज भाव से सांस्कृतिक चैतन्य का स्वरूप ग्रहण करने में समर्थ हुई थी।

❁

१ जो दरपन देखना चाहिए, तो दरपन माँजत रहिये।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई॥ —[illegible] ।

काव्यत्व

खरी कसौटी राम की खोटा टिकै न कोय।
राम कसौटी सो टिकै जो मरजीवा होय॥

जे वो एकै जांणियाँ, तौ जांण्यां सब जाण।
जे ओ एक न जांणियां, तौ सबहीं जांण अजांण॥

—क० ग्र० १९।१९०

काव्यत्व

*

काव्य और उसका स्वरूप

काव्य की अनेकानेक परिभाषाएँ उपलब्ध है। कवियो, साहित्य-शास्त्रियो और दार्शनिको ने इसके स्वरूप की मीमासा और विवेचना की है। काव्य, साहित्य, कला, सस्कृति, धर्म एव नीति मानवीय चेष्टाएँ हैं और इनके द्वारा मानवीय विकास की स्थिति का निर्णय किया जा सकता है। अपने आपको अभिव्यक्त करने की सहज प्रवृत्ति मनुष्य में है और इसका प्रयास भी वह सदा करता रहा है। आत्माभिव्यक्ति को आत्म-प्राकट्य (Self-Betrayal) से भिन्न समझना चाहिए। भावावेश में हँसना, रोना, गाना अथवा चिल्लाना आत्माभिव्यक्ति से अधिक आत्म-प्राकट्य है। साहित्य वह चिह्न अथवा प्रतीक है जिसके द्वारा आत्मा का सहज आनद सत्य और सौंदर्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।[1] आत्मभिव्यक्ति एक गोलमटोल शब्द है। 'आत्म' उन सभी विषयो का सामूहिक अर्थ द्योतित करता है, जो हमारी मानसिक शक्तियाँ हैं अत अनुभूति, इच्छा, आकाक्षा एव सकल्पात्मक विचार की अभिव्यक्ति काव्य में होती है। कलात्मक होने के कारण काव्य में रमणीयता और चारुता की प्रतिष्ठा है। अभिव्यक्ति की क्षमता और सौंदर्य-बोध में कलासाफल्य की सापेक्षता निहित है। कला की अर्थ-व्याप्ति में अपेक्षाकृत आधुनिक काल में विस्तार हो गया है। चातुर्य को कला की सज्ञा मिल गई है, ऐसी अवस्था में चौर-कला को भी पारिवारिक सम्मान प्राप्त हो गया। काव्य अथच कला-

---

१ द्रष्टव्य—सत्य को जहाँ मनुष्य स्थूल रूप अर्थात् आनद रूप में, अमृत रूप में प्राप्त करता है, वह अपने एक चिह्न को खोद देता है। वह चिह्न ही कही मूर्ति, कही तीर्थ और कही राजधानी हो जाता है। साहित्य भी यही चिह्न है।—ठाकुर साहित्य (सौंदर्य-बोध), पृ० ४४।

विषयक विवेचना में दो तत्त्वों की मीमांसा होती रही है—मानवीय भावना (अनुभूति और विचार) एवं अभिव्यक्ति (व्यक्तीकरण के साधन और माध्यम)। व्यक्तित्व को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए पारिवारिक सामाजिक धार्मिक राजनीतिक और सांस्कृतिक अनुबंध की गहरी छानबीन करनी पड़ेगी। यह भी देखना होगा कि व्यापक मानव के साथ व्यष्टिगत मानव का कहाँ तक सामंजस्य-विरोध है। अभिव्यक्ति के लिए भावनागत स्फूर्ति की क्षमतापूर्ण और रूप-रूपात्मक व्यक्तीकरण का विचार करना होगा। इन दोनों तत्त्वों के उच्चम सामंजस्य में काव्य की क्षमता अन्तर्निहित है। माध्यम भावनाओं का प्रतिबन्धक है एवं रूढ़िगत और परम्परा-बद्ध भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए उसी प्रकार के प्रतिबन्ध को स्वीकार कर चलना पड़ेगा। रूढ़ियों का सर्वथा तिरस्कार यद्यपि सम्भव नहीं प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अपेक्षाकृत मुक्त और रूढ़िहीन होगा।

काव्य परिभाषाओं की तीन प्रवृत्तियों को स्पष्टतया लक्षित किया जा सकता है—(१) काव्य को मात्र अभिव्यक्ति स्वीकार करनेवाली (२) अर्थ को काव्य माननेवाली और (३) दोनों प्रवृत्तियों में साम्य एवं सामंजस्य उपस्थित करनेवाली। अतिवादी धारणाओं के मोह के पश्चात् तीसरी प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा ही समुचित जान पड़ी और पण्डितों का महत्त्वपूर्ण वर्ग इस धारणा को स्वीकार करता हुआ दीख पड़ता है। इस दल के भी सभी विचारकों में मतैक्य नहीं। प्रथम दो प्रवृत्तियों के सबल-सापेक्ष्य से मतभेद की सम्भावना है। अलंकारवादी अलंकारों की अर्थ-गमता स्वीकार कर भी शब्द-वैचित्र्य और उक्ति-चमत्कार को प्रधानता देता है। वक्रोक्तिवादी अर्थ की मर्यादा स्वीकार करता हुआ भी उक्ति की वक्रता का पोषक है। रीति सम्प्रदाय शब्दवादी है यद्यपि शब्द-प्ररणा में वैयक्तिक और देश-गत प्रकृति का प्रभाव स्वीकृत है। रसवादी अथवा ध्वनिवादी शब्द अथवा वाक्य को अस्वीकृत नहीं करता किन्तु वाक्य की रसात्मकता अथवा शब्द से ध्वनित व्यंग्य को मुख्य मानता है। रसवाद दार्शनिक अद्वैतवाद से सम्बद्ध है। मम्मट द्वारा काव्य को दोष-रहित सगुण अलंकृत यद्यपि कभी-कभी अनलंकृत भी मानने में सभी प्रकार के दृष्टिकोणों का सामंजस्य है। काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष के भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की धारणा द्वारा काव्य-सम्बन्धी विचारों में अन्तर आता रहा है।

काव्य का सम्बन्ध सौन्दर्य-बोध से है। इस सौन्दर्य-बोध को अभिव्यक्ति की लोका में वेग्न अथवा मानवीय आकृति अथवा प्राकृतिक जगत् में परिलक्षित करने का प्रयास प्रमोत्पादक है। मानवीय आकृति और प्रकृति की प्रतिक्रिया में भावात्मक सौन्दर्य की कल्पना है। काव्य मुख्यतया गीतात्मक काव्य अनुभूति और भावना प्रधान है। मध्यकालीन गीत और आधुनिक गीतिकाव्य में सूक्ष्म अन्तर है। भावनाओं के व्यापक विस्तार और आत्म-भाव के प्रसार में सौन्दर्य-बोध की अपूर्व क्षमता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—'कवि का कल्पना-सजीव हृदय जितना विश्वव्यापी होता है उसकी रचना की गम्भीरता में हमारी परितृप्ति उतनी ही बढ़ जाती है। उतनी ही मानव-संसार की सीमा के विस्तृत होने से हमारा चिरस्थायी विहार का क्षेत्र विपुलता को प्राप्त होता है।'[1]

---

१ साहित्य पृ० ३।

काव्य में मानव-हृदय की आशा-निराशा, हर्ष-शोक, उल्लास-उच्छ्वास, आकाक्षा-आशका, चिन्ता और धारणा, आस्था और विचार काव्यात्मक प्रणाली से अभिव्यक्त होते रहे हैं। कलात्मक अभिव्यक्ति माध्यम की कृत्रिमता से सीमित-सकुचित रहती है किन्तु इस कृत्रिमता का सकोच भी सापेक्ष्य है। मापदण्ड और मानदण्ड भी निरपेक्ष नही, इनकी भी परम्परा होती है और सामाजिक स्वीकृति की सीमा भी। कलात्मक अभिरुचि के मूल में देश-काल-व्यक्ति और सास्कृतिक चेतना का प्रभाव है। युग और समुदाय की धारणाओ के साथ मूल्य और उसके आधार एव स्वरूप में परिवर्तन होते रहते हैं। काव्यात्मकता की विवेचना में परम्परागत धारणाओ की कसौटी पर विचार करना पडता है जिसके द्वारा काव्य की सिद्धि तथा सयुक्तिकता प्रतिष्ठित होती है।

राग, बुद्धि और कल्पना

राग, बुद्धि और कल्पना को एक दूसरे से नितात विच्छिन्न और परम स्वतन्त्र मानने का भ्रम होता आया है। ज्ञान, कर्म और भक्ति को परस्पर विच्छिन्न मानने का कारण यही मनोवैज्ञानिक भ्रम है। साधारणतया राग और बुद्धि का चिर-विरोध स्वीकृत और प्रतिष्ठित है। परम्परा के आग्रह से राग को हृदय की प्रक्रिया और बुद्धि को मस्तिष्क का विषय माना जाता है। आलोचना क्षेत्र के अनेक विवादो का मूल यही भ्रम है। वस्तुत: रागात्मकता आवेश देती है, बौद्धिकता उसका नियन्त्रण करती है एव कल्पना उसे स्फूर्ति और रूपात्मकता देती है। सत-कवि की रागात्मक अनुभूति ही अरूप नही वल्कि जिस कारण यह अनुभूति जगती है, वह भी अरूप है। लौकिक प्रतीको और सवधो के माध्यम से इसे अभिव्यक्त करना है। दो कठिनाइयो के वीच सत-कवि को अपना मार्ग वनाना है, एक ओर वह अरूप ऐसा अरूप न रह जाय कि उसके स्वरूप का कोई आभास प्राप्त न हो अथवा अनुभूति मानसिक पकड में न आ सके और दूसरी ओर वह प्रकार स्थूल न हो जाय कि अव्यक्त व्यक्त पूर्णरूप से स्थूल और व्यक्त ही रह जाय, उस अव्यक्त व्यक्त का आभास ही न दे सके। सत-कवियो को ज्ञानमार्गी कहने का तात्पर्य है कि साधना के क्षेत्र में इन्होने भावना के महत्त्व को स्वीकार नही किया और ज्ञान के शुष्क विषय को गीतो मे भर दिया और इस प्रकार इन्हें 'अ-कवि' कहने में किसी प्रकार की वाधा न रही। विचारो की प्रधानता, चेतावनी और उपदेश के कारण इनकी काव्यात्मक रचनाओ की ओर साधारणतया ध्यान नही दिया जा सका।

भावना और अनुभूति का अभाव सत-साहित्य में नही। साधना-पद्धति में भी भावना की अन्यतम प्रतिष्ठा है। भाव-भगति में वँधी भक्ति से अधिक तीव्रता और सवेदना है।[1] आन्तरिक भाव-प्रवणता की महिमा सत-काव्य में गाई गई है। किन्तु इस भावना के अनुचित सवध से वचने की लालसा और धारणा सत में है और इसके दो रूप उसके सामने आते हैं—सासारिक वस्तुओ (असत्) एव भ्रम में डालनेवाली साधन-पद्धतियो से सवध। एक को

---

१ किआ जपु किया तपु सजमी किआ वरतु किया इसनानु।
जव लगि जुगति न जानीऐ भाव भगति भगवान॥—स० क०, रागु गउडी ६३, पृ ६६।
मैं जान्यू पढ़िवो भलो, पढ़िवा थैं भलो जोग।
रांम नाम सू प्रीति करि, भल भल नीदो लोग॥ —क० ग्र०, पृ० ३८।३७४।

वह माया का फल कहता है और दूसरे को असत् फल का वाधक। भावना की सम्बद्धता द्वारा भी मायिकता से त्राण प्राप्त किया जा सकता है किन्तु उसमें भी फँस जाने की संभावना है, अतः बौद्धिकता द्वारा सद् का परिचय आवश्यक है। इतना स्पष्ट है कि बुद्धि-तत्व का अप्राकृतिक बोध उठाने में काव्य असमर्थ है किन्तु बौद्धिक भावना और कह ज्ञान में अन्तर है। परवर्ती संत-साहित्य में बौद्धिक चेतना से अधिक कह ज्ञान और उसके प्रकाशन का प्रयास अधिक है। विचाराभिव्यक्ति की भावना से उपदेश देने की प्रवृत्ति ही अधिक लक्षित होती है किन्तु रागात्मक आवेश का अभाव नहीं।

कल्पना का असम्भाव्य के साथ संबंध स्थापित करा अनेक प्रकार के मतवादों का प्रचार और खण्डन होता रहा है। भावना का स्थान कल्पना नहीं ले सकती और न अननुभूत अनुभूति को जन्म दे सकती है। भावना को विस्तार उत्तेजना और स्फूर्ति अवश्य देती है। कल्पना का विराट रूप संत-काव्य में नहीं पाठक कवि-कल्पना की सीमाएँ उपस्थित करता है। मूर्त-विधान में कल्पना का उपयोग होता है और संत ने इसका प्रयोग किया है। सत की कल्पना यथार्थ से कभी सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करती। सम्पर्कों और प्रतीकों पर विचार करने से इस कथन की सत्यता प्रकट होगी। मेंहदी की यथार्थता सुंदरी के चरणों को रंजित करने में है। प्रेमी का महत्व प्रिय को अनुरक्त करने में प्रकट होता है और मेंहदी की सार्थकता पिसने पर। अन्तर का राग (लालिमा) निजत्व के क्षय और त्याग एवं अपने विशुद्ध स्वरूप के ज्ञान में ही सफल है। पिस-पिस कर भी मेंहदी यदि प्रिया के चरणों को रंजित न कर सकी तो उसकी यथार्थता और उपयुक्तता कहाँ ?[1] शृंगार की महत्ता प्रिय को रिझाने में है। रीझनेवाला प्रिय जहाँ नहीं वहाँ शृंगार के की उपयुक्तता कैसी ? अन्तर में वसन्त एवं बाह्य वेष-भूषा और आडम्बरपूर्ण शृंगार से अन्तर्गत प्रिय कैसे प्रसन्न होगा ? जहाँ अन्तस्थ प्रिय है वहाँ अतर के शृंगार—मानवीय गुणों का विकास अपेक्षित है। भावना-शून्य आचार विचार प्रिय-प्राप्ति में क्षम नहीं।[2] संत-काव्य में कल्पना का उपयोग विराट रूप-विधान के लिए नहीं हुआ है और न राग बुद्धि और कल्पना की भिन्न तत्वों के रूपों में अभिव्यक्ति। रागात्मकता बौद्धिकता और कल्पना का समन्वित सामंजस्य संत-काव्य में प्रतिफलित हुआ यद्यपि मत-विचारों के परम्परागत प्रकाशन का मोह भी अनेक संतों में परिलक्षित होगा। ज्ञान और पाण्डित्य की विभिन्नता सत ने स्पष्टतापूर्वक देखी है। स्वस्फुरित ज्ञान—प्रातिभ ज्ञान की प्रामाणिकता उसे स्वीकृत है, पाण्डित्य की प्रतिष्ठा नहीं।

काव्य-परम्परा और सिद्धांत-निरूपण

जन-जीवन में परिव्याप्त रागात्मक अभिव्यक्ति से दो स्वरूपों का विकास हुआ काव्य और संगीत। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते और एक दूसरे द्वारा प्रभावित होते रहे

---

१ कबीर महिदी करि घालिआ आपु पीसाइ पीसाइ।
तै सह बात न पूछीऐ कबहू न लाई पाइ॥ —गं० क० सलोकु १५ पृ १५८।

२. पग निरतारी बावरी मोहन करि सिंगार।
तौं न लगाउ बार पै जौं गोरख अवतार॥ ११॥
—रा० र० बा० (१) मेरो मो अंग पृ १५५।

किन्तु भिन्नता बनी रही। काव्य के तीन स्वरूप मिलते हैं, विचारो को अभिव्यक्त करनेवाली छन्दात्मक रचना, इतिवृत्तात्मक काव्य और गीत, तथा लोक-गीत। लोक-गीतो को काव्य की सीमा से बहिष्कृत करने का प्रयास भी होता आया है। वेद-मत्रो की रचना छदो में हुई, अत मानवीय विकास की प्रथम कडी में सिद्धात-निरूपण, विचार-प्रकाशन के माध्यम रूप में ही छन्दात्मक रचना का प्रयोग हुआ। उपनिषदो और धम्म-पद तथा अन्य बौद्ध-साहित्य की छन्दात्मक रचना इस उपयोग का ही प्रतिपादन करती है। भारतीय परम्परा में वाल्मीकि को आदि-कवि की प्रतिष्ठा प्राप्त है। वेद-उपनिषद्, धम्म-पद, जातक, थेरी-गाथा आदि में काव्यत्व है किन्तु काव्यात्मक रचनाओ की परम्परा वाल्मीकि से चलती है। इस प्रकार छन्दात्मक रचनाओ मे सिद्धात-निरूपण विशुद्ध काव्यात्मक विकास का पूर्ववर्ती है। महाकाव्यो और कला-गीतो का विकास नागरिक सभ्यता के विकास के साथ दीख पडता है। लोक-गीतो की परम्परा सामान्य जीवन के उल्लास और आवेश, अश्रु और हास के गीत गाती रही। इस प्रकार राज-सभा में रहनेवाले कवि की समस्याएँ भिन्न थी और लोक-काव्य की अपनी अलग सीमा।

ब्राह्मण-ग्रन्थ, धर्म-शास्त्र, स्मृति, इतिहास-पुराण की रचना के साथ आध्यात्मिकता-परक ग्रन्थो की रचना छन्दो में हुई तो राज-सभाओ को सुशोभित करनेवाले कवियो ने इतिहास-पुराण की कथाओ का आधार लेकर काव्यात्मक रचनाएँ की और इनकी विवेचना के लिए साहित्य शास्त्र की पद्धति चली। साहित्य शास्त्रीय मानदण्ड की रूढिगत प्रतिष्ठा के पश्चात् काव्य-साहित्य को इस मानदण्ड की अनुरूपता प्राप्त करने की चेष्टा करनी पडी। कवियो और साहित्य-शास्त्रियो ने इनकी नवीन व्याख्याएँ की और कुछ नूतन उद्भावनाएँ भी, किन्तु शास्त्रीयता की रक्षा तो करनी ही पडी। कथा-काव्यो और गीतो की प्रतिष्ठा के साथ इनके माध्यम से भी सिद्धान्त-निरूपण की चेष्टा होने लगी। लोक-गीत जन-जीवन के अधिक समीप थे, अत जन-साधारण को आकृष्ट करने के लिए इनके जैसा और कोई सुलभ साधन नही हो सकता। सिद्धान्त-निरूपण काव्यगत चमत्कार-प्रदर्शन और जीवन की आकाक्षा-अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए काव्य की प्रतिष्ठा थी। पाठक की दृष्टि से पण्डित और विद्वान्, राज-सभाओ के सभासद और काव्य-प्रेमी तथा साधारण जनता का विविध विभाजन था और विधान के अनुसार स्फुट (श्लोकात्मक), इतिवृत्तात्मक, गीत और लोक-गीत का वर्गीकरण। सिद्धात-निरूपण के लिए स्फुट छन्द, प्रबन्ध-काव्य और गीतो का उपयोग किया गया।

आधुनिक भारतीय भाषाओ का विकास अपभ्रश के आधार पर हुआ है। भाषा के स्रोत के साथ साहित्य की परम्परा पर इसका प्रभाव है। अपभ्रश साहित्य मुख्यतया काव्य-साहित्य है। पूर्वी अपभ्रश साहित्य में श्लोक, रूपात्मक दोहे और गेय गीतो की परम्परा है। सिद्धो में सरह (सरोरुह वज्र), काण्ह (कृष्ण-पादाचार्य) आदि की रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं।[1] पूर्वी भाग में ही चर्यापदो की रचना हुई है जिनमें विभिन्न रागो में रचनाएँ हैं।

---

१ ज०-डि० ले० (कलकत्ता विश्वविद्यालय, जिल्द २८)।
बौद्ध गान-ओ-दोहा—म० म० हरप्रसाद शास्त्री व० सा० प०, डॉ० शहीदुल्ला का सस्करण। [इसका दूसरा सशोधित सस्करण हो चुका है।]

रागों में गवड़ा, मउड़ा (गौड़ी = गौरी) मरु, गुंजरी (गूजरी = गुर्जरी) पटमंजरी, देवक्री, वैराग्र, देशाख, भैरवी (सन्त-साहित्य का भैरउ), धनसी (धनाश्री), रामकी (सम्भवतया रामकली), वराड़ी, धीवरी, कामोद, बसाड़िड, मल्हारी, बंगाल आदि हैं। सन्त-काव्य में इनमें से कई रागों का उपयोग हुआ है।

पश्चिमी भारत में जैन मुनियों ने प्रबन्धात्मक जैन-साहित्य प्रस्तुत किया। प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त स्फुट काव्य का उपयोग भी धार्मिक उपदेश के लिए हुआ है, परमात्म-प्रकाश (योगीन्दु), पाहुड़ दोहा (मुनिराम सिंह) इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। प्रबन्ध काव्य और पुराणों में पउम चरिउ या रामायण (स्वयम्भू), जसहर चरिउ (पुष्पदन्त), णाय कुमार चरिउ (पुष्पदंत), करकण्डु चरिउ (कनकामर), नमिणाह चरिउ (हरिभद्र), भविसयत्त कहा (धनपाल), महापुराण (पुष्पदंत) प्रसिद्ध और प्रकाशित हैं।[1] पूर्व देशीय दोहों और गीतों में गुरु माहात्म्य, रूढ़ि-पाखंड-खण्डन, जाति-भेद-खण्डन, पुस्तकीय ज्ञान की निन्दा और उपहास, स्वसंवेद्य ज्ञान की महत्ता, सहज और शून्य की भावात्मक प्रतिष्ठा का कथन है। पश्चिमी प्रबन्ध-काव्यों में ऐतिहासिक-अनैतिहासिक आख्यान और उनके बीच है। कथा धारावाहिक गति से चलती है और बीच-बीच अथवा अन्त में उपदेश अथवा किसी पूजा-आचार की महत्ता का प्रतिपादन रहता है। जहाँ तक सिद्धान्त-निरूपण और उपदेश का प्रश्न है, इनकी धारा हिन्दी में चलती रही। पूर्वी साहित्य की परम्परा में निर्गुणिया सन्तों की रचनाएँ हैं जिनमें स्फुट श्लोक और दोहों की परम्परा में साखी और दोहरा है। आदिग्रन्थ में उनके लिए सलोकु (श्लोक) का प्रयोग हुआ है। गीतों की परम्परा भी इनमें चलती रही और 'सबदी' की संज्ञा मिली। सहजिया वैष्णवों ने पद-पद्धति अपनाई तथा कृष्ण-काव्य ने इस पद्धति को चरमता प्रदान की। पद-शैली का महत्व इतना अधिक बढ़ा कि पश्चिमी छोर के नानक ने भी पदों में रचनाएँ कीं। चरित काव्यों की परम्परा का अवलम्ब हिन्दी के सूफी कवियों ने लिया। मृगावती, पद्मावत आदि-आदि रचनाएँ इसी परम्परा में हैं और इस शैली को अपना कर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरित-मानस का प्रणयन किया। इस चरित काव्य में राम की पौराणिक कथा के आधार पर काव्यात्मक चमत्कार-प्रदर्शन और सिद्धान्त-निरूपण हुआ है। तुलसी-साहित्य पर विचार करते समय साधारणतया यह भूल जाने की सम्भावना बनी रहती है कि तुलसी ने भी इस काव्य-ग्रन्थ में सिद्धान्त-निरूपण किया। पौराणिक परम्परा में प्रतिपादित होने और कथा प्रवाह एवं कथा-रस के कारण इस तथ्य की ओर साधारणतया ध्यान नहीं जाता। सिद्धान्तों के विस्तृतिपूर्ण निरूपण और कथन के कारण सन्त-काव्य पर आक्षेप होते रहे हैं। वस्तुतः काव्य-परम्परा का प्रयोग इस कार्य के लिए अत्यन्त प्राचीन काल से होता आ रहा है।

किन्तु सन्तों के गीतों को लोक-गीत नहीं मानना चाहिए। पाठक की सीमाओं के कारण सन्त-कवि ऐसे गूढ़ विधान की योजना करता है जो साधारण जन के लिए बुद्धि-ग्राह्य

---

1 इनमें से पउम चरिउ भंडारकर इन्स्टीच्यूट पूना से अंशतः प्रकाशित है। कारंजा ओरियन्टल सीरीज, हीरालाल जैन ग्रन्थमाला और कारंजा जैन ग्रन्थमाला द्वारा इन दिनों कतिपय उपयोगी कार्य हुआ है।

सवेद्य है। कला-गीतो का विकास लोक-गीतो के आधार पर ही होता है किन्तु लोक-गीत की काव्यात्मकता में आस्था रखते हुए भी यह मानना पडेगा कि जीवन की मृदुल सरल उच्छ्वसित धारा की जो जीवन्त प्रेरणा है, उसकी कला-गीतो में कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। सन्त-कवियो ने लोक-गीतो की प्रभावोत्पादकता स्वीकार करते हुए इस विधान को पूर्वीय साधको की परम्परा से प्राप्त किया और अपने सिद्धान्तो, विचारो और आस्थाओ को इनके माध्यम से अभिव्यक्त किया। लोक-गीतो की तरलता अपने जीवन विकास के रूप में ही यहाँ अभिव्यक्त हुई।

कवि और पाठक

सत-कवियो की अटपटी वाणियो में खण्डन-मण्डन, सिद्धान्त-निरूपण, मत-प्रकाश, उपदेश और तर्कवादिता का मोह अधिक परिलक्षित किया गया है। इनकी रचनाओ में बनाव-शृगार, काट-छाँट और कथन का द्रविड प्राणायाम नही। अलकरण की गहरी रुचि, छन्दो की विविधता, रूढ उपमानो का उपयोग और शिक्षित जन-सुलभ चारुत्व भी इस साहित्य में नही। ऐसी अवस्था में इन्हें अ-कवि समझ लिया गया तो कोई आश्चर्य का विषय नही। सन्तो ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके कविता नहीं लिखी थी और न वे कवि यश प्रार्थी ही थे। तुलसी ने 'स्वान्त. सुखाय' राम-गाथा गाई थी और कविता करने का आश्वासन भी नही दिया था।[1] मत-प्रकाशन, खण्डन-मण्डन, सिद्धान्त-निरूपण और उपदेश तो सूर और तुलसीदास जैसे महान् कवियो में भी हैं। भाषा और काव्य दोनो की दृष्टि से सन्तो की रचनाओ को सम्मान प्राप्त नही हो सका है, इसके कारण हैं, आलोचको के सकुचित दृष्टिकोण और पूर्वग्रह, भिन्न सिद्धान्तो की कसौटी पर इनकी रचनाओ को कसना और पाठक-वर्ग पर ध्यान नही देना।

प्रत्येक युग-द्रष्टा कवि और विचारक कसौटी देता है और परम्परा का सस्कार-परिष्कार को अपने युग और समाज-समुदाय के आधार पर करता है। रसात्मकता की कसौटी सहृदय रसिक माना गया है, किन्तु रसिक की रसिकता भी सापेक्ष है और प्रत्येक युग की सहृदयता में अन्त। कला-काव्य की दो धाराएँ थी एक का विकास राजसभाओ के कृत्रिम वायुमण्डल में हुआ था और दूसरी का जन-जीवन के अपेक्षाकृत उन्मुक्त वातावरण में। लोक-गीतो की परिधि और व्यापक तथा अकृत्रिम थी। राज-समाज में आदृत होनेवाले काव्य में आलकारिक चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य और चातुर्य का महत्त्व था।[2] राज-सभा में कवियो का सम्मान था अत राज-सभा स्थित कवि अलकार शास्त्र के अधिकार द्वारा प्रतिस्पर्द्धी कवि के दोष दिखलाने में तत्पर। इन सभाओं में काव्य-परीक्षा हुआ करती थी। लोक-काव्य और सभा-काव्य का अन्तर ग्राम-कुविद द्वारा ग्रामीण स्त्रियो के लिए प्रस्तुत और नागर शिल्पी द्वारा

---

१ कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥ —मानस।

२ द्रष्टव्य कवित्व-शक्ति क्षीण भी हो तो भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति अलकार-शास्त्रों के अभ्यास से राज-सभाओ में सम्मान पा सकता है। —दण्डी (१।१०४-१०५)।

निर्मित राज-महिषी के उपयुक्त साड़ियों का अन्तर है।[1] विद्यापति ठाकुर ने बालचन्द और लोक-भाषा को समान माना है और बालचन्द को महेश्वर के भाल पर शोभित होनेवाला और इस भाषा को नागरों का चित्ताकर्षक।[2] विद्यापति का प्रचार होने पर भी यह स्मरण रखना होगा कि उनका पाठक 'अभिनव नागर और रसवन्त' है और इसी नागर को वे 'रसवन्त' मानते हैं। सूर का पाठक वैष्णवीय भक्ति-धारा का रस-लोलुप भक्त है और लोक-भाषा में लिखनेवाले तुलसीदास का पाठक काशी के पाण्डित्यपूर्ण वातावरण में रहनेवाला। अतः पाठक-समुदाय को दृष्टि में रखकर तुलसी बुध को काव्य-सफलता की कसौटी मानते हैं।[3] साहित्य-शास्त्रीय सहृदय रसिक के स्थान में 'बुध' की प्रतिष्ठा नवीन दिशा का सूचक है। तुलसी द्वारा संस्कृत-निष्ठ भाषा का प्रयोग अपनी रचना को विद्वज्जन-सम्मान्य बनाने की चेष्टा है। राम-चरित-मानस का सम्मान कथा-रस और लोक-जीवन में राम की प्रतिष्ठा के कारण अधिक हुआ। जायसी की ठेठ बोली का रहस्य उनके पाठक-वर्ग में मिलेगा। 'पद्मावत' का फारसी में मिलना इसका प्रमाण उपस्थित करता है।

सन्तों का श्रोता-वर्ग जब सन्त-कवियों को ही विशिष्ट शिक्षा नहीं मिली थी तब उनके श्रोताओं के पाठक होने में पर्याप्त सन्देह है—संस्कारहीन कुसंस्कार और अन्धविश्वासों का शिकार शिक्षा के प्रभाव से मुक्त और काव्य की उन धारणाओं से अपरिचित था जिनका सम्मान राज-सभाओं अथवा पण्डित-शिक्षित-वर्ग में था। इन साधारण व्यक्तियों का सामान्य जीवन कष्टमय[4] और समझने-परखने की शक्ति कम थी।[5] मनुष्यों की दो कोटियाँ हैं—शिक्षा और विद्या के अभिमान और दम्भ से कठोर हृदय व्यक्ति और भाव द्वारा चालित

---

१ रे रे ग्रामकुविन्द कन्दलतया वस्त्राण्यमूनि त्वया
गोणी विभ्रमभाजनानि बहुधा स्वात्मा किमायास्यते।
अप्येकं रुचिरं चिरादभिनवं वासस्त्वयासूत्र्यतां
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः॥
—ह० प्र० द्विवेदी द्वारा 'प्राचीन भारत का कला-विलास' में पृ० १२१ पर उद्धृत।

२ बालचन्द विज्जावइ भासा दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ। —विद्यापति कीर्तिलता।

३ जे प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कबि करहीं॥ —तुलसीदास : मानस।

४ कच्चा बुटि बुनि करे बिहान।
बड़े भोर उठि बासन बुहार बड़ी लाँघ के गोबर डार।
बासी भात मानुस ने खाय बड़ घैला लै पानी जाय।
—मेमेनसना नाम हि० कि० पृष्ठ ८।

५ आगे तो सूझा नहीं सूझि दिया नहीं कौन।
अंधे को अंधा मिला राह बतावै कौन॥ —क० ग्रं० साखी १२१ पृष्ठ १२१।
कबीर मन जब अंधला जैसी अंधी गाइ।
बछा था सो मरि गया ऊभी चाम चटाइ॥ —क० ग्रं० पृष्ठ ७८।

प्रभावित होनेवाले मनुष्य ।[1] प्रथम कोटि के व्यक्तियो के लिए इन सन्तो की रचना नही, अत. दूसरा वर्ग ही इनका श्रेष्ठ वर्ग है। इसी कारण इस वर्ग को रिझाने-बुझाने के लिए चतुराई और कथन-नैपुण्य की अपेक्षा नही,[2] भावना की तीव्रता चाहिए।[3] सन्त-कवि की समस्याएँ कई है। सर्वप्रथम उस विपुल श्रोतृवर्ग को कुसस्कार और अन्ध-विश्वासो से मुक्त कर ऐसी स्थिति में लाना जिसमें सापेक्ष मूल्यो को वह ग्रहण कर सकने में समर्थ हो जाय और अपने विचार और भावना को उसी वर्ग की भाषा में अभिव्यक्त करना था कारण पण्डितो और पण्डित-कवियो की भाषा वह वर्ग समझता नही था। इस कथन का यह अर्थ नही कि पण्डित-कवियो की भाषा और साधनो से सन्त-कवि परिचित था और चाहने पर उसका प्रयोग कर सकता था, वल्कि इतना ही है कि इनके काव्यत्व पर विचार करते समय कवि और पाठक के शिक्षा-सस्कार, सामाजिक वातावरण, काव्य की विभिन्न परम्पराओ और सास्कृतिक चेतना का ध्यान रखना चाहिए। सन्त-वाणी का आदर्श श्रोता-पाठक को चमत्कृत करना नही, कुसस्कार हटा कर द्रवित करना है और वैसे हृदय को द्रवित करना है जो शिक्षा-सस्कार और अहकार के कारण विशेष रूप से कठोर हो गया है। कवीर की धारणा है कि यदि यह प्रीति, अन्तर की भाव-धारा वर्तमान है तो वाणी से मोती झरेंगे।[4] अक्षर और वाणी जन-जन में परिव्याप्त है किन्तु प्रीति की प्राण-धारा ही इन्हें प्राणवन्त और अमृतोपम वनाती है।[5] दादू के अनुसार श्रोता के तीन वर्ग है मानव, साधु और देवता—साधारण, विशेष और उच्च। वाणी को समझनेवाला मानव, सकेत को समझनेवाला साधु और मन के भावों को स्वय समझ लेनेवाला देवता है।[6] सन्त-साहित्य मे सकेतो का आधिक्य ही है और सन्त का विश्वास है

---

१ कहै कवीर कठोर कैं, सवद न लागै सार।
सुध वुध कै हिरदै भिदै, उपजि विवेक विचार ॥
—क० ग्र०, निगुणा को अग ७, पृ० ८४।

२. चतुराई रीझै नही, रीझै मन कै माइ। —क० ग्र०, हेत-प्रीत को अग ४, पृ० ६८।

३ हरि रसु चरित सदा मनु तृपतिआ गुण गावै गुणी अघाइआ। —आ० ग्र०, पृष्ठ ६०२।

४ कबीर हरि के नाव सू, प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख तैं मोती झडै, हीरे अत न पार ॥
—क० ग्र०, उपदेश कौ अग ८, पृ० ५७।

जा वाणी हरि कौं लियें सुन्दर वाही उक्त।
तुक अरु छन्द सबैं मिलैं होइ अर्थ संयुक्त ॥ —सु० ग्र० (२), पृ० ७३७।

५ सोई अषिर सोई बैंयन, जन जू जू वाचवत।
कोई एक मेलै लवणि, अमीं रसाइण हुत ॥
—क० ग्र०, विचार कौ अग ७, पृ० ५६।

६ कहै लखै सो मानवी, सैंन लखै सो साध।
मन की लखै सो देवता, दादू अगम अगाध ॥
—दा० द० बा० (१), गुरमुख अग की महिमा ११०, पृ० ११।

कि दम्भ के कारण जिनकी बुद्धि भ्रमित है उन्हें चाह कर भी वह अपने श्रोतृ-वर्ग में सम्मिलित नहीं कर सकता।[1]

संत-काव्य की एक और सीमा की ओर ध्यान जाना अपेक्षित है। संत उस अरूप रूप की झलक देना चाहता है, जो मनवाणी के परम अगोचर है, रूप-रंग विवर्जित और बुद्धि तर्क की गति से परे।[2] इस अगम-अगाध चीज की अनुभूति उसकी वाणियों में झलकती है, संकेतित होती है और संकेत को समझनेवाला साधु (शुद्ध हृदय व्यक्ति)। पण्डित और अवधूत मुल्ला और ज्ञानी को सम्बोधित कर सन्तों ने वाणियाँ कही हैं इसका अर्थ यह नहीं कि ये व्यक्ति सत-समाज में उपस्थित हो इनके सिद्धांतों पर वाद-विवाद करते थे। संत ऐसे विवाद से अधिक दूर रहना चाहता था। इनके सामान्य सिद्धांत—जिनका प्रभाव जनता की विचार-धारा पर प्रबल रूप से था और उनके प्रतिपादन की प्रचलित प्रणाली का खण्डन कर संत जन-सामान्य पर के प्रभाव को दूर करना चाहता था।

श्रोतृ-समुदाय के विस्तार, भावनाओं की अपेक्षाकृत प्रतिष्ठा काव्य-भाषा के रूप की स्थिरता के विकास के साथ संत-कवियों की काव्यात्मकता के रूप में परिवर्तन होता रहा कबीर और दादू की रचनाओं की तुलना द्वारा सूफी प्रभाव के कारण होने वाले रूपान्तर की ओर ध्यान जाना चाहिए। भाषा की सफाई भी क्रमशः आने लगी किन्तु पाठक की सीमाओं के कारण काव्य विषय अलंकार-विधान उचित-स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं आता। आदि ग्रंथ में आदि नानक के साथ सिक्खों के अन्य गुरुओं की वाणियाँ हैं जिनमें पाँचवें गुरु अर्जुन देव की वाणियों की संख्या सर्वाधिक है और उनमें पंजाबीपन विरल और सामान्य काव्य भाषा का रूप स्पष्ट है। दशम पातिशाही (गुरु गोविन्द सिंह की रचना) विशालकाय ग्रन्थ की समता करती है। साम्प्रदायिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होने और गुरमुखी लिपि लिखित होकर सिक्ख-सम्प्रदाय में सीमित हो जाने के कारण गुरु गोविन्द सिंह की गणना हिन्दी कवियों में न हो सकी। यह सामान्य काव्य-भाषा में है और पंजाबी के केवल दो ही पद इस ग्रन्थ में हैं। पूर्वी प्रान्तों के कवियों ने पूर्वी-परम्परा का ही विकास किया। भाषा का सम्बन्ध धर्म-साधना के साथ हो गया और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य अवधी राम काव्य प्रेम गाथा काव्य और संतों की भाषा संत-काव्य के लिए रूढ़ हो गई।

---

१ हम बड़ कवि कुलीन हम पंडित हम जोगी संन्यासी।
ज्ञानी गुनी सूर हम दाता यहु कहै मति नासी॥ —रै० बा० पद ११ पृ० ११।

२ अबरन को का बरनिये मोपैं लख्या न जाइ।
अपना बाना वाहिया कहि कहि थाके माइ॥
—क० ग्रं० सम्रथाई को अंग १ पृ० १२।

जोगी थके कहि जैन थके ऋषि तापस थाकि रहे बन मातें।
न्यासि थके बनबासी थके पुनि उदासी थके बहु फेर फिरातें।
शेष महाइक और षडानन थाकि रहे मन मैं मुसकातें।
सुन्दर मौन गही सिव साधक कौन कहै उसकी मुख बातें॥ १५॥
—सुं० ग्रं० (२) पृ० ११।

सन्त-काव्य पर अत राज-सभा के काव्यादर्श अथवा काव्यात्मक काव्य की कसौटी से विचार नही किया जा सकता। भाव की प्रामाणिकता ही सन्त का काव्य है, उस अमृत को शक्कर की चासनी अनेक्षित नही। अन्तर की भावना यदि जागरित हो गई, वाणी में उस अमृत की मिठास स्वय आ जाएगी।[1] सन्त के लिए अनुभूति ही प्रधान भी भावना महत्त्वर्ण तथा अभिव्यक्ति की रूप सज्जा और श्रृंगार एव व्यर्थ।[2] सहजमार्गी सन्त अलकरण की प्रवृत्ति को कैसे प्रश्रय दे सकता है? सहज रूप से प्राप्त माध्यम ही उसके महत्त्वपूर्ण है। सन्त का यह माध्यम न केवल कवि के लिए सहज था और न केवल श्रोतृवर्ग के बुद्धि-गम्य और उपयुक्त बल्कि विषय और विचार की अभिव्यक्ति के लिए युक्ति-सगत, सक्षम और उचित भी।

विषय का विस्तार और सीमा

सत-काव्य का सीमा-चेत्र अधिक विस्तृत नही, इन सतो की रचनाओ में आश्चर्यजनक समता भी है। इस काव्य के दो स्पष्ट विभाग हैं सिद्धान्त-निरूपण और आध्यात्मिक अनुभूति एव तज्जन्य आनदातिरेक की अभिव्यक्ति। सिद्धान्त-निरूपण में गुरु-महात्म्य बाह्याचार की व्यर्थता, पाखण्ड-खण्डन, शास्त्रीय ज्ञान का उपहास, व्यावहारिक जीवन में शुद्धाचरण की प्रतिष्ठा, साधारण जीवन में सास्कृतिक चेतना का महत्त्व-स्थापन आदि हैं। अनुभूति के क्षेत्र की सीमाएँ अधिक सकुचित हैं। परम-प्रिय का परिचय, रूप-दर्शन, मिलनोत्कठा, विरह-कातरता और विह्वलता इस चेत्र में आती हैं। परम-तत्व के सम्बन्ध को लौकिक माध्यम से सकेतित करने का प्रयास लक्षित होता है। अपने मत-प्रकाशन के लिए तर्क, वाद-विवाद से अधिक विश्वास की महिमापूर्ण अभिव्यक्ति है। सिद्धान्त-निरूपण की शुष्कता को इन सन्तो के काव्य का निजी स्वरूप मान लिया गया है और परम्परा के अनुसार शुष्कता और काव्य का चिर विरोध ही प्रतिष्ठा पाता आया है। अनुभूति अथवा उसके आनन्द को अभिव्यक्त करने वाले पदो की व्यञ्जना और सिद्धान्त-निरूपित करने वाले पदो के मत-प्रकाशन की पद्धति में अन्तर है और इनके विभेद को लक्षित करने के लिए अधिक प्रयास की अपेक्षा नहीं।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार कबीर के काव्य में खटकनेवाली कई बातें हैं—

(१) एक ही बात को उन्होने कई बार दुहराया है जिससे रोचकता जाती रही है।

(२) उनके ज्ञानीपन की शुष्कता का प्रतिबिम्ब उनकी भाषा पर अक्खड़पन होकर पडा है।

(३) उनकी आधी से अधिक रचना दार्शनिक पद्य मात्र है, जिसको कविता नही कहना चाहिए।

---

१ प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमही, वाणी फूटी वास॥—क० ग्रं०, परचा कौ अग १४, पृ० १३।

२ रचना करी अनेक विधि भलौ बनायौ धाम।
सुन्दर मूरति बाहरी देखत कौनैं काम॥ —सु० ग्र० (२), पृ० ७३८।

(४) उनकी कविता में साहित्यिकता का सर्वथा अभाव है।

(५) न उनकी भाषा परिमार्जित है और न उनके पद्य पिंगल-शास्त्र के नियम के अनुकूल है।[1]

थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ ये आरोप प्रत्येक सन्त-कवि पर किये जाते हैं। इन आरोपों के दो स्तर हैं—विषय-सम्बन्धी और विधान-विषयक। विधान-विषयक प्रश्न पर अन्यत्र विचार किया जा सकेगा यहाँ विषय की सीमा पर विचार अपेक्षित है। सगुण भक्त को भगवान् के स्वरूप-वर्णन की विशेष सुविधा थी। सूर ने मुरली पर ही अनेकानेक पद कहे हैं। सूर और तुलसी के विनय सम्बन्धी पदों में वही पुनरावृत्ति है जो सन्त-काव्य का कलंक समझी जाती है। सन्त के समय रूप-योजना की वह सुविधा नहीं थी और उस परम-प्रिय के रूप को संकेतित मात्र करने का उसे अधिकार था। जग-जीव की जो अनुभूतियाँ उसे प्राप्त थीं उनमें विविधता नहीं थी और न वह रूप ही प्राप्त था जो क्लिष्ट काव्य की रूप-योजना करता है। वर्णनात्मक काव्य से भिन्न विचारात्मक और विचारोत्तेजक तथा अनुभूति-अभिव्यंजक कविता की दृष्टि से ही इन कवियों की रचनाओं पर विचार किया जा सकता है।

नीति-परक रचनाओं उपदेशों दार्शनिक मतवाद के प्रतिपादन और यौगिक क्रियाओं के वर्णन में भी अन्तर है। उपदेशों अथवा मतवाद प्रतिपादन में सीधी बात दो टूक कहने की प्रणाली अपनाई गई है। विषयों को दुहराने का कारण स्पष्ट है। विधि-निषेधात्मक वाक्यों में स्पष्टतया इसलिए अपेक्षित थी कि सन्तों का श्रोतृ-वर्ग भाषा की लपेट को नहीं समझता था और उसकी समझ में सीधी बात ही आ सकती थी। सन्त-कवि वाणी-विलास के लिए रचना करने नहीं बैठता था या तो मन की उमंग और उल्लास के कारण गा उठता था अथवा कार्य करते समय मन की थकान मिटाने और स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए गाता था अथवा प्रतिपक्षी को उत्तर देता था अथवा साधारण लोगों को अपने अनुभव की बातें सुनाता और उपदेश देता था। भिन्न-भिन्न अवसरों पर की गई रचनाओं में अतः अन्तर है। किसी में अन्तर की पीड़ा मिलनोत्कण्ठा और मिलन से प्राप्त होनेवाले सन्तोषमय उल्लास के वर्णन हैं, तो कहीं क्षोभ भरी ललकार और अक्खड़पन है। कहीं शान्तिपूर्ण गम्भीर मुद्रा है और कहीं मतवादी का आवेश। और इतना स्पष्टतया स्वीकार करना पड़ेगा कि कविता का विषय अनुभूति है, भावना है और विचार भी रागात्मक आवेश ग्रहण कर लेते हैं।

अनुभूति और राग

संसार के सम्पर्क से हमारी अनुभूतियाँ जगती हैं। अनुभूतियाँ प्रतिक्रियात्मक हैं। किसी का रूप हमें आकृष्ट करता है, किसी पर रोष भरी खीझ उभरती है। आत्मप्रसार का अवसर हास्य की रेखा खींच जाता है और निराशा हृदय के स्पन्दन को शिथिल कर देती है। संसार का कुत्सित रूप घृणा को जन्म देता है और उसकी मूर्खता कभी क्रोध जगाती है, और कभी हँसी। काव्य में घटनाओं की सत्यता अपेक्षित नहीं उसके लिए अभिप्राय है, भावनाओं

---

1 कबीर ग्रंथावली की भूमिका पृ ९५ ९६।

कीं गहराई और सत्यता। कला का महत्त्व उसकी प्रेपणीयता, सम्वेदनशीलता और सामानुभूति जागरित करने की क्षमता में है। सन्तो के प्रेम पर विस्तारपूर्वक विचार करने का अवसर हमें प्राप्त होगा, किन्तु यहाँ स्पष्टतया स्वीकार करना चाहिए कि प्रेम एवं उसकी अन्तर्दशाओ और अवस्थाओ से सन्त का परिचय है। इस प्रेम के अभाव में जीवन को वह जीवन नहीं समझता। प्रेम की प्राप्ति उसके लिए वह भाव-दशा है जिसमें अपनी सुवुध नहीं रहती, आत्म-विस्मृति हो जाती है। सन्त के अनुसार यह आत्मलयता ही वास्तविक आत्म-प्रतीति और प्राप्ति है। इस अवस्था में द्विधा, सकोच, निराशा, अविश्वास और अनास्था का प्रश्न कहाँ रह जाता है? अनुपम सौन्दर्य की झलक में वह पूर्णता है जिसे वुद्धि-विलास, वौद्धिकता एव तर्क की सीमाएँ स्पर्श नही कर पाती।

इस अनुभूति मे वन्धन नही, सीमा नही, निराशा और व्यथा की तिक्तता नही, सहज विश्वास की अनिर्वचनीयता है, आस्था का दिव्यलोक है। इसमे आवेश है उद्वेग नही, आशा और आस्था है, सन्देह अथवा सशय नही। यह अनुभूति असीम है, वेहद्दी है, सीमा और असीम दोनो के परे है, दोनो से भिन्न है। अगम, अगाध, प्रिय कोई शरीरधारी नही अत. यह मिलन भी पूर्णतया भावात्मक है, शरीर का यहाँ व्यवधान नही। इस मिलन में विरह की आशका नही, विच्छेंद का भय भी नही। सन्त-काव्य भावात्मक मिलन का सोच्छ्वास अभिनन्दन-वन्दन है। इस प्रिय के मिलन-मार्ग की वाधायें अपनी अक्षमता और प्रिय की अ-कृपा है। प्रिय इसीलिए रूठ जाता है कि उसे पाने की चेष्टा नही होती किन्तु वह रूठा रह ही कैसे सकता है? सूर की गोपियाँ गोकुल से मथुरा नही जाती। लोक-लाज की वाधा, समाज-परिवार का वन्धन वे तोड सकी थी फिर प्रिय-मिलन के लिए उनका मथुरा नही जाना आन्तरिक बाधा का सूचक है। कृष्ण साधारण गोप से राजा बन चुके हैं, वारी-भोरी अहीरनें क्या राजा के प्रेम की उपयुक्त पत्नियाँ हो सकती हैं? कुब्जा की कल्पना इस आन्तरिक वाधा को और प्रगाढ़ बना देती है। सन्त एक ओर निश्शकता की चर्चा करता है— निश्शकता इसलिए अपेच्चित है। आत्म-भाव का विलयन भय का कारण उपस्थित करता है और दूसरी ओर आन्तरिक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर अपेक्षित दृढता की आवश्यकता अनिवार्य मानता है। यह प्रिय आँखो के ओझल जा नहीं सकता अत प्रिय का वियोग व्यथापूर्ण होकर भी दारुण नही। मिलन इतना प्रगाढ़ और गभीर है कि इसका कभी अन्त नही हो सकता, अद्वैतता की चरमसिद्धि इसी प्रकार एक में एक हो जाने में है। हृदय का सहज सौकुमार्य, आस्थापूर्ण निस्सकोचता, सलज्ज मिलनेच्छा, उत्कठा की मधुर कोमलता, पीडा की मार्मिकता, उत्साह का सहज स्पर्श और प्रेमोन्माद की उन्मुक्तावस्था सन्त-कवि की अनुभूति के सहज रूप हैं। शका, चिन्ता, ग्लानि, विषाद सभी इस प्रिय सम्बन्ध के कारण हैं किन्तु ये वास्तविक नहीं, वास्तविक है मिलन की अखण्डता और अद्वैतता।[1] इस रस की

---

१ (क) राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कवीर पीवण दुलभ है, माँगे सीस कलाल॥
—क० ग्रं०, रस को अग २, पृष्ठ १६।

एक घूटकी भी मली[1] जिसने यह रस पी लिया उसे और सभी फीके लाग पड़े अन्य रसों से उसकी प्यास न जा सकेगी। संत-काव्य में उच्छ्वासित भावावेग की बरसाती नदी की वेगवती खर-धारा नहीं शरत्कालीन गंगा का स्निग्ध सरल निस्तब्ध और संयमित प्रवाह है।

रस

भारतीय साहित्य-शास्त्र में रस की व्यापकता सिद्ध है और रसात्मकता ही काव्य की कसौटी मानी गई है। यह तो निर्विवाद है कि रस की विवेचना नाटकों को दृष्टि में रखकर हुई थी और पीछे चलकर श्रव्य काव्य के मानदण्ड के रूप में इसे स्वीकृति मिली। आनन्द की उत्कट कल्पना दर्शन का ध्रुव जीवन का सुख और साहित्य का रस है। मानव-जगत् में आनंद भावना की प्रतिष्ठा है। आनन्द ऐन्द्रिय भावात्मक और बौद्धिक होता है। भावना के क्षेत्र में व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण सुखात्मक-दुःखात्मक भाव जगते हैं। वैयक्तिक सम्बन्ध से मुक्त होकर भावना का स्वरूप सुखात्मक हो जाता है। भक्ति के प्रतिपादन में रागात्मक संन्यास नहीं बल्कि उसमें रागात्मिका वृत्ति का बोध है। रस-शास्त्र में भी रागात्मक सन्यास नहीं बल्कि व्यक्तिगत सम्बन्ध की संकुचित सीमा से अपेक्षित है। साहित्य-शास्त्र चिन्ता अभ्यास और संस्कार के द्वारा आत्म-प्रसार की वह स्थिति स्वीकार करता है जिसमें अपने-पराये की भावना अवशिष्ट नहीं रह जाती। यही रस का ब्रह्मानंद सहोदरत्व है। आनन्द का मूल है आत्म भाव का प्रसार, अतः आत्म-चैतन्य की प्राण-धारा ही काव्य की रस-धारा है। आत्म-भाव के प्रसार का अर्थ है अपनी भावना विचार और अनुभूति को सबका बनाना अर्थात् सामान्य और सर्व-सुलभ करना जिसे साहित्य-शास्त्र में साधारणीकरण की संज्ञा प्राप्त है। इस अवस्था में कवि अपने आप को उस भूमिका में देखता है जिसमें व्यक्ति निरपेक्ष विच्छिन्न और अकेला नहीं रह जाता बल्कि वह अनेक के बीच 'एक' है और 'एक' में अनेक भी। अनेक के साथ अविच्छिन्न एकत्व दृश्यमान भेद के अभेदत्व और नानात्व की एकसूत्रात्मकता ही रसत्व की परिपूर्ण कल्पना है। भरतसूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की अभिनव गुप्त की अभिव्यक्तिवादी मीमांसा उसकी ओर संकेत करती है। रस का नानात्व और प्रकट भिन्नत्व काव्यत्व अथवा रस नहीं इसके अन्तर्भूत व्यंजनागम्य चामत्कारिक आनन्द ही रस है। अकेला एक व्यक्ति समाज नहीं। एक वृक्ष वन नहीं जल की एक बूँद समुद्र नहीं। व्यक्तियों का मात्र समूह भी समाज नहीं वृक्षों की राशि भी वन नहीं। समूह और राशि में अन्तर्भूत 'एकत्व' की भावना ही सृष्टि विधान करती है। अनेक एक के एकसूत्र मिलन में समाज की स्थिति है और अलग-अलग हो जाने पर 'एक' एक तो रहता है किन्तु अनेकत्व का एकत्व नष्ट हो जाता है तथा एकत्व अनेकत्व में बिखर जाता है इस अविच्छिन्न भाव के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित करता

(ख) रस ही में रस रह्या है धारा कोटि अनंत।
तहँ मन निश्चल राखिए, दादू सदा बसंत॥ ११२॥
—दादू बानी (१) पृष्ठ ५१।

1. चंदन की कुटकी भली ना बंबुर की अबरांउं।
—क० ग्रं० साध महिमा को अंग २ पृष्ठ ५१।

ही जीवन की रस-धारा और इसका एकमात्र साधन है। इस अन्तर्भूत एकत्व की अनुभूति—केवल वाचिक नही।

सन्त-काव्य में इस आनन्द की उपलब्धि और सज्जन्य आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है जिसमें अविच्छिन्न सत्य के सौन्दर्यपूर्ण आलोक के दर्शन होते हैं। सत-कवि जीवन की आशा-आकाक्षा, हास-अश्रु, आनन्द-उल्लास को व्यक्ति की सकुचित सीमा में आवद्ध नही देख, सम्पूर्ण एकता में निहित देखता है। उसका आनन्द अथवा विह्वलता विच्छिन्न 'एक' की नही वल्कि उसमें अविच्छिन्न एकत्व के उल्लास-उच्छ्वास है। यह आनन्द हमें उस भाव-भूमि पर पहुँचाता है अथवा उस भाव-भूमि पर यह आनन्द प्राप्त होता है जो शुक्लजी के अनुसार "व्यक्तिगत सम्बन्ध के सकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर" ले जाता है। "रसो वै स रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति" की पूरी व्याख्या यहाँ हो जाती है। शृगार को रसराज इसलिए कहा जाता है कि आत्म-प्रसार की जितनी सम्भावना इसमें है, उतनी किसी अन्य रस में नही। सयोग शृगार में आत्यन्तिक सन्निकटता और सान्निध्य का भाव रहता है और विप्रलभ शृगार में आकाक्षा, उत्कण्ठा, आतुरता के कारण भावात्मक ऐक्य का। प्रिय अपने से भिन्न होकर भी अभिन्न है। 'आत्म' अभिन्न होकर भी भिन्नता का सूचक है। प्रिय के व्यक्तिगत में आत्म-भाव का प्रक्षेपण ही प्रेम को व्यापकता, गाम्भीर्य और गति देता है। करुण की व्यापकता में भी सहानुभूति और समानुभूति की व्यापकता है जो आत्म-प्रसार के मार्ग की वाधा के कारण है और जिसके आधार पर व्यापक करुणा का उद्भव और विकास सम्भव होता है।

काव्य में रस नही होता, रसोद्रेक की क्षमता होती है। काव्य की रसात्मकता का अत अर्थ है, पाठक को उस भाव-स्थिति में पहुँचाना जहाँ रागात्मक अनुभूति व्यक्तिगत भावना की सकुचित सीमा का त्याग कर सहज आनन्द का उन्मेष करती और उपलब्धि कराती है एव इसकी व्यापकता का अर्थ है तन्मय और तल्लीन कर सकने की क्षमता। 'रस' मानसिक है, आध्यात्मिक है, साधन और माध्यम चाहे स्थूल क्यो न हो। सगुण भक्त भगवान् के आनन्दतत्त्व का विकीर्ण रूप ही मानवीय आनन्द का उद्गम मानता है। लीलाधाम की लीला 'एक' के अनेक होने की कथा है और सृष्टि के सार-तत्त्व रूपी आध्यात्मिक 'एकता' के दर्शन 'अनेक' की एकत्व-चेतना है। सूर की 'अनेक' गोपियाँ 'एक' कृष्ण के लिए व्याकुल व्यग्र है और सन्त तेज-पुञ्ज के 'एक' कत के साथ चिर-सयोग का इच्छुक है। यह आध्यात्मिक आनन्दात्मक रस सन्त-काव्य में सघन हो उठा है।

साहित्य-शास्त्र में रसो की सख्या नव मानी गई है। वात्यसल्य और भक्ति की गणना पीछे चलकर रसो में हुई। भरत ने शृगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर अद्भुत तथा वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति मानी है।[1] नाटको के लिए शान्त उपयुक्त नही माना गया था। आनन्द-प्राप्ति के साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, अनुभूत आनन्द में मात्रा-भेद हो सकता है,

---

१ शृगाराद्धि भवेद्धास्य रौद्राच्च करुणो रस।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति वीभत्साच्च भयानक ॥—नाट्यशास्त्र।

प्रकार-भेद नहीं आनन्द की यह माया जो वैराग्य को आंशिकरूपा भी अभिभूत न कर के आनन्द संज्ञा की अधिकारिणी नहीं। वस्तुत रस एक है, पूर्णता ही रस है।[१]

आध्यात्मिक शृंगार

सन्त-काव्य का मुख्य रस है आध्यात्मिक शृंगार। लौकिक दृष्टि से निर्वेद शृंगार भी सहकारी है। दृश्यमान् जगत् और उसकी माध्यिकता के प्रति निर्वेद उस आध्यात्मिक रस की ओर उन्मुख करता है। करुण के लिए इस काव्य में स्थान नहीं कारण संसार विनाशमान है, इसके विनष्ट होने में शोक क्यों? और उस परम-तत्व (परम प्रिय) का कभी विनाश होगा ही नहीं। सन्त ने जगत् का रहस्य जान लिया है, अत कुछ विस्मयकारक नहीं आश्चर्यजनक नहीं। वीरता की अपेक्षा है किन्तु वह वीरता आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त है, अत यह वीर रस नहीं वीरत्व-प्रदर्शन है, शृंगार का साधन है। उस परम ज्योति का प्रकाश ही जगत् में बिकीर्ण है, फिर कोई ऐसी वस्तु कहाँ रह जाती है जिससे घृणा की भाव भी जा सके अत वीभत्स और कुत्सित कुछ भी नहीं। यदि कहीं कुछ बुराई है, खोट है तो अपने अंतर में आवेश है तो इस खोट को दूर करने के लिए आक्रोश है तो जगत् की इस बुराई के प्रति हो। यह बुराई आध्यात्मिक शृंगार की उपलब्धि में बाधा पहुँचाती है अत यह आक्रोश यह खीझ भरी झुंझलाहट उत्साह और जुगुप्सा संचारी के रूप में आए हैं इन्हें रसत्व की संज्ञा नहीं मिल सकती। संसारी जीवों की माया-ममता पर व्यंग्यमय और कटाक्ष है और उनकी करुण विवशता पर करुणा के व्यापक भाव भी।

सामान्य दृष्टि से देखने पर शान्त-रस-परक शब्दों का बाहुल्य सन्त-काव्य में है जिनमें संसार की क्षणभंगुरता माया की मायिकता द्वारा अज्ञान के बन्धन वैराग्य आदि का विवृतिपूर्ण कथन है। संसार से तिरस्कारपूर्ण निर्वेद और तत्व-ज्ञानमूलक वैराग्य है। सांसारिक क्षणभंगुरता आलंबन है, सज्जनों का सत्संग गुरु-उपदेश वन आदि उद्दीपन है। शम या निर्वेद स्थायी भाव है और धृति मति उद्वेग ग्लानि दैन्य जड़ता आदि संचारी। वस्तुत भी आध्यात्मिक शृंगार का संचारी है, स्वतन्त्र रस नहीं।

आध्यात्मिक संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति इस काव्य में विशेष रूप से दर्शनीय है—

> बाज दिन के मैं जाऊँ बलिहारी।
> पीतम साहेब आये मेरे पहुना घर आँगन लगे सुहौना॥
> सब प्यास लगै मंगल गायन भवै भवन सखि छबि मन भावन॥
> चरन पखारूँ बदन निहारूँ तन-मन-धन सब साईं पै वारूँ॥
> जा दिन पाये पिया धन सोई होत अनंद परम सुख होई॥[२]

प्रीतम के घर आने में पारस्परिक रति का संस्कार है। प्रियतम के प्रति प्यारी में परम और दृढ़ अनुरक्ति तो है ही प्रिय में भी अनुराग की तीव्रता है। प्रियतम के घर आने

---

१ पूरे की पूरी दृष्टि पूरा करि देखै। —क ग्रं पद १८१ पृ १४९।
२ कबीर, पृ २६६।

मे करुणा हो सकती है। प्रेम का सद्भाव हो सकता है अथवा हो सकती है समानुभूति। यहाँ समानुभूति का तत्त्व है। प्रिय के आने से अशोभन लगनेवाला आँगन अपूर्व शोभाशाली लगने लगा, अभिलाषाएँ सजग हो उठी, अभिशप्त जीवन वरदान बन गया। इस उल्लास से सारी आशाएँ उल्लसित है। प्रिय के अपरूप रूप के दर्शन से आँखें अघाती नहीं, अपूर्व तन्मयता है और वेसुधपन। प्रिय का सयोग ऐसा परम आनदमय है कि आनन्द की एक मात्र चेतना ही अवशिष्ट रह गई। इस पारस्परिक अनुरक्ति में एकात्मभाव है, आत्म-भाव का चैतन्य-प्रसार। साहित्य शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रिया की ओर से अधिक चेष्टा होने के कारण नायिकाश्रित सभोग शृगार है। विप्रलभ शृगार के चित्र वहुलता से इस साहित्य में प्राप्त है।

सन्त-काव्य ने इस मनोवैज्ञानिक स्थिति को स्वीकार कर लिया है कि रति-भावना की प्रसारात्मकता और वाधता के कारण ही विभिन्न भावो की स्थिति है। ऐसे तो मनोवैज्ञानिको में इस सम्बन्ध मे मत-भेद है किन्तु मनस्तत्त्व-विश्लेपण शास्त्र ने इसे प्रतिष्ठित-सा कर दिया है। सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य इस तथ्य को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे स्वीकार करता है। जगत् जब भगवत्लीला है तो यहाँ की भावनाओ का मूल-स्रोत तो वही हो सकता है। सन्त, अत आध्यात्मिक शृंगार को ही एक 'रस' मानता है, वही महारस है और एकात रूप में आस्वाद्य।[1] सन्त के अनुसार रति की अन्य अवस्थाएँ उस आध्यात्मिक रति का प्रकाशित रूप है किन्तु तात्त्विक नही। अत इस प्रकाशित स्वरूप की वास्तविकता से परिचित होकर वास्तविक रति की उन्मुखता प्राप्त हो सकती है। वह प्रिय आत्मस्थ और अलक्ष्य है, अत उद्दीपन के रूप में विपयगत उद्दीपन और प्रिय की चेष्टाओ का वर्णन अत्यन्त अल्प है। वहिर्गत आलम्बन नही वल्कि वहिर्गत आलम्वनो की वास्तविकता का परिचय इस आध्यात्मिक रति का उद्‌वोधन कराता है। शम अत स्थायी नही सचारी है। निर्वेद और शम में तात्विक अन्तर है। सत-साहित्य मे निर्वेद से शम की व्याप्ति अधिक है। दारिद्रय, ईर्ष्या, अपमान, आपत्ति, व्याधि, इष्ट वियोग, तत्त्वज्ञान आदि के कारण अपनी अवमानता करना अथवा धिक्कारने का नाम निर्वेद है। निर्वेद के सचारी और स्थायी रूपो मे अन्तर माना गया है और परमार्थ-चिन्तन और सासारिक विपयो की असारता के तत्त्व ज्ञान द्वारा उद्‌वुद्ध निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव। 'शम' वह अवस्था है जिसमें राग-द्वेष का निराकरण हो जाता है। सासारिक विपयो के प्रति विराग से अधिक 'शम' भाव का उद्‌बोधन सत-साहित्य में परिलक्षित होता है और यह 'शम' भाव आध्यात्मिक शृगार की ओर उन्मुख कराने वाला है अत इसका उपयोग दो रूपो में हुआ है—सचारी रूप में और उद्दीपन रूप में। 'शम' के इस उद्दीपन रूप की ओर ध्यान नही देने के कारण इस साहित्य को "निवृत्ति मूलक" मानने की प्रथा-सी चल पडी है।

सचारियो पर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो इनकी कई कोटियाँ दीख पड़ेंगी—मन के वेग, अन्त करण-वृत्तियाँ, मानसिक अवस्था और शारीरिक अवस्था। इन

---

१ कहु कबीर कहु काइ करीजै।
सब बसु छाडि महारसु पीजै॥ —स० क०, रागु गउडी ५, पृ० ७।

सचारियों—अन्त करण की वृत्तियों और मानसिक अवस्थाओं का चित्रण ही अधिक हुआ है। विरहानुभूति की शारीरिक अवस्था का जितना सघन भक्ति-साहित्य में चित्रण हुआ है, उतना सत-साहित्य में नहीं। प्रिय-स्वरूप और जगत् के सम्बन्धों की सीमा के कारण संचारियों के चित्रण में अन्तर आ गया है किन्तु तात्त्विक अन्तर नहीं। मानसिक अवस्थाओं के सूचक सचारियों म सम (निर्वेद) ग्लानि असन्तोष ही प्रमुख है और शंका स्मृति आशा (कभी कभी निराशा) और चिन्ता। शंका का शंकाहीन-स्वरूप भी संत-साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है। मद को शुक्लजी ने मानसिक अवस्था मानी है[1] किन्तु मराठी रस विमर्श इसे शारीरिक अवस्था मानता है।[2] किन्तु इसे मिश्रित मानना चाहिए। बेहोशी और आलस्य का विषय शारीरिक और मानसिक दोनों अवस्थाओं का सूचक है। ऐसे तो प्रत्येक मानसिक अवस्था का शारीरिक स्थिति, पर प्रभाव पड़ता है किन्तु मद, की क्रम-रूपात्मकता स्पष्ट और प्रत्यक्ष है। 'मद' की अभिव्यक्ति सत-साहित्य में प्रचुर है और जिसमें क्रम-अपारमकता की विविधता सुरक्षित दैन्य की वह व्याप्ति इस साहित्य में नहीं जो सगुण भक्तों की विशेषता है, इष्टदेव के महत्त्वानुभव से उस साहित्य में 'दैन्य' प्रेरित है। यहाँ प्रियतम और प्रेमी का, अभेदकरण इष्ट के महत्त्व को इस सीमा तक नहीं पहुँचाता। धृति के दो रूप हैं—बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित होने पर भी अचचल धृति रहना (इसे धैर्य कहा जायगा) और तत्त्व-ज्ञान—इष्ट-प्राप्ति के कारण संतोष अथवा तुष्टि (साहित्यदर्पणकार संतोष अथवा तुष्टि को ही धृति कहता है)। शुक्लजी तत्त्व-ज्ञान द्वारा प्राप्त संतोष का संचारियों में नहीं मानते।[3] सन्तोष और आनन्द की अवस्थाओं में अन्तर है। सत तत्त्व-ज्ञान द्वारा सतोष की प्राप्ति का इच्छुक नहीं। तत्त्व ज्ञान तो प्रिय-प्राप्ति का, उससे परिचय प्राप्त करने का साधन है। प्रिय प्राप्ति से सन्तोष नहीं परन् आनन्द की प्राप्ति वह मानता है अत तत्त्वज्ञान-जन्य धृति का संचारी रूप संत-साहित्य में नहीं आया तब सांसारिक बाधाओं की उपस्थिति में भी अविचल रहना और निश्शंकता उसमें पूर्णतया अभिव्यक्त है। मानसिक चपलता और तज्जन्य शारीरिक क्रिया-कलापों की चंचलता इस साहित्य में है किन्तु चपलता संत की दृष्टि में वांछनीय नहीं ऐसी अवस्था में इसे चपलता नहीं कहा जा सकता है, वस्तुत इसकी 'चपलता संज्ञा उपयुक्त भी नहीं। इनकी अभिव्यक्ति म मानसिक उद्वेग के स्वाभ स्पष्ट है। गर्व तो सत में है किन्तु इस गर्व की विशेषता बाह्याचार और दंभ पाखण्ड और पांडित्याभिमान की ललकार में है। विषाद की करुण और मार्मिक व्यंजना इस साहित्य म होती है।

ग्लानि

परिश्रम भूख प्यास आदि से उत्पन्न दौर्बल्य को ग्लानि माना गया है।[4] शुक्लजी क अनुसार भाव क श्रम के कारण या मानसिक दौर्बल्य (किसी काम को और उत्साहित न होना) ग्लानि है और किसी बात से ऊब जाना भी।[5] ग्लानि का सम्बन्ध अपनी हीनता

---

१ रस-मीमांसा पृ २१।
२ काव्य-दर्पण पृ ११ पर उद्धृत।
३ रस-मीमांसा पृ २२०।
४ साहित्य दर्पण ३-१७।
५ रस-मीमांसा पृ २२।

के बोध से भी है। अपने अनुचित कर्म के कारण ग्लानि उत्पन्न होती है, इस अवस्था मे मानसिक शैथिल्य नही बल्कि आवेग होता है। अनुताप-पश्चात्ताप से ले कर उद्वेगपूर्ण मानसिक स्थिति और झुँझलाहट तक की व्यजना इसमे होती है। सत-साहित्य मे दर्पणकार अथवा शुक्लजी की 'ग्लानि' मे अधिक आत्म-सम्बन्ध से उत्पन्न ग्लानि की सभी स्थितियो की अभिव्यक्ति हुई है। जीवन के सद्रूप से अन्यथा गति के कारण इस ग्लानि मे अधिक वेग अभिव्यक्त हुआ है—

मन थिर न रहै न घर ह्वै मेरा, इन मन घर जारे बहुतेरा।
घर तजि बन बाहिर कियाँ बास, घर बन देखौं दोऊ निरास।
जहाँ जाँउँ तहाँ सोग सताप, जुरा मरण को अधिक बियाप॥[1]

के सामान्य रूप से तीव्रतापूर्ण आवेश की दशा अभिव्यक्त है—

जहाँ आइ तोरी सुधि बुधि बिसरी, आनि फँसे पर देसा।
जौन देस से आये हसा, कबहुँ न कीन्ह अदेसा॥
आइ पर्‌यौ तुम मोह फद मे, काल गह्यौ तेरो केसा।
का कहि आयौ काह करतु हौ, कहुँ भूले परदेसा॥[2]

शंका

शका अन्त करण वृत्ति है और इष्ट हानि एव अनिष्ट का अदेशा इसके अन्तर्गत आते है। शका के दो स्वरूप हैं—धारणात्मक और भावात्मक। यद्यपि दोनो की सीमाएँ सदा स्पष्ट नही रहती। शका के दोनो स्वरूपो की अभिव्यक्ति सत-साहित्य मे हुई। धारणात्मक शका की अभिव्यक्ति मे काव्यत्व से अधिक सिद्धान्त-मोह रहा। धारणात्मक शका के रूप में अन्य साधन-मार्ग की उपयुक्तता और सिद्धहेतुत्व एव सासारिकता की वास्तविकता में सदेह की चर्चा है। शका का एक और स्वरूप सत-साहित्य में हुआ है और वह है अपनी क्षमता में शका। इस शका के कारण निराशा अथवा उदासीनता का जन्म नही होता बल्कि आवेश का जागरण होता है। इस स्थल पर शका भय का वितर्क प्रधान रूप नही बल्कि वितर्क का भावात्मक स्वरूप है, जिसमे अनुमान बोध-पक्षीय मात्र नही रह जाता। वितर्क में बुद्धि-पक्ष का प्राधान्य है और शका में भावात्मक पक्ष का। अपनी अक्षमता का बोध अनुभूति-गत ही अधिक है, धारणात्मक और बौद्धिक मात्र नही। अपने सम्बन्ध में दूसरो के क्या भाव हैं अथवा दूसरे हमारे भावो को किस रूप में ग्रहण करेंगे इसमे भी चिन्ता मिश्रित शका है।[3] इसे इष्ट वस्तु की अप्राप्ति से उत्पन्न चिन्ता से भिन्न समझना चाहिए। अपनी अक्षमता अथवा अपूर्णता के ध्यान से कुठा का मिश्रण भी हो जाता है।

निश्शंकता

शका का अभावात्मक स्वरूप ही निश्शकता नही। अनुचित के सम्बन्ध से ही लज्जा और सकोच है। निश्शकता और सकोचहीनता में अन्तर है। सकोचहीनता में स्वाभाविकता

---

१ क० ग्र० पद ७९, पृ० ११३। २ शब्दावली, पृ० ४५।

३ कैसें होइगा मिलावा हरि सना। रे तू बिषै बिकार न तजिमनाँ॥
रे तैं जोग जुगाति जान्या नही। तैं गुर का सबद मान्याँ नहीं॥
—क० ग्र०, पद २९, पृ० ९७।

के त्याग का आभास मिलता है और निश्शंकता में अपेक्षित और इष्ट की प्राप्ति में व्यवधान उपस्थित करनेवाली सब रीतियों के त्याग का आदेश है। शंकाजन्य संकोच द्विधा और दुविधा का कारण है। सन्त-काव्य इस संकोचजन्य स्थिति को स्वीकार नहीं कर उस निश्शंकता की अभिव्यक्ति करता है जिसमें आत्म-विश्वास की दृढ़ता है द्विधाहीन और आस्थापूर्ण।[1] वैष्णवीय परकीया प्रेम में इसके जिस रूप की अभिव्यक्ति हुई है वह संकोचहीनता है। वैष्णव मान मर्यादावादी है, संकोचहीनता मर्यादा का त्याग है। सहजिया वैष्णव-प्रेम उन्व की निरङ्कुशता को वैष्णवीय मर्यादा के साथ समोचित कर देता है। स्मृति को साधारण स्मरण से भिन्न समझना चाहिए। स्मरण-शक्ति द्वारा नियोजित रूप-चर्चा से भी इसकी भिन्नता है। स्मरण में जो बोधात्मकता है उसका भावात्मक रूप स्मृति में उपलब्ध होगा। शृंगार अथवा सगुण भक्ति के स्मृति-पक्ष से इसमें भिन्नता है सन्तों की स्मृति में बोधात्मक भावात्मकता है। स्मृति में सादृश्य वस्तु के दर्शन तथा चिन्तन से पूर्वानुभूत विषयों एवं तज्जन्य सुख-दुःख की अनुभूति होती है। सन्त-साहित्य अनुभूति की पूर्णता मानता है और उस महारस की पूर्णता के अतिरिक्त और कोई रस नहीं मानता ऐसी स्थिति में जगत्-व्यापारों की अवास्तविकता के ध्यान से आत्म-स्वरूपात्मक सत्य की स्मृति को उसकी प्राप्ति का साधन मानता है। यह स्मृति अत: बोधात्मक और भावात्मक है। स्मृति के पूर्ण बोधात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति चेतावनी और उपदेश में हुई। स्मृति के इस स्वरूप को वह 'परिचय' कहता है, कारण 'परिचय' द्वारा 'परम प्रिय' के रूप और आत्म-स्वरूप की स्मृति जगती है।[2]

सन्तों ने शारीरिक अवस्थाओं से अधिक चित्त-वृत्ति और मानसिक अवस्था के सूचक संचारियों को लिया है और इन्हें अपने भावात्मक आवेग और चिन्ता-धारा के अनुरूप बनाया है। संतों ने प्रबंधों की रचना नहीं की है, उनके पद गेय काव्य और गीत हैं अत: रसोद्बोधन का वह स्वरूप प्राप्त नहीं होगा जो प्रबन्ध काव्य में सम्भव है। रामचरित-मानस की कसौटी इस काव्य का मापदण्ड नहीं बन सकती। सूर के गीतों और विनयपत्रिका के पदों का मापदण्ड अवश्य उपयुक्त होगा। गीतों की रसात्मकता अवयवों के पूर्ण विधान में नहीं बल्कि उनके संकेत में है। सूर-काव्य कथा-प्रसंग को लेकर चलता है, इसलिए जो तारतम्य वहाँ है, उसके दर्शन संत-काव्य में नहीं होंगे। आध्यात्मिक रस की भिन्नता

---

१ (क) होइ निसंक मगन ह्वै नाचो लोभ मोह भ्रम छाड़ी।
सूरे कहा मरन थैं डरपै सती न संचै भांड़ी॥
—क ग्रं पद १११ पृ १३१

(ख) भावना नाचु तौ खोलि घूँघट कहूँ खोलि कै नाचु संसार देखै।
खसम रिझाव तो ओट को छाड़ि दै मर्म संसार को दूरि फेंकै।
लाज किसकी करै खसम से काम है नाचु भरि पेट फिर कौन छेंकै।
दास पल्टू कहै तुही सोहागिनी सीस सुख सेज तू खसम एकै॥
—प सा बा (२) पृ २७।

२ नरकै राम रमै जो कोई। या रस परसे दुविध न होई।
—रैदास बा रामकली १ पृ २।

मानसिक शोध के कारण भी है। भगवद्‌विषयक रति की भावावस्था से इसकी भिन्न स्थिति है, क्योकि इसमें परिपूर्णता और उस मानसिक स्थिति का द्योतन है जिसमें आत्मैक्य प्रतीति की अनुभूति आस्वाद्य हो जाती है।

शैली

रीति और गुण का सम्बन्ध शैली से है। शैली की व्युत्पत्ति शील से है, अत शैली पर कवि के शील अथवा व्यक्तित्व की गहरी छाप रहती है। काव्य में रीति का महत्त्व प्रतिष्ठित है। रीति का सम्बन्ध काव्य-विषय और विधान के साथ है। मम्मट के लिए अलकरणहीन काव्य की कल्पना सभव है, किन्तु गुणहीन की नही। रीति का तात्पर्य शब्द योजना की विशिष्ट प्रणाली है। सत-साहित्य में विषय-सबधी विविधता नही, ऐसा लक्षित किया जा चुका है। व्यक्तित्व के स्वरूप की गहरी छाप सत-काव्य में लक्षित होती है। अक्खडपन, निर्द्वन्द्विता और खीझभरी ललकार कबीर की शैली की निजी विशेषताएँ हैं, उसी प्रकार भावात्मक औदार्य और माधुर्य दादू की रचनाओ में है। नानक की शैली में जीवन की चिन्ता प्रधान, रचनाओ का सहज उन्मेष है। इस प्रकार सत-काव्य में रीति का सम्बन्ध विषय अथवा रस से न होकर कवि के व्यक्तित्व के साथ है। वेदर्भी, गौड़ी, पाचाली और लाटी की कसौटियाँ इनके लिए उपयुक्त नही। गौडीय परम्परा के विकास-रूप सत-काव्य में रीति के गौडीय मार्ग का अनुसरण नही, जिसमें अलकारो की झकार, अक्षरो का आडम्बर तथा बन्ध की गाढता आकर्षण के कारण थे। आनन्दवर्धन के वक्तृ-औचित्य, वाच्यौचित्य, विषयौचित्य और रसौचित्य में वक्तृ औचित्य और वाच्यौचित्य का व्यापक रूप से परिपालन हुआ है। कबीर का द्विविध व्यक्तित्व-आडबरो का तीव्रतम विरोध और व्यापक करुणार्द्रता अपनी अद्‌भुत क्षमता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। विषय की व्यापकता के अनुसार वाह्याचार-खण्डन की गौणता से तीक्ष्णता क्रमश. कम होती गई और वैयक्तिक अन्तर की अभिव्यक्ति होती रही।

गुणो में प्रसाद-गुण का महत्व साधारण पाठको की दृष्टि में अधिक है, किन्तु काव्यात्मक रस की व्यञ्जना और इसका सहृदय हृदयसवेद्य होना प्रसाद गुण के महत्त्व को अधिकाश में महत्त्वहीन कर देता है। प्रसाद-गुण का सम्बन्ध अर्थ ग्रहण की तात्कालिक क्षमता से माना गया है किन्तु इसका सम्बन्ध सहज अभिव्यक्ति से है। आधुनिक पाठक को सत-काव्य प्रसाद-गुण समन्वित नही जान पडता। तुलसी का रामचरितमानस अत्यन्त लोक-प्रिय ग्रथ है, इसमें भी कथा-प्रसग में ही प्रसादात्मकता है, सिद्धात-निरूपण और काव्यात्मक चातुर्य के समय तुलसीदास भी प्रसाद-गुण का महत्त्व स्मरण नहीं रख पाते। सत-काव्य की परम्परा से विच्छिन्न, उसकी शैली और मर्म कथा से अपरिचित रहने के कारण वह साहित्य दुरूह दीख पडता है। साम्प्रदायिक टीकाकारो और उसमें निगूढ तत्त्व ढूँढने के प्रयास के कारण कम दुरूहता नही आई है। सतों की सहजाभिव्यक्ति में सहज के स्थान में दुरूहता की प्रतिष्ठा होती रही है।

माधुर्य और ओज के द्वारा रस-भावना स्पष्ट होती है, इसका अर्थ कदापि नही कि नाद-मात्र से रस अभिव्यक्त हो सकेगा। सत-काव्य में आध्यात्मिक रस ही सघन हो उठा

है, अतः उसमें माधुर्य का सहज ही समावेश हो गया और ओज की क्षीणता। जयदेव और विद्यापति की कोमल कान्त पदावली का माधुर्य यहाँ नहीं। इस काव्य की शैली का महत्त्व इसके निराडम्बरपन में है। भाव-सौन्दर्य में इस काव्य का महत्त्व नहीं। इसकी शैली में बनाव शृंगार काट-छाँट नहीं स्वाभाविकता का अबाध प्रवाह है। पहाड़ी झरने के अकृत्रिम सौन्दर्य की तुलना फौवारे से नहीं की जा सकती। दोनों से आनन्द प्राप्त कर सकने की क्षमता सभी में नहीं हो सकती। इस माधुर्य में कोमलता है और सुकुमारता किन्तु यह सुकुमारता बाह्य प्रसाधनों की अपेक्षा नहीं रखती।[1]

भाषा

भाषा पर दो दृष्टियों से विचार किया जाना चाहिए—अन्तरंग और बहिरंग। यह सत्य है कि माध्यम भावों की सीमा बन कर आता है किन्तु इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भाषा की क्षमता भावना अनुभूति और विचार की सक्षम अभिव्यक्ति में है। भाषा सामाजिक होते हुए वैयक्तिक साधन है। विषय के अनुरूप और व्यक्तित्व की छाप के कारण भाषा में अन्तर आता है। जिसकी शैली संज्ञा है। पद्मावत और रामचरितमानस दोनों की भाषा अवधी है, किन्तु दोनों का अन्तर देखने के लिए अधिक प्रयास की अपेक्षा नहीं। कवि की क्षमता भाषा की सीमा और नियन्त्रण का अतिक्रमण कर उसे अपनी अपनी अनुरूपता देने मे है। भाषा की सफलता अतः उसके बनाव-शृंगार में नहीं होकर भावानुरूप और अर्थाभिव्यक्ति की क्षमता में है। सन्त काव्य की भाषा की यही विशेषता रही है, स्थल विशेष पर उलटबाँसियों और कूट-कथनों का आश्रय अवश्य लिया गया है किन्तु अन्यत्र ऋजुता है। यह अकृत्रिम ऋजुता नानक की भाषा में स्पष्टतया परिलक्षित है। सभी सन्तों की भाषा एक नहीं कबीर की भाषा से नानक की भाषा भिन्न है और इन दोनों की भाषा से दादू की भिन्न। राजस्थानी दरिया और भोजपुरी दरिया में अन्तर है तो आदिगुरु नानक से पंचम और दशम गुरुओं की भाषा भिन्न है।[2]

---

१ (क) मन सत साजे कामनी तन मन रही संजोइ।
पिव कै मन भावै नहीं पटम कीयें क्या होइ ॥ २३ ॥—क ग्रं पृ ४०।

(ख) प्रेम प्रीत सनेह बिन सब झूठे सिंगार।
दादू आतम रत नहीं क्यूं मानै भरतार।—दा बा (१) पृ १९५।

(ग) हिरदै मैं तो कुटिल है बोलै बचन रसाल।
पल्टू वह केहि काम का ज्यों माखन फल लाल।—सं बा सं (१) पृ २२२।

२ गुरि वडा आखै सभुकोइ केवडु वडा डीठा होई।
कीमति पाई न कहिआ जाइ कहणै वाले तेरे रहे समाई ॥
—गुरु नानक आ ग्रं महला १ रागु आसा २ पृ ९।

है कोई राम पियारो गावै सरब कलिआण सूख सचु पावै।
बनु बनु खोजत फिरत बैरागी बिरले काहू एक लिव लागी ॥
—आ ग्रं महला ५, रागु गउड़ी बैरागिणी।

अपभ्रंश की परम्परा का उल्लेख करते समय लक्षित किया जा चुका है कि दो प्रकार की परम्पराएँ उत्तर भारत में प्रचलित थी, पूर्वी और पश्चिमी। काव्य परम्परा मे गौडी और वैदर्भी रीतियाँ तो प्रसिद्ध है ही। पूर्वी अपभ्रश को मागधी रूप कहना अधिक उपयुक्त होगा। 'ढोला मारू रा दूहा' के सम्पादक ने राजस्थानी को अपभ्रश की जेठी[1] बेटी और समस्त उत्तरी भारत में थोडे हेर-फेर के साथ प्रचलित माना है। उसे सम्पादको ने केवल हिन्दी और गुजराती की जन्मदात्री ही नही माना है वल्कि अन्य भाषाओ की जननी भी।[2] राहुल साकृत्यायन के अनुसार बारहवी-तेरहवी शताब्दी तक द्राविड़-भाषा-भाषी आन्ध्र, तामिल, केरल और कर्णाटक को छोडकर भारत के सभी प्रान्तो की एक सम्मिलित भाषा थी।[3] किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि उस अपभ्रश मे पूर्वी और पश्चिमी का भेद स्पष्ट रहा। पूर्व-देशीय सरहपा और मध्य देशीय स्वयभू की भाषा का अन्तर इस तथ्य की ओर सकेत करता है। क्रमश पश्चिमीय अपभ्रश की परम्परा अधिक प्रचलित हुई और पूरवी परम्परा की रचनाएँ विरल होती गईं। पूर्व की इसी परम्परा का विकसित स्वरूप कबीर में मिलता है। सत कबीर के प्रकाशन से कबीर का काशी-जन्म सदेहास्पद हो उठा है।[4] कबीर का जन्म यदि काशी में नही भी हुआ तो भी काशी में उनके जीवन का अधिकाश भाग व्यतीत हुआ था, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नही।[5] परम्परा से कबीर की भाषा को 'पूर्वी' कहा गया है।[6] पूर्वी शब्द की व्याख्याएँ कई रूपो में हुई हैं और साम्प्रदायिक अर्थ में "पूर्व कहिये आदि की, आदि कहिये हस रूप की हमारी बोली ताते हमको कोई लखता नही, अब हमें और हमारी बोली सोई लखेगा जो निश्चय हस रूप का जीव होगा।"[7] यह साखी काशी में पूर्वी भाषा के रहस्य को समझ के बाहर की वस्तु कहने का प्रयास नही। पण्डित और मौलवी इस भाषा की परम्परा से विच्छिन्न और अज्ञात थे अत उनके लिए यह कथन है। पूर्वी सिद्धों की रहस्यवादिता, प्रतीक-पद्धति और सकेत से परिचित व्यक्ति ही कबीर को भाषा समझ सकता है। कबीर की भाषा में पूर्वी-भोजपुरी का स्वरूप सुरक्षित है। राजस्थानी की मूर्धन्य-वर्ण-प्रधानता की समता के कारण भी कम भ्रम नही हुआ है। सिद्धो की भाषा का भोजपुरी रूप आज भी देखा जा सकता है। सिद्धो ने भी इस नही बूझने की चर्चा कम नही की है।[8]

---

१ ढो० मा० दो०, भूमिका, पृ० १३८।

२ —वही पृ० १३९-४०।

३ हि० का० धा०, अवतरणिका, पृ० १२।

४ पहले दरसन मगहर पाइओ फुनि कासी बसे आई।—स० क०, रामकली ३।

५ सगल जनम सिवपुरी गवाइआ। मरती वार मगहरि उठि आइया।
—स० क०, रागु गउडी १५।

६ बोली हमरी पूर्व की हमें लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै जो धुर पूरब का होय—बीजक, साखी १९४

७ त्रिज्या टीका, पृ० ५०५।

८ निति सिआला सिहे सम जूझअ। टेण्ठण पाएर गीत विरले बूझअ॥
—हि० का० धा०, पृ० १६४।

भोजपुरी से पूर्णतया परिचित नहीं होने के कारण कुछ प्रयोगों को अभोजपुरी भी मान लिया गया है। कबीर की भाषा में खड़ी बोली, राजस्थानी, अवधी और ब्रज का मिश्रण होने पर भी भोजपुरी अवधी के उदाहरण एक आध ही नहीं। 'बानी' का लेखक किस भाषा का लेखक था, इसका संकेत प्राप्त नहीं। आदि-ग्रन्थ के पाठ में संपादन के प्रमाण स्पष्ट हैं ही। वस्तुतः अपभ्रंश काल में उत्तरी भारत की भाषा के दो रूप हैं, जिनमें समानताएँ भी थीं और अन्तर भी। इस व्यापक भाषा के प्रादेशिक रूप थे। पूर्वी और पश्चिमी संतों ने इसी व्यापक भाषा का प्रयोग किया है और स्थानीय विशेष उनमें परिलक्षित है। कबीर और नानक[1] की भाषा का अन्तर इसी प्रादेशिक विभाग के कारण है। पन्द्रहवीं शताब्दी के कबीर और सोलहवीं शताब्दी के जायसी की भाषाओं के अन्तर द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रादेशिक विशेष स्पष्ट होने लग गया था। कबीर-काल में भी स्पष्ट हो गया था और कबीर ने उस भाषा को नहीं लेकर उसके पूर्वरूप का प्रयोग ही किया है जिसमें प्रादेशिक अन्तर स्पष्ट नहीं हुआ था। अवधी भोजपुरी का अन्तर तो स्पष्ट नहीं हो सका था।

संत-साहित्य की भाषा के सम्बन्ध में अरबी-फारसी के प्रभाव की चर्चा भी अपेक्षित है। मुल्ला मौलवी काजी आदि को सम्बोधित करके संतों ने उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है, एवं उनके बाह्याचार का विरोध भी। ऐसे पदों में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है। इस भाषा के शब्दों का ही प्रयोग हुआ है, व्याकरण अथवा रचना-पद्धति का नहीं। हमने अन्यत्र लक्ष्य किया है कि संत-साहित्य के अन्तिम विकास में दो धाराओं का मिलन हो गया। संत-मत प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ खोता गया और सूफी मत भारतीय विचार धारा और योग-क्रियाओं को अधिकाधिक अपनाता गया। इस प्रकार अन्त में दोनों में ऐसी समानता स्थापित हो गई कि दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह गया। ऐसी अवस्था में सन्त-साहित्य के परवर्ती विकास में इस प्रकार की भाषा अधिक स्पष्ट दीख पड़ने लगी।

सन्त-साहित्य की भाषा कृत्रिम अथवा सधुक्कड़ी नहीं। सधुक्कड़ी का अर्थ है मिली-जुली कृत्रिम भाषा, जिसका निर्माण संतों ने किया था।[2] वस्तुतः लोक-भाषा के सामान्य रूप

---

1 कहु कबीर जब लहरी आई बाढी का मुहलु टरिगो।
लहरी संगि भई अब मेरे छूटी भउर परिगो॥
—आ० ग्र० रागु आसा पृ० ४८१।८९।

जीअ जंत जहा जहा लगु करम के बसि धाई।
काल फास अबाध लागे कछु न चलै उपाई॥ —आ० ग्र० रविदास पृ० ४८६।

मनु मोती जे गहणा होवै पउणु होवै सूत धारी।
खिमा सीगारु कामणि तनि पहिरै रावै लाल पिआरी॥
—नानक (आ० ग्र०) महला १ पृ० ३५९।

2 द्रष्टव्य—जैसा पहले कहा जा चुका है इस पंथ (नाथपंथ) का प्रचार राजपूताने तथा पंजाब की ओर अधिक रहा। अतः जब मत के प्रचार के लिए इस पंथ में भाषा के भी ग्रन्थ लिखे गये तब उधर की ही प्रचलित भाषा का प्रयोग किया गया। उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आस-पास की खड़ी

को लेकर उन्होने अपने विचारो और भावनाओ को अभिव्यक्त किया । उस भाषा की प्रादेशिक विशेषताएँ थी और जो सन्त कवियो की भाषा में प्रतिफलित हुईं । यह भाषा जान-बूझ कर मिश्रित बनाई गई और कृत्रिम नही बल्कि सामान्य भाषा का यही स्वरूप था जिस पर लिपिकारो की छाप पडती गई ।

अब हम सकल कुसल करि माना, स्वाति भई तब गोव्यद जाना ॥
—क० ग्र० पद १५, पृ० ९३ ।

अब मोहि सरब कुसल करि मानिआ । साति भई जब गोविदु जानिआ ॥
—आ० ग्र०, कबीर, पृ० ३२६ ।

ग्रथावली का 'हम' पूरबी प्रयोग आदि ग्रन्थ में 'मोहि' हो गया जो स्पष्टतया पश्चिमी रूप है । ग्रन्थावली की 'स्वाति' जो राजस्थानी प्रयोग है आदि ग्रन्थ में अपने पूरबी रूप 'साति' में वर्तमान है । 'गोव्यद' राजस्थानी प्रसाद है तो 'गोविदु' मे पजाबीपन ।

सन्तो की भाषा के स्वरूप पर विचार करने के लिए विषय और स्वरूप, उनकी सामाजिक-सास्कृतिक चेतना, उनका श्रोतृवर्ग प्रचार-क्षेत्र और परम्परागत भाषा के स्वरूप पर विचार करना पडेगा । सन्तो का लक्ष्य था अखण्ड आत्म-विश्वास का जागरण, अत उनके समाज को तर्क और बुद्धि का विलास नही चाहिए, अपेक्षाकृत स्वाभाविक वातावरण मे पले सत की भाषा में कला की काट-छाँट और बनाव-शृङ्गार भी सम्भव नही । सन्त की शैली में अलमस्त बेपरवाही, अटूट आत्म-विश्वास, निर्भीक अभिव्यक्ति, फक्कडपन और अक्खडपन, निर्द्वन्दता और सहज निश्छल सरलपन हैं । विरोधियो और पाण्डित्याभिमानियो को मुँहतोड उत्तर देते समय उग्रता ज्वालामुखी-सी उबल पडती है और प्रेम की तरलता अभिव्यक्त करने में निष्कपट सरलता और मृदुलता के दर्शन होते हैं जिसमें मार्मिक विदग्धता है, सवेदनशील पीडा है, अपूर्व तन्मयता, तल्लीनता और भावावेश है ।

कोषकार अथवा वैयाकरण की चिन्ता सन्त-कवि नही करता, शब्द-चयन और सस्कार की भी चिन्ता वह नहीं करता, जो कहना होता है, वह स्पष्ट रूप से निर्भीकता के साथ कह देता है । अत सहज स्वाभाविक निश्छलता इस भाषा की विशेषता है । यह अकृत्रिम और सहज है । औरो ने भावो को भाषा के साँचे में ढाला है, सन्तो ने भाषा को भाव के साँचे में ।

अलंकार विधान

काव्य में अलकारो की स्थिति के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत मिलते हैं । एक मत के अनुसार अलकार बाह्य आभूषण मात्र हैं और अनलकृत काव्य सम्भव है[1] और दूसरे मत

बोली थी । इससे उसका मेल भी उनकी बानियो में अधिकतर रहता था । इस प्रकार नाथपन्थ के इन जोगियो ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्य-भाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक सधुक्कडी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खडी बोली लिए राजस्थानी था ।

—रा० च० शुक्ल, इतिहास, पृष्ठ २२ ।

१ अगाश्रितास्त्वलकारा मन्तव्या कटकादिवत् (ध्वन्यालोक) । —द्रष्टव्य—काव्य-प्रकाश ।

के अनुसार अलंकारत्व के अभाव में काव्य-स्वरूप की कल्पना भी निरर्थक है।[1] काव्य के विवेचनाओं में हमने लक्षित किया है कि कुछ लोगों के लिए अलंकरण ही काव्य का मापदण्ड बन गया और कवि-कौशल अलंकारों की कलाबाजी मात्र। नक्काशी हो कला बन गई। अलंकार-विधान के द्वारा भावना को रूपमत्ता और स्पष्टता मिलती है यद्यपि इसका अति आग्रह तीव्रता नष्ट कर देता है। व्यापक रूप में शोभाकारी धर्म और रूपमत्ता देनेवाला विधान ही अलंकार है। सन्त-काव्य में अलंकारों का विधान नहीं किया गया है अपितु वे स्वयं अनायास रूप से आ गए हैं। अलंकरण प्रधान काव्य से इन्हें भिन्न समझना चाहिए।

कवि और पाठक की सांस्कृतिक चेतना ही अलंकारों के स्वरूप का निर्माण और नियन्त्रण करती है। संस्कृत के विपुल साहित्य से इन सन्त-कवियों का अ-परिचय था अतः उस साहित्यिक परम्परा का इन्हें ज्ञान सम्भव नहीं। जितना घनिष्ठ सम्पर्क संतों का जन-जीवन से था उसका प्रभाव भी काव्य की वर्णन-पद्धति से नहीं। अलंकृत काव्य उस सामाजिक स्तर की सूचना देता है जिसमें प्रसाधन और सजने-सँवरने को मुख्य माना जाता है। सन्त काव्य की स्वाभाविक रूपमत्ता उस सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना की सूचना देती है जिसमें कृत्रिमता स्वाभाविक नहीं हो सकी है और न अ-प्राकृत जीवन को प्रकृति के समक्ष में लाने का ही प्रयास है। अतः अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना अथवा वाक्यवक्रता चाहे वर्ण विन्यास के रूप में हो भावना अथवा विषय का उपकार अपनी सीमा में ही कर सकेंगे।

वर्ण-विन्यास के उपकारक अलंकारों में अनुप्रास ही मुख्य है। नाद-सौन्दर्य और संगीतमत्ता की रक्षा का विधान ही अनुप्रास में होता है। प्रयासकृत अनुप्रासात्मकता सन्त-काव्य में यद्यपि नहीं किन्तु सहज स्वाभाविक अनुप्रासों का सहज और आयासहीन प्रयोग अवश्य हुआ है। वाक्य-वक्रता वाले अलंकार जैसे अ-प्रस्तुत-प्रशंसा परिसंख्या व्याजस्तुति व्याजनिन्दा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं कि वाक्य-वक्रता इस काव्य में नहीं किन्तु इसकी वक्रता दूसरे प्रकार की है इस वक्रता का मूल व्यंग्य है।[2] अप्रस्तुत वस्तु-योजना-मूलक अलंकारों में उपमा रूपक उदाहरण दृष्टान्त आदि का प्रचुरता से उपयोग हुआ है। सूर-साहित्य अपनी उत्प्रेक्षाओं के लिए प्रसिद्ध है इसका कारण है सूर का दर्शन जिसके अनुसार राधा-कृष्ण की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है। राधा-कृष्ण अलौकिक वृन्दावन में नित्य होनेवाले विहार का प्रतीकत्व इस लौकिक वृन्दावन में करते हैं अतः राधा-कृष्ण के इन-वचन में समानता की सम्भावना की जाती है। सन्त-कवि का सत्स्वरूप आत्म परमात्म स्वरूप में तात्त्विक अन्तर नहीं देख अभेदात्मकता देखता है अतः साम्य मूलक उपमा अनन्वय और अभेद-मूलक रूपक उदाहरण दृष्टान्त आदि अलंकार भी अधिक आए हैं। इन अलंकारों के अतिरिक्त अन्योक्ति (Allegories) का अधिकता से प्रयोग हुआ है जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा सकेगी।

---

१ अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥—चन्द्रालोक १।८।

२ तूं बाम्हनु मैं कासी का जुलहा बूझहु मोर गियाना।
तुम तउ जाचे भूपति राजे हरि सउ मोर धियाना॥—गु० ग्र० रागु आसा २६ पृ ११६

उपमान-चयन में सन्तो का सामान्य जीवन के प्रति मोह ही लक्षित होता है। गोरु (पशु) और गुआर (ग्वाल, गोपालक) जीव और परमात्मा के उपमान हैं—

हम गोरू तुम गुआर गुसाई जनम जनम रखवारे।
कबहूँ न पार उतारि चराइहु कैसे खसम हमारे॥[1]

सासारिक बन्धनो में आबद्ध जीव के लिए 'लउकी' (कद्दू के प्रकारो मे कडवी लौकी = भोजपुरी) का प्रयोग सर्वथा नूतन है।[2] धन-यौवन आदि का उपमान 'बादर की छाँहि' है, प्रेम का युद्ध-क्षेत्र, एव सासारिकता का भार ढोनेवालो और शास्त्रो का बोझ वहन करनेवाले शास्त्राभिमानी पडितो का भारवाही गर्दभ।[3] उपमानो का यदि विश्लेषण विवेचन किया जाय तो पेशे और साधारण जीवन सम्बन्धी उपमान ही अधिक प्रयुक्त हुए है। उपमाओ की सहज स्वाभाविकता प्रकट है—

जल बिन मीन पिया बिन बिरहिन इन धीरज कहु कैसो ?
पच्छी जरै दव लागि बन में मेरी गति भइ ऐसी।

पियाहीन (विरहिणी) उपमेय, जल से हीन मीन उपमान और अधैर्य (इन धीरजु कहु कैसी ?) सामान्य धर्म है। वन में अग्नि लगने पर पक्षी का जलना उपमान, विरहाग्नि में दग्ध 'आतम' उपमेय है, एव दव लागै द्वारा जलन, तडप और ताप का सामान्य धर्म, ऐसी के द्वारा वाचकत्व प्राप्त करता है।

रूपको का सर्वाधिक प्रयोग सत-काव्य में हुआ है, इसके विभिन्न भेदो से परिचित नही होने पर भी इनके कई स्वरूप इस साहित्य में आए हैं।

सावयव समस्त वस्तु विषयक रूपक—

कबीर काइआ कजली बनु भइया मनु कुचरु मयमतु।
अकसु ग्यानु रतनु है खेवटु बिरला सतु॥[4]
सबद दूध घृत राम रस, मथि करि काढै कोइ।[5]
माया दीपक नर पतग भ्रमि भ्रमि इवै पडत॥

तथा—

तुझहि चरन अरविंद भँवर मनु।
पान करत पाइआ रमइआ धनु॥[6]

---

१ वही, पृ० ११६।

२ लउकी अठसठि तीरथ न्हाई। कउरापनु तऊ न जाई।—स क, रागु सोरठि ८, पृ १३७।

३ धन जोवन सुख सम्पदा, बादर की सी छाँहि।—स० बा० स० (१), पृ० १६६।
प्रेम-खेत घायल गिरे।—वही, पृ० १४३।
जो पावै सोइ चरै, करै नही पहचान।
पीठ लदै हरि ना जपै, ता कूँ खर ही जान॥ वही, पृ० १५१।

४ स० क०, सलोकु २२४, पृ० २८०।

५ दा० द० बा० (१), साखी ३०, पृ० ४। ६ आ० ग्र० रविदास, रागु आसा ४।

रूपकातिशयोक्ति-गर्भ रूपक—

हरि है खांड रेत महि बिखरी हाथी चुनी न जाइ।
कहि कबीर गुरि भलि बुझाई कीटी होइ कै खाइ॥[1]

हरि और खांड का अभेद कथन है अतः रूपक। संसार (उपमान) का कथन नहीं कर उपमान रेत माया के पाश में बंधे जीव का उल्लेख न कर उपमान हाथी एवं पिपीलिका मार्ग के योगी का कथन न कर कीटी (चींटी) का निर्देश रूपकातिशयोक्ति का संकेत करता है, पूर्व श्लोक में रूपकत्व का निर्वाह है। इसके साथ ही 'गुरि' में श्लेष की वक्रता है (गुरि=गुरु एवं भारी और गुर=रहस्य)।

रूपकातिशयोक्ति की छटा भी दर्शनीय है—

जौ चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै।
मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै॥[2]

काल-चक्र का अध्यवसानपूर्ण निगिरण 'चरखा' करता है और 'ब्रह्म का बढ़ैया कर्म का सूत'।

श्लेषगर्भ दृष्टान्त—

बीजक वित्त बतावई जो वित्त गुप्ता होय।
शब्द बतावै जीव को बूझै बिरला कोय॥[3]

बीजक उपमान और 'शब्द' उपमेय है, गुप्त वित्त और वास्तविक रहस्य बतलाना इन धर्मों का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। सब्द श्लेषाय पुष्ट है।

उपदेश के पदों और साखियों में उदाहरण और दृष्टान्त अलंकारों का व्यापक प्रयोग हुआ है। दृष्टान्तमूलक अपकातिशयोक्ति का भी प्रयोग संत-साहित्य में मिलता है—

पतिबरता कै एक है, बिभिचारिणी कै दोइ।
पतिबरता बिभिचारिणी मका क्यों करि होइ॥[4]

'पतिबरता' (अद्वैतवादी अथवा एक ब्रह्म का उपासक) तथा बिभिचारिणी (द्वैतवादी और बहुदेवोपासक) वाला की समानता सम्भव नहीं मानी गई। असमानता का कथन ही अभिप्रेत है किन्तु उपमेय का अध्यवसानपूर्ण निगरण है।

विभावना—

बिन चरणन का दहुं दिसि धावै बिन लोचन जग सूझै।
—बीजक शब्द २।

राम्रुरा जिन जिन जतर बाजै। कर चरण बिहूना नाचै।
कर बिन बाजै सुनै श्रवण बिनु। श्रवणै श्रोता सोई।
पाटन सुबस सभा बिनु अवसर। बूझहु मुनि जन सोई।
इन्द्री बिन भोग स्वाद जिभ्या बिनु। अक्षय पिंड बिहूना।—बी॰ शब्द १६।

[1] सं॰ क॰ सलोक २१८
[2] बीजक साखी १८।
[3] बीजक १७वें रमैनी की साखी।
[4] स॰ बा॰ सं॰ (१) पृ॰ ११।

अंधा तीनि लोक कौं देषै बहिरा सुनै बहुत विधि नाद।
नक्कटा वास कमल की लेवै गूँगा करै बहुत सवाद।
टूँटा पकरि उठावै पर्वत पंगुल करै नृत्य अह्लाद।
—सु० ग्र० (२), पृ० ५०८।

उदाहरण—

तोही मोही मोही तोही अन्तर कैसा। कनिक कटिक जल तरंग जैसा।
—आ० ग्र०, रविदास, रागु १।

सघिया प्रात इसनानु कराही। जिउ भए दादुर पानी माही।
—स० क०, रागु गउडी ५।

दृष्टान्त—

कूप भरिउ जैसे दादिरा कछु देस विदेसु न बूझ।
ऐसे मेरा मनु बिखिआ बिमोहिआ कछु आरापारु न सूझ॥
—आ० ग्र० रविदास, गउडी पूरबी ३।

विशेषोक्ति—

मुद्रा पहन्या जोग न होई, घूँघट काढ्या सती न होइ।
—क० ग्र०, पद २१७, पृ० १६२।

सम और विषम का संयोग—

हंस स्वेत बक स्वेत देषिये समान दोऊ,
हंस मोती चुगै बक मंछरी कौं षात है।
पिक अरु काक दोऊ कैसैं करि जानैं जाहि,
पिक अंब डार काक करक हि जात है॥
सिंधौ अरु फटक पषान सम देषियत,
वह तौ कठोर वह जल मै समात है।
सुंदर कहत ज्ञानी वाहिर भीतर शुद्ध,
काको पटंतर और बातनि की बात है॥
—सु० ग्र० (२), पृ० ४६५-६६।

उन्मीलित—

वगुला हंसा एक सर, एकै रूप रसाल।
वह सरवर मोती चुगै, वह मच्छी (का) काल॥
—स० बा० स० (१), पृ० २०१।

सामान्य—

गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यह आकार।
—क० ग्र०, साखी २६, पृ० ३।

उदाहरण-गर्भ तद्गुण—

जब मैं था तब हरि नही, अब हरि हैं मैं नाँहि।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि॥
—वही, साखी ३५, पृ० १५।

रूपकातिशयोक्ति-सम रूपक—

हरि है खांडु रेत महि बिखरी हाथी चुनी न जाइ।
कहि कबीर गुरि भलि बुझाई कीटी होइ कै खाइ॥[1]

हरि और खांड का अभेद कथन है अतः रूपक। संसार (उपमान) का कथन नहीं कर उपमान रेत माया के पाश में बंधे जीव का उल्लेख न कर उपमान हाथी एवं पिपीलिका मार्ग के योगी का कथन न कर कीटी (चींटी) का निर्देश रूपकातिशयोक्ति का संकेत करता है, पूर्ण सलोकु में रूपकत्व का निर्वाह है। इसके साथ ही 'गुरि' में श्लेष की वक्रता है (गुरि=गुरु एवं भारी और गुर-रहस्य)।

रूपकातिशयोक्ति की छटा भी दर्शनीय है—

जौ चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै।
मैं कातौं सूत हजार चरखुला जिन जरै॥[2]

काल-चक्र का अध्यवसानपूर्ण निगिरण 'चरखा' करता है और 'ब्रह्म का बढ़ैया कर्म का सूत।

श्लेषगर्भ दृष्टान्त—

बीजक बित्त बतावई जो बित गुप्ता होय।
सब्द बतावै जीव को बूझै बिरला कोय॥[3]

बीजक उपमान और 'सब्द' उपमेय है, गुप्त वित्त और वास्तविक रहस्य बतलाना इन धर्मों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। 'सब्द' श्लेषार्थ पुष्ट है।

उपदेश के पदों और साखियों में उदाहरण और दृष्टान्त अलंकारों का व्यापक प्रयोग हुआ है। दृष्टान्तमूलक रूपकातिशयोक्ति का भी प्रयोग संत-साहित्य में मिलता है—

पतिबरता कै एक है बिभिचारिनी कै दोइ।
पतिबरता बिभिचारिनी मेला क्यों करि होइ॥[4]

पतिबरता (अद्वैतवादी अथवा एक ब्रह्म का उपासक) तथा बिभिचारिनी (द्वैतवादी और बहुदेवोपासक) दोनों की समानता सम्भव नहीं मानी गई। असमानता का कथन ही अभिप्रेत है किन्तु उपमेयों का अध्यवसानपूर्ण निगरण है।

विभावना—

बिन चरनन को दहुं दिसि धावै बिन लोचन जग सूझै।
—बीजक सब्द २।

रामुरा झिन झिन जंतर बाजै। कर चरण बिहूना नाचै।
कर बिनु बाजै सुनै श्रवण बिनु। श्रवणै श्रोता सोई।
पाटन सुबस सभा बिनु अवसर। बूझहु मुनि जन लोई।
इन्द्री बिनु भोग स्वाद जिभ्या बिनु। अक्षय पिंड बिहूना।—बी० शब्द १६।

---

१ ग्र० क० सलोकु २१८
२ बीजक सब्द ६८।
३ बीजक १०७ रमैनी की साखी।
४ सं० बा० स० (१) पृ० ११।

विधान नही बल्कि रेखा-चित्र है जिसकी प्रत्येक रेखा से आकृति आभासित होती रहती है। चित्र-विधान के कारण ही काव्य को स्थिरता प्राप्त होती है। इस स्थिरता के साथ सार्वभौमता और सर्वकालीनता अपेक्षित मानी गई है। सार्वभौमता का यदि उचित अर्थ समझा जाय तो वह वह गुण है जिसके कारण चित्र कभी धुँधले नही पडते। इसका कदापि अर्थ नही कि सभी व्यक्ति इस काव्य से समान भाव से भाव-ग्रहण में समर्थ होते हैं। ऐसे आधार पाकर भावनाएँ टिकाऊ और दृढ होती है, उनका वायवीय अश मिट जाता है। साहित्य की रूढि और परम्परा का अर्थ है उन चित्रो को जकड रखने का प्रयास जिनके द्वारा कभी सौन्दर्य-बोध और भावात्मक मूर्त्तता प्राप्त हो सकी थी। क्रान्तदर्शी कवि सर्वथा नवीन चित्र उपस्थित नही करता बल्कि चित्रो में नवीन सशोधन कर उन्हें नूतन और जागरूक बना देता है।

सन्त-काव्य में मूर्त-विधान की विविधता नही है। स्त्री-पुरुष, सास-पतोहू, ननँद-भावज, पारस-लोहा, चन्दन-काष्ठ, बनिजारा-जुलाहा आदि घरेलू चित्रो द्वारा आध्यात्मिक तथ्यो का निरूपण किया है। उनके चित्र-विधान से चूहे-बिल्ली, कीरी-कुजर, सिंह-गाय भी निष्कासित नही। उदाहरणो में शास्त्रीय उपमाओ का भी यत्र-तत्र प्रयोग है, जैसे—कनक-कुडल (कटिक), जल-तरग, रज्जु-सर्प। पारस्परिक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिए दैनन्दिन जीवन की वस्तुएँ ही ली गई है। साधारण जीवन की इन वस्तुओ से सकेतित अर्थ में गूढता खोजने का प्रयास सदा होता आया है। सीता की निष्ठा अशोक वन की विरहोच्छ्वसित ऐकातिकता में प्रकट है और सन्त-काव्य की गृहिणी घर में ही सती है। भावात्मक सम्बन्ध के आदर्श सती और सूरमा है, ऐसे तो चातक और चकोर, कुमोदनी और चन्दा का उल्लेख भी आ गया है। परकीया प्रेम का चाचल्य सत-काव्य में प्रवाह, तीव्रता और गति बन कर नही आया, इसके स्थान में आई एकनिष्ठा, गम्भीरता और मन्थरता। घरेलूजीवन और उसके विभिन्न सम्बन्धो का एक चित्र है—

> जिन धीरज सो पतिया रसिया छाँडो, बाँको मोह यार कियो गाढो,
> क्रोध सू प्रीत लगाई॥
> जिन तत सत देवर सूँ मुख मोडा दया बहिन से नाता तोडा।
> सुमति सौच बिसराई॥
> जो धर्म पिता के घर सूँ घूटी, छिमा माय सूँ यो ही रूठी।
> कुमति परोसिन पाई॥
> सन्तोष चचा को कहा न माना, चची दीनता सूँ रिसि ठाना।
> माया मद बौराई॥
> चरनदास जब निज पति पावै, श्री सुकदेव सरन सो आवै।
> सील सिंगार बनाई॥[1]

सन्त-साहित्य के चित्रो में वैविध्य और नानात्व सीमित ही है, सामान्य जीवन के चित्र ही उभर आए है, स्पष्ट और प्रभविष्णु।

---

१ च० बा० (भाग दूसरा) पृ० १६९-१७०।

अर्थसंगति—

> जपी न जाप हतौं नहीं गूगल पुस्तक लो न पढ़ाऊँ।
> कहै कबीर परम पद पाया नहीं आऊँ नहीं जाऊँ।
>
> —वही साखी २ पृ १९।
>
> आपा मेट जीवत मरै, तो पावै करतार।
>
> —वही पद १९६ पृ १५४।

अनन्वय—

> जैसा तू तैसा तुही किआ उपमा दीजै। —आ ग्रं रवि रा बि १।

विरोधाभास के अन्तर्गत विपयय और उलटबाँसी वाले पदों और साखियों की गणना साधारणतया की जाती है। कुछ लोगों ने इनमें विरोध अलंकार भी माना है। अलंकार का चमत्कार विरोध के कारण नहीं बल्कि विरोध के आभास में रहता है। उलटबाँसियों में बीच पड़नेवाला विरोध नहीं और न वहाँ विरोध का आभास ही है। वास्तविक विरोध होने पर साम्य दिखलाने की चेष्टा विरोधाभास का दूसरा स्वरूप हो सकती है। विरोधहीन विरोध के वर्णन सन्त-साहित्य में प्रचुरता से प्राप्त है, यहाँ वास्तविक विरोध नहीं बीच पड़नेवाला विरोध तात्विक ज्ञान के अभाव का फल है—

> निवरै दूरि दूरि फुनि निवरै जिनि जैसा करि मानिआ।
> अलउटी का चंदे भइआ अरेहा जिनि पीआ तिनि जानिआ।
>
> —सं क रा प ४७।
>
> कोई बीझे निरवा कोई बोले दूरि। जल की माछुरी चरै खजूरि।
>
> —आ ग्र नामदेव टोडी १।

इतना स्पष्ट है कि अलंकारों का द्रविड़ प्राणायाम भाव-सौन्दर्य की तीव्रता के लिए अनावश्यक वर्ण-साम्य की सृष्टि अनुप्रासों का अप्राकृत गुम्फन अलंकरण के लिए अलंकार विधान का मोह एवं चमत्कार उत्पन्न करने की निरर्थ चेष्टा संत-काव्य में उपलब्ध नहीं। सन्त-कवि न तो उपमानों के अन्वेषण में काव्यगत परम्परा की चिन्ता करता है और न दूर भटकता है। उसने आस-पास के जीवन को देखा-समझा है और उन उपमानों का उपयोग किया है जिन्हें उसका मोसृ-मन पहचानता है। ज्ञात से अज्ञात की ओर और ज्ञात के आधार पर ही अज्ञात ज्ञान की प्रतिष्ठा के मनोवैज्ञानिक तथ्य को वह पूर्णतया हृदयंगम कर चुका था। सन्त-कवि का अलंकार-विधान उसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति का परिचायक है।

चित्रमयता

भावनाएँ सूक्ष्म और अमूर्त होती हैं उन्हें हृदयगम कराने के लिए चित्रमयता और रूपात्मकता देनी होगी यही शास्त्रीय भाषा में अमूर्त का मूर्त-विधान है। अलंकार-विधान अमूर्त का मूर्तिकरण है और भावना का यही रूप-ग्रहण काव्य का विषय। कला कृत्रिम है किन्तु इस कृत्रिमता की मात्रा में अन्तर होता है। कवि अपेक्षाकृत स्वाभाविक अथवा अलंकृत रूप में भावनाओं को आकृति देता है। प्रबन्ध-काव्य में स्थूलता अधिक आती है, कारण वर्णन की प्रधानता रहती है गेय-गीत काव्य में सूक्ष्मता और वह विधानपूर्ण चित्र

विधान नही वल्कि रेखा-चित्र है जिसकी प्रत्येक रेखा से आकृति आभासित होती रहती है। चित्र-विधान के कारण ही काव्य को स्थिरता प्राप्त होती है। इस स्थिरता के साथ सार्वभौमता और सर्वकालीनता अपेक्षित मानी गई है। सार्वभौमता का यदि उचित अर्थ समझा जाय तो वह वह गुण है जिसके कारण चित्र कभी धुंधले नही पडते। इसका कदापि अर्थ नही कि सभी व्यक्ति इस काव्य से समान भाव से भाव-ग्रहण में समर्थ होते हैं। ऐसे आधार पाकर भावनाएँ टिकाऊ और दृढ होती हैं, उनका वायवीय अश मिट जाता है। साहित्य की रूढि और परम्परा का अर्थ है उन चित्रो को जकड रखने का प्रयास जिनके द्वारा कभी सौन्दर्य-वोध और भावात्मक मूर्त्तता प्राप्त हो सकी थी। क्रान्तदर्शी कवि सर्वथा नवीन चित्र उपस्थित नही करता वल्कि चित्रो में नवीन सशोधन कर उन्हें नूतन और जागरूक वना देता है।

सन्त-काव्य में मूर्त-विधान की विविधता नही है। स्त्री-पुरुष, सास-पतोहू, ननँद-भावज, पारस-लोहा, चन्दन-काष्ठ, वनिजारा-जुलाहा आदि घरेलू चित्रो द्वारा आध्यात्मिक तथ्यो का निरूपण किया है। उनके चित्र-विधान से चूहे-विल्ली, कीरी-कुजर, सिह-गाय भी निष्कासित नही। उदाहरणो में शास्त्रीय उपमाओ का भी यत्र-तत्र प्रयोग है, जैसे—कनक-कुडल (कटिक), जल-तरग, रज्जु-सर्प। पारस्परिक सम्वन्ध को अभिव्यक्त करने के लिए दैनन्दिन जीवन की वस्तुएँ ही ली गई हैं। साधारण जीवन की इन वस्तुओ से सकेतित अर्थ में गूढता खोजने का प्रयास सदा होता आया है। सीता की निष्ठा अशोक वन की विरहोच्छ्वसित ऐकातिकता में प्रकट है और सन्त-काव्य की गृहिणी घर में ही सती है। भावात्मक सम्वन्ध के आदर्श सती और सूरमा हैं, ऐसे तो चातक और चकोर, कुमोदनी और चन्दा का उल्लेख भी आ गया है। परकीया प्रेम का चाचल्य सत-काव्य में प्रवाह, तीव्रता और गति वन कर नही आया, इसके स्थान में आई एकनिष्ठा, गम्भीरता और मन्थरता। घरेलूजीवन और उसके विभिन्न सम्वन्धो का एक चित्र है—

जिन धीरज सो पतिया रसिया छाँडो, वाँको मोह यार कियो गाढो,
क्रोध सू प्रीत लगाई ॥
जिन तत सत देवर सूँ मुख मोडा दया बहिन से नाता तोडा।
सुमति सौच बिसराई ॥
जो धर्म पिता के घर सूँ छूटी, छिमा माय सूँ यो ही रूठी।
कुमति परोसिन पाई ॥
सन्तोष चचा को कहा न माना, चची दीनता सूँ रिसि ठाना।
माया मद बौराई ॥
चरनदास जब निज पति पावै, श्री सुकदेव सरन सो आवै।
सोल सिंगार बनाई ॥[1]

सन्त-साहित्य के चित्रों में वैविध्य और नानात्व सीमित ही है, सामान्य जीवन के चित्र ही उभर आए हैं, स्पष्ट और प्रभविष्णु।

---

१ च० बा० (भाग दूसरा) पृ० १६९-१७०।

(१) घर बाबरी (बर्बर) बलौदी टेढी लौलौती अरराइ ।—क ग्र० पद २२।
(२) छिनहर घर अरु झिरहर टाटी घन गरजत कंपै मेरी छाती ।—वही पद २७१।
(३) मैला मैला कपड़ा केता एक धोऊँ आवै भावै नींदहि कहाँ लौ सोइ ।

—रै बा पद ७७ पृ० ५५।

(४) माग रे भाग फक्कीर के बालके कनक और कामिनी बाघ लागा ।

—पं० बा० (२) पृ ११।

सन्त-साहित्य के मूर्त-विधान की कई कोटियाँ परिलक्षित की जा सकती हैं—(क) स्थूल प्रस्तुत का प्रस्तुत वर्णन (ख) स्थूल मूर्त के माध्यम से अमूर्त की अभिव्यक्ति (ग) अमूर्त का मूर्त विधान और (घ) अमूर्त का मूर्त-विधान द्वारा आभास देना। साधारण दृष्टि से 'ग' और 'घ' की कोटियों में विशेष अन्तर नहीं किन्तु जहाँ सम्बन्धाभिव्यक्ति है वहाँ मूर्त-विधान के माध्यम से अमूर्त सम्बन्ध-भावना की अभिव्यक्ति है और जहाँ परम-तत्त्व के स्वरूप की अभिव्यक्ति है वहाँ अमूर्त को मूर्त माध्यम से आभासित करने का प्रयास।

सम्बन्ध-भावना—

तुम जलनिधि मैं जल कर मींना। जल मैं रहौं जलहि बिन षीनां ॥
तुम प्यंजरा मैं सुवना तोरा दरसन देहु भाग बड़ मोरा।[1]
साहिब तूँ है साहिब मेरा मैं हूँ बन्दा तेरा।[2]
तुम चन्दन हम इरण्ड बापुरे संगि तुम्हारे बासा।
नीच रूख ते ऊँच भए हैं गन्ध सुगन्ध निवासा ॥[3]
जउ तुम दीवरा तउ हम बाती। जाकी जोती बरै दिन राती ॥[4]

मूर्त के माध्यम से अमूर्त का संकेत—

ज्यूँ बिम्बहि प्रतिबिम्ब समाना उदकि कुम्भ बिगरांनां।
कहै कबीर जानि भ्रम भागा जीवहि जीव समानां ॥[5]
बिरहनि कौं सिंगार न भावै। है कोइ ऐसा राम मिलावै ॥
बिसरे अंजन मंजन चीरा। बिरह बिथा यह ब्यापै पीरा ॥[6]

अपेक्षाकृत अमूर्त माध्यम से अमूर्त का संकेत—

राउ रसु निरसु करि जानिआ होइ निरसमु रसु पहिचानिआ।
इहु रस छाडे उहु रसु आवा उह रसु पीआ इहु रसु नहि भावा ॥[7]
जामें आतम जगै एक रस निर्भय काइ न कीजै रे।
जामी महारस अमृत आपै जाहि रसिक रस पीजै ॥

---

१ क ग्रं पद १२ पृ १२६।
२. बा द बा (२) पद ८६।
३ बा ग्रं रविदास रागु आसा १।
४ रै बा पद ८६ पृ ७१।
५. क ग्रं पद १७९।
६ बा द बा (२) पद ११।
७ सं क गउड़ी ७५।
८. बा द बा (२) पद १५१।

अमर्त का मूर्त-अमूर्त द्वारा आभास—

दादू राम अगाध है, परिमिति नाही पार।
अबरण बरण न जाणिये, दादू नाइ अधार॥[1]
व्यापक अखण्ड एक रस परिपूरन है,
सुदर सकल रमि रह्यो ब्रह्म ताहे तें।
सहज सदा उदात याही तें अचभा होत,
आपु ही कौ आपु भूलि गयौ सुतौ काहे तें।[2]

छन्द-विधान

अन्यत्र यह लक्षित किया जा चुका है कि पूर्वी अपभ्रंश में दो परम्पराएँ मिलती हैं—दोहो की और भिन्न-भिन्न रागो के पदो की। हिन्दी में दोहो का जो रूप प्रचलित हुआ उससे इन दोहो को भिन्न समझना चाहिए। दोहे के विषम चरणो में १३ मात्राएँ और सम चरणो में ११ मात्राएँ होती हैं, अत में लघु होता है। दोहा अपभ्रंश का निजी छन्द[3] है और प्राकृत की गाथा का विकसित रूप।

'दोहा कोष' में कई प्रकार के दोहे सुरक्षित है—

(क) हले सहि विआसिअ कमलु, पवो हिउ वज्जे।
अलललल्हो महासुहेण आरोह्रिउ पच्वें॥[4]
(ख) वह्मणेहि म जाणन्त हि भेउ। एवइ पढिअउ ए च्चउ वेउ॥[5]
(ग) गुरु उवएसें अमिय-रसु धावहि ण पीअउ जेहि।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलिंहि तिसिए मरिअउ तेहि॥[6]

साखी का नाम-करण छन्द-विशेषता के कारण नही बल्कि विषय के कारण हुआ था। 'साखी, सबदी, दोहरा' में साखी और दोहरा अत्यन्त निकट हैं। आदि ग्रन्थ में साखियो को 'सलोकु' (श्लोक) की सज्ञा प्राप्त है किन्तु इन्हें 'अनुष्टुप' का हिन्दी रूपान्तर नही समझना चाहिए।

हरि सो हीरा छाडि कै करहि आन की आस। १३+११=२४
ते नर दोजक जाहिगें सति भाखै रविदास॥[7] १३+११=२४

१३+११ के योग से २४ मात्राओ का दोहा छन्द है। सम चरणो में तगण (ऽऽ।) है यद्यपि दूसरे सम चरण में 'रविदास' पाठ जगण (।ऽ।) बना देता है। आदि ग्रथ मे रैदास को रविदास लिखा गया। इस प्रकार रैदास पाठ रहने पर शुद्ध तगण (ऽऽ।) का रूप होगा। विषम चरणो के अत में रगण छाडि कै और जाहिगे = (ऽ।ऽ) है।

---

१. दा० द० बा० (१), सुमिरन कौ अग, साखी १७।
२ सु० ग्र०, भाग २, पृ० ५८०।
३ कालिदास की विक्रमोर्वशीय में प्रयुक्त है।
४ ज० हि० ले० (जिल्द २८) पृ० ३२।
५ वही, पृ० ९।
६ वही, पृ० १६।
७ स० क०, सलोकु २४२, पृ० २८३।

सरवर पंखी हेकड़ो फाहीवाल पचास । ११+११
इहु तनु लहरी गडुपिआ सचे तेरी आस ॥[1] ११+१०=२१

इसके अन्तिम चरण में ग्यारह के स्थान में केवल दस मात्राएँ हैं किन्तु पंजाबी उच्चारण के अनुसार 'सच्चे' पाठ मात्राओं की संख्या को ग्यारह बना देगा। पहले सम चरण में जगण और दूसरे सम चरण में तगण है। विषमता रहने पर भी नियम की रक्षा है।

कबीर पूजी साहु की तूं जिनि खोवै ख्वार। = ११+११
खरी बिगूचनि होइगी लेखा देती बार ॥[2] = ११+११

सम चरणों के अन्त में तगण और विषम चरणों के अंत में रगण है।

पाठान्तर के रूपों पर ध्यान देकर विचार किया जाय तो साखी दोहे की कसौटी पर खरे उतरेंगे।

आदि-ग्रन्थ में सुरक्षित पदों के छन्दों की दुपदे तिपदे चौपदे पंचपदे अष्टपदी संज्ञाएँ हैं। ये पदात्मक संज्ञाएँ रागों के बीच हैं। आदि-ग्रंथ के पदों का गान सितार आदि वाद्यों के साथ होता था। स्वयं गुरु भावावेश में गा उठते थे अतः गेयता की दृष्टि से इन्हें रागों के अन्तर्गत रखा गया और छन्द-विधान की दृष्टि से दुपदे तिपदे आदि का उल्लेख हुआ।

हीरै हीरा बेधि पवन मनु सहजे रहिआ समाई।=२९
सगल जोति इनि हीरै बेधी सतिगुर बचनी मैं पाई ॥[3]=१

और पहिली कुरपि कुचजि कुलखनी साहुरै पेईऐ बुरी।=१
अबकी सरूपि सुजाणि सुलखनी सहजे उदरि धरी ॥[4]=२७

आदि ग्रन्थ में जिसे दुपदा कहा गया है उसके लिए कोई विशेष नियम नहीं बताया जा सकता। किसी-किसी एक चरण को दो भागों में विभाजित किया गया है और इन अंशों की तुकें मिलती हैं—

हरि की कथा अनाहद बानी=१६
हंसु हुइ हीरा लेइ पछानी[5]=१६ (हंस का उच्चारण हँस जैसा है)

चौपदे के दो चरणों को चार में विभक्त करने की प्रणाली भी अपनाई गई है। प्रथम चरण के दोनों भागों की तुकें मिलती हैं और दूसरे चरण के भागों की भी।

मूके भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै ॥१२+१४=२६
गुरु मागउ संतन रेना। मैं नाही किसी का देना ॥१२+१४=२६
गुरु में एक मात्रा और उच्चारण के कारण 'नाही' का ही लघु है।

तिपदे चौपदों से वस्तुतः भिन्न नहीं। चौपदों के साथ एक तीसरा चरण जोड़ दिया गया है, जो वस्तुतः टेक हुआ करता है—

कंचन सिउ पाईऐ नही तोलि। मनु दे रामु लीआ है मोलि ॥[6] १६+१६

---

१ आ ग्रं सलोक कबीर १२५ पृ ११८४।
२ क ग्रं साच को अंग पृ ४२। ३ आ ग्रं कबीर जी के दुपदे पृ ४८१।
४ वही। ५ वही। ६ आ ग्रं पृ ३२७।

इन तिपदो में अव्यवस्था है किन्तु एक प्रकार का छन्द आया है जिसमें तीन चरण हैं और तीनो चरणो की तुकें मिलती हैं और उच्चारण की दृष्टि से प्रत्येक में ३२ मात्राएँ हैं—

भगता दी सदा तू रखदा हरि जीउ धुरि तू रखदा आइया ।=३२
प्रह्लाद जन तुधु राखि लए हरि जीउ हरणाखसु मारि पचाइआ ।=३२
गुरमुखा तो परतीति है हरि जीउ मनमुख भरमि भुलाइआ ।[1] =३२

चौपदों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। इस प्रकार के दो छन्द हिन्दी में प्रचलित हैं, चौपई और चौपाई। चौपई के प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ होती हैं और अन्त में गुरु लघु तथा चौपाई के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएं और अन्त में जगण (।ऽ।) और तगण (ऽऽ।) का निषेध है। अपभ्रंश में इस प्रकार का अडिल्ल छन्द है। सामान्यतया चौपाई का प्रयोग सन्तो की वाणी में हुआ है—

जिहि पावक सुरि नर है जारे। राम उदकि जन जलत उबारे ।।१६+१६
भव सागर सुख सागर माही। पीवि रहे जल निखुटत नाही ।।[2] १६+१६

इस छन्द का पीछे चल कर नाम सम्भवतया रामायण के कारण रामायणी (रमैनी) पड़ा।

बहुत दुख (दुक्ख) दुखदुख की खानी। तब बचिहो जब रामहि जानी ।। १६+१६
रामहि जानि मुक्ति जो चलई। युक्तिहि ते फंदा नहि परई ।।[3] १६+१६
भीतरि का यह भेद न जानै। कहै सुहागिनि क्यूँ मन मानै ।। १६+१६=३२
अन्तर पीव सौं परचा नाही। भई सुहागनि लोगन माही ।।[4] १६+१६=३२
तू जलनिधि हउ जल का मीनु। जल महि रहउ जलहि बिनु खीनु ।। १५+१५=३०
तु पिंजरु हउ सूअटा तोर। जमु मँजारु कहा करै मोर ।।[5] १५+१५=३०

चौपाइयो के कुछ भिन्न रूपान्तर इन सन्तों की वाणियो में प्राप्त हैं। चौपाई के एक चरण के पश्चात् टेक देकर पदो की रचना हुई है—

मैं न मरउ मरिबो ससारा—१६
(टेक) अब मोहि मिलिओ हैं जीआवन हारा—२१

रोला की गति पर जयदेव का पद आदि-ग्रन्थ में है—यद्यपि अव्यवस्था परिलक्षित होगी।

हरि भगत निज निहकेवला रिद करमणा बचसा।
जोगेन किं जगेन, किं दानेन किं तपसा ।।
गोविन्द गोविदेति, जपि नर सकल सिधि पद।
जैदेव आइउ तस, सफुटं भव भूत सरव गत ।।[6]

सरसी छन्द का स्वरूप भी कबीर वाणी में प्राप्त है—

जिसहि बुझाए सोई बुझै बिनु बूझै किउ रहीऐ (रहिए)—१६+११

---

१ आ० ग्र०, महला ३, पृ० ६३७।
२ कबीर, आ० ग्र०, पृ० ३२३।
३ बीजक, रमैनी २१।
४ दा० द० बा० (२), पद २८३, पृ० १२०।
५ आदि ग्र०, रागु गउडी, पृ० ३२३।
६ आ० ग्र०, पृ० ५२६।

सतिगुर मिलै अंधेरा चूकै इन बिधि माणकु लहीऐ (लहिए)—१६+११
तजि बावै बाहुने बिकारा हरि पदु दृढु करि रहीऐ (रहिए)—१६+११
कहु कबीर गूंगै गुड़ खाइआ पूछे ते किआ कहीऐ (कहिए)—१६+११

अष्टपदी छन्दों का उपयोग आदि-ग्रन्थ में अधिक हुआ है और इसके कई रूपों का प्रयोग भी।

किते देखि न खाइआ मुणीऐ, तीरथ पासि न बैठा। १६+१२=२८ } ५६
दाता दानु करहि तह नाही महल उसारि न बैठा ॥ १६+१२=२८ }

जे को सतु करे सो छीजै तप घरि तपु न होई। १५+११=२६ } ५२
जे को नाउ लए बदनावी कलि के लखण एई ॥[1] १५+११=२६ }

इसका स्पष्ट स्वरूप अन्य सन्तों की बानियों में भी प्राप्त है—

दामिनी (नि) दमकै घनहर गरजै बोलै दादुर मोरा। १६+१२=२८ } =५६
सतगुर मस्ती मस्त फिरावै फिरता जाम अँधेरा ॥ १६+१२=२८ }

जरकी राज अदल बादशाही पीव पसीयो मोरा। १६+१२=२८ } ५६
चीन्हो अमर सिंघ घर कीजै होला गारत मोरा ॥[2] १६+१२=२८ }

शास्त्रीय छन्दों का भी अभाव नहीं—

भुजंग प्रयात—नमस्तं अकाले नमस्तं कृपाले।
नमस्तं अरूपे नमस्तं अनूपे ॥—आ० ग्रं० जापु साहब २।

छप्पय—चक्र चिह्न अरु बरन जाति अरु पाति नहिन जिह।
रूप रंग अरु रेख भेख कोई कह न सकत किह।
अचल मूर्ति अनभउ प्रकास अमितोज कहिज्जै।
कोटि इन्द्र इन्द्राणि शाह साहाण गणिज्जै।
त्रिभवण महीप सुर असुर नेत नेत बनत्रिण कहत।
तव सरब नाम कथै कवन करम नाम बरनत सुमति ॥—जापु साहब १।

छन्द-प्रयोग में क्रमशः विस्तार आता रहा। सिक्ख परम्परा में दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने छन्द-शास्त्र का पूर्ण परिचय दिया है। दशम पातशाही में केशव से भी अधिक छन्द विविधता उपलब्ध है। इस समय तक रीति-परम्परा का प्रभाव स्पष्ट होने लगता है। दादू-पन्थी सुन्दरदास ने भी छन्द शास्त्र का अच्छा परिचय दिया है और ऐसे कई प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है जिनका प्रचलन नहीं हो सका। प्रारम्भिक सन्तों में लोक-प्रचलित छन्द ही प्रयुक्त रहे। छन्द भी गेय थे अतः उनके स्वरूप में तत्कालीन उच्चारण की अनुकूलता ही प्राप्त होगी।

गेय पद

चर-गीतों के अनुगमन विभिन्न छन्दों के साथ टेक का अन्य लगा कर 'सबदी' का स्वरूप खड़ा किया गया है। इनमें कुछ तो लोक-गीतों के पद हैं और राग-रागिनियों से सम्बद्ध।

[1] आ० ग्रं० रामकली महला १ अष्टपदीआ पृ० ९ २।
[2] गरीबदास म० बा० स० (२) पृ० १ ९।

गेय पद-शैली में चर्यापदो के गीतो का प्रयोग अपभ्रश काल में हुआ था। उनमें से कई रागो का प्रयोग सन्त-साहित्य में बहुलता के साथ हुआ। सिद्ध-साहित्य के गेय पदो में राग पटमञ्जरी सर्वाधिक लोक-प्रिय है किन्तु आदि-ग्रन्थ में इस राग के गीत नही हैं। आदि-ग्रन्थ में सर्वाधिक प्रयुक्त "रागु गउडी" है। आदि-ग्रन्थ के अन्त में "रागमाला" दी गई है।

राग		रागिनियाँ	पुत्र
१	भैरव	भैरवी, विलावली, बगाली, लेखी	अस—हरख दिसाव, बगाल, मधुमाधव, ललित, विलावलु
२	मालकोस	गौड (गौरी), करी (गुणकली), गन्धारी, देवगन्धारी, धनासिरी	मारू, मस्तग, मेवार, चन्डकोस, खोखट,
३	हिण्डोल	तेलगी, देवकिरी (देवक्री) वसन्ती, अहीरी—	वसन्त, कमोद,
४	दीपक	कछेली, पटमञ्जरी, टोडी, कामोदी, गूजरी—	गउरा, कानरा कल्यान
५	श्रीराग	वैरागी, कर्नाटी, गौरी, आसावरी, सिन्धवी	
६.	मेघ	सोरठि, गौड, मलारी, आशा, सूही	केदारा, नट

रागमाला के अनुसार ६ राग, ३० रागिनियाँ और उनके ४८ पुत्र है। रागमाला की यह पद्धति स्वीकृत पद्धति से पूर्णतया मेल नही खाती और सिद्धो द्वारा प्रयुक्त शबरी, मालशी, कामक्री आदि इसमें नही। वस्तुत अनेक मिश्रित रागिनियाँ प्रचलित थी और उनके गायन का विधान था। सिद्धो और सन्तो ने इन रागिनियो में बाँध कर पदो की रचना नही की है, सग्रह-कर्ताओ ने इन्हें रागों की प्रणालियों में बाँधा है। आदि-ग्रथ में कबीर आदि भक्तो के सगृहीत पदो के राग-विधान से ग्रथावली के पद-विधान में भिन्नता और अन्तर है। आदि-ग्रन्थ में 'सिरी रागु' के अन्तर्गत आया गीत ग्रन्थावली में रामकली है।[1] सन्त कबीर की ३५वीं गउडी ग्रथावली में राग सोरठि बन गई है और ५४वी गउडी ग्रथावली में १९३वी रामकली। कबीर ग्रथावली की ६१वी गौडी सत कबीर में रागु भैरउ के अन्तर्गत है। बीजक में कुछ ऐसे पदों का सकलन हुआ है जो लोक-गीतो के रूप हैं और सन्तो ने उनका उपयोग किया। बिर-हुली, हिंडोला, चाचर, बेलि इसी प्रकार के विधान हैं। वसन्त का होली से सम्बन्ध है और सावन का हिंडोला से।

शास्त्रीय रागिनियों के अन्तर्गत जो रचनाएँ मिलती हैं, उनका विषय के साथ विशेष

---

१ राजा राम की कींगुरी बाजै—स० क०, सिरी रागु २।
क० ग्र०, रामकली १५३, पृ० १३७।

सम्बन्ध नहीं। एक ही राग के अन्तर्गत सिद्धान्त-निरूपण भी है और आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति भी।[1]

इन सन्तों के सम्प्रदाय में गायकों का आना आवश्यक नहीं जब कि गायकों की जाति निम्न-स्तरीय थी। शिष्यों द्वारा राग-पद्धति का निर्धारण हुआ। विभिन्न सन्तों के रागों की तुलना द्वारा देशगत विशेषता और प्रचलन का आभास मिल सकता है। कबीर के रागों से दादू के रागों की भिन्नता है। दादू के पदों को परज भाणमली हुसेनी बंगाली जैसे रागों के अन्तर्गत रखा गया है। सुन्दरदास ने 'ऐराक' का प्रयोग किया है, जो भारतीय परम्परा में नहीं माना जाता। राग-रागिनियों के कई भेदों का उल्लेख मिलता है, जिनमें देशगत विशेषता लक्षित होगी। विभिन्न प्रदेशों में रागों की भिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं। आदि-ग्रंथ में गउड़ी (गौरी अथवा गौड़ी) में गुआरेरी (गुजरी) और पूरबी (पूर्वी) के भेद हैं। 'गउड़ी बैरागिणी और गउड़ी चेती भी है। आदि-ग्रन्थ में 'तुखारी राग आया है, जो भारतीय परम्परा का नहीं जान पड़ता।

होली चाचर, बिरहुली सावन हिंडोला, झूलना सोहर आदि का लोक गीतात्मक स्वरूप स्पष्ट है। दैनन्दिन जीवन की विविध घटनाओं का चित्र स्वाभाविक संगीत-भावना के माध्यम से लोक-गीतों में अंकित मिलता है। मध्यकालीन सन्त-काव्य-धारा ने इस गेय पदावली को अपने विचार और अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और संगीत-तत्त्व की काव्यात्मक प्रवृत्ति के साथ समतापूर्वक संयोग हुआ। सन्त-कवि पक्के गवैया नहीं थे गायक थे। जिस निम्न-स्तर से वे आए थे उसमें कला की वह सांस्कारिक चेतना नहीं थी। अक्खड़ता और फक्कड़ जीवन में जब स्फुरण हुआ गा उठे। संगीत-शास्त्र की शास्त्रीयता के साँचे में ढला और नपा-तुला गीत न था और न थी काव्यात्मकता की वह कसौटी जिसे साहित्य-शास्त्र प्रश्रय देता है। सन्तों की बानी में मुक्त संगीत का आनन्द है जिसमें उच्छ्वसित निर्बाध संगीतात्मकता भी सरसता और मार्मिकता है। भाषा और पद-रचना की जो परम्परा सन्तों ने अपनाई उसे व्यापक रूप में स्वीकृत किया गया। कबीर से चौपाई और साखी की जो परम्परा चली उसका विकसित रूप जायसी में मिलता है। तुलसीदास ने जायसी के ठेठपन को मिटा कर अधिक-से-अधिक पंडिताऊ बनाया। पद-शैली की धारा में पूर्व प्राप्त परम्परा के विकास-रूप—सूरदास और तुलसीदास की रचनाएँ हैं। जयदेव की पीयूष वर्षिणी वाणी *और चण्डीदास-विद्यापति की मार्मिकता सन्तों की पदावली में प्रतिफलित नहीं हुई* किन्तु इनकी धारा का विकास कृष्णभक्तों के गीतों से हुआ।

१ (क) पे चारयि हटि तीरथ जाही। रतन पदारथ घट ही माही ॥
पढ़ि पढ़ि पंडितु बादु बखाणै। भीतरि होदी वसतु न जाणै ॥
—आ ग्रं महला १ रागु गउड़ी पृ १५२।

(ख) पंधु निहारै कामनी लोचन भरी लै उसासा।
उर न भीजै पगु ना खिसै हरि दरसन की आसा ॥
—आ ग्रं कबीर रागु गउड़ी ६५ पृ ३३८।

निष्कर्ष

इस अध्ययन द्वारा कई निष्कर्षों पर पहुँचने में सहायता मिलती है—

(१) सन्तो की पदावली लोक-गीत नही हैं, लोक-गीतो का विकसित रूप जो सिद्ध-साहित्य में प्राप्त था उसका उपयोग सन्तो ने किया। प्राकृत और अपभ्रश-काल के प्रचलित छन्द-विधान का विकसित रूप इनमें प्राप्त होता है, जो हिन्दी का क्षमता के अधिक अनुकूल है।

(२) इनका काव्य परम्परा से विच्छिन्न नही और इनकी रचनाओ को काव्य मानने में किसी प्रकार का सकोच नही होना चाहिए। काव्यात्मकता की सकुचित धारणा के कारण ही अनेक प्रकार के भ्रम फैले हैं।

(३) इनके काव्य मे अलकरण की चेष्टा नही किन्तु अलकार अवश्य आए हैं। वह कविता-कामिनी का सहज शृगार है। सन्त-भावात्मकता को ही मुख्य मानता है, अलकरण को नही।[1]

(४) इनके चित्र सहज, स्वाभाविक और घरेलू-जीवन के हैं। भाषा की काट-छाँट, साज-शृगार से अधिक भाव-प्रकाशन की क्षमता पर इनका ध्यान था। इनके काव्य की कसौटी भावना और विचार की सत्यता है।[2] भावना और विचार परस्पर विच्छिन्नता नही बल्कि एक-दूसरे को शक्ति और क्षमता है।

(५) पूर्ववर्ती सन्तो ने पदो की रचना की, राग-रागिनियो में बाँधने का प्रयास पीछे चल कर हुआ। परवर्ती सन्तो ने रागो के साँचे में पदो को ढालने का प्रयास किया। विभिन्न सम्प्रदायो में भिन्न-भिन्न रागों का महत्त्व था।

---

१ जो पैं पिय के मनि नही भायें, तौ का परोसनि कैं हुलराये ।। टेक ।।
का चूरा पाइल झमकायें, कहा भयौ बिछुवा ठमकायें ।।
का काजल स्यूदर कैं दीयें, सोलह स्यगार कहा भये—कीयें ।।
अजन मजन करैं ठगौरी, का पचि मरैं निगौडी बौरी ।।
—क० ग्र०, पद १३९, पृ० १३३।

२ खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोय।
राम कसौटी सो टिकै, जो जीवत मृतक होइ।
—क० ग्र०, जी० मृ० कौ अग ९, पृ० ६४।
'जौ जीवत मृतक होइ' से आदि ग्रथ का 'जो मरजीवा होय'—पाठ युक्ति-सगत है।
गावै कथै बिचारै नाही, अनजाने का दोहा।
कहहि कवीर पारस बिनु पाहन भीतर लोहा ।।—वीजक।

सम्बन्ध नहीं। एक ही राग के अन्तर्गत सिद्धान्त-निरूपण भी है और आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति भी।[1]

इन सन्तों के सम्प्रदाय में गायकों का आना आश्चर्यजनक नहीं जब कि गायकों की जाति निम्न-स्तरीय थी। शिष्यों द्वारा राग-पद्धति का निर्धारण हुआ। विभिन्न सन्तों के रागों की तुलना द्वारा वैयक्तिक विशेषता और प्रचलन का आभास मिल सकता है। कबीर के रागों से दादू के रागों की भिन्नता है। दादू के पदों को परज माधवकी हुसैनी बंगाली जैसे रागों के अन्तर्गत रखा गया है। सुन्दरदास ने 'ऐराक' का प्रयोग किया है जो भारतीय परम्परा में नहीं माना जाता। राग-रागिनियों के कई भेदों का उल्लेख मिलता है जिनमें वैयक्तिक विशेषता लक्षित होगी। विभिन्न प्रदेशों में रागों की भिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं। आदि-ग्रंथ में गउड़ी (गौरी अथवा गौड़ी) में गुआरेरी (गुर्जरी) और पूरबी (पूर्वी) के भेद हैं। 'गउड़ी बैरागिणी और गउड़ी चेती भी है। आदि-ग्रन्थ में तुखारी राग' आया है, जो भारतीय परम्परा का नहीं जान पड़ता।

होली चाचर बिरहुली सावन हिंडोला मूलना सोहर आदि का लोक गीतात्मक स्वरूप स्पष्ट है। दैनन्दिन जीवन की विविध घटनाओं का चित्र स्वाभाविक संगीत-भावना के माध्यम से लोक-गीतों में अंकित मिलता है। मध्यकालीन सन्त-काव्य-धारा ने इस गेय पदावली को अपने विचार और अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और संगीत-तत्त्व की काव्यात्मक प्रवृत्ति के साथ क्षमतापूर्वक संयोग हुआ। सन्त-कवि पक्के गवैया नहीं थे गायक थे। जिस निम्न-स्तर से वे आए थे उसमें कला की यह संस्कारिक चेतना नहीं थी। अकस्मात् और फक्कड़ जीवन में जब स्फुरण हुआ गा उठे। संगीत-शास्त्र की शास्त्रीयता के साँचे में ढला और नपा-तुला गीत न था और न थी काव्यात्मकता की वह कसौटी जिसे साहित्य-शास्त्र प्रश्रय देता है। सन्तों की बानी में मुक्त संगीत का आनन्द है जिसमें उच्छ्वसित निर्बाध संगीतात्मकता की तरलता और मार्मिकता है। भाषा और पद-रचना की जो परम्परा सन्तों ने अपनाई उसे व्यापक रूप में स्वीकृत किया गया। कबीर से चौपाई और साखी की जो परम्परा चली उसका विकसित रूप जायसी में मिलता है। तुलसीदास ने सामग्री के ठेठपन को मिटा कर अधिक-से-अधिक परिष्कृत बनाया। पद-शैली की धारा में पूर्व प्राप्त परम्परा के विकास-रूप—सूरदास और तुलसीदास की रचनाएँ हैं। जयदेव की पीयूष वर्षिणी वाणी और चण्डीदास-विद्यापति की मार्मिकता सन्तों की पदावली में प्रतिफलित नहीं हुई किन्तु इनकी धारा का विकास चर्यापदों के गीतों से हुआ।

---

१ (क) जे कारणि तटि तीरथ जाही। रतन पदारथ घट ही माही॥
पढ़ि पढ़ि पंडितु बादु बखाणै। भीतरि होदी वसतु न जाणै॥
—आ ग्रं नानक रागु गउड़ी पृ १५२।

(ख) पंथु निहारै कामनी लोचन भरी ले उसासा।
उर न भीजै पगु ना खिसै हरि दरसन की आसा॥
—आ ग्रं कबीर रागु गउड़ी ६६ पृ ३३८।

प्रतीक विधान

अवरन कौं का बरनिये, मो पैं लख्या न जाइ।
अपना बाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ॥

—कबीर

प्रतीक विधान

★

समस्या

सत का विश्वास है कि परम तत्त्व अवर्ण्य और सदा अविरोधी है। जगत् के दृष्ट पदार्थों के अन्तराल में अन्तरात्मा स्वरूप उस परम तत्व और परम सत्य की स्थिति है। दृश्यमान पदार्थ न तो उसके स्वरूप हैं और न उससे एकात विच्छिन्न ही। वह निराकार, स्वरूप-हीन, नित्य और अ-परिवर्तनशील है। उसका साक्षात्कार किया जा सकता है और उसके लिए किसी मध्यस्थ की अपेक्षा नही। वैयक्तिक व्यष्टि समष्टिगत सार्वभौम व्यक्तित्व से सर्वथा विच्छिन्न नहीं। दोनों में विशिष्ट सम्बन्ध ही नहीं बल्कि तात्विक एकता है और व्यक्ति की साधना के मूल में उस सम्बन्ध का उद्घाटन और स्थापन है। उस परम तत्व का वर्णन सम्भव नही, ऐसी सन्त की धारणा है[1]। वह तत्व और उसकी अनुभूति तो और अधिक अप्रेषणीय है। जो अनुभव करता है वही उसे जानता है, दूसरा कोई जानता नहीं और जान सकता भी नहीं। जो जानता है, वह वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यह तो गूँगे का गुड है। वाणी अक्षम है, मूक है अत. वाणी के द्वारा इसका मूक सकेत ही प्राप्त होगा। यह अनुभव अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसे प्राप्त कर और कुछ पाने की चाह नहीं रह जाती। अत सामान्य और अनुभूति-हीन व्यक्तियो को इसका सदेश देने और

---

१ अवरन कौं का बरनिये, मोपैं लख्या न जाइ।
अपना बाना वाहिया, कहि कहि थाके माइ॥
—क० ग्र०, सम्रथाई को अग ६, पृ० ६२।

आदि अत अरु मध्य नहिं, रँग रूप नहिं रेख।
गुप्त बात गुप्ते रहो, पलटू तोपा देख॥ —प० बा० (३), पृ० ५५।

परिचायिका नही, बल्कि सकेतिका है। नैयायिको का सकेत-ग्रह 'व्यक्ति' का नही होता 'जाति' का होता है। भाषा के सकेत-पक्ष द्वारा अर्थ-ग्रहण मात्र नही होता, उसमें बिम्ब-ग्रहण कराने की क्षमता भी होती है और काव्य में इन दोनो पक्षो का उपयोग है। सन्त की समस्या है, अमूर्त का बिम्ब-ग्रहण कराना मात्र नहीं, बल्कि उसे सकेतित करना और सकेत को ऐसा रखना जो सामान्य रूप में उसके पाठक के लिए प्रेषणीय हो। सन्त-काव्य की दुरूहता और उसके विधान-पक्ष को इस भूमिका में अध्ययन करने की अपेक्षा है।

प्रतीक और प्रतीकवाद

अध्येता की अनेक कठिनाइयो में एक महत्वपूर्ण कठिनाई है पारिभाषिक शब्दों की सीमा और व्याप्ति का विभिन्न सस्कार। अग्रेजी के 'सिम्बालिज्म' के अर्थ में हिन्दी में 'प्रतीकवाद' का प्रचलन हो गया है। प्रतीक-विधान और प्रतीकवाद दोनों विभिन्न है और यह विस्मरण नही करना चाहिए कि पश्चिम में काव्य-धारा 'प्रतीकवाद' की सकुचित धारा बन कर फ्रास मे बही थी जिसके प्रतिनिधि थे बोदलेयर, वर्लेन और मैलार्मे। बोदलैयर ने प्रतीको के महत्व की स्थापना की, वर्लेन ने उन्हें काव्यात्मक रूप दिया एव मैलार्मे ने गहन पारिभौतिक व्याख्या की। प्रतीक-वादियो को जीवन की कटुता, कुरूपता एव अप्रिय निष्ठुरता से पलायन कर काल्पनिक ससार का निर्माता कहा गया है। सन्तो ने प्रतीको का उपयोग-प्रयोग किया है किन्तु प्रतीकवाद की आधुनिक व्याख्या को कोटि में आनेवाले प्रतीकवादी वे नही। जीवन की कटुताओ एव निष्ठुरताओ के प्रति सन्त सदा जागरूक है, कल्पना के मोहक कुजो में वह विहरण करने वाला नही, निराशावादी प्रतीकवाद के ध्वसात्मक रूप से वह प्रभावित भी नहीं। वह 'दिव्य' को लोक-भिन्न, लोक-बाह्य, विश्वातीत एव केन्द्रित नही मानता, उसकी दृष्टि में सार्वभौमता ही दिव्यता है, विश्वान्तरात्मकता ही विश्वातीतता है। वह एकान्त प्रत्यक्ष भी नहीं, नितात परोक्ष भी नही।

'रहस्यवाद' और 'रहस्य' की भाँति 'प्रतीकवाद' तथा 'प्रतीक' का प्रयोग भी अव्यवस्थित और अनिश्चित रहा है। रहस्यवाद और प्रतीक-विधान, एव प्रतीकवाद और रहस्यात्मकता का अविच्छेद्य सम्बन्ध विचारको ने देखा है। प्रतीकों के माध्यम से निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति की प्रवृत्ति को ही एक विचारक रहस्यवाद मानता है।[1] ऐसे तो एक विचारक ने रहस्यवाद की प्रतीकात्मकता को अस्वीकृत भी किया है।[2] रहस्यवाद और प्रतीक में सम्बन्ध है किन्तु प्रतीकवाद ही रहस्यवाद नही और रहस्यवाद में जो कुछ है, वह प्रतीक ही नहीं है। प्रतीकवाद तत्व और प्रतीक के सम्बन्ध की विवेचना करता है और इस सम्बन्ध को आकस्मिक अथवा आत्मनिष्ठ मानता है। रहस्यवाद प्रत्यक्ष जीवन के अन्तर्भूत जीवन की सार्वभौम स्थिति एव उसकी उपलब्धि की अपेक्षा रखता है। मनुष्य का उदात्तीकृत रूप (पुरुषोत्तम) सगुण ब्रह्म और उसके अवतार हैं। सन्त के अनुसार मानव का विशुद्ध स्वरूप ही देवत्व है, देवत्व का प्रतीक नही। धार्मिक क्षेत्र में आध्यात्मिक विषयों के लिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्रतीको का

---

१ इन्ज द्वारा क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म के २५० वें पृष्ठ पर उद्धृत Recejac का मत।

२ वही, २५० वें पृष्ठ पर एडिनबरा रिव्यू से उद्धृत एक मत।

आकृष्ट करने के लिए कुछ संकेत दे देना आवश्यक है, अनिवार्य है। वैयक्तिकता और व्यक्तिगत अनुभूति को सामाजिक और समष्टिगत बनाने की समस्या है। साधारणतया यह विश्वास कर लिया गया है कि संत सामाजिकता के विरोधी थे। यूरोप के सभी रहस्यवादी संस्थागत धार्मिक संगठन के विरोधी न थे। भारतीय संतों ने सात्त्विक साम्प्रदायिक गठन का विरोध विशिष्ट परिस्थितियों में किया और इस विरोध द्वारा विपुल जन-समुदाय को सामाजिक अधिकार की प्रेरणा दी। सामाजिकता को सात्त्विक गठन से विभिन्न समझना चाहिए और संतों का समाज हमने अन्यत्र परिलक्षित किया है, निम्न सांस्कृतिक स्तर का है। वाणी के लिए यह और कठिन समस्या है क्योंकि असमर्थ वाणी को अधिक असमर्थ व्यक्तियों के उपयुक्त बनाना है।

संत का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति में आध्यात्मिक तत्त्व है अतः वह नैतिक है और आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर सकता है। इस आत्मिक आध्यात्मिक और प्रातिभ अनुभूति के द्वारा ही परम तत्त्व और चरम सौंदर्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसके स्वरूप और सम्बन्ध को लौकिक माध्यम के द्वारा अभिव्यक्त करने पर उसका आभास और संकेत दिया जा सकता है, तत्त्व का वास्तविक रूप नहीं। कलाकार की समस्या इससे अधिक भिन्न नहीं। कलाकार मूर्त-स्वरूप अथवा अमूर्त भावना को मूर्तिमत्ता देता है। मूर्त रूपों का मूल चित्र उतारने वाला कलाकार के वैशिष्ट्य का अधिकारी नहीं। मूर्त स्वरूप आलम्बन अथवा उद्दीपन होता है, जिसके द्वारा भाव की अभिव्यक्ति होती है। भाव की परिणति ही रसत्व में होती है, आलम्बन अथवा उद्दीपन की नहीं।

संकेतों को विचार, भाव या अनुभूति समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। संत का कथन है कि संकेत को पूर्ण सत्य मत समझो संकेतित पदार्थ (सूक्ष्मतम सार्वभौम तत्त्व एवं अव्यक्त-व्यक्त अनुभूति) को पकड़ में लाने की चेष्टा करो जो वैयक्तिक है, सुबोध और अभिव्यक्ति-गम्य नहीं। कलाकार और संत की समस्या के एक अन्तर की ओर स्पष्ट रूप से ध्यान जाता है। कलाकार को मूर्त रूप का आलम्बनात्मक माध्यम प्राप्त है किन्तु संत को ऐसी सुविधा नहीं। इस अन्तर के साथ एक गम्भीर एकता है। कलाकार जिस प्रकार प्रयोग द्वारा परम्परागत बिम्ब-विधायक मूर्तिमत्ता को नवीन सौंदर्यमत्ता देता है उसी प्रकार संत अपने आपको अपनी आस्था धारणा एवं विश्वास को अपने मन्तव्य को मूर्त-स्वरूप देने की चेष्टा करता है। परम्परा का तिरस्कार कर अभिप्रेत लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं। पाठक और कवि समाज और संत के बीच प्रेषणीयता का संस्थापक यह मूल-विधान ही है जिसकी प्रक्रिया में परम्परा को नवीन चेतना के अनुसार ढलना पड़ता है।

संकेत संकेतित वस्तु के वास्तविक स्वरूप को उपस्थित नहीं करता उसका आभास और संकेत ही उपस्थित करता है और इस अर्थ में सम्पूर्ण मानवीय भाषा सांकेतिक है।[1] यह तरल द्रव्य जिसे 'सुरा' कहा जाता है और 'सुरा' शब्द में कोई साम्य सादृश्य या सानुरूप्य नहीं। प्रकार साम्य की चर्चा तो व्यर्थ ही है। 'सुर' 'सुरा' का सम्बन्ध-विच्छेद परवर्ती काल में हो गया और असुरों के साथ इस 'सुरा' का सम्बन्ध स्थापित हो गया। संज्ञा मूल-वस्तु की रूप-

---

१ द्रष्टव्य—व्हाइट हेड : सिम्बालिज्म पृ० ७१।

परिचायिका नही, बल्कि सकेतिका है। नैयायिको का सकेत-ग्रह 'व्यक्ति' का नहीं होता 'जाति' का होता है। भाषा के सकेत-पक्ष द्वारा अर्थ-ग्रहण मात्र नही होता, उसमें बिम्ब-ग्रहण कराने की क्षमता भी होती है और काव्य मे इन दोनो पक्षो का उपयोग है। सन्त की समस्या है, अमूर्त का बिम्ब-ग्रहण कराना मात्र नही, बल्कि उसे सकेतित करना और सकेत को ऐसा रखना जो सामान्य रूप में उसके पाठक के लिए प्रेषणीय हो। सन्त-काव्य की दुरूहता और उसके विधान-पक्ष को इस भूमिका में अध्ययन करने की अपेक्षा है।

प्रतीक और प्रतीकवाद

अध्येता की अनेक कठिनाइयो में एक महत्वपूर्ण कठिनाई है पारिभाषिक शब्दो की सीमा और व्याप्ति का विभिन्न सस्कार। अग्रेजी के 'सिम्बालिज्म' के अर्थ में हिन्दी में 'प्रतीकवाद' का प्रचलन हो गया है। प्रतीक-विधान और प्रतीकवाद दोनों विभिन्न हैं और यह विस्मरण नही करना चाहिए कि पश्चिम में काव्य-धारा 'प्रतीकवाद' की सकुचित धारा बन कर फ्रास में बही थी जिसके प्रतिनिधि थे बोदलेयर, वर्लेन और मैलार्मे। बोदलैयर ने प्रतीको के महत्व की स्थापना की, वर्लेन ने उन्हें काव्यात्मक रूप दिया एव मैलार्मे ने गहन पारिभौतिक व्याख्या की। प्रतीक-वादियो को जीवन की कटुता, कुरूपता एव अप्रिय निष्ठुरता से पलायन कर काल्पनिक ससार का निर्माता कहा गया है। सन्तो ने प्रतीको का उपयोग-प्रयोग किया है किन्तु प्रतीकवाद की आधुनिक व्याख्या को कोटि में आनेवाले प्रतीकवादी वे नही। जीवन की कटुताओ एव निष्ठुरताओ के प्रति सन्त सदा जागरूक हैं, कल्पना के मोहक कुजो में वह विहरण करने वाला नही, निराशावादी प्रतीकवाद के ध्वसात्मक रूप से वह प्रभावित भी नही। वह 'दिव्य' को लोक-भिन्न, लोक-बाह्य, विश्वातीत एव केन्द्रित नही मानता, उसकी दृष्टि में सार्वभौमता ही दिव्यता है, विश्वान्तरात्मकता ही विश्वातीतता है। वह एकान्त प्रत्यक्ष भी नहीं, नितात परोक्ष भी नहीं।

'रहस्यवाद' और 'रहस्य' की भाँति 'प्रतीकवाद' तथा 'प्रतीक' का प्रयोग भी अव्य-वस्थित और अनिश्चित रहा है। रहस्यवाद और प्रतीक-विधान, एव प्रतीकवाद और रहस्या-त्मकता का अविच्छेद्य सम्बन्ध विचारको ने देखा है। प्रतीको के माध्यम से निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति की प्रवृत्ति को ही एक विचारक रहस्यवाद मानता है।[1] ऐसे तो एक विचारक ने रहस्यवाद की प्रतीकात्मकता को अस्वीकृत भी किया है।[2] रहस्यवाद और प्रतीक में सम्बन्ध है किन्तु प्रतीकवाद ही रहस्यवाद नही और रहस्यवाद में जो कुछ है, वह प्रतीक ही नहीं है। प्रतीकवाद तत्व और प्रतीक के सम्बन्ध की विवेचना करता है और इस सम्बन्ध को आकस्मिक अथवा आत्मनिष्ठ मानता है। रहस्यवाद प्रत्यक्ष जीवन के अन्तर्भूत जीवन की सार्वभौम स्थिति एव उसकी उपलब्धि की अपेक्षा रखता है। मनुष्य का उदात्तीकृत रूप (पुरुषोत्तम) सगुण ब्रह्म और उसके अवतार हैं। सन्त के अनुसार मानव का विशुद्ध स्वरूप ही देवत्व है, देवत्व का प्रतीक नही। धार्मिक क्षेत्र में आध्यात्मिक विषयो के लिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्रतीको का

---

१ इन्ज द्वारा क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म के २५० वें पृष्ठ पर उद्धृत Recejac का मत।

२ वही, २५० वें पृष्ठ पर एडिनवरा रिव्यू से उद्धृत एक मत।

ऊँचाई, गर्जन) अत 'ब्रह्म' के द्वारा परम तत्व की ऊँचाई, विस्तार तथा-मूल्य का सकेत मिलता था। 'हायर' (Higher) का लैटिन रूप ही अंग्रेजी का सुपीरियर (Superior) है एव एक्सेल (Excel = Celsus) हाई (High) का लैटिन रूप।[1] अरबो का 'अल्लाह' शब्द मूल रूप में अल्-इल्लाह है जिसकी चार रेखाएँ 'अल्लिफ' के ही परिवर्तित रूप हैं। 'अलिफ' के सात विभाग है—इल्म, नूर, वुजुद, शुहुद, समा, वसर और कुलम।[2] आकाश = शून्य-ख, जिससे 'ख-सम' बना है, विस्तार का सूचक है, अत आकाश-देव के रूप में ईश्वर की कल्पना हुई है। 'सात आकाश' अथवा सप्त भुवनो के ऊपर उसके निवास की कल्पना इसी प्रकृति और प्रवृत्ति का सूचक है। सभी धर्मों ने पौराणिकता की सृष्टि प्रतीकात्मक पद्धति पर की है।

ज्योति का प्रतीकात्मक प्रयोग सभी धर्मों में सर्वाधिक और व्यापक रूप मे हुआ है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में इसका प्रयोग है यद्यपि इसे हेलेनिस्टिक युग में अधिक लोक-प्रियता मिली। मिस्र का मुख्य आधिदैवत सूर्य था, जो राष्ट्रीय-धर्म सूर्योपासक है। ईसाई-धर्म मे ईश्वर के प्रकाश की यथार्थ कल्पना है। वेद में सूर्योपासना है, औपनिषदिक तत्व-वेत्ता प्रकाशमयता की कल्पना करता है। इस्लाम में खुदा के नूर की चर्चा है। सन्त-काव्य ज्योति-चर्चा से परिपूर्ण है।[3] प्रकाश के साथ विस्तार, सौन्दर्य और शक्ति की जो धारणा है, उसका स्थूल रूप सगुणोपासना में प्रकट हुआ।

परम-तत्व की ज्योति रूप मे कई कारणो से कल्पना हुई है। मनुष्य भयाक्रान्त प्राणी है, अन्धकार ही उसके भय का कारण है।[4] अन्धकार में वस्तुओ का वास्तविक स्वरूप छिपा रहता है, प्रकाश वास्तविकता का प्रकाशक है, अत भय-मुक्त करता है। परम-तत्व अभयदाता है, निराशा के अन्धकार से मुक्त करने वाला और उसे दूर करने वाला। मृत्यु भय है, पीडा है, अन्धकार है, परम तत्व अमरता है, अमृत है, प्रकाश है। अन्धकार वस्तु की वास्तविकता को ओझल कर देता है उसी प्रकार सासारिक ज्ञान वास्तविक वास्तविकता को प्रकट नही होने देता, अत अज्ञान और अन्धकार है, परा विद्या है।

प्रकाश और ज्ञान का अविच्छेद्य सम्बन्ध स्वीकृत है। इसका किन्तु क्रमिक विकास हुआ है। सूर्य-वैदिक काल का प्रमुख देवता है। औपनिषदिक ज्ञान-काण्ड प्रकाश को महत्वपूर्ण स्वीकार करता है। कर्म-काण्डीय सूर्य भावात्मक प्रकाश के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। प्रारम्भिक आस्था विश्वास-मूलक थी, ज्ञान-प्रधान नही। ज्ञान क्रमश आस्था का आधार बना और अन्त में ज्ञान ही मुख्य हुआ। परमात्मा की ज्योतिमत्ता में ज्ञान-स्वरूपता का आरोप है। वह केवल ज्ञान-स्रोत ही नही वल्कि स्वय ज्ञान-स्वरूप है। सगुण भक्ति-धारा में बोध-पक्ष से अधिक महत्व आस्था-पक्ष का रहा। उसका प्रकाश सौन्दर्य की ज्योति वन कर प्रकट हुआ। स्थूल-

---

१ सिम्वालिज्म एण्ड विलीफ, पृ० २८-२९। २ स्टीज इन तसव्वुफ, पृ० ६८।

३ जोति सरूपी तत अनूप। अमल न मल न छाह नही धूप॥

—स० क०, रागु गउडी ७६, पृ० ८५।

४ अधकार सुखि कवहिन सोइहै। राजा रक दोऊ मिली रोइहै॥

—वही, रा० ग० ८, पृ० १०।

तात्विक स्वरूप को देखने में अक्षम व्यक्ति एव स्वार्थ अथवा अन्य कारणों से इस स्वरूप को तिरोहित करनेवालो के लिए वह दृष्ट नही होता। इसमें उस स्वरूप की अक्षमता नही वल्कि ग्रहण करनेवाले की अक्षमता अथवा स्वार्थपूर्णता है।[1]

ससार ससरणशील है, जगत् गतिमान एव जीवन-मरणशील। इस परिवर्तनशील और परिवर्तनीय जगत् में स्थायित्व की कामना एव अमरता की चाह मनुष्य रखता है। परमात्म-तत्व अमर है, नित्य है, शाश्वत और चिरन्तन। काल अवधि है, अत निरवधि सत्य और सत्त्व (सत्+त्व) की साधना है। देश सीमा है अत असीम सीमाओ के वन्धन से मुक्त व्याप्ति की आकाक्षा है। देवताओ की अमर संज्ञा केवल हिन्दू धर्म में ही नही वल्कि सभी धर्मों में समान रूप से मान्य है।[2] निरवधि और असीम के द्वारा व्याप्ति मर्यादित ही होती है और परम-तत्व सीमित और मर्यादित नही हो सकता। अवधि और निरवधि, ससीम एव असीम दोनो की सीमाओ से वह अतीत है, त्रिकालातीत है। चरखा (काल-चक्र) के नष्ट हो जाने पर भी वढई (काल-चक्र का निर्माता) नष्ट नही होता। न जाने ऐसे कितने चरखो का उसने निर्माण किया है। काल-धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है, अतीत कभी वस्तुत अतीत नही होता, वर्तमान में अतीत की चेतना और भविष्य की आशा-आशका वनी रहती है। अतीव से दूर भागने की चर्चा यदा-कदा होती है किन्तु इसे पूर्णतया अतीत नही वनाया जा सकता। परम-तत्व को अकाल, निरवधि, कालातीत कहने का केवल इतना ही तात्पर्य नही कि वह चिरन्तन, शाश्वत, अनादि और अनन्त है वल्कि काल और देश के वन्धन एवं तज्जन्य व्यथाओ, पीडाओ, आशकाओ, दुश्चिन्ताओ से निवृत्ति प्राप्त करने का भाव भी है।[3] असीम की इस भावात्मकता को ससीम के दृश्यमान् माध्यम से अभिव्यक्त करना है। शब्द भी सीमाएँ है किन्तु नाद असीम और अनादि, नाद और शब्द का, अत ऐसा महत्व है। अनिहित नाद को सन्त सुनता है और शव्द (सवदी) द्वारा उसे अभिव्यक्त करता है। शब्द अनिहित नाद का व्यक्त स्वरूप है।[4] सवदी केवल उपदेश मात्र नही, सार तत्त्व है, पारिभाषिक है।

प्रतीकत्व और व्यञ्जना

साहित्य-शास्त्र में व्यजित, ध्वनित और सूचित अर्थ का महत्व प्रतिष्ठित है। शब्द की तीन शक्तियो में व्यजना की ही प्रधानता है यद्यपि कुछ लोगो की दृष्टि में अभिधेयार्थ ही महत्वपूर्ण है। नैयायिक और मीमासक व्यजना को पृथक् वृत्ति के रूप में स्वीकृत नहीं करते। अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति द्वारा अनुपलब्ध अर्थ का द्योतन व्यजना-शक्ति द्वारा होता है।

---

१ कहहि कवीर सुनहु हो सन्तो, भरम भूलि दुनियाई।
अपरमपार पार परसोतिम, या गति विरलै पाई॥—वीजक, शव्द ४६।

२ सिम्वॉलिज्म एण्ड विलीफ, पृ० ८२।

३ ओ सतिनाम, करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभ गुर प्रसादि।
—सिक्ख धर्म का गुरु मन्त्र।

४ कवीर शवद सरीर में, विनि गुण वाजै तति।
वाहरि भीतरि भरि रहया, तार्थं छूटि भरति॥—क० ग्र०, सवद कौ अग १, पृ० ६३।

अभिप्रेतार्थ का बोध लक्षणा और व्यंजना में होता है। प्रतीक में मुख्यार्थ का बाध नहीं होता। 'ज्योति' का मुख्यार्थ ज्योति ही गृहीत होता है, उससे भिन्न नहीं। ज्योति से संबंध रखने वाला कोई अन्य अर्थ भी इसके द्वारा कथित नहीं होता। प्रतीकत्व की धारणा में स्थूल वस्तुएँ सूक्ष्म भावना के संकेत में पूर्णतया समर्थ नहीं हो सकतीं ससीम में असीम की व्याप्ति है किन्तु पूर्णता नहीं। अपूर्ण पूर्णता के माध्यम द्वारा ही पूर्ण पूर्णता का आभास दिया जा सकता है। अपूर्ण पूर्ण नहीं बल्कि पूर्ण की अभिव्यक्ति का माध्यम है। व्यंजना और लक्षणा शक्तियाँ अभिप्रेतार्थ का बोध अपेक्षित मानती हैं। प्रतीक और उसके द्वारा संकेतित वस्तु में तात्त्विक विभेद नहीं होता। पूर्णता की आंशिक अभिव्यक्ति यहाँ रहती है, अत: आंशिकता के माध्यम से पूर्णता का संकेत मिलेगा। परम-तत्त्व के विस्तार को ही सृष्टि-क्रम मानने वाला यह कैसे स्वीकार कर सकेगा कि दृश्यमान् जगत् में उस आदि तत्त्व का आभास नहीं। जगत् को प्राति-भासिक स्वीकार करने वाला उसकी बाह्यता पर ही विचार करता है। संत ने जगत् की वस्तुओं और व्यापारों के माध्यम द्वारा तात्त्विक स्वरूप की अभिव्यक्ति की है। प्रतीकत्व में अभिव्यंजना है किन्तु व्यंजना-शक्ति की सीमाएँ नहीं। प्रतीक का सम्बन्ध दार्शनिक विचारधारा के साथ है, यद्यपि व्यंजना वृत्ति की स्थापना में अद्वैतवादी दर्शन की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। प्रतीक की भी सीमाएँ होती हैं। तुलसी राम के व्यापारों की स्वाभाविकता और मानवीयता से भयभीत हो पाठकों को बार-बार स्मरण कराते हैं कि राम स्वयं भगवान् हैं, नर-लीला कर रहे हैं और इन्हें सामान्य मनुष्य समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। संत भी अपने प्रतीकों की सीमाओं से परिचित है, वह स्पष्ट रूप से जानता है कि कोई ऐसी वस्तु नहीं जो परम-तत्त्व का किसी रूप में प्रतिनिधित्व कर सके वह एकान्त रूप से अपने आप जैसा है। परम-तत्त्व का आंशिक रूप जो अभिव्यक्त हुआ है, उसमें तात्त्विक एकता और घनिष्ट सम्बन्ध होने पर भी भेद है। किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में इसे अभेदात्मक भेद कहेंगे भेदमूलक अभेद (= विशिष्टाद्वैत) से यह भिन्न है। चन्दन और एरण्ड दोनों काठ की जातियाँ हैं तात्त्विक अभेद दोनों में है।[1] चन्दन की सुगंधि एरण्ड को सुगन्धित करने में समर्थ है। चंदन और सद्गुरु जो संत के लिए परम-प्रभु से सर्वथा अभिन्न है, के प्रतीकात्मक विधान में अपूर्ण पूर्ण को संकेतित कर रहा है।

प्रतीक और साध्यवसान रूपक

शुक्लजी के अनुसार यहूदियों और पुराने ईसाइयों में धर्म-सम्बन्धी बातों को मूर्तरूप में प्रकट करने के लिए साध्यवसान रूपकों (Allegories) का प्रचार था और साध्यवसान रूपक एक बड़ा विधान है।[2] साध्यवसान रूपक शुक्लजी द्वारा गढ़ा हुआ पारिभाषिक शब्द है जिसमें साध्यवसान लक्षणा और रूपक की सम्बन्ध-स्थापना हुई है। लक्षणा में मुख्यार्थ का बाध किन्तु इसमें सम्बद्धता एवं सम्बन्ध के मूल में रूढ़ि अथवा प्रयोजन की योजना होती है।

---

१ गुरु चंदन हम अरंड बापुरौ निकट तुम्हारे बासा।
बीच बिरिछ तें ऊँच भये हैं तैरी बास सुबासन बासा॥ —रै० बा० पद १८ पृ० १४।

२ का० र० पृ० १६।

स्पष्टतया रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण मुख्यार्थ के साथ बाधपूर्ण सम्बद्धता है। सारोपा लक्षणा में अनाच्छादित-स्वरूप विषय (उपमेय) का अन्य (उपमान) के साथ अभेद-ज्ञान स्थापित होता है।[1] आरोप के विषय और आरोप्यमाण विषयी में अभेदात्मक आरोप होना चाहिए। रूपक अलकार में इसी की अपेक्षा होती है, स्वय शुक्लजी इसे स्वीकार करते हैं।[2] रूपक में उपमेय-उपमान का अभेद स्थापन अपेक्षित है।[3] आरोप के कारण दोनो में भिन्नता अवश्य रहती है किन्तु ज्ञान अभेदात्मक होता है अर्थात् अभेदात्मकता आहार्य है, वास्तविक नही। निगिरणपूर्वक विषय के साथ विषयी का अभेद प्रतिपादन अध्यवसान है।[4] विषयी (आरोप्यमाण) में विषय (आरोप का पात्र) इस प्रकार लीन हो जाता है कि भेद-प्रतीति का अवसर ही उपस्थित नही होता।[5] अन्योक्ति और अतिशयोक्ति में साध्यवसान लक्षणा की अपेक्षा है कारण इसमें अध्यवसान सिद्ध होता है अर्थात् उपमेय निगीर्ण होकर उपमान मात्र कथित होता है। रस-गगाधर के अनुसार निदर्शना मे भी साध्यवसाना लक्षणा होती है।[6] रूपक में उपमेय और उपमान दोनो का स्पष्ट उल्लेख होता है अत अभेद आरोपित एव आहार्य है एव अतिशयोक्ति में केवल उपमान का कथन होता है अत. अभेद के मूल में रूप, धर्म अथवा प्रभाव का साम्य होना चाहिए। विशिष्ट-प्रयोजन-वश अथवा परम्परा के कारण ही अभेद की कल्पना रूपक में है जिसके अ-भेदत्व मे भी भिन्नता है, और अतिशयोक्ति में अभेद की अपेक्षाकृत पूर्ण स्थिति रहती है। साध्यवसान शब्द-शक्ति है और रूपक अलकार-योजना जिसमें आरोप होता है, ऐसी अवस्था में साध्यवसान रूपक अशास्त्रीय योजना। सरूपक (Allegory) वस्तुत एक सश्लिष्ट मूर्त-विधान है जिसमें किसी वस्तु के वर्णन में अन्य वस्तु का वर्णन अन्तर्निहित रहता है। सरूपक एक वस्तु के स्थान में अन्य वस्तु का विधान उपस्थित करता है।[7] सरूपक अन्योक्ति है जिसके प्रत्येक अवयव का निरूपण सावयव रूपक की भाँति सदा अपेक्षित नही। उसके अवयवो का उल्लेख किसी विशेष उद्देश्य अथवा प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है। अन्योक्ति पद्धति की क्षमता अर्थ-श्लेष के द्वारा सादृश्य योजना में है। अन्योक्ति में आरोप्यमाण और आरोप के विषय में रूढिगत अथवा प्रयोजन-सिद्ध अभेदत्व है, किन्तु दोनो वस्तुएँ भिन्न अवश्य हैं। अन्योक्ति अन्य के प्रति की गई उक्ति है और प्रत्यक्ष के गर्भ में अ-प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष छिपा रहता है। इसमें प्रस्तुत द्वारा अ-प्रस्तुत का वर्णन नही बल्कि प्रस्तुत के प्रसग द्वारा अ-प्रस्तुत प्रसग की उद्भावना देखी जाती है।

हसा प्यारे, सरवर तजि कँह जाय ?
जेहि सरवर बिच मोती चुगते, बहु विधि केलि कराय ॥

---

१ सा० द०, अध्याय २, ८। २ रस-मीमासा, पृ० ३७७।

३. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो ।—का० प्र०, दशमोल्लास, सू० १३९

४ सा० द०, परिच्छेद २, ९। ५ का० प्र०, द्वितीयोल्लास, सू० १५।

६ रस-गगाधर की हिन्दी टीका, दि० भा०, पृ० ४२५।

७ Literally a description of one thing under the image of another the allegory substitutes one thing for another

—फर्म एन इनसाइक्लोपिडिया ऑव रेलिजन, न्यूयार्क १९४५।

अभिधेयार्थ का बाध लक्षणा और व्यंजना में होता है। प्रतीक में मुख्यार्थ का बाध नहीं होता। 'ज्योति' का मुख्यार्थ ज्योति ही गृहीत होता है, इससे भिन्न नहीं। ज्योति से संबंध रखने वाला कोई अन्य अर्थ भी इसके द्वारा लक्षित नहीं होता। प्रतीकत्व की धारणा में स्थूल वस्तुएँ सूक्ष्म भावना के संकेत में पूर्णतया समर्थ नहीं हो सकतीं ससीम में असीम की व्याप्ति है किन्तु पूर्णता नहीं। अपूर्ण पूर्णता के माध्यम द्वारा ही पूर्ण पूर्णता का आभास दिया जा सकता है। अपूर्ण पूर्ण नहीं बल्कि पूर्ण की अभिव्यक्ति का माध्यम है। व्यंजना और लक्षणा शक्तियाँ अभिधेयार्थ का बाध अपेक्षित मानती हैं। प्रतीक और उसके द्वारा संकेतित वस्तु में तात्त्विक विभेद नहीं होता। पूर्णता की आंशिक अभिव्यक्ति यहाँ रहती है, अतः आंशिकता के माध्यम से पूर्णता का संकेत मिलेगा। परम-तत्त्व के विस्तार को ही सृष्टि-क्रम मानने वाला यह कैसे स्वीकार कर सकेगा कि दृश्यमान् जगत् में उस आदि तत्त्व का आभास नहीं। जगत् को प्रातिभासिक स्वीकार करने वाला इसकी बाह्यता पर ही विचार करता है। संत ने जगत् की वस्तुओं और व्यापारों के माध्यम द्वारा तात्त्विक स्वरूप की अभिव्यक्ति की है। प्रतीकत्व में अभिव्यंजना है किन्तु व्यंजना-शक्ति की सीमाएँ नहीं। प्रतीक का सम्बन्ध दार्शनिक विचारधारा के साथ है, यद्यपि व्यंजना वृत्ति की स्थापना में अद्वैतवादी दर्शन की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। प्रतीक की भी सीमाएँ होती हैं। तुलसी राम के व्यापारों की स्वाभाविकता और मानवीयता से भयभीत हो पाठकों को बार-बार स्मरण कराते हैं कि राम स्वयं भगवान् हैं, नर-लीला कर रहे हैं और इन्हें सामान्य मनुष्य समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। संत भी अपने प्रतीकों की सीमाओं से परिचित है, वह स्पष्ट रूप से जानता है कि कोई ऐसी वस्तु नहीं जो परम-तत्त्व का किसी रूप में प्रतिबिम्बित कर सके वह एकान्त रूप से अपने आप जैसा है। परम-तत्त्व का आंशिक रूप जो अभिव्यक्त हुआ है, उसमें तात्त्विक एकता और घनिष्ट सम्बन्ध होने पर भी भेद है। किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में इसे अभेदात्मक भेद कहेंगे भेदमूलक अभेद (= विशिष्टाद्वैत) से यह भिन्न है। चन्दन और एरण्ड दोनों काठ की जातियाँ हैं तात्त्विक अभेद दोनों में है।[1] चन्दन की सुगंधि एरण्ड को सुगन्धित करने में समर्थ है। चंदन और सद्गुरु जो संत के लिए परम-गुरु से सर्वथा अभिन्न है के प्रतीकात्मक विधान में अपूर्ण पूर्ण को संकेतित कर रहा है।

प्रतीक और साध्यवसान रूपक

शुक्लजी के अनुसार 'यहूदियों और पुराने ईसाइयों में धर्म-सम्बन्धी बातों को मूर्तरूप में प्रकट करने के लिए साध्यवसान रूपकों (Allegories) का प्रचार था और साध्यवसान रूपक एक बड़ा विधान है।'[2] साध्यवसान रूपक शुक्लजी द्वारा गढ़ा हुआ पारिभाषिक शब्द है जिसमें साध्यवसाना लक्षणा और रूपक की सम्मिलन-स्थापना हुई है। लक्षणा में मुख्यार्थ का बाध किन्तु इसमें सम्बद्धता एवं साम्य के मूल में रूढ़ि अथवा प्रयोजन की योजना होती है।

१ गुरु चंदन हम अरंड बापुरे निकट तुम्हारे बासा।
बास दिये तें अँग भये हैं तैसी बास सुबासन बासा॥ —रै० बा०, पद १८, पृ० १४।
२ का० र० पृ० १५।

वास्तविक अथवा कल्पित व्यक्ति का प्रतिरूप है। प्रतिमा के अतिरिक्त कोई चिह्न अथवा अन्य वस्तुएँ भी स्थानापन्न है, शालग्राम विष्णु का। जीव को सन्त जब हस कहता है तो निश्चयपूर्वक हस जीव का अवयव नही और न उसका स्थानापन्न अथवा प्रतिरूप। 'हस' के द्वारा जीव का सकेत मिलता है, हस और जीव भिन्न है। उपमेय (जीव) का उपमान (हंस) द्वारा निगिरण होने से साध्यवसान लक्षणा है। लक्षणा के आधार-स्वरूप सादृश्य, कार्य-कारण-सम्बन्ध, इनमें अवयवावयवि-सम्बन्ध, आधाराधेय-सम्बन्ध, तात्कर्म्य-सम्बन्ध[1] इनमें नही। हस और जीव में रूप-साम्य नही, वास्तविक धर्म-साम्य भी नही, केवल धर्म-साम्य का अभेदात्मक आरोप है। उपमेय के साध्यवसान के साथ अभेद का आरोप है जो रूपक की आत्मा है। अत वाह्यार्थ दृष्टि से साध्यावसान रूपक है।[2] 'एक ज्योति (आत्मा) ऐक ज्योति (ब्रह्म) से मिल गई' में ज्योति का ज्योति को निगीर्ण करना आरोप मात्र नही, इनमें आरोपित अभेद भी नही। सन्त के अनुसार वास्तविक अभेद है। यह स्थूल ज्योति सूक्ष्म-तत्व-रूप परम-ज्योति को इगित करती है। अपूर्ण विषय यहाँ पूर्ण विषयी की सूचना देता है, प्रतीयमान बनाता है। 'प्रतीयते प्रत्येति वा इति[3] के अनुसार यह प्रतीक है। एक अपूर्ण वस्तु के माध्यम से पूर्ण वस्तु अथवा भावना-विचार को सकेतित करना एव अमूर्त का मूर्त-विधान ही प्रतीक द्वारा होता है। प्रतीक यहाँ केवल चिह्न, प्रतिरूप, स्थानापन्न वस्तु अथवा प्रतीमा नही।

प्रतीक के दो रूप हैं—समर्थ प्रतीक और साकेतिक प्रतीक। प्रतीक के साथ परम्परा और रूढ़ि का सम्बन्ध है। प्रतीको का अपना इतिहास होता है और इस भूमिका में इनका अध्ययन होना चाहिए, किन्तु इसके साथ तत्कालीन चेतना को सीमाएँ भी सन्निहित हैं। अभिधेयार्थ की सीमा प्रतीक को अपूर्ण एव अक्षम बनाती है। वस्तु में अपनी कोई ऐसी शक्ति निहित नही जो सकेतमत्ता का कारण हो। जहाँ वस्तु किसी पूर्ण की सूचना देती है, वहाँ समर्थ प्रतीकत्व हैं और जहाँ वस्तु सकेत मात्र उपस्थित करती है, वहाँ साकेतिक। सन्तो ने साकेतिक प्रतीको का ही अधिक उपयोग किया है। सकेतमत्ता रूढि, प्रयोजन अथवा काल्पनिकता के सम्बन्ध से आती है। यह न तो पूर्णतया रूढ, स्वच्छन्द अथवा यन्त्रवत् ही है।

प्राकृतिक अथवा दृश्य वस्तुओ के माध्यम से किसी सत्य, भावना और विचार की अभिव्यक्ति प्रतीक में होती है। इसका लक्ष्य साकेतिकता और अन्तर्दर्शन है। प्रतीक सूक्ष्म भावना का स्थूल सकेत है अथवा सूक्ष्म भावना का स्थूल रूप। यह एक प्रकार की भाषा है जिसका सामाजिक आधार है। इसकी मूर्तिमत्ता में दैनन्दिन जीवन के चित्र हैं जिनके द्वारा सार्वभौम भावना और काम्य स्थितियो की सूचना मिलती है। भावनाएँ अपने वास्तविक और पूर्ण रूप में अभिव्यक्त नही हो सकती, प्रतीक उन्हें सकेतित और सूचित करने का विधान है। दिक् और काल की सीमाओ में आबद्ध वस्तुओ के द्वारा सर्वदेशीय और सार्व-

---

१ अभिधेयेन सम्बन्धात्सादृश्यात्समवायत । वैपरीत्यात्क्रिया योगाल्लक्षणा पचधा मता।
—अभिधावृत्ति मातृका, पृ० १७।

२ एक जोति एका मिली किंबा होइ महोई।—स० क०, गउडी ५५, पृ० ५८।

३ शब्द कल्पद्रुम, भाग ३, पृ० २६८।

सूख ताल पुरइनि जल छोड़े कमल गयो कुँभिलाय।
कहु कबीर जो अबकी बिछुरे बहुरि मिलै कब आय ॥[१]

प्रकृति के सम्भावित चित्र द्वारा प्रसंग की कल्पनात्मक योजना यहाँ उपस्थित की गई है। ताल के सूखने पुरइनि के विलग होने तथा कमल के कुँभिलाने के साथ हंस के सरोवर त्याग की चर्चा है। प्रत्येक प्रसंग की योजना विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए है। उपमान द्वारा उपमेय का निगिरण नहीं हुआ जैसा कि रूपकातिशयोक्ति अलंकार में होता है क्योंकि इस अलंकार में निगरण होने पर भी भेद तो रहता ही है। चन्द्रमा मुख नहीं यद्यपि चन्द्रमा द्वारा मुख का कथन होता है। हंस और जीव में भेद है किन्तु इसके साथ अभेद भी। संरूपक में इस अभेदात्मक भेद की अपेक्षा रहेगी। हंस और सरोवर का सम्बन्ध कवि प्रसिद्धि के अनुकूल नहीं कारण न तो प्रत्येक सरोवर में हंस होता है और न मोती। प्रसंग के अनुसार सरोवर को मानसरोवर माना जाय तो वह कभी सूखता नहीं। परम्परा के अनुसार 'सरवर' को शरीर माना गया है और हंस को जीव।[२] मोती को महात्मा पूरन साहब 'मुक्ति' विश्वनाथ सिंह की टीका ज्ञान योगादिक साधन और विचारदास ज्ञान मानते हैं।[३] यद्यपि १४वें शब्द में मोती का स्पष्ट संकेत है—हरिजन हंस दशा लिये डोलैं। निर्मल नाम चुनि चुनि बोलैं। अतः निर्मल नाम ही मोती है।

संरूपक और अन्योक्ति

संरूपकों में प्रतीकत्व है, अन्योक्ति पद्धति और परम्परा में होते हुए भी इन्हें पूर्णतया अन्योक्ति नहीं चाहिए। हंस और जीव का साधर्म्य आरोपित नहीं बल्कि तात्विक है। मोती और नाम में निर्मलता का प्रकार-भेद मात्र है। अन्योक्ति संश्लिष्ट रूप-योजना की ही पद्धति में है। अन्योक्ति में प्रतीकत्व संरूपकों को वैधानिक स्वरूप देता है। संरूपक के लिए अन्योक्ति की पूर्ण योजना सदा अपेक्षित नहीं। अन्योक्ति में विधान का अन्तःसत्व है और संरूपक में वैशिष्ट्य। सन्तों ने संरूपकों के लिए सामान्य जीवन तथ्यों और चित्रों को लिया है। इन चित्रों के माध्यम से आध्यात्मिक तत्व धारणा और विश्वास तथा जीवन के स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है। आध्यात्मिक तत्वों के उद्घाटन के लिए जीवन की अवस्था के वर्णन द्वारा सामाजिक जीवन का चित्र उपस्थित किया जा सकता है।[४]

प्रतीक

'प्रतीक' का प्रयोग इन स्पष्ट अर्थों में होता है—(१) अवयव अंग (२) पता चिह्न संकेत (३) प्रतिरूप स्थानापन्न वस्तु (४) प्रतिमा मूर्ति।[५] प्रतिमा किसी

---

१ बीजक शब्द ११।   २ द्रष्टव्य—विचारदास की टीका पृ १११।
३ त्रिज्या टीका पृ १ ८ वि सिंह की टीका पृ २७५ और वि दा की टीका पृ १११।
४ मन बनिया बान न छोड़ै ॥ टेक ॥
पूरा बाट तरे खिसकावै बटिया की टकटोरै।
पासंग में कर चतुराई पूरा कबहुँ न तोलै ॥—म बा भाग २ शब्द १० पृ ११।
५। हि० वि को नगेन्द्रनाथ वसु, भाग २४ पृ ५४१।

वास्तविक अथवा कल्पित व्यक्ति का प्रतिरूप है। प्रतिमा के अतिरिक्त कोई चिह्न अथवा अन्य वस्तुएँ भी स्थानापन्न है, शालग्राम विष्णु का। जीव को सन्त जब हस कहता है तो निश्चयपूर्वक हस जीव का अवयव नही और न उसका स्थानापन्न अथवा प्रतिरूप। 'हस' के द्वारा जीव का सकेत मिलता है, हस और जीव भिन्न हैं। उपमेय (जीव) का उपमान (हस) द्वारा निगिरण होने से साध्यवसान लक्षणा है। लक्षणा के आधार-स्वरूप सादृश्य, कार्य-कारण-सम्बन्ध, इनमें अवयवावयवि-सम्बन्ध, आधाराधेय-सम्बन्ध, तात्कर्म्य-सम्बन्ध[1] इनमें नही। हस और जीव में रूप-साम्य नही, वास्तविक धर्म-साम्य भी नही, केवल धर्म-साम्य का अभेदात्मक आरोप है। उपमेय के साध्यवसान के साथ अभेद का आरोप है जो रूपक की आत्मा है। अत वाह्यार्थ दृष्टि से साध्यावसान रूपक है।[2] 'एक ज्योति (आत्मा) ऐक ज्योति (ब्रह्म) से मिल गई' में ज्योति का ज्योति को निगीर्ण करना आरोप मात्र नही, इनमें आरोपित अभेद भी नही। सन्त के अनुसार वास्तविक अभेद है। यह स्थूल ज्योति सूक्ष्म-तत्व-रूप परम-ज्योति को इगित करती है। अपूर्ण विषय यहाँ पूर्ण विषयी की सूचना देता है, प्रतीयमान बनाता है। 'प्रतीयते प्रत्येति वा इति[3] के अनुसार यह प्रतीक है। एक अपूर्ण वस्तु के माध्यम से पूर्ण वस्तु अथवा भावना-विचार को सकेतित करना एव अमूर्त का मूर्त-विधान ही प्रतीक द्वारा होता है। प्रतीक यहाँ केवल चिह्न, प्रतिरूप, स्थानापन्न वस्तु अथवा प्रतीमा नहीं।

प्रतीक के दो रूप हैं—समर्थ प्रतीक और साकेतिक प्रतीक। प्रतीक के साथ परम्परा और रूढ़ि का सम्बन्ध है। प्रतीको का अपना इतिहास होता है और इस भूमिका में इनका अध्ययन होना चाहिए, किन्तु इसके साथ तत्कालीन चेतना की सीमाएँ भी सन्निहित हैं। अभिधेयार्थ की सोमा प्रतीक को अपूर्ण एव अक्षम वनाती हैं। वस्तु में अपनी कोई ऐसी शक्ति निहित नही जो सकेतमत्ता का कारण हो। जहाँ वस्तु किसी पूर्ण की सूचना देती है, वहाँ समर्थ प्रतीकत्व हैं और जहाँ वस्तु सकेत मात्र उपस्थित करती हैं, वहाँ साकेतिक। सन्तो ने साकेतिक प्रतीको का ही अधिक उपयोग किया है। सकेतमत्ता रूढि, प्रयोजन अथवा काल्पनिकता के सम्बन्ध से आती है। यह न तो पूर्णतया रूढ, स्वच्छन्द अथवा यन्त्रवत् ही है।

प्राकृतिक अथवा दृश्य वस्तुओ के माध्यम से किसी सत्य, भावना और विचार की अभिव्यक्ति प्रतीक में होती है। इसका लक्ष्य साकेतिकता और अन्तर्दर्शन है। प्रतीक सूक्ष्म भावना का स्थूल सकेत है अथवा सूक्ष्म भावना का स्थूल रूप। यह एक प्रकार की भाषा है जिसका सामाजिक आधार है। इसकी मूर्तिमत्ता में दैनन्दिन जोवन के चित्र हैं जिनके द्वारा सार्वभौम भावना और काम्य स्थितियो की सूचना मिलती है। भावनाएँ अपने वास्तविक और पूर्ण रूप में अभिव्यक्त नही हो सकती, प्रतीक उन्हें सकेतित और सूचित करने का विधान है। दिक् और काल की सीमाओ में आबद्ध वस्तुओ के द्वारा सर्वदेशीय और सार्व-

---

१ अभिधेयेन सम्बन्धात्सादृश्यात्समवायत। वैपरीत्यात्क्रिया योगाल्लक्षणा पचधा मता।
—अभिधावृत्ति मातृका, पृ० १७।

२ एक जोति एका मिली किंवा होइ महोई।—स० क०, गउडी ५५, पृ० ५८।

३ शब्द कल्पद्रुम, भाग ३, पृ० २६८।

आत्मिक भावना की अभिव्यक्ति प्रतीक के माध्यम द्वारा होती है। प्रतीक भौतिक जीवन और आध्यात्मिक तत्त्व की माध्यमिक कड़ी है। सन्तों के काव्य की प्रेरणा आध्यात्मिक भावना है, अतः उनकी कला ऐसी भाषा का निर्माण चाहती है, जिसके द्वारा उसका संकेत किया जा सके। सन्त-काव्य मूलरूप में प्रतीकात्मक है और इस प्रतीकात्मकता का उपयोग इनके विधान की निजी विशेषता है। प्रतीक की सामर्थ्य इसकी सांकेतिक क्षमता भावोद्रेक और अनुभूति की तीव्रता में है। यह ध्यान में रखना होगा कि इस सामर्थ्य का उपयोग कर्म-काण्डोपासना में संलग्न व्यक्तियों के लिए नहीं इसकी सामर्थ्य मानव की प्रातिभ भावात्मकता में है।

अण्डरहिल ने प्रतीक के तीन वर्गों का उल्लेख किया है। मानव के विविध उद्देश्य के कारण ही ऐसा विभाजन है। प्रथमतः संसार के माया-जाल से मुक्त होकर वास्तविकता का अन्वेषण वह करता है, इस दृष्टि से मानव यात्री है। दूसरी अवस्था में हृदय से हृदय के मिलन की आकांक्षा है जिसमें आत्मा पूर्णात्मा से मिलन की चाह रखती है और तृतीय वर्ग में नैतिक जीवन से सम्बद्ध भावनाएँ आती हैं। इन तीनों आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति तीन प्रकार के प्रतीकों द्वारा होती है।[1] सन्त में इन वर्गों की भिन्नता स्पष्ट नहीं, वह एक साथ ही अमर लोक का यात्री प्रेमी और नैतिक भावना-सम्बद्ध है।

प्रतीकोपासना

सगुणोपासना में सगुण रूप की कल्पना प्रारम्भ में प्रतीकात्मक थी केवल विग्रह अथवा मूर्ति के रूप में नहीं बल्कि उसके अपने संकेतात्मक रूप में भी। मूर्त-रूप की कल्पना द्वारा पूर्णता के संकेत मिलते थे। मूर्ति अंत नहीं उससे परम पूर्णता का संकेत मिलता था जिसकी चाह सगुणोपासक साधक में थी। संकेतात्मक प्रतीक क्रमशः विग्रह अथवा प्रतिरूप एवं तत्पश्चात् पूज्य रूप बन गया। कबीरदास और अन्य सन्तों ने स्पष्ट रूप से लक्षित किया था कि उस युग में प्रतीक प्रतीक नहीं रह गए थे और साधारण जनता प्रतीकोपासना के तत्त्व सार से अपरिचित थी। मूर्तियाँ देवतत्त्वों से परिपूर्ण नहीं उनमें देवत्व की कल्पना भक्त-भावना के कारण है। ॐ तत्, सत्, हरि, विष्णु आदि सभी प्रतीकात्मक हैं, क्योंकि इनमें ब्रह्म-बुद्धि स्थापित करनी पड़ती है और इस प्रकार किसी वस्तु अथवा नाम में ब्रह्म-बुद्धि न्यस्त कर उपासना करने को प्रतीकोपासना कहते हैं। सन्त-मत का नाम-स्मरण भी प्रतीकोपासना है यद्यपि स्थूल मूर्ति की अपेक्षा नाम सूक्ष्म प्रतीक है। शंकर के अनुसार प्रतीक में अहं-ज्ञान न्यस्त करना उचित नहीं क्योंकि प्रतीकोपासक प्रतीक को अहं अर्थात् आत्मा नहीं मानते। 'न प्रतीके नहि सः'[2] के भाष्य में शंकर ने लिखा है— मन ब्रह्म है, मन की ऐसी उपासना का नाम अध्यात्म उपासना है। आकाश ब्रह्म है, ऐसी उपासना का नाम आधिदैवोपासना है।[3] नाम रूप से ब्रह्मोपासना ही नाम-ब्रह्मोपासना है। अध्यात्म आधिदैव और नाम-ब्रह्म इत्यादि रूप से उपासना का नाम ही प्रतीकोपासना है।[4] प्रतीकोपासना के इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सूक्ष्म (= ब्रह्म) की स्वरूप-योजना एवं भक्ति के लिए मन (=सूक्ष्म)

१ मिस्टिसिज्म पृ० १२६-२७।
२ ब्र० सू० ४।१।४।
३ छांदोग्य ३।१९ की शांकरी टीका।
४ हि० वि० को० भाग १४ पृ० ५४६।

आकाश (= दृश्य) और नाम (= श्रव्य) का विधान है। अत' जो नाम-रूपात्मक वस्तु उपास्य के चिह्न अथवा पहचान के लिए अवतार, अश या प्रतिनिधि के रूप में—प्रयुक्त होती है, उसी को प्रतीक कहते हैं। प्रतीक का धात्वर्थ है, ओर (= प्रति) + झुका हुआ (=इक) अर्थात् गोचर वस्तु वास्तविक वस्तु की ओर झुक कर उसका सकेत करती है। इस प्रकार के के प्रतीको की उपासना ही प्रतीकोपासना है।

प्रत्येक धर्म-साधना में प्रतीक विधान की मान्यता है। मुस्लिम-धर्म में मूर्त्ति-पूजा, युत-परस्ती की निन्दा है किन्तु वहाँ भी प्रतीकों का अभाव नही। किसी भी मुस्लिम के लिए मस्जिद केवल उपासना-स्थल नही वल्कि उपासना और धार्मिकता का प्रतीक है। प्रतीक पीछे चल कर सकेतित वस्तु से महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। अलिफ में सात विन्दु-तत्त्व माने जाते हैं जो ससार में खुदा की सात विन्दु रूप में छाया फैलाने के प्रतीक हैं और अरवी वर्णमाला के अट्ठाईस अक्षरो में 'अलिफ' ही किसी-न-किसी रूप में वर्त्तमान है। ईसाई धर्म प्रतीको से परिपूर्ण है। प्राचीन काल में किसी तथ्य को छिपाने के लिए चित्रो, शव्दो के सक्षिप्त रूप अथवा वर्गों के अनमेल सगठन का प्रयोग होता था। अश्रद्धालु और अनधिकारी से गुह्य रखने के लिए धार्मिक सकेतो का प्रयोग होता था। मुस्लिम धर्म आक्रमणकारी रहा अत. धार्मिक सकेतो का गुह्यात्मक प्रयोग नहीं। सूफी धर्म-साधना को विधि-निपेधपूर्ण धार्मिक सस्थान से विरोध सहन करना पडा, अत. अपनी स्वाभाविक वृत्तियो की अभिव्यक्ति के लिए साकेतिक प्रतीक-विधान की सहायता लेनी पडी। प्रेम खराव हो गया और उसकी विकृति ने सुरा-प्रेम को प्रेम का प्रेम बनाने का दावा किया। कितने सुरा-प्रेमियो ने सूफी मत का आश्रय लेकर सुरा-प्रेम को आत्यन्तिक महत्त्व प्रदान किया। बौद्ध धर्म में चक्र (धर्म-चक्र) धर्म का प्रतीक बना, वुद्ध के चरण-चिह्न बुद्ध के प्रतिनिधि हुए। चक्र की विकृति ने तन्त्र-मत को वह स्वरूप दिया, जिसके कारण उसे अनेक प्रकार के विरोध सहन करने पडे।

धार्मिक प्रतीक और सामान्य प्रतीक

धार्मिक प्रतीक और सामान्य प्रतीक में अन्तर है, 'वदतो व्याघात दोष' के कारण जिसे प्रतीकात्मक प्रतीक नहीं कहा जा सकता। धार्मिक प्रतीक जहाँ उपासना के क्षेत्र का विस्तार अथवा तथ्यों को गुह्य और गुप्त रखने के साधन हैं वहाँ सामान्य प्रतीक सकेत देते हैं। सकेत और सकेतित वस्तुओ में अगागि, आधाराधेय, साहचर्य एव सामीप्य सम्बन्ध होता है यद्यपि स्वतन्त्र सकेतों का अभाव नही। सकेत दृश्य और वाह्य चिह्न हैं जिनके स्वरूप-निर्माण में सिद्धान्त, आध्यात्मिक विचार, नैतिक भावना और अनुभूति-भावना का प्रभाव रहता है।

प्रातिनिधिक प्रतीक

कवीर का पडित-जैसा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लक्षित किया है—अत्यन्त अदना आदमी है, तत्त्वज्ञान से रहित, बाह्याचार के आतक से आतकित एव आत्मज्ञान-शून्य, व्रत-उपासना का कट्टर विश्वासी और धार्मिक बन्धनो में अटूट विश्वास रखनेवाला अटट गँवार।[1] कवीरदास 'पडित' (पाडे) के द्वारा इन सभी तत्त्वो की ओर सकेत कराना चाहते हैं और

---

१ कवीर, पृष्ठ:१३२।

कालिक भावना को अभिव्यक्ति प्रतीक के माध्यम द्वारा होती है। प्रतीक भौतिक जीवन और आध्यात्मिक तत्त्व की माध्यमिक कड़ी है। सन्तों के काव्य की प्रेरणा आध्यात्मिक भावना है, अत: उनकी कला ऐसी भाषा का निर्माण चाहती है, जिसके द्वारा उसका संकेत दिया जा सके। सन्त-काव्य मूलरूप में प्रतीकात्मक है और इस प्रतीकात्मकता का उपयोग इसके विधान की निजी विशेषता है। प्रतीक की सामर्थ्य इसको संकेतिक क्षमता भावोद्रेक और अनुभूति की तीव्रता में है। यह ध्यान में रखना होगा कि इस सामर्थ्य का उपयोग कर्म-काण्डोपासना में संलग्न व्यक्तियों के लिए नहीं इसकी सामर्थ्य मानव की प्रातिभ भावात्मकता में है।

अण्डरहिल ने प्रतीक के तीन वर्गों का उल्लेख किया है। मानव के विविध उद्वेग के कारण ही ऐसा विभाजन है। प्रथमत: संसार के माया-जाल से मुक्त होकर वास्तविकता का अन्वेषण वह करता है, इस दृष्टि से मानव यात्री है। दूसरी अवस्था में हृदय से हृदय के मिलन की आकांक्षा है जिसमें आत्मा पूर्णात्मा से मिलन की चाह रखती है और तृतीय वर्ग में नैतिक जीवन से सम्बद्ध भावनाएँ आती हैं। इन तीनों आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति तीन प्रकार के प्रतीकों द्वारा होती है।[1] सन्त को इन वर्गों की भिन्नता स्पष्ट नहीं वह एक साथ ही अमर लोक का यात्री प्रेमी और नैतिक भावना-सम्बद्ध है।

प्रतीकोपासना

सगुणोपासना में सगुण रूप की कल्पना प्रारम्भ में प्रतीकात्मक थी, केवल विग्रह अथवा मूर्ति के रूप में नहीं बल्कि उसके अपने संकेतात्मक रूप में भी। मूल-रूप की कल्पना द्वारा पूर्णता के संकेत मिलते थे। मूर्ति अंत नहीं उससे परम पूर्णता का संकेत मिलता था जिसकी चाह सगुणोपासक साधक में थी। संकेतात्मक प्रतीक क्रमश: विग्रह अथवा प्रतिरूप एवं तत्पश्चात् पूज्य रूप बन गया। कबीरदास और अन्य सन्तों ने स्पष्ट रूप से कथित किया था कि इस युग में प्रतीक प्रतीक नहीं रह गए थे और साधारण जनता प्रतीकोपासना के तत्त्ववाद से अपरिचित थी। मूर्तियाँ देवतत्त्वों से परिपूर्ण नहीं उनमें देवत्व की कल्पना अन्त-भावना के कारण है। ॐ तत्, सत्, हरि, विष्णु आदि सभी प्रतीकात्मक हैं, क्योंकि इनमें ब्रह्म-बुद्धि स्थापित करनी पड़ती है और इस प्रकार किसी वस्तु अथवा नाम में ब्रह्म-बुद्धि न्यस्त कर उपासना करने को प्रतीकोपासना कहते हैं। सन्त-मत का नाम-स्मरण भी प्रतीकोपासना है यद्यपि स्थूल मूर्ति की अपेक्षा नाम सूक्ष्म प्रतीक है। शंकर के अनुसार प्रतीक में अहं-भाव न्यस्त करना उचित नहीं क्योंकि प्रतीकोपासक प्रतीक को अहं अर्थात् आत्मा नहीं मानते। 'न प्रतीके नहि स' [2] के भाष्य में शंकर ने लिखा है—"मन ब्रह्म है, मन की ऐसी उपासना का नाम अध्यात्म उपासना है। आकाश ब्रह्म है, ऐसी उपासना का नाम आधिदैवोपासना है।[3] नाम रूप से ब्रह्मोपासना ही नाम-ब्रह्मोपासना है। अध्यात्म आधिदैव और नाम-ब्रह्म इत्यादि रूप से उपासना का नाम ही प्रतीकोपासना है।'[4] प्रतीकोपासना के इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सूक्ष्म (= ब्रह्म) की स्वरूप-योजना एवं संकेत के लिए मन (=सूक्ष्म)

---

१ मिस्टिसिज्म पृ १२६-२७।
२. ब्र सू ४।१।४।
३ छांदोग्य ३।१९ की शांकरी टीका।
४ हि वि को भाग २४ पृ ५४६।

चार—वेद, युग, पद, दिशा, पदार्थ।

पाँच—तत्व, इन्द्रियाँ, प्राण, तन्मात्रा, मुद्रा, अवस्था।

नव—द्वार (इन्द्रिय-द्वार) , द्रव्य, खड, निधि, नाथ।

प्रयोगो पर विचार करने से स्पष्ट रूप मे लक्षित किया जाय तो सर्वत्र इनका प्रयोग साध्यवसान के रूप में नही हुआ है, सख्या के साथ सकेतित वस्तु का उल्लेख भी हुआ है। कबीर दास और अन्य सन्तो में दोनो प्रकार की प्रणाली का उपयोग हुआ है। सख्या के साथ विषयो का जहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है, उनमें कुछ नीचे उद्धृत हैं—

तेरो जन होई सोई कत डोले तीन भवन पर छाजा। –स० क०, सूही ५ पृ० १५६।

तीन जगाती करत रार। –वही, बसन्तु ६, पृ० २३६।

चारिवेद अरु सिम्रिति पुराना—वही, धनासिरी १।

पच चोर की जागै रीति—वही, गउडी ७७।

पांचउ इन्द्री निग्रह करई—वही।

खट दरसन ससे परे—वही, श्लोकु २०२।

मानौ सभ सुख नउ निधि ताकैं—वही, बिलावलु १२, पृ० १६३।

रूप-साम्य, धर्म-साम्य अत प्रभाव-साम्य साध्यवसान के लिए अपेक्षित हैं। विशेषण द्वारा विशेष्य का धर्म सूचित होता है अथवा व्याप्ति मर्यादित होती है, उसके द्वारा विशेष्य का निगिरण कैसे सभव है ? सख्या विशेषण ही है और दोनो में कार्य-कारण, तात्कर्म्य अथवा अवयवावयवि-सम्बन्ध भी नही।

प्रतीकात्मक रूपक

प्रतीकात्मक रूपक में पूर्ण रूप-योजना अपेक्षित है जैसी सावयव अथवा सागरूपक में।

किउ लीजै गढ़ बका भाई । दोवर कोट अव तेवर खाई ।।

पाच पचीस मोह मद मतसर आडी परवल माइआ।
जन गरीब को जोरु न पहुँचै कहाँ करउ रघुराइआ ।।
काम किवारो दुख सुखु दरवानी पाप पुन दरवाजा।
क्रोध प्रधानु महा बड दुदर तह मनु मावासी राजा ।।
स्वाद सनाह टोप ममता को कुबुधि कमान चढाई।
तिसना तीर रहे घट भीतरि इउ गढु लीओ न जाई ।।
प्रेम पलीता सुरति हवाई गोला गिआनु चलाइआ।
ब्रह्म अगनि सहजे परजाली एकहि चोट सिआइआ ।।
सत सतोखु लै लरने लागा तोरे दुइ दरवाजा।
साधसगति अरु गुरु की क्रिपा ते पकरिओ गढ को राजा ।।
भगवत भीरि सकति सिमरन की कटी काल मै फासी।
दासु कबीर चढिओ गढ ऊपरि राजु लीओ अबिनासी ।।[1]

---

१ सं० क०, रागु भैरउ १७, पृ० २२४।

उसी प्रकार मुल्ला और काजी भी बाह्याचार के प्रतीक और प्रतिनिधि हैं जिनकी प्रबलता कबीर के युग तक हो चुकी थी। न्यायकर्त्ता काजी न्याय का मखौल उड़ाता था। बाह्य धार्मिक आचरण की मान्यता प्रदर्शित करनेवाले मुसलमान मानव-धर्म-विरोधी कृत्यों में संलग्न थे। धर्माचरण वस्तुतः कपटाचरण का बाह्य और व्यक्त रूप था। पण्डितों और मौलवियों की अवस्था इससे अधिक अच्छी नहीं थी। योगी-वेष छल-छद्महीन जनता को ठगने का बहाना था। सांसारिकता में फँसा व्यक्ति आत्म-प्रवञ्चना में लीन था। माया जीव को मुग्ध कर फँसानेवाली ठगिनी थी। इस प्रकार पंडित, मुल्ला, संसार, माया आदि प्रातिनिधिक प्रतीक हैं। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग बहुलता के साथ सन्त-काव्य में हुआ है।

सांकेतिक प्रतीक

चिन्ता-धारा का प्रभाव मूल-विधान पर पड़ता है किन्तु मूल-विधान को चिन्ता-धारा का बाह्य रूप अथवा उसका पूर्ण रूप स्वीकार करना भ्रामक है। संकेत और प्रतीक में अन्तर है। जिन दृश्य पदार्थों अथवा भावों के माध्यम से मात्र वस्तुओं का ज्ञान होता है, वे संकेत हैं और जिनके द्वारा अज्ञात का आभास मिलता है तथा उसकी प्रकृति का परिचय प्राप्त होता है उनकी प्रतीक संज्ञा है। इन दोनों की सीमा-रेखा सदैव स्पष्ट नहीं रहती। संकेत और संकेतित वस्तु में वास्तविक सम्बन्ध की अपेक्षा सदा नहीं मानी जाती। प्रतीक भी केवल कल्पित संकेत मात्र नहीं। भाषा के संकेतों की भाँति धार्मिक संकेत भी रूढ़ि-बद्ध-संयुक्त होते हैं। सभी अथवा अधिक धर्मों में समान रूप से प्रयुक्त संकेत खोजे जा सकते हैं किन्तु संकेत विशिष्ट परिस्थितियों में प्रचलित होते हैं। धार्मिक ग्रन्थों और सम्प्रदायों के मूल में धार्मिक संकेत-रूढ़ और उन संकेतों की गतानुगतिकता का भी मोह अधिक रहता है। सन्तों ने ऐसे धार्मिक संकेत-रूढ़ और सांकेतिक प्रतिक्रिया का विरोध किया है जिसके मूल में संकेत और संकेतित वस्तु में अभेद स्थापित रहता है।

सामान्य प्रतीक

राम-नाम उसके स्वरूप और प्रकृति की अभिव्यञ्जना में गुरुओं द्वारा प्रतिपादित साम्प्रदायिक रूढ़ नहीं, अपितु सामान्य प्रतीक-योजना अथवा रूपक हैं। [illegible] रहती है। [illegible] पद्धति से इनकी भिन्नता है, जिसको और संकेत किया जा चुका है। [illegible] [illegible] नहीं हुआ है [illegible] है।[1] [illegible] [illegible] किया है। कुछ संकेत इस प्रकार हैं :—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[1] [illegible]

चार—वेद, युग, पद, दिशा, पदार्थ।

पांच—तत्व, इन्द्रियाँ, प्राण, तन्मात्रा, मुद्रा, अवस्था।

नव—द्वार (इन्द्रिय-द्वार), द्रव्य, खड, निधि, नाथ।

प्रयोगो पर विचार करने से स्पष्ट रूप में लक्षित किया जाय तो सर्वत्र इनका प्रयोग साध्यवसान के रूप में नही हुआ है, सख्या के साथ सकेतित वस्तु का उल्लेख भी हुआ है। कबीर दास और अन्य सतो में दोनो प्रकार की प्रणाली का उपयोग हुआ है। सख्या के साथ विषयो का जहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है, उनमें कुछ नीचे उद्धृत है—

तेरो जन होई सोई कत डोले तीन भवन पर छाजा। —स० क०, सूही ५ पृ० १५६।

तीन जगाती करत रार। —वही, बसन्तु ६, पृ० २३६।

चारिवेद अरु सिम्रिति पुराना—वही, धनासिरी १।

पच चोर की जागे रीति—वही, गउडी ७७।

पाचउ इन्द्री निग्रह करई—वही।

खट दरसन मसे परे—वही, श्लोकु २०२।

मानो सभ सुख नउ निधि ताकै—वही, बिलावलु १२, पृ० १६३।

रूप-साम्य, धर्म-साम्य अत प्रभाव-साम्य साध्यवसान के लिए अपेक्षित हैं। विशेषण द्वारा विशेष्य का धर्म सूचित होता है अथवा व्याप्ति मर्यादित होती है, उसके द्वारा विशेष्य का निगिरण कैसे सभव है? सख्या विशेषण ही हैं और दोनो में कार्य-कारण, तात्कर्म्य अथवा अवयवावयवि-सम्बन्ध भी नही।

प्रतीकात्मक रूपक

प्रतीकात्मक रूपक में पूर्ण रूप-योजना अपेक्षित है जैसी सावयव अथवा सागरूपक में।

किउ लीजै गढ बका भाई। दोवर कोट अरु तेवर खाई॥

पाच पचीस मोह मद मतसर आडी परबल माइआ।
जन गरीब को जोरु न पहुँचै कहाँ करउ रघुराइआ॥
काम किवारी दुख सुखु दरवानी पाप पुन दरवाजा।
क्रोध प्रधानु महा बड दुदर तह मनु मावासी राजा॥
स्वाद सनाह टोप ममता को कुबुधि कमान चढाई।
तिसना तीर रहे घट भीतरि इउ गढु लीओ न जाई॥
प्रेम पलीता सुरति हवाई गोला गिआनु चलाइआ।
ब्रह्म अगनि सहजे परजाली एकहि चोट सिआइआ॥
सत सतोखु लै लरने लागा तोरे दुइ दरवाजा।
साधसगति अरु गुरु की क्रिपा ते पकरिओ गढ़ को राजा॥
भगवत भीरि सकति सिमरन की कटी काल भै फासी।
दासु कबीर चढिओ गढ़ ऊपरि राजु लीओ अबिनासी॥[1]

---

१ स० क०, रागु भैरउ १७, पृ० २२४।

गढ़-विजय की कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए विजय का विवरण दिया गया है, आरोप्यमाण और आरोप्य-विषय का स्पष्ट उल्लेख है अतः सारोपा लक्षणा है। इसमें रूप-साम्य नहीं अतः शुद्धा है सभी अवयवों और परस्पर-सम्बद्ध विषयों का विवरण है अतः सावयव समस्तवस्तु विषयक रूपक है।

गढ़=शरीर, दुहरे प्राचीर=द्वैत की दीवार, पाप-पुण्य (पाप पुंन दोउ निरवई) तिहरी खाइयाँ=त्रिगुणात्मक स्वरूप (त्रिदोषा तीने सम करि निरवाई) पाँच रक्षक पंच तत्त्व (जिनके कारण शरीर के स्वरूप की रक्षा होती है) पच्चीस (प्रकृतियाँ, जिनके कारण काया का पूर्ण रूप स्पष्ट है) एवं आगे बढ़ कर रक्षा करनेवाली प्रबल माया (=मोह, मद मत्सर स्वरूपिणी) है। शरीर के दुर्ग में काम (=वासना और तज्जन्य व्यापार) की किवाड़ पाप-पुण्य के दरवाजे और सुख-दुःख के दरबान हैं। प्रधान सेनापति (=महाक्रोध) और महाधिपति (=मन) है। दुर्गपति के आयुध-कवच (=स्वाद) शिरस्त्राण (=ममता) कमान (=कुबुद्धि) तीर (=तृष्णा) हैं।

गढ़ पर विजय प्राप्त करने के साधन —

गोला में आग लगाने के लिए पलीता (=प्रेम) सुरति (=स्मृति) की तोप ज्ञान (=गोला) ब्रह्म (=अग्नि लगाना=अध्यात्म-ज्ञान जगाना) सत्य और संतोष (=अस्त्र) आदि हैं। दुर्गपति को पकड़ना (=मन को वशीभूत करना) और उसके साधन हैं साधु-संगति (=सेना) गुरु की कृपा (=सेनानायक) धीर (=भीड़) की मचाना काल और यम की फाँसी स्मरण की शक्ति से काटना गढ़ के ऊपर चढ़ना (शरीर के व्यापारों पर विजय प्राप्त करना) एवं अ-विनाशी राज (=शंका और द्वंद्व-हीन आनंद-पद) प्राप्त करना।

शरीर की दुर्गरूप में कल्पना कई स्थलों में है। यद्यपि रूपक का इतना सांगोपांग निर्वाह कम ही स्थलों पर हुआ है। मन पटवारी बन गया है जिसकी नीति डँसने वाली है। अहंकार गढ़पति बन गया है और नव द्वार पर दण्ड देनेवाले जमादार हैं।[1]

प्रतीकात्मक रूपकों में भावुक एवं भव्य बिम्बों के माध्यम से सूक्ष्म-तत्त्व अथवा सूक्ष्म भावों की व्यंजना होती है। ज्ञान गोला है, ब्रह्म-अग्नि लगाना पलीता में आग लगाना है और प्रेम पलीता। सामान्य प्रतीक में स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म की अभिव्यक्ति होती है, अतः इन दोनों का अन्तर स्पष्ट है यद्यपि प्रतीकात्मक रूपकों में प्रतीकात्मक व्यंजना सम्भव है। राज्य प्राप्ति का आनंद चिरन्तन और शंका-द्विधा-हीन आनन्द नहीं इस लौकिक आनन्द के द्वारा

---

१ सं क रागु सूही ५ पृ १९१।

तुलनीय—तीन सै साठि बीरा पड़ रचीले पीवहु नविये पाई।

नव दरवाजा प्रगट दीसै दसवाँ अप्पा न जाई॥—गो बा पृ १२।

काया गढ़ भीतरि नौ लख पाई बंध फिरै नव छिप्या न जाई।

ऊँचे नीचे परबत झिलमिलि खाई कोठड़ी का पानी पूरब बहि जाई।

जहाँ नहीं तहाँ नहीं त्रिकुटी मंझारी सहज सुनि मैं रहनि हमारी॥

—गो बा पृ १९४।

उस परमानद का सकेत और आभास मिलता है जो तत्वत एक प्रकार का होकर भी रूपत भिन्न है। सत-साहित्य में प्रतीकात्मक रूपक और सामान्य प्रतीकात्मकता का प्रयोग बहुलता के साथ हुआ है।

सांकेतिक शब्द

साकेतिक शब्दो का अर्थ परम्परा, शास्त्र और प्रसग के अनुकूल करना पडता है। नका प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थलो मे विभिन्न अर्थों में होता है। कुछ साकेतिक शब्दो पर विचार करना आवश्यक है—

जीवात्मा=पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिह, मूस, भँवरा, योगी,[1] बादशाह, हस अवधूत, अर्जुन, महर, गूजर, प्रजापति, सुलतान, राजा, साह काजी, खग, सती, बिरहनि, बैरागिनी, बांझ, सुन्दरी, दुलहिनी, अरवाह, बेली, अजनी।[2] हस का प्रयोग तो बहुलता से हुआ है।

इन पर विचार करने से कई प्रकार के सम्बन्ध स्पष्ट होगे—धर्म-साम्य (=हस, बेली, गूजर इ०), रूप-साम्य (=अजनी, सुदरी) एव तात्कर्म्य (=भँवरा, सिह, अवधूत, खग)। इतना स्पष्ट है कि इनमें से एक भी शब्द जीवात्मा का अर्थ नही रखता, केवल-सकेत देता है और प्रसगानुकूल अर्थ-बोध कराने की क्षमता रखता है।

हस सर्वत्र जीवात्मा नही। "हस हुइ हीरा लेइ पछानीं"[3] में हस विवेकी जीव अर्थात् सत को सकेतित करता है। अत विशिष्ट जीवात्मा है। हस के विवेक में रूढिगत नीर-क्षीर-विवेक है, हीरे की पहचान नही। परम्परा के अनुकूल हस मोती चुगता है, हीरा नही। यहाँ "हीरा" (ज्योति-स्वरूपी आत्मा) की पहचान अर्थात् विवेक विशिष्ट प्रयोजन है, और इस विवेक के कारण ही जीवात्मा हस-स्वरूपी है। हीरा की ज्योतिमत्ता, आत्म-तत्व की ज्योतिमत्ता का आभास देती है।

आत्मा के कई रूप—जीवात्मा, ज्ञानात्मा, अन्तरात्मा एव परमात्मा। जीवात्मा प्राण-स्वरूप है, ज्ञानात्मा साक्षात्साक्षी स्वरूप, अन्तरात्मा रहस्य-सूक्ष्मरूपकात्मक अन्तर्गत परमात्मा-स्वरूप और परमात्मा बन्धनहीन, निर्विकार, विनिमुक्त, चिरन्तन, शाश्वत सत्स्वरूप ब्रह्म। उपाधि-हीन एव मुक्त जीवात्मा के अर्थ में हस का प्रयोग अधिक हुआ है।[4] जीवात्मा प्राण-स्वरूप है और 'हस' को उलटने से 'सह' (=सोऽह) होता है। 'सोऽह' के ज्ञान से उलटी रीति पर चलने वाली आत्मा हस अर्थात् जीवात्मा है। ज्ञानार्णव तत्र में ह=शिव और स= शक्ति है, अत हस शिव-शक्ति का समन्वित रूप। प्राण-स्वरूपी हस की चर्चा नाथपथियो में है।[5] 'सोऽह' और हस की समानता को कबीर ने लक्षित किया था और इनके अन्तर का

---

१ विचारदास की टीका, पृ० ४१। २ हि० का० नि० स०, पृ० ३७७।

३ स० क०, रागु आसा ३१।

४ तुलनीय—जो एहि खीर समुद्र महँ परे। जीव गँवाइ हस होइ तरे॥—पद्मावत।

५ सोह वाई हसा रूपी प्यडै प्यडै बहै, बाई कै प्रसाद ग्यद गुरु मुख रहै।

—गो० वा०, पृ० ९९।

कारण शरीर गुण और धर्म ।[1] हंस मानसरोवर-निवासी है, जहाँ चिर आनन्द है द्वेष-ईर्षा, संकोच-कुंठा शंका-संशय से हीन एवं अमलपाश से मुक्त ।[2] सांसारिक माया-मोह में आसक्त, अपने देश को भूला हुआ (=जीवात्मा) जिसमें उड़ने की शक्ति तो है किन्तु स्वरूप के अज्ञान से उड़ नहीं सकता बद्ध है और इस बेड़ी की जकड़ से मुक्ति शाश्वत आनन्द के देश की ओर उन्मुखता है। हंस ख-ग (ख=आकाश + ग = गामी) है, आकाश शून्य-तत्व है, सहस्रार और सहस्रार में लीन होने वाली आत्मा हंस है। सहस्रार के अमृत का पान करने वाली आत्मा इस स्थिति में हंस है, उसमें गमन करने वाली आत्मा ख-ग है। मन इधर-उधर भटकता है अतः भटकने वाला मन भी खग है, सहस्रार में गमन करने वाला खग ही खग-सम अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। मोती (=मुक्तावस्था) चुगने वाला भी हंस है[3] और मोती (=रामनाम) को ग्रहण करने वाला भी। एक ही सांकेतिक शब्द का प्रयोग अवस्था रूप धर्म और कर्म की समानता के कारण विभिन्न अर्थों का द्योतक होता है।

आत्मा को जब 'अवधूत' कहते हैं तो अवधूत के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं गुण और धर्म-साम्य का आरोप ही रहता है। अवधूत जटा धारण करता है, सींगी-नाद बजाता है, मुद्रा और सेली धारण करता है, शरीर में भभूत रमाता है। बाह्याचार में फँसा योगी आत्म-विस्मृता को मूढ़ प्रपंच में फँसता है, औरों को ठगता और स्वयं ठगाता है। तात्कर्म-सम्बन्ध से आत्मा का संकेत अवधूत में मिलता है।[4] परम-तत्व और परम-मित्र ही एक मात्र सद्गुरु है, केशव है, अतः आत्मा शिष्य-स्वरूपी अर्जुन है। उद्बोधन द्वारा अर्जुन का भ्रम और संशय नष्ट हुआ था।[5] अतः आत्मा का संशय इस सद्गुरु के द्वारा ही मिट सकता है।[6]

स्वार्थ के वशीभूत होकर साधना करनेवाली वधू (=आत्मा) पति (= पत = मर्यादा की रक्षा करने वाले) को प्राप्त नहीं कर सकती।[7] जिसमें सत (= सत्य-धर्म और

---

१ सोई हंसा एक समान काया के गुण आनहिं आन। —क ग्रं पद ७५ पृ० १५।
तुलसीक—सोई हंसा सुमिरै सबद। तिहि परमारथ अनंत सिध ॥—पी बा पृ १७/७६।

२. अखंड सरोवर अभय जल हंसा सरवर न्हाहिं।
निर्भय पाया आप घर इब उड़ि अनत न जाहिं। —बा बा० (१) पृ ५२।

३ सहज सरोवर आतमा हंसा करैं कलोल।
सुख सागर सूभर भऱ्या मुक्ताहल मन मोल ॥ —बा बा (१) पृ० ५१।११।

४ ऐसा है जग भरमि जाइगा। कैसे बूझै जब मोहिया है माइगा।
—सं० क सिरी रागु पृ १।

५ द्रष्टव्य—नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव। —गी० १८।७३।

६ तू सतगुरु हउ नउतनु चेला। कहि कबीर मिलु अंत की बेला।
—सं क० गउड़ी २ पृ ४।

७ साहुरि सुखु न पावै जीव अपने। सो रमयै कउ मिलै न सपने ॥
—सं क गउड़ी ११ पृ २५।

टेक निबाहने का हठ) है, वही सती हो सकती है।[1] पति को छोड कर और कोई जिसका आराध्य नही और जिसके अभाव में ससार के सारे ऐश्वर्य तुच्छ और नगण्य हैं, जो अपना सर्वस्व पति पर निछावर कर देती हैं, वही सती है, प्रिय की प्यारी है, सुहागिनी है।[2] जो प्रिय को भाती है वह सुहागिनी है, अन्य नही। जो सुहागिनी है वह सुदरी है, दुलहिन है, हरि की वहुरिया है। प्रेम के कारण सुहाग (= सौभाग्य) मिलता है अत. प्रेम-स्वरूपा भक्ति लहुरी (= छोटी) दुलहन और अत्यन्त प्यारी बन गई तथा सासारिकता जिसके साथ प्रथम भाँवरें पडी थी तिरस्कृत और अपमानित। पहली वहू ने कही अलग घर बनाया।[3]

स्त्री अपने प्रिय और पति को पूरी तरह पहचानती नही किन्तु स्वय उससे दूर भी नही। अज्ञान (= अ-परिचय) के कारण वह अपने को प्रिय से विच्छिन्न जानती है और प्रिय के सन्धान में लगी रहती है, वही विरहिणी है, वियोगिनी है। अन्य के सन्धान में लगी आत्मा तो जारिणी है, व्यभिचारिणी है, अनेक के सहवास से भी उसे तृप्ति नही मिल सकती। सामान्य विरहिणी वह नही। परमात्मोन्मुख जीवात्मा ही विरहिणी और वियोगिनी है। प्रिय की कामना है अत कामिनी है।[4] और, जो प्रिय को जानती ही नही, उससे प्रेम-भाव, भाव-भक्ति नही रखती, वह बाँझ है, वन्ध्या है।[5]

विचारदास ने बिलैया, मूसा, माता, पूत आदि में माया और जीव का परम्परागत सकेत माना है।[6] आदि ग्रथ के एक पद में स्पष्टतया जीव को "मूसा" और मृत्यु को "बिलइया" कहा गया है।[7] "मुस भौ नाव मँजार कँडिहरिया, सोवै दादुल सरप पहरिया"[8] की टीका करते हुए विचार दास ने लिखा है,—"यह भी अचरज ही है कि मूस (अज्ञान) तो बेचारे नाव (दूसरो के चलाने से चलनेवाला) बने बैठे हैं और मजार (वचक गुरू) इनके कँडिहार, कर्णधार (नाव चलानेवाले मल्लाह) बने हुए है। भाव यह है कि वचक गुरु अन्य श्रद्धावालो को भटका कर अपना स्वार्थ बना रहे हैं।"[9] गोरखवानी के पदो में "मूसा" और "बलइआ" का प्रयोग है, जिसकी व्याख्या में बडथ्वाल ने चूहे को सूक्ष्म अतर्मुख जीवन और बिल्ली को आध्यात्मिक जीवन को भगाने में समर्थ माया माना है।[10] गोरखवानी के

---

१ बिनु सत सती होइ कैसे नारि।—वही।

२ तनु मनु धनु ग्रिह सउपी सरीक। सम परिहरि ता कउ मिलै सुहागु।—वही।

३ लहुरी सगि भइ अब मेरै जेठी अउरु धरिओ।—वही, रागुआसा ३२।

४ पथु निहारै कामिनी लोचन भरी ले उसासा।
उर न भीजै पगु ना खीसै हरि दरसन की आसा॥—स० क०, गउडी ६५।

५ कि उर लीआ मानै बाझु भतारा। स० क० सूही २, पृ० १४८।

६ बीजक (भूमिका) पृ० ४१।

७ मानुस बपुरा मूसा कीनो मीचु बिलइआ खइहै रे।—स० क०, बिलावलु १।
द्रष्टव्य—ज्यो मूसा को तकै बिलाई। असमय जीव हि घात लगाय॥
—महीदास की टीका, पृ० ८५७।

८ बीजक, शब्द ९५।

९ वि० दा० की टीका, पृ० २६१।

१० गो० बा०, पद ४७ की व्याख्या, पृ० १४१।

कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि विचारै ।—क० ग्र०, पद १६१ ।

कहै कबीर तास मै चेला, जिनि यह तरवर पेष्या ।—क० ग्र०, पद १६६ ।

'कहत' वाले पदो में सिद्धान्त—निरूपण, स्व-मत-प्रकाश और अन्य-मत-खण्डन अधिक प्राप्त होता है। 'अवधू', 'पाडे' और 'काजी' को सुनाने के लिए 'कहत' आया है। इस परम्परा का पालन अन्य सन्तो ने भी किया—

(क) नानक कहत मिलन की विरिआ, सुमिरत कहा नही ।[१]

(ग) यह ससार वडा भौसागर, ता को देखि सकाना ।
सरन गये तोहि अव क्या डर है, कहत मलूक दिवाना ।[२]

"हस कवीर" वाले पद सख्या में अपेचाकृत कम है और सम्भवतया कवीर के किसी शिष्य की रचना हैं, जिनमें अपने गुरु के सिद्धातो का उसने समर्थन किया है, अथवा अपने सिद्धातों के समर्थन में कवीर का साम्य उपस्थित किया। "दास" सयुक्त पदो में कवीर और अन्य सतो ने विनम्रतापूर्वक अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है, अथवा अपना भक्ति-भाव सूचित किया है। "आदि ग्रन्थ" में आदि नानक के पश्चात् अन्य सिक्ख गुरुओ ने पदो की रचना की है और पदो में अपने को "जन नानक" (-नानक का दास) अथवा 'नानक-जन'[३] कहा गया है। ऐसी अवस्था में क्या यह सम्भव नही कि कवीर आदि के पदों में भी इस प्रकार के मिश्रण हो गए जिन्हें अलग कर सकने का कोई साधन हमारे पास नही। परमाराध्य परम-प्रिय की शरण-वत्सलता एव प्रेम को आकृष्ट करने के लिए तथा विनम्रता सूचित करने के लिए 'दास' का प्रयोग सत-साहित्य मे हुआ है। विनम्रता सूचित करने के लिए 'दास' का प्रयोग रैदास के पदो में भी मिलता है।[४] भक्तिपूर्ण प्रणति और परमात्मा-निर्भरता द्वारा जो प्राप्य है, उसकी समता सभी सिद्धियाँ और निधियाँ नही कर सकती, वेद-पुराण का पूर्ण-ज्ञान नही कर सकता, सासारिक वैभव और बाह्याचार के पाखड नही कर सकते। अत भाव-भक्ति का सकेत 'दास' के द्वारा मिलता है।[५] अपनी असमर्थता तथा गुरु की समर्थता में अपनी समर्थ्य का सकेत भी 'दास' वाले पदो में है।[६]

---

१ स० बा० स० (२), पृ० ५३।   २ वही (२), पृ० १०५।
तुलनीय—कहत नामदेउ सुनहु त्रिलोचन बालकु पालन पउठीअले।
—आ० ग्र०, रामकली १।
कहत नामदेव हरि की रचना देखहु रिदै बीचारी।
घट घट अतरि सरब निरतरि केवल एक मुरारी ॥—वही, रागु आसा १।

३ थिक सोहाग नानक जन पाइआ। —आ० ग्र०, रागु आसा, महला ५, पृ० ३८४।

४ कहि रविदास उदास दास मति जनम मरन भै भागी।—आ० ग्र०, रागु मारू २।
कह रैदास दास अपराधी —रै० बा०, पद ४५, पृ० ३९।

५ गरीव के गर्व नाहि दीन रूप दास माहि। आए न विमुख जाहि आनद का रूप हैं।
—उ० भा० स० प० के ४५५ वें पृ० पर उद्धृत।

६ द्रष्टव्य—वि० दा० की टीका, पृ० ८३-८४।

पखेरू—कहै कबीर सुनहु रे सतहु इहु मनु उडन पखेरू बन का ।[1]

भँवर—चरन कवल मन मानिआ ।[2]

मछली—रे मन माछला संसार समुदे ।

तथा "जम छै डिगन, डोरि छै ककन,

परतिया लागो जानि रे ।"[3]

जैसे मीनु पानी महि रहै ।

काल जाल की सुधि नहीं लहै ॥

जिह्वा सुआदी लीलित लोह ।[4]

एक ही साकेतिक शब्द से प्रसग की भिन्नता के कारण विभिन्न अर्थों की सूचना मिलती है। घट का प्रयोग शरीर के अर्थ में अधिकाशत. हुआ है। शरीर घट है, कारण वह घटित (निर्मित) है और उसमें अ-घट की क्रीडा होती है।[5] यह शरीर अनेक उपाधियो का घर है, इसके फूटने और गलने में कोई समय नही लगता अत. यह कच्चा (काची गगरि)[6] है, मिथ्या अर्थात् नष्ट होने वाला है, खोखला है, जीवात्मा इसमें स्थिर नही रहती। यह अत्यन्त तुच्छ है, सँचने-जोगाने के उपयुक्त नही। जीवन किन्तु मूल्यहीन नही, समय बीतता जा रहा है अत. यह कचन कलश इसलिए भी है कि इसमें विष (=विषय)—रस भरा है। खोखला घड़ा अधिक शब्द करता है, उसी प्रकार साधु-वेषधारी असाधु अधिक बकवक करता है और पूर्ण ज्ञानी मूक रहता है। बकवादी अत. 'छूछा घट' है।[7] 'मिटवा' = (मिटने और टूटने वाला) छोटा-सा घडा है जो प्राय बिना आयास के टूट जाता है। सयम ही वह घडा है।[8]

माया नारी है किसी 'नर' (=सहयोगी, आधार) की इसे सदा अपेक्षा है और आश्रय दाता 'नरो' का अभाव नही अत यह अमर सुहागिनी है।[9] वह चिर सधवा (वेश्या) है जिसे देखकर तपकर्ता तपीश्वरो का चित्त भी चलायमान हो जाता है।[10]

---

१. सं० क०, रागु सारग ३, पृ० २४१।   २ क० ग्र०, पद ४, पृ० ८८।

३ रै० बा०, पद ४७, पृ० ४०।

४ क० ग्र०, पृ० ८८ आ० ग्र०, नामदेव, रागु सारग १।

५ घट महि खेलै अघट अपार—स० क०, गउडी ७६, पृ० ८४।

६ स० क०, रागु बिलावलु १०। और क० ग्र०, पृ० ९०।
काचे बासन टिकत न पानी। —बीजक, शब्द १०६।
काची माटी कै घैला हो फूटत नही बेर—प० बा० (३)।
काचि गागरि देह दुहेली उपजै बिनसै दुखुपाई—आ० ग्र० नानक १, पृ० ३५५।

७ कबीर छूछा घट बोलै। भरिया होई सु कबहूँ न डोलै॥ —स० क०, गौंड १, पृ० १६४।

८ पाच नारद के मिटवे फूटे—वही, रागु गौंड ८, पृ० १७२।

९ खसम मरै तउ नारि न रोवै, उसु रखवारा अउरो होवै।—स० क०, गौंड ७, पृ० १७०।

१०. धनु सोहागिन महा पवीत। तपे तपीसर डोलै चीत॥ —वही, रागुमारू ७, पृ० १९५।

पंखेरू—कहै कबीर सुनहु रे सतहु इहु मनु उडन पखेरू बन का ।[1]

भँवर—चरन कवल मन मानिआ ।[2]

मछली—रे मन माछला ससार समुदे ।

तथा "जम छै डिगन, डोरि छै ककन,

परतिया लागो जानि रे ।"[3]

जैसे मीनु पानी महि रहै ।

काल जाल की सुधि नही लहै ॥

जिह्वा सुआदी लीलित लोह ।[4]

एक ही साकेतिक शब्द से प्रसग की भिन्नता के कारण विभिन्न अर्थों की सूचना मिलती है। घट का प्रयोग शरीर के अर्थ में अधिकाशत. हुआ है। शरीर घट है, कारण वह घटित (निर्मित) है और उसमें अ-घट की क्रीडा होती है।[5] यह शरीर अनेक उपाधियो का घर है, इसके फूटने और गलने में कोई समय नही लगता अत. यह कच्चा (काची गगरि)[6] है, मिथ्या अर्थात् नष्ट होने वाला है, खोखला है, जीवात्मा इसमें स्थिर नही रहती। यह अत्यन्त तुच्छ है, सँचने-जोगाने के उपयुक्त नही। जीवन किन्तु मूल्यहीन नही, समय वीतता जा रहा है अत यह कचन कलश इसलिए भी है कि इसमें विष (=विषय)—रस भरा है। खोखला घडा अधिक शब्द करता है, उसी प्रकार साधु-वेषधारी असाधु अधिक बकबक करता है और पूर्ण ज्ञानी मूक रहता है। बकवादी अत. 'छूछा घट' है।[7] 'मिटवा' = (मिटने और टूटने वाला) छोटा-सा घडा है जो प्राय. विना आयास के टूट जाता है। संयम ही वह घडा है।[8]

माया नारी है किसी 'नर' (=सहयोगी, आधार) की इसे सदा अपेक्षा है और आश्रय दाता 'नरो' का अभाव नही अत यह अमर सुहागिनो है।[9] वह चिर सधवा (वेश्या) है जिसे देखकर तपकर्ता तपीश्वरो का चित्त भी चलायमान हो जाता है।[10]

---

१. स० क०, रागु सारग ३, पृ० २४१ । २. क० ग्र०, पद ४, पृ० ८८ ।

३ रै० बा०, पद ४७, पृ० ४० ।

४ क० ग्र०, पृ० ८८ आ० ग्र०, नामदेव, रागु सारग १ ।

५ घट महि खेलै अघट अपार—स० क०, गउडी ७६, पृ० ८४ ।

६ सं० क०, रागु बिलावलु १० । और क० ग्र०, पृ० ९० ।
काचे बासन टिकत न पानी । —बीजक, शब्द १०६ ।
काची माटी कै घैला हो फूटत नही बेर—प० बा० (३) ।
काचि गागरि देह दुहेली उपजै विनसै दुखुपाई—आ० ग्र० नानक १, पृ० ३५५ ।

७ कबीर छूछा घट बोलै । भरिया होई सु कबहूँ न डोलै ॥ —स० क०, गौंड १, पृ० १६४ ।

८ पाच नारद के मिटवे फूटे—वही, रागु गौंड ८, पृ० १७२ ।

९ खसम मरै तउ नारि न रोवै, उसु रखवारा अउरो होवै ।—स० क०, गौंड ७, पृ० १७० ।

१०. धनु सोहागिन महा पवीत । तपे तपीसर डोलै चीत ॥ —वही, रागुमारू ७, पृ० १९५ ।

जब तक शरीर में प्राण है तब तक संग है। जिस प्रकार धन-हीन को वेश्या तिरस्कृत कर देती है। वह सुन्दरी है, ठगनी है और मोहिनी है।[1] सुन्दरो मुग्ध कर जीवन विनष्ट कर देती है अत डँसनेवाली सर्पिणी है, काली नागिन है, जिसका विष साधारणतया नहीं उतरता। कोई ऐसा ही पारखी मारुड़ी (गुरु) मिले तो यह विष उतरे। वेश्या दिन में सोती है और रात्रि में शरीर का शोषण करती है[2] किन्तु यह तो दिन-दहाड़े मोहती है और रात्रि में शोषण भी। यह बाघिन है और आश्चर्य है कि इस विनाश करनेवाली बाघिन को मनुष्य घर-घर में पालता है। कितना मूर्ख है वह? माया एकछत्र शासिका और अभिमानिनी स्वामिनी है कि मनमाने व्यापार करती है। अधीनस्थ व्यक्तियों की नाक काटती है, फिर तो स्वयं नकटी है।[3] शरीर सरोवर है और मुक्त जल। सांसारिक तृष्णा वासना के कारण है, जलका धर्म के साथ जल (धर्म-साम्य) के कारण वासना भी जल है अत संसार भव-सागर। सांसारिक माया-ममता आत्मा को आत्मस्थ कर देती है, डुबो देती है अत संसार जल है, जलनिधि है। समस्त जल अनन्त और गम्भीर जल-राशि में जा मिलता है। बूँदें समुद्र में मिल कर समुद्र बन जाती हैं अत आत्मा भी जल है, परम-तत्त्व भी जल है। अन्त में दोनों मिलकर एकमेक हो जाते हैं।[4] यही है हीरे को हीरे से बेधना भी।

सरोवर केवल शरीर ही नहीं। सरोवर में कमल खिलता है अत कमल सरोवर का प्रतिनिधि हुआ। शून्य चक्र=सहस्रार भी कमल बन गया। शरीर सरोवर में ही वह कमलाकार चक्र है अत कमल भी। कमल में भ्रमर लुब्ध है अत आत्मा ही लुब्ध भ्रमर हो गई। मानस मानसरोवर हो गया जहाँ हंस वास करते हैं। यही उनका अपना देश है, अपनी नगरी है, यही बे-गमपुर है। सहस्रार अत मानसरोवर है एवं शून्य का भावात्मक स्वरूप भी सरोवर (= अगोप आनन्दात्मक मानसरोवर)।[5] शून्य भी सरोवर है जिसमें हरि का निर्मल नीर भरा है।[6]

सांकेतिक शब्दों के निर्माण के कई आधार हैं, जिनकी चर्चा ऊपर हुई है—

रूप-साम्य—ऐसे सांकेतिक शब्द अपेक्षाकृत कम हैं। आकाश (=शून्य अन्तःकरण)।

धर्म-व्यापार-साम्य—भँवरा भ्रमित होने के कारण जीवात्मा अथवा मन है। चरणारविंद में लुब्ध होने के कारण सन्त भी भ्रमर है। योगी सहस्रार में ध्यान करता है, अत: भँवर पुष्प है। कोयला धोने पर भी उजला नहीं होता यही मन की प्रवृत्ति है। माया लुब्ध करती है अत सुन्दरी है, विष भरी है अत सर्पिणी।

---

१ सोहागिन है अति सुंदरी। धन मैवर छनक छमहरी—वही पीड ८।

२ को वा पृ १४१। ३ 'नकटी को ठमगनु बाड़ा—सं क पाखा ४।

४ गुरु उपदेश भरी के नीरा। हरखि हरखि जल पीवै कबीरा॥

—क ग्रं पद १४ पृ १११।

और—ज्यूँ जल जलहि समाना। वही पद ६ पृ ९।

५ गुन सरोवरि नावहु गुण।—सं ग रामुकली ७६ पृ ८५।

६ गगन सरोवर सुभर भरया हरि जल निर्मल नीर।—सं वा सं० (१) दादू पृ ७८।

नाद-साम्य—दमामा—दम (प्राण) और अनाहद नाद, नाडी (= नदी), बहू (= बुधि = बुद्धि=मति), गुरु (= गारुडि = गारडू), दुद मचाना (= दुदुर), सासु (= सुरति), इन्द्रिय (= इद्र = उद्र), ससा (सशय)=ससा ।

प्रभाव-साम्य—रूप और धर्म साम्य में प्रभाव साम्य स्पष्ट रूप से सन्निहित है। "उलट मीन जल चढत है, बह्यो जात गजराज" मे धर्म-साम्य के कारण प्रेमी साधक मीन है और प्रभाव के कारण ससार (भव) = जल अथवा सागर। रूप और व्यापार साम्य के कारण गजराज अभिमानी पुरुष। मन किसी की सुनता नही कुत्तो के भूँकने पर भी अपनी राह चलनेवाला गजेन्द्र है तथा साधु-सन्त निंदक के भूँकने की चिन्ता नहीं कर साधना के मार्ग पर चलता है अत. गजराज है।

व्यापार-सूचक शब्द-साम्य—चोर "मूसता" (आयौ चोर तुरग मुसि ले गयौ) है अत ज्ञान को चुरानेवाला जोवात्मा 'मूस' है।

सकेतो के अध्ययन में इन साम्यो पर विचार करना अपेक्षित और आवश्यक है।

बीजक

गुप्त धन को प्राप्त करानेवाली साकेतिक लिपि को बीजक कहते हैं। साधना रहस्य-पूर्ण और महत्वपूर्ण है और सर्व-साधारण-सुलभ होने पर भी इस उच्चतर साधना को अनधि-कारियो के हाथ में पडने से बचाने का उपक्रम आवश्यक था, क्योकि अनधिकारी के हाथ में पडकर भ्रष्ट होने का भय सदा बना रहता है। इस प्रकार इसे इतना प्रकट नहीं होना चाहिए कि भ्रष्ट हो जाय और इतना गुप्त भी नहीं होना चाहिए कि किसी पर प्रकट न हो सके। गुप्त बना कर इसका 'बीजक' दे दिया गया। इन सकेतों के समझने के लिए मर्म की दृष्टि की अपेक्षा जो है वह तो है ही। इस मर्मकथा को अभिव्यक्त करने की समस्या और अनधिकारियो के हाथ से बचाने की चेष्टा के द्विविध स्वरूप ने सन्त-साहित्य में जटिलता उत्पन्न की। मौलिकता प्रदर्शित करने का आग्रह, पण्डित कहे जाने वालो की बुद्धि-परीक्षा तथा नीचा दिखलाने की भावना, तथा जन-साधारण को चमत्कृत करने की प्रच्छन्न धारणा भी सम्मिलित थी।

पारिभाषिक सकेत लिपि को समझने के मार्ग में जो कठिनाइयाँ हैं, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है परम्परा के ऐतिहासिक विकास की चिरप्रवाहमयी धारा और उनकी विभिन्न शाखाओ का अपूर्ण परिचय और तद्विषयक सामग्री की विरलता। मध्ययुगीन साधन-धारा की जो कड़ियाँ अभी तक प्राप्त हैं, वे पूर्णतोभावेन पर्याप्त नही। प्रत्येक सम्प्रदाय ने इन परम्परागत पारिभाषिक सकेतो की अपनी चिन्ताधारा के अनुकूल व्याख्या की और उसकी रक्षा का प्रयास किया। अनेक पूर्ववर्ती सम्प्रदाय जब किसी अन्य विशाल साधन-धारा में विलीन हुए तो उनके साम्प्रदायिक सकेत नष्ट नही हुए बल्कि अन्तर्भूत हो गए। इन विभिन्न स्रोतो के विकास को जानने का पर्याप्त साधन आज उपलब्ध नहीं। एक ही पद में आए अनेक साकेतिक शब्दों का भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है, इसका कारण परम्परा से पूर्ण परिचय अथवा अ-परिचय मात्र नहीं बल्कि विभिन्न परम्पराओं का अनुसरण भी है। प्रत्येक सम्प्रदाय की टीकाएँ भी अभी प्रकाश में नही आई हैं और उनके अधिकारी अज्ञान और अहकार वश

प्रकाश में आने देना नहीं चाहते। कुछ सम्प्रदाय का साहित्य उपलब्ध नहीं और उस सम्प्रदाय के व्यक्ति ऐसे नहीं जिनसे कुछ सहायता प्राप्त हो सके। 'अचिन्त्य' सम्प्रदाय के एक सन्त से बातें करते समय इन पंक्तियों के लेखक को ऐसा आभास मिला कि यह व्यक्ति या तो बहुत गँवार है अथवा अपने ज्ञान को गुप्त रखना चाहता है। यह पंथ अद्वैतवादी परम्परा में ही है किन्तु द्वैताद्वैतवाद से शाक्त मत की ओर झुका हुआ और अब पूर्णतया शाक्त और पंचोपासक है। भेदविधी भी इस मठ में दीख पड़ी। हमने अध्ययन अनुभव किया है कि कबीर मठ की धर्मदासी शाखा में 'सत्य पुरुष' के जिन सात पुत्रों की चर्चा आई है, वे वस्तुतः विभिन्न सम्प्रदायों के आदि—प्रतिष्ठापक रूप में गृहीत थे और वे सम्प्रदाय परवर्ती काल में अन्तर्भुक्त हो गए। इनके संकेत-शब्द भी सन्त-साहित्य में आ गए। विभिन्न शाखाओं की टीका और साहित्य जब तक पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं होते जिसकी सम्भावना अल्प ही है, तब तक इनके विषय में अधिकारपूर्ण ढंग से कुछ नहीं कहा जा सकता। समुण रामोपासक श्री विश्वनाथ सिंह एवं महात्मा पूरनदास और श्री विचार दास मेंहीदास और हनुमानदास की बीजक टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस तथ्य के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

इन संकेतों को समझने के लिए परम्परा-ज्ञान का ज्ञान पर्याप्त नहीं, और न संकेतों के द्वारा इनके दार्शनिक विचार ही पूर्णतया जाने जा सकते हैं बल्कि इनके विचारों धारणाओं और सिद्धांतों की जानकारी से इनके संकेतों को समझा जा सकता है। संकेतों की सामाजिक भूमिका का परिचय अतः अपेक्षित होगा। संरूपकों की व्याख्या पेशा और व्यक्तिगत जीवन के आधार पर ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। लोक-प्रसिद्ध है कि जुलाहे का कारोबार कबीर करते थे अतः इनके संरूपकों में जुलाहे के क्रिया-कलाप प्रतिफलित हैं। इन संरूपकों के द्वारा लोक-जीवन के परिचय की सीमा का भी पता चलता है। दादू की रचनाओं में उनके पेशे का परिचय नहीं चलता। सम्भव है, उन्हें ब्राह्मण सिद्ध करने की चिन्ता में उनके मतावलम्बियों ने ऐसे पदों को छाँट दिया हो। पं० सुधाकर जी के अनुमान की पुष्टि संरूपकों के द्वारा नहीं मिलती। सम्भव है, दादू ने किसी अधिकारी के यहाँ कुछ समय तक नौकरी की हो क्योंकि स्वामी और सेवक भाव की चर्चा कई पदों में है। पल्टू दास के पदों में "बनिया" की दुनियादारी और बंजारे के रूपक अधिक आए हैं, ऐसी अवस्था में पेशे का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। सामाजिक भूमिका का परिचय अतः इन संकेतों को समझने के लिए अपेक्षित है।

सन्त-साहित्य के संकेतों का बीजक स्वयं सन्त-साहित्य है और प्रसंग तथा अन्य स्थलों के प्रयोग इन शब्दों को समझने के लिए पर्याप्त संकेत देते हैं। 'साखी' को साधारणतया "साक्षी" का हिन्दी रूपान्तर माना गया है किन्तु 'साखी' का प्रयोग 'ज्ञान' के अर्थ में जिसका सम्बन्ध शास्त्र से है किया गया है।[1] तीर और 'बाण' के अर्थ में भी इसका प्रयोग है।[2] यह दर्शन का अब साधारणतया सांख्य योग न्याय वैशेषिक पूर्वमीमांसा

---

१ दीपक की बाबत नहीं पतंग तन जरि गया पानी।
  रनदूलह लिये बैठ तुम्हारे बीच है साखी॥ —प० बा० (१) पृष्ठ ४४।

२. क० ग्रं० गुरुशिष्य भारत की अंग ९, पृ० ११।

और उत्तर मीमासा (वेदात) है किन्तु सत-साहित्य में इसी अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ। 'पट्-दरसन' का अर्थ दोहाकोप की टीका के अनुसार "ब्रह्म ईश्वर, अर्हन्त बौद्ध-लोकायत और साख्य"[1] है। बीजक की १४वी रमैनी में इस क्रम मे मिलता-जुलता उपक्रम है।[2] 'ब्रह्म' सम्प्रदाय 'ब्राह्मण' बन गया। ईश्वर से शिव का अर्थ तो उस समय पूर्ण रूप से प्रचलित हो गया था। जैन-धर्म ही तो 'अर्हन्त' धर्म है। सासारिक सुखभोगी लोकायत-मतवादी है। मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् मुसलमानो की चर्चा तो अपेक्षित हो ही गई थी। अत 'षड्दर्शन' ही सत-साहित्य का पट्-दर्शन नही। पाँच-पचीस केवल तत्त्व और प्रकृति के अर्थ में नही लेना चाहिए बल्कि 'धक्कमधक्का' के अर्थ में भी।[3] अत परम्परा के साथ स्वयं सत-साहित्य में उपस्थित किए गए साकेतिक रूप का परिचय अपेक्षित है।

संरूपक

सत-साहित्य के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् के मूल तत्त्व और उसके स्वरूप, तत्त्व-ज्ञान और व्यवहार धर्म की चर्चा इसमें हुई है और साथ-ही-साथ मूल तत्त्व और साधक के सबध तथा जगत् के स्वरूप की कथा कही गई है। इस प्रकार की विचार-धारा का प्रभाव संत-साहित्य पर पडा है और सरूपको का अध्ययन इसी भूमिका में सभव है। इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मूलतत्त्व और उसके स्वरूप की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही अधिक हुई है। सरूपको में दोनो के अतरग सबध की अभिव्यक्ति अधिक है।

संबंधात्मक संरूपक

सबधात्मक सरूपको में आत्मा-परमात्मा, साधक और जगत् के सबधो का निरूपण हुआ। आत्मा-परमात्मा के सबध में दो प्रकार की प्रणालियो का प्रयोग है। एक ही प्रकार के सबध की सविस्तर और सावयव अभिव्यक्ति एव भिन्न-भिन्न विपयो द्वारा उस सबध का निरूपण। वैवाहिक सबध के रूपक द्वारा पतिव्रता के कठोर कर्त्तव्य और एकनिष्ठा की अभिव्यक्ति के साथ नाना प्रकार के देवताओं की पूजोपासना का विरोध भी है।

(क) दुलहिन गावहु मगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥[4]

---

१ ज० डि० लै० (भाग २८), पृ० ५२।
सत मतानुसार जोगी, जगम, सेवडा, सन्यासी और दरवेश आदि पट् दर्शन हैं।
—वि० दा० की टीका, पृ० १५०।

२. ब्राह्मण कीन्हो वेद पुराना। कैसेहु कै मोहि मानुष जाना ॥
एक से ब्रह्मे पथ चलाया। एक से हस गोपालहि गाया ॥
एक से सिमू पथ चलाया। एक से भूत प्रेत मन लाया ॥
एक से पूजा जैनि विचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा ॥ —बीजक, १४वीं रमैनी।

३ एकलौ वीर, दूसरौ धीर, तीसरौ पटपट, चौथो उपाध।
दस-पंच तहाँ वाद-विवाद। —गो० बा०, पृ० ६०/१७८।

४ क० ग्र०, पद १, पृ० ८७।

प्रकाश में आने देना नहीं चाहते। कुछ सम्प्रदाय का साहित्य उपलब्ध नहीं और उस सम्प्रदाय के व्यक्ति ऐसे नहीं जिनसे कुछ सहायता प्राप्त हो सके। 'सत्यनाम' सम्प्रदाय के एक सन्त से बातें करते समय इन पंक्तियों के लेखक को ऐसा आभास मिला कि वह व्यक्ति या तो कट्टर मौनधार है अथवा अपने ज्ञान को गुप्त रखना चाहता है। यह पंथ अद्वैतवादी परम्परा में ही है किन्तु द्वैताद्वैतवाद से शाक्त मत की ओर झुका हुआ और अब पूर्णतया शाक्त और पंचोपासक है। भैरवियाँ भी इस मठ में दीक्षा पातीं। हमने अन्यत्र लक्ष्य किया है कि कबीर मत की धर्मदासी शाखा में 'सत्य पुरुष' के जिन सात पुत्रों की चर्चा आई है, वे वस्तुतः विभिन्न सम्प्रदायों के आदि—प्रतिष्ठापक रूप में गृहीत थे और वे सम्प्रदाय परवर्ती काल में कबीरपंथ हो गए। इनके संकेत-शब्द भी सन्त-साहित्य में आ गए। विभिन्न आचार्यों की टीका और साहित्य जब तक पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं होते जिसकी सम्भावना कम ही है, तब तक इनके विषय में अधिकारपूर्ण ढंग से कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रमुख रामोपासक श्री विश्वनाथ सिंह एवं महात्मा पूरनदास और श्री बिचार दास मैंहीदास और हनुमानदास की मौलिक टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस तथ्य के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

इन संकेतों को समझने के लिए परम्परा-मात्र का ज्ञान पर्याप्त नहीं और न संकेतों के द्वारा इनके दार्शनिक विचार ही पूर्णतया जाने जा सकते हैं बल्कि इनके विचारों धारणाओं और सिद्धांतों की जानकारी से इनके संकेतों को समझा जा सकता है। संकेतों की सामाजिक भूमिका का परिचय अतः अपेक्षित होगा। संकल्पों की व्याख्या पेशा और व्यक्तिगत जीवन के आधार पर ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। लोक-प्रसिद्ध है कि जुलाहे का कारोबार कबीर करते थे अतः इनके संकल्पों में जुलाहे के क्रिया-कलाप प्रतिफलित हैं। इन संकल्पों के द्वारा लोक-जीवन के परिचय की सीमा का भी पता चलता है। दादू की रचनाओं में उनके पेशे का परिचय नहीं चलता। सम्भव है, उन्हें नागर ब्राह्मण सिद्ध करने की चिन्ता में उनके मतावलम्बियों ने वैसे पदों को छाँट दिया हो। पं० सुधाकर जी के अनुमान की पुष्टि संकल्पों के द्वारा नहीं मिलती। सम्भव है, दादू ने किसी अधिकारी के यहाँ कुछ समय तक नौकरी की हो क्योंकि स्वामी और सेवक भाव की चर्चा कई पदों में है। पल्टू दास के पदों में "बनिया" की हुसियारी और भंडारे के रूपक अधिक आए हैं, ऐसी अवस्था में पेशे का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। सामाजिक भूमिका का परिचय अतः इन संकेतों को समझने के लिए अपेक्षित है।

सन्त-साहित्य के संकेतों का मौलिक स्रोत स्वयं सन्त-साहित्य है, और प्रसंग तथा अन्य स्थलों के प्रयोग इन संकेतों को समझने के लिए पर्याप्त संकेत देते हैं। 'साखी' को साधारणतया "साक्षी" का हिन्दी रूपान्तर माना गया है किन्तु 'साखी' का प्रयोग 'ज्ञान' के अर्थ में जिसका सम्बन्ध 'सांख्य' से है किया गया है।[१] दीक्षा और 'शाख' के अर्थ में भी इसका प्रयोग है।[२] षट् दर्शन का अर्थ साधारणतया सांख्य योग न्याय वैशेषिक, पूर्वमीमांसा

---

१ दीपक को भावता नहीं पतंग तन जरि गया साखी।
पल्टूदास लिखे मेरा तुम्हारे बीच है साखी॥ —प० बा० (१) पृष्ठ ४४।

२. क० ग्रं० गुनियाँ मारग की अंग ९ पृ० ११।

हुआ। जल-तरग, सीपी-मोती, जल-कुभ, रज्जु-सर्प, शुक्ति और रजत जैसे पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग अधिक है। भ्रम और मिथ्यात्व की चर्चा द्वारा जिस औपनिषदिक आधार की चर्चा होती है, उस धारणा से सत की भावना में अन्तर है, जगत् की माया-स्वरूपता से ससार के लुब्ध करने वाले रूप और मायिकता की चर्चा अधिक मिलेगी।

व्यापारात्मक संरूपक

बद्ध जीव और मुक्तात्मा के क्रिया-कलाप और व्यापार की चर्चा कम नही हुई है। इनके साथ कपटी जीवो की कथा है। बद्ध जीव और कपटी में अन्तर है, बद्ध जीव अपने-आप बद्ध है, स्वरूप-ज्ञान के अभाव के कारण, किन्तु कपटी दूसरो की ठगने वाली कला का अभ्यासी है। पहले की मुक्ति सम्भव है किन्तु कपटी की नही। रूपक में बद्ध जीव मीन है, कपटी बगुला और मुक्तात्मा हस। व्यापारात्मक रूपको में जीव के व्यापार की सकेतात्मक अभिव्यक्ति होती है अथवा व्यापार-सूचक रूपको का उपयोग होता है।

व्यापारात्मक रूपक

किनही बनजिया कासी तावा किनही लउग सुपारी।
सतहु बनजिया नामु गोविंद का जैसी खेप हमारी ॥[1]
का चूरा पाइल झमकायें, कहा भयौ बिछुवा ठमकायें।
का काजल स्यदूर कै दीयें, सोलह शृगार कहा भयौ कीयें ॥[2]

सकेत और रूपको का भी अपना इतिहास है, और उनकी सामाजिक भूमिका भी, अत सत-साहित्य के सकेतात्मक शब्दो के इतिहास पर साधारण दृष्टि निक्षेप आवश्यक है। 'मूस', 'बिलाई' आदि जैसे पारिभाषिक शब्द सहसा सत-साहित्य में नही आए। पचतत्र में जीव-जन्तुओ की कथाओं द्वारा उपदेश देने का प्रथा है और उन कथाओ का प्रचलन भी था किन्तु उनका उपयोग दृष्टात और उदाहरण के लिए हुआ है और सत-साहित्य में सकेतात्मक रूप में। चर्या पदो में सकेतात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। और 'गोरख बानी' सत-साहित्य के सकेतो को कुजी है। गोरख बानी के अनेक सकेतात्मक शब्द सत-साहित्य में प्रयुक्त नही अत स्पष्ट सकेत है कि सन्तो के काल मे इनमें अभिव्यक्ति-क्षमता अक्षुण्ण नहीं रह गई। प्रारम्भ में उपमान-विधान के अनुसार ही इनका प्रयोग होता रहा क्रमश. रूढ़िमत्ता आती गई और वे सकेतात्मक हो उठे।

उलटबाँसी

सन्तो की उलटबाँसियाँ प्रसिद्ध हैं, और कुछ स्थलो पर इनके विरोध का कारण भी उलटबाँसियो में धर्म-विरुद्ध और अस्वाभाविक व्यापारात्मक उक्तियाँ अधिक मिलती हैं। कबीर दास की उलटी बानी उनके अटपटे होने के प्रमाण रूप उपस्थित की जाती है। सुन्दर दास के साहित्य में इन्हें विपर्यय कहा गया है। परवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग क्रमश घटता जाता है। और रीति काल में शुद्ध श्लेष रह जाता है। असम्भव और परस्पर-विरोधी

---

१ स० क०, रागु केदारा २, पृ० २०१। २ क० ग्र०, पद १३९, पृ० १३३।

(ख) तुम गारुडू मैं बिष का माता।
काहे न जिवावौ मेरे अमृत दाता ॥ टेक ॥
संसार भवंगम डसिले काया
अरु दुख दारुन ब्यापै तेरी माया।
सापनि एक पिटारै जागै
अहि निसि रोवै ताकूं फिरि फिरि लागै ॥
—क० ग्रं० पद ८३, पृ० ११४।

(ग) तूं पिंजर हूं सूवटा तोर।
जमु मंजार कहा करै मोर ॥ —ग्रं० क० रागु गउड़ी २।

भिन्न-भिन्न संक्षिप्त रूपकों द्वारा सम्बन्ध की अभिव्यक्ति—
जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा।
जउ तुम चन्द तउ हम भए हैं चकोरा ॥
जउ तुम दीवरा तउ हम बाती।
जाकी जोति बरै दिन राती ॥[1]

रूपात्मक संरूपक

परम-तत्व जीव संसार, माया आदि के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है। इनमें प्रतीकात्मक संरूपकों का प्रयोग अधिक मिलेगा कारण परम-तत्व के स्वरूप की तुलना देने वाली कोई वस्तु नहीं ऐसी अवस्था में उसके स्वरूप का केवल संकेत उपस्थित किया जा सकता है। अन्य रूपकों में संश्लिष्टात्मकता अपेक्षाकृत कम है। योगपरक रूपकों में अधिकांश इसी श्रेणी के हैं।

जगत्स्वरूप—
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा जल ते भिन्न न होई।
इहु पर पंचु पारब्रह्म की लीला बिचरत आन न होई ॥[2]

जीव की अवस्था—
मिग मीन भ्रिंग पतंग कुंचर एक दोख बिनास।
पंच दोख असाध जामहि ताकी केतक आस ॥[3]

परम तत्व—जल भीतरि कुंभ समानिआ। सभ रामु एकु करि जानिआ।[4]
विरहावस्था—बिरह की ओदी लकड़ी सपचे औ धुंधुआय।[5]

इनमें परम्परागत प्रतीकों का उपयोग ही अधिक होगा कारण परम्परा का समर्थन प्राप्त नहीं होने से भावात्मक प्रेषणीयता की सम्भावना नहीं रहती। यहाँ इतना निर्देश अपेक्षित बात होगा है कि औपनिषदिक संश्लिष्टात्मक प्रतीकों का उपयोग इन्हीं स्थलों पर

---

१ आ ग्रं रविदास रागु सोरठ (५) अन्तिम चरण बानी के आधार पर संशोधित।
२. आ ग्रं नामदेव रागु आसा १।
३ वही रैदास रागु आसा १।
४ आ ग्रं नामदेव रागु सोरठ २।
५. बीजक साखी ७१।

हुआ। जल-तरग, सीपी-मोती, जल-कुभ, रज्जु-सर्प, शुक्ति और रजत जैसे पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग अधिक है। भ्रम और मिथ्यात्व की चर्चा द्वारा जिस औपनिषदिक आधार की चर्चा होती है, उस धारणा से सत की भावना में अन्तर है, जगत् की माया-स्वरूपता से ससार के लुब्ध करने वाले रूप और मायिकता की चर्चा अधिक मिलेगी।

व्यापारात्मक संरूपक

वद्ध जीव और मुक्तात्मा के क्रिया-कलाप और व्यापार की चर्चा कम नही हुई है। इनके साथ कपटी जीवो की कथा है। वद्ध जीव और कपटी में अन्तर है, बद्ध जीव अपने-आप बद्ध है, स्वरूप-ज्ञान के अभाव के कारण, किन्तु कपटी दूसरो की ठगने वाली कला का अभ्यासी है। पहले की मुक्ति सम्भव है किन्तु कपटी की नही। रूपक में बद्ध जीव मीन है, कपटी बगुला और मुक्तात्मा हस। व्यापारात्मक रूपको में जीव के व्यापार की सकेतात्मक अभिव्यक्ति होती है अथवा व्यापार-सूचक रूपको का उपयोग होता है।

व्यापारात्मक रूपक

किनही वनजिया कासी तावा किनही लउग सुपारी।
सतहु वनजिया नामु गोविंद का जैसी खेप हमारी॥[1]
का चूरा पाइल झमकायें, कहा भयो विछुवा ठमकायें।
का काजल स्यदूर कै दीयें, सोलह शृगार कहा भयो कीयें॥[2]

सकेत और रूपको का भी अपना इतिहास है, और उनकी सामाजिक भूमिका भी, अत सत-साहित्य के सकेतात्मक शब्दो के इतिहास पर साधारण दृष्टि निक्षेप आवश्यक है। 'मूस', 'विलाई' आदि जैसे पारिभाषिक शब्द सहसा सत-साहित्य में नही आए। पचतत्र में जीव-जन्तुओं की कथाओ द्वारा उपदेश देने का प्रथा है और उन कथाओ का प्रचलन भी था किन्तु उनका उपयोग दृष्टात और उदाहरण के लिए हुआ है और सत-साहित्य में सकेतात्मक रूप में। चर्या पदो में सकेतात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। और 'गोरख वानी' सत-साहित्य के सकेतो की कुजी है। गोरख बानी के अनेक सकेतात्मक शब्द सत-साहित्य में प्रयुक्त नहीं अत स्पष्ट सकेत है कि सन्तो के काल में इनमें अभिव्यक्ति-क्षमता अक्षुण्ण नहीं रह गई। प्रारम्भ में उपमान-विधान के अनुसार ही इनका प्रयोग होता रहा क्रमश रूढिमत्ता आती गई और वे सकेतात्मक हो उठे।

उलटवाँसी

सन्तो की उलटवाँसियाँ प्रसिद्ध हैं, और कुछ स्थलो पर इनके विरोध का कारण भी उलटवाँसियो में धर्म-विरुद्ध और अस्वाभाविक व्यापारात्मक उक्तियाँ अधिक मिलती हैं। कबीर दास की उलटी बानी उनके अटपटे होने के प्रमाण रूप उपस्थित की जाती है। सुन्दर दास के साहित्य में इन्हें विपर्यय कहा गया है। परवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग क्रमश घटता जाता है। और रीति काल में शुद्ध श्लेष रह जाता है। असम्भव और परस्पर-विरोधी

---

१. स० क०, रागुकेदारा २, पृ० २०१। २ क० ग्र०, पद १३९, पृ० १३३।

कथनों की ओर साधारण जनता का आकर्षण अतः क्रमशः कम होता है। विरोधाभास से इसे भिन्न मानना चाहिए कारण यथार्थ विरोध न होकर विरोध का आभास रहता है किन्तु उलटवाँसियों में अर्थान्तर द्वारा ही विरोध का परिहार होता है। श्लेष भी यह नहीं कारण श्लेष में दोनों अर्थों की ओर वक्ता का ध्यान रहता है और चमत्कार द्व्यर्थकता के निर्वाह में है, यहाँ सामान्य अर्थ उपकारी नहीं गूढ़ार्थ ही महत्वपूर्ण है। पहेली की शैली यहाँ अपनाई गई-सी जान पड़ती है जो लोक-जीवन में सामान्यतया प्रयुक्त थी।

उलटवाँसी की संधि

संध्या भाषा—कहहु कबीर सुनहु संतो भाई
यह संधि काहु बिरले पाई।—बीजक, शब्द ११।

अद्भुत भाषा—कहहिं कबीर यह अद्भुत ज्ञाना।
को यहि ज्ञानहिं बूझी॥ —बीजक शब्द ५२।

कहहिं कबीर यह अद्भुत ज्ञाना।
को माने बात हमारी॥—बी० श० ५१।

परम्परा

महाभारत में ऐसे श्लोक हैं जो दृष्टिकूट हैं, साधारण रीति पढ़ने वाले अर्थ से इनके अर्थ में भिन्नता रहती है। साधारण श्रोता अथवा पाठक को चमत्कृत करने की यह अच्छी प्रणाली है। दृष्टिकूटों की परम्परा में सूरदास और विद्यापति के पद मिलते हैं। अन्य अलंकार अक्षरों के संघात हैं किन्तु उनकी अक्षय अथमता है। पूर्वी साधकों में उलटी वाणियों की परम्परा अधिक प्रचलित रही। उसके साहित्यिक रूप का प्रयोग पश्चिम में होता रहा। उलटी बानियाँ पहेलियों की परम्परा में होकर भी पहेलियों से भिन्न हैं पहेलियों में असंभव श्रीयता अथवा प्रत्यक्ष विरोध सदा अपेक्षित नहीं। अमीर खुसरो की पहेलियाँ दो-सखुनों मुकरियों को देखने से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि चौदहवीं शताब्दी में ऐसी रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान था। सिद्धों और नाथों की परम्परा से सन्त-साहित्य ने उलटवाँसियों की रीति ली अपितु यह कथन अधिक उपयुक्त होगा कि सन्त-साहित्य के इस रूप को सिद्धों नाथों में समान रूप से स्वतंत्रतापूर्वक लिया था।

संत इन कथनों को असंबद्ध असंभव और उलटा नहीं मानता उसकी धारणा के अनुसार संसार उलटे मार्ग पर जा रहा है, और साधक को सांसारिक मार्ग से उलटे चलना चाहिए। सांख्य मत के अनुसार तीन तत्वों की विषमता से ही सृष्टि-उत्पत्ति होती है, ऐसी अवस्था में तत्वों का समीकरण अर्थात् सृष्टि की वस्तुओं से उलटी गति ही अपेक्षित है। उलटवाँसियों के इस तात्विक आधार के कारण वेद-शास्त्र का वैधी मार्ग भ्रमपूर्ण योगियों की ध्यान-धारणा व्यर्थ एवं पण्डित का वाह्याचार अर्थहीन आडम्बर है। मार्ग भी उलटा है शक्ति (कुंडलिनी) जब उलट कर ब्रह्माण्ड में पहुँचती है तो चन्द्रमा का अमृत साधक प्राप्त होता है, कारण इस शक्ति के उद्बुद्ध होने के पूर्व पद्मस्थित सूर्य ही शोषण कर लेता था। उलटे चलने में मार्ग की कठिनाइयों की चेतना बनी रहती है, जिसमें शक्ति है यही

उलटी गति से चल सकता है। धारा के विरुद्ध मीन ही चल सकेगी। सृष्टि-क्रम के विरुद्ध चलना अत अपने शाश्वत रूप की प्राप्ति है।[1]

पण्डित तो वस्तुत ज्ञान-हीन हैं, उसे वास्तविकता का ज्ञान नही। अगर ज्ञान हो, वह पद का निर्णय कर दे, अर्थ बता दे। ऐसी अवस्था वाले पद पहेली के अधिक समीप हैं। ऐसे पदों की परम्परा सिद्धनाथ-साहित्य से स्पष्ट रूप से मिलती है—

बेंगस साप वडहिल आज। दुहिल दूध कि वेंटे समाज॥
बलद बिआअल गविआ वाझे। पिटा दुहिए तीना साझे॥
जो सो वुधी सो धनि वुधी। जो सो चोर सोइ साधी॥
निति नित सिआला सिह सम जूझअ। टेंढनपाएर गीत विरले बूझअ॥[2]

गोरखबानी—

बूझौ पडित ब्रह्म गियान, गोरख बोलै जाग सुजान।
बीज बिन निसपती मूल बिन विरपा, पान फूल बिन फलिया।
बाझ केरा बालूडा, प्यगुल तरवरि चढिया।[3]

कबीर—

है कोई जगत गुरु ग्यानी उलटि वेद बूझे।
पाणी मे अगनि जरै, अधरे को सूझै॥
एकनि दादुरि खाये पच भवगा।
गाइ नाहर खायौ काटि काटि अगा॥
बकरी विघार खायौ, हरिन खायौ चीता।
कागिल गर फादिया, बटेरै बाज जीता॥[4]

वह गतिमान भी है, गतिरहित भी, वह पास भी है, दूर भी।[5] 'वह दूर-से-दूर अति दूर और निकट से भी निकट, अपने भीतर है।"[6] तथा 'वह हाथ-पैरो से रहित

---

१ कहैं कबीर कठिन यह करणी, जैसी वडे धारा।
उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरु हमारा॥—क० ग्र०, पद १७०, पृ० १४५।
आपा जाने उलटि लैं आप, तौ नही व्यापै तीन्यू ताप।
जब मन उलटि सनातन हुवा, तव हम जीना जीवत मूवा॥—क ग्र, पद १५, पृ० ९३।

२ ज० हि० ले०, (भाग ३०), पृ० १३९। ३ गो० बा०, पद ५, पृ० १०८।

४ क० ग्र०, पद १६०, पृ० १४१।
द्रष्टव्य—विरला बूझै पावै भेदु। साखा तीनि कहै नित बेदु॥
—आ० ग्र०, नानक, पृ० ३५२।
सुन्दर दास कहैं सो ज्ञानी, जो कोउ याको करै विचार।—सु० ग्र० (२), पृ० ५२३।
सुन्दर सब उलटी कही समझैं सन्त सुजान।
और न जानैं बापुरे भरे बहु अज्ञान॥—सु० ग्र० (२), पृ० ७६१।

५ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।—ईश० ५।

६ दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च।—मुण्डक, प्रथम खण्ड ७।

कथनों की ओर साधारण जनता का आकर्षण अतः क्रमशः कम होता है। विरोधाभास से इसे भिन्न मानना चाहिए कारण यथार्थ विरोध न होकर विरोध का आभास रहता है किन्तु उलटबाँसियों में अर्थान्तर द्वारा ही विरोध का परिहार होता है। श्लेष भी यह नहीं, क्योंकि श्लेष में दोनों अर्थों की ओर श्रोता का ध्यान रहता है और चमत्कार द्वयार्थकता के निर्वाह में है, यहाँ सामान्य अर्थ उपकारी नहीं गूढ़ार्थ ही महत्वपूर्ण है। पहेली की शैली यहाँ अपनाई गई-सी जान पड़ती है, जो लोक-जीवन में सामान्यतया आदृत थी।

उलटबाँसी की संधि

संध्या भाषा—कहहु कबीर सुनहु संतो भाई,
इहि संधि काहु बिरले पाई।—बीजक शब्द ११।

अद्भुत भाषा—कहहिं कबीर यह अद्भुत ज्ञाना।
जो यहि ज्ञानहिं बूझै॥ —बीजक शब्द ५२।
कहहिं कबीर यह अद्भुत ज्ञाना।
जो माने बात हमारी॥—बी० श० ५१।

परम्परा

महाभारत में ऐसे श्लोक हैं जो दृष्टिकूट हैं, साधारण रीति पढ़ने वाले अर्थ व उसके अर्थ में भिन्नता रहती है। साधारण श्रोता अथवा पाठक को चमत्कृत करने की यह अच्छी प्रणाली है। दृष्टिकूटों की परम्परा में सूरदास और विद्यापति के पद मिलते हैं। मध्य कालीन अक्खरों के समान हैं किन्तु उनकी अलग अवस्था है। पूर्वी साधकों में उलटी बानियों की परम्परा अधिक प्रचलित रही। उसके साहित्यिक रूप का प्रयोग पश्चिम में होता रहा। उलटी बानियाँ पहेलियों की परम्परा में होकर भी पहेलियों से भिन्न हैं। पहेलियों में आध्यात्मिकता अथवा प्रत्यक्ष विरोध सदा अपेक्षित नहीं। अमीर खुसरो की पहेलियाँ, दो-सखुनी, मुकरियों को देखने से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि चौदहवीं शताब्दी में ऐसी रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान था। सिद्धों और नाथों की परम्परा से सन्त-साहित्य ने उलटबाँसियों की रीति ली अथवा यह कथन अधिक उपयुक्त होगा कि सन्त-साहित्य के इस रूप को सिद्धों नाथों ने समान रूप से स्वतंत्रतापूर्वक लिया था।

संत इन कथनों को असंगत असंभव और उलटा नहीं मानता उसकी धारणा के अनुसार संसार उलटे मार्ग पर जा रहा है, और साधक को सांसारिक मार्ग से उलटे चलना चाहिए। सांख्य मत के अनुसार तीन तत्वों की विषमता से ही सृष्टि-उत्पत्ति होती है, वैसी अवस्था में तत्वों का समीकरण अर्थात् सृष्टि की वस्तुओं से उलटी गति ही अपेक्षित है। उलटबाँसियों के इस तात्विक आधार के कारण वेद-शास्त्र का वैधी मार्ग भ्रमपूर्ण मौलवियों की ध्यान-धारणा व्यर्थ एवं पण्डित का बाह्याचार अर्थहीन आडम्बर है। मार्ग भी उलटा है शक्ति (कुंडलिनी) जब उलट कर ब्रह्माण्ड में पहुँचती है तो चन्द्रमा का अमृत प्राप्त होता है, कारण इस शक्ति के उद्बुद्ध होने के पूर्व अधस्थित सूर्य ही शोषण कर लेता था। उलटे चलने में मार्ग की कठिनाइयों की चेतना बनी रहती है, जिसमें शक्ति है यही

नखत वेद ग्रह जोर अर्ध करि, सोइ वनत अव सात।
सूरदास वस भई विरह के, कर मीजैं पछितात ॥[1]

इस दृष्टिकूट में विरोधी व्यापार का कथन नही। नखत (२७ नक्षत्र), वेद (४ वेद) और ग्रह (९ ग्रह) का योग चालीस, एव चालीस का अर्द्ध भाग वीस होता है और गोपियाँ 'वीस' को 'विष' वना लेती हैं। उलटवाँसी में उलटे धर्म और व्यापार का उल्लेख आवश्यक है—

सुरही चूषै वछतलि, वछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुजी भया, सारदूलहि मारै॥
भील लुक्या वन वीच मैं, ससा सर मारै।
कहै कवीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि विचारै ॥[2]

उलटवाँसियाँ सकेत-गर्भ हैं और इन सकेतो के ज्ञान के अभाव में इनका समझना असभव है।

संत-साहित्य में उलटवाँसी

सतो की उलटवाँसियो पर विचार करने से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय और औपनिषदिक उक्तियो का समन्वित विकास परवर्ती युग में हुआ और इनकी परम्परा सत-साहित्य को प्राप्त हुई। परम-तत्व के स्वरूप-निरूपण में औपनिषदिक परम्परा अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिफलित हुई।

बिन हाथनि पांइन बिन काननि, बिन लोचन जग सूझै।
बिन मुख खाइ चरन विन चलै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नही छाडै, दह दिसिही फिर आवै॥
बिनहीं ताला ताल वजावै, बिन मदल पट ताला।
बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला ॥[3]

विरोध—धर्म के आधार पर चामत्कारिक कथन और साकेतिक उक्तियाँ, आलकारिक विधान के अन्तर्गत मिलती हैं। सामान्य उलटवाँसियो से इनकी भिन्नता है। विरोधमूलक इन कथनो में विभिन्नता मिलती है। इनके साकेतिक शब्दो को अनेकार्थ नही माना जा सकता, कारण अभिधा का सम्बन्ध व्याकरण, कोष, आप्त वाक्य और उपमान से है। श्लिष्ट अर्थ में दो अर्थों का ग्रहण समान भाव से होता है, अत श्लिष्ट अर्थ का चमत्कार अनेकार्थ में है। इन साकेतिक शब्दो का तात्पर्य इनके श्लिष्टार्थ से गृहीत नही होता। विरोध शब्द-

---

१. सूरसागर, द्वि० ख०, पद ४५९४। २ क० ग्र०, पद १६१, पृ० १४१।
३ क० ग्र०, पद १५९, पृ० १४०।
तुलनीय—(क) श्वेताश्वर, तृतीय अध्याय १९।
(ख) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड जोगी॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा॥ —रा च मा.।

होकर भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने वाला वेगपूर्वक गमन करने वाला है, चक्षुओं के बिना ही वह सब कुछ देखता है, कानों के बिना ही सब कुछ सुनता।[1] आदि उक्तियाँ उलटबाँसियों—जैसी लगती हैं किन्तु वस्तुतः उलटबाँसियाँ नहीं कारण व्यापारों का एकान्त व्यतिक्रम नहीं जैसा उलटबाँसियों में मिलता है। संत-साहित्य में इस प्रकार की भी उक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं जो औपमिषदिक धारा की सूचना देती हैं।

ऋग्वेद में इस प्रकार के कथन हैं जिनकी परम्परा चलती रही। 'नदियाँ बहती हैं, जल स्थिर रहता है।'[2] अग्नि द्यु देवों का पुत्र उनका पिता हो गया।[3] तथा 'अग्नि अपने पिता का पिता है और जो उसे जानता है वह अपने पिता का पिता है।'[4] यह परम्परा ऋग्वेद से भी प्राचीन है, जिसका उपयोग ऋग्वेदीय ऋषियों ने किया। यह परम्परा लोक-जीवन में पहेली और लिखित साहित्य में उलटबाँसियों के रूप में चली। उलटबाँसी और पहेली में अन्तर है। पहेली का उलटबाँसी होना आवश्यक नहीं। उलटबाँसी और औपमिषदिक कथनों की भिन्नता प्रदर्शित की जा चुकी है। बौद्ध-साहित्य में जहाँ नैतिक जीवन के उपदेश हैं, वहाँ इनकी अपेक्षा नहीं थी। औपमिषदिक परम्परा का रूप शून्य के निर्वचन में प्रयुक्त दीख पड़ता है और गूढ़ार्थ-प्रतिपादन की शैली तान्त्रिक साहित्य में। तान्त्रिक-साधना को कारण-विशेष से गुह्य बनना पड़ा था जो आगमवेदीय और आर्येतर धर्म-साधन का विकास था। ऋग्वेदीय और आर्येतर धर्म-साधन का संयोग हो गया। सिद्ध साहित्य ने इसे ग्रहण किया और नाथों में इसका प्रचुर प्रयोग। 'गोरखबानी' से ऐसे अनेकानेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। इस प्रकार उलटबाँसियों की अपनी परम्परा और इतिहास है।

उलटबाँसी और दृष्टिकूट

बाह्य दृष्टि से दृष्टिकूट और उलटबाँसी में पर्याप्त समानता है किन्तु वस्तुतः दोनों में अन्तर है। दृष्टिकूट के पदों में अभिप्राय जानने के लिए मानसिक प्रविड़ प्राणायाम की अपेक्षा और प्रत्येक कथन को उलटे व्यापार का द्योतक होना अपेक्षित नहीं—

> कहत नन्द परदेसी की बात।
> मन्दिर अरध अवधि बदि हमसौं हरि अहार चलि जात॥
> ससि रिपु बरष सूर रिपु जुग बर हर-रिपु कीन्हौं घात।
> मघ पंचक लै गयौ साँवरो तातें अति अकुलात॥

---

१ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।—श्वेत तृतीय अध्याय १९।
तुलनीय—बिन चरनन को दहुँ दिसि धावै बिन लोचन जग सूझै।—बीजक शब्द १।
> श्रवन बिनो बहु बानी सुनिये बिन जिह्वा स्वर गावै।
> बिना नैन जहँ अचरज दीखै बिना अंग अपरसावै।
> बिना नासिका वास पुष्प की बिना नाव सिरि चड़्ता।—भक्तिसागर पृ २७६।

२ ऋग्वेद ५/४७/५—तुलनीय नदिया नहीं संसरि बहै नीर।—बीजक शब्द ५१।

३ वही १/९६/१।   ४ वही ६/१६/३५।

नखत वेद ग्रह जोर अर्ध करि, सोइ वनत अब सात ।
सूरदास वस भई विरह के, कर मीजैं पछितात ॥[1]

इस दृष्टिकूट में विरोधी व्यापार का कथन नही । नखत (२७ नक्षत्र), वेद (४ वेद) और ग्रह (९ ग्रह) का योग चालीस, एव चालीस का अर्द्ध भाग वीस होता है और गोपियाँ 'वीस' को 'विप' वना लेती हैं । उलटवाँसी में उलटे धर्म और व्यापार का उल्लेख आवश्यक है—

सुरही चूषै बछतलि, वछा दूध उतारै ।
ऐसा नवल गुजी भया, सारदूलहि मारै ॥
भील लुक्या वन वीच मै, ससा सर मारै ।
कहै कवीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि विचारै ॥[2]

उलटवाँसियाँ सकेत-गर्भ हैं और इन सकेतो के ज्ञान के अभाव में इनका समझना असभव है ।

संत-साहित्य में उलटवाँसी

सतो की उलटवाँसियो पर विचार करने से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय और औपनिषदिक उक्तियो का समन्वित विकास परवर्ती युग में हुआ और इनकी परम्परा सत-साहित्य को प्राप्त हुई । परम-तत्व के स्वरूप-निरूपण में औपनिषदिक परम्परा अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिफलित हुई ।

बिन हाथनि पाइन बिन काननि, विन लोचन जग सूझै ।
विन मुख खाइ चरन बिन चलै, बिन जिभ्या गुण गावै ।
आछै रहै ठौर नही छाडै, दह दिसिही फिर आवै ॥
बिनही ताला ताल बजावै, बिन मदल पट ताला ।
बिनही सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला ॥[3]

विरोध—धर्म के आधार पर चामत्कारिक कथन और साकेतिक उक्तियाँ, आलकारिक विधान के अन्तर्गत मिलती हैं । सामान्य उलटवाँसियो से इनकी भिन्नता है । विरोधमूलक इन कथनो में विभिन्नता मिलती है । इनके साकेतिक शब्दो को अनेकार्थ नही माना जा सकता, कारण अभिधा का सम्बन्ध व्याकरण, कोप, आप्त वाक्य और उपमान से है । श्लिष्ट अर्थ में दो अर्थों का ग्रहण समान भाव से होता है, अत श्लिष्ट अर्थ का चमत्कार अनेकार्थ में है । इन साकेतिक शब्दो का तात्पर्य इनके श्लिष्टार्थ से गृहीत नही होता । विरोध शब्द-

---

१. सूरसागर, द्वि० ख०, पद ४५९४ । २ क० ग्र०, पद १६१, पृ० १४१ ।

३ क० ग्र०, पद १५९, पृ० १४० ।

तुलनीय—(क) श्वेताश्वर, तृतीय अध्याय १९ ।

(ख) विनु पद चलइ सुनइ विनु काना । कर विनु करम करइ विधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी । विनु वानी बकता बड जोगी ॥
तनु विनु परस नयन विनु देखा । ग्रहइ घ्रान विनु बास असेखा ॥ —रा च मा. ।

गत है किन्तु अन्य मत वाच्यार्थ नहीं। आलंकारिक श्लेष अतः अधिक सहायता नहीं करता। उलटबाँसियों की परम्परा का पूर्ण रहस्य संकेतगर्भ विरोध-मूलक कथनों में है।

संत का विश्वास है कि अनुभूति स्व-संवेद्य है, वाणी के अगोचर। उस अनुभूति की अभिव्यक्ति वह अक्षम वाणी के माध्यम से करता है, अतः माध्यम से संकेतार्थ ही महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक रस शब्द की पकड़ में नहीं आ सकता। तात्त्विक निरूपण में इस रूप का महत्त्व है और भक्ति का ज्ञान गुरु की कृपा से प्राप्त होता है जिसने ऐसे गुरु का सत्संग नहीं किया वह शास्त्राभिमानी मूढ़ है और उसकी मूढ़ता को सिद्ध करने के लिए संत चैलेंज देता है। पण्डितों ने संतों के इस चैलेंज को स्वीकार नहीं किया। संत उसे पण्डित नहीं मानता जो शास्त्राचार में फँसा है, जो ब्रह्मविद् है वही ब्राह्मण है, जो ज्ञानी है समदृष्टा है, वही पण्डित है।[1] है कोई ऐसा जो इस उलटे वेद (ज्ञान) को जाने?[2] यह संकेतिकता नाथ-सम्प्रदाय से प्राप्त थी अतः यह चैलेंज केवल पण्डित को है और नाथ-सम्प्रदाय में भक्ति-भावना का अभाव-सा था अतः योगी को भावना की संवेद्यता का उपदेश।

---

१ पंडित होई सु पदहि बिचारै मूरखि नाहिन बूझै।—क० ग्रं० पद १५९ पृ० १४ ।
२. है कोई जगत गुरु ग्यानी उलटी वेद बूझै। —वही पद ११ पृ० १४१ ।
कहहिं कबीर सुना हो संतो जो यह पद अरथावै।
सोई पंडित सोई ज्ञाता सोई भगत कहावै ॥—बीजक शब्द ५५ ।

चिन्ता-धारा

सरब भूत अेके करि जानिया चूकै बाद बिबादा।

—कबीर।

ईमे बठिलु उभै बीठलु बीठल बिन संसार नहीं।

थान थनतरि नामा प्रणवै पूरि रहिउ तू सरब मही॥

—आ० ग्र०, (नामदेव)।

जेती देषौं आत्मां, तेता सालिगराम।

साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूं काम।

—क० ग्र०।

और देवल जहँ धुँधली पूजा, देवत दृष्टि न आवै।

हमरा देवत परगट दीसै, बोलै चालै खावै॥

जित देखौं तित ठाकुर द्वारे, करौं जहाँ नित सेवा।

पूजा की विधि नीके जानौं आसू परसन देवा॥

—चरनदास की बानी।

चिन्ता-धारा

★

प्रचलित धारणा के अनुसार 'दर्शन' वितर्क अथवा सशय का परिणाम है। जिज्ञासा सशय के कारण उत्पन्न होती है क्योकि आस्था और विश्वास से अधिक जानने की प्रवृत्ति बाधित हो जाती है। भारतीय परम्परा में इस सदेह और सशय को आशका की दृष्टि से देखा गया है और आस्था को ज्ञान का कारण। कठोपनिषद् के नचिकेतोपाख्यान द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि भारतीय विचारक जीवन की अनित्यता अथवा मृत्यु-भय के कारण आत्म-विद्या की ओर प्रवृत्त हुआ। भारतीय और पाश्चात्य—दर्शन का अन्तर जो है, वह सामाजिक भूमिका के कारण है। जन निरपेक्ष अथवा निरवलम्बन नही, ईसाई धर्म के आदेशो में बँधे व्यक्ति के लिए सशय की आवश्यकता थी जिसके द्वारा इस बधन से मुक्ति मिल सके और जीवन की समस्याओ से निश्चिन्त वर्ग की चिन्ता का विषय था कि जीवन के भोगों का किस प्रकार अबाध रूप से भोग किया जाय। ययाति की कथा इसकी ओर अर्थ-पूर्ण सकेत करती है। यम का भय जीवन को शकाकुल कर देता है। ससार की प्रिय से प्रिय, स्थिर से स्थिर और महान् से महान् वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं। इनकी अनित्यता व्यथा का कारण है। शरीर नश्वर है। यम से नित्य डर-डर कर मरने की अपेक्षा शरीर का त्याग ही श्रेयस्कर है।[1] जरा-मरण की अशका से ग्रस्त मनुष्य शरीर से प्राप्त होने वाले

---

१ आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु भोगेषु नाहमलिपक्षतिचचलेषु।
ब्रह्मन् रमे मरण-रोग-जरादिभीत्या शाम्यामह परमुपैमि पद प्रयत्नात्॥
—योग वासिष्ठ, १।२१।३६।

युवों को देख कर अति दीर्घ जीवन में कैसे सुख मानेगा ?[१] सुख अनित्य है जीवन अनित्य है अत: इन्हें नित्यता' प्रदान करने की अभिलाषा स्वाभाविक है। जीवन में सामंजस्य की आवश्यकता थी अत: सृष्टि के अनेकत्व में सामंजस्यपूर्ण एकत्व के दर्शन किए गए और जब राज्य-शक्ति को स्थायित्व की चाह जगी ईश्वर की कल्पना हुई जिसके द्वारा शासन को धार्मिक-आध्यात्मिक क्षमता प्राप्त हो। वैदिक बहुदेववाद' को भिन्न-भिन्न युगों में बँटे और और कुल-श्रेष्ठता की भावना से अभिभूत भारतीय समाज की भूमिका में देखना चाहिए। गणतन्त्रीय बौद्ध धर्म को ईश्वर की अपेक्षा न थी कारण शासन के स्थायित्व का प्रश्न नहीं था। 'दर्शन' का प्रारम्भ हो जाने पर उसकी अपनी परम्परा बन जाती है और समय-समय पर सामाजिकता की भूमिका में उसे देखने की अपेक्षा। दर्शन के इतिहास से यह स्पष्ट रूप से कथित है कि दो धाराएँ चलती रही हैं, पहली धारा विधि-विधान पूजा-उपासना सामाजिक रीति-नीति की तत्कालीन व्यवस्था को स्वीकार कर उसे बुद्धि-सम्मत सिद्ध करने की चेष्टा करती है और दूसरी धारा इन्हें अमान्य करती है। सामाजिक भूमिका में नहीं देखने के कारण दर्शन बौद्धिक विलास समझा जाने लगता है। विचार-परम्परा स्वतन्त्र नहीं राजकीय विधान से नियन्त्रित नहीं होने पर भी विचार स्वतन्त्र नहीं हो पाते। दर्शन-शास्त्र इस प्रकार प्रणालियों को जन्म देते हैं और विचार अनुबद्धता उनका क्रम निश्चित करती है। भारतवर्ष में षट्-दार्शनिक मतवादों की चर्चा है। औपनिषदिक ज्ञान का चरम ज्ञान रूप कर स्वीकार किया और ब्रह्म-विद्या की प्रतिष्ठा हुई। कठोपनिषद् की आख्यायिका के उपसंहार में कहा गया कि यम (मृत्यु) द्वारा कही हुई इस विद्या और सम्पूर्ण योग-विधि को पाकर नचिकेता ब्रह्म-भाव को प्राप्त विरज और मृत्युहीन हो गया।[२] गीता में भी इस ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा है। वेदान्त के साथ संत-मत की तुलना का अवसर हमें आगे चल कर प्राप्त होगा यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दर्शन की विभिन्न प्रणालियों के आधार पर सन्तों के विचार और चिन्ता-धारा का विवेचन नहीं किया जा सकता। 'दर्शन को अस्तित्व की पहेली सुलझाने का फल भी कहा गया है।[३] अस्तित्व के विभिन्न पहलू हैं किन्तु दर्शन का सर्वव्यापी स्वरूप अस्तित्व का केवल एक पहलू लेता है, परिवर्तनशील सृष्टि में अपरिवर्तनीय तत्त्व क्या है और वास्तविक यथार्थ क्या है ?[४] इसे अध्यात्मशास्त्र कहते हैं। जीवन को समझने और उसकी समस्याओं को हल करने के लिए संसार की उत्पत्ति और विनाश सृष्टि-तत्त्वोत्पत्ति के कारण और कर्ता का स्वरूप और उस तत्त्व के साथ जीव के विभिन्न सम्बन्ध-स्वरूपों के विचारों का विकास क्रमानुसार हुआ।

दर्शन का एक और तात्पर्य है तर्क के द्वारा और उसके आधार पर जीव-जगत् सम्बन्धी विचारों की स्थापना। ऐसी स्थिति में संगति-स्थापना ही दर्शन है, इस अवस्था में साधन ही साध्य बन जाता है। तर्क प्रणाली है अत दर्शन-शास्त्रों ने अपनी सिद्धि के लिए

१ कठ १/१/२८। २ क २/२/१८।

३ ए हिस्ट्री ऑफ प्रि-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी।

—वेणीमाधव बरुआ पृ २ (क वि १९२१)।

४ आडमसन दि डिवेलपमेंट ऑफ ग्रीक फिलासफी पृ १।

अपने प्रमाण-शास्त्र अथवा तर्क की प्रतिष्ठा की है। तर्क को अधिक प्रतिष्ठित[1] नही मान कर भी तर्क के द्वारा अपनी स्थापनाओ को प्रतिष्ठित करने का प्रयास आचार्यों ने किया है। वेदान्त-सूत्रो के साम्प्रदायिक भाष्य इसके प्रमाण है। सत-साहित्य मे तर्क-प्रणाली स्वीकृत नहीं हुई, तर्क-प्रणाली के अभाव और सगति-हीनता के कारण सतो को अशिक्षित और इधर-उधर से सुन-सुनाकर कुछ तथ्यो का एकत्र करनेवाला कहा गया है।

दार्शनिक मतवादो की विभिन्नता के कारण किसी सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्त्ववाद के साथ इन्हें सम्बद्ध किया गया और अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, सूफी एकेश्वरवाद आदि-आदि के दर्शन इनके उपदेशो में किए गए हैं, फलस्वरूप मतवादो के साथ पूर्ण-सगति नही मिलने के कारण इन्हें अविचारक, सगतिहीन, अशिक्षित, दम्भी, कोरे उपदेशक आदि कहा जाता रहा। इन सतो की विचार-धारा को समझने के लिए किसी मतवादी दर्शन की प्रणाली से सम्बद्ध करना उचित नही। विचारो की स्वतन्त्रता इनमें पर्याप्त है, किन्तु इस स्वतंत्रता का अर्थ है कि शास्त्र-व्यवस्था और पुस्तकीय ज्ञान को इन्होंने प्रामाण्य नही माना है, जिसकी सुदीर्घ परम्परा है। इन शास्त्रीय आधारो पर निर्भर आचार-नीति, सामाजिक व्यवस्था और अनुशासन इनके लिए अमान्य हो जाते हैं।

विचार-धारा की स्पष्टता के लिए विचार-परम्परा, अनुबन्ध और सामाजिक स्थितियो का विवेचन अपेक्षित है। इस अध्ययन में भिन्न-भिन्न स्थलो पर सामाजिक अनुबन्ध और विचार-परम्परा का उल्लेख होता आया है। इस अध्याय में उनका मत उपस्थित किया जा रहा है। पूर्व भाग में सतो के जीवन, जगत्, ब्रह्म आदि सम्बन्धी मत उपस्थित किए गए हैं और उत्तरार्द्ध में अन्य मतो के साथ ऐतिहासिक अनुबन्ध में तुलना है। 'दर्शन', 'अध्यात्म' जैसे रूढ शब्दो से इस अध्याय को अभिहित नही कर, चिन्ताधारा शीर्षक उपयुक्त समझा गया है, कारण इसे दर्शन-प्रणाली किसी अवस्था में नही कहा जा सकता।

इन सतो का मुख्य लक्ष्य है, मानव की प्रतिष्ठा, उसके आन्तरिक सद्भाव और सात्त्विक वृत्ति में आस्था। धर्म-सम्प्रदाय, विद्या धन आदि की भूमिका में देखने के कारण व्यक्तियो की दृष्टि अवरुद्ध रहती है, अत इनका परिहार आवश्यक होता है और परमात्म-तत्त्व की एकता स्थापित कर व्यक्ति की सामाजिक असमानता का निराकरण। जीव, जगत् और ईश्वर सम्बन्धी सभी विचारो की सगति इस मूल चेतना के अनुबन्ध मे है, ऐसी अवस्था मे दर्शन-प्रणाली की दृष्टि इसके लिए सगति-हीन है। मानव की एकता प्रेम और सद्भाव के कारण ही स्थापित हो सकती है—जिस काल में सत हुए थे, उस समय इनका अभाव था—अत प्रेम ही उस परम-तत्त्व का स्वरूप बन गया, जहाँ नाना प्रकार के मतवाद के कारण विचार-गत विशृंखलता को दूर कर शृंखला उपस्थित करने का प्रयास उपनिषदो मे हुआ। जहाँ ज्ञान ही अमृत और जीवन बना, वहाँ प्रेम के तत्त्व की व्यापकता द्वारा उस अमृत को रस (भाव) पूर्ण किया गया। 'चिन्ता-धारा' ही ऐसी उपयुक्त सज्ञा है जिससे सतो के विचारो का विवेचन समुचित होगा।

---

१ मुण्डक, ३।२।३, कठ०, २।८।९ और २२, वेदांत सूत्र (शां० भा०) १।२७ और महा० (भीष्मपर्व) ५।१२।

परमतत्त्व और उसका स्वरूप

चिन्ता-धारा के विकास-क्रम में उद्गम की खोज सहज नहीं होती। देश-काल के अनुबन्ध में चिंतन-विकास की स्थापना दार्शनिक मतवाद की परम्परा के इतिहास द्वारा की जा सकती है, यद्यपि इस रीति से भारतीय दर्शन के अध्ययन का प्रयास नहीं के बराबर हुआ। युग विशेष की मानसिक स्थिति और सांस्कृतिक चेतना का अध्ययन साहित्य के द्वारा ही सम्भव है। जीवन के स्वरूप को मान्यता देने और परस्पर-विरोधी मतों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा भी दर्शन के क्षेत्र में होती है, अतः यहाँ इस विकास का संकेत अपेक्षित है।

वैदिक ग्रंथों में विभिन्न मतों के तत्त्व हैं।[1] ऋग्वेद में प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूपों की प्रार्थनाएँ हैं। यह धर्म की वस्तु निष्ठ भावना है।[2] देवताओं की तीन कोटियाँ या श्रेणियाँ हैं—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्ष स्थान तथा द्युस्थान। इनमें क्रमशः अग्नि, इन्द्र और सूर्य (विष्णु) प्रधान देवता हैं। यास्क के प्रमाण से देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बहुदेववाद के अभ्यन्तर एक परम देवत की कल्पना से अद्वैतवादी ब्रह्म की धारणा का पता होता है। बौद्ध-ग्रन्थों से तत्कालीन स्थिति के दिग्दर्शन होते हैं। बुद्ध के समकालीन दार्शनिकों का उल्लेख है।[3] इन विचारों में केवल विभिन्नता के नहीं बल्कि धर्म-धारणाओं के स्वरूपों के संकेत मिलते हैं। अनेक प्रकार के विश्वास उस काल में प्रचलित थे और उनके अनुयायियों की संख्या नगण्य नहीं थी। परलोक-निमित्त पुण्य कर्मों की फलहीनता भौतिकवाद और अक्रियतावाद में विश्वास करनेवाले व्यक्ति थे। अनेकान्तवाद नियतिवाद का प्रचलन भी कम नहीं था। यह भी स्पष्ट है कि ये मतवाद परम्परा से चले आ रहे थे। स्वयं उपनिषदों में से कुछ विभिन्न मतवादों का संकलन किया जा सकता है। उपनिषदों में ब्रह्म का अपने आप अभिव्यक्त करने की धारणा के साथ सृष्टिकर्ता की भावना वर्तमान है।[4] इन दोनों धारणाओं में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा भी लक्षित होती है।[5] बुद्ध ने आध्यात्मिक विषयों की चर्चा नहीं के बराबर की है उनके लिए आचार की समस्या जटिल थी अतः आचार-शुद्धि पर उनका ध्यान रहा। समस्त पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना तथा अपने चित्त को परिशुद्ध करना यही बुद्ध का अनुशासन है।[6] बौद्ध धर्म की विकृति भारतीय साधना के इतिहास का मनोरंजक अध्याय है। बौद्ध धर्म के सिद्धांतों से निर्गुण सम्प्रदाय के विकास का सूत्र हाथ आता है। सर्व-धर्म-शून्यता, ब्राह्मण विरोध, विज्ञानवाद, शून्यवाद और सहजयान के स्पष्ट प्रभाव हिन्दी निर्गुण-सम्प्रदाय पर है। नाना धारणाओं का प्रवाह अक्षुण्ण चलता रहा और वे परस्पर प्रभावित होते और करते रहे।

१　बौद्ध दर्शन मीमांसा, बलदेव उपाध्याय, पृ० २८।

२　क० स० भी० दि० धामाडे, पृ० २।

३　दीघ निकाय, पृ० ५।१; संयुक्त निकाय ३।१।१।

४　सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च।—तै० २।६।

५　मुण्डक ३।१।२९।　　　६　धम्मपद १८३।

वेदो को प्रामाण्य माननेवाली धारा उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र, गीता, पचरात्र और पौराणिक साहित्य मे प्रवाहित होती रही और दूसरी धारा बौद्ध धर्म और उसके विभिन्न रूपो मे विकसित होती चली, जिसमे जन-विश्वास एव आर्य-आर्येतर सगम से उन्मेष-प्राप्त भावनाओ की प्रधानता रही। वैदिक काल में जो प्रधानता इन्द्र को थी वह पौराणिक काल मे विष्णु को मिली। अनीश्वरवादी बुद्ध स्वय ईश्वरत्व की कोटि मे प्रतिष्ठित हुए। पौराणिक हिन्दू धर्म ने अवतारो में बुद्ध की गणना कर ली। मतवादो का सगम इस प्रकार सदा चलता रहा है। कबीर-पथ में पीछे चल कर सृष्टि-तत्त्व का जो निरूपण हुआ है, उसके अनुसार 'सत्पुरुष' ने (कबीर के परम तत्त्व ने) पहले छह पुत्रो की सृष्टि की, जो क्रमश सहज, अकुर (ओकार), इच्छा, सौहग (सोऽहम्), अचित्य और अक्षर के नाम से प्रसिद्ध हुए। सृष्टि-रचा मे इनके अक्षम होने पर उसने सातवे 'निरजन' की सृष्टि की जो काल-पुरुष कहलाया।[1] परवर्ती कबीर-पथ में निरजन की दुर्गति का मनोरजक वर्णन डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है[2] और निरजन-सम्प्रदाय की चर्चा डॉ० बडथ्वाल ने की है।[3] सहजयान और सहजिया सम्प्रदाय की चर्चा अब अनुश्रुत नही। 'इच्छना' (इच्छा) सम्प्रदाय के बीज बुद्ध-वचन मे है जहाँ अलौकिक सिद्धि-प्राप्ति के सम्बन्ध में इच्छा (इच्छना) का कथन हुआ है।[4] अचिन्त्यवाद[5] का विकसित स्वरूप गौडीय अचिन्त्य भेदाभेदवाद मे दीख पडता है। 'सोह' (सुहग) सम्प्रदाय औपनिषदिक मत का मध्यकालीन प्रवर्तन है। अक्षर सम्प्रदाय शब्दाद्वैतवाद का सकेत करता है, जिसका प्रतिपादत भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' में स्फोट अथवा प्रणव के रूप में हुआ। मन्त्रयान को इसी कडी में देखना चाहिए, जिसका चीनी सस्करण 'सुखावर्ती' नाम से प्रसिद्ध हुआ। अकुर की कल्पना के लिये श्री समाज-तन्त्र का यह कथन द्रष्टव्य है —

> तनुतरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
> गगनव्यापी फलद कल्पतरुत्व कथ लभते ॥[6]

इसमें देह रूपी वृक्ष के चित्त रूपी अकुर को विशुद्ध विषय रस द्वारा सिक्त करने का आदेश है। इस प्रकार सत्य पुरुष के सातो बेटे वस्तुत सम्प्रदायो के सिद्धात-स्वरूप हैं, जिन्हें परवर्ती कबीर-पथ ने आत्मसात् कर लिया था। उनके सिद्धान्त कबीर के उपदिष्ट मार्ग के अन्तर्गत आ गए और इन सम्प्रदायो के उन अनुयायियो का प्रत्याख्यान हो गया जो कबीर-पथ मे दीक्षित नहीं हुए। 'काल-चक्र-यान' का स्पष्ट प्रभाव इन पर दीख पडता है जिसकी परम्परा सिद्धो और नाथो द्वारा होती हुई सतो तक पहुँची थी। सत-परम्परा मे इन सिद्धान्तो का सामजस्य स्वत हो गया। अन्य सम्प्रदायो की शब्दावली ज्यो-की-त्यो

---

१ की क० हि० फा०, पृ० १३५-३६। २ कबीर, पृष्ठ ५२-७१।

३ योग-प्रवाह, पृ० ३४-५३। ४ दीघनिकाय, पृ० १९६।

५ द्रष्टव्य—अचित्या खलु ये भावा न तास्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्य पर यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥
—महा० भीष्म ५-१२ (वे० सू० शा० भा०) में साधयेत् के स्थान में योजयेत् है (१।२७)।

६ 'चर्याचर्यविनिश्चय' के लुईपाद वृत्त प्रथम पाद की टीका मे उद्धृत सरहपाद का वचन।

आ गई है किन्तु इसका मर्म दूसरों से सभव नहीं बल्कि अपने व्यापक मानवीय आदर्श तत्त्व-वाद की प्रतिष्ठा है। अन्य सम्प्रदायों के तत्त्ववाद से इसकी तुलना अन्यत्र की जाएगी यहाँ ब्रह्म-स्वरूप धारणा का विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

परमतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में संतों को किसी प्रकार की दुविधा नहीं और कबीर के मत को संतों ने प्राय स्वीकार किया है। वैयक्तिक सांस्कृतिक चेतना जीवन के प्रति दृष्टिकोण और दीक्षा के कारण अन्तर आता गया है। दादू ने स्वयं स्वीकार किया है कि जो कबीर का कंठ है, वही दादू का भी और व (दादू) उसी की अचना-उपासना करते है।[1] कुछ लोगों के अनुसार मलूकदास कबीर के शिष्य थे और प्रमाणस्वरूप यह 'साखी' उपस्थित की जाती है—

कबीर गुरु बसै बनारसी सिख समंदा तीर।
बिसार्‍या नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर ॥[2]

मलूक कबीर के शिष्य हों अथवा नहीं किन्तु कबीर का प्रभाव स्पष्ट है। धन्ना न कबीर रविदास का नाम आदर से लिया है। नीचकुलोद्‌भव कबीर जुलाहा-धन्धा त्याग कर प्रीति के कारण गुणगीत हो गए और रविदास न कुलधर्म का त्याग कर साधु-संगति के प्रभाव से हरिदर्शन पाया।[3] और रविदास ने कहा है हरि के नाम के कारण कबीर का नाम उजागर है।[4] रामोदास के अनुसार अगुन अरूप व अकल की उपासना प्रच लित करनेवाले कबीर, नानक दादू और जगन ने चार पद्धतियाँ चलाई जिनका सम्बन्ध निरंजन से था।[5]

ब्रह्म एक और अनादि है।[6] उसमें सीमा और परिमाण नहीं।[7] वह अलख और निरंजन (नि + अंजन अंजन अर्थात् माया से मुक्त और स्वतन्त्र) है। वह अन-पक सभी में पूर्ण रूप से परिव्याप्त है कोई स्थान उसकी सत्ता से शून्य नहीं। वह सर्वव्यापक है। किसी स्थान म उसके अस्तित्व का अभाव नहीं। जिस प्रकार फूल के भीतर सुगन्धि है काष्ठ में अग्नि और धरती में जल है, दूध में अव्यक्त घी और मेंहदी में लाली छिपी है, उसी प्रकार ब्रह्म सक्षम अदृश्य रूप से परिव्याप्त है। तिल भर भी ऐसा स्थल नहीं जहाँ उसकी सत्ता वर्तमान न हो।[8] जहाँ जहाँ दृष्टि जाती है, एकमात्र वही दीख पड़ता है।[9] आगे-पीछे एक वही है और कोई दूसरा नहीं।[10] वही एक अविनाशी है वह

---

१ दादू दयाल की बानी पीव पहचान को अंग ११ पृ १९५।
२ क पृ ९८/२।
३ आ ग्र धन्ना रागुआसा २/१-२।
४ आ ग्र रविदास रागु आसा ५/१।
५ रामोदास की भक्तमाल।
६ सं क रागु गउड़ी १ पृ ५।
७ वही रा म १ पृ १२।
८ वही रा म २० पृ ३१।
९ प वा भाग (१) पृ ३१।
१ मेरा प्रभु रविआ सरबे ठाई।—आ ग्र नामदेव प्रभाती १।
जेह देखउ तेह तह तू गनि गुरु दिया दिखाइ।—वही आसावरी ३।
११ दादू सबद २ पृ० ११। गुलसीप—वह ऊपर है वह नीचे है वह पीछे है वह सामने है।—तारा ७/२५/१।

अविगत है।[१] ब्रह्म अक्षर है और सभी क्षर।[२] वह अभग और अछेद है। वह न जीता है और न मरता है। वह अ-तर है, किसी प्रकार तरा अथवा मापा नही जा सकता। वह अथाह है, उसकी थाह किसी को नही मिलती।[३]

आकाश में गगन है, पाताल मे गगन है, चारो दिशाओ में गगन है। सब मे सूक्ष्म-तत्त्व-स्वरूप वही आनन्द-मूल चिरन्तन आत्म-तत्त्व है।[४] यहाँ स्मरण रखने योग्य हे कि आकाश ही 'ख' है और उस अवस्था अर्थात् शून्य-स्वरूपता की प्राप्ति ही खसमावस्था है। वह तत्त्व परम निर्मल है,[५] वह सदा एक-रस और समान भाव से निर्विकार रहता है।[६] वह केवल अलख ही नही बल्कि निरकार और निर्वाणी (निरबानी) भी है।[७] निर्वाण प्राप्त करने पर यह स्वरूप प्राप्त होगा एव निर्वाण-स्वरूप ही उसका रूप है। यहाँ वहाँ सर्वत्र उसी की व्याप्ति है, उसका अभाव किसी स्थल मे नही।[८]

ब्रह्म परम ज्योति स्वरूप है।[९] घट-घट में उसी की ज्योति जला करती है और जगमगा रही है।[१०] सभी घटो में वही बोलता है, उसके बिना सभी अ-बोल अर्थात् मूक है।[११] वह जैसा है, उसे वैसे रूप मे कोई देख नही सकता।[१२] अपने प्रकाश से ही वह आदि निरजन प्रकाशित है, उसे प्रकाशित करने के लिए न सूर्य की अपेक्षा है और न चन्द्रमा की आवश्यकता। उस शून्य-मण्डल मे न वर्ण है और न अ-वर्ण, न वहाँ धूप है और न छाया।[१३]

वह न ब्रह्माण्ड है न पिण्ड, वह निर्माण-कर्ता भी नही। माया जोडनेवाला सदा अतीत रहता है।[१४] किन्तु वह दूर भी तो नही, सदा पास ही है। उसे ढूँढने के लिए दूर जाने की अपेक्षा नही।[१५] उसके सम्बन्ध में दूर (पास की धारणा व्यर्थ है। वह घट-घट में रहता है किन्तु घट के फूटने पर भी घटता नही।[१६]

---

१ स० क०, रागु गउडी ५२ और ६७।
२ वही, रागु गउडी ७५, पृ० ७८।
३ वही, रागु गउडी ७५, पृ० ७८-८०।
४ वही, रागु गउडी ३, पृ० १६६।
५ दा० स० ९७, पृ० ३३।
६ स० क०, रागु बसतु १, पृ० २३०।
७ वही, रागु बिलावलु, प्रभाती ५।
८ एक अनेक बिआपक पूरक जत देखउ तत सोई।—आ० ग्र०, नामदेव, रागु आसा १।
इमै बीठलु उमै बीठलु बीठलु बिनु ससार नही।—वही, नाम० रागु आसा २/४।
घट घट अन्तरि सरब निरतरि केवल एक मुरारी।—वही नाम०, रागु आसा १।
९ स० क०, रागु गउडी ९, दादू शब्द, पद ११०-१११, पृ० ३७।
१० आ० ग्र०, नाम०, रागु माली गउडी ३।१ और स० क०, रा० ग० ५५, पृ० ५८।
तुलनीय—घटि घटि दीपक (बलै)—गो० बा०।
११ आ० ग्र०, नामदेव, रागु माली गउडा ३।१ और वही, नाम०, रागु आसा १।४।
१२ क० ग्र०, पद ४७।
१३ स० क० रागु भैरउ १९।५, पृ० २२७।
१४ स० क०, रागु गउडी ५२, पृ० ५५।
१५ वही, रागु गउडी ७५, पृ० ८०, आ० ग्र०, रागु सोरठ १।३ और वही, टोडी, नाम० १।१।
तुलनीय—बाहरि न नेडा न दूर। खोजत रहैं ब्रह्म और सूर।—गो० बा०, ५९।१७४।
१६ स० क०, रागु गउडी ७५, पृ० ७७।

वही चित्रकार है और चित्र भी।[1] वही एकमात्र सत्य और सबमेंठ है। वह सृष्टिकर्ता है, सृष्टिकर्ता सृष्टि में है और सृष्टि सृष्टिकर्ता में।[2] सागर में बूँद और बूँद में सागर है।[3] वही नौका है और केवट भी।[4] वही दृश्य है और द्रष्टा भी। वह अकेला (निष्कल) एक है।[5] वह एकमात्र अद्वितीय सब-समर्थ और सबकर्ता है।[6] हरि ही इंद्रजालिक हैं जो नट की भाँति सदा क्रीड़ा करता रहता है।[7] वह तरन और तारन तरनेवाला और तारन वाला दोनों है। उसका रहस्य समझ सर्वज्ञ महेश और शेष-नाग जैसे शक्तिशाली भी नहीं जानते।[8] निर्गुण का रहस्य कोई बिरला जानता है, वह सब के लिए सुगम नहीं वह मन-वाणी के परम अगोचर है।[9] तुलसीदास के अनुसार सगुण ब्रह्म के चरित का रहस्य जाना नहीं जा सकता। सगुण रूप की अपेक्षा निर्गुण-स्वरूप समझना सहज है क्योंकि इसके समझने में भ्रम की सम्भावना नहीं रहती।[10]

वह जल भी नहीं पवन भी नहीं और अग्नि भी नहीं। वह अगम है इंद्रियों से परे अत इंद्रियातीत है।[11] वह अगुण भी नहीं सगुण तो है ही नहीं बल्कि अगुण और सगुण

---

१ ग क राग गउड़ी ७५ पृ ७९। और आ ग्रं नाम० प्रभाती ३/२।

२ शेख फरीद के सलोक पर गुरु अमुर देव की टिप्पणी। संसार को बुरा तो तब कहा जाय जब उससे रहित कोई हो। जब सबमें वह है और उसमें सब है तो फिर बुरा कौन?

फरीदा खालकु खलक महि, खलक वसै रब माहि।

मदा किसनो आखीऐ जां तिसु बिनु कोई नाहि॥ —आ० ग्रं०।

३ आ० ग्रं राग रामकली ९। ४ वा आ० (१) पृ ६।

५ सं क० राग तिलंग १ और राग सूही ५।

६ आ ग्रं शेख फरीद सलोक ४ और सं० क राग बिलावल ५ और ७ तथा बिभास प्रभाती ३।

७ क ग्रं रमैणी २ सं क राग गउड़ी ११ और बानू गवर पद २१।

८ सं क राग आसा २७ और राग धनासिरी १।

तुलनीय—बिरला जानंति भेदाभेदं बिरला जानंति नाद पद छंद।

बिरला जानंति अवध कहाणी बिरला जानंति सुषिरदाणी की बाणी॥

—गो बा २४।११।

९ सं क राग गउड़ी ४७ पृ ५।

तुलनीय—यो मनःसागरःसाक्षिवद गा परमात्म न होई । —नारदता हि वा भा० पृ २।

१० निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।

सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥—रा च मा उत्तर ७३।

११ तुलना—उपनिषदों में स्थल-स्थल पर परमात्म के रूप में जल पवन अग्नि का स्मरण किया गया है। बृहदारण्यक के अनुसार ब्रह्माण्ड जल है जिससे सत्य और फिर सत्य से ब्रह्मा प्रजापति और को उत्पत्ति हुई (बृह ५।५।१)। कठोपनिषद् वायु का उल्लेख (२।२।१२) में किया है और अग्नि का वर्णन श्वेताश्व० (२।१५) में हुआ है।

दोनो के परे है, अजर-अमर से भी अतीत है एव रूप और अरूप की सीमा से बाहर भी।[1] उसके स्वरूप की कोई धारणा नही बनाई जा सकती।[2]

ब्रह्म के व्यापक और विराट् स्वरूप का वर्णन आया है—ब्रह्म के समीप करोडो सूर्य प्रकाश करते है, अपने-अपने कैलास पर स्थित करोडो महादेव वर्तमान है, असख्य दुर्गाऍ सेवा करती है, और करोडो ब्रह्मा वेदो का उच्चारण करते हैं। करोडो चन्द्रमा वहाँ दीपक की भाँति प्रकाश करते हैं। तैतीस कोटि देवता भोजन करते है, नवग्रह के करोडो समूह उसकी सभा में खडे रहते है, करोडो धर्मराज उसके प्रतिहारी है, करोडो पवन उसकी 'चौबारी' में चक्कर काटते है, करोडो वासुकि सर्प उसकी सेज हैं, करोडो समुद्र उसके पनिहारी हैं, अठारह करोड पर्वत जिसकी रोमावली हैं। करोडो कुबेर उसके भण्डारी है, करोडो लक्ष्मी जिसके लिए शृगार रचती है, पाप-पुण्य को हरण करनेवाले करोडो इन्द्र उसकी सेवा करते है और छप्पन करोड उसके प्रतिहारी हैं। सर्वत्र उसकी सृष्टि है और करोडो मुक्तकेशी कलाऍ उसके लिए कार्य में जुटी रहती है, उसकी राजसभा में करोडो दरबार है, करोडो गन्धर्व जय-जयकार करते हैं, करोडो विद्याऍ उसके गुणो का गान करती है।[3] उसी गोपाल की सेवा उचित है चिरकुमारी लक्ष्मी जिसकी सेवा करती है, चन्द्र और सूर्य जिसके दीपक है। चतुर्मुख ब्रह्मा जिसके यहाँ कुलाल है, जिसने विश्व की रचना की, जिसके यहाँ जगत् गुरु तत्त्वपारखी शकर (ईश्वर) बावला होकर अपना ज्ञान भाखते है, जिसके द्वार पर चित्रगुप्त पाप-पुण्य का लेखा-जोखा तैयार करते है और धर्मराज जिसका प्रतिहारी है। श्री गोपाल ऐसा राजा है कि उसके यहाँ गन्धर्व, ऋषि और ढाढी गुण गाते हैं। सारे शास्त्र बहुरूपिया है, उसका अखाडा 'अनगरुआ' है और माण्डलीक राजा (अथवा वेदो के मण्डल) उसके गुण गाते हैं। पवन चँवर डुलाता है, 'शक्ति' जिसकी चेरी है। सहस्र फण वासुकि जिसकी सेज है, वनस्पति जिसकी मालिन है और छियानवे करोड मेघ जिसका जल भरते हैं। गगा जिसके नख से द्रवित है, सप्त समुद्र 'घडथली' हैं, समस्त जीव जिसके पात्र (बरतनी) हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, 'अम्बरीक', नारद जिसके द्वार पर प्रतीक्षा करते है और उसके गुणो का कीर्तन करते हैं। इतने जीव जिसके यहाँ रहते हैं, वह सर्वव्यापक हरि सबमें अन्तर्भूत है।[4] गीता मे कृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट् स्वरूप दिखलाया था।[5] इस रूप का वर्णन करते हुए सजय ने कहा था, यदि आकाश में एक हजार सूर्यों की प्रभा एक साथ हो तो वह उस महात्मा की कान्ति के समान कदाचित् दीख पडे।[6] और अर्जुन ने कहा—हे देव, आपके शरीर में सम्पूर्ण देवो तथा अनेक भूतो के समुदायों को, कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्मा को, महादेव को, सम्पूर्ण ऋषियो तथा दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।[7] विराट् रूप दिग्दर्शन का अर्थ उस 'सर्वात्मतत्त्ववाद' की परिणति है जिससे सारी सृष्टि उसमें वर्तमान है। आरम्भिक रूप में उसके

---

१ क० ग्र, पद १८०। तुलनीय—गो० बा०, पृ० १०९।३-४।
२ आ० ग्र, नामदेव, रागु तिलग १।३ और वही जपुजी १।
३ स० क०, रागु भैरउ २०, पृ० २२८। ४ आदि ग्रथ, नामदेव, रागु मलार १।१-५।
५ गीता का यह स्वरूप-वर्णन मुण्डक (२।१।४) से प्रभावित है।
६ गीता ११।१३। ७. गीता ११।१५ (शा० भा०)।

प्रो० रानाडे ने कहा है कि तत्त्ववाद के विचार करते समय वैयक्तिक अस्तित्व माननेवाले सृष्टि-कर्त्ता की स्थिति पर विचार नही किया गया है।[1] यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि मूलतत्त्व क्या है, इस प्रश्न पर विचार करते समय सृष्टि-कर्त्ता का विचार अन्यत्र किया गया है, इसका कारण है कि प्रश्न के दो स्वरूपो की भिन्नता उपनिषदो के द्रष्टाओं ने समझी थी। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ मे सृष्टि उत्पन्न करने की कामना प्रजापति में हुई। उसने तप किया और एक रति और प्राण के जोडे (मिथुन) की सृष्टि की। (प्रश्न०, १।३-१३)। तैत्तिरीय के अनुसार भी उसने सृष्टि करने की कामना की, तप किया और अस्तित्व वाली सभी वस्तुओ की रचना की। रचना करने के पश्चात् उनमें प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार सृष्टि में प्रविष्ट होने के पश्चात् स्वय ही सत् और असत् हुआ। (तैत्ति० २।६)। सृष्टि-क्रम का अधिक पूर्ण और व्यवस्थित वर्णन ऐतरेयोपनिषद् में मिलता है। प्रारम्भ में एक मात्र आत्मा की स्थिति थी। उसमें लोक-सृजन की कामना जगी और उसने चार लोको की सृष्टि की। आदि आत्मा और सृष्टि के मध्यवर्ती, पुरुष की सृष्टि कर प्राण-वायु दिया। परमात्म-तत्त्व से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी सभूत हुई। (तैत्ति० ७।१)। प्रो० रानाडे के अनुसार यही पचतत्त्वो का निरूपण औपनिषदिक साहित्य में सर्वप्रथम हुआ है (क० स० औ० फि०, पृ० ९८)। मुण्डक में सभूति और उत्पादक सिद्धान्तो की कडी है और श्वेताश्वतर में धार्मिकता मूलक ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा।

पचीकरण के द्वारा जड-पदार्थ और जड शरीर उत्पन्न होते हैं। जड देह का संयोग चैतन्य आत्मा से होता है और तब जड शरीर सचेतन प्राणी बनता है। तिलक के अनुसार पचीकरण प्राचीन उपनिषदो में नही बल्कि उत्तर वेदान्त ग्रथो मे है (गीता-रहस्य अध्याय ८, पृ० १८५)। साख्य शास्त्र मे सृष्टि-तत्त्व पर अधिक विस्तृत रूप से विचार किया गया है, जिसकी नवीन परिणति गीता में हुई। भागवत धर्म के सेश्वरवाद ने व्यक्त परमात्म-तत्त्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बौद्ध धर्म की विकृति के कारण उठनेवाले विभिन्न सम्प्रदायों ने इस पर थोडा-बहुत विचार किया है। श्वेताश्वतर की विकसित स्थिति नाथ-सम्प्रदाय में मिलती है। प्रलयकाल में शक्ति नि शेष भाव से शिव में तत्त्वरूपा होकर अवस्थान करती है। उस काल में शिव अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहते हैं। इच्छा-युक्त शिव 'सगुण शिव' कहे जाते हैं। यह इच्छा ही शक्ति है। परम शिव से इस प्रकार दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव, शक्ति। अव्यक्त शिव सगुण शिव के रूप में और शक्ति (महाकुण्डलिनी) कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत होती हैं। कुण्डलिनी समस्त विश्व में परिव्याप्त होकर क्रमश स्थूल स्वरूप ग्रहण करती है। शिव अपनी शक्ति के कारण जगत के विविध रूपो मे परिवर्तित हो जाते हैं। गोरखबानी में भी इस तत्त्ववाद के दर्शन होते हैं। इस भूमिका में सन्तो के "सृष्टि-तत्त्व"-वाद पर विचार करने की अपेक्षा है।

राय बहादुर डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार "उन्होने (कबीर ने) यह नही कहा कि सृष्टि की रचना कैसे और किस क्रम से हुई है, कौन तत्त्व पहले हुआ और कौन पीछे।"

---

१ A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy P. 92

सर्वव्यापक होने की धारणा है और इसमें सबका उसमें होना। इस निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं कि वह सर्वत्र परिव्याप्त है, उसकी कोई समता नहीं। उसमें अनन्त सत्ता अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द है। वह अतुलनीय सौन्दर्यशील और पूर्ण परमानन्द है।[1] वह सर्वमय सर्वगत और परम स्वतन्त्र है। वह निरपेक्ष-सापेक्ष निर्गुण-सगुण अनन्त-सान्त अद्वैत-द्वैत निर्जीव-सजीव सभी कल्पनाओं के अन्तर्गत और बाहर है। वह सर्वव्यापी सत्स्वरूप है, उससे परे और बाह्य कोई वस्तु नहीं। किन्तु वस्तु वह नहीं। अव्यक्त-व्यक्त स्थूल-सूक्ष्म ज्ञान-अज्ञान प्रकाश-अन्धकार चेतन-अचेतन निराकार-साकार निष्क्रिय-सक्रिय सीम-असीम सबमें वह भिन्न और अभिन्न दोनों है। वह विशुद्ध सत् और सत्व निर्विशेष मुक्त अक्षर देश-काल की व्याप्ति से अमर्यादित एवं विश्वातीत किन्तु विश्वाभिव्यक्त है। उसी एक की अभिव्यक्ति अनेक में है। वह अपने आप जैसा है परम अनिर्वचनीय। उसे जैसा कहा जाता है वैसा नहीं और जैसा है वैसा कहा नहीं जा सकता।[2] इस विलक्षणता का सुन्दर वर्णन सुन्दरदास ने किया है—

> एक कहूँ तौ अनेक सौ दीसत एक अनेक नहीं कछु ऐसो।
> आदि कहूँ तिहि अंतहु आवत आदि न अंत न मध्य सु कैसो।
> गोपि कहूँ तौ अगोपि कहा यह गोपि अगोपि न ऐसो न वैसो।
> जोई कहूँ सोइ है नहिं सुन्दर, है तो सही परि जैसो को तैसो॥

सृष्टि तत्त्व

दर्शन का मूल तत्त्वान्वेषण में है जिसके द्वारा अनेकान्त विश्व के मूलभूत तत्त्व और उसकी सृष्टि के क्रम पर विचार किया जाता है। विश्व की उत्पत्ति और स्थिति के प्रश्न ने उपनिषद् के द्रष्टा को विचार उन्मेष दिया था।[3] गौतम बुद्ध ने इन प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहा था क्योंकि ब्रह्मचर्य निर्वेद विराग निरोध उपशम अभिज्ञा और सम्बोधि के लिए इनका विचार आवश्यक नहीं। निर्वाण-प्राप्ति में इनकी अपेक्षा नहीं रहने के कारण ही ये प्रश्न अव्याकृत कहे गए हैं।[4] जिस क्रम से सृष्टि हुई है उसके उलटे क्रम से लय होती इस धारणा के कारण सृष्टि-क्रम के विचारों में स्पष्टता आने लगी है। इस तत्त्ववाद के तीन स्वरूप हैं—(१) इस सृष्टि का मूलतत्त्व क्या है (२) इसका कर्ता कौन है और (३) किस क्रम और प्रकार से इसकी रचना हुई? उपनिषदों में इन तीनों प्रश्नों पर विचार किया गया है। उपनिषदों में जल (बृहदा॰) वायु (छांदोग्य) अग्नि (कठ) आकाश (छांदोग्य) असद् (तैत्तिरीय) सद् (छांदोग्य) इस सृष्टि के मूलतत्त्व माने गए हैं।

---

१ पूरन परमानन्द मनोहर समुझि देख मन माही।—आदि ग्रंथ धन्ना रागु आसा १।२।

२ जस हरि कहिये तस हरि नाही है अस जस कछु तैसा।

—आ॰ ग्रं॰ रविदास रागु बिलावल १।

३ किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा।—श्वे॰ १।१।

४ चूळमालुंक्यसुत्त (६३) मज्झिम निकाय पृ॰ २५१-५३ पोट्ठपाद सुत्त (१।९) दीघ निकाय पृ॰ ७१।

सांख्य के अनुसार स्वतन्त्र पुरुष मूल में अनेक और असख्य हैं (गीता ८।४, १३।२०–२२, महाभारत, शा० ३५१ और वे० सू० शा० भा० २।११) साख्य-शास्त्री सत्कार्यवादी है, कारण कार्य के व्यक्त गुण को मूल कारण मे किसी-न-किसी रूप मे अवश्य रहना मानते हैं। महाभारत के अनुसार ही गुणो की उत्पत्ति होती है और उन्ही में उनका लय होता है। (म० भा०, शा० ३०५ २३)। अद्वैतवादी के अनुसार पुरुप (ब्रह्म) निर्गुण उदासीन और अकर्ता है, स्वतत्र है एव प्रकृति अनिर्वचनीय मूल प्रकृति नही वल्कि मूल परमब्रह्म है। सत-सम्प्रदाय में परम-ब्रह्म से ही सृष्टि के सब सजीव और निर्जीव पदार्थ व्यक्त और उत्पन्न हुए। निराकार-ज्योति स्वरूप परम-ब्रह्म के तत्व से ही गुणात्मक सृष्टि का निर्माण हुआ।[1] ससार उत्पन्न होकर विकसित होता है और विकसित होकर पुन उसी ब्रह्म मे लीन हो जाया करता है।[2] गोविंद ने यह माया-प्रपच किया है।[3] अद्वैतवाद के अनुसार यह सृष्टि विवर्त है किन्तु ब्रह्म माया-प्रपच से अलिप्त रहता है। साख्यवादियो की तरह सत का भी आदि पुरुष अनादि और माया अमर सुहागिनी है। माया एक जीव के मरने पर अनेक जीवो की सृष्टि करती है।[4] माया झगडालू स्त्री है और सदा शृगार करती है।[5] झगडालू का तात्पर्य है तत्वो को (सत्, रज और तम की) असाम्यावस्था और शृगार का तात्पर्य है नाना-विध रूप अर्थात् व्यक्त स्वरूप ग्रहण करना। माया का "अनादित्व" और कर्तृत्व यहाँ स्पष्ट है। बीजक में भी इस मत की पुष्टि मिलती है।[6] ब्रह्मा, विष्णु, महेश इस माया से उत्पन्न है, अत माया-शबलित होने के कारण इनका स्वरूप विशुद्ध नही। कबीर ने कहा है, ब्रह्म मैला है, इन्द्र मैला है, सूर्य मैला है और चन्द्रमा भी मैला है। यह सारा ससार मैला और मलीन है।[7] शिव, शकर मैले हैं और जीवात्मा सहित शरीर भी मैला है।[8] परम ब्रह्म से ईश्वर (सगुण) रूप की सृष्टि हुई। ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसके तीन स्वरूप हैं। वस्तुत ये तीनो उस एक ही की तीन भिन्न-भिन्न विभूतियाँ है।[9] सृष्टि के पाँच तत्वो की चर्चा सत-साहित्य में सर्वत्र

---

१ जोति की जाति जाति को जोति, तित लागे केचूआ फल मोती।

—स० क०, रा० ग० ९, पृ० ११।

२ उपजै निपजै निपनि नसाई, नैनह देखत इहु जगु जाई।

—स० क०, रा० ग० ९, पृ० १३।

३ स० क०, रा० ग० ६०, पृ० ६३।

४ खसम मरै तउ नारि न रोवै। उसु रखवारा अउरो होवै॥
एक सुहागिन जगत पिआरी। सगले जीव जत की नारी॥

—स० क०, रागु गौड ७, पृ० १७०।

५ करि सीगारु वही पखवारी। —स० क०, रागु गौड ७, पृ० १७०।

६ एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु वीचारा। —वी०, रमैनी २७।
तहिया गुपुत थूल नही काया, ताके सोग ताकि पै माया।

—द्रष्टव्य विचारदास की टीका, पृ० ९२।

७ स० क०, भैरउ ३, पृ० २०८।

८ वही, रा० भै० ३, पृ० २०८।

९ वही, रा० ग० ७७, पृ० ८८।

(क० ग्रं प्रस्ता ४९)। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय की कबीर वचनावली (पृ १४९) में सृष्टि-प्रक्रिया सम्बन्धी एक पद है किन्तु इस पद के कबीर-कृत होने में शंका के लिए पर्याप्त स्थान है। 'आदि अन्त की पारखी तो सों कहौं बखान इसकी सूचना देता है। प्रश्नोत्तर के रूप में परम्परा-प्राप्त अनेक अवस्थाओं में उसका विकसित-संशोधित रूप-सिद्धान्तों का निरूपण अधिक अवस्थाओं मे जोड़ा गया है। डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार वेदान्त के पाँच मोटे विभागों में से प्रथम और अन्तिम के विषय में कबीर दास ने स्पष्ट भाषा में अपना मत व्यक्त किया है पर बाकी तीन के विषय में उनका मत अनुमान सापेक्ष है।'[1] (कबीर पृ ९९)।

आदि ग्रंथ में आए संगृहीत सन्तों के पदों से सृष्टि-तत्त्व की धारणा के सम्बन्ध में डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत ही मान्य दीख पड़ता है। बीजक की प्रारम्भिक तीन रमैनियों में सृष्टि-तत्त्व और प्रक्रिया पर विचार है और अन्य स्थलों में इन संकेतों की पुष्टि मिलती है। इन्हीं संकेतों के आधार पर सन्तों के सृष्टितत्त्व-सम्बन्धी विचारों का क्रम स्थापित किया जा सकता है। न्याय के सृष्टि-तत्त्ववाद को सन्त ने स्वीकार नहीं किया है। नैयायिकों के अनुसार जगत् का मूल कारण परमाणु (परम+अणु विभाग की योग्यता से हीन अणु) है। परमाणुओं के संयोग-संघात से नए-नए गुण और नए-नए पदार्थ बनते हैं। नैयायिकों के दो दल हैं—एक जो परमाणु को ही मूल तत्त्व मानता है एवं उसे छोड़ और किसी को नहीं दूसरा दल परमाणुओं के संयोग का निमित्त कारण ईश्वर को मानता है। इसे आरम्भवाद कहते हैं। ईसाई और मुस्लिम मतों में परमाणुओं की चर्चा तो नहीं किन्तु ईश्वर संसार का निमित्त कारण अवश्य है। संसार में कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती यह सांख्य का मत है, जो उपनिषदों को भी मान्य है। (डॉ १२२)। सांख्य के अनुसार वस्तुओं का मूल द्रव्य 'एक' है और वह है प्रकृति-सूक्ष्म और अव्यक्त। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व रजस और तमस् (ब्रह्मय—सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।—गीता)। इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। तीनों गुण प्रकृति की साम्यावस्था में अव्यक्त रूप से रहते हैं और सबका बल समानाविकृत रहता है। उक्त तीनों गुणों के न्यूनाधिक होने से सृष्टि का प्रारम्भ होता है प्रकृति अव्यक्त से व्यक्त होने लगती है। प्रकृति के मूल में ही इस विकृति की क्षमता है, प्रकृति जड़ होकर भी आप ही आप व्यवहार करती है। प्रकृति की तीन अवस्थाएँ हुईं—सूक्ष्म-अव्यक्त सूक्ष्म-व्यक्त और स्थूल-व्यक्त सांख्य-शास्त्र के अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृति स्वयंभू और चतुर्दिक परिव्याप्त है। प्रकृति का ज्ञाता 'पुरुष' प्रकृति से भिन्न और निलिप्त है। 'पुरुष' मात्र साक्षी है स्वयं कर्त्ता नहीं। इस प्रकार सांख्य शास्त्रियों के मत से प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं अनादि और स्वयंभू। गीता में भी प्रकृति और पुरुष के अनादि अत भिन्न होने का उल्लेख है। (गीता १३।१९)। अचेतन प्रकृति और चेतन पुरुष के संयोग से सृष्टि-कार्य परिचालित होता है। (सां का २१)।

---

1 वेदान्त-मत के पाँच मोटे विभाग—ब्रह्म-विज्ञान (थियालोजी) सृष्टि-तत्त्व (कास्मोलाजी) अन्तःकरण विज्ञान (साइकोलोजी) मोक्ष-विज्ञान (सिल्वेशन) और जन्मान्तर-व्यवस्था। —(क पृ ९९)।

सांख्य के अनुसार स्वतन्त्र पुरुष मूल में अनेक और असख्य हैं (गीता ८।४, १३।२०–२२, महाभारत, शा० ३५१ और वे० सू० शा० भा० २।१।१) साख्य-शास्त्री सत्कार्यवादी हैं, कारण कार्य के व्यक्त गुण को मूल कारण मे किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहना मानते हैं। महाभारत के अनुसार ही गुणो की उत्पत्ति होती है और उन्ही में उनका लय होता है। (म० भा०, शा० ३०५ २३)। अद्वैतवादी के अनुसार पुरुष (ब्रह्म) निर्गुण उदासीन और अकर्ता हैं, स्वतत्र है एव प्रकृति अनिर्वचनीय मूल प्रकृति नही वल्कि मूल परमब्रह्म है। सत-सम्प्रदाय में परम-ब्रह्म से ही सृष्टि के सव सजीव और निर्जीव पदार्थ व्यक्त और उत्पन्न हुए। निराकार-ज्योति.स्वरूप परम-ब्रह्म के तत्त्व से ही गुणात्मक सृष्टि का निर्माण हुआ।[1] ससार उत्पन्न होकर विकसित होता है और विकसित होकर पुन उसी ब्रह्म में लीन हो जाया करता है।[2] गोविंद ने यह माया-प्रपच किया है।[3] अद्वैतवाद के अनुसार यह सृष्टि विवर्त है किन्तु ब्रह्म माया-प्रपच से अलिप्त रहता है। साख्यवादियो की तरह सत का भी आदि पुरुष अनादि और माया अमर सुहागिनी है। माया एक जीव के मरने पर अनेक जीवो की सृष्टि करती है।[4] माया झगडालू स्त्री है और सदा शृगार करती है।[5] झगडालू का तात्पर्य है तत्वो को (सत्, रज और तम की) असाम्यावस्था और शृगार का तात्पर्य है नाना-विध रूप अर्थात् व्यक्त स्वरूप ग्रहण करना। माया का "अनादित्व" और कर्तृत्व यहाँ स्पष्ट है। बीजक मे भी इस मत की पुष्टि मिलती है।[6] ब्रह्मा, विष्णु, महेश इस माया से उत्पन्न है, अत माया-शबलित होने के कारण इनका स्वरूप विशुद्ध नही। कवीर ने कहा है, ब्रह्म मैला है, इन्द्र मैला है, सूर्य मैला है और चन्द्रमा भी मैला है। यह सारा ससार मैला और मलीन है।[7] शिव, शकर मैले है और जीवात्मा सहित शरीर भी मैला है।[8] परम ब्रह्म से ईश्वर (सगुण) रूप की सृष्टि हुई। ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसके तीन स्वरूप हैं। वस्तुत ये तीनो उस एक ही की तीन भिन्न-भिन्न विभूतियाँ है।[9] सृष्टि के पाँच तत्त्वो की चर्चा सत-साहित्य में सर्वत्र

---

१ जोति की जाति जाति की जोति, तित लागे केचूआ फल मोती।
—स० क०, रा० ग० ९, पृ० ११।

२ उपजै निपजै निपनि नसाई, नैनह देखत इहु जगु जाई।
—स० क०, रा० ग० ९, पृ० १३।

३ स० क०, रा० ग० ६०, पृ० ६३।

४ खसम मरै तउ नारि न रोवै। उसु रखवारा अउरो होवै।।
एक सुहागिन जगत पिआरी। सगले जीव जत की नारी।।
—स० क०, रागु गौड ७, पृ० १७०।

५ करि सीगारु वही पखवारी। —स० क०, रागु गौड ७, पृ० १७०।

६ एकै पुरुप एक है नारी, ताकर करहु वीचारा। —वी०, रमैनी २७।
तहिया गुपुत थूल नही काया, ताके सोग ताकि पै माया।
—द्रष्टव्य विचारदास की टीका, पृ० ९२।

७ स० क०, भैरउ ३, पृ० २०८। ८ वही, रा० भै० ३, पृ० २०८।

९ वही, रा० ग० ७७, पृ० ८८।

मिलती है। कबीर ने तीन तत्त्वों की भी चर्चा की है—पवन अग्नि और जल।[1] पृथ्वी पानी तेज वायु और आकाश पंच महाभूत हैं। जिस क्रम से भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उसके ठीक विपरीत क्रम से प्रलय अथवा संहार। प्रलय के समय सभी एक हो जाते हैं।[2] विष्णु पुराण में इसका स्पष्ट वर्णन आया है, जगत्प्रतिष्ठाभूत पृथ्वी जल में लीन होती है, जल तेजस् में तेजस् वायु में वायु आकाश में आकाश अव्यक्त में और अव्यक्त निष्कल पुरुष में।[3] इस क्रम का वर्णन शिवदयाल ने किया है—

> पृथ्वी घोली जल ने भाय। जल को सोखा अगिनी धाय ॥
> अगिनी मिली पवन के रूप। पवन हुई आकाश स्वरूप ॥
> आकाश समाना माया माँहि। तम रूपा दीखे कुछ भी नाँहि ॥[4]

ऐसा वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आया है जिसे गुण-परिणामवाद के अनुकूल समझाने की चेष्टा उत्तर वेदान्त ग्रंथों में हुई। छांदोग्य में तेज आप और अन्न (पृथ्वी) का वर्णन है। इन तीनों तत्त्वों के साथ कबीर का मेल नहीं खाता।

परम-तत्त्व को ज्योति स्वरूप मानने के कारण मुस्लिम प्रभाव भी देखा जाता है किन्तु सन्त-मत में आरम्भवाद स्वीकृत नहीं हुआ है। "एक पुरुष और एक नारी" के कथन को आधार और हौवा पर घटित कराने का प्रयास भी होता है। सूफी भावना के दर्शन के लिए जायसी को देखना चाहिए जहाँ ब्रह्म भावना ईश्वर रूपी है।[5] उस ईश्वर ने प्रथम ज्योति (नूर = मुहम्मद साहब) का प्रकाश किया और उसकी प्रसन्नता के लिए सारी सृष्टि रचने में उसे क्षण मात्र नहीं लगा। कबीर के अनुसार परमब्रह्म ने क्रीड़ा अथवा आनन्द के लिए यह रचना की।[6] यह धारणा वैष्णवीय है।

सृष्टि-तत्त्व पर विचार करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बुद्ध की भाँति आध्यात्मिक प्रश्नों को सन्तों ने 'अव्याकृत' नहीं माना है। उपनिषदों में भिन्न-भिन्न रूप से इस तत्त्ववाद की जो स्थापना है, उसका अभाव सन्तों में है। सूक्ष्म व्यक्त ब्रह्म और अव्यक्त प्रकृति का अनादित्व स्वीकार कर भी ब्रह्म को उसके परे माना है। वेदान्त के रज्जु और सीप का उल्लेख भी अपेक्षाकृत कम है। दादू के एक पद में इसका कथन है। सन्तों ने नाथ सम्प्रदाय की परम्परा स्वीकृत कर ली है किन्तु वैसा पूरा विवरण नहीं है। सृष्टि कैसे आई यह प्रश्न सन्त को चिन्तित नहीं करता कारण जीवन्मुक्ति उसका लक्ष्य है।

---

१ सं क राग भैरव १ पृ २ ८।   २ गूढ़ २/४/१४।

३ जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। तेजस्याप प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते।
—वि पु।

४ हि का नि स पृ १४।

५ सुमिरौं आदि एक करतारू। जिहि जीउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥—पद्मावत स्तुति खण्ड १।

६ कबीर, पृष्ठ १ ।१७१।

माया

परम-तत्त्व और सृष्टि-क्रम पर विचार करने से माया-सम्बन्ध के कारण चार स्थितियो की कल्पना की जा सकती है—

(१) विशुद्ध सत्व चेतन स्वरूप (ब्रह्म),
(२) मायोपाधि सयुक्त ब्रह्म (सगुण ईश्वर),
(३) मायोपाधि सयुक्त आत्मा (जीव),
(४) अविद्या माया ग्रसित ससारी जीव ।

नानाविध नाम-रूपात्मक जगत् सत्य है अथवा मिथ्या, यह प्रश्न उपनिषद् के दृष्टाओ के समक्ष उपस्थित था। इस जगत् को मिथ्या कहने का यह तात्पर्य नही कि इस नाम-रूपात्मक जगत् में कोई नित्य आत्म-तत्त्व अर्थात् शाश्वत वस्तु नही । बौद्धो ने सब को अनित्य अथवा क्षणिक कहा जिसकी युक्ति-सगत परिणति शून्यवाद में होती है । ईसाई मत में 'शून्य' से ही सृष्टि की रचना परमात्मा ने की । अद्वैतवाद के अनुसार क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाले जगत् के मूल में एक चिरन्तन शाश्वत आत्म-तत्त्व निहित है । मायावाद की धारणा के अनुसार सृष्टि अनेकान्त नही 'एकान्त' है, आँखो से दीख पडनेवाला नाम-रूपात्मक स्वरूप मात्र मिथ्या है, उसके मूल में अव्यय और नित्य द्रव्य है, वही सत्य है । इस प्रकार सत्य-तत्त्व असत्य से आच्छादित है और असत्य ही सत्य रूप से आभासित होता है । उपनिषदो के कुछ स्थलो मे आँखो से प्रत्यक्ष देख पडनेवाली नाम-रूपात्मक वस्तु को सत्य और नित्य तत्त्व को अमृत कहा गया है । अमृत सत्य से आच्छादित है[१] और प्राण को अमृत और नाम-रूप को सत्य कहा गया है । इस अमृत को "सत्य का सत्य" (सत्यस्य सत्य) माना है ।[२] नाम-रूपात्मक जगत् के विनाशवान् होने की कल्पना से 'मिथ्यात्व' और माया-तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। साख्य के अनुसार प्रकृति ही सृष्टि-प्रसार का मूल कारण है । साख्य का ऐश्वरवादी स्वरूप प्रकृति को पुरुष की शक्ति मानकर सृष्टि करा डालता है । इस प्रकार दो विभिन्न धाराओ से माया के दो स्वरूपो का विकास हुआ—

(१) विशुद्ध सत्त्व प्रधान और (२) अविशुद्ध सत्त्व प्रधान । विशुद्ध सत्त्व प्रधान माया ब्रह्म की शक्ति बनी और उसे 'विद्या' माया की सज्ञा प्राप्त हुई और अविशुद्ध सत्व-प्रधान माया को 'अविद्या' की ।[३] वस्तुत पुरुष की दृष्टि से देखने से वह शक्ति है और जीव की दृष्टि से देखने से अविद्या ।

विचारदास के अनुसार कबीर मत में आत्मा (चेतन पुरुष) और अनात्मा (जड प्रकृति—माया) दोनों अनादि हैं किन्तु प्रकृति चेतन से पृथक् नही ।[४] कबीरदास और सन्त-मत में मायोपाधि ईश्वर (सगुण ब्रह्म) को महत्त्व नहीं दिया गया है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश इसी के अधीन हैं और जीव की 'जीवता' तो माया के कारण है ही ।[५] सगुणोपासक भगवान्

---

१ वृह० १।६।३ । २ वृह० २।३।६ ।
३ तत्त्वदीपिका निर्णय, (शास्त्रार्थ प्रकरण), पृ० ९६-१०० ।
४ बीजक, विचारदास की टीका, पृ० ६ ।
५ जोई खसमु है जाइया । —स० क०, राग वसन्त ३, पृ० २३२ ।

मिलती है। कबीर ने तीन तत्त्वों की भी चर्चा की है—पवन अग्नि और जल।[1] पृथ्वी पानी तेज वायु और आकाश पंच महाभूत हैं। जिस क्रम से भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है, उसके ठीक विपरीत क्रम से प्रलय अथवा संहार। प्रलय के समय सभी एक हो जाते हैं।[2] विष्णु पुराण में इसका स्पष्ट वर्णन आया है, जगत्प्रतिष्ठाभूत पृथ्वी जल में लीन होती है, जल तेजस् में तेजस् वायु में वायु आकाश में आकाश अव्यक्त में और अव्यक्त निष्कल पुरुष में।[3] इस क्रम का वर्णन शिवदयाल ने किया है—

> पृथ्वी घोली जल ने आय। जल को सोखा अगिनी जाय॥
> अगिनी मिली पवन के रूप। पवन हुई आकाश स्वरूप॥
> आकाश समाना माया माँहि। तम रूपा दीखे कुछ भी नाहिं॥[4]

ऐसा वचन तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आया है जिसे गुण-परिणामवाद के अनुकूल समझाने की चेष्टा उत्तर वेदान्त ग्रंथों म हुई। छांदोग्य में तेज आप और अन्न (पृथ्वी) का वर्णन है। इन तीनों तत्त्वों के साथ कबीर का मेल नहीं खाता।

परम-तत्त्व को ज्योति स्वरूप मानने के कारण मुस्लिम प्रभाव भी देखा जाता है किन्तु सन्त-मत में आरम्भवाद स्वीकृत नहीं हुआ है। एक पुरुष और एक नारी के कथन को आदम और हौवा पर घटित कराने का प्रयास भी होता है। सूफी भावना के दर्शन के लिए जायसी को देखना चाहिए जहाँ ब्रह्म भावना ईश्वर रूपी है।[5] उस ईश्वर ने प्रथम ज्योति (नूर = मुहम्मद साहब) का प्रकाश किया और उसकी प्रसन्नता के लिए सारी सृष्टि रचने में उसे क्षण मात्र नहीं लगा। कबीर के अनुसार परमब्रह्म ने क्रीड़ा अथवा आनन्द के लिए यह रचना की।[6] यह धारणा वैष्णवीय है।

सृष्टि-तत्त्व पर विचार करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बुद्ध की भाँति आध्यात्मिक प्रश्नों को सन्तों ने अव्याकृत नहीं माना है। उपनिषदों में भिन्न-भिन्न रूप से इस तत्त्ववाद की जो स्थापना है, उसका अभाव सन्तों में है। सूक्ष्म अव्यक्त ब्रह्म और अव्यक्त प्रकृति का अनादित्व स्वीकार कर भी ब्रह्म को उसके परे माना है। वेदान्त के रज्जु और सीप का उल्लेख भी अपेक्षाकृत कम है। दादू के एक पद म इसका वर्णन है। सन्तों ने नाथ सम्प्रदाय की परम्परा स्वीकृत कर ली है किन्तु वैसा पूरा विवरण नहीं है। सृष्टि कैसे आई यह प्रश्न सन्त को चिन्तित नहीं करता कारण जीवन्मुक्ति उसका लक्ष्य है।

---

१ सं क राग भैरउ १ प २८। २ मुह २/४/१४।

३ जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। तेजस्यापः प्रलीयन्ते तथा वायौ प्रलीयते। वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते।

—वि पु।

४ द्वि का नि स पृ १४।

५ सुमिरौं आदि एक करतारू। जिहि जीउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥—पद्मावत स्तुति खण्ड १।

६ कबीर, पृष्ठ १ ।१७१।

विधान है किन्तु बौद्ध धर्म इसे स्वीकार नही करता। सन्यास-मार्ग की इन बाधाओ की ओर ध्यान न जाना अत स्वाभाविक है। पाँच तत्वो से रग, रूप, गन्ध, स्पर्श की उत्पत्ति मानी गई है अत मन को सत्त्वस्थ करने के लिए इन विषयो से इन्द्रिय को हटाने को अपेक्षा है। ससार इन्ही का विषय है, अत इससे इन्द्रियो को विच्छिन्न करने का आदेश है। अतिवादी सन्यास मार्ग में सहज जीवन के विकास के वाद तन्त्रवादी वामाचार के विरोध में इन्द्रिय-विरोध और सयम की धारणा आवश्यक हो जाती है। इस प्रकार अविशुद्ध सत्त्व-प्रधान अविद्या माया के तीन स्वरूप सन्त-साहित्य मे मिलते है—(१) यह सत्य के स्वरूप को आच्छादित कर देती है और उसके स्वरूप को प्रकट नही होने देती। (२) सत्य को असत्य के रूप में प्रकट करती है और (३) असत्य ही सत्य के रूप में उपस्थित होता है। असत् के अन्तर्भूत 'सत्व' को सन्त-कवि ने स्पष्ट रूप से देखा है। माया का अत विचार तीन सम्वन्धो में होना चाहिए—ब्रह्म-सम्बन्व से, जीवन्मुक्त-सम्वन्ध से और जीव-सम्वन्ध से। ब्रह्म सम्बन्ध और जीवन्मुक्त सम्बन्ध तात्त्विक रूप में एक है, कारण सन्त और भगवन्त में कोई अन्तर सन्त-कवि नही मानता। विशिष्टाद्वैत के अनुकूल सन्त-परम्परा माया को शक्ति-स्वरूपा, आद्या शक्ति नही मानती। हरि ऐन्द्रजालिक है और उसी ने यह माया फैला रखी है।[1] विश्व-स्वामी राम रकार रूप राम (निर्गुण राम) ने सुर, नर, गन्धर्व को मोह लिया है।[2] गोविंद ने यह असत्य प्रपञ्च रचा है।[3] सृष्टि-प्रसार के क्रम में माया की अपेक्षा तो वह स्वीकार करता है किन्तु उसने जीवात्मा की दृष्टि से अधिक विचार किया है। निर्गुण राम ने क्यो यह कौतुक रचा? इसमें उसका क्या लक्ष्य और उद्देश्य है? इन प्रश्नो पर उसका ध्यान तो अवश्य गया किन्तु सन्त ने इन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण नही माना, अत सन्त-काव्य में पर्याप्त सकेत है कि यह उसका धर्म है। लीला के भावो का बीज-रूप यहाँ दृष्टिगत होगा। एक से अनेक होने की औपनिपदिक भावना से अधिक साख्यवादी प्रकृति-धर्म का परमतत्त्व के साथ सयोग है।

जीवात्मा ने मोह और वामना के कारण ससार और उसके प्रसार को सत्य मान लिया है। ससार की दीख पडनेवाली वास्तविकता अयथार्थ है, जिसे उसने सत्य मान लिया है। यह आत्मा पर छाया हुआ अन्धकार है, यह अज्ञान जीव का है। ईश्वर (माया-शबल ब्रह्म) ने जगत् (जगत्या जगत्) की सृष्टि की किन्तु जीवात्मा ने मायाधिक्य के कारण इसे ही सत्य मान लिया। ऐसी स्थिति में जगत् की सत् स्थिति, जीव-सृष्टि आभास, अध्यास और भ्रम मात्र है। ब्रह्म में स्थित होने के कारण यह सत् है, स्वरूप के कारण असत् है एव ब्रह्म में स्थित होने के कारण असत् ही नही और नाम-रूपात्मक स्वरूप के कारण सत् भी नही। माया का यह जो स्वरूप है वह सतसत् नही और असत्सत् भी नही। यह अनिर्वचनीय है, अत सन्त-कवि इसके सम्बन्ध में मौन ही अधिक है।

विश्वविमोहिनी माया ने विषय-वासना की चटकीली साडी पहन रखी है। स्त्री स्वरूपिणी माया ने माथे पर विन्दी लगाई है और अपने मोहक रूप के द्वारा सवको मोह लिया

---

१ हरि ठग जग कउ ठगउरी लाई।—स० क०, ग० ३९, पृ० ४२।

२ सुर नर गण गध्रव मोहे। त्रिभवण मेखल लाई।—वही, सिरी रागु २, पृ० २।

३ झूठा परपचु जोरि चलइया।—वही, रा० ग०, पृ० ६३।

को माया का अधीश्वर मानता है।[1] माया के अनादित्व के लिए विचारणीय है कि किस रूप में वह अनादि है—स्वतन्त्र अथवा परतन्त्र स्वतन्त्र-परतन्त्र दोनों अथवा न स्वतन्त्र न परतन्त्र। माया स्वयं ज्योति-स्वरूप की शक्ति अत उसमें ही सन्निहित है, अत न तो नितान्त भिन्न ही है और न नितान्त अभिन्न ही कारण शक्ति और शक्तिमान् का अन्तर बना रहेगा और धर्म धर्मी-आश्रित तो है ही। ऐसी अवस्था में माया अनादि तो है[2] पर उसके आश्रित अवश्य। कबीर के अनुसार बाजीगर ने डमरू बजाया और सारी सृष्टि तमाशे की वस्तु की तरह जुट आई।[3] बाजीगर ने अपना स्वांग समेट लिया और अपने आप में लीन हो गया।[4] बाजीगर और स्वांग के रूपकत्व द्वारा सृष्टि के मिथ्यात्व की ओर निर्देश है और इस रूप में यह विचार-धारा शांकर मायावाद के समीप है किन्तु स्वांग की वस्तु (सत्य पदार्थ) भिन्न है और उसका प्रदर्शित स्वरूप भिन्न। वस्तु बाजीगर से विभिन्न है केवल उन वस्तुओं का भिन्न स्वरूप बाजीगर उपस्थित करता है, इस प्रकार माया सांख्यवादी प्रकृति का स्वरूप ग्रहण करने लगती है। संसार ही कौतुक है और अन्त में यह सारा पसारा (प्रपञ्च) और कौतुक उसी में अन्तर्लीन हो जाता है। कबीर ने कहा है कि ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाली अवस्था माया संसार में आकर काली हो जाती है और उसी से जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति होती है।[5] शुद्ध सत्त्व-प्रधान माया के स्वरूप-चिन्तन की चिन्ता सन्त-कवि को अधिक नहीं वह तो अविशुद्ध सत्त्व-प्रधान माया के स्वरूप का वर्णन करता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध धर्म सिद्ध-नाथ-सम्प्रदाय से होता हुआ अपना प्रभाव डाल रहा था। बौद्ध धर्म में सब कुछ अनित्य है, सब कुछ क्षणिक। संसार-बन्धन सम्पत्ति और स्त्री जिनका त्याग गौतम ने किया था—ज्ञान-प्राप्त करने के बाधक हैं। बुद्ध ने लक्ष्य किया था कि सम्पत्ति और नारी के कारण ही समाज में संघर्ष है। इनके त्याग से संसार का संघर्ष मिट जायगा। सन्तों ने भी धन-दारा की एक साथ चर्चा की है किन्तु समस्या बौद्ध काल से भिन्न है। सन्तों के पास—सन्त बनने के पहले इतनी सम्पत्ति तो थी नहीं जो संघर्ष उत्पन्न करे। स्त्रियों के कारण शायद संघर्ष होता था लेकिन यह समीकरण भिन्न कारण से है। विवाह द्वारा पुत्र-कलत्र के बाहुल्य से जीविका के साधारण साधन आवश्यकता-पूर्ति में सक्षम न थे और इस प्रकार अधिकाधिक काम-व्यस्तता के फलस्वरूप परमात्म-स्वरूप-चिन्तन में व्यवधान होता था। साथ ही साथ साधु-सन्त नामधारी व्यक्ति जोड़-बटोर हो रहे थे ऐसी अवस्था में धन-दारा का समीकरण हुआ था। धन के प्रति स्वाभाविक मोह जो हो रहा था अत धन से प्राप्त होनेवाली प्रतिष्ठा की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। वर्णाश्रम-व्यवस्था में संन्यास के विशिष्ट आयु-क्रम का

---

१ मायाधीश ज्ञान गुन धामू। —मानस बा काण्ड ११७।
सो दासी रघुबीर की ...। —मानस उत्तर ७।

२. नारि एक संसार ही आई। माय न वाके बापहि जाई॥ —क ।

३ बाजीगर डंक बजाई सब खलक तमासे आई। —सं क सगु सोरठ ४ पृ १५१।

४ सन्त कबीर, रागु सोरठ ४ पृ १११।

५. कबीर रती होवहि कारीआ कारे ऊभे जंत।
कै आई सठि जानते सि आनि मारे भगवंत॥ —सं क सलोकु १ पृ २५।

सामान्यतया इस तथ्य की ओर नही गया है। माया का यह रूप अत्यन्त प्रचण्ड और भयानक है।[1] इसी के कारण जीव जगत् के असत् ऐश्वर्य को वास्तविक मान लेता है। इसके दो प्रसाधन हैं, कनक और कामिनी। इनके कारण जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नही हो पाता, अत दोनो जीव के कठिन पाश हैं। यह भक्त-कवियो की सामान्य धारणा है एव इस अर्थ में माया मोह का पर्याय बन जाती है। भ्रमवश जीव भौतिक ऐश्वर्य को वास्तविक मान बैठता है। जीव को मुग्ध करने के कारण ही माया मोह बन गई है। नारी नशा है जिसके कारण सारा ससार मत्त और मतवाला है।[2] माया डाकिनी है, डाका देनेवाली नानाविध रूप धारण कर भक्तो को ग्रस लेती है।[3] जोगी को जो जोगिन, शेख को 'सोफिणी' (सूफी की स्त्री) और भक्त को 'भक्तिन' का रूप धर कर ग्रस लेती है।[4] मन हस्ती और माया हस्तिनी है, ससार सघन वन है और इसमें गँवार अनजान जीव निर्भय होकर घूम रहा है।[5] माया नकटी (मर्यादाहीन) रानी है, इसका नखरा बढा-चढा हुआ है। इसका सर्वत्र निवास है और इसने सबका अहेर किया है। ससार की पूज्या बन गई है और तीनो लोको की प्रियतमा। माया सन्तो की परम शत्रु है।[6]

विषय-वासना का सुख क्षणिक और अस्थायी है किन्तु सम्पूर्ण ससार में इसी की आकाक्षा परिव्याप्त है। इसी से सुर, नर, मुनि सब दग्ध हैं।[7] माया अगार की भाँति जलानेवाली है।[8] माया मिस्त्री की छुरी है, यह ब्रह्म से ब्रह्म (परम चैतन्य स्वरूप ब्रह्म और अश-स्वरूप जीव-ब्रह्म) लडा देती है। दोनो में विरोध खडा कर देती है। अत इस पर विश्वास करना उचित नही।[9] माया के अन्धकार में किसी को सुख की नीद नही आ

१ महा अपरबल अहै माया, अत काहु न जान।—जग० बा०, भाग (१), पृ० ८९।१।

२ नारी घोटी अमल की, अमली सब ससार। —मलूकदास।
—स० बा० स०, भाग (१), पृष्ठ १०३।

३ दादू माया डाकिनी, इन केते खाये। —दादू बा०, भाग (१), पृ० ११८।
मोह्या कनक अरु कामिनी, नाना विध के रूप। —वही।

४ जोगिणी ह्वै जोगी गहे, सोफिणी है करि सेख।
भगतिणि ह्वै भगता गहे, करि करि नाना भेस॥ —वही, पृ० १२६।१०९।

५ मन हस्ती माया हस्तिनी, सघन वन ससार।
ता मे निरभय ह्वै रह्या, दादू मुग्ध गँवार॥ —वही, पृ० १२१।

६ स० क०, रागु आसा ४, पृ० ९४।

७ विखिया विआपिया सगल समारू। विखिआ लै डूबी परवारू॥
सुर नर दाधे लागि आगी। —स० क०, रा० ग० २४, पृ० २६।

८ माइआ तपति बुझिआ अगियारू। —वही, रा० ग० ४०, पृ० ४३।

९ माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतियाय।
इन मारे रसवाद के, ब्रह्महि ब्रह्म लडाय॥
—स० बा० स०, भाग (१), पृ० १०३, (मलूकदास)।

है, ब्रह्मादिक को बाँध लिया है, सबों को आकृष्ट करती है किन्तु स्वयं प्रच्छन्न रहती है और सभी के मुँह पर कालिख पोतती है।[1] सूने घर में आया अतिथि जिस प्रकार प्यासा-भूखा आकर उसी रूप में लौट जाता है उसी प्रकार असार-संसार से प्रेम करनेवाले की अवस्था होती है।[2]

कबीर ने माया को अज्ञान की जननी कहा है जिसके कारण जीव पृथ्वी पर निर्भय प्रसन्न होकर विचरण करता है। संसार भ्रम की टट्टी है जिसे माया ने बाँध रखा है।[3] माया अंजन-स्वरूपा है।[4] अंजन-स्वरूपा माया के अन्धकार (अविद्या) के कारण कुछ सूझ नहीं पड़ता अर्थात् सद् स्वरूप का नाश हो जाता है और उसका बोध नहीं हो पाता। सत्य इस अंजन की टट्टी की ओट के कारण बाधित हो जाता है।[5]

माया सत्य का स्वरूप ही बाधित नहीं करती बल्कि असत्य को ऐसे मोहक रूप में उपस्थित करती है कि सत्य की ओर ध्यान ही नहीं जा पाता। माया का यह व्यवहार सेमर की नलिनी जैसा है देखने में वह अत्यन्त आकर्षक है किन्तु भीतर मात्र रूई भरी रहने के कारण रस-हीन। सुग्गा (जीव) आकृष्ट होकर उड़ उड़ कर आता है किन्तु बिचारे को कुछ तत्त्व हाथ नहीं लगता।[6] इस माया को गति रुकती नहीं गति रोकना दुनिवार तो नहीं किन्तु कष्ट-साध्य अवश्य है। यह पानी पड़ने से और फैलनेवाले कुसुम्भी रंग की भाँति है।[7]

असत्य को सत्य रूप में प्रकट करनेवाली माया है। जल नहीं रहने पर भी चमकती रेत को भ्रम-वश मृग जल मान बैठा है और अपने प्राण गँवाता है। माया बाजीगर की पुतली है, वह उसे जिधर चाहता है उधर नचाता है और यह परवश्या माया संसार को नचाती एवं भ्रम में डाल कर नष्ट करती है।[8]

विशुद्ध सत्त्व-स्वरूपा माया का संकेत ही मिलता है। अधिक वर्णन माया का अविद्या रूप में ही हुआ है। शांकर अद्वैतवाद की धारा सन्त-काव्य में बहनेवालों का ध्यान

---

१ बीजक बाजर (१) विचारदास की टीका पृ १४३।
२ बीजक बाजर (२) वि दा की टीका पृष्ठ १५४।
३ सं क रा ग ४१ पृ ४६।
४ वही रा म ४१ पृ ४६ काजर की कोठरी काजर ही का कोट।
—बीजक साखी २२७।
५ आत्मबिहर रखाइ हरि रह्या अपरछन होइ
माया पट पड़दा दिया तार्थे लखै न कोइ॥
—दादू बा भाग (१) पृ १२३।८३।
६ ग क रागु गउड़ी ७ पृ १ जब जीवन दादू की बानी भाग (१) पृ ८२।४।
७ सं क रा ग ५७ पृ ६। ८ दादू की बानी भाग (१) पृ ११६।
. (१) सं क राग पुजरी १ प १२८ और (२) बाजीगर की पुतरी ज्यू मरकट मोह्या। दादू माया राम की नब अवत मिनीवा—दादू। (३) माया प्रबल नचावत नाचत निर्मल जोति निरबोनी।—दया बा भाग (१) पृ १४५।

सामान्यतया इस तथ्य की ओर नही गया है। माया का यह रूप अत्यन्त प्रचण्ड और भयानक है।[1] इसी के कारण जीव जगत् के असत् ऐश्वर्य को वास्तविक मान लेता है। इसके दो प्रसाधन है, कनक और कामिनी। इनके कारण जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नही हो पाता, अत दोनो जीव के कठिन पाश हैं। यह भक्त-कवियो की सामान्य धारणा है एव इस अर्थ मे माया मोह का पर्याय बन जाती है। भ्रमवश जीव भौतिक ऐश्वर्य को वास्तविक मान बैठता है। जीव को मुग्ध करने के कारण ही माया मोह बन गई है। नारी नशा है जिसके कारण सारा ससार मत्त और मतवाला है।[2] माया डाकिनी है, डाका देनेवाली नानाविध रूप धारण कर भक्तो को ग्रस लेती है।[3] जोगी को जो जोगिन, शेख को 'सोफिणी' (सूफी की स्त्री) और भक्त को 'भक्तिन' का रूप धर कर ग्रस लेती है।[4] मन हस्ती और माया हस्तिनी है, ससार सघन वन है और इसमें गँवार अनजान जीव निर्भय होकर घूम रहा है।[5] माया नकटी (मर्यादाहीन) रानी है, इसका नखरा बढा-चढा हुआ है। इसका सर्वत्र निवास है और इसने सबका अहेर किया है। ससार की पूज्या बन गई है और तीनो लोको की प्रियतमा। माया सन्तो की परम शत्रु है।[6]

विषय-वासना का सुख क्षणिक और अस्थायी है किन्तु सम्पूर्ण ससार में इसी की आकाक्षा परिव्याप्त है। इसी से सुर, नर, मुनि सब दग्ध है।[7] माया अगार की भाँति जलानेवाली है।[8] माया मिस्त्री की छुरी है, यह ब्रह्म से ब्रह्म (परम चैतन्य स्वरूप ब्रह्म और अश-स्वरूप जीव-ब्रह्म) लडा देती है। दोनो में विरोध खडा कर देती है। अत इस पर विश्वास करना उचित नही।[9] माया के अन्धकार में किसी को सुख की नीद नही आ

१ महा अपरवल अहै माया, अत काहु न जान।—जग० बा०, भाग (१), पृ० ८९।१।

२ नारी घोटी अमल की, अमली सब ससार। —मलूकदास।
—स० बा० स०, भाग (१), पृष्ठ १०३।

३ दादू माया डाकिनी, इन केते खाये। —दादू बा०, भाग (१), पृ० ११८।
मोह्या कनक अरु कामिनी, नाना विध के रूप। —वही।

४ जोगिणी ह्वै जोगी गहे, सोफिणी है करि सेख।
भगतिणि ह्वै भगता गहे, करि करि नाना भेस॥ —वही, पृ० १२६।१०९।

५ मन हस्ती माया हस्तिनी, सघन वन ससार।
ता में निरभय ह्वै रह्या, दादू मुग्ध गँवार॥ —वही, पृ० १२१।

६ स० क०, रागु आसा ४, पृ० ९४।

७ विखिया विआपिया सगल ससारू। विखिआ लै डूबी परवारू॥
सुर नर दाधे लागि आगी। —स० क०, रा० ग० २४, पृ० २६।

८ माइआ तपति बुझिआ अगियारू। —वही, रा० ग० ४०, पृ० ४३।

९ माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतियाय।
इन मारे ब्रह्मवाद के, ब्रह्महि ब्रह्म लडाय॥
—स० बा० स०, भाग (१), पृ० १०३, (मलूकदास)।

है, ब्रह्मादिक को बाँध लिया है सबों को आकृष्ट करती है किन्तु स्वयं प्रच्छन्न रहती है और सभी के मुँह पर कालिख पोतती है।[1] सूने घर में आया अतिथि जिस प्रकार प्यासा-भूखा आकर उसी रूप में लौट जाता है उसी प्रकार असार-संसार से प्रेम करनेवाले की अवस्था होती है।[2]

कबीर ने माया को अज्ञान की जननी कहा है जिसके कारण जीव पृथ्वी पर निर्भय प्रसन्न होकर विचरण करता है। संसार भ्रम की टट्टी है जिसे माया ने बाँध रखा है।[3] माया अंजन-स्वरूपा है।[4] अंजन-स्वरूपा माया के अन्धकार (अविद्या) के कारण कुछ सूझ नहीं पड़ता अर्थात् सत् स्वरूप का नाश हो जाता है और उसका बोध नहीं हो पाता। सत्य इस अंजन की टट्टी की ओट के कारण बाधित हो जाता है।[5]

माया सत्य का स्वरूप ही बाधित नहीं करती बल्कि असत्य को ऐसे मोहक रूप में उपस्थित करती है कि सत्य की ओर ध्यान ही नहीं जा पाता। माया का यह व्यवहार सेमर की नलिनी जैसा है देखने में यह अत्यन्त आकर्षक है किन्तु भीतर मात्र रूई भरी रहने के कारण रस-हीन। सुग्गा (जीव) आकृष्ट होकर उड़ उड़ कर आता है किन्तु बिचारे को कुछ तत्त्व हाथ नहीं लगता।[6] इस माया को मति रुकती नहीं गति रोकना दुर्निवार तो नहीं किन्तु कष्ट-साध्य अवश्य है। यह पानी पड़ने से और फैलनेवाले कुसुम्भी रंग की भाँति है।[7]

असत्य को सत्य रूप में प्रकट करनेवाली माया है। जल नहीं रहने पर भी चमकती रेत को भ्रम-वश मृग जल मान लेता है और अपने प्राण गँवाता है। माया बाजीगर की पुतली है, वह उसे जिधर चाहता है उधर नचाता है और यह परतन्त्रा माया संसार को नचाती एवं भ्रम में डाल कर नष्ट करती है।[8]

विशुद्ध सत्त्व-स्वरूपा माया का संकेत ही मिलता है। अधिक वर्णन माया का अविद्या रूप में ही हुआ है। शांकर अद्वैतवाद की धारा सन्त-काव्य में ढूँढनेवालों का ध्यान

---

१ बीजक बाबर (१) विचारदास की टीका पृ १४१।
२ बीजक बाबर (२) वि दा की टीका पृष्ठ १७४।
३ सं क रा ग ४१ पृ ४६।
४ वही रा म ८१ पृ ४६ काजर की कोठरी काजर ही का कोट।

—बीजक साखी २२७।

५ आत्मविहूर रमार हरि, रहा अनरकत होय
माया पट पड़दा दिया तातें लखै न कोय॥

—दादू वा भाग (१) पृ १२७।८१।

६ सं क दादु जरही ७ पृ ६ जग जीवन साहब की बानी भाग (१) पृ ८१।४।
७ सं क रा ग ६७ पृ ६। ८ दादू की बानी भाग (१) पृ ११६।
(१) सं क राम मुखरी १ पृ १२८ और (२) बाजीगर की पुतरी ज्यू मरकट मोहया। दादू माया राम की सब नाचत जिगोधा—दादू। (३) माया प्रबल नचावत नाचत निर्मल जोति निरखींनी। —जग बा भाग (१) पृ १३।५।

सामान्यतया इस तथ्य की ओर नही गया है। माया का यह रूप अत्यन्त प्रचण्ड और भयानक है।[1] इसी के कारण जीव जगत् के असत् ऐश्वर्य को वास्तविक मान लेता है। इसके दो प्रसाधन है, कनक और कामिनी। इनके कारण जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नही हो पाता, अत' दोनो जीव के कठिन पाश हैं। यह भक्त-कवियो की सामान्य धारणा है एव इस अर्थ में माया मोह का पर्याय बन जाती है। भ्रमवश जीव भौतिक ऐश्वर्य को वास्तविक मान बैठता है। जीव को मुग्ध करने के कारण ही माया मोह बन गई है। नारी नशा है जिसके कारण सारा ससार मत्त और मतवाला है।[2] माया डाकिनी है, डाका देनेवाली नानाविध रूप धारण कर भक्तो को ग्रस लेती है।[3] जोगी को जो जोगिन, शेख को 'सोफिणी' (सूफी की स्त्री) और भक्त को 'भक्तिन' का रूप धर कर ग्रस लेती हैं।[4] मन हस्ती और माया हस्तिनी है, ससार सघन वन है और इसमे गँवार अनजान जीव निर्भय होकर घूम रहा है।[5] माया नकटी (मर्यादाहीन) रानी है, इसका नखरा बढा-चढा हुआ है। इसका सर्वत्र निवास है और इसने सबका अहेर किया है। ससार की पूज्या बन गई है और तीनो लोको की प्रियतमा। माया सन्तो की परम शत्रु है।[6]

विषय-वासना का सुख क्षणिक और अस्थायी है किन्तु सम्पूर्ण ससार में इसी की आकाक्षा परिव्याप्त है। इसी से सुर, नर, मुनि सब दग्ध हैं।[7] माया अगार की भाँति जलानेवाली है।[8] माया मिस्त्री की छुरी है, यह ब्रह्म से ब्रह्म (परम चैतन्य स्वरूप ब्रह्म और अश-स्वरूप जीव-ब्रह्म) लडा देती है। दोनो में विरोध खडा कर देती है। अत इस पर विश्वास करना उचित नही।[9] माया के अन्धकार में किसी को सुख की नीद नही आ

---

१ महा अपरबल अहै माया, अत काहु न जान।—जग० बा०, भाग (१), पृ० ८९।१।

२ नारी घोटी अमल की, अमली सब ससार। —मलूकदास।
—स० बा० स०, भाग (१), पृष्ठ १०३।

३ दादू माया डाकिनी, इन केते खाये। —दादू बा०, भाग (१), पृ० ११८।
मोह्या कनक अरु कामिनी, नाना विध के रूप। —वही।

४ जोगिणी ह्वै जोगी गहे, सोफिणी ह्वै करि सेख।
भगतिणि ह्वै भगता गहे, करि करि नाना भेस॥ —वही, पृ० १२६।१०९।

५ मन हस्ती माया हस्तिनी, सघन वन ससार।
ता मे निरभय ह्वै रह्या, दादू मुग्ध गँवार॥ —वही, पृ० १२१।

६ स० क०, रागु आसा ४, पृ० ९४।

७ विखिया विआपिया सगल ससारु। विखिआ लै डूबी परवारु॥
सुर नर दाधे लागि आगी। —स० क०, रा० ग० २४, पृ० २६।

८ माइआ तपति बुझिआ अगियारू। —वही, रा० ग० ४०, पृ० ४३।

९ माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतियाय।
इन मारे स्मवाद के, ब्रह्महिं ब्रह्म लडाय॥
—स० बा० स०, भाग (१), पृ० १०३, (मलूकदास)।

सकती । माया की छाया में आनेवाले जीव में सुख की शीतल सघन छाया नहीं बल्कि सुखाभास है, छलना है । विषय-वासना से वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु मन को लालच आशा लगी रहती है । मन माया द्वारा दण्डित है ।[1] 'बौरा' मन यह समझ नहीं पाता कि संसार में जिसे उसने भ्रमवश अपना समझ लिया है अपना कुछ नहीं है और वह भ्रम का यह पसारा देख कर भूला-भूला और फूला-फूला चलता है ।[2] इसका कुछ अन्त नहीं सभी इसके कारण भूले हैं । इस पर किसी का वश नहीं ।[3] यह कड़वी बेल है इसका फल भी कड़वा है ।[4] बीजक के पदों में सांख्यवादी अनादित्व की कल्पना अधिक प्रस्फुटित मिलती है । यह चिर यौवना (अनादि) स्वतन्त्र चपला और मतिबका है, रूप में सरस किन्तु विरस परगामी । यह पूर्ण-यौवना है और इसका कहलानेवाला पति जीव नादान (बालक और मूर्ख) है ।[5] अतः यह सर्पिणी है । इस पर किसी का वश नहीं चलता और न यह अन्-वश ही है । इसके सम्बन्ध में वशावश का प्रश्न अनावश्यक है । इसने ब्रह्मा विष्णु और महादेव को छला ।[6]

जीवन स्वप्न के समान है । मनुष्य ने इस स्वप्न को सत्य मान लिया है । माया और मोह ने ज्ञान-रूपी रत्न छीन लिया है ।[7] माया और मोह का अन्तर कबीर और संतों ने स्पष्ट रूप में देखा है । माया के कारण संसार का पसारा है और मोह जिसके कारण इस मायिक प्रसार के प्रति अनुराग जग जाता है और जीवन का विनाश होता है । माया जीव का बन्धन है, आत्मा के गले में तौक और पैरों में बेड़ी-स्वरूपा है । माया की विवशता का उल्लेख भी सन्त-काव्य में उपलब्ध है किन्तु वह स्वर उतना तीव्र नहीं । माया विवश है, वह स्वयं कुछ कर नहीं सकती । वस्तुतः प्रभु ही तो करने-करानेवाला है, बेचारी दासी के हाथ क्या है ? माया जिधर प्रवृत्त करा दी जाती है उधर प्रवृत्त हो जाती है । इस विषय में वह स्वतन्त्र और स्वाधीन नहीं ।[8]

इस अध्ययन के द्वारा यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सन्त-मत के अनुसार माया के कारण यह सृष्टि उत्पन्न होती है इसका पसारा होता है और इस अर्थ में यह परतन्त्र और

१ मन रे छाड़हु भरम प्रगटु होइ नाचहु इआ माइआ के डांडे ।
—सं क रा ग १८ पृ ७१ ।

२ बौरे समुझि देखि मन माहीं ।
माया देखि कै भूल फूल मति, तोर नहीं कछु आहीं ।।—कब ग्रं भाग (१) पृ ५६।१ ।

३ नहीं है कछु अंत यहि का आइ सबै भुलान । —वही पृ ८७।१ ।

४ यो करुवाई बेल री । यो करुवा फल तोर ।। —बी साखी २२१ ।

५ ई वर युवती वै नर नाह अति रे तेज तिय रै निवाह । —बी बसन्त ५ ।

६ सरपनी ते ऊपरि नही बलीआ । जिनि ब्रह्मा बिसनु महादेउ छलीआ ।
मारु मारु स्रपनी निरमल जलि पैठी । जिनि त्रिभवण डसीअले गुर प्रसादि डीठी ।।
—सं क आसा १९ पृ १ ९ ।

७ सं क रागु आसा २७ पृ ११७ । ८ सं क रागु सोरठि ५ पृ ११८ ।

९ सं क रागु सोरठि ५ पृ ११४ ।

विवश है। जीव की दृष्टि से माया मोह बन जाती है, असत्य को सत्य रूप मे प्रकट करती है, असत्य को मोहक बनाती और सत्य के स्वरूप को आच्छन्न कर लेती है। बद्ध जीव की दृष्टि से वह अतिवला और विनाशकारिणी है। सर्पिणी की भाँति मोहक, किन्तु विप भरी है। विप और विपय के समीकरण द्वारा विषम परिणाम का अर्थ-पूर्ण सकेत सन्त-काव्य में उपलब्ध है। विशुद्ध सत्व-प्रधान को माया और अविशुद्ध सत्व-प्रधान को मोह की सज्ञा दी गई है यद्यपि माया और मोह के समानार्थ-सूचक प्रयोग में सन्तो को हिचक नही होती।

ब्रह्म और जीव

परम-तत्त्व के स्वरूप, माया और सृष्टि-तत्त्व पर विचार कर सन्त ने यह सत्य उपलब्ध किया था कि जगत् के मूल तत्त्व, जीव के वास्तविक स्वरूप और परमात्म-तत्त्व में कोई अन्तर नही। आधिभौतिक सुखवादी जीव को ही मात्र सत्य समझता है। इनको भी अद्वैतवादी कहा जा सकता है। अर्नेस्ट हेकेल जैसे विचारको के लिए जड प्रकृति ही एक मात्र सत्य है। वह अध्यात्म शास्त्रीय अव्यक्त सत्ता का विचार-विमर्श व्यर्थ मान व्यक्त प्रकृति में सार्वभौम ऐक्य देखता है। उसके नियम उसे शाश्वत, चिरन्तन और अकाट्य दीख पडते हैं।[1] तिलक के अनुसार यह जडाद्वैतवाद है।[2] प्रकृति का दृश्य रूप सत्य नही। माया का वह पाश—जो आत्मा को जीव बनाता है, सत्य नही किन्तु इनके अन्तर्भूत जो शाश्वत तत्त्व है, वह सत्य है और परमतत्त्व से वह भिन्न नही, सर्वथा अभिन्न है। साधारण रूप में शका उठाई जाती है कि जीव और ब्रह्म की एकता कैसे हो सकती है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि जीव और आत्मा में अन्तर है। सन्त-कवि के अनुसार ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड में ब्रह्म की सर्वगत, स्वयभू चेतना परिव्याप्त है। स्वजातीय, विजातीय और स्वगत भेदो में से किसी प्रकार का भेद आत्मा-परमात्मा में नही। सर्वगत चैतन्य प्रवाह व्यष्टि के रूप में जब अन्त करण द्वारा अवच्छिन्न होता है, तो जीव कहलाता है। सन्त-साहित्य में आत्मा और जीव के भेद को स्पष्ट देखने का प्रयास कम मिलता है। आत्मा और परमात्मा में जो भिन्नता दीख पडती है वह वास्तविक और पारमार्थिक नही, वल्कि व्यावहारिक है। विश्व मे फैले गगन-तत्त्व और घट मे सम्पुटित जगत्-तत्त्व में किसी प्रकार का अन्तर नही। सृष्टि प्रतिविम्ब है और ब्रह्म विम्ब।[3] कुम्हार ने एक ही मिट्टी गूँथ कर अनेक प्रकार के रूप सँवारे हैं।[4] इस प्रकार तो वह निमित्त कारण हुआ क्योकि कुम्हार मिट्टी से भिन्न है किन्तु मिट्टी एक है। उसने उसी एक मिट्टी (तत्त्व) से अनेक रूप बनाए हैं और प्रत्येक रूप में वही ब्रह्म है।[5] पत्ती-पत्ती में जीवात्मा

---

१ We arrive at a Conviction of the universal unity of nature and the eternal validity of its laws.

—अर्नेस्ट हेकेल दि रिडिल ऑव दि युनिवर्स, पृ० ३१०।

२ गीता-रहस्य, पृ० १६१।

३ जिउ प्रतिविवु विवु कउ मिली है ।—स० क०।

४ कुम्हारे एक जु माटी गूँथी वहु विधि वानी लाई।—स० क०, रा० आ० १९, पृ० १०६।

५ माटी एक भेख धरि नाना ता माहि ब्रह्मु पछाना।—वही, रा० आ० १७, पृ० १०७।

है।[1] वह सृष्टिकर्ता सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है।[2] हरि में ही पिण्ड है और पिण्ड में ही हरि है, वही हरि सर्वमय और निरन्तर है।[3] वही शून्य मण्डल ब्रह्माण्ड है और पिण्ड भी।[4] सृष्टिकर्ता में सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता है, वही सर्वत्र परिव्याप्त हो रहा है। मिट्टी तो एक है किन्तु उस सँवारनेवाले ने अनेक भाँति से सँवारा है।[5] तरंग और बुद्बुद जिस भाँति जल से भिन्न नहीं उसी प्रकार जीव और जगत् उससे भिन्न नहीं है।[6] वह अन्तर्यामी ब्रह्म सदा समीप है। उसे दूर समझना मिथ्या भ्रम है।[7]

शुद्ध चैतन्य रूप में आत्मा और ब्रह्म जीवात्मा और परमात्मा में तात्त्विक अन्तर नहीं होता किन्तु माया मोह में फँसे जीव और परमात्मा में अन्तर अवश्य है। जीव की 'जीवता' इस सीमा के कारण ही है अर्थात् आत्मा अपने विशुद्ध रूप में प्रकट नहीं। वह पिता है, जीव पुत्र। दोनों एक ही स्थल पर निवास करते हैं।[8] वह माता स्वरूप है और जीव पुत्र।[9] वही पति है जीव पत्नी वह स्वामी है और जीव दास। संसार के जितने सम्बन्ध हैं सभी से वही सम्बद्ध है। इस तात्त्विक रूप से अभिन्न होकर भी मायाबद्ध जीव और ब्रह्म में भिन्नता है। वह चन्दन है जीव एरण्ड[10] वह पारस है और जीव कठिन लोहा।[11] भ्रम में पड़ा हुआ जीव इधर-उधर भटकता फिरता है लोभ विषय-वासना और काम में लुब्ध रहता है। उसे विष-फल मधुर लगता है और जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है।[12]

जीव के द्विविध स्वरूप-वर्णन के कारण ही अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का प्रभाव भी अवश्याक मे देखा था। वस्तुतः इन दार्शनिक मतवादों की भूमिका में सन्त-कवि के समक्ष दो समस्याएँ थीं। उच्च-नीच की भावना से ओत-प्रोत समाज में व्यक्ति की महत्ता प्रतिष्ठित करनी थी और अपने आचरण की शुद्धि द्वारा सांस्कृतिक चैतन्य का जागरण कराना था। ब्रह्म जीव की एकता द्वारा उसने सामाजिक विषमता को दूर करना चाहा और सबको समान भाव से आत्म-साक्षात्कार का अधिकारी सिद्ध किया और आचरण की शुद्धि के लिए जीव को परमात्मा से भिन्न मानकर परमात्मा को पारस और चन्दन बताया। यह स्मरण रखने योग्य है कि लोहा पारस के स्पर्श से स्वर्ण बनता है, पारस नहीं। कीट भृंग के उपकरण के द्वारा आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य की उसने चेष्टा की। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता

---

१ सं क राग भासा १४ पृ १ ४। २ वही रा ति १ पृ १४५।
३ हरि महि तनु है तन महि हरि है सरब निरंतरि सोइ रे।
—वही राग गौड़ १ पृ १११।
४ वही रा मैं ११ पृ २२७।
५ जालिकु सकल सलक महि जाइक पूरि रहिओ सब ठाँई।
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजन हारे।—सं क राग बिभास १ पृ २४४।
६ आ ग्रं रविदास राग आसा १।
७ है हजूरि कत दूर बतावहु।—सं क रा मैं ११ पृ १२७।
८ वही रा आ १ पृ ११। ९ वही रा आ १२ पृ १ २।
१० आ ग्रं रविदास राग आसा १। ११ वही नामदेव राग सोरठ ९।
१२. आ ग्रं धन्ना राग आसा १।

है कि तात्त्विक रूप मे जीव परमतत्त्व से अभिन्न होकर मोह-माया ग्रस्त होने के कारण भिन्न रहता है। मायोपाधि सयुक्त आत्मा और परम ज्योति स्वरूप परमतत्त्व मे भिन्नता अवश्य है, किन्तु विशुद्ध परमात्म-तत्त्व और चैतन्य आत्मा मे अन्तर नही, अभिन्नता है। ससार में जो कुछ है उसी का, जीव का अपना कुछ नही—

कबीर मेरा मुझ महि किछु नही जो किछु है सो तेरा।
तेरा तउकउ सउपते किआ लागै मेरा ॥[1]

जीवन का लक्ष्य

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-कवि के अनुसार दृश्यमान् जगत् से परे एक सद्वस्तु है, एक चिरन्तन चैतन्य सत्ता है और वही भूतमात्र मे परिव्याप्त और अन्तर्भूत शाश्वत आत्मा है। प्रत्येक आत्मा मे समस्त सत्ताएँ अविभाज्य और अन्तर्लीन हैं किन्तु चैतन्य-विच्छेद होने पर सत्य स्वरूप के दर्शन, असद्वस्तु के अज्ञानपूर्ण ज्ञान और सद्वस्तु के अज्ञान के कारण नही हो पाते, अत प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य होना चाहिए इस भेदात्मक चेतना का विनाश और अभेदात्मक चैतन्य स्वरूप आत्म-प्रकाश की चेतना का जागरण। मर को अमर, दु खपूर्ण जगत् को आनन्दमय एव परमाणु को अनत, सीमा को असीम और रूप को अरूप बनाना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। आत्म-बोध, जो आत्म-प्रतीति से अभिन्न है, वही सत का काम्य है। परम तत्त्व को पहचानने के लिए अपने-आप को पहचानना आवश्यक है, जो अपने आपको पहचानता है, वही ब्रह्म को पहचानता है।[2] वह ब्रह्म अन्तर्दृष्टि से दृश्यमान् होता है।[3] सन्त कवि ने इस लक्ष्य को स्पष्ट रूप से समझा था। उसने जाना था कि भ्रम का कारण घटत्व को सत्य समझना है जिसने आकाश को आकाश से विच्छिन्न कर रखा है। आपा ही समस्त भ्रम का कारण है। अह-वृत्ति ही अनेकत्व की सृष्टि करती है। आपा और अहकार के मिटते ही परम चैतन्य-स्वरूप की पतीति होगी।[4] जो अपने आप को जान गया, पहचान गया उसे और कुछ जानने की अपेक्षा नही। परम चैतन्य-स्वरूप आनद सागर में निमग्न होकर वह पूर्ण चैतन्य और परम आनद स्वरूप हो सकेगा, इसे सन्त-कवि स्पष्ट रूप से जानता था। समुद्र के खारी जल में मिलकर सब कुछ लवण ही जाता है, पूर्ण लावण्यमय। परम और एक मात्र सत्य में मिलकर स्वय पूर्ण होने की आकाक्षा वह रखता था। सास्कृतिक चैतन्य द्वारा आत्म-स्वरूप की प्रतीति जन्य अनुभूति ही उसकी काम्य है—

मुक्ति नही आकास है, मुक्ति नही पाताल।
जब मन की मनसा मिटे, तब ही मुकति बिसाल ॥[5]

मुक्ति और उसका स्वरूप

मुक्ति ही श्रेय और प्रेय दोनो है, ऐसा भारतीय विचारक अकुठित भाव से स्वीकार कर लेता है। आधिभौतिक सुखवादी चार्वाक दर्शन उस परम्परा की रक्षा करता है जो सम्भव-

---

१ स० क०, सलोकु २०३, पृ० १५६। २ स० क०, रागु बिलावलु २, पृ १५३।
३ वही, रागु तिलगा १, पृ० १४६। ४ स० क०, सलोकु २०४, पृ० १५६।
५ बीजक।

तथा आर्येतर और समाज की अपेक्षाकृत प्राचीन स्थिति का द्योतक है। यज्ञादि क्रिया-समन्वित वैदिक विचार-धारा पर इस सुखवादी धारा का प्रभाव है, जहाँ इन्द्रादि देवताओं से आधिभौतिक सुखों के लिए प्रार्थना की गई है। धार्मिकता के मूल में आशंका-जनित भय और दुःख से निवृत्ति एवं सुख-प्राप्ति के विघ्नों का नाश है। संसार को दुःखपूर्ण माननेवाला बौद्ध-दर्शन अतः दुःख-निवृत्ति को ही परम ध्येय मानता है। अ-बौद्ध दर्शनों में सुख प्राप्ति की कामना अधिक बलवती है। चार्वाक दर्शन ने इस जीवन को ही परम ध्येय समझा था। बौद्धों के 'कालचक्र यान' में भी बाहर के समग्र ब्रह्माण्ड को इस मानव-शरीर के अन्तर्गत माना गया है। काया-शुद्धि द्वारा चित्त-शुद्धि की प्रेरणा के साथ काया-शुद्धि द्वारा चिरयौवनत्व प्राप्ति की समस्या भी सामने आई। कण्हपा के अनुसार जरामरण से मुक्त सिद्ध होता है।[1] निश्चल निर्विकार, निर्विकल्प उदय-अस्त से रहित और मन-व्यापार के अभाव को उसने निर्वाण का स्वरूप माना है।[2] सिद्ध सिद्धांत-पद्धति के आधार पर डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह निष्कर्ष प्राप्त किया है कि मुक्ति वस्तुतः नाथ-स्वरूप में अवस्थान है।[3] गोरखबानी को यदि प्रामाणिक माना जाय—इसमें अप्रामाणिक अंशों का अभाव नहीं तो कई विपरीत धाराओं का संगम मिलेगा। चिरायु प्राप्त करने और अजर-अमर बनने की धारणा नाथ-सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित है। पातञ्जल योग-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है लिंग शरीर के विरत होने पर 'कैवल्य' रूप में अवस्थिति अतः नाथ-सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित अजर-अमर होने की भावना का मूल उद्गम अवश्य ही कुछ अन्य है। हमारे विचार से आधिभौतिक सुखवाद की धारा जो चार्वाक दर्शन और कालचक्र यान से प्रवाहित हो रही थी उसी की परिणति काया-रक्षा एवं चिरायु प्राप्ति के रूप में प्रकट हुई। गोरखबानी के अनुसार योग-साधना से पृथ्वी के रहने तक योगी का शरीर रहता है।[4] योग की युक्ति से अमृत-पान करने से योगी बालक हो सकता है।[5] शून्य में प्रविष्ट होने से चिरायु प्राप्त होती है, शरीर-पात नहीं होता और योगी यम के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, अर्थात् उसकी मृत्यु नहीं होती।[6] आसन भोजन और निद्रा के नियमों का दृढ़ता से पालन करने से योगी अजर-अमर हो जाता है।[7] अतः शिव-तत्त्व (नाथ) की संगति ब्रह्म-तत्त्व की प्राप्ति जैसी स्थितियों के साथ इस अमरता (अमृत-तत्त्व) की प्राप्ति का यथेष्ट वर्णन गोरख-बानी में मिलता है।

मृत्यु को अतिक्रमण करने की भावना उपनिषदों में भी देखी जा सकती है। परमात्मा को जान कर ही मुमुक्षु मृत्यु का अतिक्रमण करता है, कल्याण के लिए आत्म-ज्ञान के सिवा और कोई मार्ग नहीं।[1] वह महान्, पूर्ण आत्मा जन्म-जरा-मृत्यु से रहित अमृत अभय है, वह अभय ब्रह्मरूप है। जो इस प्रकार जानता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है।[2]

---

१ हि. का. धा. १९ पृ. १४८।
२ वही २ पृ. १४८।
३ नाथ सम्प्रदाय पृ. १११।
४ गोरखबानी १८।४९।
५. वही ११।८२।
६ वही ४१।१११ ११७।
७ वही ४७।१२५।
८ वही ८३।२६७।
१ श्वेत. ३।८।
२ बृह. ४।४।२५।

निर्वाण की धारणा क्लेशाभाव के रूप में 'हीनयान' मे प्रचलित थी। दु ख-दु खता, सस्कार-दु खता और विपरिणाम-दु खता के क्लेशो से छुटकारा पाना ही निर्वाण है। त्रय-ताप की धारणा से इनकी तुलना की जा सकती है। आवागमन के चक्र से मुक्ति ही परम निर्वाण है। क्लेश-क्षय रूप शान्ति से आनन्दात्मक निर्वाण की कल्पना का विकास होता है, औप-निषदिक अमृत-तत्त्व की व्याप्ति यहाँ हो जाती है। मिलिंद-प्रश्न में इसके स्पष्ट सकेत है, जहाँ नागसेन ने निर्वाण को सुख ही सुख कहा है। 'अर्हत्' अवस्था की प्राप्ति अविद्या के पाश के छिन्न-भिन्न होने पर आधारित है। अभावात्मक निर्वाण और भावात्मक मुक्ति का सगम शकराचार्य में मिलता है। कठोपनिषद् (२।३।१४) के भाष्य में आपने जो कहा है, वह पर्याप्त सकेत पूर्ण है,—"परलोक में गमन करानेवाली मृत्यु का विनाश होने के कारण वह इस लोक मे ही दीपनिर्वाण के समान सम्पूर्ण बन्धनो के नष्ट हो जाने से ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्म हो हो जाता है।"[1] इसकी पुष्टि में "ब्रह्मज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नही करते, वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्म में लीन हो जाता है" को उद्धृत किया है। श्री वलदेव उपाध्याय का यह निष्कर्ष समुचित है कि "आचार्य ने (प्रेस के भूतों की कृपा से 'के' छपा है) उपनिषदो के आधार पर यही प्रतिपादन किया है कि ज्ञान-प्राप्ति होने पर इसी शरीर से मुक्ति प्राप्त होती है। इस मुक्ति का नाम है 'जीवन्मुक्ति'।[2] जीवन्मुक्ति में काया अमरता की झलक स्पष्ट मिलती है। इस प्रकार मुक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित धारणाएँ भारतीय समाज मे प्रचलित थी—

(१) जगत्पाश, आवागमन, जगत्सताप और क्लेश का उच्छेद अथवा पूर्ण नाश ही मुक्ति है, अत्यन्त क्लेशाभाव और क्लेशोच्छेद-स्वरूप।

(२) मुक्ति भावात्मक, आनन्द-स्वरूप एव अमृतोपम ब्रह्मैकता है।

(३) मुक्ति अमरता है और जरा-जन्म-मरण के भय और दुश्चिन्ताओ से निवृत्ति।

यहाँ स्पष्ट कर देना अनुचित नही होगा कि इस प्रकार के विचार केवल शास्त्र-ग्रन्थो और दार्शनिकों तक सीमित न थे वल्कि जन-समाज की सामान्य धारण वन चुके थे। इन ज्ञान के लिए न शास्त्र-सम्मत-ज्ञान की अपेक्षा थी और न सत्सगति की।

सत के अनुसार सासारिकता दु खपूर्ण, सन्तापमय और क्लेश-समूह है। जीवन-धारण करना—आवागमन के चक्र[3] में पडना ही इस क्लेश-कष्ट का कारण है। भव-सागर अपार और दुस्तर है। सासारिक माया-मोह में पडा व्यक्ति ही भव-चक्र में भ्रमित होगा।[4] आशा

---

१ गमन प्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद् गमनानुपपत्तेरत्रेहैव।
प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद् ब्रह्म समुश्नुते ब्रह्मैव भवति ॥

—कठ० पर शाकर भाष्य (गी० प्रे०, पृ० १६६)।

२ शकराचार्य, पृ २७०।

३ स० क०, रागु गउडी ६२, पृ० ६५।

४ वही, रागु गउडी २४, पृ० २६, जगजीवन साहव की वानी भाग (१), पृ० १७।२६।४ और २१।३२।१।

तथा आर्येतर और समाज की अपेक्षाकृत प्राचीन स्थिति का द्योतक है। यज्ञादि क्रिया-समन्वित वैदिक विचार-धारा पर इस सुखवादी धारा का प्रभाव है जहाँ इन्द्रादि देवताओं से आधिभौतिक सुखों के लिए प्रार्थना की गई है। धार्मिकता के मूल में आशंका-जनित भय और दुःख से निवृत्ति एवं सुख प्राप्ति के विघ्नों का नाश है। संसार को दुःखपूर्ण माननेवाला बौद्ध-दर्शन मत दुःख निवृत्ति को ही परम श्रेय मानता है। अ-बौद्ध दर्शनों में सुख प्राप्ति की कामना अधिक बलवती है। चार्वाक दर्शन ने इस जीवन को ही परम श्रेय समझा था बौद्धों के कालचक्र यान में भी बाहर के समग्र ब्रह्माण्ड को इस मानव-शरीर के अन्तर्गत माना गया है। काया-शुद्धि द्वारा चित्त-शुद्धि की प्रेरणा के साथ काया-शुद्धि द्वारा चिरयौवनत्व प्राप्ति की समस्या भी सामने आई। कण्हपा के अनुसार जरामरण से मुक्त सिद्ध होता है।[1] निरञ्जन निर्विकार निर्विकल्प उदय-अस्त से रहित और मन-व्यापार के अभाव को उसने निर्वाण का स्वरूप माना है।[2] सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति के आधार पर डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह निष्कर्ष प्राप्त किया है कि मुक्ति वस्तुतः नाथ-स्वरूप में अवस्थान है।[3] गोरखबानी को यदि प्रामाणिक माना जाय— इसमें अप्रामाणिक अंशों का अभाव नहीं तो कई विपरीत धाराओं का संगम मिलेगा। चिरायु प्राप्त करने और अजर-अमर बनने की धारणा नाथ-सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित है। पातंजल योग-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है लिंग शरीर के विरत होने पर 'कैवल्य' रूप में अवस्थिति अतः नाथ-सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित अजर-अमर होने की भावना का मूल उद्गम अवश्य ही कुछ अन्य है। हमारे विचार में आधिभौतिक सुखवाद की धारा जो चार्वाक दर्शन और काल-चक्र यान में प्रवाहित हो रही थी उसी की परिणति काया-रक्षा एवं चिरायु-प्राप्ति के रूप में प्रकट हुई। गोरखबानी के अनुसार योग-साधना से पृथ्वी के रहने तक योगी का शरीर रहता है।[4] योग की युक्ति से अमृत-पान करने से योगी बालक हो सकता है।[5] शून्य में प्रविष्ट होने से चिरायु प्राप्त होती है, शरीर-पात नहीं होता और योगी यम के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, अर्थात् उसकी मृत्यु नहीं होती।[6] आसन भोजन और निद्रा के नियमों का दृढ़ता से पालन करने से *योगी अजर-अमर हो जाता है।*[7] अतः शिव-तत्त्व (*नाथ*) की संगति ब्रह्म-तत्त्व की प्राप्ति[8] जैसी स्थितियों के साथ इस अमरता (अमृत-तत्त्व) की प्राप्ति का यथेष्ट वर्णन गोरख बानी में मिलता है।

मृत्यु को अतिक्रमण करने की भावना उपनिषदों में भी देखी जा सकती है। परमात्मा को जान कर ही मुमुक्षु मृत्यु का अतिक्रमण करता है कल्याण के लिए आत्म-ज्ञान के सिवा और कोई मार्ग नहीं।[9] वह महान्, पूर्ण आत्मा जन्म-जरा-मृत्यु से रहित अमृत अभय है, वह अभय ब्रह्मरूप है। जो इस प्रकार जानता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है।[10]

---

१ हि का धा १९, पृ १४८।
२ वही २ पृ १४८।
३ नाथ सम्प्रदाय पृ १११।
४ गोरखबानी १८।४९।
५. वही ३१।८२।
६ वही ४१।११६,११७।
७ वही ७७।१२५।
८ वही ८३।२५७।
९. श्वेत ३।८।
१ बृह ४।४।२५।

है।[1] जो अपने आपको पहचान लेता है उसे न रोग व्याप्त होता है और न त्रिविध ताप ही व्याप सकते हैं।[2] योगी न मरता है, न शोक करता है और न वियोग का सन्ताप ही उसे दग्ध करता है।[3] मरना-मरना तो सभी कहते हैं किन्तु जो सहज रूप में मरता है, वही अमर होता है।[4] सच्चा साधक न कभी बढता है, न घटता है। युग-युगान्तर तक जीता हुआ अमर ज्ञान का फल चखता रहता है।[5]

मुक्ति के भावात्मक स्वरूप का विशद वर्णन सन्त-काव्य में प्राप्त है जिसका विवेचन हम आगे करेंगे (अध्याय १०)। सत के अनुसार आनद की चिरन्तन धारा वह रही है।[6] उस महारस-ब्रह्मानन्द-रस का पान ही श्रेय है।[7] सहज रूपी कलालिनी के मिलन से प्रत्येक दिन, प्रत्येक क्षण आनन्दमय होता है।[8] ब्रह्मानन्द की यह अनुभूति अनिर्वचनीय है।[9]

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति के लिये मृत्यु आवश्यक नही। कुछ अवस्थाओ में तो चिर जीवन और यौवन की कल्पना है। निर्वाण की अभावात्मक कल्पना के साथ अर्हत्-स्वरूप की जो धारणा है, उसके साथ शाकरीय जीवन्मुक्त की भावना का मेल है। गीतोक्त स्थितप्रज्ञ-स्वरूप से भी इसका अभिन्नत्व है। काया का जो महत्त्व प्रतिपादित हुआ है उसमे साधन की साधकता है जिसकी परिणति साध्य रूप में काया-रक्षा की स्वीकृति है और अमरता जिसका फल है। पिण्ड-रूप यह स्थूल शरीर बुद्धि, अहकार और मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय, पच महाभूत और इन्द्रियो के पाँच विषय, इन तेईस तत्त्वो के सघात रूप प्रकृतिजन्य गुणो का व्यापार है। इसके साथ आत्मा का सम्बन्ध मानना ही गुणो के साथ लिप्त रहना है। जन्म-मरण एव वाल-युवा-वृद्धावस्था शरीर की ही भिन्न-भिन्न स्थितियाँ है। आधि-व्याधि सभी दुख इन्द्रिय मन और प्राण के सघात-स्वरूप शरीर को ही व्याप्त होते हैं। अत, ज्ञानानुभव के द्वारा जिसने यह सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया वह लोक-दृष्टि से शरीर में रहता हुआ भी इन दुखो से मुक्त हो जाता है।[10] इस प्रकार के स्थित-प्रज्ञ को ही शकर ने जीवन्मुक्त माना है। स्थित-प्रज्ञ और निर्वाण-

---

१ स० क०, बावन अखरी ७५।८, पृ० ७९।

२ स० क०, रा० ग० १७।२ पृ० १९।

३ मेरे राजन मैं बैरागी जोगी, मरत न सोग बिआगी।

—स० क०, रा० ग० ५३।१ पृ० ५६।

आवहि न जाहि न कवहू मरते पारब्रह्म ससारी रे।

—स० क०, रा० विलावलु १।३ पृ० १५२।

४ ऐसे मरहु जिवहुरि न मरना—स० क०, रा० ग० १८।२, पृ० २०।

५ ना ओहु वढ़ै न घटता जाइ—स० क०, रा० ग० ७६।३ पृ० ८४।

जुग जुग जीवहु अमर फल खाहु—वही, ७६।१० पृ० ८५।

६. स० क०, सिरी रागु ३।२, पृ० २।

७ सरवसु छोडि–महारस पीजै—स० क०, रा० ग० ५।४, पृ० ७।

८ स० क०, रा० ग० २७।३, पृ० २९। ९ स० क०, रा० ग० ५१।४, पृ० ५४।

१० गीता १४।२०।

की मृग-तृष्णा[१] क्षोभ के कारण है और बैकुण्ठ की कामना भी क्षोभ है। संसार की निस्सारता आपा-अहंकार के कारण ही जान पड़ती है। अहं-भावना ही भ्रम-बन्धन और भय का कारण है। मद मत्सर को जन्म देने वाले अहंकार का उच्छेद ही श्रेयस्कर है। चौरासी लक्ष योनियों के आवर्तन से रहित हो जाना ही मुक्ति है। सांसारिक बुद्धि ही विषय रोग और भव-बन्धन का कारण है। इस प्रकार आवागमन के चक्र से छुटकारा[२] दुविधा और भय का विनाश[३] सर्व प्रकार के क्लेशों और संतापों का अत्यन्ताभाव[४] झूठी माया[५] और विषय-वासना रूप मृगतृष्णा का क्षय अहंकार का क्षय[६] उसकी दृष्टि में मुक्ति का स्वरूप है। मुक्ति के द्वारा संशय और भ्रम का निवारण[७] और संसार के दुःख सुख से उदासीनता[८] की प्राप्ति वह चाहता रहा है। फिर शान्ति ही मुक्ति है।[९]

कर्म बन्धन है, वह वासना-जन्य है। मन और गुण के कारण कर्म का बन्धन है। आवागमन इसी का फल है। काम्य-वस्तु के लिए कर्म किए जाते हैं। कामना जब बन्धन है तो उससे प्रेरित कर्म मुक्ति के साधन कैसे बन सकते हैं? कर्म से मुक्ति ही अतः काम्य है। इसीलिए तो सन्त कर्म-शून्य से मुक्ति पाने का इच्छुक है।[१०]

अमरता की चाह सन्त-कवि में स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। संत जीवित रहता है क्योंकि अपनी जिह्वा से वह रामामृत का पान करता है।[११] नाथ-सम्प्रदायी परम्परा के अनुकूल ब्रह्म-रंध्र में स्थित अमृत का पान करने से मुक्ति की प्राप्ति उसे भी मान्य है। जीव आत्म को पहिचान कर मुक्त और स्वतन्त्र हो जाता है इससे अभय पद की प्राप्ति होती

---

१ आ ग्रं रविदास रागु सोरठ २।१ और नामदेव रागु आसा ५।१।

२ रूप चउरासीह जिनि उपाई—आ ग्रं त्रिलोचन रागु गूजरी १।
जन्म-मरन कटि परम गति पाई—स क रागु गउड़ी ४ पृ ४१।
लख चौरासी यह कही फेर फेर भुगतंत—सहज प्रकाश १३।१।
चूकि गई फिरि आवनि जानी। —स क रा ग ११ पृ ६४।
जाते आवागवनु बिलाइ। —आ ग्रं रविदास रागु ग बैरागणी २।१।

३ जासु जपत भै आपदा टरि। —आ ग्रं नामदेव राम मार १।४।

४ (क) निमड मए राम भजि गरजनि जनम मरन संताप हिरिउ।
—आ ग्रं नाम रा मा १।२।
(ख) आ ग्रं नामदेव रागु गौंड १।१। ५ सं क रागु आसा २५ पृ ११९।

६ पलटू साहिब की बानी (भाग २) पृ ६१।४२।

७ सं क रागु बिलावल ५ पृ १५६। ८ सहज प्रकाश १।४।

९ सं क रा म १०।१ पृ १९।

१० बाहरि भीतरि सहजा प्रकासु। तब हुआ गगन करम का नासु।
—सं क रा म (वार) ७।७ पृ ८०।
करम कीया संसार बंधावै आगे। बसगुर सौंपा जाय करम की फाँस है।
—पलटू साहब की बानी भाग (२) पृ १०७।१४४।

११ सं क रा म १२ पृ १४।

सहज स्वभाव प्रकाशित हो जाता है और ब्रह्मैकता स्थापित हो जाती है। इस एकता में भिन्नता भी है, अभिन्नता भी है, द्वैतभाव भी है, द्वैताभाव भी है। जल, तेज, वायु, पृथ्वी और आकाश जैसे समीप रहते हैं उसी प्रकार जीवन्मुक्त हरि के समीप रहता है।[१] यह जीवन्मुक्तता पूर्ण-मुक्ति का सोपान है, इसके अभाव में पूर्ण-मुक्ति सम्भव नही और इसकी प्राप्ति से पूर्ण-मुक्ति अनिवार्य है अत सन्त इस प्रकार की मुक्ति को परम अभिलाषा रखता है। "गति न चहौं निरवान" की सगुणवादी चिन्ता-धारा यही जाकर रुक जाती है। सन्त यहाँ रुकता नही और उसके लिए पूर्ण-मुक्ति अद्वैत-भाव में है, जहाँ ज्योति में मिलकर ज्योति एकमेक हो जाती है।[२] जिस प्रकार जल में जल मिलकर भिन्न नही रहता, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा से मिल कर एकमेक हो जाती है।[३] वैसी अवस्था में वह स्वय गाता है, स्वय नाचता है, स्वय बजाता है। स्वय देवता है, देवत्व है और स्वय पुजारी है। जल और तरग में केवल नाम की भिन्नता है, वस्तुत दोनो एक हैं, 'एक' और बस केवल 'एक'।[४] इस एकत्व की प्रतीति-जन्य अनुभूति जीवन्मुक्ति है और प्राप्ति पूर्ण तथा अखण्ड मुक्ति।

आत्म-प्रतीति के सहायक

कबीर ने कहा था कि अपनी शक्ति सीमित और क्षीण है, केवल उसी के द्वारा कुछ सम्भव नही।[५] अत लक्ष्य-पूर्ति में उसे सहायक की अपेक्षा होती है और वे हैं :—

(१) गुण-चिन्तन,[६]
(२) नाम-स्मरण,[७]
(३) परमतत्त्व की सहायता,[८]
(४) सत्सगति,[९]
(५) गुरु की क्षमतापूर्ण कृपा।[१०]

---

१. अपु तेज, बाइ पृथमी अकासा ऐसी रहत रहउ हरि पासा।
—स० क०, रा० ग० १८।४, पृ० २०।

२ एक जोति एका मिली किंवा होइ महोइ। —स० क०, रा० ग० ५५।१, पृ० ५८।
"जोती जोती समानी"—आ० ग्र०, नामदेव, रागु सोरठ १।२।

३ स० क०, रागु धनासिरी ३।१, पृ० १४३।
तुलनीय—जिमि जल जलहि मिलते सोइ।—सरहपा (हि० का० धा०, पृ० ६)।

४ आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा।
जल ते तरग तरग ते है जल कहन सुनन को दूजा॥
आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा।
कहत नामदेउ तू मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा॥
—आ० ग्र०, नामदेव, रा० सारंग २।१-२।

५ स० क०, रा० भै० २, पृ० २०७। ६ आ० ग्र०, नामदेव, रा० आ० ३।

७ आ० ग्र०, रविदास, रागु गउडी वैरागणि २।

८ स० क०, सलोकु ९७, पृ० २६२। ९ आ० ग्र०, रविदास, रागु आसा १।

१० स० क०, रागु आसा ३१, पृ० १२१।

पदाधिकारी अर्हत् के विलक्षण लक्षण-साम्य को लोकमान्य तिलक ने भी लक्षित किया था।[1] गीता (अध्याय २ ५५-७२ अ ४।१९ २१ अ० ५।१८ २८ और अ० १२।१३-१९) के साथ धम्मपद (श्लोक ३१ १८१) एवं सुत्त निपातों में से मुनि-सुत्त तथा धम्मिक-सुत्त की तुलना द्वारा लक्षणों की समानता ही नहीं बल्कि अद्भुत शब्द-साम्य दीख पड़ता है। अतः यह स्वीकार करने में कोई सकोच नहीं होना चाहिए कि यह परम्परा दोनों से प्राचीन है, उसका मूलस्रोत वैदिक हो चाहे अवैदिक। सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय में इस परम्परा की कड़ियाँ मिलती हैं।

सन्त के समक्ष मुक्ति के दो स्वरूप हैं—जीवन्मुक्त और पूर्णमुक्त। जीवन्मुक्तावस्था में भक्त अखण्ड ज्योति अनन्त चेतना और असीम प्रेम के साथ नित्य क्रीड़ा करता है। इस तत्त्व के साथ उसकी तात्त्विक समता रहती है किन्तु घुल-मिल कर दोनों 'एकमेक' अथवा 'एकरस' नहीं हो गये होते हैं। भक्त जब तक पूर्णभाव से 'एकमेक' नहीं हो जाता एक रस नहीं हो पाता तब तक रसानुभूति रहती है। परमतत्त्व समस्त त्रिभुवन में समाया हुआ है। यदि मन समस्त त्रिभुवन में समा जाय तो तत्त्व तत्त्व से मिल कर (भेंट कर) सुख प्राप्त करे।[2] शुद्ध सत्त्वोद्रेक के कारण रज और तम का तिरोहित हो जाना उस ब्रह्म की ओर उन्मुखता का संकेत करता है, जहाँ सभी तत्त्वों की साम्यावस्था के कारण असम द्वन्द्व के विरोध द्वारा सृष्टि-क्रम निरुद्ध हो जाता है, अतः राम तथा सन्त में कोई अन्तर नहीं। वह राम से दूर नहीं राम उससे दूर नहीं। द्वैत-भाव तभी तक रहता है जब तक जीवन्मुक्तता की अवस्था रहती है।[3]

इसी अवस्था के लिए कबीर साक्षी है— गगन् में गहरे गंभीर मेघ गर्जते रहते हैं, अमृत की झड़ी लगी होती है, सन्त जन सिहर सिहर कर उस आनन्द-रस की वर्षा में भीगते रहते हैं, उस अनन्त की ज्योति झलकती रहती है और परम प्रेम से आनन्द-निकेत में गुरु की कृपावाले सन्त जन पहुँच जाते हैं।[4]

गगन गरजै बरसै अमी बादल गहर गँभीर।
चहुँदिसि दमकै दामिनी भीजै दास कबीर॥
गगन-मण्डल के बीच में तहँवा झलकै नूर।
निगुरा महल न पावई पहुँचेगे गुरु पूर॥

—सत्य कबीर की साखी पृ० ९२।

ऐसे जीवन्मुक्त के लिए मुक्ति चेरी है। वह मुक्ति क्या जो मरने के बाद मिले। मरने के बाद मिलनेवाली मुक्ति का स्वाद कौन जानता है?[5] इस अवस्था में आत्मा का

---

१ गीता रहस्य १ पृ० ५७१। २ सं क रा बा ७५।२९ पृ ८।

३ तुलनीय—अर्हत्-फल फल-समापत्ति तथा उपाधि-रहित निर्वाण की प्राप्ति के बाद (प्रतिपदा) का ही नाम है। —अपण्णक जातक १।१।१ पृ ११४।

४ कबीर (ह प्र द्वि) पृ २१२।

५ मूए हूए जउ मुकति देहुगे मुकति न जानै कोइला।
—आ ग्रं नामदेव रा मलार १।२।

सहज स्वभाव प्रकाशित हो जाता है और ब्रह्मैकता स्थापित हो जाती है। इस एकता में भिन्नता भी है, अभिन्नता भी है, द्वैतभाव भी है, द्वैताभाव भी है। जल, तेज, वायु, पृथ्वी और आकाश जैसे समीप रहते हैं उसी प्रकार जीवन्मुक्त हरि के समीप रहता है।[१] यह जीवन्मुक्तता पूर्ण-मुक्ति का सोपान है, इसके अभाव में पूर्ण-मुक्ति सम्भव नही और इसकी प्राप्ति से पूर्ण-मुक्ति अनिवार्य है अत सन्त इस प्रकार की मुक्ति को परम अभिलाषा रखता है। "गति न चहौं निरबान" की सगुणवादी चिन्ता-धारा यही जाकर रुक जाती है। सन्त यहाँ रुकता नहीं और उसके लिए पूर्ण-मुक्ति अद्वैत-भाव में है, जहाँ ज्योति मे मिलकर ज्योति एकमेक हो जाती है।[२] जिस प्रकार जल में जल मिलकर भिन्न नही रहता, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा से मिल कर एकमेक हो जाती है।[3] वैसी अवस्था में वह स्वय गाता है, स्वय नाचता है, स्वय बजाता है। स्वय देवता है, देवत्व है और स्वय पुजारी है। जल और तरग में केवल नाम की भिन्नता है, वस्तुत दोनो एक हैं, 'एक' और वस केवल 'एक'।[४] इस एकत्व की प्रतीति-जन्य अनुभूति जीवन्मुक्ति है और प्राप्ति पूर्ण तथा अखण्ड मुक्ति।

आत्म-प्रतीति के सहायक

कबीर ने कहा था कि अपनी शक्ति सीमित और क्षीण है, केवल उसी के द्वारा कुछ सम्भव नही।[५] अत लक्ष्य-पूर्ति में उसे सहायक की अपेक्षा होती है और वे हैं '—

(१) गुण-चिन्तन,[६]
(२) नाम-स्मरण,[७]
(३) परमतत्त्व की सहायता,[८]
(४) सत्संगति,[९]
(५) गुरु की क्षमतापूर्ण कृपा।[१०]

---

१. अपु तेज, बाइ पृथमी अकासा ऐसी रहत रहउ हरि पासा।
—स० क०, रा० ग० १८।४, पृ० २०।

२ एक जोति एका मिली किंवा होइ महोइ। —स० क०, रा० ग० ५५।१, पृ० ५८।
"जोती जोती समानी"—आ० ग्र०, नामदेव, रागु सोरठ १।२।

३ स० क०, रागु धनासिरी ३।१, पृ० १४३।
तुलनीय—जिमि जल जलहि मिलते सोइ।—सरहपा (हि० का० धा०, पृ० ६)।

४ आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा।
जल ते तरग तरग ते है जल कहन सुनन को दूजा॥
आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा।
कहत नामदेउ तू मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा॥
—आ० ग्र०, नामदेव, रा० सारंग २।१-२।

५ स० क०, रा० भै० २, पृ० २०७।
६ आ० ग्र०, नामदेव, रा० आ० ३।

७ आ० ग्र०, रविदास, रागु गउडी वैरागणि २।

८ स० क०, सलोकु ९७, पृ० २६२।
९ आ० ग्र०, रविदास, रागु आशा १।

१० स० क०, रागु आसा ३१, पृ० १२१।

पदाधिकारी महत् के विलक्षण अक्षर-साम्य को लोकमान्य तिलक ने भी लक्षित किया था।[1] गीता (अध्याय २ ५५-७२, अ० ४।१९, २१, अ० ५।१८, २८ और अ० १२।१३-१९) के साथ धम्मपद (श्लोक ११, १८१) एवं सुत्त निपातों में से मुनि-सुत्त तथा धम्मिक-सुत्त की तुलना द्वारा भावों की समानता ही नहीं बल्कि अद्भुत शब्द-साम्य दीख पड़ता है। अतः यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि यह परम्परा दोनों से प्राचीन है, उसका मूलस्रोत वैदिक हो चाहे अवैदिक। सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय में इस परम्परा की कड़ियाँ मिलती हैं।

सन्त के समक्ष मुक्ति के दो स्वरूप हैं—जीवन्मुक्त और पूर्णमुक्त। जीवन्मुक्तावस्था में भक्त अखण्ड ज्योति, अनन्त चेतना और असीम प्रेम के साथ नित्य क्रीड़ा करता है। उस तत्त्व के साथ उसकी तात्त्विक समता रहती है, किन्तु घुल-मिल कर दोनों 'एकमेक' अथवा 'एकरस' नहीं हो गये होते हैं। भक्त जब तक पूर्णभाव से 'एकमेक' नहीं हो जाता, एक रस नहीं हो पाता तब तक रसानुभूति रहती है। परमतत्त्व समस्त त्रिभुवन में समाया हुआ है। यदि मन समस्त त्रिभुवन में समा जाय तो तत्त्व तत्त्व से मिल कर (भेंट कर) सुख प्राप्त करे।[2] शुद्ध सत्त्वोद्रेक के कारण रज और तम का विगलित हो जाना उस अवस्था की ओर उन्मुखता का संकेत करता है, जहाँ सभी तत्त्वों की साम्यावस्था के कारण असम द्वन्द्व के निरोध द्वारा सृष्टि-क्रम निरुद्ध हो जाता है, अतः राम तथा सन्त में कोई अन्तर नहीं। वह राम से दूर नहीं, राम उससे दूर नहीं। द्वैत भाव तभी तक रहता है जब तक जीवन्मुक्तता की अवस्था रहती है।[3]

इसी अवस्था के लिए कबीर साखी है—'जगत् में गहरे गंभीर मेघ गरजते रहते हैं, अमृत की झड़ी लगी होती है, सन्त जन सिहर सिहर कर इस आनन्द-रस की वर्षा में भीजते रहते हैं, उस अनन्त की ज्योति झलकती रहती है और परम प्रेम से आनन्द-निमग्न में गुरु की कृपा से सन्त जन पहुँच जाते हैं।'[4]

गगन गरजै बरसै अमी बादल गहर गँभीर।
चहुँदिसि दमकै दामिनी भीजै दास कबीर॥
गगन-मण्डल के बीच में तहँवा झलकै नूर।
निगुरा महल न पावई पहुँचैगे गुरु पूर॥

—सत्य कबीर की साखी पृ० १२।

ऐसे जीवन्मुक्त के लिए मुक्ति चेरी है। वह मुक्ति क्या जो मरने के बाद मिले। मरने के बाद मिलनेवाली मुक्ति का स्वाद कौन जानता है?[5] इस अवस्था में आत्मा का

---

१ गीता रहस्य १ पृ० ५७१। २. सं० म० रा० बा० ७४।२१ पृ० ८।

३ गुणातीत—महत्-तत्त्व जन्म-मरणादि तथा उपाधि-रहित निर्वाण की प्राप्ति के मार्ग (प्रतिपदा) का ही नाम है। —[illegible] १।१।१ पृ० ११४।

४ कबीर (ह० प्र० द्वि०) पृ० २१२।

५. मुए हुए जउ मुकति देहुगे मुकति न जाने कोइला।

—आ० ग्रं० नामदेव रा० मलार १२।

तत्त्व स्वय प्रकाशित हो उठता है।[१] हरि का नाम अमृत है, भव-बाधा ग्रसित जीव को एकमात्र औषधि है।[२] नाम-स्मरण से भ्रम दूर हो जाता है।[३]

निरञ्जन (अनन्धकार-प्रकाश) ने अजन (धूम=अन्धकार) से अपने आप को आवृत्त कर रखा है। प्रकाश में ही अन्धकार को छिन्न करने की क्षमता है, वह यदि अपने आपको प्रकट करे तो अन्धकार (माया) का विनाश हो सकता है। ब्रह्म अपने मायिक स्वरूप के अन्तर्भूत परम-तत्त्व का यदि प्राकट्य करे तो उसके दर्शन सम्भव हो सकते हैं। इस दर्शन मात्र से अहकार और आपा का भ्रम नष्ट हो जाता है। उस परम-तत्त्व की सहायता के सिवा और कोई अन्य सहायक नही, किसी दूसरे की सहायता काम नही आ सकती।[४] वह आनन्दमूल चिरन्तन पुरुषोत्तम सदा समर्थ है, अपूर्ण को पूर्ण करने की क्षमता उसी में है,[५] उसके समान और कोई दूसरा दयालु नही।[६] राम के दयालु और अनुकूल होने पर ही सम्पूर्णता प्राप्त की जा सकती है।[७] उसी की कृपा पर लक्ष्य-प्राप्ति सम्भव है।[८] वह नदी है, वही कर्णधार है और उसी के द्वारा निस्तार सम्भव है।[९] अत स्वामी यदि कृपा करे और दयालु हो जाय तो जीव के सारे कार्य सँवर जायँ।[१०] वही सद्गुरु है और कबीर उसके नित्य शिष्य।[११] ब्रह्म की सहायता और कृपा के अभाव में आत्म-प्रकाश रूपी चैतन्य का जागरण सम्भव नही।

सत्संगति की महिमा

सत्सगति की महिमा सन्त-काव्य में मुक्तकण्ठ से गाई गई है। साधु की संगति से भगवत्प्रेम दूना हो जाता है।[१२] ऐसी सगति अत तक निर्वाह करती है।[१३] सत जिस मार्ग पर चलता है, उसी मार्ग पर चलना सदा उत्तम है। उस मार्ग के दर्शन मात्र से पवित्रता आती है। सत की भेंट नाम-स्मरण कराती है।[१४] सेवा करने के उपयुक्त दो ही हैं—एक सत और दूसरा राम। राम मुक्तिदाता हैं और सत नाम स्मरण करानेवाले।[१५] करोडो असन्तो के मिलने पर भी सन्त अपने सद्गुण नहीं छोडते। क्या सर्पों से आच्छादित होने पर भी चन्दन

---

१ नखसिख सब सुमिरन करै ऐसा कहिये आप।
अतरि बिगसे आतमा, तब दादू प्रगटै आप॥ —वही, परचा के अंग १०७।

२ हरि का नाम, अम्रित जल निरमल इहु अउखधु जगु सारा।
—आ० ग्रं०, रविदास, रागु गौंड़ १।
आ० ग्र०, भीखन, रागु सोरठ १।

३ हरि हरि करत मिटै सब भरमा। —आ० ग्र०, नामदेव, रागु गौंड ५।

४ स० क०, सलोकु ९७, पृ० २६२। ५ वही, रा० विलावलु ७, पृ० १५८।

६ वही, राग बिलावल ३, पृ० २५४। ७, वही, रागुआसा २८, पृ० ११८।

८ वही, रागुआसा ७, पृ० ९७। ९ वही, रा० गउडी ६९, पृ० ७२।

१० वही, रा० ग० ५०, पृ० ५३ और वही रा० ग० ६१, पृ० ६४।

११ वही, रा० ग० २, पृ० ४।

१२ स० क०, सलोकु १००, पृ० २६३। १३ वही, सलोकु ९३, पृ० २६२।

१४. वही, सलोकु १३१, पृ० २६७। १५ वही, सलोकु १६४, पृ० २७२।

प्रभु के गुणों का निरन्तर चिन्तन, उसके स्वरूप का ध्यान उसकी भावना में अपने आपको लीन कर आत्म-भाव अहंकार का विनाश कर एकाकार होने तादात्म्य अनुभव करने के लिए आवश्यक है। उपासना और साधना भाव-भक्ति इसीलिए काम्य है कि उनके द्वारा उस परम-तत्त्व के दर्शन किये जा सकें। गुण-चिन्तन में साधारण दृष्टि से निर्गुण का प्रत्याख्यान-सा होता दीख पड़ता है किन्तु गुण का तात्पर्य त्रिगुणात्मक स्वरूप नहीं बल्कि यथार्थ और सम्यक् दृष्टि से प्राप्त स्वरूप का उन्मेष है। अनिर्व्यक्त स्वरूप के नाम-रूप से परे जो तत्त्व है उसमें गुण और गुणी का भेद नहीं रहता अतः गुण-चिन्तन का यथार्थ अर्थ है स्वरूप-चिन्ता। ध्यान और चिन्तन उसके तात्त्विक स्वरूप की प्रतीतिजन्य अनुभूति के सहायक हैं।

नाम-स्मरण का महत्त्व मध्ययुग के साहित्य में सर्वत्र दीख पड़ता है। सगुण-निर्गुण धाराएँ समान रूप से इसका प्रतिपादन करती हैं। रविदास ने कहा है कि सत्ययुग में सत्य त्रेता में यज्ञ और द्वापर में पूजाचार साधन थे किन्तु कलियुग में केवल नाम ही आधार है।[१] तुलसीदास में यह स्वर स्पष्ट है कि कलिकाल में नाम-स्मरण समस्त साधनों से महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली है।[२] शरीर को मटकी बनाकर उसमें शब्द का रस भरना चाहिए और रामनाम का सहारा लेकर मन से मन्थन (चिन्तन) करना चाहिए। यदि सात्त्विकी वृत्ति से चिन्तन-मन्थन किया जाय तो अमृत-तत्त्व—परम-तत्त्व की चिन्तन-द्वारा प्राप्ति होगी।[३] चिन्तन का अर्थ है समस्त अहंकारमयी मानसिक वृत्तियों का उच्छेद समस्त व्यक्तिगत आकांक्षाओं और इच्छाओं से अनासक्ति और सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण। इसी के द्वारा एकत्व समत्व और सामञ्जस्य की प्राप्ति होगी। चिन्तन ध्यान उपासना नाम-स्मरण सबका प्रधान लक्ष्य है उस अन्तर्भूत सर्वव्यापकत्व के प्रति चैतन्य का जागरण जो उसकी अनुभूतिमयी उपलब्धि का परम साधन है। नाम-रूपी रत्न बड़ा अनमोल है विशेष पुण्य के प्रताप से ही यह मिलता है। बार-बार स्मरण करने से भक्तों को सुख मिलता है और चित्त चेत जाता है और इस प्रकार सर्वत्र एक ही तत्त्व देखकर आँखें तृप्त हो जाती हैं।[४] फिर और देखने की अपेक्षा कहाँ रह जाती है ? किन्तु यह नाम-स्मरण सहज नहीं कोई विरला सन्त ही जप करता जानता है। और यदि सच्चा स्मरण और जाप है तो अन्तर में आत्मा का प्रकाश होता है और वह परम-

---

१ सतजुगि सतु त्रेता जगी दुआपरि पूजाचार।
तीनौ जुग तीनौ दिड़े कलि केवल नाम अधार॥ —बा ग्रं० रा बसन्त बैरा २।

२ नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥
—रा च मा बा कां २७।

कृत जुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
—रा च मा उत्तर कां १०२।

३ सं० क रामु बाणी १ पृ १ ।

४ बा ग्रं पीवन रामु सोरठ १।

५. दादू माला सब आकार की कोई साधू सुमिरै राम। —दादू परचा के अंग १७१।

गुरुदेव की कृपा

गुरु-माहात्म्य भारतीय साधना-धारा मे नवीन नही, इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यज्ञ का निर्देशक पुरोहित हुआ एव आर्येतर साधना-धारा में गृहपति पौरोहित्य करता था। बौद्धकाल में गुरु उपदेशक बना। गौतम को शास्ता अथवा उपदेशक कहा गया। स्वय बुद्ध ने कहा था—आनद, मेरे लिये शोक न कर। शास्ता के वचन उपदेश देते रहेंगे। उपदेश और उपदेशक की महत्ता का इस प्रकार प्रतिपादन होता रहा। शास्त्रीय-परम्परा में शास्त्र-वचनो का मर्म समझनेवाला गुरु बना और शास्त्रावलम्बन का त्याग करनेवालो के लिए तो गुरु ही एकमात्र आधार बन गया। वैदिक धारा में भी गुरु का माहात्म्य और महत्त्व कम नही, किन्तु बौद्ध धर्म के तान्त्रिक अभियान ने गुरु-महिमा के लिए और अधिक उर्वर भूमि प्रस्तुत की। शास्त्रीय परम्परा में शास्त्र प्रमाण्य थे और गुरु उन शास्त्रो के समझने में सहायक मात्र। ज्यो ज्यो साधारण, अपेक्षाकृत अशिक्षित जन-समाज और उसके प्रतिनिधि साधना-धारा में आने लगे, वैसे-वैसे गुरु की प्रतिष्ठा बढती गई। आठवी सदी के सरहपा के शब्दो में गुरु का उपदेश अमृत-रस है, शास्त्रार्थ मरु-स्थल है, जहाँ तृषा नही बुझ सकती। गुरु-वचन में दृढ भक्ति करने से सहज उल्लास-परमानन्द की प्राप्ति होगी।[1] उत्तरोपनिषदो में गुरु और इष्टदेव में अभेदत्व प्रतिपादित मिलता है—

यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ।
यथा गुरौ तथा स्वात्मन्येव भक्तिक्रम स्मृत ॥
यथा घटश्च कलश कुम्भश्चैकार्यवाचका।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचका ॥ —सुन्दरतापिनी।

तन्त्रमतानुयायी के लिए गुरु-पूजा अनिवार्य है, गुरु पूजा के अभाव में साधक की सारी साधना निष्फल होगी।[2] तन्त्रवर्णित गुरु का ध्यान शिवशक्ति का ही ध्यान है। नाद-बिन्दु के मध्य में शिव-स्वरूप गुरु का ध्यान अन्नदाकल्प और ककाल-मालिनी तन्त्र में वर्णित है। नाथ-पंथियो में गुरु का यह माहात्म्य और अधिक कट्टरता के साथ प्रतिष्ठित हुआ। जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ ने अपने गुरु मच्छन्दरनाथ का अबाध स्त्री-ससर्ग से उद्धार किया था, किन्तु वैसे गुरु की वन्दना गोरख शतक में परमानन्द के रूप में हुई है, जिसके सान्निध्य मात्र से शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है।[3] निगुरे की गति सम्भव नही अत

---

१ गुरु उवएसे अमिअ-रसु, धावण पीअउ जेहि।
बहु सत्यत्थ-मरुस्थलहि तिसिए मरिअउ तेहि ॥
चित्ताचित्ति वि परिहरहु, तिम अच्छहु जिम बालु।
गुरु वअणे ढि मत्ति करु, होइ जइ सहज उलालु ॥—चर्यापद ५६–५७।

२. गुरुपूजा विना देवि स्वेष्टपूजा करोति य ।
मन्त्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरव स्वयम् ॥—काली विलास तन्त्र १।१३।

३ श्री गुरु परमानन्द बन्दे स्वानन्दविग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनु ॥ —गो० श० १।

अपनी शीतलता खोता है ?[१] भाग्य में यदि साधु-संगति लिखी है तो मुक्ति दुर्लभ नहीं संसार के विषम बाट किसी प्रकार की अड़चन नहीं डाल सकते।[२] एक घड़ी आधी घड़ी अथवा आधी से आधी घड़ी का सत्संग फलदायक होता है।[३] सन्त साईं सरीखे हैं। उनका स्वभाव वृक्ष और नदी की भाँति है। उनके सारे कार्य दूसरों के उपकारार्थ होते हैं।[४] साधु-सन्त विरले और बड़े भाग्य से मिलते हैं। संसार में अनेकानेक पंडित और ज्ञानी हैं। श्रोता भी अनेक हैं किन्तु साधु-सन्त विरले हैं।[५] संसार में सब कुछ मिलना सहज है, किन्तु सन्त-समागम दुर्लभ है।[६] सत्संग का महत्त्व अपरिमेय है। मलिन जल गंगा में जाकर गंगा-जल बन जाता है, उसी प्रकार सत्संग के द्वारा मनुष्य भक्तिमय होकर परम शुद्ध बन जाता है।[७] साधु की संगति के बिना भाव नहीं उत्पन्न होता और भाव बिना भक्ति सम्भव नहीं। तुलसीदास इन्हीं लोगों की भाषा का प्रयोग करते हुए कहते हैं— 'सन्त और अनंत अभिन्न हैं, समान हैं।[९] साधु संगति से ही परम गति प्राप्त होती है।[१०] इसे ध्यान में ही रख कर हरि में पिण्ड है और पिण्ड में हरि है। हरि सर्वमय और निरन्तर हैं' इस सिद्धांत को मानने वाले कबीर ने कहा—

कहु कबीर जब जानिबा सन्तन रिदै मझारि।[११]

सन्त की कोई निन्दा न करे क्योंकि सन्त और राम एक हैं, अभिन्न हैं, इसमें कोई अन्तर नहीं।[१२]

---

१ वही सलोकु १७४ पृ २०१। २ वही सलोकु २११ पृ २८१।

३ वही सलोकु २१२ पृ २८२।

४ गरीबदास—सं बा सं (भाग १) पृ १९८।

५. पंडित कोटि अनंत हैं, ज्ञानी कोटि अनंत।
श्रोता कोटि अनंत हैं, विरले साधू संत॥—गरीबदास
—सं बा० सं (१) पृ १९१।१८।

६ दारा मिलै पुनि मात मिलै सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई।
राज मिलै गज बाजि मिलै सब साज मिलै मन वांछित पाई॥
लोक मिलै सुरलोक मिलै विधि लोक मिलै बैकुण्ठहि जाई।
सुन्दर और मिलै सब ही सुख सन्त समागम दुर्लभ भाई॥
—सुन्दर विलास पृ ११६।११।

७ सुन्दर विलास ११४।२।

८. साध संगति बिन भाउ नहीं उपजै भाव बिनु भगति नहीं होइ तेरी।
—आ ग्रं रविदास रागु धनासिरी १।
तुल —बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोहि गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग।—रा च मा उत्तर ६१।

९. जानेसु संत अनंत समाना।—रा च मानस उत्तर १ १।

१ आ ग्रं रविदास मलार (घर २) १।

११ सं क रा ग ६१ पृ ६६ और आ ग्रं नामदेव राग टोडी १।

१२. संत कउ मति कोइ निंदहु संत रामु है एको।—सं क राग सूही ५१४ पृ १६१।

स्वत स्थापित हो जाती है।[१] गुरु ने अपनी ज्ञान-भक्ति द्वारा ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति कर ली है, अत हरि का स्वरूप ही उसका स्वरूप है।[२] ऐसा गुरु परमब्रह्म की कृपा से मिलता है।[३] जब गुरु और परम तत्त्व की अभिन्नता है तो उसकी प्रसन्नता ही गुरु की कृपा है और गुरु की दयालुता परमब्रह्म की स्वत स्फुरित करुणा।[४]

साधक की सिद्धि गुरु-प्रकाश से प्रदीप्त साधन की चरम उपयुक्तता के कारण हुई। गुरु ने वह चिनगी जलाई कि अन्धकारपूर्ण अन्तर सहसा आलोकित हो गया। भय और भ्रम का अन्धकार विनष्ट हो गया। वह तो पूर्णतोभावेन परिव्याप्त था, साधक की सीमाओ के कारण दर्शन सम्भव नही हो रहे थे। गुरु ने व्यष्टि की यह सीमा तोड दी। घटाकाश महाकाश बन गया। ब्रह्म-स्वरूप का साक्षात्कार तो गुरु की कृपा से हुआ अत गुरु गोविंद ही नही बल्कि गोविंद से भी बडा है।[५] हरि ने जन्म दिया, आवागमन और भव-बन्धन के पाश में बाँधा। हरि ने माया की वश्यता दी। गुरु ने उससे मुक्ति दी। हरि ने कर्म का भ्रम उत्पन्न किया, गुरु ने आत्म-स्वरूप के दर्शन कराए। हरि ने अपने आपको छिपाया, गुरु ने ज्ञान की लौ से उसे प्रकाशित किया। इसलिए हरि का त्याग किया जा सकता है किन्तु गुरु का नही।[६] हरि की कृपा हो भी सकती है, नही भी हो सकती है किन्तु गुरु की कृपा के बिना सारी बुद्धि नष्ट हो जायगी।[७]

---

१ (अ) चरनदास गुरुदेव जू, ब्रह्म-रूप सुख-धाम।
ताप-हरन सब सुख-करन, 'दया' करत परनाम॥
—स० बा० सं० (१), पृ० १६७।४।

(ब) सतगुरु ब्रह्म सरूप है, मनुष भाव मत जान।
देह भाव मानै 'दया', तेहू पसू समान॥ —वही, पृ० १६८।१२।

(स) गुरु गोविन्द तो एक है। —क० ग्र०, पृ० ३।२६।

२ सब गुन रहिता सकल बिआपी, बिन इन्द्री रस भोगी।
दादू ऐसा गुरू हमारा, आप निरजन जोगी॥ —दादू।

३ आए गुरुदेव सजन पठये, भयो हरष अपार हो।
जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ॥ —धरमदास।
एव द्रष्टव्य—क० ग्र०, पृ० २।१३।

४ 'सुदर' सतगुरु आप तें अति ही भये प्रसन्न।
दूर किया सदेह सब, जीव ब्रह्म नहिं भिन्न॥
—स० बा० स०, भाग (१), पृ० १०७।१६।

५ गुरु गोविंद दोनो खडे काके लागूँ पाँय।
बलिहारी वा गुरु को जिन गोविंद दिया लखाय॥ —क० ग्र०।
(ख) और हू कहाँ लौं कछू, मुख तें कहूँ बनाय।
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविंद तें॥ —सुन्दरदास।
स० बा० स०, भाग (२), पृ० १०७।

६ सहजोबाई, सहज प्रकाश, पृ० ३।१२। ७. सहजोबाई, सहज प्रकाश, पृ० ३।११।

स्वत स्थापित हो जाती है ।[१] गुरु ने अपनी ज्ञान-भक्ति द्वारा ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति कर ली है, अत हरि का स्वरूप ही उसका स्वरूप है ।[२] ऐसा गुरु परमब्रह्म की कृपा से मिलता है ।[३] जब गुरु और परम तत्त्व की अभिन्नता है तो उसकी प्रसन्नता ही गुरु की कृपा है और गुरु की दयालुता परमब्रह्म की स्वत स्फुरित करुणा ।[४]

साधक की सिद्धि गुरु-प्रकाश से प्रदीप्त साधन की चरम उपयुक्तता के कारण हुई। गुरु ने वह चिनगी जलाई कि अन्धकारपूर्ण अन्तर सहसा आलोकित हो गया। भय और भ्रम का अन्धकार विनष्ट हो गया। वह तो पूर्णतोभावेन परिव्याप्त था, साधक की सीमाओ के कारण दर्शन सम्भव नही हो रहे थे। गुरु ने व्यष्टि की यह सीमा तोड दी। घटाकाश महाकाश बन गया। ब्रह्म-स्वरूप का साक्षात्कार तो गुरु की कृपा से हुआ अत गुरु गोविंद ही नहीं बल्कि गोविंद से भी बडा है ।[५] हरि ने जन्म दिया, आवागमन और भव-बन्धन के पाश में बाँधा। हरि ने माया की वश्यता दी। गुरु ने उससे मुक्ति दी। हरि ने कर्म का भ्रम उत्पन्न किया, गुरु ने आत्म-स्वरूप के दर्शन कराए। हरि ने अपने आपको छिपाया, गुरु ने ज्ञान की लौ से उसे प्रकाशित किया। इसलिए हरि का त्याग किया जा सकता है किन्तु गुरु का नही ।[६] हरि की कृपा हो भी सकती है, नही भी हो सकती है किन्तु गुरु की कृपा के बिना सारी बुद्धि नष्ट हो जायगी ।[७]

---

१ (अ) चरनदास गुरुदेव जू, ब्रह्म-रूप सुख-धाम।
ताप-हरन सब सुख-करन, 'दया' करत परनाम ॥
—स० बा० सं० (१), पृ० १६७।४।

(ब) सतगुरु ब्रह्म सरूप है, मनुष भाव मत जान।
देह भाव मानै 'दया', तेहू पसू समान ॥ —वही, पृ० १६८।१२।

(स) गुरु गोविन्द तो एक है। —क० ग्र०, पृ० ३।२६।

२ सब गुन रहिता सकल बिआपी, बिन इन्द्री रस भोगी।
दादू ऐसा गुरू हमारा, आप निरजन जोगी ॥ —दादू।

३ आए गुरुदेव सजन पठये, भयो हरष अपार हो।
जब गोविंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ ॥ —धरमदास।
एव द्रष्टव्य—क० ग्र०, पृ० २।१३।

४ 'सुदर' सतगुरु आप तें अति ही भये प्रसन्न।
दूर किया सदेह सब, जीव ब्रह्म नहिं भिन्न ॥
—स० बा० स०, भाग (१), पृ० १०७।१६।

५ गुरु गोविंद दोनो खडे काके लागूँ पाँय।
बलिहारी था गुरु को जिन गोविंद दिया लखाय ॥ —क० ग्र०।

(ख) और हू कहाँ लौं कछू, मुख तें कहूँ बनाय।
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविंद तें ॥ —सुन्दरदास।
स० बा० स०, भाग (२), पृ० १०७।

६. सहजोबाई, सहज प्रकाश, पृ० ३।१२। ७ सहजोबाई, सहज प्रकाश, पृ० ३।११।

गुरु धोबी की भाँति है, कारण ज्ञान का साबुन लगा कर मन का सारा मैल धो देता है। वह वर्षा के मेघ की तरह है ऊँच-नीच का विचार छोड़ सर्वत्र समरस बरसता है। गुरु सूर्य का निर्मल प्रकाश है जिसके द्वारा सबका अन्तःकरण प्रकाशित हो उठता है।[१] गुरु भृंग है शिष्य को भी अपने जैसा बना लेता है। गुरु पारस पत्थर है जिसके स्पर्शमात्र से लोहा (द्रवीभूत नहीं होनेवाला कठोर; जड़ हृदय) भी हिरण्य हो जाता है।[२] गुरु चन्दन की अपूर्व शीतल सुगन्धि है जिसकी सुगन्धि से एरण्ड भी चन्दन हो जाता है।[३]

मध्यकालीन काव्य-धारा गुरु-माहात्म्य से ओत-प्रोत है। जिस सगुण भक्त सम्प्रदाय को विग्रह का कथा-वार्ता का आधार था उसमें भी गुरु की यह महत्ता प्रतिपादित है। उसकी कृपा से ईश्वर के दर्शन होते हैं[४] जगत् का अन्धकार मिट जाता है[५] और क्षण भर में भव-सागर से उद्धार हो जाता है।[६] सगुण भक्त ने भी ईश्वर को गुरु-रूप में और गुरु को ईश्वर रूप में देखा था।[७] उसके लिए भी गुरु आराध्य से बढ़कर है।[८]

गुरु ब्रह्म से बड़ा है, इस कथन को तत्त्ववाद के रूप में नहीं बल्कि व्यावहारिक पक्ष में स्वीकार करना चाहिए, कारण गुरु शिष्य और परब्रह्म का भेद व्यावहारिक ही है, पार

---

१ वही पृ ११।५७-५९।

२ दादू भृंगी कीट ज्यों सतगुर सेती होइ।
आप सरीखे करि लिए दूजा नाहीं कोइ॥
दादू सुधि-बुधि आतमा सतगुर परसै आइ।
दादू भृंगी कीट ज्यों देखत ही ह्वै जाइ॥ —दादू बानी।

३ सतगुर पारस रूप है हमरी लोह जात।
पलक बीच कंचन करै, पलटै पिंडा गात॥ —गरीबदास की बानी।

४ श्री गुरु-पद-नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन हिय के। मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनि-मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥
—रा च मा० बा काँड १।

५ श्री वल्लभ-नख-चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझि अँधेरो। —सूर सागर।

६ 'सूर' स्याम गुरु ऐसो समरथ छिन में लै उधरै। —सूर सागर।

७ (क) बंदउँ गुरु-पद-कंज कृपासिंधु नर रूप हर।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥ —रा च मा।

(ख) तब चत्रभुजदास ने कही जो गुसाँईजी ने बहुत भगवत जस बरनन कियो। परि श्री आचार्य जी महाप्रभून को जस बरनन ना कीयो। तब यह बचन सुनि कै सूरदास जी कहे जामें तो सब श्री आचार्य जी महाप्रभून को ही जस वर्णन कीयो है। कछु न्यारो देखूँ तो न्यारो करूँ —चौरासी वैष्णवन की वार्ता पृ २८८।

८ गुरु तें अधिक गुरहिं जियँ जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥
—रा च मा अयोध्या १२९।

मार्थिक नहीं। वह तो सर्वत्र एक ही है। उससे कोई बाह्य नहीं, भिन्न भी नहीं, अत परम तत्त्व ही जगत् का एकमात्र गुरु है।[1] पूर्ण योग का क्षेमकारक स्वरूप अन्तर में है। जीव स्वय इसका विधायक है। विवेक ही मार्ग-प्रदर्शक और गुरु है।[2] परम पथ-प्रदर्शक और परम गुरु वही अन्तर्यामी है। वही अपनी अचचल प्रभा से जीव (साधक) की आत्मा का प्रकाश जागरित करता है। अपना मुक्त, चिर आनन्दमय, प्रेममय, पूर्ण स्वरूप साधक के समक्ष प्रकट करने में समर्थ है जिसकी व्यापक करुणा के द्वारा अपनी अन्तरात्मा में, समस्त बाह्य प्रकृति मे सर्वत्र, सर्वकाल और समान रूप से सर्वमय परिव्याप्त रहनेवाले उस एक के दर्शन होते हैं। कबीर ने इसीलिए गाया—

"गुरु पारस गुरु परस है, चन्दन वास सुवास।"

सन्त ने सदा कपटी गुरुओ और वचको से सावधान रहने का उपदेश दिया है। अन्ध-विश्वास, जड-परम्परा से ग्रसित सामान्य जीव को लिए सद्गुरु-विवेक सहल अथवा सरल नहीं। उस समय चमत्कार दिखानेवाले सिद्धो, नाथो, कापालिको और शाक्तो का दल चारो ओर घूमा करता था। अशिक्षित जनता इन प्रवचको के कारण वहकाई जा रही थी। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने मत की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न उपायो का अवलम्बन ले रहा था। सद्गुरु का प्रयोग मुख्य रूप में इन वचको से भिन्नता दिखलाने के लिए हुआ है। इस विषम परिस्थिति में सद्गुरु का मिलना असम्भव तो शायद नही, किन्तु कठिन अवश्य था। कुछ लोगो ने गुरु, सद्गुरु और परम गुरु में सासारिक गुरु और परब्रह्म का अन्तर देखा है किन्तु यह भेद वास्तविक नहीं। जो शिष्य को सन्मार्ग पर नहीं लगाता वह असद्गुरु है।[3] विरक्त होकर भी जो लोभ में फँसा रहता है वह विश्वास करने योग्य नहीं।[4] बगुले हस का रूप धारण कर इधर-उधर चलते हैं।[5] वचक गुरुओ के उपदेश से जीवात्मा को स्वरूप-साक्षात्कार नहीं हो सकता।[6] अन्धे का अन्धे से मिलना जैसा इनका मिलन है।[7] ऐसे वचक मीठी वाणी से अपने मायाजाल में लोगो को फँसाते हैं।[8] नग्न घूमने से क्या हुआ, यदि नग्न घूमने से मुक्ति मिलती तो सभी मृग मुक्त ही मुक्त थे। सिर मुँडाने से यदि मुक्ति मिलती तो भेंड मुक्त हो जाती। यदि इन्द्रिय विशेष को वेध कर विंदु-रक्षा द्वारा परम पद की प्राप्ति होती तो खस्सी पहले ही परम पद प्राप्त कर लेता।[9] वचको के साथ असाधुओ, साधु-वेशधारी असतो से बचने का उपदेश सत-काव्य में भरा पड़ा है। तन्त्रवादी शाक्तो से कबीर को अधिक चिढ़

---

१ (क) जहाँ जगत गुरु रहत हैं । —दादू वानी।
(ख) जिन्दा जोगी जगत गुरु, मालिक मुरशिद पीर। —गरीबदास।
(ग) मेरा गुरु अकेला खेलै। —दादू वानी।

२ कहु कबीर सो गुरु पाइआ जाका नाउ विवेक रे। —स० क०, रा० सूही ५, पृ० १५१।

३ बीजक, रमैनी ६६। ४ वही, रमैनी ६७। ५ वही शब्द।

६ वही शब्द ३१—माला मुद्रा भेष किये बहु जग परमोधि पुजावहि।
जहँ ते आये सो सुधि नही, अगरे जन्म गँवावहि।—जग० बा०, पृ० ११२।

७ कबीर वचनावली, पृ० १२१।३२१। ८ क० व०, पृ० १२१।३२३।

९ स० क०, रागु गउडी ४, पृ० ६।

गुरु धोबी की भाँति है, क्योंकि ज्ञान का साबुन लगा कर मन का सारा मैल धो देता है। वह वर्षा के मेघ की तरह है, ऊँच-नीच का विचार छोड़ सर्वत्र समरस बरसता है। गुरु सूर्य का निर्मल प्रकाश है जिसके द्वारा सबका अन्तःकरण प्रकाशित हो उठता है।[1] गुरु भृंग है, शिष्य को भी अपने जैसा बना लेता है। गुरु पारस पत्थर है जिसके स्पर्शमात्र से लोहा (द्रवीभूत नहीं होनेवाला कठोर जड़ हृदय) भी हिरण्य हो जाता है।[3] गुरु चन्दन की मधुर शीतल सुगन्धि है जिसकी सुगन्धि से एरण्ड भी चन्दन हो जाता है।[2]

मध्यकालीन काव्य-धारा गुरु-माहात्म्य से ओत-प्रोत है। जिस सगुण भक्त सम्प्रदाय को विग्रह का कथा-वार्ता का आधार था उसमें भी गुरु की यह महत्ता प्रतिपादित है। उसकी कृपा से ईश्वर के दर्शन होते हैं,[4] जगत् का अन्धकार मिट जाता है[5] और क्षण भर में भव-सागर से उद्धार हो जाता है।[6] सगुण भक्त ने भी ईश्वर को गुरु-रूप में और गुरु को ईश्वर रूप में देखा था।[7] उसके लिए भी गुरु आराध्य से बढ़कर है।[8]

गुरु ब्रह्म से बड़ा है इस कथन को तत्त्ववाद के रूप में नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप में स्वीकार करना चाहिए, कारण गुरु, शिष्य और परब्रह्म का भेद व्यावहारिक ही है, पार

---

१ वही पृ ११।५७-५९।

२ दादू भृंगी कीट ज्यों सतगुर सेती होइ।
आप सरीखे करि लिए, दूजा नाहीं कोइ॥
दादू सुधि-बुधि आतमा सतगुर परसै आइ।
दादू भृंगी कीट ज्यों देखत ही है जाइ॥ —दादू बानी।

३ सतगुर पारस रूप है हमरी लोहा जात।
पलक बीच कंचन करै पलटै पिंडा गात॥ —गरीबदास की बानी।

४ श्री गुरु-पद-नख मनि-गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥
—रा० च० मा०, बा० कां० १।

५ श्री वल्लभ-नख-चंद्र छटा बिनु सब जग माँझि अँधेरो। —सूर सागर।

६ 'सूर' स्याम गुरु ऐसो समरथ छिन में ले उधरै। —सूर सागर।

७ (क) बंदउँ गुरु-पद-कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर॥ —रा० च० मा०।

(ख) "तब कृष्णदास ने कह्यो जो गुसाँईजी ने बहुत [illegible] किये। परि श्री आचार्य जी महाप्रभुन की आज्ञा मान लीनो। तब यह वचन सुनि के सूरदास जी के आगे तो श्री आचार्य जी महाप्रभुन को ही जग [illegible] है। तब स्यामी देखूँ तो स्यामी करूँ" —चौरासी वैष्णवन की वार्ता पृ २८८।

८ [illegible]॥
—रा० च० मा० अयोध्या १११।

जीते जी शून्य से लव लग जाती है।[1] गुरु में अनुभूत ज्ञान होना चाहिये जिससे शिष्य के अन्तर का अन्धकार दूर हो सके।[2] गुरु वासनाओ की अग्नि बुझाने में समर्थ होता है, गुरु के ज्ञानाजन द्वारा वास्तविकता के दर्शनोपयोगी आँखें मिल जाती हैं—अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है।[3] गुरु शब्द के बाण मार ईश्वरानुभूति की ओर उन्मुख कर देता है, जिससे जन्म-जन्म की पीडा छूट जाती है। गुरु वह मुक्ति देता है जिसके द्वारा अ-चिर में चिर नश्वर में शाश्वत, मर में अ-मर और अनेक में एक की अनुभूति होती है।[4] सद्गुरु सच्चा मार्ग-प्रदर्शक होता है।[5] सद्गुरु ने शब्द के तीर चलाए, उसके लगते ही आत्मा विरह-कातर हो चीत्कार कर उठी और मिलनोत्कठा बढ गई।[6] सद्गुरु वह है जिसके मिलने से ज्ञान होता है और गगन से अमृत की धारा चूने लगती है।[7] बिना सतगुरु के कर्णहीन नौका की अवस्था साधक की होती है।[8] सद्गुरु सभी गुणो से सम्पन्न होता है।[9] वह ज्ञान में प्रवेश करा कर ध्यान देता है, जिसके द्वारा प्रेम-भक्ति मिलती है और तृप्ति होती है।[10] सद्गुरु परमौषध है, उसकी कृपा से त्रयताप नष्ट हो जाते हैं। परमात्मा से विच्छिन्न आत्मा अपना लक्ष्य पा लेती है। सद्गुरु शुद्ध चैतन्य है।[11] कबीर कहते हैं—हरि तो हीरा है, हरि जन जौहरी है और ससार

---

१ वही, रागु बिलावलु ११, पृ० १६२।

२ वही, रागु रामकली २, पृ० १७७, आदि ग्रथ, नामदेव, रागु सोरठ १।

३ स० क०, रागु मारु २, पृ० १९०।

४ स० क०, सलोकु २३८, पृ० २६२, आदि ग्रथ, रविदास, आगु आसा २, आ० ग्र०, नामदेव, रागु गोड ४।

५ आदि ग्रथ, वेणी प्रभाती १। ६ स० क० सलोकु १५७, पृ० २७१—तथा

सतगुर मारे सबद सो निरखि निरखि निव ठौर।
राम अकेला रहि गया, चीत न आवै और॥—दादू।

७ उपजै गिआनु दुरमति छीजै, अँम्रित रस गगनतरि भीजै।—आ० ग्र०, वेणी, रामकली १।

८ नाव मिली केवट नही कैसे उतरे पार। कैसे उतरे पार पथिक विश्वास न आवै।
पलटू सतगुर शब्द का तनिक न करै विचार। नाव मिली केवट नही कैसे उतरे पार।
—पलटू बा०, भाग (१), पृ० १।

९ मातृत पितृत शुद्धशुद्धभावो जितेन्द्रिय। सर्वगमाना सरज सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्॥
द्रष्टव्य—परोपकारनिरतो जपपूजातितत्पर।
अमोघवचन शान्तौ वेदवेदार्थपारग॥
योगमार्गानुसन्धायी देवता हृदयगम।
इत्यादि गुणसम्पन्नो गुरुरागमसम्मत॥ —शारदा तिलक, २।१४२-१४४।

१० गिआन प्रवेसु गुरुहि धनु दीआ धिआनु मानु मन एक मए।
प्रेम भगति मानी सुखु जानिआ त्रिपति अघाने मुकति भए॥—आ ग्र धन्ना, रागु आ० १।

११ सुन्दरदास (ज्ञान विलास), गुरुदेव अग १।
द्रष्टव्य—अद्भुत रूप अपार विराजै, सदा रहै भरपूरा।
कहैं गुलाल सोर जन जानै, जाहि मिलै गुरु सूरा॥—गु० बा०, पृ० ३।४।

है अतः उनकी संगति से बचने का बार-बार उपदेश दिया है। साकत की संगति वांछनीय नहीं[1] साकत की अवस्था काली कमरी जैसी है, जो धोने-धुलाने से कभी उजली नहीं हो सकती।[2] साकत की संगति में रहना बेर के समीप केले के रहने के समान है जो अपनी प्रसन्नता और उल्लास में मग्न होकर पास रहने वाले साधुओं को कष्ट देता है।[3] नाना वेशधारी इन सद्पुरुषों और वंचकों का मार्मिक चित्रण दादू की इन पंक्तियों में है—

स्वांग साध बहु अंतरा जेता धरणि अकास।
साधू राता रामसूँ स्वांग जगत की आस॥
स्वांगी सब संसार है साधू कोई एक।
हीरा दूर दिसंतरा कंकर और अनेक॥

—सं बा सं० भा (१) पृ ८७-८८।

सद्गुरु के लक्षण

वंचकों के इस पाखण्डपूर्ण संसार में योग्य गुरु विरले हैं और उन्हें ढूँढ़ निकालना कठिन है। शिष्य को अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है कि कहीं कोई वंचक मायाजाल का विस्तार तो नहीं कर रहा है। जिज्ञासु साधक को उपयुक्त गुरु की पहचान अवश्य रहनी चाहिए। गुरु कैसा होना चाहिए इसकी चर्चा सिद्ध और नाथ-साहित्य में पर्याप्त मिलती है।[4] गोरखबानी के अनुसार जो भरे हैं ज्ञानपूर्ण हैं वे स्थिर गम्भीर होते हैं अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करते। केवल अधकचरे लोग छलछलाते हैं अपना ज्ञान छाँटते और बघारते हैं।[5] जो रहनी रहता है वही वास्तविक गुरु है।[6] जो जप तप करता है संयम को सार वस्तु समझता है, वही योगी है। धर्म का विचार कर व्यवहार करनेवाला योगीश्वर है और साधक को उतना ही ज्ञान देता है जितने का वह अधिकारी है[7]

कबीर के मत से सद्गुरु वह है जिसका सत्संग महा सुखदाई है और जो भटकते हुए मन को विरामपूर्ण सन्तोष देता है।[8] जिसकी कृपा से मन की कल्मषता और चंचलता नष्ट हो जाती है प्रतिबिम्ब बिम्ब में मिल जाता है और भ्रम के सारे बन्धन कट जाते हैं।[9] सद्गुरु सच्चा पथ-प्रदर्शक होता है जिसके द्वारा परब्रह्म में अनुरक्ति बन जाती है और सब कुछ अपने स्वाभाविक रूप में दीख पड़ने लगता है।[10] वह साधक को अपने रंग में रंग देता है और यथार्थ जीवन का आचरण देता है।[11] जागरित गुरु के उपदेश से

---

१ सं क साकोकु ११ पृ २१२।
२ वही सं १ पृ २११।
३ वही सं ८८ पृ २११।
४ हि का धा पृ ८ और १५९।
५ गो० बा पृ ११।१८।
६ वही पृ ८३।२७१।
७ वही पृ ७८।२५३-५४।
८ सं क गुरु परची ७४ पृ ७७।
९ वही रागु आसा १ पृ १।
१० वही रागु आसा ४ पृ १४ आ ग्रं अन्य रागु आसा १।
११ सं क राम कीर्ति ४ पृ १११।

नारी की यह स्थान-च्युति क्योकर हुई, यह समाज-शास्त्र का उपेक्षित विपय है। स्त्रियो, शूद्रो और नामधारी कलियुगी ब्राह्मणो के कानो मे वेद-मन्त्र नही जाना चाहिए, यह भागवत का विधान है।[१]

बौद्ध-काल के पूर्व से ही सामान्य व्यक्तियो की प्रतिष्ठा का प्रयत्न होता रहा और गीता के अनुसार स्त्री, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज भी उत्तम पद के अधिकारी माने गए।[२] नारदीय भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्तो में जाति, विद्या, रूप कुल, धन और क्रियादि का भेद नही।[३] भक्ति में चाण्डाल आदि सभी मनुष्यो का समान अधिकार है।[४] भक्ति से चाण्डाल भी पवित्र हो जाते हैं।[५] अलवारो से आती हुई भक्ति-परम्परा का प्रभाव यहाँ लक्षित होता है, कारण उनमें से अधिकाश नीच कुलोद्भव और शास्त्रीय अर्थों में हीन सस्कार थे। जातक के अनुसार जिस प्रकार प्रयत्नशील व्यक्ति वालू के मार्ग में भी खोद कर पानी निकाल लेते हैं, उसी प्रकार वीर्यवल से युक्त मुनि प्रयत्नशील होकर हृदय की शान्ति प्राप्त कर लेते हैं।[६] इस प्रकार अधिकारि-निर्णय में विभिन्न धाराओ के दर्शन होते हैं—

१ अध्यात्म-विद्या के अधिकारी विरले होते हैं।
२ स्त्री-शूद्र आदि का वेदाध्ययन में अधिकार नही।
३ भक्ति में सबका समानाधिकार है।
४ प्रयत्नशील व्यक्ति हृदय की शान्ति प्राप्त कर सकता है।

सन्त-कवि जाति-कुल और अध्ययन के आधार पर अधिकारि-निर्णय नही करता। उसके अनुसार जाति, कुल, धर्म, व्यवसाय और शास्त्र-ज्ञान से हीन व्यक्ति को केवल भक्ति का ही अधिकार नही बल्कि तत्व-ज्ञान का अधिकार है। जपहीन, तपहीन, कुलहीन, कर्महीन होने पर भी नामदेव को भव-सागर तरने का पूर्ण विश्वास है।[७] नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, साधन, सैन सभी हरिकृपा से तर गए।[८] भगवन्त-भजन से सभी तर जाते हैं।[९] हरि का नाम निर्मल अमृत-जल है और ससार के लिए परमोषधि है।[१०] किन्तु, ससार में माया-मोह परिव्याप्त है, लोग अपना सत्य-स्वरूप नहीं जानते।[११] समस्त ससार में भ्रम का साम्राज्य है।[१२] पोथी-पत्रा में ज्ञान को बँधा हुआ समझने वाले शाक्त, कलह-प्रिय वैष्णव, माया में

---

१ स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा। —भाग० १।४।२५।
२ मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु॰ पापयोनय।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि याति परा गतिम्॥ —गी० ९।३२।
३ नास्ति तेषु जाति विद्यारूपकुलधनक्रियादिभेद। —ना० भ० सू० २।
४ आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्। —शा० सू० ७८।
५ भक्ति पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्। —भाग० ११।१४।२१।
६ जातक (भाग १) वण्णुपथ जातक १।१।२, पृ० १४०।
७ आदि ग्रथ, नामदेव, राग गउडी १।
८ वही, रविदास, राग मारू १।२।
९ वही, रविदास, रागु विलावलु २।१।
१० वही, भीखन, रागु सोरठ १।३।
११ वही, रविदास, रागु सोरठ २।३।
१२ स० क०, रागु सिरी २।४, पृ० २।

की हाट है। सद्गुरु-रूपी पारखी के मिलने पर ही नाम का व्यापार चलता है।[1] सहजोबाई ने गुरुओं के चार प्रकार कहे हैं—१ पारस गुरु २ दीपक गुरु ३ चन्दन गुरु ४ भृंग गुरु।[2] पारस-गुरु वह है जो अपने स्पर्श से कुधातु को सुधातु बना दे किन्तु शिष्य को सत्स्वरूप प्रदान करे किन्तु उसमें पारस बनाने की शक्ति नहीं होती। दीपक-गुरु अज्ञानान्धकार को दूर करता है, देख सकने की क्षमता देता किन्तु शिष्य ग्रहण कर पाता है अथवा नहीं इसका विचार उसके पास नहीं। चन्दन-गुरु सुगन्धि सुगुण और सुयश तो दे पाता है किन्तु अपनी-सी सात्त्विकता नहीं। भृंगी-गुरु अपने शिष्य को अपने-जैसा बना लेता है उसमें और साधक में कोई अन्तर नहीं रह जाता। समर्थ गुरु वही है जो शिष्य को अपनी जैसी सामर्थ्य दे सके।

साधक

अधिकार निर्णय

पारमार्थिक रूप में जीव-जीव की समानता और जीवात्मा ब्रह्म की एकता स्वीकार करनेवाले अध्यात्म-रस की प्राप्ति का अधिकारी नहीं माना है। योग-साधना में भी अधिकार निर्णय महत्त्वपूर्ण माना गया है। भगवान् और गुरु की कृपा भी शुद्ध चित्त पर ही प्रतिफलित होती है जैसे स्वच्छ श्वेत वस्त्र पर ही रंग अपना स्वाभाविक रंग चढ़ा सकता है। परीक्षा द्वारा नचिकेता की योग्यता जान कर ही यम ने तत्त्व-ज्ञान दिया था।[3] दुर्बल व्यक्ति की अध्यात्म-साधना विडम्बना है।[4] अव्यवस्थित चित्तवाले को ज्ञान देना अनुचित है।[5] पण्डित विद्वान् शास्त्र-पारंगत अथवा मेधावी होने से ही अध्यात्म-ज्ञान की योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती।[6] कुछ (बुद्धिमान्) व्यक्तियों ने सत्य ही कहा है कि किन्हीं-किन्हीं आदमियों को पानी से निकालने की अपेक्षा लकड़ी का निकालना अच्छा है।[7]

दूसरी ओर समाज के वर्ग विशेष को अनधिकारी समझने की प्रथा चली आ रही थी। शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार शास्त्रकारों ने नहीं दिया था। पीछे चल कर शूद्रों के साथ स्त्रियों को भी इस अधिकार से वञ्चित होना पड़ा। यज्ञ में समान अधिकार रखनेवाली

---

१ कबीर हरि हीरा जन जौहरी ले के मांडे हाट।
   जब ही पाईयहि पारखू तब हीरन की साट॥ —सं क सलोक १६१ पृ २७२।
२. गुरु हैं चार प्रकार के अपने अपने अंग।
   गुरु पारस दीपक गुरु मलयागिरि गुरु भृंग। —सहज प्रकाश पृ २१६।
३ कठोपनिषद् (शांकर भाष्य) २।१।
४ नायमात्मा बलहीनेन लभ्य —मुण्डक ३।२।४।
५ नाप्रशान्ताय दातव्यम्। —श्वेताश्वतर, ६ २२।
६ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।—कठ (शां भा) १।२।२३।
७ सच्चं किरेवमाहंसु नरा एकच्चिया इध। —जा (प्र त) सच्चंकिर।
   कट्ठं विप्लावितं सेय्यो नत्वेवेकच्चियो नरो। —जातक ७३ पृ ४२१।

पाखण्डी साधक को स्वार्थ-वश मार्ग-भ्रष्ट करने की चेष्टा करते रहते हैं, जिसके कारण भ्रम की सृष्टि होती है ।

जिसमें अध्यात्म-रस की प्रवृत्ति है, उसे ही वह प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नही । स्वभावतया सन्त स्वीकार कर लेता है कि प्राणी दो प्रकार के है, एक जिनकी प्रवृत्ति इस रस की ओर रहती है और दूसरे, जिनकी प्रवृत्ति अन्य दिशाओ में होती है । ऐसा क्यो होता है, इस पर सन्त ने अधिक विचार नही किया है । यद्यपि सुन्दरदास ने दूसरे प्रकार के लोगो का भी सुन्दर वर्णन किया है ।[१] सन्त वार-वार पुकार कर कहता है कि परम तत्त्व एव चैतन्य-रूप गुरु को कृपा और साधु-सगति द्वारा मन के कुसस्कार नष्ट हो जाते हैं किन्तु किसी प्राणी-विशेष पर यह कृपा क्यो होती है, इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता । सगुण भक्ति-धारा में भी इनके महत्त्व का व्यापक वर्णन है । हरि-कृपा का इतना महत्त्व वढा कि वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्ग की प्रतिष्ठा हुई जिसमे श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है[२] और उन्ही के अनुग्रह से पुष्टि-मार्ग साध्य भी ।[३]

परम्पराभुक्त आचार-धर्म को अध्यात्म-रस का साधन सत-मत स्वीकार नही करता । इस विषय में वह किसी प्रकार समझौता नही करना चाहता । उद्धार-कर्ता और उद्धारेच्छु के ऐक्य के कारण उद्धार की प्रेरणा का आन्तरिक स्वरूप उसे मान्य है, अत. साधक में अन्त प्रेरणा, आत्म-स्फूर्ति और अध्यात्म-रस, जिसे उसने "महारस" कहा है, की प्रेरणा आवश्यक है । अन्त -प्रेरणा और आत्म-स्फूर्ति के अभाव में महानन्दमय आनन्द की उपलब्धि, ससार-सागर से उद्धार और भव-पीडा से मुक्ति नही हो सकती । इनका जागरण वह प्रभु की कृपा के कारण समझता है । "निरखने" का चाव[४], आत्म-दर्शन की ज्वलत लालसा साधक के लिए ससार-मार्ग मे प्रकाश को चिरन्तन रेखा है । अन्तर्ज्योति का जगना उसकी साधना है और आत्मस्थ ज्योति ही साधक, जैसी अवस्था में साधक और साधन का एकीकरण हो जाता है और साध्य तो भिन्न है ही नही । "सुखमनी" के अनुसार स्वय उपदेशक है और स्वय समझता है ।[५] हृदय में प्रेम करने की साध[६] (आत्म प्रेरणा) यदि है, तो और कुछ श्रेय अथवा प्रेय नही । हृदय के वास्तविक प्रेम की पहचान द्वारा ही निजी रूप की खोज सम्भव है जिसके द्वारा "महातत्त्व" की प्राप्ति सम्भव होती है ।[७] सन्त की भाषा में इसे ही पुकार और चिनगी कहते हैं । उसका विश्वास है कि ज्ञान, तपस्या, योग, पुण्य-क्षेत्र आदि

---

१ सुन्दर विलास (विपरीत ज्ञान को अग), पृ० ५३ ।

२ कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टि -तत्वदीपनिबन्ध, भागवतार्थ प्रकरण ।

३ अणु भाष्य, ४।४।९ टीका ।

४ "निरखन का मोहि चाव है"—दादू का सबद (का० ना० स०) पृ० ४७ ।

५ आपु उपदेसे समझै आदि—सुखमनी ६, पृ० १०० ।

६ कबीर जउ तुहि साध पिरन की पाके सेती खेल ।—स० क०, सलोकु २४०, पृ० २८३ ।

७ रिदै इखलासु निरख ले मीरा, आपु खोजि खोजि मिले कबीरा ।

—स० क०, रागु भैरउ ७, पृ० २१२ ।

फँसे हुए जीव भोगी, संयम और यति अधिकारी नहीं कारण वे माया-जाल में आबद्ध हैं। सद्गुरु का मिलना ही पर्याप्त नहीं क्योंकि अपात्र शिष्य के लिए उनकी शिक्षा फलवती नहीं हो सकती। हृदय के अज-रागात्मिका वृत्ति से हीन व्यक्ति पर पूरे स्वर से बजाने पर भी बाँसुरी का प्रभाव नहीं पड़ सकता।[1] अन्त:सार-शून्य बम्भी बाँस चन्दन की सुगन्धित वायु के स्पर्श से भी सुगन्धित नहीं हो पाता। इसमें चन्दन का क्या दोष![2] मार्ग में मोती बिखरे पड़े हैं, यदि अन्धा उसका मूल्य नहीं जानता उसके महत्त्व को नहीं समझता तो मोती कर ही क्या सकता है?[3] उपदेश और ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति सबमें समान नहीं होती। मोती का मूल्य बगुला क्या जाने? कोई पारखी हंस ही उसका मोल जानता है।[4] यह समय खोटा है और संसार अन्धा कोई उपदेश नहीं सुनता शब्द का प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ता। हित की बात जिसे सुनाई जाती है, वही शत्रु बन बैठता है।[5] अतः गुप्त मत का रहस्य और भेद सभी पर नहीं प्रकट करना चाहिए। सुपात्र मिलने पर ही अपनी गाँठ खोलनी चाहिए। अपात्र को उपदेश देना किसी अवस्था में उचित नहीं।[6] अकारण ही ईर्ष्या, द्वेष और मत्सर करने वाले तथा दूसरों के ऐश्वर्य पर जलने वाले व्यक्तियों का अभाव इस संसार में नहीं मत्सरी व्यक्ति ज्ञानोपदेश का पात्र नहीं।[7] सद्गुरु के समान सत् शिष्य की प्राप्ति भी कठिन है। शिष्य को सधी हुई मिट्टी के समान होना चाहिए जिसे गुरु मनमाना आकार दे सके। सच्चा शिष्य वही हो सकता है जो जाति छोड़ व्यक्तिगत मान-मर्यादा धर्म कुल और आश्रम का अभिमान त्याग गुरु के चरणों में अपने आप को पूर्णतया समर्पित कर सके। ऐसा शिष्य भी होना दुर्लभ है।[8] सुन्दरदास ने जिज्ञासु ज्ञान-भक्ति-योग के साधक का लक्षण दिया है—

जे गुरुभक्त विरक्त जगत सों हैं जिनके संतन को भाव।
जे जिज्ञासु उदास रहत हैं गिनत न काहू रंक न राव॥
वादविवाद करत नहिं कबहूँ वस्तु जानिबे को अति चाव।
सुन्दर जाकी मति है ऐसी सो पैठैगी महि दरियावैं॥[9]

सन्त का विश्वास है कि अध्यात्म-शक्ति सब में है किन्तु वह संस्कार-विशेष के कारण जड़ीभूत हो जाती है। सांसारिक बन्धन में अतः वह इतना जकड़ जाता है कि अध्यात्म-रस की अपारमिता ज्ञात नहीं हो पाती। साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि संयम और

---

१. सं. क. सलोक १५८ पृ. १७१।
२. वही सलोक १२ पृ. २९। ३. वही सलोक ११४ पृ. २६९।
४. क. ग्रं. ७८।४९।१-२। ५. क. ब. पृ. ११२।११९।
६. पलटू साहब की बानी (३) पृ. ७५।७७।
दरिया (मारवाड़) सं. बा. सं. भाग (१) पृ. १३१।३।
७. पलटू बानी भाग (१) पृ. ८६।२१४।
८. चरनदास की बानी भाग (१) पृ. १२।५३-५४।
९. ज्ञान समुद्र पृ. १४९।८।

करना पडता है। निन्दक जन्म-जन्म नरक में वास करता है।[१] सन्त-निन्दक तेज और प्रताप से हीन होता है, वह अहकारी, विकारी, अपवित्र, अन्त सार-शून्य और भ्रम-चक्र-ग्रसित होता है।[२]

किन्तु अपने परिष्कार और शुद्धि के लिए सन्त ने निन्दक को आवश्यक माना है और उसे वहिर्चक्षु का खोलनेवाला कहा है। गुरु की भाँति निन्दक भी आत्म-शुद्धि में सहायता कर चैतन्य-जागरण में सहायक होता ह। अत भक्तो को निन्दा अति प्यारी है निन्दा ही भक्त की माता है और पिता भी। निन्दा वैकुण्ठ द्वार है। निन्दा से हृदय शुद्ध और पवित्र होता है। स्पर्द्धा के कारण होड लगाकर की गई निन्दा आत्म-सस्कारक है, आत्म-सस्कार का सोपान। निन्दा के कारण विनम्रता आती है। निन्दक स्वय डूब कर सन्त का उद्धार-कर्ता वनता है।[३] निन्दक पलटू साहव का साहव है, गुरु है क्योकि धोवी की भाँति मल-मल कर उसने मल धो-धो कर स्वच्छ कर दिया है।[४] निन्दक को पलटू नित्य प्रणाम करते हैं, कारण उसी के प्रताप से ससार में प्रसिद्धि मिलती है, मन का मैल दूर हो जाता है, स्वभाव निर्मल होकर भक्ति में अनुरक्ति बढती है। ऐसे निन्दको की मृत्यु से वडी हानि होती है।[५] कवीर इसीलिए कहते हैं—निन्दक सदा जोवित रहो, तुम्हे सदा पास रखना उचित है क्योकि पानी साबुन के विना ही स्वभाव निर्मल कर देते हो—

निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
विन पानी सावुन विना निर्मल करै सुभाय॥[६]

जीव-कोटियाँ

जीव और ईश्वर सम्वन्धी प्रभूत मीमासा वेदान्त में मिलती है, सन्त वैसी मीमासा नही करता। अशाशी भाव को भी वह अधिक विवेचना नही करता दीख पडता है। उसने अनुभव किया था कि दीख पडनेवाली सम्पूर्ण अनेकता के अन्तर में चैतन्य ऐक्य-प्रवाह अन्त सलिला की भाँति प्रवहमान है और इसी आत्म-तत्त्व की उपलब्धि उसने की थी, और इसी की अभिव्यक्ति उसने काव्य मे की। जीवात्मा-परमात्मा की एकता सिद्ध होने पर जीव-जीव की समता स्वत सिद्ध हो जाती है। लौकिक जीवन मे यह एकता और समता लक्षित नही होती, वेदान्त ने इस प्रतीति-जन्य विरोध को दूर करने के लिए प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओ का निरूपण किया। सन्त ने जीवन-स्तर में जो विभिन्नताएँ देखी, उनके विभिन्न स्वरूप और कारण थे। जाति-पाँति की भावना, धर्म-सम्प्रदाय विरोध की धारणा, आचार-विचार के विचार, धन-सम्पत्ति और शास्त्र-ज्ञान के आधार पर निर्मित विभेद में आस्था के कारण जीवन मे विच्छिन्नता आ गई थी। जीवन के

---

१ आदि ग्रथ, रविदास, रागु गौड २।२–४।
२ आ० ग्र०, सुखमनी (असटपदी) १–४।
३ स० क०, रागु ग० ७१, पृ० ७४। ४ पलटू साहव की वानी, (भाग २), पृ० ५०।१।
५ पलटू साहव की वानी (भाग २), पृ० ५१–५२।
६ क० व०, पृ० १३९।५३६।

सभी इस एक वस्तु के अभाव में व्यर्थ है। मन्दिर-मसजिद पूजा और नमाज व्रत और रोजा सभी अनुपादेय है। पण्डित और मौलवी शेख और काजी वेद और कुरान सभी इस प्रेरणा के अभाव में अनावश्यक बन्धन है। इसके विपरीत जाति कुल ज्ञान-बल धर्म से हीन एवं त्रुटि-बुराई से परिपूर्ण व्यक्ति भी प्रयोजनीय वस्तु के द्वारा पूजनीय काम कर सकता है। अन्तरात्मा की यह पुकार जब जग जाती है और कुछ अलभ्य नहीं रह जाता। सन्त-मत की यह धारणा है कि यह नाद-पुकार अनाहत चैतन्य नाद-प्रवाह निरन्तर चल रहा है। जीवन के जन-कोलाहल में इसकी पुकार सुनाई नहीं पड़ती इसके सुनते ही हद (ससीम) अनहद (असीम) हो जाता है, सीमा और सीमाहीनता के परे पहुँच जाता है। सन्त ने बार-बार जो अपने को आत्मा के विराट स्वरूप को देखने की चर्चा की है उसके मूल में इस आत्म-प्रेरणा और आन्तरिक स्फूर्ति के जागरित करने की भावना काम करती है। सन्त के लिए अध्यात्म-रस का सच्चा अधिकारी वही है जिसमें अन्तःप्रेरणा और आत्म-स्फूर्ति जागरित रहती है।

निंदक

अन्तःप्रेरणा के जगाने में गुरु की कृपा के साथ ही निन्दकों का आभार भी सन्त स्वीकार करता है। सन्त स्वयं निन्दक होना अपने जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप समझता है किन्तु अन्य निन्दकों को आत्म-संस्कारक समझता है। निन्दकों की कोटि के दो वर्ग सन्त ने माने हैं एक स्वार्थवश निन्दा करनेवाले और दूसरा स्वभावज। शास्त्र-धर्म के पाखण्डियों एवं चमत्कार दिखा कर लोगों का अन्धविश्वास जगानेवाले निन्दकों को कड़ी फटकार और रौंगी फटकार देने में वह कोर-कसर नहीं रखता। धर्माधिकारी काजी मुल्ला पण्डित योगी आदि पर आक्रमण करते समय वाक्-संयम की सीमाओं को वह लाँघ जाता है, क्या यह निन्दा है? डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लक्ष्य किया है कि कबीर दास का पण्डित बहुत अदना आदमी है स्नान और सन्ध्या के सिवा और कुछ नहीं जानता पाठ-पीठ और सम्प्रदाय का मन्त्र उपासक है तीर्थ-स्नान और व्रत-उपवास का दृढ़ समर्थक है, तत्त्वज्ञान हीन आत्म-विचार-विवर्जित विचार-बुद्धिहीन भ्रष्ट गँवार।[1] बनारस के ठगनेवाले सन्तों का जीता-जागता चित्र कबीर ने दिया है।[2] सन्तों ने निन्दा करने के लिए इनकी निन्दा नहीं की है। इनके सत्य-स्वरूप को प्रकट कर सामान्य संस्कारवादी जनता को बचाना चाहा है। यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं रंग अधिक गहरा पड़ गया है। यह निन्दा नहीं विरोध है। कबीर ने स्पष्ट कहा है कि वे लोग कामी क्रोधी लालची लोभी-लालची एवं बेकाम और मायावी हैं जिनका जन्म निन्दा करते व्यतीत होता है।[3] स्वभावजात निन्दकों से आसपास रहने और स्वयं निन्दा करने से बचे रहने के परामर्श सन्त-साहित्य में मिलते हैं। साधु सन्त के निन्दक का उद्धार नहीं हो सकता। निन्दा करने के कारण ही अनेक योनियों में भ्रमण

---

1 कबीर पृ १३२। 2 स ऋ साखी भाग २ पृ ९१।
3 सं ब सा भाग १ पृ १९८।

सन्त-मत में जीव-कोटियो का स्पष्ट कथन नही मिलता, किन्तु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जीवो की दो कोटियाँ हुई —आचरण-शुद्ध और शुद्धाचरण-हीन। स्पष्ट रूप में वद्ध और प्रवुद्ध मुक्त जीवो का उल्लेख अधिक स्पष्ट है। सच्चे साधु-सन्त की गणना मुक्त जीवो में और सासारिक माया-मोह में फँसे जीवो की गणना वद्ध में हुई है। वद्ध जीवो की भी दो कोटियाँ हैं, पहली कोटि में माया-मोह-अहकार-आपा में लिपटा जीव है जिसके उद्धार की सम्भावना भगवत्कृपा और गुरु-महिमा से सम्भव तो है किन्तु सम्भावना कम है और दूसरी कोटि में वह जीव है जिसकी अन्त प्रेरणा जग चुकी है एव जिस पर गुरु-भगवत्कृपा हो चुकी है। दूसरी कोटि के जीव और साधु-सन्त मे कम का ही अन्तर रहता है। दूसरी कोटि के जीव की कसौटी है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरवैरी सव जीव सो, दादू यह मत सार॥
आपा गर्व गुमान तजि, मद मछर हकार।
गहै गरीवी वदगी, सेवा सिरजन हार॥[1]

सासारिक माया-मोह में पडे व्यक्ति को सुन्दरदास ने विपरीत-ज्ञानी कहा है और ऐसे जीवो का विशद् वर्णन भी किया है।[2] अहकार ऐसे जीवो की मूलवृत्ति है, चाहे वह अहकार धन का हो, ज्ञान का हो, जन्म-कुल-मान का हो। सासारिक प्रवाह के आवर्त्त में पडे जीवो का उद्धार सम्भव है और इसी सम्भावना की दृष्टि से जीवो की समानता है किन्तु मुक्ति-मार्ग मे इनमें क्रमगत अन्तर अवश्य है। इस प्रकार अपने स्वरूप-ज्ञान से हीन मोह-माया-वद्ध जीव, गुरु महिमा और भगवत्कृपा से अन्त प्रेरणा प्राप्त जीव एव जीवन्मुक्त जीव ये तीन कोटियाँ हुईं। जीवो का यह अन्तर वास्तविक नही वल्कि लक्ष्य की समीपता के मानदण्ड पर आधारित है। निम्बार्काचार्य के वद्ध और मुक्त जीवो की कल्पना से यह भिन्न एव मध्वाचार्य के मुक्ति-योग्य, नित्य ससारी और तमोयोग्य जीवो की धारणा से भी सन्त-मत का मेल नही। वल्लभाचार्य ने तीन मार्गो का उल्लेख किया है—मर्यादा मार्ग, प्रवाह-मार्ग और पुष्टि मार्ग।[3] सन्त-मत के मार्ग-क्रम से इसमें भिन्नता है। सन्त मर्यादा-मार्ग को स्वीकार नही करता। प्रवाह मार्ग में पडे जीवो में ही मर्यादा-मार्ग की गणना सन्त ने की है। सन्तो का यह जीव-कोटि-विभाजन प्रत्यक्ष अनुभूत और युक्ति-सगत है।

साधन और साधना

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निवोधत। —कठ० १।३।१४।

सन्त के लिए साध्य है सर्वभूतात्मैक्य की प्रतीति-जन्य अनुभूति, जिसके द्वारा वद्ध और ससीम दीख पडनेवाली आत्मा पूर्ण चैतन्य और परम आनन्द की उपलब्धि कर लेती है।

---

१ दादू दयाल की वानी, भाग (१), पृ० २।
२ सुदर विलास, विपरीत ज्ञान को अग, पृ० १३।१-६।
३ शास्त्री चिम्मनलाल हरिशकर कृत जीव-सृष्टि-पुष्टिमार्गीय-देशिका का प० माधव मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद, पृ० १२५।

सामाजिक आधार इन्हीं पर टिके थे। ऐसी अवस्था में इन विभेदों को उच्छिन्न कर व्यक्ति-व्यक्ति की समानता प्रतिपादित करने के लिए अनेक के एकत्व की कल्पना द्वारा समता प्राप्त हुई। दार्शनिक क्षेत्र के अन्तभूत ऐक्य के सिद्धान्त का सामाजिक प्रयोग इन सन्तों ने किया। स्थावर-जंगम चर-अचर कीट-पतंग सभी समान तत्त्वों से निर्मित है। मिट्टी एक है, उससे निर्मित भाण्ड हो भिन्न-भिन्न रूपों के हैं।[१] एक ही प्रकाश से जब संसार की उत्पत्ति हुई तो भला कौन अच्छा और कौन बुरा है?[२] न कोई किसी का पुत्र है न पिता न स्वामी और न दास।[३] ऊँच-नीच की धारणा भ्रम है।[४] घृणित और पवित्र की भावना व्यर्थ है। कुल-जाति का अहंकार विडम्बना है न कोई ब्राह्मण है और न शूद्र। अतः छुआछूत भ्रमजाल है।[५] बकरी घास और अपनी संतान में एक ही प्रभु की धारा है[६] फिर संतान-रक्षा के उद्देश्य से अथवा निर्जीव देवी-देवताओं की प्रसन्नता के लिए सजीवों का बलिदान अनुचित है। हिन्दू मुसल्मान दोनों में जब वही 'एक' है फिर यह दुविधा कहाँ से आई?[९] राजा रंक समान है[१०] निर्धन और धनवान दोनों भाई-भाई हैं।[११]

अभिन्नता का प्रतिपादन करते हुए भी मानवों में उच्चता-नीचता का विचार किया गया है। सन्त के अनुसार उच्चता का विधायक आचरण है, आधार नहीं जिसका आधार शास्त्रीय अथवा पुस्तकीय हो। आचरण के मूल में उन्होंने भाव की प्रधानता मानी है। आचरण की पवित्रता द्वारा नीच कुलोद्भव व्यक्ति भी ब्राह्मण-सी उच्चता प्राप्त कर सकता है। हीन-संस्कार और ज्ञानहीन ब्राह्मण से वह श्रेष्ठ है। आचरण भ्रष्टता के कारण ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति भी श्वपच की तुल्यता प्राप्त करता है।[१२]

---

१ (क) एकहि माटी कुंभर भीटी भाजन है बहु माना रे।
बसथावर जगम कीट पतगम घटि घटि रामु समाना रे॥
—आ ग्रं नामदेव रागु माळी म ३।१।

(ख) कीट पतंग सबै जोनिन में जल थल संगि समाना सोइ।
पीर पैगम्बर देवा दानवा मीर मलिक जन की माँहि॥
—दा बा भाग (२) पृ १९६।१९९।

२ स क रागु बिभास प्रभाती ३ पृ २४४।

३ सं क रा म ३९ पृ ४२।

४ सं बा सं भाग (२) मारी पृ १४७।२।

५ सं क राग गउड़ी ७ पृ ९। ६ वही राग गउड़ी ४१ पृ ४४।

७ सं बा सं भाग (२) पृ ४९।

८ सं क रागु गउड़ी ४५ पृ ४८ 'पाहन की पूजा कर करि आतम घाता —दादू (भाग २) पृ ८३।१९९।

९ स क रागु आसा ८ पृ ९८ 'हिन्दू तुरक मेद कछु नहीं' —दादू बानी (भाग २) पृ २८।६६ और पलटू साहब की बानी (भाग २) म ९३।८१।

१ सं क रागु भैरउ ९ पृ ९७। ११ सं क रा भै ८ पृ २११।

१२ आ ग्रं रविदास रागु सिरामगु २।

सन्त-मत मे जीव-कोटियो का स्पष्ट कथन नही मिलता, किन्तु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जीवो की दो कोटियाँ हुई —आचरण-शुद्ध और शुद्धाचरण-हीन। स्पष्ट रूप मे वद्ध और प्रवुद्ध मुक्त जीवो का उल्लेख अधिक स्पष्ट है। सच्चे साधु-सन्त की गणना मुक्त जीवो में और सासारिक माया-मोह मे फँसे जोवो की गणना वद्ध मे हुई है। वद्ध जीवो की भी दो कोटियाँ है, पहली कोटि में माया-मोह-अहकार-आपा में लिपटा जीव है जिसके उद्धार की सम्भावना भगवत्कृपा और गुरु-महिमा से सम्भव तो है किन्तु सम्भावना कम है और दूसरी कोटि में वह जीव है जिसकी अन्त प्रेरणा जग चुकी है एव जिस पर गुरु-भगवत्कृपा हो चुकी है। दूसरी कोटि के जीव और साधु-सन्त मे कम का ही अन्तर रहता है। दूसरी कोटि के जीव की कसौटी है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरवैरी सव जीव सो, दादू यह मत सार॥
आपा गर्व गुमान तजि, मद मछर हकार।
गहै गरीवी वदगी, सेवा सिरजन हार॥[1]

सासारिक माया-मोह मे पडे व्यक्ति को सुन्दरदास ने विपरीत-ज्ञानी कहा है और ऐसे जीवो का विशद् वर्णन भी किया है।[2] अहकार ऐसे जीवो की मूलवृत्ति है, चाहे वह अहकार धन का हो, ज्ञान का हो, जन्म-कुल-मान का हो। सासारिक प्रवाह के आवर्त्त मे पडे जीवो का उद्धार सम्भव है और इसी सम्भावना की दृष्टि से जीवो की समानता है किन्तु मुक्ति-मार्ग मे इनमें क्रमगत अन्तर अवश्य है। इस प्रकार अपने स्वरूप-ज्ञान से हीन मोह-माया-वद्ध जीव, गुरु महिमा और भगवत्कृपा से अन्त प्रेरणा प्राप्त जीव एव जीवन्मुक्त जीव ये तीन कोटियाँ हुई। जीवो का यह अन्तर वास्तविक नही वल्कि लक्ष्य की समीपता के मानदण्ड पर आधारित है। निम्वार्काचार्य के वद्ध और मुक्त जीवो की कल्पना से यह भिन्न एव मध्वाचार्य के मुक्ति-योग्य, नित्य ससारी और तमोयोग्य जीवो की धारणा से भी सन्त-मत का मेल नही। वल्लभाचार्य ने तीन मार्गो का उल्लेख किया है—मर्यादा मार्ग, प्रवाह-मार्ग और पुष्टि मार्ग।[3] सन्त-मत के मार्ग-क्रम से इसमें भिन्नता है। सन्त मर्यादा-मार्ग को स्वीकार नही करता। प्रवाह मार्ग में पडे जीवो में ही मर्यादा-मार्ग की गणना सन्त ने की है। सन्तो का यह जीव-कोटि-विभाजन प्रत्यक्ष अनुभूत और युक्ति-सगत है।

साधन और साधना

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निवोधत। —कठ० १।३।१४।

सन्त के लिए साध्य है सर्वभूतात्मैक्य की प्रतीति-जन्य अनुभूति, जिसके द्वारा वद्ध और ससीम दीख पडनेवाली आत्मा पूर्ण चैतन्य और परम आनन्द की उपलब्धि कर लेती है।

---

१ दादू दयाल की वानी, भाग (१), पृ० २।

२ सुदर विलास, विपरीत ज्ञान को अग, पृ० १३।१-६।

३ शास्त्री चिम्मनलाल हरिशकर कृत जीव-सृष्टि-पुष्टिमार्गीय-देशिका का प० माधव मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद, पृ० १२५।

परमार्थ—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष उसके लिए काम्य नहीं और वैकुण्ठ को वह बन्धन का कारण मानता है। सिद्धियाँ उसके लिए नगण्य और अर्थ-हीन हैं एवं सांसारिक सुख-भोग मान-सम्मान तुच्छ। उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है जीवन्मुक्ति जो पूर्ण मुक्ति का सोपान है। भारतीय धर्म-साधना में कर्म ज्ञान और भक्ति ईश्वर प्राप्ति के साधन माने गए हैं किन्तु इनमें से केवल एक मोक्षदाता नहीं। कर्ममार्गी को कर्म की पूर्णता के लिए ज्ञान और कर्म-विधान में आस्था चाहिए। उसी प्रकार ज्ञानी कर्म का तिरस्कार नहीं करता और अज्ञानी तो भक्त हो नहीं सकता। मार्ग की विशिष्टता अतः उसके चरम रूप में नहीं बल्कि प्रमुखता के कारण है जहाँ अन्य मार्ग अधीनस्थ और गौण हो जाते हैं।

विभिन्न दर्शनों के आधार पर साधना के विभिन्न रूपों का उन्मेष हुआ ऐसा नहीं कह यह कथन उपयुक्त होगा कि विभिन्न सम्प्रदायों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का स्थिरीकरण किया। सम्प्रदायों के विकास का इतिहास इसका साक्षी है। आचार्यों और उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के आचार में जो अन्तर दीख पड़ता है, उसका मूल कारण यही है। साम्प्रदायिक आचार परम्परा का पालन है जिसका निर्माण किसी अन्य प्राचीन सम्प्रदाय के भग्नावशेष पर होता है। बौद्धों के विकृत सम्प्रदाय की नींव पर ही बैरागियों और गुसाइयों के सम्प्रदाय की व्यवस्था हुई उनका अद्वैतीकरण आचार्य शंकर ने किया और फलस्वरूप उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध तक कहा गया। आचार्य शंकर ने उत्तर वैदिक-परम्परा की रक्षा का प्रयास अपने भाष्यों के दार्शनिक आधार और संन्यासियों के नवीन संगठन द्वारा किया। इस संगठन के मूल में बौद्ध धर्म और अन्य प्राचीन साधनाओं के अवशिष्ट हैं। ज्ञानमार्गी साधनाओं की विवेचना द्वारा इनकी भिन्नता देखी जा सकती है। तत्त्व-ज्ञान के स्वरूप में अन्तर है अतः ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में अन्तर होगा। न्याय-वैशेषिक के अनुसार दुःख का कारण मिथ्या ज्ञान है। ज्ञान के विषय और मार्ग का तात्त्विक ज्ञान अतः अपेक्षित है। ज्ञान के विषयों में आत्मा प्रधान है। आत्म-स्वरूप का चिन्तन मुख्य साधना है। सांख्य पुरुष और प्रकृति को अनादि तत्त्व स्वीकार करता है और अविवेक द्वारा दोनों को सम्बद्ध। प्रकृति ही बन्धन का कारण है। प्रकृति से भिन्न आत्म-स्वरूप के ज्ञान द्वारा पुरुष-प्रकृति के अविवेक-सम्बन्ध को छिन्न करना ही मोक्ष है। कर्मवादी पूर्वमीमांसा के अनुसार शास्त्रगत विधि-निषेध का पालन ही आवश्यक है। भक्ति ईश्वर की पूजा-आराधना को ही परम साधन मानती है। गीता में समन्वय की चेष्टा देखी जाती है, यद्यपि यहाँ कर्मवाद को नवीन संस्कार प्राप्त हुआ। आचरण की पवित्रता सम्यक् और आर्यसत्यों के ज्ञान निर्वाण के लिए आवश्यक है। तप-नियम-ज्ञानरूप वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान् भव्यजनों के हित के लिए ज्ञान-कुसुम की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलते हैं और प्रवचन माला गूँथते हैं। भद्रबाहु के इस कथन में जैन-साधना के मूलभूत तप-नियम और ज्ञान हैं। ज्ञेय-स्वरूप और ज्ञान की मीमांसा के साथ आचार-मीमांसा जैन-साधना में स्वीकृत है। यहाँ यह कथन अनुपयुक्त नहीं होगा कि इन विभिन्न सम्प्रदायों के आचार विचार एक-दूसरे से प्रभावित होते और प्रभावित करते थे। हिन्दू धर्म की निश्चित एक धारणा नहीं होने के कारण संगठित मतवादी सम्प्रदाय वह किसी समय में न था। सन्त-मत की साधना को समझने के लिए इन साधनाओं का ज्ञान अपेक्षित है।

सन्त ने अपने निर्दिष्ट लक्ष्य को स्पष्टतया समझ लेने के बाद उसके साधन और साधना पर विचार किया है, प्रत्येक प्रचलित आचार और साधना पर विचार कर अपना मत स्थिर किया है एव इस क्रम में स्वभावतया कुछ की स्वीकृति और कुछ का त्याग हो गया है। विधि-निषेध, वेद, मूर्ति-पूजा आदि के प्रत्याख्यान के लिए मुसलमानी प्रभाव विचारको ने देखा है। इनकी विवेचना यहाँ अपेक्षित है।

आचार, धर्मानुष्ठान और साधना की विभिन्न प्रणालियो पर विचार करते समय लक्ष्य की ओर सदा ध्यान रखना पडेगा एव यह विवेचन करना पडेगा कि लक्ष्य-सिद्धि और उद्देश्य-पूर्ति में ये किस सीमा तक सहायक हैं। जिन लोगो ने कबीर आदि सन्तो को वेद-शास्त्र का निन्दक, इनके ज्ञान से शून्य और सगति द्वारा उच्छिष्ट ज्ञान के आधार पर तत्त्वज्ञान बघारने-वाला सिद्धान्त-निरूपण माना है, उन लोगो ने इस विषय की ओर ध्यान नही दिया है। सन्तो के सामने प्रश्न था, क्या वेद-शास्त्र मुक्ति-साधना के अन्यतम साधन हैं ? किसी विचार-धारा की परम्परा होती है, जिसकी स्फूर्ति तत्कालीन कारणो से अभिव्यक्त हो पाती है। कबीरदास के समय में जो अवस्था थी उसके अनुसार मध्यदेश का पूर्वी भाग और भारत के पूर्वी भागो में नाना प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थी। मुनि, पीर, दिगम्बर, सन्यासी, जोगी, जगम, सेवडा, ब्राह्मण, साधु, सन्यासी, यती और तपी थे। सामान्य रूप में उच्च वर्ग पौराणिक धर्मानुयायी था और निम्न वर्ग भूत-पूजा, ग्रामदेवोपासना, वृक्ष-सर्प-पूजा में लगा अन्धविश्वासी और जतर-मतर में आस्था रखनेवाला था, जिनमें आर्येतर और आर्य तत्त्वो का मिश्रण हो गया था। ऐसी जनता साधारण रूप मे अशिक्षित, वेद-शास्त्र-पुराण-ज्ञान से हीन और हीन सस्कार थी। पौराणिक मत के अनुसार इनके लिए मोक्ष का द्वार अवरुद्ध था। इस अवस्था के अनुक्रम में परम्परा का अध्ययन करना होगा।

वेद-विरोध की परम्परा कबीरदास से बहुत प्राचीन है। बौद्ध धर्म में कर्म-काड प्रधान, आचार-निष्ठ, हिंसापूर्ण यज्ञ-क्रियानुष्ठान का स्पष्ट विरोध है। जैनागमो में हिंसा का तीव्र विरोध है। बौद्ध धर्म का नवीन अभियान इसे समृद्ध बनाने मे समर्थ हुआ। जातक के अनुसार तीन कुल सम्पत्तियाँ और छ कामावचार स्वर्ग (चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माण, रति तथा परनिर्मित वश-वर्ति) और ब्रह्मलोक सम्पत्तियाँ अर्हत् पद से निकृष्ट हैं।[1] एव ऐसे अर्हत् पद की प्राप्ति के निमित्त शास्त्र-ज्ञान नही, सदाचार की अपेक्षा है। उपनिषदो और गीता में वेद के कर्म-काड-विधान का विरोध प्राप्त है। गीता मे कृष्ण का कथन है—हे अर्जुन! सभी वेद त्रैगुण्य का विषय प्रतिपादन करनेवाले है, इसलिए तू उन भोगो एव उनके साधनो में आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वो से रहित, नित्य-वस्तु परमात्मा मे स्थित, योग-क्षेम को न चाहनेवाला और आत्मनिष्ठ हो। चारो ओर पानी हो जाने पर (अर्थात् पानी सुलभ हो जाने पर) कुएँ की जितनी उपयोगिता रहती है उतनी ही अपेक्षा ब्रह्म-ज्ञानी को वेदो की रहती है।[2] गीता में अर्जुन की मति को 'श्रुति विप्रतिपन्ना' अर्थात् नानाप्रकार के वेद-

---

१ जातक, भाग (१), अपण्णक जातक १ १ १ , पृ० १३६।

२ त्रैगुण्यविषयो वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

वाक्यों से भरमाई हुई कहा गया है।[1] गीता के अनुसार वेद-विहित कर्म करनेवाले इन्द्र के पुण्य-लोक में पहुँच कर पुण्य क्षय होने पर मृत्यु-लोक में जन्म लेते हैं।[2] इस सम्बन्ध में स्मरण रखने योग्य है कि कृष्ण ने इन्द्र की पूजा के स्थान में गोवर्धन-पूजा का प्रचलन किया था। मुण्डक के अनुसार ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष यह अपरा विद्या है और जिससे परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या।[3] मुण्डक और कठोपनिषद् में इस प्रकार के स्वर स्पष्ट हैं।[4]

सिद्ध-नाथ-परम्परा में वेद-विरोध और तत्त्व ज्ञान में वेद-शास्त्र की अक्षमता के पुष्ट प्रमाण हैं। इस विरोध ने वो स्वरूप लिया है। वेद-शास्त्र का भेद कोई नहीं जानता और तत्त्व-ज्ञान के लिए वेदों का ज्ञान व्यर्थ है। सरहपा की रचनाओं में तन्त्र-मन्त्र को विभ्रम का कारण कहा गया है।[5] चारों वेद पढ़ कर भी ब्राह्मण भेद नहीं जानता कुश-पानी लेकर मग्न पड़ता है और होम कर आँखों को कड़वा करता है।[6] कण्हपा ने पण्डित-पण्डित की निन्दा की है। पवन दीपक के भीतर का मूढ़ा ऊपर के मढ़े आवरण के कारण नहीं दीख पड़ता पण्डित आगम-वेद-पुराण का मर्म नहीं समझता।[7] परब्रह्म का निर्वचन न तो वेदों में है और न अन्य धार्मिक पुस्तकों में। ये पुस्तकें तो उसके आच्छादन हैं उन्होंने सत्य को प्रकाशित करने के बदले उस पर भ्रम का आवरण डाल रखा है।[8] ब्रह्म-पद का वर्णन वेद शास्त्र धर्म-पुस्तकों में नहीं है।[9] ब्राह्मण छोड़ तत्त्वज्ञान पर ध्यान देना चाहिए।[10] काजी और मुल्ला ने कुरान पढ़ी ब्राह्मणों ने वेद पढ़े तथा कापड़ी और संन्यासियों ने तीर्थों के भ्रम में डाल रखा है पर इनमें से किसी ने निर्वाण-पद का भेद नहीं पाया।[11] गोरख-बोध के अनुसार सैकड़ों तर्क-व्याकरणादि ग्रंथों से बद्ध होकर ये ज्ञान-मूढ़ लोग शास्त्रों के जाल में बुरी तरह फँस गए हैं। जिस अनिर्वाच्य पद को देवता भी नहीं बता सकते उसे ये शास्त्र क्या बताएँगे।[12] गोरख सिद्धान्त-संग्रह का कथन है— सभी सम्प्रदाय कहते हैं कि ग्रंथ हजारों की संख्या में हैं। मैं कहता हूँ कि यदि मेरी बात मानो तो सभी को कुएँ में फेंक दो। भला जो लोग आधुनिक समय में मुक्त नहीं हो सके वे दूसरों को मुक्ति का उपदेश दे सकते हैं, यह कैसे मान लिया जाय? जो व्यक्ति लोगों को भ्रम में डाल देने के लिए या अभिमान वश या जीविका के लिए या व्यापार के लिए या अन्य किसी अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिए ग्रंथ लिखा करता

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ —गीता २।४५, ४६।

१ गीता २।५३। २ वही ।९ २१।

३ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। —मुण्डक १।५।

४ मुण्डक (१ २ ७ और १) कठ (२।३।१८)।

५ हि० का० धा० पृ० ९।४। ६ हि० का० धा० पृ० ७।२।

७ हि० का० धा० पृ० १४६।१। ८ गोरख बानी २।४।

९ गोरख बानी ३।६। १० गो० बा० पृ० ५।११।

११ गो० बा० प० ३३। ६। १२ द्विवेदी द्वारा कबीर के ३५वें पृष्ठ पर उद्धृत।

है, वह धर्मार्थी पुरुषो के आगे कैसे शोभनीय हो सकता है।"[1] दसवी शताब्दि मे रामसिंह ने पण्डितो को अर्थ और ग्रथ में तुष्ट, किन्तु परमार्थ-ज्ञान से हीन देखा था और कहा था कि षड्दर्शन के पढने पर भी उनके मन की भ्रान्ति नही जा पाई थी।[2] जिन दत्त सूरी (११वी सदी) के अनुसार पढने-गुननेवाले तो हैं किन्तु वे परमार्थ तत्त्व को नही जानते।[3]

सन्त-मत के पूर्व एक ओर तो भाष्य और टीकाओ के द्वारा साम्प्रदायिक मतवाद को दार्शनिक आधार देने की चेष्टा हो रही थी और दूसरी ओर शास्त्रो, वेदो और पुराणो का प्रत्याख्यान किया जा रहा था। नए भाष्यो और टीकाओ द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा था कि भाष्यकार विशेष के अतिरिक्त अन्य विचारक इनका तत्त्वार्थ नही जानते। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि मुस्लिम धर्म भी प्रकटीकृत पुस्तकीय धर्म का विश्वासी है, और उस सम्प्रदाय में वेद जैसी-ही प्रतिष्ठा कुरान की है। उस समय हिन्दू-समाज पौराणिक हो चुका था और नव-प्रवर्तित मुस्लिम सम्प्रदाय में कट्टरता और स्फूर्ति थी। इस विवेचन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्कालीन समाज के वर्ग-विशेष मे पौराणिक आचार की प्रधानता थी और भिन्न सम्प्रदायो की मान्यताओ के अनुसार वेद-शास्त्र-पुराण (पुरान और कुरान, वेद और कितेब की तुक द्रष्टव्य है) ब्रह्म-प्राप्ति मे अक्षम है अत इनके द्वारा प्रचारित आचार व्यर्थ और निरर्थक एव इनके वास्तविक अर्थ को पण्डित, काजी, मुल्ला आदि नही समझते।

सन्त-मत इस परम्परा को स्वीकार कर कहता है कि मूर्ख मनुष्य तू ने पुराण सुन कर क्या किया ?[4] वेद-पुराण की गति उस परब्रह्म तक नही।[5] स्मृति वेद की पुत्री है, स्मृतियो ने बन्धन के लिए जजीरें तैयार की हैं।[6] इन बन्धनकारियो के पठन-पाठन द्वारा उद्धार सम्भव नही।[7] व्यर्थ ही वेद पढ-पढकर जीवन खोना है, कारण वेदाध्ययन द्वारा किसी ने अनन्त का पार नही पाया।[8] जब ब्रह्मा ने ही ब्रह्म का पार नही पाया तब ब्रह्मा के मुख से उच्चरित होनेवाले वेद की क्या हस्ती है ? भला ब्रह्मा बडा है अथवा उसकी कृति वेद ? वेद-पुराण अथवा कुरान पढ़ना मन-बहलाव का साधन मात्र है। इनसे वास्तविक ज्ञान सम्भव

---

१ वही, १८।

२ पडिय पडिय पडिया, कणु छडवि तुस कडिया।
अत्थे गथे तुट्ठोमि, परमत्थुण जाणहिं मूढोसि॥ –हि० का० धा०, पृ० २५६।८५।
छह दसण धधइ पडिय, मणह ण फिट्टिय मति।
एक्ककु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खह जाति॥ –हि का धा , पृ० २५६।११६।

३ बहुय लोय लु चियसिर दीसहिं। पर रागद्दोसहिं सहुँ विलसहिं।
पढहि गुणहिं सत्थइ वक्खाणहि। परि परिमत्थु तित्थु तित्थु सु न जाणहि॥
—हि० का० धा०, पृ० ३५६।७।

४ आ० ग्र, परमानद, रागु सारग १। ५ आ० ग्र०, रामानद।

६ स० क०, रागु गउडी ३०।१, पृ० ३२ और बी० रमैनी ३३।

७ स० क०, रागु आसा ५, पृ० ९५। ८ स० क०, रागु आसा १०।१, पृ० १००।

नहीं ।[१] वेद पढ़ कर पण्डित व्यर्थ कर्म के भ्रम में बँध गये ।[२] पण्डित महाराज की गायत्री किसी गँवार का खेत चरने गई । उसने डंडे से उसकी टाँग तोड़ दी और वह बेचारी (तीन पैरों से) लँगड़ा कर चलती है ।[३] भला ऐसी लँगड़ाती गाय किस प्रकार काम आ सकती है? जो स्वयं लँगड़ा कर चलती है वह दूसरों का उद्धार कैसे कर सकती है ? सैयद शेख किताब घसटते हैं पण्डित शास्त्र पर विचार करता है ।[४] इन लोगों ने भ्रम-जाल फैला रखा है ।[५] हिन्दू अन्धे हैं और तुर्क काने । इनमें से किसी को तत्त्व-ज्ञान नहीं है । ये लोग ज्ञान से दूर हैं ।[६] कर्माकर्म के विचार में वेद-पुराण संशय उत्पन्न कर देते हैं । अन्तर का अभिमान नष्ट नहीं होता ।[७] इनसे बल्कि अहंकार और अधिक बढ़ जाता है । फिर इनसे आशा कैसी ? वेद के भरोसे रहनेवाला डूब मरेगा ।[८]

वेद-पुराण झूठे नहीं और न उनके कथन ही झूठे हैं । वस्तुतः लोग उनका वास्तविक अर्थ नहीं जानते । जो अर्थ जानते भी हैं, वे विचार नहीं करते । वेद-पुराण को झूठा क्यों कहते हो ? झूठा वह है जो उसके तात्त्विक अर्थ पर विचार नहीं करता ।[९] ज्ञान-चौंतीसा के आधार पर सूक्ष्म और स्थूल वेद के भेद की कल्पना की गई है । ओंकार की प्रतिष्ठा बाद में चल कर हुई होगी । ओंकार सतिनाम की महिमा स्वीकार करनेवाले सिक्ख पंथ के आदि

---

१ सं० क० राग गउड़ी २४।२ पृ ४५ और राग आसा ८।१ पृ ९८ ।
२ सं क राग सोरठि १।१ पृ ११२ ।
३ पांडे तुमरी गायत्री लोधे का खेतु खाती थी ।
लै करि ठेगा टगरी तोरी लांगत लांगत जाती थी ॥
—आ ग्रं नामदेव राग बिलावल गोंड ७।१ ।
४ बीजक शब्द ९ ।४ ।
५ बीजक शब्द ७५।१ ।
तुलना— धर्म ते रहित परि के बहु भांति पन्थ को न जान्यो । हिन्दू-मुसलमान दोऊ बिगरि गये हिन्दू वेद को रहस्य न जानि मन बनाय लेते भए और मुसलमान किताब की राह भी न जानि मन दूसरो दीन को गढ़ा करत भए ।
—श्री विश्वनाथ सिंह की टीका पृ ३५८ ।
६ आ ग्रं नामदेव राग बिलावल गोंड ७।४ ।
७ आ ग्रं रविदास राग गउड़ी ३।२ ।
तुलना—तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
—म भा (वनपर्व) ३१३।११५ ।
८ तूं ब्राहमनु मै कासीक जुलहा मुहि तोहि बराबरी कैसे कै बनहि ।
हमरे राम नाम कहि उबरे बेद भरोसे पांडे डूबि मरहि ॥
—सं क रागु रामकली ५।१ पृ १८ ।
९ सं क रागु बिलावल बावनी ४ पृ ३५ ।

ग्रथ में सुरक्षित कबीर के पदो में ओंकार की महत्ता प्रतिपादित नही दीख पडती, अत इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'प्रणव'-सम्बन्धी रचनाएँ पीछे चल कर कबीर के नाम पर जुड गईं अथवा आदि ग्रथ-सकलन के समय तक कबीर के ऐसे पद प्रसिद्ध न हो सके थे।

कबीर के अनुसार ग्रथो के थोडे अध्ययन से ही अध्येता मे अहकार-बुद्धि जग जाती है अत वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही कर पाता। दूसरी ओर मूर्ख पण्डित बन कर वेद का झूठा 'बखान' करते हैं।[1] अत वेदो के वास्तविक तात्पर्य और तात्त्विक ज्ञान तक किसी की पहुँच नही हो पाती। ये ज्ञान-मूढ भारवाही गर्दभ हैं, चन्दन ढोनेवाला गर्दभ चन्दन की सुगन्धि से तृप्ति लाभ नही कर सकता, उसी प्रकार आत्म-प्रकाश-तत्त्व से हीन वेद-पुराण के पण्डित पोथियो का भार वहन करते हैं।[2] पोथी पढ-पढ कर ससार मर गया किन्तु कोई पण्डित नही हो सका। प्रियतम तक पहुँचाने वाले एक अक्षर का पढनेवाला ही पण्डित है।[3] रमैया राम जब आवेंगे उनकी प्रीति-धारा जब उमडेगी, शरीर ही वेदी बनेगा और ब्रह्मा वेदोच्चार करेंगे। भाव-ज्ञान के प्रकाश में वेदो का वास्तविक महत्त्व प्रकट होगा।[4] अत माया के कारण विद्या बेचनेवालो का जन्म वृथा है।[5] पण्डित और मुल्ला समझते नही, यही तो कठिनाई है।[6] कबीर इसीलिए कहते हैं—

> बामनु गुरु है जगत का, भगतन का गुरु नाहि।
> उरझि-उरझि कै पचि मूआ, चारउ वेदहु माहि॥[7]

पूजा-पाठ आदि की व्यर्थता

हमने देखा है कि सन्त के अनुसार वेद-स्मृति-शास्त्र, पुराण और कुरान परम-तत्त्व से परिचय कराने में असमर्थ हैं, अथवा पण्डित-पुरोहित, मुल्ला और मौलवी इनका अर्थ नही

---

१ आ० ग्र०, नामदेव, टोडी १।२।

२ क० ग्र०, पद ३९ और स० क०, राग मारु १।१, पृ० १८९।

३ क० ग्र०, १९।४, पृ० ३९।

४ दुलहनी गावहु मगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार॥
× × ×
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव सगि भाँवरि लैहूँ, धनि धनि भाग हमार॥ —क० ग्र०, पद १, पृ० ८७।

५ स० क०, रा० मारु १।३, पृ० १८९। ६ स० क०, रा० भैरउ ११, पृ० २१७।

७ सं० क०, सलोकु २३७, पृ० २८२।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'बामनु' का अर्थ 'वह मन' किया है। 'वा मनु' ऐसा पाठ रहने से यह अर्थ उपयुक्त होता। वहमनु, ब्राह्मन होना अस्वाभाविक नही। ब्राह्मणु (रागु गउडी ७), बामन (गउडी ७) और बाम्हनु (रागु आसा १६) जैसे पाठ सत कबीर में ही मिलते हैं अत 'बामनु' का अर्थ ब्राह्मण ही उपयुक्त जँचता है। पाठ-सस्कार के लिए द्रष्टव्य—ब्राह्मण गुरु जगत का साधू का गुरु नाहि। —क० ग्र०, पृ० ३६।३५६।

नहीं ।[१] वेद पढ़ कर पण्डित व्यर्थ कर्म के भ्रम में बँध गये ।[२] पण्डित महाराज की गायत्री किसी प्रकार का खेत चर गई । उसने डंडे से उसकी टाँग तोड़ दी और वह बेचारी (तीन पैरों से) लँगड़ा कर चलती है ।[३] भला ऐसी लँगड़ाती गाय किस प्रकार काम आ सकती है? जो स्वयं लँगड़ा कर चलती है, वह दूसरों का उद्धार कैसे कर सकती है? सैयद शेख किताब पढ़ते हैं पण्डित शास्त्र पर विचार करता है [४] इन लोगों ने भ्रम-जाल फैला रखा है ।[५] हिन्दू अन्धे हैं और तुर्क काने इनमें से किसी को तत्त्व-ज्ञान नहीं है । ये लोग ज्ञान से दूर हैं ।[६] कर्मकाण्ड के विचार में वेद-पुराण संशय उत्पन्न कर देते हैं अन्तर का अभिमान नष्ट नहीं होता ।[७] इनसे बल्कि अहंकार और अधिक बढ़ जाता है । फिर इनसे आशा कैसी? पर के भरोसे रहनेवाला डूब मरेगा ।[८]

वेद-पुराण झूठे नहीं और न उनके कथन ही झूठ हैं वस्तुतः लोग उनका वास्तविक अर्थ नहीं जानते । जो अर्थ जानते भी हैं वे विचार नहीं करते । वेद-पुराण को झूठा क्यों कहते हो झूठा वह है जो उनके तात्त्विक अर्थ पर विचार नहीं करता ।[९] ज्ञान-कौतीमा के आधार पर सूक्ष्म और स्थूल वद के भेद की कल्पना की गई है । ओंकार की प्रतिष्ठा यहाँ से चल कर हुई होगी । ओंकार मन्त्रिमार्ग की महिमा स्वीकार करनेवाले सिक्ख धर्म के आदि

---

१ सं क राग गउड़ी २४।२ पृ ४५ और राग आसा ८।१ पृ ९८ ।

२ सं क राग गोरख ३।१ पृ० ११२ ।

३ पांडे तुम्हरी गायत्री लोधे का खेत खाती थी ।
ले करि ठेगा टगरी तोरी लांगत लांगत जाती थी ॥
—आ ग्रं नामदेव राग बिलावल गोंड ७।१ ।

४ बीजक शब्द ६ ।४ ।

५ बीजक शब्द ७५।१ ।
स्पष्ट— मन ते दुविधा नहिं कै यह सार पदारथ को न जान्यो । हिन्दू-मुसलमान दोउ बिसरि गये हिन्दू वेद की राह तें नाना मत बनाय कै भए और मुसलमान किताब की राह में कै नाना मत दूसरो दीन को झगड़ा करत भए ।
—श्री विश्वनाथ सिंह की टीका पृ १५० ।

६ आ ग्रं नामदेव राग बिलावल गोंड ७।४ ।

७ आ ग्रं रविदास राग गउड़ी ३।२ ।
तुलना—नानोपनिषद् पुराणी विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था ॥
—म भा (वनपर्व) ३१३।११७ ।

८ दूजे भरम में कारे पर वस्तुन मांहि भीति अंतरगति धोखे ते जाहि ।
हरि राम नाम न ...... उनके देव न भेटे भाई संत जाहि ॥
—सं क राग रामकली १।१ पृ १८ ।

९ सं क राग बिलावल दशाएँ ४ पृ ५ ।

ग्रथ में सुरक्षित कबीर के पदो में ओकार की महत्ता प्रतिपादित नही दीख पडती, अत इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'प्रणव'-सम्बन्धी रचनाएँ पीछे चल कर कबीर के नाम पर जुड गई अथवा आदि ग्रथ-सकलन के समय तक कबीर के ऐसे पद प्रसिद्ध न हो सके थे। कबीर के अनुसार ग्रथो के थोडे अध्ययन से ही अध्येता मे अहकार-बुद्धि जग जाती है अत वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही कर पाता। दूसरी ओर मूर्ख पण्डित बन कर वेद का झूठा 'बखान' करते हैं।[1] अत वेदों के वास्तविक तात्पर्य और तात्त्विक ज्ञान तक किसी की पहुँच नही हो पाती। ये ज्ञान-मूढ भारवाही गर्दभ है, चन्दन ढोनेवाला गर्दभ चन्दन की सुगन्धि से तृप्ति लाभ नही कर सकता, उसी प्रकार आत्म-प्रकाश-तत्त्व से हीन वेद-पुराण के पण्डित पोथियो का भार वहन करते है।[2] पोथी पढ-पढ कर ससार मर गया किन्तु कोई पण्डित नही हो सका। प्रियतम तक पहुँचाने वाले एक अक्षर का पढनेवाला ही पण्डित है।[3] रमैया राम जब आवेंगे उनकी प्रीति-धारा जब उमडेगी, शरीर ही वेदी बनेगा और ब्रह्मा वेदोच्चार करेंगे। भाव-ज्ञान के प्रकाश में वेदो का वास्तविक महत्त्व प्रकट होगा।[4] अत माया के कारण विद्या बेचनेवालो का जन्म वृथा है।[5] पण्डित और मुल्ला समझते नही, यही तो कठिनाई हैं।[6] कबीर इसीलिए कहते हैं—

बामनु गुरु है जगत का, भगतन का गुरु नाहि।
उरझि-उरझि कै पचि मूआ, चारउ वेदहु माहि॥[7]

पूजा-पाठ आदि की व्यर्थता

हमने देखा है कि सन्त के अनुसार वेद-स्मृति-शास्त्र, पुराण और कुरान परम-तत्त्व से परिचय कराने मे असमर्थ हैं, अथवा पण्डित-पुरोहित, मुल्ला और मौलवी इनका अर्थ नही

---

१ आ० ग्र०, नामदेव, टोडी १।२।

२ क० ग्र०, पद ३९ और स० क०, राग मारु ११, पृ० १८९।

३ क० ग्र०, १९।४, पृ० ३९।

४ दुलहनी गावहु मगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार॥
× × ×
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव सगि भाँवरि लैहूँ, धनि धनि भाग हमार॥ —क० ग्र०, पद १, पृ० ८७।

५ स० क०, रा० मारु १।३, पृ० १८९। ६ स० क०, रा० भैरउ ११, पृ० २१७।

७ स० क०, सलोकु २३७, पृ० २८२।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'बामनु' का अर्थ 'वह मन' किया है। 'वा मनु' ऐसा पाठ रहने से यह अर्थ उपयुक्त होता। बहमनु, ब्राह्मन होना अस्वाभाविक नही। ब्राह्मणु (रागु गउडी ७), बामन (गउडी ७) और बाम्हनु (रागु आसा १६) जैसे पाठ सत कबीर में ही मिलते हैं अत 'बामनु' का अर्थ ब्राह्मण ही उपयुक्त जँचता है। पाठ-सस्कार के लिए द्रष्टव्य—ब्राह्मण गुरु जगत का साधू का गुरु नाहि। —क० ग्र०, पृ० ३६।३५६।

जानते या स्वार्थवश जीविकोपार्जन के लिए इनका वास्तविक तात्पर्य प्रकाश में न ला अनेक प्रकार का भ्रम खड़ा करते हैं। जब इनकी उपादेयता ही संदिग्ध हो गई तो इनके आधार पर खड़े किए गए आचार, साधना, उपासना और पूजा-पाठ का महत्त्व ही क्या रह जाता है? सन्त-कवि का लक्ष्य है, परम-तत्त्व की अखण्डित अनुभूति, जो उस अनुभूति में सहायक नहीं अथवा बाधक है उसका कुछ महत्त्व नहीं।[1] पण्डितों के पूजा-पाठ, साकारोपासना का भले ही शास्त्रीय आधार हो, उससे सन्त-कवि का कोई भी झगड़ा नहीं, किन्तु उसने स्पष्ट रूप से लक्षित किया था कि साधारणतया लोग इनके तत्त्ववाद से परिचित नहीं और उसके अनुसार तत्त्ववाद ज्ञान से हीन आचरण वितण्डावाद है, विडम्बना है, आत्म-प्रवंचना है। जनता अन्ध-विश्वास में पड़ी है और पण्डित-मुल्ला उस अन्धविश्वास का लाभ उठा रहे हैं। सन्तों का विरोध तत्त्ववाद से न होकर बाह्य क्रियाचार से था। सन्त-कवि ने लक्ष्य किया था कि लोग बीठला की पूजा कर रहे हैं, महामाई की आराधना करते हैं और डमरू बजा कर शिव की उपासना कर रहे हैं।[2] प्रयाग में स्नान करते हैं, तुलादान करते हैं। बनारस में काशि पर वास करते हैं, गया में पिण्ड-दान करते हैं।[3] धूप-दीप से आरती तथा पूजा-वंदन करते हैं।[4] एक ही पत्थर है जिसकी पूजा की जाती है और पत्थर पर पाँव भी रखा जाता है। यदि एक देवता है तो दूसरा क्यों नहीं?[5] घड़े में पानी भर कर देवता को स्नान कराते हैं किन्तु उस जल में बयालीस लाख जीव हैं। फूलों की माला पूजा के लिए तो गूँथी परन्तु भौंरों ने पहले ही से उन फूलों की गन्ध ले रखी है। ठाकुर के नैवेद्य के लिए दूध में खीर बनाई गई किन्तु बछड़े ने दूध को पहले ही जूठा कर रखा है। जब सर्वत्र, सदा वही वर्तमान है तो फिर पूजा किससे और किसकी की जाय।[6] अड़सठ तीर्थ करने, द्वादश लिंगों की पूजा करने, कुरुक्षेत्र में ग्रहण का स्नान करने से उद्धार नहीं होता, भला साधु-निन्दक, नाम-भक्ति-हीन व्यक्ति संसार सागर पार कैसे करेगा?[7] जिसके मन में कपट है, जो पाखण्डी है, उसका तरना सम्भव नहीं। बनारस में तप करना, तीर्थ में मरना, पंचाग्नि तापना, काया-कल्प करना, अश्वमेध यज्ञ करना, गज-दान करना, गंगा-गोदावरी में स्नान करना, बद्री-केदार की यात्रा, सौ-सौ गायों का दान, कोटि-कोटि तीर्थ करना, अश्व-दान एवं शृंगारपूर्ण नारी का दान, तुलादान, अपने बराबर सोना दान करना भी रामनाम की बराबरी नहीं कर सकते। मुल्ला मीनार पर चढ़ कर क्या बाँग देता है? ईश्वर बहरा नहीं है।[8] कबीर कहते हैं कि मोल लेकर मूर्ति की

---

१. किया पढ़ीऐ किया गुनीऐ। किया बेद पुराना सुनीऐ॥
पड़े सुने किया होइ। जउ सहज न मिलिओ सोइ॥
—सं० क०, रागु सोरठि ७।२, पृ० १६६।

२. आदि ग्रंथ, नामदेव, रा० गौड़ १। ३. आ० ग्रं०, नामदेव, रा० गौड़ १।१।२।

४. वही, बेनी, रा० धनासरी १।१।

५. वही, नामदेव, राग गूजरी १।५ और सं० क०, सलोकु १६६, पृ० २१८।

६. आ० ग्रं०, नामदेव, रा० आसा २।१४।

७. आ० ग्रं०, रविदास, रा० गौड़ २।१४।

८. आ० ग्रं०, नामदेव, रामकली ४।१।३। ९. सं० क०, सलोकु १८४, पृ० २७५।

पूजा करना, हठधर्मी से तीर्थ करना वास्तव मे दूसरो को देख कर दिखाने के लिए स्वाग रचता है।[1] अन्तर में यदि पाप वृत्तियाँ सजग है तो स्नान करने से शुद्धता कहाँ से आ सकती है?[2]

सन्त-कवि के अनुसार विधि-विधानो का आडम्बर अन्तर्ज्योति जगाने में क्षम नही वल्कि अहभाव के जगने के कारण अन्तर्ज्योति पर आवरण पड जाता है। भावहीन वाह्याचार, पूजा-पाठ-उपासना आदि आडम्बर है, मिथ्याचरण एव मन समझाने के थोथे साधन।

भेष की व्यर्थता

जिस प्रकार प्रतीति-जन्य आत्मानुभूति की प्राप्ति मे भाव-हीन उपासना-पूजा व्यर्थ है उसी प्रकार साधु-सन्यासी का वेश धारण करना भी। 'नारि मुई घर सम्पत्ति नासी। मूड मुडाय भये सन्यासी" की अवस्था कवीरदास और सन्त-परम्परा से पूर्व की है। श्रद्धाशील व्यक्तियो की अन्धश्रद्धा के कारण चमत्कार-प्रदर्शन उन पर प्रभाव जमाना भेषधारियो मे प्राचीनकाल से चला आ रहा है। अर्हत् की स्तुति क्यो करते है, इसका निर्देश करते हुए स्याद्वाद के प्रतिष्ठापक सिद्धसेन ने कहा है—'देवो का आगमन, नभोयान और चामरादि विभूतियाँ तो मायावी पुरुषो में भी दिखाई देती है।[3] वाह्याडम्बर और ऋद्धि देख कर किसी को महान् नही समझा जा सकता। अत सन्त कहता है, अनेक वेश-धारी जटा-भस्म धारण करते हैं और अनेक प्रकार का वेश धर साधु वन-वन भटकते फिरते है।[4] शील धर्म के अभाव में तीर्थ, व्रत, नेम, नाना प्रकार के वेश धारण करना, सन्यासी वनना आदि सभी व्यर्थ हैं। ये सव भ्रम के 'भेप' है।[5] सन्त-साधना मे भेप व्यर्थ है। यदि हृदय मे प्रियतम की अनुभूति नही, उससे परिचय नही तो केवल वाह्य साज-सज्जा से कैसे सुहागिनी वन सकेगी?[6] इसीलिए सन्त पुकार-पुकार कहता है कि यदि मन नही मूडा तो केश मुडाने से क्या होगा? कर्ता तो मन है, फिर मूड विचारे को मूडने से क्या होगा?[7] यदि हृदयस्थ स्वय-प्रकाश आत्म-ज्योति के दर्शन नही हुए, अन्तर का मल धुल कर निर्मलता नही आई तो नाना प्रकार के वेश धारण कर सन्यासी वनना व्यर्थ गया।[8]

---

१ स० क०, सलोकु १३५, पृ० २६८।

२ आ० ग्र०, रविदास, रा० गउडी (वैरागणि) २।४।

३ जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन—श्री दलसुख मालवणिया प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ, पृ० ३११।

४ स० क०, राग मारु २।२, पृ० १९०। ५ स० क०, रा० विलावलु ८।१, पृ० १५९।

६ अन्तरि पीर सौं पर्चा नाही। भई सुहागिन लोगन माही॥
इन वातनि मोहिं अचिरज आवै। पटम कियें पिव कैसे पावै॥
—दादू बानी, भाग (२), राग टोडी, पद २८३।

७ कवीर मन मूडिया नही केस मुडाए काइ।
जो कछु कीया सु मन कीया मूडा मूड अजाइ॥ —स० क०, सलोकु १०१, पृ० २६३।

८ अतरु मल निरमल नही कीया बाहरि भेख उदासी।
हिरदै कमलु घट ब्रहहा न चीना काहे भइया सनियासी॥
—आ० ग्र०, त्रिलोचन, राग गूजरी १।

योग क्रिया की व्यर्थता

सन्त-कवि ने लक्ष्य किया था कि योगियों का ध्यान ब्रह्मानन्द की प्राप्ति से हट कर अक्षय यौवन, चिरायु जीवन और अन्य सिद्धियों की ओर चला गया है। अष्ट सिद्धियों और नव निधियों की चर्चा संत-साहित्य में पर्याप्त है। सन्त इन सिद्धियों को भी ब्रह्मानुभूति में बाधक समझता है क्योंकि इनके कारण योगी को अहंवृत्ति जागरित हो जाती है। सन्त ने साधु-संन्यासियों की दो कोटियाँ स्पष्ट रूप से देखी थीं—सिद्धि और चमत्कार-प्राप्त सिद्ध और साधक एवं योगी का वेश बना कर घूमने वाले नाथ-पन्थी जोगी। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि उस काल में उत्तर भारत में गोरख-मार्गी साधुओं का ही प्रभावपूर्ण वर्ग था। ऐसे नाथ-पन्थियों को लक्ष्य कर त्रिलोचन ने कहा था कि वे घर-घर खाते फिरते थे, खिंथा और मुद्रा धारण करते थे एवं अंगों पर श्मशान की भस्म लगाते थे।[1] कबीरदास के अनुसार वे बटुआ और आधारी लेकर चलते थे, घर-घर माँगते थे और खिंथा धारण करते थे।[2] कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा था कि चौरासी सिद्ध संशय में ही पड़े थे।[3]

सन्तों ने बाह्याचार का जो विरोध किया है उसमें कोई छूट नहीं रह गई है। पौराणिक हिन्दू धर्म, आचार-प्रधान इस्लाम, संन्यास-योग सभी के बाह्याचार की निर्मम आलोचना और निंदा सन्त ने की है। सम्प्रदायगत दार्शनिक व्याख्या के तत्त्ववाद पर उसने विचार नहीं किया है किन्तु उसने स्पष्ट लक्ष्य किया था कि उनके कारण साधारण जनता और भोला-भाला समाज अन्धविश्वासों के मूल को और दृढ़ कर रहा है।

त्याग

सांसारिकता का मूल है अहंकार। यह जड़ अहम् विभेद-बुद्धि उत्पन्न कर जीवात्मा को परमात्मा से विच्छिन्न करा देता है। 'अहम्' ही द्वैत बुद्धि का स्रष्टा है, नियामक है। जब तक यह आपा है, अहंकार है तब तक परम स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। समस्त

---

१ घरि घरि खाइया पिंडु वधाइया खिंथा मुंद्रा माइया।
मुमि मसाण की भसम लगाई गुर बिनु ततु न पाइया॥—आ. ग्रं. राग गूजरी १।२।

२ क. ग्रं. रा. आसा ७ पृ. ९७। द्रष्टव्य—
तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहेउ बियोगी॥
तन बिसँभर मन बाउर लटा। अरुझा पेम परी सिर जटा॥
चन्द्र बदन औ चंदन-देहा। भसम चढ़ाई कीन्ह तन खेहा॥
मेखल सिंघी चक्र धँधारी। जोग-बाट रुदराछ अधारी॥
कंथा पहिरि, डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा॥
मुद्रा स्रवन कंठ जप माला। कर उदपान काँध बघछाला॥
पाँवरि पाँव दीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस करि राता॥
—जायसी ग्रंथावली पद्मावत जोगी खंड पृ. ९।१।

३ 'राट बरसम संसि परे पर चउरासीह सिध'—सं. क. सलोक २०२ पृ. २७७।

ससार आपा और अहकार के नशे में मस्त है। इस अहकार के कारण उमड-उमड कर चलनेवाली भादो की उतावली नदी की भाँति मनुष्य गर्वित चलता है। वेद शास्त्र-ज्ञान अहकार का कारण है जाति-पाँति अहकार को बढाती है योगी अहकार में माते है गर्वत्र इस अहकार का साम्राज्य है।[1] अहकार के दो स्वरूप—'मैं' सम्बद्ध धारणा एव गर्व या मिथ्याभिमान को सन्त ने स्पष्ट समझा है यद्यपि अभिमान 'मैं' पन के कारण ही है। अहकार के कारण ही मनुष्य सोचता है कि वह महान् कवि है, बडा पण्डित है, वह सिद्ध योगी है और पहुँचा हुआ सन्यासी है, वह अगाध विद्वान्, बडा गुनी, अनूप योद्धा और अद्वितीय दाता है। इस अहकार की बुद्धि का नाश हुए विना ससार-सागर पार करना सम्भव नही।[2] अहकार के साधन वैभव और ऐश्वर्य स्थिर नही किन्तु अहकार में भूला मनुष्य इसे पहचानता नही। अपने-आप में फूला-फूला चलता है।[3] सन्तो ने दोनो प्रकार के अहकार को मिटाने की प्रभूत चर्चा की है। कबीर ग्रथावली के अनुसार गर्व करने से लाभ ही क्या ? मनुष्य समझता नही कि काल उसके केश थामे हुए है। ऊँचा मकान देख कर, सुन्दर शरीर पाकर गर्व करना उचित नही। सब कुछ क्षणिक है। ऊँचे-ऊँचे आवास गिर पडेंगे, सुन्दर शरीर मिट्टी मे मिल जायगा।[4] फिर भी मनुष्य समझता नही "टेढी पाग टेढे चले लागे बीरे खान।"[5] न जाने क्यो मनुष्य इस नष्ट होनेवाले शरीर पर अभिमान करता है। इस अहकार के कारण ही दुर्योधन का नाश हुआ और स्वर्ण की लका का राजा रावण विनष्ट हुआ।[6] कबीर ने इसीलिए इस अभिमान को मिटाने का वार-वार उपदेश दिया है। तू अपने मन का अभिमान त्याग रास्ते का रोडा बन जा। इस तरह के विरले विनम्र सेवक को भगवान की प्राप्ति होती है। रोडा बनने से भी अधिक लाभ नही, कारण ठेस लगने से राही को कष्ट होता है। हरि का दास तो धूलि की भाँति राह में पडा रहता है। नही, धूलि भी उड कर शरीर में लगती है, उसे गन्दा बनाती है अत हरि के सेवक को जल की भाँति होना चाहिए, जो सारे मल को धो सके। नही, पानी की भाँति भी होना पर्याप्त नही। वह कभी गरम होता है, कभी ठढा। उसका स्वभाव भी परिवर्तित होता रहता है। हरि के सच्चे सेवक को हरि के समान ही सदा एकरस रहना चाहिए।[7] सच्चा हरिभक्त सदा एकरस, निर्विकार और निरहकारी होता है।

कबीर ग्रथावली के अनुसार 'मैं'—'मैं' (अहम्) की भावना बडी बला है। यही मनुष्य के विनाश कारण है। यह भावना मनुष्य के पैरो की जजीर और गले की फाँस है।[8]

---

१ आ० ग्र०, रविदास, रा० बसत १।१ और स० क०, रा० बसतु २.१, पृ० २३१।

२ आ० ग्र०, रविदास रा० रामकली ५।

३ कबीर नौबति आपणी दिन दस लेहु बजाइ। —क० ग्र०, पृ० २०।
चारि दिन अपनी नउबति चले बजाइ। —स० क०, रा० केदारा ६, पृ० २०५।

४ क० ग्र०, चितावणी कौ अग १०-१२, पृ० २१।

५ स० क०, रागु केदारा ५, पृ० २०४। ६ आ० ग्र, नामदेव, रागु धनासरी १।

७ स० क०, सलोकु १४६-१५६, पृ० २६९-२७०।

८ क० ग्र०, चितावणी कौ अग, पृ० २७।६०-६१।

योग क्रिया की व्यर्थता

सन्त-कवि ने स्पष्ट किया था कि योगियों का ध्यान ब्रह्मानन्द की प्राप्ति से हट कर अक्षय यौवन चिरायु जीवन और अन्य सिद्धियों की ओर चला गया है। अष्ट सिद्धियों और नव निधियों की चर्चा संत-साहित्य में पर्याप्त है। सन्त इन सिद्धियों को भी ब्रह्मानुभूति में बाधक समझता है क्योंकि इनके कारण योगी को अहंवृत्ति जागरित हो जाती है। सन्त ने साधु-संन्यासियों की दो कोटियाँ स्पष्ट रूप में देखी थीं—सिद्धि और चमत्कार प्राप्त सिद्ध और साधक एवं योगी का वेश बना कर घूमने वाले नाथ-पन्थी जोगी। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि उस काल में उत्तर भारत में गोरख-नाथी साधुओं का ही प्रभावपूर्ण दल था। ऐसे नाथ-पन्थियों को लक्ष्य कर त्रिलोचन ने कहा था कि वे घर-घर नाचते फिरते थे किंथा और मुद्रा धारण करते थे एवं अंगों पर श्मशान की भस्म रमाते थे।[1] कबीरदास के अनुसार वे बटुआ और आधारी लेकर चलते थे घर-घर माँगते थे और किंथा धारण करते थे।[2] कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा था कि चौरासी सिद्ध संशय में ही पड़े थे।[3]

सन्तों ने बाह्याचार का भी विरोध किया है उसमें कोई छूट नहीं रह गई है। पौराणिक हिन्दू धर्म आचार-प्रधान इस्लाम संन्यास-योग सभी के बाह्याचार की निर्मम आलोचना और निंदा सन्त ने की है। सम्प्रदायगत दार्शनिक व्याख्या के तत्त्ववाद पर उसने विचार नहीं किया है किन्तु उसने स्पष्ट लक्ष्य किया था कि उनके कारण साधारण जनता और भोला-भाला समाज अन्धविश्वासों के मूल को और दृढ़ कर रहा है।

त्याग

सांसारिकता का मूल है अहंकार। यह मूल अहम् विभेद-बुद्धि उत्पन्न कर जीवात्मा को परमात्मा से विच्छिन्न करा देता है। 'अहम्' ही द्वैत बुद्धि का स्रष्टा है नियामक है। जब तक यह आपा है अहंकार है तब तक सत्य स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। समस्त

---

१ घरि घरि आइया पिंडु बधाइया खिंथा मुंद्रा माइया।
भूमि मसाण की भसम लगाई गुर बिन तत न पाइया॥—आ ग्रं राग गूजरी १।१।

२ सं क ग्रं आखा ७ पृ १७। द्रष्टव्य—

तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहेउ बियोगी॥
तन बिसंभर मन बाउर लटा। अरुझा पेम परी सिर जटा॥
चन्द्र बदन औ चंदन-देहा। भसम चढ़ाई कीन्ह तन खेहा॥
मेखल सिंघी चक्र धँधारी। जोग-बाट रुदराछ अधारी॥
कंथा पहिरि, डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा॥
मुद्रा स्रवन कंठ जप माला। कर उदपान काँध बघछाला॥
पाँवरि पाँव दीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस करि राता॥
—जायसी ग्रंथावली पद्मावत जोगी खंड पृ ६।१।

३ 'लट दरसन संसै परे पद चउरासीह सिध —सं क सलोक २ २ पृ २७७।

सच्चा प्रेम नही, जहाँ लोभ है वहाँ प्रेम असत्य है, नेह झूठा है। लोभयुक्त प्रेम टूटी झोपडी की भाँति है, भला वर्षा के दिनो में—मेह की झडी में—कब तक उसमे आश्रय लिया जा सकेगा।[1] हिंसा दुर्भावना, दुर्नीति, व्यर्थ की ममता, मतवाद की हठधर्मी, वाद-विवाद का मोह इनका त्याग आवश्यक है। इनके त्याग के बिना सत्य स्वरुप प्रकट नही होगा।

दादू के अनुसार वेद स्मृति द्वारा सकेतित मार्ग व्यर्थ है, रोजा-नमाज का विधान भी व्यर्थ है। सन्यास और योग अक्षम है। पूजा-स्नान बेमतलब और तीर्थ-व्रत स्वाग हैं, मन बहलाने के साधन। शाक्त और योगी प्रमाद और माया से आच्छादित है। सम्प्रदाय और भिन्न-भिन्न मत स्वार्थ-साधन में निरत है।[2] हिन्दू-मुसलमान का झगडा व्यर्थ है। वस्तुत जीवन का लक्ष्य है परम-तत्त्व की अनुभूति। वह अपने आप में परिव्याप्त है, उमसे कोई भिन्न नही, किसी से वह भिन्न नही। 'सर्ववाद' की जब यह प्रतिष्ठा है तो फिर उसे ढूँढने के लिए दूर जाने को आवश्यकता नही।[3] उसका विश्वास है कि जो आत्म-तत्त्व (अपने सत्य-स्वरूप) का साक्षात्कार कर लेता है, अपरोक्ष भाव से अनुभूत कर लेता है, उसके लिए और कुछ काम्य नही रह जाता। उसकी मम्पूर्ण कामनाएँ निश्शेप हो जाती हैं। नारदीय भक्ति सूत्र[4] के अनुसार भक्ति की प्राप्ति के बाद न किसी वस्तु की चाह रह जाती है और न कही भटकने को अपेक्षा। इसकी प्राप्ति से मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृत-तत्त्व की प्राप्ति मे उसे परम तुष्टि-तृप्ति मिलती है। इस अनुभूति के लिए भ्रम (जिसे 'मर्म' की तुक-रक्षा मे वह 'भर्म' बना देता है।) को दूर करना आवश्यक समझता है। सासारिकता के माया-मोह मन को चचल कर देते है। स्वाभाविक रूप में यह अति चचल और अस्थिर है। मन को चचलता भ्रम का मर्म समझने नही देती। जो भ्रम का रहस्य, गुर अथवा भेद पा लेता है, उसे और कुछ पाना शेष नही रह जाता। भ्रम को भगाने के लिए गुरु अथवा सत्सग की अपेक्षा होती है। सत्सग

---

१ फरीदा जा लबु ता नेहु किया लबु त कूडा नेहु।
किचरु झति लखाइए छपरि तुटै मेहु॥ —आ० ग्र०, शेख फरीद, सलोकु १८।

२ को पथि हिंदू तुरक्के, को काहू राता।
को पथि सोफी सेवडे, को सन्यासी माता॥
को पथि जोगी जगमा, को सकति पथि घ्यावइ।
को पथि कमेउ कापडी, को बहुत मनावइ॥
को पथि काहू के चलइ, मइँ और न जानउँ।
—दादू दयाल का सबद, राग रामकली ३१, पृ० ६८।

३ काहे रे बन खोजन जाई ?
सर्व निवासी सदा अलेपा, तो ही सग समाई॥
पुष्प मध्य ज्यो बास बसत है, मुकर माँहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर, घट ही खोजै भाई॥
बाहर-भीतर एकै जानो, यह गुरु-ज्ञान बताई।
जन 'नानक' बिन आपा चीन्हें, मिटै न भ्रम की काई॥ —नानक ९ (गुरु तेगबहादुर)।

४ ना० भ० सू०, ४ और ५।

कबीर के अनुसार जब अपने और पराए का भाव मिट जाता है, तब केवल 'वह' ही है, वह है, तू ही तू है। 'तू' ही में मैं परिवर्तित हो जाता है।[१] जब आपा मिट जाता है, प्रियतम प्रत्यक्ष दीख पड़ता है।[२] जहाँ रमैया राम है वहाँ मैं की गुजर नहीं जहाँ 'मैं' है वहाँ राम नहीं। दादू कहते हैं कि वह महल सूक्ष्म है, सकीर्ण है वहाँ दो के लिए स्थान नहीं।[३] जब 'वह' वृत्ति' और 'मैं' पन मिट जाता है, सुरति निरति में मिल जाती है अजपा जाप में और भेद 'अभेद' में। इस प्रकार आप ही आप में विलय हो जाता है।[४] और सन्त स-स्वर गा उठता है —

मैं नहीं कछु हउ नहीं किछु आहि न मोरा।[५]

मिथ्या।

आत्म-तत्त्व की अनुभूति के अतिरिक्त और जो कुछ है सन्त के विचार से भ्रम-बन्धन है और भ्रम-बन्धन छिन्न किए बिना उस परम-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः जितने प्रकार के भ्रम हैं उन्हें त्याग कर चलने में ही सन्त अपनी वीरता समझता है। प्रेम-स्वरूप-विवेचना में वह सती और सूर को बार-बार स्मरण करता है। सूरमा मृत्यु की चिन्ता नहीं कर अपने मार्ग पर अग्रसर होता है, उसी प्रकार सन्त का मार्ग भी सँकरा और तीखा है तलवार की धार है, बिरले जन पार उतरते हैं। मद-मत्सर-अहंकार साधक के परम शत्रु हैं। काम क्रोध माया मद और मत्सर इन पाँचों ने मिल कर नष्ट किया है।[६] इस कारण मनुष्य अज्ञानी हो गया है। अशोच्य वस्तु की चिन्ता में जीवन व्यतीत करता है। उसकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह परमार्थ को नहीं पहचान पाता।[७] जहाँ क्रोध-चाण्ड है वहाँ

---

१ सं क सलोकु २ ४ पृ १७८।
कबीर तूं तूं करता तू हुआ मुझ महि रहा न हूं।
जब आपा पर का मिटी गइआ जत देखउ तत तू॥
(स क में 'अब' पाठ है किन्तु आदि ग्रंथ के अनुसार जब होना चाहिए)।

२. मेरे आगे मैं खड़ा तामैं रहा लुकाइ।
दादू परघट पीव है जे यहु आपा जाइ॥ —जीवत मृतक अंग १८।

३ जहाँ राम तहँ मैं नहीं मैं तहँ नाहीं राम।
दादू महल बारीक है द्वै कूँ नाहीं ठाम॥ —जीवत मृतक अंग ५५।

४ सुरति समाणी निरति मैं अजपा माहै जाप।
लेख समाणां अलेख मैं यूं आपा माहि आप॥
—क ग्रं परचा को अंग पृ १४।२१।

५ आ ग्रं सवना रागु बिलावलु १।४।

६ काम क्रोध माइआ मद मतसर इन पंचहु मिलि लूटे।
—आ० ग्रं रविदास रागु रामकली ५।

७ जान अजान भए हम बावरे सोच असोच दिवस जाही।
इन्द्री सबल (सबक) निबल बिबेक बुधि परमारथ परवेस नहीं॥
—आ ग्रं रविदास रागु सोरठ १।

सच्चा प्रेम नही, जहाँ लोभ है वहाँ प्रेम असत्य है, नेह झूठा है। लोभयुक्त प्रेम टूटी झोपडी की भाँति है, भला वर्षा के दिनो मे—मेह की झडी में—कब तक उसमें आश्रय लिया जा सकेगा।[१] हिंसा दुर्भावना, दुर्नीति, व्यर्थ की ममता, मतवाद की हठधर्मी, वाद-विवाद का मोह इनका त्याग आवश्यक है। इनके त्याग के विना सत्य स्वरूप प्रकट नही होगा।

दादू के अनुसार वेद स्मृति द्वारा सकेतित मार्ग व्यर्थ है, रोजा-नमाज का विधान भी व्यर्थ है। सन्यास और योग अक्षम है। पूजा-स्नान बेमतलब और तीर्थ-व्रत स्वाग हैं, मन बहलाने के साधन। शाक्त और योगी प्रमाद और माया से आच्छादित है। सम्प्रदाय और भिन्न-भिन्न मत स्वार्थ-साधन में निरत है।[२] हिन्दू-मुसलमान का झगडा व्यर्थ है। वस्तुत जीवन का लक्ष्य है परम-तत्त्व की अनुभूति। वह अपने आप में परिव्याप्त है, उससे कोई भिन्न नही, किसी से वह भिन्न नही। 'सर्ववाद' की जब यह प्रतिष्ठा है तो फिर उसे ढूँढ़ने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नही।[३] उसका विश्वास है कि जो आत्म-तत्त्व (अपने सत्य-स्वरूप) का साक्षात्कार कर लेता है, अपरोक्ष भाव से अनुभूत कर लेता है, उसके लिए और कुछ काम्य नही रह जाता। उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ निश्शेष हो जाती हैं। नारदीय भक्ति सूत्र[४] के अनुसार भक्ति की प्राप्ति के बाद न किसी वस्तु की चाह रह जाती है और न कही भटकने की अपेक्षा। इसकी प्राप्ति से मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृत-तत्त्व की प्राप्ति से उसे परम तुष्टि-तृप्ति मिलती है। इस अनुभूति के लिए भ्रम (जिसे 'मर्म' की तुक-रक्षा में वह 'भर्म' बना देता है।) को दूर करना आवश्यक समझता है। सासारिकता के माया-मोह मन को चचल कर देते हैं। स्वाभाविक रूप में यह अति चचल और अस्थिर है। मन की चचलता भ्रम का मर्म समझने नही देती। जो भ्रम का रहस्य, गुर अथवा भेद पा लेता है, उसे और कुछ पाना शेष नही रह जाता। भ्रम को भगाने के लिए गुरु अथवा सतसग की अपेक्षा होती है। सत्सग

---

१ फरीदा जा लबु ता नेहु किया लबु त कूडा नेहु।
किचरु झति लखाइए छपरि तुटै मेहु॥ —आ० ग्र०, शेख फरीद, सलोकु १८।

२ को पथि हिंदू तुरक्के, को काहू राता।
को पथि सोफी सेवडे, को सन्यासी माता॥
को पथि जोगी जगमा, को सकति पथि ध्यावइ।
को पथि कमेड़ कापडी, को बहुत मनावइ॥
को पथि काहू के चलइ, मइँ और न जानउँ।
—दादू दयाल का सबद, राग रामकली ३१, पृ० ६८।

३ काहे रे बन खोजन जाई ?
सर्व निवासी सदा अलेपा, तो ही सग समाई॥
पुष्प मध्य ज्यो बास बसत है, मुकर माँहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर, घट ही खोजै भाई॥
बाहर-भीतर एकै जानो, यह गुरु-ज्ञान बताई।
जन 'नानक' बिन आपा चीन्हें, मिटै न भ्रम की काई॥ —नानक ९ (गुरु तेगबहादुर)।

४ ना० भ० सू०, ४ और ५।

से गुरु-पहचान की शक्ति आती है और उसके प्रसाद से मन की चंचलता मिट जाती है। मन की चंचल वृत्ति को स्थिर करने के लिए योग-शास्त्रीय कृच्छ्र-साधना की अपेक्षा वह नहीं समझता।[1] मन सदा चपल है स्थिर नहीं रहता भागता फिरता है। इसे स्थिर करना होगा और आप नाम-स्मरण इस चंचलता के मिटाने का साधन है।[2] मन की गति का अनुसरण करना अपने को नष्ट करना है, अत उसकी गति को उलटना पड़ेगा। इसकी चंचल वृत्तियों को चंचल करती हैं अत खूँटे (आधार) से बाँधना होगा। मन को मूँदने उसकी चंचल वृत्तियों को नष्ट करने की अपेक्षा है। रंगीली वृत्तियाँ विकार का कारण रहती हैं। निमग्न होकर वह निर्विकार मन साधक की सहायता करने लगता है। इस 'उलटने' की क्रिया का रहस्य जान कर जो मन को मारता है वही सिद्ध है वही 'मधुसूदन' अथवा 'त्रिभुवन देव' बन सकता है।[3] मन को अवसर देना अनुचित है अत किसी भी प्रकार उसे नाम-स्मरण में प्रवृत्त रखना अपेक्षित है।[4] वश मन को वश में करने की अपेक्षा है, यदि यह वश में हो गया तो ससार वशीभूत हो गया। कबीर के अनुसार यह शरीर कजली वन है, मन मदमत्त हाथी है। ज्ञान-रत्न अंकुश-रूप है और विरला सन्त इसका महावत।[5] मन की इस अवस्था में गृह और वन समान है। गृह-त्याग आवश्यक नहीं वन-सेवा अपेक्षित नहीं वस्तुत काम्य है मन को वशीभूत करना और इसी दृष्टि से सन्त ने गृह-त्याग और वन-सेवन पर विचार किया है। दादू ने कहा—वहाँ उसके नाम की लौ नहीं जो उसके नाम को विसरण करा दे वह घर हो अथवा वन किसी काम का नहीं। जहाँ मन उनमनी रहे, वही तो भली ठौर है।[6]

आचरण-साधना

सन्त-काव्य के अध्येता को यह लक्षित करते विलम्ब नहीं लगता कि आचार प्रवण रूढ़ि-बहुल पौराणिक धर्म के स्थान में आचरण-शुद्ध जीवन का उत्कर्षमय सन्देश बहुलता से

---

१ तनु न तपाइ तनूर जिउ बालणु हड न बालि।
सिर पैरी किआ फेड़िआ अंदरि पिरी निहालि॥
—आ ग्रं शेख फरीद को नानक का उत्तर, सलोकु १२।

२ दादू बिन अवलंबन क्यूं रहै मन चंचल चलि जाइ।
अस्थिर मनवाँ तौ रहै सुमिरण सेती लाइ॥ —मन को अंग १४।

३ अब मन उलटि सनातन हुआ।—सं क रामु न १७।३ पृ १९।

४ मन अंतरि बोलै सभु कोई। मन मारे बिनु भगति न होई॥
कहु कबीर जो जानै भेउ। मनु मधुसूदनु त्रिभवण देउ॥
—सं क गउड़ी २८।२३ पृ ३।

५ निशिबासुरि यहु मन चले सूषिम जीव संघार।
दादू मन थिर कीजिए आतम लेहू उबारि॥
—दादू बानी भाग (१) सूषिम जनम को अंग ९।

६ सं क सलोकु २२४ पृ २८।

७ ना घर भला ना बन भला जहाँ नहीं निज नांव।
दादू उनमनी मन रहै भला त सोई ठांव॥ —वही सुमिरण अंग ९८।

प्राप्त है। इस प्रसग पर बहुलतापूर्वक विचार करने का अवसर हमे आगे चल कर प्राप्त होगा (द्रष्टव्य · नैतिक भावना)। आचरण की शुद्धता का स्वर लोक-भाषा की रचनाओ में अधिक स्पष्ट है। नाथ-सम्प्रदाय के सस्कृत ग्रथो में दार्शनिक और नैतिक उपदेशो का कम आभास मिलता है।[1] वस्तुत यह क्रम नाथ-पन्थियो से भी अधिक पुराना है, सिद्ध-साहित्य में इसके दर्शन होते है। परम्परागत बौद्ध मतवाद का स्पष्ट प्रभाव इन पर देखा जा सकता है। बुद्ध ने आचरण-पवित्रता का सन्देश लोक-भाषा मे दिया था, तीर्थङ्कर महावीर के वचन लोक-भाषा मे हैं। सस्कृत पण्डितो की भाषा थी अत शास्त्रीय आचार-विचार के विवेचन का माध्यम सस्कृत है, एव अन्य मतावलम्बियो ने जन-सम्पर्क में आने के लिए लोक-भाषा का आधार लिया। अन्य सम्प्रदायो ने अपनी प्रतिष्ठा बढाने और पण्डित-समाज में अपने मतवाद को शास्त्र-सम्मत और तर्क-सगत प्रमाणित करने के लिए पीछे चल कर सस्कृत को माध्यम बनाया, किन्तु जन-समाज को उपदेश देने के लिए लोक-भाषा के गीतो का आश्रय लिया गया। सन्त-काव्य के उद्‌भव के बहुत पहले से लोक-गीतो में आचरण की शुद्धता का गान था और इनकी परम्परा आज तक चल रही है। कबीर का कार्य-क्षेत्र भोजपुर प्रान्त रहा, अत यहाँ कबीर के गीतो की कडी खोजने में कठिनाई नही होगी। कबीर आदि के कुछ पद लोक-गीतो में खप गये और कुछ लोक-गीत जिनमे आचरण-शुद्धता का स्वर तीव्र था, गोरख, कबीर, दादू आदि ख्यातिलब्ध साधक सन्तो के नाम के साथ सम्बद्ध हो गए। एक ही गीत का भिन्न-भिन्न सन्तो के नाम से प्रचलित होने का यही रहस्य है। वस्तुत· यह परम्परा पुरानी है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असगत नही होगा कि इस परम्परा के कारण सन्त अकुण्ठित भाव से 'लोक-भाषा' को अपने सन्देश का माध्यम बनाता है। सस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण लोगो ने लोक-भाषा को स्वीकार किया, यह मत साधारण रूप में स्वीकृत है।[2] इस विषय पर किसी प्रकार का सिद्धान्त स्थिर करने के पूर्व और अधिक व्यापक और गम्भीर रूप से विचार करना पडेगा। बुद्ध को शास्त्रीय शिक्षा मिली थी किन्तु उनके उपदेश लोक-भाषा में हैं। लोक-भाषा की स्वीकृति केवल सस्कृत के अज्ञान के कारण नही हो सकती। तुलसीदास को भाषा-प्रयोग में जहाँ सकोच है, वहाँ सन्त निस्सकोच भाव से लोक-भाषा का प्रयोग करता है। सन्त ने अपनी विशिष्ट भाषा का रूप स्थिर किया, जिसका प्रचार उत्तरी भारत के साधु-सन्तो में आज तक है। यह भाषा किसी प्रान्त विशेष की नही बल्कि सन्त-समाज की है। 'चेताना' का साम्प्रदायिक प्रयोग आज तक अपने रूप में प्राप्त है। 'भाषा-विज्ञान' के पण्डितो का अभी तक ध्यान इस भाषा विशेष पर नही गया है। सभी सन्त पूर्वी भाग के नही थे, फिर भी उनकी भाषा पर पूर्वी प्रभाव स्पष्ट है। आदि-ग्रथ में सग्रहीत भक्तो के पदो में इसे स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है। यहाँ यह नही कहा जा रहा है कि सन्त-कवि सस्कृत-ज्ञाता थे बल्कि इतना ही अभिप्रेत है कि इस निर्णय के लिए सन्त-साहित्य के अध्येता के पास पर्याप्त सामग्री और साधन नही है। सहजानुभूति की अभिव्यक्ति सहज भाव से सहज भाषा में ही सम्भव है, अत लोक-भाषा की स्वीकृति आवश्यक थी, केवल अपने अज्ञान को छिपाने का साधन-मात्र नही।

---

१ -द्विवेदी नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १८२। २ सेन दादू (बँगला), पृ० ९६।

से गुरु-महत्त्व की प्राप्ति होती है और उसके प्रसाद से मन को स्थिरता मिल जाती है। मन की चंचल वृत्ति को स्थिर करने के लिए योग-शास्त्रीय कृच्छ्र-साधना की अपेक्षा वह नहीं समझता।[1] मन सदा चंचल है स्थिर नहीं रहता भागता फिरता है। इसे स्थिर करना होगा और आप नाम-स्मरण इस चंचलता के मिटाने का साधन है।[2] मन की गति का अनुसरण करना अपने को नष्ट करना है, अतः उसकी गति को उलटना पड़ेगा। इसकी चंचलता वृत्तियों को चंचल करती है अतः खूँटे (आधार) से बाँधना होगा। मन को मूँड़ने उसकी चंचल वृत्तियों को नष्ट करने की अपेक्षा है। रंगीली वृत्तियाँ विकार का कारण रहती हैं। निर्मल होकर यह निर्विकार मन साधक की सहायता करने लगता है। इस 'उलटने'[3] की क्रिया का रहस्य जान कर जो मन को मारता है वही सिद्ध है, वही 'मधुसूदन अथवा त्रिभुवन देव' बन सकता है।[4] मन को अवसर देना अनुचित है अतः किसी भी प्रकार उसे नाम-स्मरण में प्रवृत्त रखना अपेक्षित है।[5] बस मन को वश में करने की अपेक्षा है, यदि यह वश में हो गया तो संसार वशीभूत हो गया। कबीर के अनुसार यह शरीर कजली वन है, मन मदमत्त हाथी है। ज्ञान-रत्न अंकुश-रूप है और विरला सन्त इसका महावत।[6] मन की इस शान्तावस्था में गृह और वन समान हैं। गृह-त्याग आवश्यक नहीं वन-सेवा अपेक्षित नहीं वस्तुतः काम्य है मन को वशीभूत करना और इसी दृष्टि से सन्त ने गृह-त्याग और वन-सेवन पर विचार किया है। दादू ने कहा—जहाँ उसके नाम की लौ नहीं जो उसके नाम को विस्मरण करा दे वह घर हो अथवा वन किसी काम का नहीं। जहाँ मन 'उनमनी' रहे, वही तो सही ठौर है।[7]

आचरण-साधना

सन्त-काव्य के अध्येता को यह लक्षित करते विलम्ब नहीं लगता कि आचार प्रवण रूढ़ि-बहुल पौराणिक धर्म के स्थान में आचरण-शुद्ध जीवन का उत्कर्षमय सन्देश बहुलता से

---

१ मनु न तपाइ तनूर जिउ बालणु हड न बालि।
सिर पैरी किआ फेड़िआ अंदरि पिरी निहालि॥
—आ॰ ग्रं॰ शेख फरीद को नानक का उत्तर, सलोक १२।

२ दादू बिन अवलंबन क्यूँ रहै मन चंचल चलि जाइ।
अस्थिर मनवा तौ रहै सुमिरण सेती लाइ॥ —मन को अंग १४।

३ अब मन उलटि सनातन हुआ। —सं॰ क॰ राग ग॰ १७।२ पृ॰ १९।

४ मन मंवारि कोई सन्तु कोई। मन मारे बिन भगति न होई॥
कहु कबीर जो जानै भेउ। मनु मधुसूदनु त्रिभवण देउ॥
—सं॰ क॰ राग गउड़ी २८।२ १ पृ॰ १।

५ निसिबासुरि यहु मन चलै सुमिरण पीव संभार।
दादू मन थिर कीजिए आतम लेहु उबारि॥
—दादू बानी भाग (१) सुमिरण जतन को अंग ९।

६ सं॰ क॰ सलोक २२४ पृ॰ २८।

७ ना घर भला ना वन भला जहाँ नहीं निज नाँव।
दादू उनमनी मन रहै भला त सोई ठाँव॥ —वही सुमिरण अंग ९८।

प्रेमाभक्ति

भक्ति वह प्रकाश है, अन्त प्रेरणा ही पारस है। अन्त.प्रेरणा जो गुरु की कृपा से जगती है, किन्तु मार्ग-निर्देशक होने के कारण गुरु-स्वरूप है। इस अवस्था में आकर शिष्य ही गुरु है, गुरु ही शिष्य है। दोनों अभेद और अभिन्न है। भक्ति सन्त के लिए अन्त प्रेरणा है, मात्र वृत्तियों का शोध (सब्लिमेशन्) नही। भक्ति के जागरण के लिए सत् और सत्य स्वरूप का परिचय सन्त-कवि आवश्यक समझता है।[1] ज्ञान के अभाव मे असत्य के प्रति भक्ति-भावना जगती है और वह बन्धन का कारण होती है, मुक्ति का साधन नही।[2] जागरण विवेक का फल और स्वरूप है। अविवेक के कारण जीवन-धारा व्यर्थ ही बही जाती है। जीवन का सारा रस सूखता चला जाता है। परमतत्व ने ही अविद्या के प्रसार के लिए विवेक-दीप को मलिन कर दिया है[3] अर्थात् अविद्या का प्रसार अविवेक के कारण है। इस अविवेक के कारण ही विष-रूप विषय-फल मधुर-स्वाद-आपूरित जान पडता है।[4] सन्त इसी-लिए अविवेक को दूर करने का प्रयास करता है। विवेक यदि नही जगता, भाव-भक्ति यदि नही उमडती, जप, तप, सयम, व्रत और स्नान सभी व्यर्थ है।[5] कबीर ने स्पष्ट कहा है कि बल मे बुद्धि श्रेष्ठ है किन्तु बुद्धि और बल दोनो परमतत्त्व की प्राप्ति में असमर्थ हैं। बुद्धि को क्षमतापूर्ण बनाने के लिए उसे परमात्म-तत्त्व की ओर उन्मुख करना पडेगा, तभी सिद्धि मिलेगी।[6] असयत और आचरणहीन ज्ञान को सन्त थोथा अथवा कोरा ज्ञान कहता है। उसी विद्या को वह फलवती मानता है जिसके साथ योग की निष्ठा (अर्थात् आचरण, साधना और सयम हो। भाव-भक्ति के अभाव में योग-निष्ठा-समन्वित शास्त्र-ज्ञान भी निरर्थक है। अत, साफल्य के लिए जीवन मे निष्ठा, आस्था, विश्वास और श्रद्धा चाहिए। अविवेक के कारण श्रद्धा अ-स्थान से सयुक्त हो जा सकती है अत विवेक की नितान्त अपेक्षा है।[7] विवेक के जगने पर ही भ्रम की सारी टट्टी उड जाती है।[8] जब भ्रम उड जाता है तो झूठी माया मे भूला मन विशुद्ध होकर आत्म-स्वरूप को पहचान पाता है।[9] इस आत्म-तत्त्व की सुरति (स्मरण, स्मृति) के जगने पर ध्यान, तप, साधना और पूजा के स्वरूप बदल जाते हैं। इस

---

१ स० क०, रागु गउडी ३६।६, पृ० ३९।

२ आ० ग्र०, नामदेव, रागु आसा १।३।

३ (क) माधव अविदिया हित कीन। विवेक दीप मलीन ॥

—आ० ग्र०, रविदास, रागु आसा १।१।

(ख) दुलभ जनमु धनु फल पाइयो बिरथा जात अविवेके।

—वही, रवि०, रागु सोरठ ३।१।

४ बिखु फल मीठे लगे मन बउरे। —आ० ग्रं०, धन्ना, रागु आसा १।

५ स० क०, रागु गउडी ६३, पृ० ६६। ६ स० क०, रागु गउडी ७२, पृ० ७५।

७ स० क०, सलोकु ४५, पृ० २५५। ८ स० क०, रागु गउडी ४३, पृ० ४६।

९ काहे कउ कीजै धियानु जपंना, जब ते सुध नाही मनु अपना।

—आ० ग्र०, नामदेव, रागु आसा ३।

सन्त-सम्प्रदाय के मतानुसार सत्, रज और तम की विषमावस्था के कारण यह सृष्टि होती है, अतः इस विषमता को शान्त करना होगा 'सम' पर आना होगा। रज और तम का आधिक्य विकृति है, इस विकृति को दूर कर सहज प्रकृति का उद्रेक अपेक्षित है। सन्त के लिए राग और द्वेष की मध्यमावस्था नहीं उदासीन अवस्था भी नहीं बल्कि चैतन्य अवस्था काम्य है, जिसमें राम अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रकट होता है। सन्त विश्वास करता है सात्विकता स्वाभाविक है, आवश्यकता केवल विकृति को पहचानने की है। इस परिचय से विकृति दूर होगी शुद्ध सात्विकता का उद्रेक होगा और साधक के सभी व्यापार सहज रूप में सात्विक होंगे। यम अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य क्षमा धृति आर्जव मिताहार शौच सन्तोष दान आदि की आवश्यकता का प्रतिपादन इतनी प्रचुरता से हुआ है कि इस साहित्य के पाठक का ध्यान इससे उत्पन्न निरसता की ओर सरलता से जाता है। पौराणिक धर्म भाव-मन्वीय लोक-भाषा की रचनाओं एवं सगुणोपासक वैष्णव-सम्प्रदाय सब में इनकी मान्यता है। आचरण की शुद्धता का स्वर गीता और धम्मपद में स्पष्ट है किन्तु दोनों की मान्यताओं में अन्तर भी कम नहीं। अष्टांग योग के साथ अष्टांगिक मार्ग की तुलना की जा सकती है। काल-क्रम से आचरण-प्रधान बौद्ध धर्म भी आचार-प्रधान बन गया था। विषयानुभोग को बुद्ध ने हीन ग्राम्य आध्यात्मिकता से पृथक ले जानेवाला अनार्य तथा अनर्थोत्पादक माना था एवं शरीर को कष्ट देना भी दुःखकारक अनार्य एवं हानिकारक। मद्य मांस से उद्धार के लिए इन दोनों अन्तों का सेवन करना बुद्ध ने त्याज्य माना था। किन्तु बौद्ध धर्म में संन्यास एवं शुक्र-निरोध को प्रधानता रही। सन्त स्वाभाविक क्रम में काम-वृत्ति का निरुद्ध होना ही ठीक मानता है, अन्यथा गृहस्थाश्रम में रहना उचित और उपयुक्त।

आचरण की अन्य धारणाओं से सन्त-कवि की धारणा में एक मौलिक अन्तर है, उसके अनुसार आचरण-शुद्धता मनुष्य का सहज स्वाभाविक स्वरूप है, वह मानव का मानव-धर्म है। बौद्ध धर्म में आचरण साधन और साधना है एवं सन्तमतीय आचरण-शुद्धता सन्त की आत्मानुभूति का सहज परिणाम। आचरण की पवित्रता उसकी सत्ता और सत्तावस्था है। संन्यास और गार्हस्थ्य का यह मध्यम मार्ग (प्रतिपदा) नहीं बल्कि संन्यास-समन्वित गार्हस्थ्य एवं गार्हस्थ्य-सुलभ संन्यास है। इस अवस्था में आकर ज्ञान और कर्म का विरोध मिट जाता है। सारी शंकाओं का उच्छेद हो जाता है, चिन्ताएँ मिट जाती हैं। मानवीय विकास ही आध्यात्मिकता है आत्मानुभूति ही परम-तत्वानुभूति है। अकेला ज्ञान निरर्थक है, विच्छिन्न कर्म भ्रम है, अतः भावना की प्रेरणा और ज्ञान के आलोक से उद्दीप्त जीवन के कर्म ही सदाचरण हैं और यह सदाचरण ही मुक्ति का विधायक और साधन। अन्तर का प्रकाशित होना आत्म स्वरूप का साक्षात्कार ही स्वानुभूति है। अन्धकार के कारण जो अन्तर (अन्तस्थ आत्म स्वरूप) दिखलाई नहीं पड़ रहा था वह दीख पड़ने लगा। विषय-वासना-मोहजन्य आत्म-विस्मृति जागरण और चेतना में परिवर्तित हो गई लोहा स्वर्ण बन गया।[1]

---

१ रवि प्रगास रजनी जथा गति जानत सब संसार।
   परसत मानी ताबो छुए कनक होत नहीं बार॥
—आ ग्रं रविदास रा म १।२।

प्रेमाभक्ति

भक्ति वह प्रकाश है, अन्त प्रेरणा ही पारस है। अन्त प्रेरणा जो गुरु की कृपा से जगती है, किन्तु मार्ग-निर्देशक होने के कारण गुरु-स्वरूप है। इस अवस्था मे आकर शिष्य ही गुरु है, गुरु ही शिष्य है। दोनो अभेद और अभिन्न हैं। भक्ति सन्त के लिए अन्त प्रेरणा है, मात्र वृत्तियो का शोध (सब्लिमेशन्) नही। भक्ति के जागरण के लिए मत् और सत्य स्वरूप का परिचय सन्त-कवि आवश्यक समझता है।[1] ज्ञान के अभाव मे असत्य के प्रति भक्ति-भावना जगती है और वह बन्धन का कारण होती है, मुक्ति का साधन नही।[2] जागरण विवेक का फल और स्वरूप है। अविवेक के कारण जीवन-धारा व्यर्थ ही बही जाती है। जीवन का सारा रस सूखता चला जाता है। परमतत्त्व ने ही अविद्या के प्रसार के लिए विवेक-दीप को मलिन कर दिया है[3] अर्थात् अविद्या का प्रसार अविवेक के कारण है। इस अविवेक के कारण ही विष-रूप विषय-फल मधुर-स्वाद-आपूरित जान पडता है।[4] सन्त इसी-लिए अविवेक को दूर करने का प्रयास करता है। विवेक यदि नही जगता, भाव-भक्ति यदि नही उमडती, जप, तप, सयम, व्रत और स्नान सभी व्यर्थ है।[5] कबीर ने स्पष्ट कहा है कि बल से बुद्धि श्रेष्ठ है किन्तु बुद्धि और बल दोनो परमतत्त्व की प्राप्ति में असमर्थ हैं। बुद्धि को घमतापूर्ण बनाने के लिए उसे परमात्म-तत्त्व की ओर उन्मुख करना पडेगा, तभी सिद्धि मिलेगी।[6] असयत और आचरणहीन ज्ञान को सन्त थोथा अथवा कोरा ज्ञान कहता है। उसी विद्या को वह फलवती मानता है जिसके साथ योग की निष्ठा (अर्थात् आचरण, साधना और सयम हो। भाव-भक्ति के अभाव मे योग-निष्ठा-समन्वित शास्त्र-ज्ञान भी निरर्थक है। अत, साफल्य के लिए जीवन में निष्ठा, आस्था, विश्वास और श्रद्धा चाहिए। अविवेक के कारण श्रद्धा अ-स्थान से सयुक्त हो जा सकती है अत विवेक की नितान्त अपेक्षा है।[7] विवेक के जगने पर ही भ्रम की सारी टट्टी उड जाती है।[8] जब भ्रम उड जाता है तो झूठी माया मे भूला मन विशुद्ध होकर आत्म-स्वरूप को पहचान पाता है।[9] इस आत्म-तत्त्व की सुरति (स्मरण, स्मृति) के जगने पर ध्यान, तप, साधना और पूजा के स्वरूप बदल जाते है। इस

---

१ स० क०, रागु गउडी ३६।६, पृ० ३९।

२ आ० ग्र०, नामदेव, रागु आसा १।३।

३ (क) माधव अविदिया हित कीन। विवेक दीप मलीन ॥

—आ० ग्र०, रविदास, रागु आसा १।१।

(ख) दुलभ जनमु धनु फल पाइयो बिरथा जात अविवेके।

—वही, रवि०, रागु सोरठ ३।१।

४ बिखु फल मीठे लगे मन बउरे। —आ० ग्र०, धन्ना, रागु आसा १।

५ स० क०, रागु गउडी ६३, पृ० ६६। ६ स० क०, रागु गउडी ७२, पृ० ७५।

७ स० क०, सलोकु ४५, पृ० २५५। ८ स० क०, रागु गउडी ४३, पृ० ४६।

९ काहे कउ कीजै धियानु जपंना, जब ते सुध नाही मनु अपना।

—आ० ग्र०, नामदेव, रागु आसा ३।

घर लौट आता है।[1] आत्म-विस्मृति विदेश गमन था, अत आत्म-प्रतीति पुन घर लौटना। सारा भय दूर हो गया, आत्मा 'अन-भउ' (अभय) हो गई, अत "सहज गुन रमै कवीर"।

सत्य की लौ

सत्य, सम्पूर्ण, अखण्डित और अनिर्वचनीय है। उसके सम्वन्ध में हमारी कोई धारणा पूरी नही पडती। लाखो वार चिन्तन कर भी उसकी स्पष्ट धारणा नही वन पाती।[2] उसके सम्वन्ध में कोई वर्णन पूर्ण नहीं होता। हम जितना उसका वर्णन करते जाते है, उतना ही अधिक व्यापक होता जाता है।[3] उसकी व्याप्ति अपरिमेय और असीम है। जो सत्य को जान लेता है, वह अभय लोक प्राप्त करता है।[4] सत्य स्वय प्रकाश है, अनन्त ज्योति। इस सत्य को खण्ड-खण्ड कर देखने का प्रयास किया जाता रहा है। सम्प्रदाय इसी आधार पर खडे हुए हैं। नाना प्रकार के मतवादों में आपस में जो वैमनस्य और विरोध है, वह सत्य-स्वरूप की अखण्डता के अदर्शन के कारण ही। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में वही सत्य परिव्याप्त है, वही एकमात्र तत्त्व है। कवीर के अनुसार सत्य (मति) ही परमतत्त्व अर्थात् एकमात्र तत्त्व है। 'भरम-करम' का 'मरम' समझने की चेष्टा जो सन्त-साहित्य में उपलव्व है, उसके मूल में उस 'सत्य' के मूल स्वरूप को पहचानने की चेष्टा है, यद्यपि उसका वास्तविक स्वरूप अगम और अज्ञात है। सर्वप्रथम एक ही ज्योति से सारी सृष्टि की रचना हुई। अत वह सत्य प्रकाश-स्वरूप है। इस सत्य की अखण्डित अनुभूति ही सन्त का काम्य है, इसे ही आत्मानुभूति, परोक्षानुभूति कहते हैं जो स्वसवेद्य है। यही स्वसवेद्य पीछे चल कर पर-वेद (अन्य वेदादि एव शास्त्र-ग्रथ) के विरुद्ध कवीर-वचन के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। इस सत्य की अनुभूति के लिए अन्त प्रेरणा की अपेक्षा है, जिसे सन्त 'लौ' कहता है। 'लौ' लव लिव से होता है जो 'लय' की अवस्था तक पहुँचती है। पन्थ सत्य को अखण्डित एक रस के रूप में प्रवाहित नही होने देते। पन्थ-विशेप आचार-पद्धति को जन्म दे सघर्ष का वीज वोते हैं। धर्म-साधनाएँ विरोधी वन जाती हैं। सन्त के अनुसार जव सत्य सदा एक रस और अखण्डित है, सारे विवाद व्यर्थ हैं। सत्य ससार के सारे दुविधा और भेद का अतिक्रमण करता है अत सम्प्रदायो की मेड इसे वाँध नही सकती। मानव के अन्तर की प्रेम-धारा अनन्त रस के महासमुद्र में लय होकर ही परम चैतन्य गति देती है। मूर्ख मनुष्य, सम्प्रदायो की हद तोड दे, अनहद और असीम सत्य की धारा में मिल कर स्वय सत्य-स्वरूप हो जा। इस अवस्था में 'वूँद' समुद्र में समा गई और समुद्र वूँद में। सन्त की निर्मल वाणी सन्देह की गुत्थियाँ सुलझा देती हैं। सम्पूर्ण जीवन ही यहाँ साधना है, और साधना ही जीवन। जीवन और साधना में कोई अन्तर नही।

और—प्रेम भगति मानी सुखु जानिआ त्रिपति अघानें मुकति भए।
—आ० ग्र, धन्ना, रागु आसा १।४।

१ स० क०, रागु गउडी ७४।१, पृ० ७७।

२ सोचै सोचि न होवई, जो सोची लख वार। —जपुजी, छद १।

३ एहु अत न जानै कोई। वहुता कहिए वहुता होई॥ —जपुजी, छद २४।

४ दरिया सागर, (वे० प्रे०, प्रयाग), पृ० ६।

ज्ञान में जब प्रवेश हो जाता है, ज्ञान ध्यान और मन मिल कर एकाकार हो जाते हैं।[१] आचरण इस विवेक का प्रकृत धर्म है, इसके अतिरिक्त और सब कुछ अधर्म। विवेकहीनता स्वार्थ और लोभ के कारण और उसी का फल है।[२] और विवेक का फल अमृत है, आत्म-तत्त्व की प्रतीति अनेक में परिव्याप्त एक की अनुभूति। अभिन्न एक जो भ्रम के कारण विच्छिन्न और अनेक दीख पड़ रहा था। विवेक के कारण एक के साथ मिल कर एकाकार हो गया।[३] इसीलिए तो कबीर विवेक को गुरु तक कह डालते हैं।[४]

विवेक अतः सोपान है साधन है भाव-भक्ति का। प्रेम के लिए स्नेह के आचरण की यह प्रतीति आवश्यक थी परिचय अपेक्षित था। जब तक स्वार्थ की भावना रहती है, तब तक काम रहता है, स्वार्थहीन कामना ही स्नेह है।[५] जब यह भक्ति उमड़ी जब यह प्रेम-धार प्रवाहित हो गई तो मोले भाव—छल-कपट प्रतारणाहीन रूप से उस परम-तत्त्व की सहजानुभूति हुई।[६] इस अचपल प्रीति-धारा के उमड़ते ही उससे जुड़ते ही संसार के सभी नाते स्वयं छूट गए, समस्त सम्बन्ध टूट गए। उससे जब प्रीति लग गई तो लग गई अब और किसी से जुड़नी नहीं। बावरे लोग नाहक इस प्रेम की निन्दा कर विरत करने की चेष्टा करते हैं।[७] जिसने इस प्रेम-भक्ति को जान लिया वह शुद्ध हो गया सत्य-रूप भी उसे पहचान हो गई।[८] विवेकजन्य भक्ति ही ज्ञान है जिसके द्वारा मन तत्त्वरूप होता है। भ्रमजन्य असत् मिट जाता है और शुद्ध तत्त्व के दर्शन होते हैं। इस ज्ञान भक्ति भक्तिमय ज्ञान और प्रेम-भक्ति के कारण अन्तर का अन्धकार प्रकाशित हो जाता है। चैतन्य और आनन्द आत्मरूप हैं आत्म-दर्शन का भाव उस चैतन्य को प्रकाशित करता है, जिसके कारण अन्तर की आनन्द धारा जीवन के उतार-चढ़ाव को शीतलता देती है।[९] और विदेह बना हुआ साधी बनाने

---

१ निमाम प्रथमु मुदहि मन मोमा पियानु मानु मन एक भए।

—सा ग्रं पम्मा रामु माला १४।

२ सं क मसीतु १५५ पृ २७१।

३ कबीर राम रामु कहु कहिबे माहि विवेक।

एकु अनेकहि मिलि गया एक समाना एक ॥—सं क० सलोकु १९ पृ २०१।

४ कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ बिबेकु रे।

—सं क राम गूजरी ५ प १५१।

५ प्रीति बिना कस बधे सनेहु। जब लग रसु तब लग नहीं नेहु॥

—सं क गउड़ी २३।१, पृ० २५।

६ कहु कबीर भगति करि पाइ।—सं क।

७ कबीर लागी प्रीति सुजान सिउ बरजै लोग अजानु।

ता सिउ टूटी किउ बनै जाके जीअ परानु॥

—सं क सलोकु ११७ पृ २०९।

८ कहु कबीर जब जाने ताहि के प्रभ भगति जिन जानी।—सं क।

कहै कबु कौतुक भावा जावा कहा किसाव।

जिन जानाा क आतिमा गुरह के परसि मनाहि॥—सं क सलोकु १७५ पृ २०१।

घर लौट आता है।[1] आत्म-विस्मृति विदेश गमन था, अत आत्म-प्रतीति पुन घर लौटना। सारा भय दूर हो गया, आत्मा 'अन-भउ' (अभय) हो गई, अत "सहज गुन रमै कबीर"।

सत्य की लौ

सत्य, सम्पूर्ण, अखण्डित और अनिर्वचनीय है। उसके सम्बन्ध में हमारी कोई धारणा पूरी नही पडती। लाखो बार चिन्तन कर भी उसकी स्पष्ट धारणा नही बन पाती।[2] उसके सम्बन्ध मे कोई वर्णन पूर्ण नही होता। हम जितना उसका वर्णन करते जाते हैं, उतना ही अधिक व्यापक होता जाता है।[3] उसकी व्याप्ति अपरिमेय और असीम है। जो सत्य को जान लेता है, वह अभय लोक प्राप्त करता है।[4] सत्य स्वय प्रकाश है, अनन्त ज्योति। इस सत्य को खण्ड-खण्ड कर देखने का प्रयास किया जाता रहा है। सम्प्रदाय इसी आधार पर खडे हुए हैं। नाना प्रकार के मतवादो में आपस मे जो वैमनस्य और विरोध है, वह सत्य-स्वरूप की अखण्डता के अदर्शन के कारण ही। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में वही सत्य परिव्याप्त है, वही एकमात्र तत्त्व है। कबीर के अनुसार सत्य (सति) ही परमतत्त्व अर्थात् एकमात्र तत्त्व है। 'भरम-करम' का 'मरम' समझने की चेष्टा जो सन्त-साहित्य मे उपलब्ध है, उसके मूल में उस 'सत्य' के मूल स्वरूप को पहचानने की चेष्टा है, यद्यपि उसका वास्तविक स्वरूप अगम और अज्ञात है। सर्वप्रथम एक ही ज्योति से सारी सृष्टि की रचना हुई। अत वह सत्य प्रकाश-स्वरूप है। इस सत्य की अखण्डित अनुभूति ही सन्त का काम्य है, इसे ही आत्मानुभूति, परोक्षानुभूति कहते हैं जो स्वसवेद्य है। यही स्वसवेद्य पीछे चल कर पर-वेद (अन्य वेदादि एव शास्त्र-ग्रथ) के विरुद्ध कबीर-वचन के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। इस सत्य की अनुभूति के लिए अन्त प्रेरणा की अपेक्षा है, जिसे सन्त 'लौ' कहता है। 'लौ' लव लिव से होता है जो 'लय' की अवस्था तक पहुँचती है। पन्थ सत्य को अखण्डित एक रस के रूप में प्रवाहित नही होने देते। पन्थ-विशेष आचार-पद्धति को जन्म दे सघर्ष का बीज बोते हैं। धर्म-साधनाएँ विरोधी बन जाती हैं। सन्त के अनुसार जब सत्य सदा एक रस और अखण्डित है, सारे विवाद व्यर्थ हैं। सत्य ससार के सारे दुविधा और भेद का अतिक्रमण करता है अत सम्प्रदायो की मेड इसे बाँध नही सकती। मानव के अन्तर की प्रेम-धारा अनन्त रस के महासमुद्र में लय होकर ही परम चैतन्य गति देती है। मूर्ख मनुष्य, सम्प्रदायो की हद तोड दे, अनहद और असीम सत्य की धारा में मिल कर स्वय सत्य-स्वरूप हो जा। इस अवस्था मे 'बूँद' समुद्र में समा गई और समुद्र बूँद में। सन्त की निर्मल वाणी सन्देह की गुत्थियाँ सुलझा देती हैं। सम्पूर्ण जीवन ही यहाँ साधना है, और साधना ही जीवन। जीवन और साधना में कोई अन्तर नही।

और—प्रेम भगति मानी सुखु जानिआ त्रिपति अघानें मुकति भए।
—आ० ग्र, धन्ना, रागु आसा १।४।

१ स० क०, रागु गउडी ७४।१, पृ० ७७।

२ सोचै सोचि न होवई, जो सोचो लख बार। —जपुजी, छद १।

३ एहु अत न जानै कोई। बहुता कहिए बहुता होई॥ —जपुजी, छद २४।

४ दरिया सागर, (वे० प्रे०, प्रयाग), पृ० ६।

सहज साधना

सन्तों की चिन्ता-धारा को वास्तविक रूप में समझने के लिए सहज-मार्ग, सहज-सिद्धि, सहज-साधन, सहज ज्ञान आदि को उनकी भूमिका में समझना होगा। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में 'सहज' और 'शून्य' का मनोरंजक अध्याय है। सहज-शून्य के आत्मविमर्श का मनोरंजक इतिहास द्विवेदी ने अपने 'कबीर' नामक ग्रंथ (अध्याय ६ पृ ७१-७५) में उपस्थित किया है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'दादू' (उपक्रमणिका परिशिष्ट) में इसका स्पष्ट संकेत किया है। 'सहज' और 'शून्य' की परम्परा के साथ सन्त की मनोवैज्ञानिक चेष्टा के समन्वय द्वारा 'सहज' और 'शून्य' के रूप का आभास प्राप्त होगा। इसके सम्बन्ध में आचार्य सेन का कथन है— मध्ययुग में हमें शून्यवाद जिस रूप में मिलता है, ठीक उसी रूप में नहीं प्राप्त होने पर भी हमारे देश में अति प्राचीन काल से नाना प्रकार से चला आ रहा है। वेद के नासदीय आदि सूक्तों में अथर्ववेद के अनेक स्थान में और उपनिषदों के 'नेति नेति' कह कर ब्रह्मवस्तु के समझाने की चेष्टा में इसके प्रथम रूप के दर्शन होते हैं। बुद्धदेव के अनात्मवाद और निर्वाणवाद के द्वारा यह विषय और स्पष्ट हुआ। अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुबन्धु आदि महापुरुषों ने इसका और परिष्कार किया। महायान साधना में शून्य में नाना भाव से सुख और ऐश्वर्य की भावना भर गई। वज्रयान योगाचार के मतवाद द्वारा क्रमशः शून्य ही विश्व का मूलतत्त्व बन गया।[1] बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों में 'सहज' की महत्ता अधिक है। अद्वय और तन्त्र के अनुसार बौद्ध मार्ग में दो प्रकार के योग विहित हैं—कुण्डली और सहज। 'कुण्डली कृत्रिम (कष्ट = दुष्कर) योग है और 'सहज' समरस में स्थिति-वश प्राप्य योग।[2] बौद्ध धर्म मूल रूप में आचरण-प्रधान संन्यास मार्ग है जिसके द्वारा शून्य (निर्वाण) की स्थिति काम्य है। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि बुद्ध ने अतिचारों से बचने का उपदेश दिया था। भिक्षु-धर्म-प्रधान संन्यास-भाव में संन्यास स्वयं अंत बन जाता है। जैन मत ने गृहस्थ जैनियों की कल्पना की थी किन्तु संन्यास उनके लिए भी काम्य था। *संन्यास की निवृत्ति-धारणा को तृप्ति के आधार पर खड़ा करने का* प्रयास बौद्ध मत में हुआ। तन्त्र का वाम-मार्गीय अभियान सिद्धि का उद्योगी हुआ जिसमें पंच मकार का सेवन साधन। सहजिया सम्प्रदाय ने जीवन की सहजता को साधन के रूप में लिया था पीछे चल कर जिसने वैष्णव स्वरूप धारण किया। नाथ-पन्थ पर सहजिया प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। बौद्ध धर्म के इस अभियान में मध्ययुगीन साधना के रूप बीजरूप में देखे जा सकते हैं। इस प्रकार मध्ययुग सहज और शून्य से अपरिचित नहीं था।

आत्म-तत्त्व और परमात्म-तत्त्व की एकता का अर्थ है कि अपने शुद्ध रूप में ही दोनों तत्त्वतः एक और अभिन्न हैं एवं माया-मोह के आवरण से अवच्छिन्न आत्म अर्थात् जीव और मायोपाधि संयुक्त ईश्वर की अभिन्नता नहीं। माया-मोह का आवरण उसका वास्तविक स्वाभाविक या सहज रूप नहीं। अज्ञानवश पाँच भौतिक शरीर और उसके गुणों को ही यह आत्मा स्वरूप मान लेता है। तत्त्व-दर्शि शरीर की पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों, मन, चित्त और अहंकार के संघात रूप में देखता है और आत्म-तत्त्व को इनसे विच्छिन्न और भिन्न किन्तु

---

१ दादू पृ १७ १८।

२ नाथ-सम्प्रदाय पृ० ६ से उद्धृत।

इस शरीर से ही आत्म-तत्त्व की उपलब्धि सम्भव है, सांख्यों की भाँति पुरुष और प्रकृति को दो अनादि तत्त्व नही मान कर पुरुष मे ही प्रकृति का अन्तर्भाव कर देता है। प्रकृति को गुण-प्रधाना और गुणों (सत्, रज, तम) की विक्षुब्धावस्था मानता है, अत उसका लक्ष्य है साम्यावस्था की प्राप्ति। इसे ही आध्यात्मिक भाषा मे निर्विकार, निराकार आदि कहा गया है। इन्द्रियो के चाञ्चल्य को निरुद्ध करने को हठयोग कहा जाता है और मन की प्रवृत्ति को निरुद्ध करने को 'राजयोग'। आत्म-ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्य है, फलस्वरूप मानसिक वृत्तियों के निरोध अथवा उनकी नवीन सयोजना अपेक्षित होगी। चैतन्य प्रयास द्वारा ही यह सम्भव है, ऐसा योग-शास्त्र मानता है। वसुवन्धु के अनुसार—"चित्त, चेतति, मनस् मन्वते, विज्ञान विज्ञानाते।"[1] मन अविद्या के कारण ही विज्ञान को वास्तविक स्वरूप में नही जानता। सन्त-कवि मानता है कि सात्त्विक सत्त्वावस्था ही मन की सहज स्वाभाविक अवस्था है, प्रेरणा जिसका गुण है। 'इन्द्र' और 'इन्द्रिय' की व्युत्पत्ति 'इन्द्र' (शक्तिशाली होना) से हुई है। शक्ति-शालिनी इन्द्रियाँ वहिर्मुखी और विषयाधिकारिणी है और अल्प सुख-दु ख में भूल जाने की प्रवृत्ति मन की है। सुख-दु ख की अनुभूति अहम् भाव उत्पन्न करती है। अहकार के कारण ही विश्व की स्थिति है। मन की वासना ही वस्तु विषय मे मूल्य नियोजित करती है। वचनाओं का कर्त्ता मन है। चित्त की शक्ति विवेक है किन्तु चित्त मे स्थैर्य नही। मन पर चित्त द्वारा नियन्त्रण कर विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है किन्तु मन की प्रवृत्ति चित्त पर अधिकार कर लेती है, प्रवृत्तियाँ प्रवल हो जाती है। शरीर मे मन की वास्तविकता और स्थिति है। इस मन का कोई रूप नही, कोई रेखा नही। इसका रहस्य जानना वडा कठिन है, कोई बिरला ही जानता है। समस्त प्राणियो के शरीर में यही मन रमण कर रहा है। कुरग नही जानता कि सुगन्धि उसकी नाभि में स्थित है और भ्रमवश चारो ओर ढूँढता चलता है।[2] सन्त के अनुसार सहज-स्वरूप का अर्थ है गुणविवर्जित विशुद्ध सत्त्व-प्रधान सत्त्वस्थ आत्मा।

इसकी प्राप्ति के अनेक साधन वतलाए गए हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि मध्य-युग में पौराणिक हिन्दू धर्म के अतिरिक्त सबसे अधिक प्रभावशाली सम्प्रदाय नाथ-पन्थियो का था, जिसमें हठयोग की कृच्छ्र साधना समादृत थी। हठयोग द्वारा काया-शुद्धि कर, इन्द्रियो की चचल वृत्ति निरुद्ध कर कैवल्य पर एव सिद्धि-प्राप्ति की कामना योगी को थी। सहज-पन्थ 'सहज' के नाम पर वामाचार की प्रवृत्ति पाल रहा था। मुसलमानी धर्म आचार-प्रवण होकर अनेक प्रकार के वन्धनो की सृष्टि कर रहा था। ऐसी अवस्था में सन्त का विश्वास था कि जप, तप, योग, यज्ञ, समाधि सब कुछ सहज होना चाहिए। वह योग क्या जिससे शरीर को कृच्छ्र साधना करनी पडे। भूखे भक्ति नही होती।[3] डडा, मुद्रा, खिथा और आधारी-सयुक्त वेष भ्रम के कारण हैं, आसन और पवन (प्राणायाम) को दूर रख कर भक्ति करना ही श्रेयस्कर है।[4] अत, मौन की मुद्रा, दया की झोली, विचार की पत्रका, सयम की खिथा, नाम की

---

१ श्रीमती राइस डेविस के बुद्धिस्ट फिलॉसफी से उद्धृत।

२ जैसे कुरक नही पाइउ भेद, तनि सुगध ढूँढै प्रदेसु। —आ० ग्र०, रविदास, बसतु १।२।

३ स० क०, रागु सोरठ ११।१, पृ० १४०।

४. स० क०, रागु बिलावलु ८।१, पृ० १५९।

सहज साधना

सन्तों की चिन्ता-धारा को वास्तविक रूप में समझने के लिए सहज-मार्ग सहज-सिद्धि सहज-साधन सहज ज्ञान आदि को उनकी भूमिका में समझना होगा। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में 'सहज' और 'शून्य' का मनोरंजक अध्याय है। सहज-शून्य के माध्यविषय का मनोरंजक इतिहास द्विवेदी ने अपने 'कबीर' नामक ग्रंथ (अध्याय ६ पृ० ७१-७५) में उपस्थित किया है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'दादू' (उपक्रमणिका परिशिष्ट) में इसका स्पष्ट संकेत किया है। 'सहज' और 'शून्य' की परम्परा के साथ सन्त की मनोवैज्ञानिक चेतना के समन्वय द्वारा 'सहज' और 'शून्य' के रूप का आभास प्राप्त होगा। इसके सम्बन्ध में आचार्य सेन का कथन है— मध्ययुग में हमें शून्यवाद जिस रूप में मिलता है, ठीक उसी रूप में नहीं प्राप्त होने पर भी हमारे देश में अति प्राचीन काल से नाना प्रकार से चला आ रहा है। वेद के नासदीय आदि सूक्तों में अथर्ववेद के अनेक स्थान में और उपनिषदों के 'नेति नेति' कह कर ब्रह्मवस्तु के समझाने की चेष्टा में इसके प्रथम रूप के दर्शन होते हैं। बुद्धदेव के अनात्मवाद और निर्वाणवाद के द्वारा यह विषय और स्पष्ट हुआ। अश्वघोष नागार्जुन आर्यदेव असंग वसुबन्धु आदि महापुरुषों ने इसका और परिष्कार किया। महायान साधना में शून्य ने नाना भाव से सुख और ऐश्वर्य की भावना भर दी। वज्रयान योगाचार के मतवाद द्वारा क्रमश: शून्य ही विश्व का मूलतत्त्व बन गया।[१] बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों में 'सहज' की महत्ता अधिक है। अकुल और तन्त्र के अनुसार बौद्ध मार्ग में दो प्रकार के योग विहित हैं—कुण्डली और सहज कुण्डली कृत्रिम (कृतक = कृतक) योग है और 'सहज' समरस में स्थिति-वश प्राप्य योग।[२] बौद्ध धर्म मूल रूप में आचरण-प्रधान संन्यास मार्ग है जिसके द्वारा शून्य (निर्वाण) की स्थिति काम्य है। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि बुद्ध ने अतिचारों से बचने का उपदेश दिया था। भिक्षु-धर्म-प्रधान संन्यास-भाव में संन्यास स्वयं अंत बन जाता है। जैन मत ने गृहस्थ जैनियों की कल्पना की थी किन्तु संन्यास उनके लिए भी काम्य था। संन्यास की निवृत्ति-धारणा को तृप्ति के आधार पर खड़ा करने का प्रयास बौद्ध मत में हुआ। तन्त्र का वाम-मार्गीय अभियान सिद्धि का उद्योगी हुआ जिसमें पंच मकार का सेवन साधन। सहजिया सम्प्रदाय ने जीवन की सहजता को साधन के रूप में लिया था पीछे चल कर जिसने वैष्णव स्वरूप धारण किया। नाथ-पन्थ पर सहजिया प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। बौद्ध धर्म के इस अभियान में मध्ययुगीन साधना के रूप बीजरूप में देखे जा सकते हैं। इस प्रकार मध्ययुग सहज और शून्य से अपरिचित नहीं था।

आत्म-तत्त्व और परमात्म-तत्त्व की एकता का अर्थ है कि अपने शुद्ध रूप में ही दोनों तत्त्वत: 'एक' और 'अभिन्न' हैं एवं माया-मोह के आवरण से अवच्छिन्न आत्म अर्थात् जीव और मायोपाधि संयुक्त ईश्वर की अभिन्नता नहीं। माया-मोह का आवरण उसका वास्तविक स्वाभाविक या सहज रूप नहीं। अज्ञानवश पाँच भौतिक शरीर और उसके सुख को ही वह अपना स्वरूप मान लेता है। सन्त-कवि शरीर को पंच ज्ञानेन्द्रियाँ पंच कर्मेन्द्रियाँ मन चित्त और अहंकार के संघात रूप में देखता है और आत्म-तत्त्व को इनसे विच्छिन्न और भिन्न किन्तु

१ दादू पृ १७९।१८। २ नाथ-सम्प्रदाय पृ ६ से उद्धृत।

आधारी बनाओ। बुद्धि का भस्म चढ़ाओ, सुमिरन की सिंगी बनाओ, वैराग्य की धारी बना कर शरीर में ही रमण करो। कबीर दास ने ऐसा विचित्र योग कमाने के लिए कहा था।[1] सहज के पौवड़े पर पर रख कर परमानन्द लोक तक पहुँचा जा सकता है। 'सहज कामधेनु है' जिससे परमानन्द रूपी अमृत की प्राप्ति होती है।[2] मन को मथानी और शरीर को सहज-रस से भरी मटकी बनाना चाहिए। सात्त्विक विचारों से यदि मन्थन हो तो गुरु की कृपा से अमृत की धारा मिलेगी।[3]

इस सहज-भाव के लिए काया को कष्ट देने की अपेक्षा नहीं। वस्तुतः काया की कृच्छ्र-साधना अस्वाभाविक है। वासना ही सम्पूर्ण भ्रम का कारण है अतः मन को मूँड़ने की अपेक्षा है, बिचारे शरीर को मूँड़ने से क्या लाभ? इन्द्रिय-निग्रह से यदि ब्रह्म-प्राप्ति होती तो खस्सी के स्वर्ग जाने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। शरीर ही देव है, शरीर ही देवता है, काया ही धूप-दीप-नैवेद्य है, यही पूजा पाती है।[4] शरीर और मन जब कभी सहजावस्था में होते हैं तब मन ही सेवा है, मन ही धूप है, मन ही आरती है और यही नैवेद्य है।[5]

सन्त कवि का विश्वास है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी। पिण्ड ही ब्रह्माण्ड नहीं है अतः इस पिण्ड में उसे पाने की आशा है। इस अभ्यास के लिए ध्यान चाहिए, समाधि लगानी चाहिए। ध्यान साधन है और समाधि उसकी परिणति। इसके मूल में एकाग्रता का आधार है। स्वप्न और एकाग्रता में आत्यन्तिक समीपता और दूरत्व है। एकाग्रता का लक्ष्य है आध्यात्मिक चेतना का जागरण जिसके द्वारा आध्यात्मिक आनन्दोपलब्धि सम्भव है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार किसी एक विषय का ध्यान कुछ क्षणों के लिए सम्भव हो सकता है। सन्त इसे स्वीकार करता है कि एकाग्रता कठिन और कठोर श्रम है। जब परमतत्त्व आत्मस्थ है तो ध्यान के लिए अपने से किसी अन्य विषय का आधार लेना सम्भव नहीं। वस्तुतः जब आत्म-तत्त्व ही एकमात्र सत्य है तो ध्यान के लिए इसे छोड़ और कोई आधार नहीं हो सकता। समाधि की एकाग्रता में वस्तु-विषय-सापेक्ष सम्बन्ध तिरोहित हो जाता है। इस अवस्था में ध्याता, ध्येय और ध्यान की भिन्नता मिट जाती है। सन्त के अनुसार समाधि का स्वरूप बदल जाता है, वह मात्र विषय-निरपेक्ष, स्पन्द-रहित ज्ञान नहीं बल्कि आत्म-सापेक्ष स्पन्द-हीन रागात्मक भावोद्रेक है।

अनन्य आत्म-स्वरूप आत्मज्योति के दर्शन में ही परमानन्द है। आन्तरिक पूजा-भावना ही आवश्यक है।[1] वृत्तियाँ रागात्मक प्रेमानुगामिनी हैं। साधन का यह रूप अन्तर्मुख

१ सं० क० [illegible] रामकली [illegible] १८२।
२ सब तू कामधेनु [illegible] [illegible] अमृत [illegible]। —[illegible] बानी २५।७५।
३ सं० क० [illegible] १।
४ [illegible] पंचायती [illegible] ३११।
५ मन ही पूजा मन ही धूप। —[illegible] १०१२ पृ० ११।
६ [illegible] देवता [illegible] देव [illegible]।
[illegible] ॥ —[illegible]।

करना है। सत्त्वस्वरूपा आत्मा के परिचय और प्रतीति से वृत्तियो की वहिर्मुखता नष्ट हो जाती है। आन्तरिक रूप से हरि के साथ मिलने पर चचल मन अपनी सारी वृत्तियो के सहित सम्बद्ध हो जाता है और फिर अन्यत्र नही जाता।[1] 'एक' से प्रेम करने से अन्य सभी बातो की द्विविधा चली जाती है।[2] यह आत्म-प्रेरणा, रागात्मक अनुभूति शुद्ध सात्त्विक और सहज है। शरीर गढ पर विजय की प्राप्ति के लिए प्रेम का पलीता और ज्ञान का गोला तथा 'सहज' की अग्नि चाहिए।[3] जव प्रेम-भक्ति उत्पन्न हो जाती है, मन स्वय स्थिर हो जाता है।[4] सहज-साधना द्वारा ही सहजावस्था की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था में साधक और साधना में कोई अन्तर नही रह जाता, वह जो करता है वही साधना है और परम साधन भी।

सन्त-कवि की आकाक्षा सहजावस्था की प्राप्ति है। सहजावस्था की प्राप्ति को वह घर लौटना (अर्थात् अपने सत्य-स्वरूप की परख और प्राप्ति) कहता है। वह अवस्था वैसी है, वह वैसी ही है, अपने आप में पूर्ण और अनुपमेय। इस अवस्था को ही शून्यावस्था कहते हैं। 'नेति नेति' का भाव है कि मनुष्य की शक्ति वर्णन में अक्षम है, वह सारे वर्णनो के परे है। शून्य नितान्त अभावात्मक नही वल्कि पूर्णतया भावात्मक वन चुका था। गगन गुफा में अमृत झरने की जो चर्चा सन्त करता है, वह नाथ-पन्थियो का हठयोग नही बल्कि सहज-योग के अनुकूल है। आत्म-साधन ही परमानन्द की प्राप्ति का सुलभ साधन वह मानता है, आत्म-दर्शन के लिए सत् स्वरूप-चिन्तन आवश्यक है। आकाश जिस प्रकार भावाभाव विवर्जित है, उसी प्रकार यह शून्य भी अत शून्य हुआ आकाश (ख)। 'ख'—समय को प्राप्ति शून्य (आत्म) का ध्यान है और इस रूप की प्राप्ति परमानन्द-स्वरूप है। सन्त-मत में पीछे चल कर इस परिवर्तन को लक्ष्य नही कर योगियो की परम्परा का पालन समझा जाने लगा और योग-परक गीतो की रचना हुई जिनके कारण भ्रमवश विचारको ने इन्हें योगियो का परिवर्तित रूप समझा अथवा ज्ञानमार्गी कहा।

सहज की कथा, अत अकथ है। वहाँ न वर्षा है न सागर, न धूप, न छाया और न उत्पत्ति और न प्रलय। जोवन नही, मृत्यु भी नही, न वहाँ दु ख का अनुभव है और न सुख का। वहाँ शून्य की जागृति भी नही और समाधि की निद्रा भी नही। वह न तोली जा सकती है, छोडी जा सकती है। न वह हलकी है न भारी। न वह ऊँचे पर है न नीचे। वहाँ रात

और—अन्तरगते प्रेम जो उपजै, सहज परम पद पाई।

—गुलाल की वानी, शव्द ८, पृ० २५।

१ अतरगति हरि भेटिया अव मेरा मन कतहू न जाइ।

—स० क०, राग मारु २१४, पृ० १९०।

२ कवीर प्रीति इक सिउ कीए आन दुविधा जाइ। —स० क०, सलोकु २५, पृ० २५२।

३ स० क०, राग भैरउ १७, पृ० २२४।

४ प्रेम भगति जव ऊपजै, निहचल सहज समाध।

दादू पीवै राम रस, सतगुर के परसाद॥ —दादू, उपजणि को अग ११, पृ० २३३।

आधारी बनाओ। बुद्धि का भस्म चढ़ाओ सुमिरन को सिंगी बनाओ वैराग्य को सारंगी बना कर शरीर में ही रमण करो। कबीर दास ने ऐसा विचित्र योग कमाने के लिए कहा था।[1] सहज के पाँवड़े पर पैर रख कर परमानन्द-लोक तक पहुँचा जा सकता है। 'सहज कामधेनु है, जिससे परमानन्द रूपी अमृत की प्राप्ति होती है।[2] मन को मथानी और शरीर को शब्द-रस से भरी मटकी बनाना चाहिए। सात्त्विक विचारों से यदि मन्थन हो तो गुरु की कृपा से अमृत की धारा मिलेगी।[3]

इस सहज-मार्ग के लिए काया को कष्ट देने की अपेक्षा नहीं। वस्तुतः काया से इन्द्रिय-साधना अस्वाभाविक है। वासना ही सम्पूर्ण भ्रम का कारण है अतः मन को मूँड़ने की अपेक्षा है, बिचारे शरीर को मूँड़ने से क्या काम? इन्द्रिय-निग्रह से यदि ब्रह्म-प्राप्ति होती तो खस्सी के स्वर्ग जाने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। शरीर ही देव है, शरीर ही देवता है काया ही धूप-दीप-नैवेद्य है, यही पूजा पाती है।[4] शरीर और मन जब बाती सहजावस्था में होते हैं तब मन ही सेवा है, मन ही धूप है, मन ही आरती है और वही नैवेद्य है।[5]

सन्त-कवि का विश्वास है कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी। पिण्ड ही ब्रह्माण्ड नहीं है, अतः इस पिण्ड में उसे खोजने की अपेक्षा है। इस अन्वेषण के लिए ध्यान चाहिए, समाधि लगानी चाहिए। ध्यान साधन है और समाधि उसकी परिणति। इनके मूल में एकाग्रता का आधार है। स्वप्न और एकाग्रता में आत्यन्तिक समीपता और दूरत्व है। एकाग्रता का लक्ष्य है आध्यात्मिक चेतना का जागरण जिसके द्वारा आध्यात्मिक आत्मोपलब्धि सम्भव है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार किसी एक विषय का ध्यान कुछ क्षणों के लिए सम्भव हो सकता है। सन्त इसे स्वीकार करता है कि एकाग्रता कठिन और कठोर धर्म है। जब परमतत्त्व आत्मस्थ है तो ध्यान के लिए अपने से भिन्न किसी अन्य विषय का आधार लेना सम्भव नहीं। वस्तुतः जब आत्म-तत्त्व ही एकमात्र सत्य है तो ध्यान के लिए इसे छोड़ और कोई आधार नहीं हो सकता। समाधि की एकाग्रता में वस्तु-विषय-साधन सम्बन्ध तिरोहित हो जाता है। इस अवस्था में ध्येता ध्येय और ध्यान की भिन्नता मिट जाती है। सन्त के अनुसार समाधि का स्वरूप अरस जाता है यह मात्र विषय निरपेक्ष स्वरूप-रहित ज्ञान नहीं बल्कि आत्म-सापेक्ष स्वरूप-हीन रागात्मक भावोद्रेक है।

मस्तक आत्म-स्वरूप अन्तर्ज्योति के दर्शन में ही परमानन्द है। आन्तरिक पूजा-भावना ही आवश्यक है।[6] वृत्तियाँ रागात्मक प्रेमानुसारिणी हैं। संयम का अर्थ इन्द्रिय यथार्थोन्मुख

---

१ सं क राग रामकली ७ पृ १८२।
२ अब तू कामधेनु नहि रागी बनि गोभीं अमृत नग्दर। —दा द की बानी १५।२५।
३ ग क राग भागा ९ । ४ का ई पनासरो पीता १११।
५. मन ही पूजा मनहि धूप। —दे वी गा १४१२ पृ ११।
६ जिस के अंदर देहरा वा देवन म देर।
हरदम गाजी भूर है भजी दागु की भेर ॥ —कबीरदास।

रूप अरूप हो जाता है।[१] इसका आनन्द दत्तात्रेय और गोरख नही जानते।[२] योग, यज्ञ, तप, सयम, तीर्थ, व्रत, दान, वेदाध्ययन आदि इसके सहायक नही।[३] अपना स्वरूप पहचान लेने से यह समाधि प्राप्त हो जाती है। अन्तरात्मा प्रकाशित हो जाती है, धोखे मिट जाते हैं, अपना 'पारख' स्वरूप प्रकट हो जाता है।[४] जन्म-जन्म का भय भग जाता है।[५] और वह अवस्था प्राप्त होती है, जिसमे सारी क्रियाएँ, जीवन के सारे व्यापार उस परमानन्द की अनुभूति के साथ सम्बद्ध हो जाते है।[६] उस अवस्था को ढूँढने के लिए अत दूर जाने की अपेक्षा नही, वह आनन्द, वह अनुभूति अन्तर्गत हैं,[७] अत सारी क्रियाएँ व्यर्थ और थोथी हैं। एकमात्र सत्य है, वह अनुभूति। उस अनुभूति के लिए कबीर अपनी सारी साधना दलाली मे देने को तैयार हैं,[८] इस सहज-समाधि से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है, दुर्मति नष्ट हो जाती है और अमृत रस से जीवन आपूरित हो जाता है।[९] कबीरदास का जीवन इस मद से मतवाला हो चुका था, जिसके उतरने की कोई आशका नही रह गई थी।[१०]

मर्मी काव्य का मूल शब्द इस प्रकार 'सहज' है। सन्त को सहज मार्ग, सहज अनुभूति, सहज समाधि, सहज अवस्था और सहज अभिव्यक्ति चाहिए। सहज अवस्था के लिए वह साधारणतया 'सहज शून्य' का प्रयोग करता है। इस प्रकार सहज साधन द्वारा सहज-

---

१ पलटू बानी भाग १, शब्द ८४।६, पृ० ४९।

२ बीजक, शब्द ९०।

३ बीजक, शब्द ११३।

४ "तू परख के घोखा छोड पारख तेरा स्वरूप है, सो थीर हो सकल कबीरा बोले बीरा।"
—बीजक के शब्द ८६ पर त्रिज्या टीका (महात्मा पूरण साहेब कृत), पृ० १९७।

५ आ० ग्र०, रविदास, रागु सोरठ ४।

६ साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तैं उपजी दिन दिन अधिक चली॥
जहँ जहँ डोलो सोइ परिकमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खाव पियो सो पूजा।
गिरह उजाड एक सम लेखो भाव न राखो दूजा॥ —शब्दा० १९, पृ० ७२।

७ सहज सुन्नि सब ठौर है, सब घट सबही माँहि।
तहाँ निरजन रमि रह्या, कोउ गुण व्यापै नाहि॥
—दा० द० बा०, भाग १, साखी ५६, पृ० १५।

८ कोई है रे सतु सहज सुख अतरि जाकउ जपु तपु देउ दलाली रे।
एक बूँद भरि तनु मनु देवउ जो मदु देइ कलाली रे॥
—स० क०, रामकली १।१, पृ० १७६।

९ आ० ग्र०, बेणी, रामकली १।३।

१० अवधू मेरा मन मतवरा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियाला।—क० ग्र०, पद ७२, पृ० ११०
दासु कबीर तासु मद माता उचकि न कबहू जाइ।—स० क०, रामकली २।३, पृ० १७७

और दिन (काल) की स्थिति (व्याप्ति) नहीं। न वहाँ जल है और न पवन। वहाँ अग्नि भी नहीं। वह अगम और वाणी के परम अगोचर अर्थात् पूर्णभाव से अनिर्वचनीय।[1]

सहजावस्था की जो प्राप्ति कर लेता है, वह सांसारिक दृष्टि से मर कर भी अमर हो जाता है।[2] जीवन के सारे भ्रम नष्ट हो जाते हैं आनन्द की प्राप्ति होती है और परमानन्द की प्रतीतिजन्य अनुभूति।[3] इस अनुभूति को ही सन्त-कवि वास्तविक मानता है। इस अवस्था म मनरूपी भट्ठी से महानन्द का अमृत रस चूता है और इसका पीनेवाला सहज में ही मतवाला हो जाता है। सहजरूपी कामिनी जब मिल गई तो प्रत्येक क्षण आनन्द बाढ़ित हो गया।[4] सम्पूर्ण बाधाएँ समाप्त हो गईं मन शाश्वत और नित्य हो गया।[5]

सहजानन्द की प्राप्ति के लिए सहजानुभूति चाहिए और सहजानुभूति के लिए सहज-समाधि। सहज-समाधि को योग की हठ-प्रक्रिया की अपेक्षा नहीं। योग-युक्ति का महत्त्व प्रिय की प्रतीति है यदि वह नहीं हुआ तो सारे आडम्बर व्यर्थ हैं। पलटूदास की बानी के अनुसार 'सिलाई बुधि' सहज नहीं बल्कि सहज ज्ञान वह है जब ज्ञान आपु मे होई।[6] सहज-ज्ञान तब सम्भव है जब सद्गुरु ही सद्गुरु 'शून्य' के समान होना चाहिए। अहंवृत्ति को शून्य कर ही शून्यत्व प्राप्त किया जा सकता है। आत्म-प्रेरणा जगाना ही गुरु का एकमात्र कर्तव्य है। आत्म-प्रेरणा वही गुरु जगा सकता है, जो अपने आप को शिष्य की सत्ता में विलीन कर सके अपने को शून्य समान (ख-सम) कर सके। वह गुरु सकल सम्प्रदाय और रूप गुण एवं आकार से अतीत है।[7] वह आत्म-प्रेरणा-स्वरूप गुरु अपने भीतर है अर्थात् शून्य-स्वरूप इस अवस्था में सहज ही सद्गुरु है जिसे कबीर 'सोझी गुर' (सहज रहस्य) कहते हैं। इस सहज रूपी कामिनी के मिल जाने से अनुदिन रातदिन-आनंद-शाश्वत एवं नित्य आनन्द की प्राप्ति है। कबीर कहते हैं सुरति के प्याले से यह जो मीठा महारस है, पियो। उसकी अजस्र झरनेवाली चिरन्तन धारा नित्य चू रही है, झर रही है। इस महारस के आगे सारे रस फीके सारहीन और तुच्छ हैं—

> सुरति पिआला सुभर रस अंम्रितु एहु महारसु पेउ रे।
> निझर धार चुऐ अति निरमल इह रस मनुआ रातो रे।
> कहै कबीर सगले मद छूछे इहै महारसु साचो रे।[8]

यह सहजावस्था गगन उपाधि रहित है।[9] इसमें अन्तरात्मा की लौ जग जाती है, आनन्द की चेतना स्वयं जग जाती है। इस अनुभूति के कारण हद बेहद ससीम असीम और

---

१ सं० क० रागु गउड़ी ४८ पृ ९१। २ वही रागु गउड़ी २।२ पृ २२।
३ वही २।३ पृ २२। ४ वही रागु गउड़ी २७।१ पृ २९।
५ वही रागु गउड़ी १७ पृ १९।
६ पलटूदास की बानी अनुवाद भाग १ पृ ५१-५२।
७ वैन दादू पृ ९१। ८ सं० क० रागु रामकली १ पृ० १७६।
९ नाउ समाधि उपाधि रहित पुनि बड़े भाग लिव लागी।
—आ० ग्रं० धनासरी रागु गोंड ४।

रूप अरूप हो जाता है।[1] इसका आनन्द दत्तात्रेय और गोरख नही जानते।[2] योग, यज्ञ, तप, सयम, तीर्थ, व्रत, दान, वेदाध्ययन आदि इसके सहायक नही।[3] अपना स्वरूप पहचान लेने से यह समाधि प्राप्त हो जाती है। अन्तरात्मा प्रकाशित हो जाती है, धोखे मिट जाते हैं, अपना 'पारख' स्वरूप प्रकट हो जाता है।[4] जन्म-जन्म का भय भग जाता है।[5] और वह अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें सारी क्रियाएँ, जीवन के सारे व्यापार उस परमानन्द की अनुभूति के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं।[6] उस अवस्था को ढूँढने के लिए अत दूर जाने की अपेक्षा नही, वह आनन्द, वह अनुभूति अन्तर्गत है,[7] अत सारी क्रियाएँ व्यर्थ और थोथी हैं। एकमात्र सत्य है, वह अनुभूति। उस अनुभूति के लिए कबीर अपनी सारी साधना दलाली मे देने को तैयार है,[8] इस सहज-समाधि से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है, दुर्मति नष्ट हो जाती है और अमृत रस से जीवन आपूरित हो जाता है।[9] कबीरदास का जीवन इस मद से मतवाला हो चुका था, जिसके उतरने की कोई आशका नही रह गई थी।[10]

मर्मी काव्य का मूल शब्द इस प्रकार 'सहज' है। सन्त को सहज मार्ग, सहज अनुभूति, सहज समाधि, सहज अवस्था और सहज अभिव्यक्ति चाहिए। सहज अवस्था के लिए वह साधारणतया 'सहज शून्य' का प्रयोग करता है। इस प्रकार सहज साधन द्वारा सहज-

---

१ पलटू बानी भाग १, शब्द ८४।६, पृ० ४९।

२ बीजक, शब्द ९०। ३ बीजक, शब्द ११३।

४ "तू परख के धोखा छोड पारख तेरा स्वरूप है, सो थीर हो सकल कबीरा बोले बीरा।"
—बीजक के शब्द ८६ पर त्रिज्या टीका (महात्मा पूरण साहेब कृत), पृ० १९७।

५ आ० ग्र०, रविदास, रागु सोरठ ४।

६ साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तै उपजी दिन दिन अधिक चली॥
जहँ जहँ डोलो सोइ परिकमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करो दण्डवत पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खाव पियो सो पूजा।
गिरह उजाड एक सम लेखो भाव न राखो दूजा॥—शब्दा० १९, पृ० ७२।

७ सहज सुन्नि सब ठौर है, सब घट सबही माँहि।
तहाँ निरजन रमि रह्या, कोउ गुण व्यापै नाहि॥
—दा० द० बा०, भाग १, साखी ५६, पृ० १५।

८ कोई है रे सतु सहज सुख अतरि जाकउ जपु तपु देउ दलाली रे।
एक बूँद भरि तनु मनु देवउ जो मदु देइ कलाली रे॥
—स० क०, रामकली १।१, पृ० १७६।

९ आ० ग्र०, वेणी, रामकली १।३।

१० अवधू मेरा मन मतवरा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियाला।—क० ग्र०, पद ७२, पृ० ११०।
दासु कबीर तासु मद माता उचकि न कबहू जाइ।—स० क०, रामकली २।३, पृ० १७७।

स्वाभाविक आत्म-तत्त्व-स्वरूप की अनुभूति सम्भव होती है और सहज मार्ग से सहज समाधि में लीन होकर सहज शून्यावस्था की प्राप्ति होती है जिसमें सहज रूप से सहजानन्द की निर्मल धारा का निर्मल शान्तिदायक अमृत पीकर मन सहज मतवाला हो जाता है। भाषा इस अनुभूति के बाद पंगु है और अभिव्यक्ति मूक है। कबीर-पंथ में सहज के विविध स्वरूप को लक्षित किया गया था।[1] सन्त-कवि प्रत्येक व्यक्ति को इस अमृत-धारा में अवगाहन निमज्जन करने के लिए सहज भाव से आमन्त्रण दे रहा है, जो अपना सिर दे सकता है अहंभाव को नष्ट कर सकने की क्षमता रखता है, वह सहज रूप से निस्संक भाव से इस मार्ग में आवे। परमात्मा ने माया के जिस बन्धन से जीव को बाँध दिया था उस बन्धन को तोड़ वह अपने अटूट प्रेम-पाश में प्रिय को बाँध लेगा और इस बन्धन से प्रिय को कभी मुक्ति नहीं।[2] इस मिलन में कभी बिछोह नहीं कोई वियोग नहीं। यहाँ बारहों मास वसन्त है, पूर्ण मिलन जिसमें वियोग की आशंका और द्विधा नहीं। इस आन्तर मिलन इस आन्तरिक संयोग को ही मर्मी इस जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार करता है।

तेजपुंज की सुन्दरी तेजपुंज का कन्त।
तेजपुंज की सेज परि, दादू बन्या बसंत ॥[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति

डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार सन्त-मत मूलतः निवृत्ति-मार्ग है।[4] यद्यपि सन्त शब्द का व्यापक अर्थ उन्होंने किया है और केवल निर्गुणी सन्तों को ही नहीं बल्कि अध्यात्म से सम्बन्ध रखनेवाले सभी सम्प्रदायों को उसके अन्तर्गत माना है। इसी निबन्ध में आगे चल कर उन्होंने लिखा है— 'कबीर का सन्त-मत से घनिष्ठ सम्बन्ध है।'[5] नाथ-पन्थी योगियों की परम्परा में मानने पर निवृत्ति-मूलकता का सिद्धान्त स्वतः प्रमाणित हो जाता है। डॉ० बड़थ्वाल के इस मत का अधिक प्रचार हुआ और सगुणोपासकों को प्रवृत्ति-मार्गी और मर्मी-साधकों को निवृत्ति मार्गी कहने की प्रथा-सी चल पड़ी। सूरदास की गोपियों ने भी व्यंग्य करते हुए कहा था कि कुब्जा को भोग और उन जैसी युवतियों को वैराग्य (निवृत्ति) की शिक्षा उपयुक्त नहीं।[6]

---

१ सहजै लीनो सहजै दीन्हों सहज मुरली भी लाइ।
सहजै रची लो कबीर जी घर तन करै समाइ ॥
श्री रामानंदजी कबीर का 'ग्यान तीलक'(ज्ञानतिलक) हस्तलिखित लेखक की लिखी प्रति।

२ मेरी बाँधि भगतु छुड़ावै बाँधै भगतु न छूटै मोहि।
एक समय मोकउ गहि बाँधै तउ पुनि मो पै जबाबु न होइ ॥
—नामदेव ग्रं० धारंग ३।१।

३ दा० द० बा० (१) सुंदर को अंग ११ पृ० २४२।

४ योग-प्रवाह (उत्तराखण्ड में सन्त-मत और सन्त-साहित्य शीर्षक निबन्ध) पृ० १९७।

५ वही पृ० २०१।

६ ऊधो जाके माथे भाग।
कुबजा को पटरानी कीन्हीं हमहि देत बैराग।
जोग की बेलि लगावन आए काटि प्रेम को बाग।
—भ्र० गी० सा० पद ११६ पृ० १४४।

सूर-साहित्य के अध्येता पर यह प्रकट होते देर नही लगती कि उम साहित्य मे योग-मार्ग की खिल्ली उडाई गई है। पातजल योग-सूत्र के अनुसार चित्तवृत्ति का निरोध (निवृत्ति) ही योग है अर्थात् भिन्न-भिन्न वृत्तियो का अनुगमन करनेवाली इद्रियो को उनके विपय से विच्छिन्न करना है।[१] जिस सस्कार द्वारा देखी या सुनी वस्तुओ के पाने की अभिलापा त्याग दी जाती है और मन को वश में करने की सतत चेष्टा होती है उसे वैराग्य कहते है।[२] सगुणोपामक तत्त्ववाद के अनुसार चित्तवृत्ति अविच्छिन्न रूप से निरन्तर अपने इष्टदेव से नियोजित रहती है, यहाँ चित्तवृत्ति का निरोध नही वल्कि वह इष्टदेव के साथ नियोजित हो जाती है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग करें तो कहना होगा कि योग में वृत्ति-दमन (Repression) होता है और भक्ति में शोध (Sublimation) वृत्ति का यहाँ तात्पर्य मैक्डूगलीय प्रवृत्ति (Innate tendency) समझना चाहिए। आदिम अन्त प्रवृत्ति का सस्कार होता जाता है। अन्तर्वृत्ति और आत्म-प्रेरणा में अन्तर है। आसक्ति-त्याग भी प्रेरणा का स्वरूप ग्रहण करता है। इस प्रकार की वर्जनाएँ मात्र अभावात्मक नही वल्कि भावात्मक भी होती है। अन्त प्रेरणा अभीप्सा है, गम्भीर आकाक्षा, जो मकल्प का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। योग में निग्रह अथवा निरोध है, जो प्रेरणा वन सकता है। सगुणोपामना में वृत्ति इष्टदेव के साथ सम्वद्ध[३] होकर अन्य वस्तुओ से निरुद्ध हो जाती है। सगुणोपासक का भोग वस्तुत भोग नही वल्कि नैष्कर्म्म-सिद्धि के विरुद्ध सत्ता-विशेष के अर्थ कार्य करने की प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का अत सहज प्रभाव न तो योग-मार्ग अथवा ज्ञान-योग में है और न भक्ति-मार्ग में। भक्ति-मार्ग के इस प्रवाह परिवर्तन की एक और सीमा वाँधी गई है जिमे भागवतकार के शब्दो में अनिमित्तता अथवा अहैतुकी कहा जाता है।[४] इस प्रकार सगुण भक्ति-मार्ग सयमित और परिमित प्रवृत्तिमूलक है। शोध के द्वारा वृत्ति का जो सस्कार होता है, उसमे गति रहती है। अहैतुकता की सीमा वाँध कर गीता के निष्काम कर्म के साथ सामञ्जस्य तो हो जाता है किन्तु उसकी अवाध गतिशीलता में वाधा आ जाती है। अत इस वाधा को दूर करने के लिए आत्म-पक्ष से निर्हेतुक किन्तु इष्ट-पच्च से तदोद्देश्य प्रवृत्ति का विधान है।

सन्त-कवि को ज्ञान-मार्गी कह कर यह मान लिया गया है कि ज्ञान द्वारा वह कैवल्य-प्राप्ति का साधक है। हमने देखा है कि यह धारणा भ्रममूलक है। उसका उद्देश्य है चैतन्य स्वरूप आनन्द की उपलब्धि और उसका साधन है अपने आत्मस्थ सत्स्वरूप की पहचान। परमानन्द की अनुभूति ही उमकी प्रेरणा है और इस अनुभूति के लिए योग के वाह्य स्वरूप और वैधानिक आडम्वर को मर्मी ने व्यर्थ और अनुपयुक्त समझा था। सन्त ने निर्घोप किया है कि भाव-भगति के अभाव में सशय दूर नही हो सकता।[५] भाव के अभाव मे परोक्षानुभूति

---

१ योग सूत्र १।२। २ वही, १।१५।

३ सा (भक्ति) परानुरक्तिरीश्वरे। —शाण्डिल्य सूत्र।

४ भागवत ३।२५।३३।

५ भाव भगति विसवास विन कटै न ससै-मूल।
कहै कवीर हरि भगति विनु मुकति नही रे भूल॥ —कवीर।

स्वाभाविक आत्म-तत्त्व-स्वरूप की अनुभूति सम्भव होती है और सहज भाव से सहज समाधि में लीन होकर सहज शून्यावस्था की प्राप्ति होती है जिसमें सहज रूप से महदानन्द की नित्य धारा का निर्मल शान्तिदायक अमृत पीकर मन सहज मतवाला हो जाता है। भाषा इस अनुभूति के आगे पंगु है और अभिव्यक्ति मूक है। कबीर-पंथ में सहज के विविध स्वरूप का संकेत किया गया था।[1] सहज-वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति का इस अमृत-धारा में अनायास निमज्जन करने के लिए सहज भाव से आमंत्रण दे रही है जो आत्मा नित्य है उससे अहंभाव का नष्ट कर सकने की क्षमता रखता है वह सहज रूप में निर्द्वन्द्व भाव से इस रस में आता है। परमात्मा ने माया के जिस बन्धन में जीव को बाँध दिया था उस बन्धन को तोड़ वह अगम अटूट प्रेम-पाश में प्रिय को बाँध सका और इस बन्धन से प्रिय को कभी मुक्ति नहीं।[2] इस मिलन में कभी विछोह नहीं कोई वियोग नहीं। यहाँ बारहों मास वसन्त है, पूर्ण मिलन जिसमें वियोग की आशंका और द्विधा नहीं। इस आन्तर मिलन इस आन्तरिक संयोग को ही मर्मी इस जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार करता है।

तेजपुंज की सुन्दरी तेजपुंज का कंत।
तेजपुंज की सेज परि दादू बन्या बसंत ॥[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति

डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार सन्त मत मूलतः निवृत्ति-मार्ग है।[4] यद्यपि सन्त शब्द का व्यापक अर्थ उन्होंने लिया है और केवल निर्गुणी सन्तों को ही नहीं बल्कि अध्यात्म से सम्बन्ध रखनेवाले सभी सम्प्रदायों को उसके अन्तर्गत माना है। इसी निबन्ध में आगे चल कर उन्होंने लिखा है— कबीर का सन्त-मत से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[5] नाथ-पन्थी योगियों की परम्परा में मानने पर निवृत्ति-मूलकता का सिद्धान्त स्वतः प्रमाणित हो जाता है। डॉ० बड़थ्वाल के इस मत का अधिक प्रचार हुआ और सगुणोपासकों को प्रवृत्ति-मार्गी और मर्मी-साधकों को निवृत्ति मार्गी कहने की प्रथा-सी चल पड़ी। सूरदास की गोपियों ने भी व्यंग्य करते हुए कहा था कि कुब्जा को भोग और उन जैसी युवतियों को वैराग्य (निवृत्ति) की शिक्षा उपयुक्त नहीं।[6]

---

१ सहजै सीमो सहजै कीन्हों सद्गुरु सुरतो की कार।
  सहजै रची को कबीर की बर संत करै रमार ॥
  श्री रामानंदजी कबीर का 'ग्यान तीलक'(ज्ञानतिलक) हस्तलिखित लेखक की निजी प्रति।

२. मेरी बाँधि भगतु छुड़ावै बाँधै भगतु न छूटै मोहि।
  एक समय मोकउ गहि बाँधै तउ पुनि मो पै जबाबु न होइ ॥
  —नामदेव ग्रा ग्रं सारंग ३।१।

३ दा द बा (१) सुंदर को अंग ११ पृ २४२।

४ योग-प्रवाह (उत्तराखण्ड में सन्त-मत' और सन्त-साहित्य शीर्षक निबन्ध) पृ १९७।

५. वही पृ २ १।

६ ऊधो जाके माथे भाग।
  कुबजा को पटरानी कीन्हीं हमहि देत बैराग।
  जोग की बेलि लगावन आए, काटि प्रेम को बाग।
  —भ्र गी सा पद ११६ पृ १४४।

जीवन की अति-सासारिकता से है। महज रूप में जो प्राप्त है, वही उपादेय है चाहे वह वैराग्य हो, चाहे गार्हस्थ्य। मन यदि सत्वस्थ हो गया, फिर घर-वन, वैराग्य-राग, प्रवृत्ति निवृत्ति का प्रश्न व्यर्थ है। कबीर के समय में ऐसे प्रश्न उठ खडे हुए थे, कारण 'योग' और 'भोग' की चर्चा उन्होने की है—

साधु मिलै सिधि पाइए कि एहु जोगु कि भोगु।
दुहु मिलि कारज ऊपजै राम नाम सजोगु॥[1]

ससार और घर छोडना साधना और वैराग्य नही। साधना और प्रवृत्ति-मूलक जीवन में विरोध नही, इसमें किसी प्रकार की कसाकसी और ऐंचातानी नही। दादू के शिष्य रज्जब ने अत कहा है कि योग में एक प्रकार का भोग है, भोग में भी योग सम्भव है। इसीलिए तो वैराग्य से मनुष्य डूब सकता है और गृही तर सकता है।[2]

प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रश्न निर्भ्रान्त नही। सन्त के अनुसार यह न तो एकान्त भोग है और न योग ही। भोग में योग भी नही अथवा भोगमय योग भी नही। यह योगगत भोग भी नही है। यह सम्पूर्ण भावात्मक योग ही भोग और यह भोग योग से नितान्त विच्छिन्न और विभिन्न भी नही।

व्यापक मानववाद

दर्शनो की प्रचलित परम्परा और पद्धति के अनुसार इन मर्मी कवियों पर विचार करने से कई प्रकार की भ्रान्तियों की सृष्टि हुई है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सन्तो का सम्प्रदाय सगठनवाद में चल कर हुआ यद्यपि सिक्ख धर्म प्रारम्भ से ही सगठित रूप में रहा। सिक्ख धर्म, सत्तनामी सम्प्रदाय और रामदासी सम्प्रदाय के सगठन द्वारा शासन सत्ता का जो विरोध हुआ था वह सम्प्रदाय के स्वरूप के कारण नही। कबीर ने कहा था कि सिहो के लहडे नही होते, हस पक्ति-बद्ध होकर नही उडता। लाल बोरियो में भरे नही मिलते, उसी प्रकार सन्त समाज अथवा सम्प्रदाय बना कर नही रहता। इनकी चिन्ता-धारा विशुद्ध प्रयोगात्मक (Empirical) है। सन्त ने जीवन और जगत्, धर्म-सम्प्रदाय, रीति-नीति, आचार-विचार और साधना-पद्धति में विरोध देखा। शकर के समक्ष बौद्ध दार्शनिकता के विरुद्ध वैदिक दार्शनिकता की प्रतिष्ठा करने का प्रश्न था अत तत्त्ववाद का तत्त्ववादी विवेचन उन्होने किया। रामानुज को परम्परा से प्राप्त भक्ति-साधना, उपासना-पूजा को दार्शनिक आधार देना था अत रामानुज की धार्मिक दार्शनिकता है। हम यहाँ दोनो के तुलनात्मक महत्त्व के सम्बन्ध में विचार नही कर रहे हैं, अथवा इस प्रश्न पर भी विचार नही कर रहे है कि दोनो में कौन महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अथवा किस में अधिक विवेचना शक्ति है। यहाँ दोनों के लक्ष्यान्तर के आधार का

---

१ स० क०, रागु गउडी ५५१२, पृ० ५८ (स० क० में 'मजोगु' के स्थान में 'सगु' पाठ है, किन्तु आदि ग्रथ में इसका पाठ 'सजोगु' है, छन्द और तुक की दृष्टि से यह उपयुक्त है)।

२ एक जोग में भोग है एक भोग मे जोग।
एक बुडहि वैराग में एक तिर्राहि सो गृही लोग॥ —सर्वांगी मायामथि को अग ४९।

नहीं हो सकती।[1] रविदास ने उसके (जो 'स्व' से भिन्न नहीं) साथ सच्ची प्रीति जोड़ी थी अतः अन्य वस्तुओं से प्रीति का सम्बन्ध जुड़ नहीं सका और जो जुड़ा था वह टूट गया।[2] यह प्रेम कुछ ऐसा अगाध गम्भीर और व्यापक है कि उस प्रिय के अतिरिक्त और कुछ प्रिय ही न रहा।[3] सब में प्रिय है प्रिय में सब है, प्रिय से कोई भिन्न भी नहीं। सर्वत्र वही 'एक' प्रिय दीख पड़ रहा है अतः अप्रिय कौन रह सका? कबीर कहते हैं— 'हे सखि! सुनो मेरा हृदय प्रियतम में निवास करता है। मुझे तो हृदय और प्रियतम की अलग-अलग पहचान नहीं हो पाती और पता नहीं चलता कि मेरा हृदय है या मेरा प्रियतम।[4] प्रेम प्रवृत्ति है, चाहे वह व्यक्त व्यक्ति के प्रति हो अथवा अव्यक्त व्यक्ति के प्रति।

निवृत्ति-मार्ग का दूसरा अर्थ है संसार अथवा गार्हस्थ्य जीवन और वैयक्तिक धन्धे का परित्याग जिसे साधारण भाषा में वैराग्य कहते हैं। इस प्रश्न पर अन्यत्र विचार किया गया है यहाँ इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि इस अर्थ में वैराग्य धारण करना सन्त-सम्प्रदाय में पीछे चल कर प्रतिष्ठित हुआ। विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए धन्धे का परित्याग न कर जीविकोपार्जन करना सन्त ने आवश्यक समझा था। बुद्ध मध्यममार्गी कहे जाते हैं किन्तु उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में काम-वर्जना का अतिवाद प्रतिष्ठित हुआ था। बौद्ध भिक्षुओं के जबर्दस्ती बाँधे ब्रह्मचर्य को चक्र-पूजा के यौन-स्वातन्त्र्य की शरण लेनी पड़ी थी। अतः इस प्रवृत्ति का निरोध नहीं बल्कि सहज निवृत्ति के लिए वैवाहिक जीवन आवश्यक था। नारी की अतिशय निंदा करने वाले संत ने भी काम वृत्ति के निरोध-अवरोध को नहीं बल्कि उसकी सहज स्वाभाविक पूर्ति को आवश्यक माना था। वृत्ति स्वयं बुरी नहीं संत की दृष्टि में उसकी अति-प्रवृत्ति संकट में डालने वाली है। कबीर के अनुसार वैराग्य लेकर गृहस्थाश्रम के बन्धन में पड़ने वाला अभागा है।[5] नाथ-पंथी के सामने विषम समस्या उपस्थित थी कि जनजन्ड जाता हूँ तो भूखा व्यापती है, भूख सताती है। नगर में जाता हूँ तो माया आकृष्ट करती है। (पेट) भर-भर कर खाता हूँ तो शुक्र बाधक्य के कारण काम-वासना सताती है। जल-बूँद से निर्मित इस शरीर को किस प्रकार सिद्ध बनायें समत्व की अवस्था में लायें[6]? कबीर और उनके प्रभाव प्रवर्तित मर्मी-समाज ने इसका व्यावहारिक मनोविज्ञान-सम्मत उत्तर दिया था। सन्त-सम्प्रदाय का विरोध सांसारिक जीवन से नहीं बल्कि

---

१ साध संगति बिन भाव न उपजै भाव बिन भगति नहीं होइ तेरी।
—रविदास भा पं धनासरी २।२।

२ *जाकी प्रीति हम तुम सिउ जोरी तुम सिउ जोरि अवर संग तोरी।*
—आ ग्रं रविदास रागु सोरठ ५।१।

३ सं क साखी २१५ पृ २८२।

४ सुनु सखी पीउ महि जीउ बसै जीउ महि बसै कि पीउ।
जीउ पीउ बूझउ नहीं घट महि जीउ कि पीउ॥
—सं क साखी २१६ पृ २८२

५ बैरागी बंधनु परै ता को बड़ो अभागु। —वही साखी २४१, पृ २८१।

६ गो बा १२।१।

जीवन की अति-सासारिकता से है। सहज रूप में जो प्राप्त है, वही उपादेय है चाहे वह वैराग्य हो, चाहे गार्हस्थ्य। मन यदि सत्वस्थ हो गया, फिर घर-वन, वैराग्य-राग, प्रवृत्ति निवृत्ति का प्रश्न व्यर्थ है। कबीर के समय में ऐसे प्रश्न उठ खडे हुए थे, कारण 'योग' और 'भोग' की चर्चा उन्होने की है—

साधु मिलै सिधि पाइए कि एहु जोगु कि भोगु।
दुहु मिलि कारज ऊपजै राम नाम सजोगु ॥[1]

ससार और घर छोडना साधना और वैराग्य नही। साधना और प्रवृत्ति-मूलक जीवन में विरोध नही, इसमे किसी प्रकार की कसाकसी और ऐंचातानी नही। दादू के शिष्य रज्जब ने अत कहा है कि योग में एक प्रकार का भोग है, भोग में भी योग सम्भव है। इसीलिए तो वैराग्य से मनुष्य डूब सकता है और गृही तर सकता है।[2]

प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रश्न निर्भ्रान्त नही। सन्त के अनुसार यह न तो एकान्त भोग है और न योग ही। भोग में योग भी नही अथवा भोगमय योग भी नही। यह योगगत भोग भी नही है। यह सम्पूर्ण भावात्मक योग ही भोग और यह भोग योग से नितान्त विच्छिन्न और विभिन्न भी नही।

व्यापक मानववाद

दर्शनो की प्रचलित परम्परा और पद्धति के अनुसार इन मर्मी कवियो पर विचार करने से कई प्रकार की भ्रान्तियो की सृष्टि हुई है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सन्तो का सम्प्रदाय सगठनवाद में चल कर हुआ यद्यपि सिक्ख धर्म प्रारम्भ से ही सगठित रूप मे रहा। सिक्ख धर्म, सत्तनामी सम्प्रदाय और रामदासी सम्प्रदाय के सगठन द्वारा शासन सत्ता का जो विरोध हुआ था वह सम्प्रदाय के स्वरूप के कारण नही। कबीर ने कहा था कि सिहो के लहडे नही होते, हस पक्ति-बद्ध होकर नही उडता। लाल बोरियो में भरे नही मिलते, उसी प्रकार सन्त समाज अथवा सम्प्रदाय बना कर नहीं रहता। इनकी चिन्ता-धारा विशुद्ध प्रयोगात्मक (Empirical) है। सन्त ने जीवन और जगत्, धर्म-सम्प्रदाय, रीति-नीति, आचार-विचार और साधना-पद्धति में विरोध देखा। शकर के समक्ष बौद्ध दार्शनिकता के विरुद्ध वैदिक दार्शनिकता की प्रतिष्ठा करने का प्रश्न था अत तत्त्ववाद का तत्त्ववादी विवेचन उन्होने किया। रामानुज को परम्परा से प्राप्त भक्ति-साधना, उपासना-पूजा को दार्शनिक आधार देना था अत रामानुज की धार्मिक दार्शनिकता है। हम यहाँ दोनो के तुलनात्मक महत्त्व के सम्बन्ध में विचार नही कर रहे हैं, अथवा इस प्रश्न पर भी विचार नही कर रहे हैं कि दोनो में कौन महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अथवा किस में अधिक विवेचना शक्ति है। यहाँ दोनो के लक्ष्यान्तर के आधार का

---

१ स० क०, रागु गउडी ५५।२, पृ० ५८ (स० क० में 'सजोगु' के स्थान में 'सगु' पाठ है, किन्तु आदि ग्रथ में इसका पाठ 'सजोगु' है, छन्द और तुक की दृष्टि से यह उपयुक्त है)।

२ एक जोग में भोग है एक भोग में जोग।
एक बुर्डहि वैराग में एक तिर्रहि सो गृही लोग ॥ —सर्वांगी मायामथि को अग ४९।

नहीं हो सकती।[1] रविदास ने उसके (जो 'स्व' से भिन्न नहीं) साथ सच्ची प्रीति जोड़ी थी अतः अन्य वस्तुओं से प्रीति का सम्बन्ध जुड़ नहीं सका और जो जुड़ा था वह टूट गया।[2] यह प्रेम कुछ ऐसा प्रगाढ़ गम्भीर और व्यापक है कि उस प्रिय के अतिरिक्त और कुछ प्रिय ही न रहा।[3] सब में प्रिय है प्रिय में सब है प्रिय से कोई भिन्न भी नहीं। सर्वत्र वही 'एक' प्रिय दीख पड़ रहा है अतः अप्रिय कौन रह सका? कबीर कहते हैं—'हे सखि! सुनो मेरा हृदय प्रियतम में विश्राम करता है। मुझे तो हृदय और प्रियतम की अलग-अलग पहचान नहीं हो पाती और पता नहीं चलता कि मेरा हृदय है या मेरा प्रियतम।[4] प्रेम प्रवृत्ति है, चाहे वह व्यक्त व्यक्त के प्रति हो अथवा अव्यक्त व्यक्त के प्रति।

निवृत्ति-भाव का दूसरा अर्थ है, संसार अथवा गार्हस्थ्य जीवन और नैमित्तिक कर्मों का परित्याग जिसे साधारण भाषा में वैराग्य कहते हैं। इस प्रश्न पर अन्यत्र विचार किया गया है, यहाँ इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि इस अर्थ में वैराग्य धारण करना सन्त-सम्प्रदाय में पीछे चल कर प्रतिष्ठित हुआ। विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए कर्मों का परित्याग न कर जीविकोपार्जन करना सन्त ने आवश्यक समझा था। बुद्ध मध्यममार्गी कहे जाते हैं किन्तु उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में काम-वर्जना का अतिवाद प्रतिष्ठित हुआ था। बौद्ध भिक्षुओं के जबर्दस्ती वाले ब्रह्मचर्य को चक्र-पूजा के यौन-स्वातन्त्र्य को शरण लेनी पड़ी थी। अतः इस प्रवृत्ति का निरोध नहीं बल्कि सहज निवृत्ति के लिए वैवाहिक जीवन आवश्यक था। नारी की अतिशय निंदा करने वाले संत ने भी काम वृत्ति के निरोध-अवरोध को नहीं बल्कि उसकी सहज स्वाभाविक पूर्ति को आवश्यक माना था। वृत्ति स्वयं बुरी नहीं संत की दृष्टि में उसकी अति-प्रवृत्ति संकट में डालने वाली है। कबीर के अनुसार वैराग्य लेकर गृहस्थाश्रम के बन्धन में पड़ने वाला अभागा है।[5] नाथ-पंथी के सामने विषम समस्या उपस्थित की कि अगर वन में जाता हूँ तो क्षुधा व्यापती है, भूख सताती है। नगर में जाता हूँ तो माया आकृष्ट करती है। (पेट) भर-भर कर खाता हूँ तो शुक्र बाधक्य के कारण काम-वासना सताती है। जल-बूँद से निर्मित इस शरीर को किस प्रकार सिद्ध बनायें समरस की अवस्था में लायें[6]? कबीर और उनके प्रभाव प्रवर्तित मर्मी-समाज ने इसका व्यावहारिक मनोविज्ञान-सम्मत उत्तर दिया था। सन्त-सम्प्रदाय का विरोध सांसारिक जीवन से नहीं बल्कि

---

१ साध संगति बिन भाव न उपजै भाव बिन भगति नहीं होइ तेरी।
—रविदास का प्रं बनारसी २।१।

२ सांची प्रीति हम तुम सिउ जोरी तुम सिउ जोरि अवर संग तोरी।
—का प्रं रविदास रागु सोरठ ५।१।

३ सं क सलोकु २१५ पृ २८२।

४ सुनु सखी पीउ महि जीउ बसै जीउ महि बसै कि पीउ।
जीउ पीउ बूझउ नहीं घट महि जीउ कि पीउ॥
—सं क सलोकु २१६ पृ २८२

५ बैरागी बंधनु परै ता को बड़ो अभागु। —वही सलोकु २४१ पृ २८३।

६ गो बा १२।१।

जीवन की अति-सासारिकता से है। सहज रूप में जो प्राप्त है, वही उपादेय है चाहे वह वैराग्य हो, चाहे गार्हस्थ्य। मन यदि सत्वस्थ हो गया, फिर घर-वन, वैराग्य-राग, प्रवृत्ति निवृत्ति का प्रश्न व्यर्थ है। कबीर के समय में ऐसे प्रश्न उठ खडे हुए थे, कारण 'योग' और 'भोग' की चर्चा उन्होने की है—

साधु मिलै सिधि पाइए कि एहु जोगु कि भोगु।
दुहु मिलि कारज ऊपजै राम नाम सजोगु॥[1]

ससार और घर छोडना साधना और वैराग्य नही। सावना और प्रवृत्ति-मूलक जीवन में विरोध नही, इसमे किसी प्रकार की कसाकसी और ऍचातानी नही। दादू के शिष्य रज्जब ने अत कहा है कि योग में एक प्रकार का भोग है, भोग में भी योग सम्भव है। इसीलिए तो वैराग्य से मनुष्य डूब सकता है और गृही तर सकता है।[2]

प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रश्न निर्भ्रान्त नही। सन्त के अनुसार यह न तो एकान्त भोग है और न योग ही। भोग में योग भी नही अथवा भोगमय योग भी नही। यह योगगत भोग भी नही है। यह सम्पूर्ण भावात्मक योग ही भोग और यह भोग योग से नितान्त विच्छिन्न और विभिन्न भी नही।

व्यापक मानववाद

दर्शनो की प्रचलित परम्परा और पद्धति के अनुसार इन मर्मी कवियो पर विचार करने से कई प्रकार की भ्रान्तियो की सृष्टि हुई है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सन्तो का सम्प्रदाय सगठनवाद में चल कर हुआ यद्यपि सिक्ख धर्म प्रारम्भ से ही सगठित रूप में रहा। सिक्ख धर्म, सत्तनामी सम्प्रदाय और रामदासी सम्प्रदाय के सगठन द्वारा शासन सत्ता का जो विरोध हुआ था वह सम्प्रदाय के स्वरूप के कारण नही। कबीर ने कहा था कि सिहो के लहडे नही होते, हस पक्ति-बद्ध होकर नही उडता। लाल बोरियो में भरे नही मिलते, उसी प्रकार सन्त समाज अथवा सम्प्रदाय बना कर नही रहता। इनकी चिन्ता-धारा विशुद्ध प्रयोगात्मक (Empirical) है। सन्त ने जीवन और जगत्, धर्म-सम्प्रदाय, रीति-नीति, आचार-विचार और साधना-पद्धति में विरोध देखा। शकर के समक्ष बौद्ध दार्शनिकता के विरुद्ध वैदिक दार्शनिकता को प्रतिष्ठा करने का प्रश्न था अत तत्त्ववाद का तत्त्ववादी विवेचन उन्होने किया। रामानुज को परम्परा से प्राप्त भक्ति-साधना, उपासना-पूजा को दार्शनिक आधार देना था अत रामानुज की धार्मिक दार्शनिकता है। हम यहाँ दोनो के तुलनात्मक महत्त्व के सम्बन्ध में विचार नही कर रहे हैं, अथवा इस प्रश्न पर भी विचार नही कर रहे हैं कि दोनो में कौन महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अथवा किस में अधिक विवेचना शक्ति है। यहाँ दोनो के लक्ष्यान्तर के आधार का

---

१ स० क०, रागु गउडी ५५।२, पृ० ५८ (स० क० में 'सजोगु' के स्थान मे 'सगु' पाठ है, किन्तु आदि ग्रथ मे इसका पाठ 'सजोगु' है, छन्द और तुक की दृष्टि से यह उपयुक्त है)।

२ एक जोग में भोग है एक भोग में जोग।
एक बुर्डहि वैराग में एक तिर्रहि मो गृही लोग॥ —सर्वांगी मायामथि को अग ४९।

विवेचन मात्र अभीष्ट है।[1] अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद परात्परवाद के घेरे में बाँध कर मानवीय स्वतन्त्रता के साधकों की भावनाओं का विवेचन सम्भव नहीं। निर्झर की प्रवहमान धारा का माप उसके किनारे नहीं। इस धारा के अध्ययन का प्रधान सूत्र लौकिक परम्परा और तत्कालीन स्थिति है, जिसके ज्ञान के सीमित साधन ही अभाग्यवश हमें उपलब्ध हैं। वस्तुतः मनुष्य अपने को सत्य मान कर ही किसी विचार-सूत्र को पकड़ता है और अपने सम्बन्ध से ही जगत् और उसके सम्बन्ध में विचार करता है। सन्त ने सृष्टि के मूल में तारतम्य और चैतन्य सोद्देश्यता देखी थी और उसके साथ अपनी चैतन्य-धारा को नियोजित करना चाहा था। इस चैतन्य के दर्शन के लिए उसे अनुभूति की क्षमता चाहिए। किसी सिद्धान्त को अनुभव की कसौटी पर बिना कसे सन्त स्वीकार नहीं करता। 'स्वानुभूति' के लिए 'स्व' का रहस्य अर्थ समझना पड़ेगा। कबीर के लिए स्वसंवेद्य ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है दादू की अन्तःप्रेरणा के मूल में यह चैतन्य अनुभूति है। प्रत्येक सन्त इस रस-स्रोत में निरन्तर बह रहा है। अनुभूति के द्वारा प्रयोगात्मक और व्यावहारिक तत्त्व-ज्ञान ही उसका मूलधन है। अनेक में 'एक' है और 'एक' से 'अनेक' भिन्न भी नहीं। सर्वात्मवाद की इस सीमा पर वह 'मानव' की पूर्ण महत्ता की प्रतिष्ठा कर रहा है, जिसके पारस्परिक सम्बन्ध में कोई विषमता नहीं होनी चाहिए। सामाजिक राजनीति उस समय पुष्ट नहीं थी अतः उसे नीति-धर्म का आधार लेना पड़ा था। आज की नीति-विच्छिन्न राजनीति के लिए अपपूर्ण संकेतात्मक सन्देश सन्त-काव्य में निहित है। मानव-कल्याणवादी की कल्याण-कामना उसकी देन है, जीव-दया का नवीन रूपान्तर मात्र। सन्त मनुष्य की प्रतिष्ठा स्थापित करता है, उसके अन्त चैतन्य की रस-धारा और अमृत शक्ति पर उसे विश्वास है। आज के बुद्धिवादी मानववाद के अनुकूल मनुष्य की निहित भौतिकता में विश्वास उसे नहीं किन्तु आत्म-संस्कार द्वारा उस विशुद्ध आत्म-तत्त्व की प्राप्ति पर उसकी आस्था है जो मानवता का मूल है।

मर्मी कवि वादों के विवाद में नहीं पड़ना चाहता पण्डितों की तार्किक-पद्धति से तर्क करना सम्भवतया उसे आता भी नहीं था। वह तो सहज भाव से प्राप्त सहज अनुभूतिजन्य ज्ञान को सहज रूप से प्रकाशित अभिव्यक्त कर देता है। उसकी वाणी को अलंकरण की अपेक्षा अतः कहाँ रह गई ? उसका विश्वास है कि मनुष्य स्वतन्त्र है, उसमें अनन्त ज्योति और अनन्त आनन्द का निवास है। मनुष्य के अभ्यन्तर में सारा ज्ञान और समस्त आनन्द है किन्तु वैर-विभाग भ्रम-परम्परा आचार-नीति और मत-सम्प्रदाय के घेरे मे बँधा मनुष्य अपनी सम्भावनाओं के अनुकूल विकास नहीं कर पाता क्योंकि मार्ग में अनन्त बाधाएँ और अवरोध हैं। जीवन जल रहा है उसे शान्ति चाहिए, आनन्द की शीतल धारा। मनुष्य बाधा बन्धनहीन हो उसकी सम्भावनाओं की सम्पूर्ति की सम्भावना बनी रहे। अतः सन्त ने पुकार पुकार कर कहा—मनुष्य आनन्द की चैतन्य अबाध धारा तुम्हारे अन्तर्गत प्रवाहित हो रही है।

देवत्व और मनुष्यत्व अत्यन्त समीप हैं मनुष्यत्व की विशुद्ध रूपमत्ता ही तो देवत्व है। जो मनुष्य महान् है, वह देवता है। आशंका और भय के आधार पर निर्मित धर्म-जीवन की

---

१ द्रष्टव्य आनन्द कुमारस्वामी दि हिन्दू व्यू ऑफ दि सिटी (भूमिका)।

उसने अभय का वरदान दिया। अमृत-पुत्र को अमृत-साधना का साधन दिया। सन्त के विचार को मानवीय भूमिका में देखना उचित है। और विचारक जहाँ तत्त्ववादी और धार्मिक है, वहाँ सन्त मानवीय है, मानव-दर्शन का द्रष्टा। धार्मिक अध्यात्म के साथ मानवीय तत्त्ववाद की समता कैसी ?

सन्त ने स्पष्ट कर दिया था कि पारस्परिक एकता, वैयक्तिक समता और जीव-गत अभिन्नता के दर्शन जब तक नही होते तब तक आध्यात्मिक जीवन का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नही। इसके अभाव में धार्मिकता ढोंग है और आचार आडम्बर। इस ऐक्य-दर्शन के आधार पर ही वास्तविक सदाचार, मानवोचित सौजन्य, पारस्परिक शुभाकाक्षा एव व्यापक मानवीय करुणा का सूत्रपात नही हो सकता। मर्मी कवि के अनुसार जब तक आध्यात्मिक शान्ति उपलब्ध नही होती तब तक घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यक्तिगत सघर्ष, जातिगत स्पर्द्धा और वैयक्तिक ऐंचातानी के कारण मनुष्य का पतन होना रहेगा। इस पतन को समुत्थान में परिवर्तित करने के लिए उसे सत्स्वरूप की अनुभूति करानी पडेगी, उसे अपने महत्त्व को समझना होगा। सन्त चिन्ता-धारा का मूल-स्रोत है मनुष्य की महत्ता, जो उनके व्यापक मानववादी दृष्टिकोण का फल है।

आत्मानुभव की यह साधना है, मुक्ति है।[1] अन्तर में सत्य का आलोक जग गया। मन का ताप मिट गया, जिज्ञासा शान्त हो गई, आनन्द का अक्षय भाण्डार-सुख सागर मिल गया।[2] सुख-सागर में विलीन होकर ज्ञान-चैतन्य खो गया जिसमें वह अवस्था मिट गई जहाँ साधक और साध्य, ज्ञाता और ज्ञेय में भिन्नता रह जाती है। यह अनुभूति मात्र सत्य है जिसमें आनन्द की शीतल धारा, अभय का मद है, वहाँ भय नही, दुश्चिन्ता नही, द्वन्द्व नहीं, एक रस अन-भय है, निर्द्वन्द्विता है, निश्छलता, निश्चलता और एकान्त निर्मलता।[3] यह सत्य ही आनन्द है, और आनन्द ही सुन्दर। जो कुछ है वह सब सुन्दर, एकान्त सुन्दर एव जो नही है, जो असत् है वह एकान्त अ-सुन्दर।[4] जीवन में सत्य, आनन्द और सुन्दर की त्रिवेणी प्रवाहित हो, यह सन्त की कामना थी। यह दूसरी कथा है कि सरिताओ का मधुर जल सागर की लवणता दूर करने में असमर्थ रहा किन्तु उनके उद्देश्य की महत्ता और सदाकाक्षा

---

१ सुन्दर साधन सब करैं, कहैं मुक्ति में जाहि।
आतम के अनुभव बिना, और मुक्ति कहैं नाहि ॥
—ज्ञान समुद्र, आत्म अनुभव को अग ५, पृ० २०२।

२ अब मोहि जलत रामुजल पाइआ। रामउदकि तनु जलत बुझाइआ ॥
—आ० ग्र० राग गउडी १।

३ दादू दयाल की वाणी (१) परचा को अग, पद २९-३०, पृ० ६७ और (२), पद २०३, पृ० ९२।

४. है सो सुदर है सदा, नहि सो सुदर नाहि।
—दा० द० की वानी, ज्ञान समुद्र आत्म अनुभव की अग, पद १४, पृ० २०३।

विवेचन मात्र अभीष्ट है।[1] अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद परात्परवाद के घेरे में बाँध कर मानवीय स्वतन्त्रता के मापकों की धारणाओं का विवेचन सम्भव नहीं। निर्झर की प्रवहमान धारा का माप उसके किनारे नहीं। इस धारा के अध्ययन का प्रधान सूत्र लौकिक परम्परा और तत्कालीन स्थिति है, जिनके ज्ञान के सीमित साधन ही असामान्यवश हमें उपलब्ध हैं। वस्तुतः मनुष्य अपने को सत्य मान कर ही किसी विचार-सूत्र को पकड़ता है और अपने सम्बन्ध से ही जगत् और उसके सम्बन्ध में विचार करता है। सन्त ने सृष्टि के मूल में तादात्म्य और चैतन्य सोऽहंमता देखी थी और उसके साथ अपनी चैतन्य-धारा को नियोजित करना चाहा था। इस चैतन्य के वहन के लिए उसे अनुभूति की क्षमता चाहिए। किसी सिद्धान्त को अनुभव की कसौटी पर बिना कसे सन्त स्वीकार नहीं करता। 'स्वानुभूति' के लिए 'स्व' का रहस्य अर्थ समझना पड़ेगा। कबीर के लिए स्वसंवेद्य ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है दादू की अन्तःप्रेरणा के मूल में यह चतन्य अनुभूति है। प्रत्येक सन्त इस रस-स्रोत में निरन्तर बह रहा है। अनुभूति के द्वारा प्रयोगात्मक और व्यावहारिक तत्त्व-ज्ञान ही उसका मूलधन है। 'अनेक' में 'एक' है और 'एक' से 'अनेक' भिन्न भी नहीं। सर्वात्मवाद की इस सीमा पर वह 'मानव' की पूर्ण महत्ता की प्रतिष्ठा कर रहा है जिसके पारस्परिक सम्बन्ध म कोई विषमता नहीं होनी चाहिए। सामाजिक राजनीति उस समय पुष्ट नहीं थी अतः उसे नीति-धर्म का आधार लेना पड़ा था। आज की नीति-विच्छिन्न राजनीति के लिए धर्मपूर्ण संकेतात्मक सन्देश सन्त-काव्य में निहित है। मानव-कल्याणवादी की कल्याण-कामना उसकी देन है, जीव-दया का नवीन रूपान्तर मात्र। सन्त मनुष्य को प्रतिष्ठा स्थापित करता है, उसके अन्त चैतन्य की रस-धारा और अमृत शक्ति पर उसे विश्वास है। आज के बुद्धिवादी मानववाद के अनुकूल मनुष्य की निहित बौद्धिकता में विश्वास उसे नहीं किन्तु आत्म-संस्कार द्वारा उस विशुद्ध आत्म-तत्त्व की प्राप्ति पर उसकी आस्था है जो मानवता का मूल है।

मर्मी कवि वादों के विवाद में नहीं पड़ना चाहता पण्डितों की तार्किक-पद्धति से तर्क करना सम्भवतया उसे आता भी नहीं था। वह तो सहज भाव से प्राप्त सहज अनुभूतिमय ज्ञान का सहज रूप से प्रकाशित अभिव्यक्त कर देता है। उसकी वाणी को अलंकरण की अपेक्षा कब रही रह गई ? उसका विश्वास है कि मनुष्य स्वतन्त्र है, उसमें अनन्त ज्योति और अनन्त आनन्द का निवास है। मनुष्य के अभ्यन्तर में सारा ज्ञान और समस्त आनन्द है किन्तु वेद-विधान धर्म-परम्परा आचार-नीति और मत-सम्प्रदाय के घेरे में बँधा मनुष्य अपनी सम्भावनाओं के अनुकूल विकास नहीं कर पाता उसके मार्ग में अनन्त बाधाएँ और अवरोध हैं। जीवन चल रहा है उसे शान्ति चाहिए, आनन्द की शीतल धारा। मनुष्य बाधा-बन्धनहीन हो उसकी सम्भावनाओं की सम्पूर्ति की सम्भावना बनी रहे। अत सन्त ने पुकार पुकार कर कहा—मनुष्य आनन्द की चैतन्य अबाध धारा तुम्हारे अभ्यन्तर प्रवाहित हो रही है।

ईश्वर और मनुष्यत्व अत्यन्त गंभीर है मनुष्यत्व की विकसित रूपमत्ता ही तो ईश्वर है। जो मनुष्य महान् है वह देवता है। आशंका और भय के आधार पर निर्मित धर्म-जीवन को

---

१ द्रष्टव्य आनन्द कुमारस्वामी : दि हिन्दू गॉस्पेल ऑफ दि सिटी (भूमिका)।

उसने अभय का वरदान दिया। अमृत-पुत्र को अमृत-साधना का साधन दिया। सन्त के विचार को मानवीय भूमिका में देखना उचित है। और विचारक जहाँ तत्त्ववादी और धार्मिक है, वहाँ सन्त मानवीय है, मानव-दर्शन का द्रष्टा। धार्मिक अध्यात्म के साथ मानवीय तत्त्ववाद की समता कैसी ?

सन्त ने स्पष्ट कर दिया था कि पारस्परिक एकता, वैयक्तिक समता और जीव-गत अभिन्नता के दर्शन जब तक नही होते तब तक आध्यात्मिक जीवन का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नही। इसके अभाव में धार्मिकता ढोंग है और आचार आडम्बर। इस ऐक्य-दर्शन के आधार पर ही वास्तविक सदाचार, मानवोचित सौजन्य, पारस्परिक शुभाकांक्षा एव व्यापक मानवीय करुणा का सूत्रपात नही हो सकता। मर्मी कवि के अनुसार जब तक आध्यात्मिक शान्ति उपलब्ध नही होती तब तक घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यक्तिगत सघर्ष, जातिगत स्पर्द्धा और वैयक्तिक ऐंचातानी के कारण मनुष्य का पतन होना रहेगा। इस पतन को समुत्थान में परिवर्तित करने के लिए उसे सत्स्वरूप की अनुभूति करानी पड़ेगी, उसे अपने महत्त्व को समझना होगा। सन्त चिन्ता-धारा का मूल-स्रोत है मनुष्य को महत्ता, जो उनके व्यापक मानववादी दृष्टिकोण का फल है।

आत्मानुभव की यह साधना है, मुक्ति है।[१] अन्तर मे सत्य का आलोक जग गया। मन का ताप मिट गया, जिज्ञासा शान्त हो गई, आनन्द का अक्षय भाण्डार-सुख सागर मिल गया।[२] सुख-सागर में विलीन होकर ज्ञान-चैतन्य खो गया जिसमें वह अवस्था मिट गई जहाँ साधक और साध्य, ज्ञाता और ज्ञेय में भिन्नता रह जाती है। यह अनुभूति मात्र सत्य है जिसमें आनन्द की शीतल धारा, अभय का मद है, वहाँ भय नही, दुश्चिन्ता नही, द्वन्द्व नहीं, एक रस अन-भय है, निर्द्वन्द्विता है, निश्छलता, निश्चलता और एकान्त निर्मलता।[३] यह सत्य ही आनन्द है, और आनन्द ही सुन्दर। जो कुछ है वह सब सुन्दर, एकान्त सुन्दर एव जो नहीं है, जो असत् है वह एकान्त अ-सुन्दर।[४] जीवन में सत्य, आनन्द और सुन्दर की त्रिवेणी प्रवाहित हो, यह सन्त की कामना थी। यह दूसरी कथा है कि सरिताओं का मधुर जल सागर की लवणता दूर करने में असमर्थ रहा किन्तु उनके उद्देश्य को महत्ता और सदाकांक्षा

---

१ सुन्दर साधन सब करैं, कहूँ मुक्ति में जाहि।
आतम के अनुभव बिना, और मुक्ति कहूँ नाहि॥
—ज्ञान समुद्र, आतम अनुभव को अग ५, पृ० २०२।

२ अब मोहि जलत रामुजल पाइआ। रामउदकि तनु जलत बुझाइआ॥
—आ० ग्र० राग गउडी १।

३ दादू दयाल की बाणी (१) परचा को अग, पद २९-३०, पृ० ६७ और (२), पद २०३, पृ० ९२।

४ है सो सुंदर है सदा, नहिं सो सुदर नाहि।
—दा० द० की बानी, ज्ञान समुद्र आतम अनुभव को अग, पद १४, पृ० २०३।

में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता है। मानवता के गायक इन मर्मी कवियों को मानवता की इस व्यापक भूमिका में ही देखना होगा।

भावात्मक मानववाद की प्रतिष्ठा-सी करते हुए कबीर की वाणी उद्घोषित होती रही। पत्थर के देव की पूजा करनेवाले की सेवा और उपासना व्यर्थ होती है। अन्तर घट-घट स्थित प्रभु को पहचानता नहीं। न तो पत्थर कुछ बोलता है, न कुछ देता ही है, उसकी समस्त सेवाएँ, अतः व्यर्थ ही होंगी। प्रभु सब जीवों को जीवन-दान देता है और सदा बोलनेवाला ही हमारा देवता है सेव्य और पूज्य।

> जो पाथर कउ कहते देव । ता की बिरथा होवै सेव ॥
> अंतरि देउ न जानै अंधु । भ्रम का मोहिआ पावै फंधु ॥
> न पाथरु बोलै ना किछु देइ । फोकट करम निहफल है सेव ॥
> ठाकुर हमरा सद बोलंता । सरब जीआ कउ प्रभु दानु देता ॥[1]

सन्त-मत और वेदान्त

डॉ. बड़थ्वाल ने सन्तों के सिद्धान्तों और उपदेशों पर उपनिषदों का स्पष्ट प्रभाव देखा है और यह निष्कर्ष उपस्थित किया है कि उपनिषदों के द्रष्टाओं ने अपना आध्यात्मिक अन्वेषण उसी प्रणाली पर चलाया जिस पर शताब्दियों पीछे निर्गुणी सन्तों ने।[2] डॉ. बड़थ्वाल सन्तों के सिद्धान्तों को वस्तुतः अविकल रूप से उपनिषदों के सिद्धान्त मानते हैं।[3] इस सिद्धान्त की पुष्टि में उपनिषदों से समान उक्तियाँ उद्धृत की हैं। सन्त-सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों और टीकाकारों ने अपने मत को उपनिषद्-सम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में यह कोई नवीन घटना नहीं। प्रत्येक मतवाद अपने को वेद-सम्मत और अपने सिद्धांत को वेद का नवीन भाष्य होने का दावा उपस्थित करता रहा है। औप-निषदिक ज्ञान के ब्रह्मसूत्रीय स्वरूप की प्रतिष्ठा के पश्चात् ब्रह्मसूत्रों को ही यह स्थान परवर्ती युग में प्राप्त हुआ।

औपनिषदिक आधार की तात्त्विक विवेचना के लिए उपनिषदों को उनकी वास्तविक भूमिका में देखना समीचीन होगा। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में आगम का प्रामाणिक और प्रमाणित स्थान है। वेदों में देवता और पितरों के पूजन का विधान कर्मकाण्ड की व्यवस्था है। विभिन्न और भौतिक कामना की प्राप्ति के लिए वैदिक ऋषि देवताओं का यजन पूजन करता था। वैदिक ऋचाएँ एक युग अथवा एक व्यक्ति की रचना नहीं। संहिति की कल्पना और व्यवस्था परवर्ती युग की देन है। मन्त्र-द्रष्टाओं के युग के पश्चात् ब्राह्मणों की रचना हुई जिनमें याज्ञिक कर्म-काण्ड-विधान का वर्णन है। ब्राह्मणों के अन्त भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं। वैदिक कर्म-काण्ड से औपनिषदिक ज्ञान-काण्ड के विकासात्मक स्वरूप के दर्शन इस प्रणाली से होते हैं। उपनिषदों में यत्र-तत्र कर्म-काण्ड का विरोध भी नहीं

१. सं. क. रागु भैरउ १२ पृ. ११८। २. हि. का. नि. सं. पृ. १५१।
३. वही पृ. १५७।

किन्तु बाद में यज्ञ फूटी हुई नौका समझा गया।[1] वेदो के कर्म-काण्डात्मक विधान और देव-स्तुतियो के स्थान में दार्शनिक तत्त्ववाद के दर्शन उपनिषदो मे होते है।[2] कर्म-काण्डी पूर्व मीमासा के विरोध में ही इन्हें उत्तर-मीमासा कहा गया है। अत आध्यात्मिक अन्वेषण की प्रणाली कर्म-काण्ड से दर्शन की ओर उन्मुख रही। दर्शन स्वतन्त्र नही रहा बल्कि धर्म-साधना और सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्तीकरण। मर्मी साधक ने किसी धर्म, सम्प्रदाय की पद्धति अथवा उपासना-विधि को दार्शनिक-तत्त्ववादी आधार देने की चेष्टा नही की। उपनिषदो के द्रष्टाओ ने बाहरी खोज से असन्तुष्ट होकर ब्रह्म को अपने भीतर ढूँढने का निश्चय किया[3] किन्तु निर्गुणी सन्त ने यह प्रणाली अपनाई नही, उसने बाहर की खोज नही की थी। वह तो निश्चित रूप से जानता था कि बाह्याचार व्यर्थ है, बाहरी खोज अर्थहीन। उसने निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया कि परम-तत्त्व आन्तर है और उसे बाहर ढूँढना विशुद्ध भ्रम और भ्रमोत्पादक। कर्म-काड और उसके आधार पर प्रतिष्ठित वर्ग-भेद का विरोध उपनिषदो में नही जिसका स्पष्ट निर्घोप सन्त-साहित्य में प्राप्त है।

उपनिषदो की प्रणाली एक नही, विभिन्न उपनिषदो के विवेच्य विषय में ही नही, विवेचन की प्रणाली में भी अन्तर है। उपनिषदो की सामाजिक भूमिका का विचार अभी नही हुआ है। विभिन्न उपनिषदो का विवेचन यहाँ सम्भव नही किन्तु इतना स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है कि ज्ञान-हीन कर्म से ज्ञान सयुक्त-कर्म को अधिक महत्त्व-प्रतिष्ठा, कर्म और ज्ञान का समीकरण कर्म से ज्ञान का अधिक महत्त्व प्रतिपादन उपनिषदो में हुआ है। केनोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म विद्या अथवा गुप्त रहस्य मे प्रवेश पाने के लिए तप, कर्म, वेदानुष्ठान आवश्यक है। वेद ब्रह्म विद्या के सम्पूर्ण अग हैं और सत्य के अधिष्ठान हैं।[4] कठ में तीन आश्रमो में अग्निहोत्र, यज्ञ, अध्ययन और दान तथा माता-पिता और आचार्य से शिक्षा प्राप्त करना मृत्यु से पूर्व ही शोकरहित होने का साधन माना गया है।[5] ईशोपनिपद् का विषय है, किसी के धन को मत लूटो क्योकि समस्त ससार में जो कुछ भी चराचर है वह ईश्वर से व्याप्त है।[6] उपनिषदो की समस्या है जीर्णता-हीनता, मृत्यु और नाश से रहितता एव वृद्धि-ह्रास से मुक्ति। शास्त्र-नियत कर्मों को करते हुए इस जगत् में सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए।[7] वृहदारण्यक के अनुसार भी उपनिषदो में जिसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है उस आत्मा को ब्राह्मण वेदो के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तप के द्वारा जानने की इच्छा रखते हैं। वेदादि को पीछे चल कर अपरा विद्या का कारण माना गया और ब्रह्मैक्यानुभूति को परा।

---

१ प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म। —मुण्डक १।२।७।

२ तुलनीय—रानाडे कस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ औपनिषदिक फिलासफी, पृ० ३।

३ हि० का० नि० स०, पृ० १५७।

४ केनो० ४।८।

५ कठ० १।१८।

६ ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किच जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्॥ —ईश० १।

७ ईश० २।

में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता है। मानवता के गायक इन मर्मी कवियों को मानवता की इस व्यापक भूमिका में ही देखना होगा।

भावात्मक मानववाद की प्रतिष्ठा-सी करते हुए कबीर की वाणी उद्घोषित होती रही। पत्थर के देव की पूजा करनेवाले की सेवा और उपासना व्यर्थ होती है। अन्यथा अन्तरात्मा स्थित प्रभु को पहचानता नहीं न तो पत्थर कुछ बोलता है न कुछ देता ही है, उसकी समस्त सेवाएँ अतः व्यर्थ ही होंगी। प्रभु सब जीवों को जीवन-दान देता है और सदा बोलनेवाला ही हमारा देवता है, सेव्य और पूज्य।

> जो पाथर कउ कहते देव। ता की बिरथा होवै सेव ॥
> अंधरि देउ न जानै अंध। भ्रम का मोहिआ पावै फंधु ॥
> न पाथरु बोलै ना किछु देइ। फोकट करम निहफल है सेव ॥
> ठाकुर हमरा सद बोलंता। सरब जीआ कउ प्रभु दानु देता ॥[1]

सन्त-मत और वेदान्त

डॉ. बड़थ्वाल ने सन्तों के सिद्धान्तों और उपदेशों पर उपनिषदों का स्पष्ट प्रभाव देखा है और यह निश्चय उपस्थित किया है कि उपनिषदों के द्रष्टाओं ने अपना आध्यात्मिक अन्वेषण उसी प्रणाली पर चलाया जिस पर शताब्दियों पीछे निर्गुणी सन्तों ने।[2] डॉ. बड़थ्वाल सन्तों के सिद्धान्तों को वस्तुतः अविकल रूप से उपनिषदों के सिद्धान्त मानते हैं।[3] इस सिद्धान्त की पुष्टि में उपनिषदों से समान उक्तियाँ उद्धृत की हैं। सन्त-सम्प्रदाय के परवर्ती भाष्यकारों और टीकाकारों ने अपने मत को उपनिषद् सम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में यह कोई नवीन घटना नहीं। प्रत्येक मतवाद अपने को वेद-सम्मत और अपने सिद्धांत को वेद का नवीन भाष्य होने का दावा उपस्थित करता रहा है। औपनिषदिक ज्ञान के ब्रह्मसूत्रीय स्वरूप की प्रतिष्ठा के पश्चात् ब्रह्मसूत्रों को ही यह स्थान परवर्ती युग में प्राप्त हुआ।

औपनिषदिक आधार की तात्त्विक विवेचना के लिए उपनिषदों को उनकी वास्तविक भूमिका में देखना अपेक्षित होगा। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में ऋग्वेद का प्रामाणिक और प्रमाणित स्थान है। वेदों में देवता और पितरों के पूजन का विधान कर्मकांड की व्यवस्था है। विभिन्न और भौतिक फलों की प्राप्ति के लिए वैदिक ऋषि देवताओं का भजन-पूजन करता था। वैदिक-ऋचाएँ एक युग अथवा एक व्यक्ति की रचना नहीं अग्निहोत्र की कल्पना और व्यवस्था परवर्ती युग की देन है। मन्त्र-कर्ताओं के युग के पश्चात् ब्राह्मणों की रचना हुई जिनमें याज्ञिक कर्म-काण्ड-विधान की जटिलता है। ब्राह्मणों के अन्त भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं। वैदिक कर्म-काण्ड से औपनिषदिक ज्ञान-काण्ड के विकासात्मक स्वरूप के दर्शन इस प्रणाली में होते हैं। उपनिषदों में सर्वत्र यज्ञादि कर्म-काण्ड का विरोध भी नहीं

---

१ सं क राग भैरउ १२ पृ ३१८। २ हिं का नि सं पृ १९९।
३ वही पृ १९७।

पहले यहाँ कुछ नही था, सब कुछ मृत्यु से, प्रलय से आवृत्त था। यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है।[1] पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। वह अकेला और भयभीत था।[2] जिस प्रकार ऊर्णनाभि तन्तुओ पर ऊपर की ओर चढता है, तथा जैसे अग्नि से अनेको क्षुद्र चिनगारियाँ उठती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं।[3] इस प्रकार उपनिषदो मे विभिन्न विषयो का प्रतिपादन विभिन्न रूपो में है।

सामान्य रूप से यह कथन सर्वथा सत्य है कि भारतीय दर्शन का आदि-स्रोत उपनिषदें हैं, किन्तु गेडेन का यह मत स्वीकृत करना कठिन है कि भारत में जितने धार्मिक सुधार-आन्दोलन हुए हैं, उनका आरभ हमेशा उपनिषदो के गहरे अध्ययन के साथ हुआ।[4] वस्तुत काल-क्रम से धार्मिकता जब रूढ विधान मात्र रह कर बुद्धि को अस्वीकृत करने लगती है तो उसके प्रति विरोध उठ खडा होता है और विद्रोही मतवाद अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उपनिषदो के अर्थ की नवीन सगति बैठाता है। औपनिषदिक ज्ञान की अव्यवस्था और पारस्परिक विभेद और विरोध मिटा कर सगतिपूर्ण अन्विति की स्थापना 'ब्रह्मसूत्र' में हुई। साम्प्रदायिक आचार्यो ने अपने मतवाद के समर्थन मे इन सूत्रो पर भाष्य लिखे है।

आचार्य	भाष्य	मत
शकर	शारीरिक	केवलाद्वैत
भास्कर	भास्कर	भेदाभेद
रामानुज	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
मध्व	पूर्णप्रज्ञ	द्वैत
निम्बार्क	वेदान्त पारिजात	द्वैताद्वैत
श्रीकण्ठ	शैव	शैव विशिष्टाद्वैत
श्रीपति	श्रीकर	शक्ति विशिष्टाद्वैत
वल्लभ	अणु	शुद्धाद्वैत

ब्रह्मसूत्र अल्पाक्षर और इतने दुरूह हैं कि भाष्य अथवा वृत्ति की सहायता के विन इसका समझना कठिन है। साम्प्रदायिक भाष्यकारो की टीकाएँ उलझन मे डालनेवाली हैं इन सूत्रो के द्वारा इतने विभिन्न मतो और वादो की पुष्टि द्वारा सकेत प्राप्त होता है वि औपनिषदिक ज्ञान विभिन्न रूप में ग्रहण होता रहा। साम्प्रदायिक विचारको के तर्क औ युक्तियो का अवलम्ब सन्तो ने नही लिया।

सन्त-कवि ने दर्शन की कोई प्रणाली उपस्थित नही की और न वह दार्शनिक तत्त्व विवेचक ही है। वह तो वाद-विवाद से दूर रहता है, शास्त्र-ज्ञान उसके लिए महत्त्वहीन है

१ बृह०, १।२।१। २ वही, १।४।१-२।
३ वही, २।१।२०।
४ बडथ्वाल द्वारा हि० का० नि० स० के पृ० १५७ पर उद्धृत।

औपनिषदिक विचार-प्रणाली का विचार करने पर इसके तीन रूपों के दर्शन होते हैं—तत्त्ववाद परमतत्त्व की प्राप्ति के साधन और उसकी प्राप्ति के बाद की अवस्था एवं नैतिक भावना। तत्त्ववादी स्वरूप में परमात्मा आत्मा और दोनों के सम्बन्धों की चर्चा है। उपनिषदों की कुछ उक्तियों पर विचार करना अपेक्षित है। इन उक्तियों को पूर्व भूमिका में देखने की भी अपेक्षा होगी। 'अहं ब्रह्मास्मि'[1] की चर्चा अधिक होती है। बृहदारण्यक के अनुसार आत्मा पुत्र से भी प्रिय है और जो आत्मारूप प्रिय की ही उपासना करता है उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील नहीं होता।[2] ब्रह्म ने क्या जाना जिससे वह सब हो गया इस प्रश्न के उत्तर में बृहदारण्यक का विचारक कहता है— पहले यह ब्रह्म था उसने अपने आपको जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। देवताओं में से जिस-जिस ने जाना वही तद्रूप हो गया और इस समय भी जो जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह सर्व हो जाता है।[3] इस भूमिका में तत्त्ववादी स्वरूप से अधिक ब्रह्म की आत्म-रूप से उपासना की कथा है, इन्द्रिय मन प्राण आदि के विरुद्ध आत्म-रूप स्थित ब्रह्म के जानने की चर्चा है। इसी प्रकार तत्त्वमसि को भी उसकी भूमिका में देखना चाहिए। उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अन्न के परिणाम-भूत शरीर का मूल जल माना है। जल मूल है और शरीर अङ्कुर। जल का मूल तेज और तेज का मूल सत् है। यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक और सद्रूप आयतन और सद्रूप प्रतिष्ठावाली है। शरीर प्राण और सत् स्वरूप के साथ पृथ्वी जल और अग्नि के त्रिवृतों का समीकरण है। अग्नि-तेज ही सत् स्वरूप है। सत् रूप सूक्ष्म अधिष्ठान (अणिमा) ही सबका वास्तविक रूप है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है।[4] यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अग्नि की जो प्रतिष्ठा वैदिक साहित्य में है, उसका ही अध्यात्मीकरण यहाँ है और आत्मा की प्रतिष्ठा स्थापित की गई है। ब्रह्म इस स्थान में गौण है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[5] को रागद्वेष से रहित होकर निश्चयपूर्वक उपासना करे क्योंकि मनुष्य अपनी वासना के अनुसार इस लोक में जीता है और मरकर भी उसके रूपों को प्राप्त करता है की भूमिका में देखना चाहिए। नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म है और जगत् ब्रह्ममय है इन दोनों कथनों में अन्तर है।

उपनिषदों के अध्ययन द्वारा इतना स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्ववादी दृष्टि से ब्रह्म की महत्ता आत्मा की प्रतिष्ठा और ब्रह्म और आत्मा का समीकरण विभिन्न उपनिषदों में प्राप्त है। उपनिषदों के यथार्थ अर्थ को समझने के लिए शब्द पर्याप्त नहीं कारण इनका प्रयोग भिन्न अर्थों में मिलता है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखने योग्य है कि उपनिषदें ब्राह्मण-ग्रन्थों से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण से ऐतरेय आरण्यक का सम्बन्ध है, जिसके अन्तर्गत ऐतरेयोपनिषद् बृहदारण्यक का नाम ही इसका संकेत देता है। छान्दोग्य का साम वेदीय ब्राह्मण से सम्बन्ध है। उपनिषदों का विवेच्य विषय आत्मन् है और इसके साथ ब्रह्म उसके स्वरूप और सम्बन्ध की चर्चा है। सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी धारणाओं पर विचार करने से औपनिषदिक मतवाद की विभिन्नता अधिक स्पष्ट होती है। बृहदारण्यक के अनुसार

---

१ बृह० १।४।१०। २ वही १।४।८। ३ वही १।४।१।
४ छान्दोग्य ६।८।७। ५ छान्दोग्य ३।१४।१।

पहले यहाँ कुछ नही था, मत्र कुछ मृत्यु से, प्रलय से आवृत्त था। यह अशनागा (क्षुधा) से आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है।[1] पहले यह पुरुपाकार आत्मा ही था। वह अकेला और भयभीत था।[2] जिस प्रकार ऊर्णनाभि तन्तुओ पर ऊपर की ओर चढता है, तथा जैसे अग्नि से अनेको क्षुद्र चिनगारियाँ उडती है, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं।[3] इस प्रकार उपनिषदो मे विभिन्न विषयो का प्रतिपादन विभिन्न रूपो में हैं।

सामान्य रूप से यह कथन सर्वथा सत्य है कि भारतीय दर्शन का आदि-स्रोत उपनिषदें हैं, किन्तु रेडेन का यह मत स्वीकृत करना कठिन है कि भारत में जितने धार्मिक सुधार-आन्दोलन हुए हैं, उनका आरभ हमेशा उपनिषदो के गहरे अध्ययन के साथ हुआ।[4] वस्तुत काल-क्रम से धार्मिकता जब रूढ विधान मात्र रह कर बुद्धि को अस्वीकृत करने लगती है तो उसके प्रति विरोध उठ खडा होता है और विद्रोही मतवाद अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उपनिषदो के अर्थ की नवीन सगति बैठाता है। औपनिषदिक ज्ञान की अव्यवस्था और पारस्परिक विभेद और विरोध मिटा कर सगतिपूर्ण अन्विति की स्थापना 'ब्रह्मसूत्र' में हुई। साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपने मतवाद के समर्थन में इन सूत्रो पर भाष्य लिखे है।

आचार्य	भाष्य	मत
शकर	शारीरिक	केवलाद्वैत
भास्कर	भास्कर	भेदाभेद
रामानुज	श्रीभाष्म	विशिष्टाद्वैत
मध्व	पूर्णप्रज्ञ	द्वैत
निम्बार्क	वेदान्त पारिजात	द्वैताद्वैत
श्रीकण्ठ	शैव	शैव विशिष्टाद्वैत
श्रीपति	श्रीकर	शक्ति विशिष्टाद्वैत
वल्लभ	अणु	शुद्धाद्वैत

ब्रह्मसूत्र अल्पाक्षर और इतने दुरूह हैं कि भाष्य अथवा वृत्ति की सहायता के बिना इसका समझना कठिन है। साम्प्रदायिक भाष्यकारो की टीकाएँ उलझन मे डालनेवाली हैं। इन सूत्रो के द्वारा इतने विभिन्न मतो और वादो की पुष्टि द्वारा सकेत प्राप्त होता है कि औपनिषदिक ज्ञान विभिन्न रूप में ग्रहण होता रहा। साम्प्रदायिक विचारको के तर्क और युक्तियो का अवलम्ब सन्तो ने नही लिया।

सन्त-कवि ने दर्शन की कोई प्रणाली उपस्थित नही की और न वह दार्शनिक तत्त्व-विवेचक ही है। वह तो वाद-विवाद से दूर रहता है, शास्त्र-ज्ञान उसके लिए महत्त्वहीन है।

---

१ बृह०, १।२।१। २ वही, १।४।१-२।
३ वही, २।१।२०।
४ बडथ्वाल द्वारा हि० का० नि० स० के पृ० १५७ पर उद्धृत।

ब्रह्म-सम्बन्धी उसकी धारणाएँ जीवन समस्या के सुलझाव के लिए हैं। विषम जीवन की गुत्थियाँ ही उसके ऐक्यवादी सन्देश के मूल में हैं। वह वस्तुस्थापना को नहीं आत्मानुभूति को वास्तविक और ज्ञान का माध्यम मानता है। उपनिषदों की ज्ञान-निष्ठा उसकी तार्किक प्रणाली को वह स्वीकार नहीं करता तथा तत्त्ववादी अन्तर तो स्वयं उपनिषदों में ही है।

अद्वैतवाद के बीज मन्त्र-संहिताओं में प्राप्त हैं उपनिषदों में अद्वैतपरक सूक्तियाँ हैं। बौद्ध माध्यमिक और योगाचार अद्वैतवादी थे। स्फोटवाद अद्वैत-समर्थक है। शैव और शाक्त मत भी अद्वैतवादी हैं। अद्वैतवाद इन मतों से प्राचीन है। इसकी अवस्थित धारा जो प्राचीन काल से प्रवाहित हो रही थी उसे सन्त-कवि ने अपनी मानववादी स्थापनाओं के उपयुक्त पाया था। औपनिषदिक उत्स के समर्थन में गुलाल का यह पद उद्धृत किया जाता है—

> निरगुन मत सोई वेद को मन्ता। ब्रह्म सरूप अध्यातम सन्ता॥
> जहँवा दुविधा भाव न कोई। अध्यातम वेदांत मत सोई॥
> नहि सिवाय कोई और बतावै। ताको सतगुर मन नहिं भावै॥[1]

षड् दर्शनों में वेदान्त प्रमुख है और इसकी चर्चा सन्त-साहित्य में सर्वाधिक हुई है। दर्शनों को केवल न्याय योग मीमांसा आदि नहीं समझना चाहिए यद्यपि शास्त्रीय दर्शनों की भी चर्चा है—

> मीमांसा कहे सब कर्म ही है। वैशेषिक समय को ध्यावता है।
> न्यायवादी कर्तार ठानै। पतंजली योग बखानता है॥
> सांख्यवादी नित्यानित्य कहै। वेदान्ती ब्रह्म अनुमानता है।
> कहहिं कबीर ये षट् अद्वैत मती। सो ईश्वरहि को सब मानता है॥[2]

'षट् दरसन' के सम्बन्ध में बीजक का भी मत द्रष्टव्य है—

> नर को नहिं परतीति हमारी।
> झूठे बनिज कियो झूठे सन पूँजी सबै मिलि हारी॥
> षट् दरसन मिलि पन्थ चलायो तिरदेवा अधिकारी।
> राजा देस बड़ो परपंची रइयत रहत उजारी॥[3]

विचारदास ने षट् दरसन का योगी जंगम सेवड़ा दरवेश नास्तिक व वेदवादी कोम कह कर पुकारा था कहा है।[4] शास्त्रज्ञ और रामुनारायणक विश्वनाथ सिंह को स्वीकार करना पड़ा है कि जो षट् दर्शन जे हैं ते मिलि कै नानापंथ चलावत भये।[5] यद्यपि दर्शन का तारतम्य दर्शनों के अनुसार नहीं। नाना मतों की प्रतिष्ठा के लिए षट् दर्शन हैं इसे महात्मा पूरनदास ने भी स्पष्ट किया है।[6] कबीर पन्थी साहित्य के अनुसार कबीर ने

---

१ गुलाल बानी पृ० २१४।
२ संबंधी (टकसार) शब्द सूक्ष्मा १ पृ० २८७।
३ बीजक शब्द ५९।
४ विचारदास बीजक सन्दिग्ध पृ० २४।
५ पा० न० टीका पृ० ११९।
६ त्रिज्या टीका पृ० १४१।

शकराचार्य को चेताया था।[1] यह तो निर्विवाद है कि सन्तो ने उपनिषदो का अध्ययन नही किया था। सन्त अद्वैतवादी अवश्य हैं किन्तु वेदान्ती नही। सगुण मतवाद भी वेदान्ती ही है।

परम-तत्त्व के निर्वचन में औपनिषदिक प्रभाव स्पष्ट है। कठोपनिषद् का अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अक्षम, अनादि, अनन्त परात्पर, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरजन स्वरूप सन्त-मत में मान्य हैं। परवर्ती सन्त-साहित्य इस स्वरूप के विधान में अधिक सचेष्ट नही। प्रारभिक युग में इसकी स्वरूप-चिन्ता अधिक मिलती है। तत्पश्चात् "न सत् न चासत्"[2] का रूप अधिक सम्मानित हुआ। अनुपम तत्त्व कबीर ग्रथावली के अनुसार इस प्रकार है—

वेद विवर्जित भेद विवर्जित, विवर्जित पाप रु पुन्य।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित अस्थूल सून्य॥
भेप विवर्जित भीख विवर्जित, विवर्जित डयभक रूप।
कहै कबीर तिहूँ लोक विवर्जित, ऐसा तत्त अनूप॥[3]

ज्ञान और प्रकाश के रूप में परमतत्त्व की कल्पना सन्त-साहित्य ने ग्रहण की है किन्तु हीरा आदि नवीन सस्कार हैं। ब्रह्म की द्विविध कल्पना उपनिषदो में है। यह ब्रह्म पर और अपर है।[4] परब्रह्म का दो रूप में ध्यान करना उचित है।[5] ब्रह्म द्विविध रूप है—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य एव अमृत, स्थिर और अस्थिर, सत् और त्यत्।[6] सन्त 'केवल' स्वरूप को ग्रहण करता है। "जहाँ उगै सूर न चदा, तहा देण्या एक अनदा।"[7] के साथ कठोपनिषद् का "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति"[8] तुलनीय है। "तरुवर एक पेड बिन ठाढ़ा, बिन फूला फल लागा" में 'ऊर्ध्वमूलो वाक्शाख' की ध्वनि और विस्तार हैं। अन्धे द्वारा परिचालित अन्धे के दृष्टान्त का उपयोग सन्त-साहित्य में हुआ है किन्तु औपनिषदिक रूप से भिन्नता है। कबीर के अनुसार जो स्वय अन्धा (ज्ञानरहित) है और अन्धे गुरु द्वारा परिचालित है, वह अपने अज्ञानी-वचक गुरु के साथ कूएँ में अवश्य गिरेगा।[9] मुण्डक में गुरु की चर्चा नही वल्कि अपने आपको बुद्धिमान् और विद्वान् समझने की बुद्धि एव मिथ्याभिमान ही परिचालक अन्धा है।[10] सन्त-साहित्य का अज्ञानी वचक भी मिथ्याभिमानी, दम्भी और अपने पाण्डित्य पर विश्वास करनेवाला है, किन्तु दोनो एक नही।

---

१ पद छुछुम (सूक्ष्म) कहा कबीर गोसाइ। सक्राचार्ज को चेताआ। गुस्ट सपूर न।
—'ज्ञानतिलक' (हस्तलिखित)।

२ श्वेताश्वतर ४।१८।

३ क० ग्र०, पद २२०, पृ० १६३।

४ प्रश्न० ५।२।

५ मैत्रे० ६।२२।

६ बृह०, २।३।१।

७ क० ग्र० पद ३१, पृ० ९८।

८ कठ० २।२१५।

९ जाका गुर भी अधला, चेला खरा निरध।
अधै अधा ठेलिया, दून्यू कूप पडत॥ —क० ग्र०, साखी १५, पृ० २।

१० तुलनीय—अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पण्डित मन्यमाना।
जध्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा॥ —मुण्डक २।८।

उपनिषदों की मूल समस्या आत्मा का ब्रह्मात्मैक्यानुभव है और इसे समझने-समझाने के लिए आत्मा के स्वरूप ब्रह्म और उसके स्वरूप तथा दोनों के सम्बन्धों का ज्ञानात्मक विवेचन किया गया है। ब्रह्म कभी मन-स्वरूप है, कभी ब्रह्म रूप एवं कभी 'ओ३म्' है। उसके स्वरूप और उसकी सर्वशक्तिमत्ता के पर्याप्त उल्लेख हैं। सन्त-कवि की समस्या आत्मानुभूति आत्मोपलब्धि है। आत्मा की स्वरूप चिन्ता में ब्रह्म-स्वरूप की चर्चा है, जो अद्वैतवादी वेदान्त में है। उपनिषदुल्लिखित सगुण रूप (ईश्वर) को भी सन्त मायाजनित मत मायिक मानता है। इस मायिकता का पूजन पाण्डित्याभिमानी पण्डितों का दुराग्रह है और इस उपासना के लिए सन्तों को अधिकार नहीं था।

इसी साथ ही उपनिषदों में सत्य का निरूपण है। प्रारम्भिक अवस्था में जगत् ही सत्य है कारण उसका अस्तित्व दृष्टि-सम्भव है। कालान्तर में दृश्यमान् जगत् असत्य (वास्तविक स्थिति से हीन) और इसका अन्तर्भूत तत्त्व (आत्मा वास्तविक स्थितिवाला) हो गया। सन्त के समक्ष सत्य की जिज्ञासा का प्रश्न नहीं। सत्य को वह जानता है, पूरी तरह पहचानता है। उसकी समस्या है विकल्पहीन उस सत्य की आन्तरिक एवं संवेदनात्मक अनुभूति। सत्य की स्थिति इस अनुभूति के आश्रय से प्रकट होती है और अनुभूति के द्वारा ही उसका प्रत्यक्षीकरण होता है।

उपनिषद् बौद्धिक ज्ञान को अमूर्तीकृत बौद्धिकता को महत्त्वपूर्ण और ब्रह्मात्मैक्यानुभव का साधन मानती है। उपनिषदों के कई स्तर इस साधन-प्रणाली में मिलेंगे। वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कुछ अवस्थाओं में उपकारक है और कम उद्देश्य-साधन में समर्थ। मुण्डक के अनुसार ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद तथा अथर्ववेद शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष अपरा विद्याएँ हैं और अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली परा।[1] ये दोनों विद्याएँ ज्ञातव्य हैं।[2] सन्त शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग अनुपयुक्त और असाध्य मानता है। उसकी प्राप्ति वाचिक ज्ञान अथवा कथन से नहीं होती। वह ज्ञान को नहीं ज्ञानाधारित भक्ति को परमात्म प्राप्ति का साधन मानता है और इसके अन्वेषण के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। वह ध्यान से बाहर भी है किन्तु जब अन्तर्गत है तो दूर जाने की जरूरत क्यों? सन्त इस औपनिषदिक कथन को स्वीकार कर लेता है कि परमतत्त्व को जान लेने के बाद और कुछ जानना शेष नहीं रहता किन्तु जब वह आत्म से भिन्न नहीं तो उसे जान लेने के बाद और कुछ जानने योग्य उसके लिए नहीं। सन्त प्रयोगात्मक अनुभूति से हीन बौद्धिकता के आश्रय का समर्थन नहीं करता।

औपनिषदिक ज्ञान रहस्यपूर्ण और गुप्त है। योग्य पुत्र और अधिकारी शिष्य को ही यह ज्ञान प्रदान करने योग्य है। सन्त-मत गुप्तता के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। उसके यहाँ [illegible] कोई भेद नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी है। अधिकारी और अनधिकारी ज्ञान के लिए न ज्ञान अनावश्यक है और हीन कर्म और गुण द्वारा व्यक्तियों

१ मुण्डक १।५। २ वही १।४।

पर इसका कोई प्रभाव भी नही। ऐसी अवस्था में ऐसे व्यक्तियो से दूर रहना उत्तम है किन्तु कोई भी अनधिकारी नही, इस मत मे गुह्यता नही। गुरु-दीक्षा पर जो वल सन्त-साहित्य मे है उसकी मात्र झलक ही औपनिपदिक साहित्य मे उपलव्व है। सन्त-मत की गुरु-कल्पना भी नितात भिन्न है।

सन्तो मे आचरण की पवित्रता का उच्च स्वर है, उसकी सामान्य समता ही उपनिपदो में मिल सकती है। आचरण के प्रमाण के लिए वाह्य आदर्श की प्रतिष्ठा उपनिपदो में मिलती है। तैत्तिरीय के अनुसार श्रेष्ठ गुरुजन और ब्राह्मणो के अच्छे आचरणो का अनुकरण करना चाहिए।[1] सन्यास की जो प्रतिष्ठा उपनिपदो में मिलती है, यद्यपि उपनिपदो के उपदेशक राजा और ऋपि विवाहित हैं, एव याज्ञवल्क्य को दो पत्नियाँ है, वह सन्त-मत मे नही। वृहदारण्यक के अनुसार उपनिपदो में निरूपित आत्मा को ब्राह्मण वेदो के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तप के द्वारा जान कर मुनि होता है और आत्म-लोक की इच्छा करते हुए त्यागी पुरुप सन्यासी।[2] सन्त न तो वेदादि अध्ययन द्वारा मुनि होने का अभिलापी है और न सन्यासी। मनुष्य के नैतिक स्वरूप का कोई वाह्य मापदण्ड नही, आत्मा की वास्तविकता के दर्शन द्वारा ही कार्य और व्यापारो को प्रामाणिकता प्राप्त होगी। सन्त के लिए गृह और वन में कोई अन्तर नही। आचरण का यह महत्व वौद्धो की परम्परा से मिला है और इसे शाक्त-मत को अतिवादी विकृति भूमिका में देखना चाहिए। गीता के निष्काम कर्म की चर्चा—जो उपनिषदो से प्राप्त हुई—भी यहाँ नही। कर्म वैदिक रूप में नही रह कर, जीवन का साधारण व्यापार वन गया और सन्त पेशे के महत्त्व का प्रतिष्ठापक है। विदेह जनक के यहाँ याज्ञवक्य शिष्य को उपदेश के द्वारा कृतार्थ कर पशुओ की इच्छा से प्रश्न का उत्तर देने के लिए जाते हैं।[3] ऐसी भिक्षा सन्त के लिए वर्ज्य है।

औपनिषदिक और सन्त-मतीय रूपको और प्रतीको का अन्तर स्पष्ट है। परमतत्त्व और जगत् के स्वरूप-विवेचन में दोनो में समानताएँ हैं किन्तु पारस्परिक सम्बन्ध एव नैतिक-भावना-सम्बन्धी विधान में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। दोनो दो सास्कृतिक समुदायो के सकेतक हैं। सामान्य जनता जिन रूपको और प्रतीको को ग्रहण करने में समर्थ थी, सन्त ने उन्हें ही चुना। जल-तरग, कनक-कुण्डल (गहना), रज्जु (सर्प), ज्योति और स्फुलिंग का उपयोग हुआ है, और साधारण जनता इन्हें हृदयगम करने में समर्थ थी। रथ-चक्र, अग्निहोत्र, राजसी-उपकरण आदि का त्याग हो गया। नमक-पानी का उदाहरण भी सन्त-काव्य में स्वीकृत रहा। इसके प्रयोग में भी पूर्ण समानता नही और आत्मानन्दानुभूति के विधान में तो पूर्ण अन्तर दीख पड़ेगा। प्रतीक और सरूपक-विधान का अन्तर मानसिक गठन के अन्तर की सूचना देता है। औपनिषदिक मनोवैज्ञानिक स्थिति और सन्त की मानसिक स्थिति मे अन्तर है। उपनिषदो में ब्राह्मण-क्षत्रिय-सघर्ष और तत्पश्चात् उस सघर्प का उपशमन स्पष्ट है

---

१ तैत्त०, १।११। २ वृह० ४।२२।
३ वृह०, ४।१ और ७।

किन्तु सन्त-मत अनवादी और सामंजस्य की अपेक्षा स्वीकार करता हुआ निम्नवर्गीय सांस्कृतिक चेतना का संकेत उपस्थित करता है।

औपनिषदिक धारा का जो आभास मिलता है वह किस प्रकार सन्तों तक आया इसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हमने अन्यत्र कथित किया है कि रामानन्द से कबीर ने सम्भवतया केवल 'राम' नाम पाया था और निर्गुण राम की कल्पना हुई। सम्प्रति का सिद्धांत अधिक सहायता नहीं देता। अद्वैतवाद की श्वेताश्वतरीय शैव-धारा की परिणति नाथ सम्प्रदाय में हुई थी। शून्यवाद के भावात्मक स्वरूप का अद्वैती रूप यहीं परिलक्षित हुआ और सन्त-मत का प्रारम्भिक रूप नाथ-सम्प्रदाय प्रभावित है। औपनिषदिक साम्य का स्रोत उपनिषदें नहीं बल्कि साम्प्रदायिक प्रभाव है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादी समवादी धारा के प्रभाव से वैराग्य-परक रचनाओं का कबीर-साहित्य में प्रवेश अत्यन्त सरल है। भाष्य और टीकाओं के क्रमिक अध्ययन द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता मिलती है। निरंजन आदि शब्दों के भाष्य-विपर्यय पर ध्यान देने से यह संकेत मिलता है कि सन्तों ने अपने रूप से इनकी व्याख्या की है, अतः केवल शब्द-साम्य द्वारा समता की स्थापना संभव नहीं।

व्यापक अर्थों में भारतीय चिन्ता-धारा मूलतया और मूलरूप में औपनिषदिक है और सन्त-साहित्य अतः इसी व्यापक और सामान्य अर्थ में उपनिषद्-प्रभावित है। उपनिषदों से प्रत्यक्ष रूप से इसने ग्रहण नहीं किया और संकुचित एवं यथार्थ अर्थ में सन्त-साहित्य औपनिषदिक नहीं।

सन्त-मत और योग

भारतीय धर्म-साधना में 'योग' शब्द व्यापक अर्थ का द्योतक है यहाँ तक कि भक्ति-योग है ज्ञान और कर्म भी। योग सिद्धि और साधन दोनों है अतः परमात्म-तत्त्व की प्रतीति उपलब्धि के साधनों का भी नाम 'योग' पड़ गया है। योग स्वयं मार्ग भी है। यहाँ योग का प्रयोग इसके संकुचित अर्थ में किया जा रहा है। 'योग' की चार पद्धतियाँ अथवा प्रणालियाँ कही गई हैं—मन्त्रयोग लययोग हठयोग और राजयोग। कुछ लोगों के मतानुसार ये पद्धतियाँ विभिन्न और विभिन्न प्रकार के साधकों के लिए हैं एवं कुछ लोगों के अनुसार ये पद्धतियाँ नहीं बल्कि सोपान हैं। साधक इस क्रम से इनकी साधना द्वारा कैवल्य प्राप्त करता है। मन्त्रयोग के अनुसार परमात्मा से नाद और नाद से नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। मोक्ष प्राप्ति के लिए इसके क्रम को उलटने की अपेक्षा होगी अर्थात् नाम रूप से नाद और नाद से पर अर्थात् परमात्मा की उपलब्धि होगी। योग का चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है अतः परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि का अर्थ है चित्तवृत्तियों का उस उपलब्धि में लय हो जाना। योग के ज्ञान मार्ग के द्वारा भक्ति की [illegible] गतिमान हुई है। स्थूल शरीर के साधन द्वारा योग-साधन की प्रणाली का प्रयोग करते हैं। इस साधना के आठ अंग हैं—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। इन्हें अष्टांग योग कहते हैं। इसमें आसन और प्राणायाम की प्रधानता है। हठयोग[1] अनिल के वायु पूरक तत्त्व है। हठयोग[2] के अनुसार

१ भाग १०।११८।   २ मत ११।६।

वायु-सिद्धात अधिक पूर्णता के साथ मिलता है और 'वायु' की सज्ञा प्राण है। प्राणायाम वायु (प्राण, पचप्राण) पर विजय प्राप्ति का साधन है।[1] प्राणायाम-विज्ञान पर आर्येतर प्रभाव देखा जा सकता है किन्तु इस विषय पर यहाँ विचार करने का अवसर नही। धौति, वस्ति, नेति, लौकिकी, त्राटक और कपाल भाँति के द्वारा शरीर-शोधन-क्रिया होती है। हठयोग का अन्तिम साधन है समाधि। समाधि का फल पातजल योग-सूत्र के अनुसार वह अवस्था है जिसमें त्रिगुणात्मक प्रकृति के कार्य विवर्जित हो जाते हैं और पुरुष अपने विशुद्ध स्वरूप (केवल भाव) में अवस्थित हो जाता है।[2] क्रियाओ की कुशलता द्वारा पिण्डज्ञान प्राप्त करके प्रकृति को पुरुष में लय करना 'लययोग' है। आधारपद्म में रहनेवाली कुल कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध कर सहस्रार-स्थित पुरुष मे लय करने की क्रिया ही 'लययोग' है। लय क्रिया द्वारा महालय रूपी समाधि की उपलब्धि होती है। राजयोग योगो का राजा है। इसके अनुसार सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण अन्त करण है। अन्त करण के साधन को 'राजयोग' कहते है। हठयोग असल में प्राणवायु के निरोध को कहते है और राजयोग मन के निरोध को। इस प्रकार मन्त्रयोग की परिणति राजयोग में मानी जाती है। विचार-शक्ति की पूर्णता और विचार-बुद्धि का प्राधान्य एव चेतना का जागरण ही 'निर्विकल्प समाधि' है और इस समाधि-प्राप्त मनुष्य को जीवन्मुक्त कहते हैं। मन्त्रयोग के सोलह अग हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पचाग-सेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेश सेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, तप, ध्यान और समाधि। बलि के भेद—अन्तर्बलि (काम, क्रोध, अहकार आदि का त्याग), बहिर्बलि—१ सात्त्विक (फल इत्यादि) और २ राजसिक-तामसिक (पशु-पक्षी)।

हठयोग के सात अग—षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि।

समाधि—महाभाव (मन्त्रयोग की समाधि), महाबोध (हठयोग), महालय (लययोग) और निर्विकल्प समाधि (राजयोग)।

यम—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) दया, (६) आर्जव, (७) क्षमा, (८) धृति, (९) मिताहार, (१०) शौच।

नियम—(१) तप, (२) सन्तोष, (३) आस्तिक्य, (४) दान, (५) आराधन, (६) वेदान्त-श्रवण, (७) ह्री, (८) मति, (९) जप, (१०) व्रत।

आसन—(१) स्वस्तिक, (२) गोमुख, (३) वीर, (४) योग, (५) पद्म, (६) बद्ध पद्म, (७) कुक्कुट, (८) उत्तान कूर्मक, (९) धनु, (१०) सिंह, (११) भद्र, (१२) मुक्त, (१३) मयूर, (१४) सिद्ध, (१५) मत्स्य, (१६) पश्चिमतान (१७) सुख।

---

१ बरुआ ऐ हिस्ट्री ऑफ प्रि-बुद्धिस्ट इण्डियन फिलासफी, पृ० २६ और उपाध्याय धर्म और दर्शन, पृ० १४५ (टि०)।

२ पुरुषार्थ शून्याना गुणाना प्रतिप्रसव कैवल्यस्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति शक्तेरिति।
—पात० यो० सू०, ४।३३।

किन्तु सन्त-मत जनवादी और सामंजस्य की अपेक्षा स्वीकार करता हुआ निम्नवर्गीय सांस्कृतिक चेतना का संकेत उपस्थित करता है।

औपनिषदिक धारा का भी आभास मिलता है वह किस प्रकार सन्तों तक आया इसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हमने अन्यत्र सूचित किया है कि रामानन्द से कबीर ने सम्भवतया केवल राम नाम पाया था और निर्गुण राम की कल्पना हुई। इससे इस सिद्धांत अधिक सहायता नहीं देता। अद्वैतवाद की श्वेताश्वतरीय शैव-धारा की परिणति नाथ सम्प्रदाय में हुई थी। शून्यवाद के भावात्मक स्वरूप का अद्वैती रूप यहाँ परिलक्षित हुआ और सन्त-मत का प्रारम्भिक रूप नाथ-सम्प्रदाय प्रभावित है। औपनिषदिक साम्य का स्रोत उपनिषदें नहीं बल्कि साम्प्रदायिक प्रभाव है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादी धर्मवादी धारा के प्रभाव से वेदान्त-परक रचनाओं का कबीर-साहित्य में प्रवेश अत्यन्त सरल है। भाष्य और टीकाओं के क्रमिक अध्ययन द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता मिलती है। निरंजन आदि शब्दों के भाष्य-विपर्यय पर ध्यान देने से यह सूचित मिलता है कि सन्तों ने अपने रूप से इनकी व्याख्या की है, अत केवल शब्द-साम्य द्वारा समता की स्थापना सम्भव नहीं।

व्यापक अर्थों में भारतीय चिन्ता-धारा मूलरूपा और मूलरूप में औपनिषदिक है और सन्त-साहित्य भी इसी व्यापक और सामान्य अर्थ में उपनिषद् प्रभावित है। उपनिषदों से प्रत्यक्ष रूप से इसने ग्रहण नहीं किया और सङ्कुचित एवं यथार्थ अर्थ में सन्त-साहित्य औपनिषदिक नहीं।

सन्त-मत और योग

भारतीय धर्म-साधना में 'योग' शब्द व्यापक अर्थ का द्योतक है, यहाँ तक कि भक्ति-योग है ज्ञान और कर्म भी। योग सिद्धि और साधन दोनों है, अत परमात्म-तत्त्व की प्रतीति उपलब्धि के साधनों का भी नाम 'योग' पड़ गया है। योग स्वयं मार्ग भी है। यहाँ योग का प्रयोग इसके रूढ़िगत अर्थ में किया जा रहा है। 'योग' की चार पद्धतियाँ अथवा प्रणालियाँ कही गई हैं—मन्त्रयोग लययोग हठयोग और राजयोग। कुछ लोगों के मतानुसार ये शैलियाँ विभिन्न और विभिन्न प्रकार के साधकों के लिए हैं एवं कुछ लोगों के अनुसार ये शैलियाँ नहीं बल्कि सोपान हैं। साधक क्रम-क्रम से इनकी साधना द्वारा कैवल्य प्राप्त करता है। प्रणवयोग के अनुसार परमात्मा से नाद और नाद से नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए इनके क्रम को उलटने की अपेक्षा होगी अर्थात् नाम-रूप से नाद और नाद से [illegible] परमात्मा की उपलब्धि होगी। योग को चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है, अत परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि का अर्थ है चित्तवृत्तियों का उस उपलब्धि में लय हो जाना। योग के सोलह अंगों में भक्ति की गणना सर्वप्रथम हुई है। स्थूल शरीर के शोधन द्वारा योग-साधन की प्रणाली को हठयोग कहते हैं। इस साधना के आठ अंग हैं—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। इन्हें अष्टांग योग कहते हैं। इनमें आसन और प्राणायाम की मुख्यता है। ऋग्वेद[1] अनिल में वायु मुख्य तत्त्व है। अथर्ववेद[2] में यह

---

१ ऋग्वेद १।१६८।

२ अथर्व ११।४।

में 'निरगुन' हो गई, जिनमे समार की अनित्यता और राम-कृष्णोपासना का भी उल्लेख मिलने लगता है। 'निरगुन' का सामान्य अर्थ आज वैराग्यमूलक, सासारिकता की तुच्छता और व्यर्थता सकेतित गीत है।

गोरखनाथ के साथ भी यह घटना-दुर्घटना हुई थी, अत गोरखवानी के आधार पर गोरखनाथ के सिद्धान्तो का प्रामाणिक उल्लेख सम्भव नही और सस्कृत की रचनाओं में तो शास्त्रसम्मत बनाने का प्रयास है। सस्कृत और हिन्दी की रचनाओ मे सिद्धान्तभेद का कारण अत स्पष्ट ही है। गोरखनाथी साधना ने पूर्व की साधनाओं का नवीन स्वरूप उपस्थित किया था। कैवल्य की प्राप्ति गुरु-कृपा से होती है, वेद-पाठ से भी नही, ज्ञान से भी नही, वैराग्य से भी नहीं। इस कथन मे पातजल योग से भिन्नता जो दीख पड़ती है, वह अन्य धारा का प्रभाव है। गोरखनाथ ने छ चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य और व्योमपचक को सिद्धि के लिए आवश्यक माना था फिर यह अन्तर कैसे? गोरखनाथ का ज्ञान केवल बुद्धि-विलास नहीं, साधना का विषय है। दीर्घ आयास के बाद प्राप्त होता है और गुरु की उसके लिए नितान्त अपेक्षा है। गोरखनाथ के सम्प्रदाय मे साख्यवादी, बौद्धो की विभिन्न शाखाएँ, जैन, शाक्त आदि सभी मिल गए। कबीर को नाथ-सम्प्रदाय का जो परिचय है, वह परवर्ती गोरख-सम्प्रदाय का है। गोरख-सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओ के सिद्धान्तो के अध्ययन करने से पता चलेगा कि विभिन्न शाखाओ का अन्तर्भाव किस प्रकार इस सम्प्रदाय के साथ हुआ।

डॉ० बडथ्वाल के अनुसार निर्गुण-सम्प्रदाय योग का ही परिवर्तित रूप है।[1] कबीर को गोरख का शिष्य होना तक कुछ लोगो को मान्य है। कबीर-मत में गोरखनाथ ही शिष्य बन गए हैं। कबीर योगियो के शिष्य अवश्य हैं किन्तु उनका ऋण गोरखनाथ के प्रचलित सिद्धान्तो और नाथो के रूप की स्वीकृति में नही बल्कि नाथ-परम्परा की कुछ प्रचलित धारणाओ की स्वीकृति में है। नाथ-सम्प्रदाय की कई मान्यताएँ स्वत सन्त-मत में स्वीकृत हो गई थी—वेद-विमुखता और ब्राह्मण-विरोधिता, गुरु की कृपा, ज्ञान की अपेक्षा, पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता आदि। सिक्ख-सम्प्रदाय ने नाथ-पन्थियो की भाँति पीछे चल कर सैनिक भाव ग्रहण किया। सिक्ख-सम्प्रदाय में सगुणोपासना की आरती-पूजा का विधान निर्गुण मत और नाथ-सम्प्रदाय के अनुकूल नही। नाथ-सम्प्रदायो में 'हठयोग' की प्रतिष्ठा अधिक है। सन्त-सम्प्रदाय ने इसे स्वीकार नही किया है। कबीर-पन्थ में कई गद्दियो के अधिकारियो से पता चला कि योग-साधना करनेवाले पन्थियो की सख्या नगण्य है। स्वय गोरख-पन्थ में इस साधना का अभाव ब्रिग्स से लक्षित किया था।[2] गोरखवानी से कबीर, नानक, दादू आदि के पदो की समता द्वारा किसी निश्चित निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता। गोरखवानी की भाषा ९वी सदी की नही बल्कि पन्द्रहवी-सोलहवी सदी की है।[3] प्राचीन अश इसमें हैं किन्तु

---

१ ना० प्र० प०, भाग (११), अक ४, पृ० ४, सम्वत् १९८७।

२ ब्रिग्स गोरखनाथ ऐण्ड दि कनफटा जोगिज, पृ० २५१।

३ हि० का० धारा (टिप्पणी), पृ० १५६, डॉ० बडथ्वाल ने इसकी भाषा ९वी सदी की मानी है, पूरी रचना के सम्बन्ध में यह कथन भ्रमात्मक है (दे०, गो० वा० की भूमिका)।

प्राणायाम—पूरक कुम्भक रेचक।
धारणा—मूर्त अथवा मिश्र अमूर्त अथवा सत्।
चक्र—त्रिकोण मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत विशुद्धाख्य आज्ञा शून्य अथवा सहस्रार।

पातंजल योग-सूत्र के प्रारंभ और अन्त का विचार कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है और उसकी सिद्धि कैवल्य प्राप्ति। अन्य सिद्धियाँ हीन और मात्र लोक-प्रतिष्ठा के कारण हैं। योग ने सांख्य के तत्त्ववाद को स्वीकार किया है और ईश्वर की मान्यता भी उसे है अतः इसे सेश्वर सांख्य भी कहते हैं।

योग की यह चर्चा गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ-सम्प्रदाय को उसकी वास्तविक परम्परा और भूमिका में देखने के लिए है। 'गोरख बानी' में डॉ. बड़थ्वाल ने गोरखनाथ के नाम पर हिन्दी में मिलनेवाले साहित्य का परिश्रमपूर्वक संकलन किया है। इन रचनाओं में 'सबदी' को गोरखनाथ की सबसे अधिक प्रामाणिक रचना आपने मानी है।[1] डॉ. हजारी द्विवेदी ने लक्ष्य किया है कि 'इन पदों में कई दादू दयाल के नाम पर, कई कबीर के नाम पर और कई नानक देव के नाम पर पाए गए हैं। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर गए हैं, कुछ ने लोकगीतों का रूप लिया है और कुछ लोक-अनुभव-सिद्ध ज्ञान के रूप में चल पड़े हैं।'[2] नाथ-सम्प्रदाय के योगियों ने कबीर नानक दादू आदि के प्रभाव में आकर जब अपना सम्प्रदाय परिवर्तन किया होगा तो पूर्व प्रचलित पद इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के नाम के साथ जुड़ गए। 'गोरख' 'नानक' 'कबीर' और दादू में मात्राओं की संख्या समान होने के कारण यह परिवर्तन सहज सम्भाव्य हुआ। ऐसी अवस्था में प्राचीन प्रवर्तकों की रचनाएँ नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तक का नाम ग्रहण कर लेती हैं और अपने सम्प्रदाय में भी 'जोगियों' की बानी के रूप में मिलती हैं। कबीर पन्थी जोगी रैदासी जोगी दादू पन्थी जोगी की स्थिति इस कल्पना की पुष्टि देती है। आचार्य सेन ने दादू-पन्थी जोगियों के यहाँ योग-प्रधान ग्रंथों की मान्यता देखी थी।[3] इन ग्रंथों में स्वामी दादूजी का 'आदिबोध सिद्धान्त ग्रंथ' मुख्य है, जिसमें योग-शास्त्र का अच्छा वर्णन है। पण्डित चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी के अनुसार पूर्व देशों की यात्रा करते समय वहाँ के प्रचलित पदों के साथ दादू का परिचय हुआ था। इन पदों का सुर भी विशिष्ट प्रकार का है।[4] प्रत्येक सम्प्रदाय-प्रवर्तक के नाम के साथ विभिन्न भाषाओं और सुरों में जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें अधिकांश सम्प्रदाय में दीक्षित अन्य सम्प्रदायानुयायियों की होती हैं, जिनकी रचनाओं की प्रामाणिकता के लिए पण्डितों को सुदूर पर्यटन द्वारा भाषा-ज्ञान की कल्पना करनी पड़ती है। कुछ में तो सम्प्रदाय का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। 'भोजपुर' में एक प्रकार का गीत प्रचलित है, जिसे निरगुन कहते हैं स्पष्ट रूप में कबीर का प्रभाव इन पदों में मिलेगा। राम-कृष्ण के सगुण रूप का वर्णन करनेवाले गीतों की संख्या भी बाद

१. गोरखबानी (भूमिका) पृ १९। २ नाथ-सम्प्रदाय प १८१।
३ सेन दादू (उपक्रमणिका) पृ १८।
४ चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी दादू-पन्थी सम्प्रदाय का हिन्दी साहित्य पृ २।

अतरु मल निर्मल नही कीआ बाहरि भेख उदासी।
हिरदे कमलु घटि ब्रह्मा न चीना काहे भइआ सनिआसी ॥
—आ० ग्र०, त्रिलो०, रागु गूजरी १।

कबीर के अनुसार हरि की भक्ति के अभाव में मतवाद भ्रान्तिपूर्ण और भ्रामक है। योगियो से कबीर की मुठभेड भी होती रही थी और कबीर ने स्पष्ट कहा है कि योगी योग को ही अच्छा और श्रेयस्कर कहते हैं और अन्य मार्गों को अनुचित। वे अपनी सिद्धि-प्राप्ति का दावा भी करते किन्तु सच बात है कि वे भ्रम में पडे हैं।[१] वेषधारी योगियो के प्रति कबीर उतने ही अनुदार है जितने पौराणिक हिन्दू धर्म के प्रति। कबीर ने लक्षित किया था कि भोगी में अमर होने की लालसा प्रबल थी और वे लुञ्चित, मूँज की मेखला धारण करनेवाले, जटा धारण कर मौनी बननेवाले थे। तन्त्र, मन्त्र और औषधियो की पहचान ही उनमें अधिक थी।[२] योगियो के विभिन्न सम्प्रदायो से भी कबीर का परिचय है, उनमें नादी, वेदी, सबदी और मौनी प्रधान थे।[३] औषधियो पर विश्वास करनेवाले[४] रसेश्वर मत-वादी भी थे।

योगियो मे विवाद करते समय कबीर योग के पूर्ण ज्ञान का दावा उपस्थित करते हैं और यौगिक-क्रियाओ की जानकारी प्रदर्शित करते दीख पडते हैं। शाक्तो की भरपूर निन्दा कबीर के पदो मे दीख पडती है। नाथ-पन्थी तान्त्रिको का अधिक ज्ञान इनमें लक्षित नही होता। मत्र, बीजमन्त्र और मुद्रा का उल्लेख भी अल्प है।[५] कवच और न्यास की चर्चा तक नही मिलती। कबीर के पदो में योग-परिचय पर्याप्त है और इसके लिए अधिक खोज-ढूँढ की आवश्यकता नही किन्तु कबीर गोरखनाथी नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में नही। सन्त अनुभव को ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है और 'भाव-भगति' को परमतत्त्व-प्राप्ति का मूल साधन। डॉ० द्विवेदी के अनुसार "नाथ-मार्ग के परवर्ती ग्रथो में कुण्डलिनी की कोई चर्चा नही आती।"[६] आदि-ग्रथ मे आए कबीर के पदो में कुण्डलिनी के दो रूप दीख पडते हैं। पहली शक्ति-स्वरूपिणी कुण्डलिनी जिसके उद्‌बोधन से जरा मरण से मुक्ति मिल जाती है।[७] जब कुण्डलिनी शक्ति से चक्र-वेधन कर लिया जाता है तो ब्रह्म से भेंट हो जाती है।[८] दूसरी माया-स्वरूपिणी, सर्पिणी तुल्य है जिसके कारण जीव बद्ध होता है। माया को सर्पिणी-स्वरूप मानने में कुण्डलिनी का सकेत मिलता है, क्योकि वह शरीर की इसी बस्ती में निवास करती है और गुरु की कृपा मात्र से उससे मुक्ति मिल जाती है।[९] योग-मार्गीय बाह्याचार को कबीर

---

१ स० क०, रागु गउडी ५१।१। २ वही, रागु आसा ५।
३ वही, रागु सोरठि ३। ४ वही, रागु आसा ५।
५ आदि-ग्रथ में वेणी की रामकली (१) में बीज मन्त्री का उल्लेख है—
बीज मत्र लै हिरदै रहै। मनुआ उलटि सुन महि गहै ॥
६ नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ११३।
७ स० क०, रागु भैरउ १९ और रामकली ६, पृ० १८१।
८ स० क०, रागु रामकली १०। ९ सं० क०, रागु आसा १९।

यह कितना और किस अंश तक है कहना कठिन है। कबीर के समय में नाथ-पन्थियों के दो रूपों का पता साफ चलता है वाममार्गी शाक्त तान्त्रिक और सहज एवं शून्य का विश्वासी बौद्ध मत। काल-प्रभाव से हठयोग की प्रक्रिया से परिचित योगियों की संख्या कम हो गई थी। बाह्य वेष आदि धारण कर चमत्कार-प्रदर्शन द्वारा स्वार्थ-सिद्ध करनेवालों की संख्या ही अधिक थी। भारतीय साधना के इतिहास में योग न मध्यकाल में अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। यहाँ तक कि भागवत में योग की चर्चा कम नहीं है, यद्यपि अपने सम्प्रदाय के अनुकूल अर्थ अवश्य निकाला गया है।[1] नाथ-पन्थियों में तन्त्र-मत मिल गया था। गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट होकर मत्स्येन्द्रनाथ पुन अपने मार्ग पर आए, इस विषय में अर्थपूर्ण संकेत करता है। 'गुरु ही शिष्य है, शिष्य ही गुरु है' जैसे कथनों का प्रचलन इसी आधार पर हुआ है जिसके फलस्वरूप कबीर की गोरख और रामानन्द से पुष्टि हुई एवं नानक की रामानन्द और कबीर के साथ। साधारण सिद्धियों से सन्तुष्ट हो जानेवाले साधकों की संख्या ही अधिक थी।

सन्त-कवियों में जो एक स्पष्ट दीख पड़ता है, कुछ लोगों का योगमत की क्रियाओं से गहरा परिचय दीख पड़ता है और कुछ सन्तों का परिचय नहीं के बराबर। काल-क्रम से यह प्रभाव कम होता गया और सामान्य ज्ञान पाँच-पचीस तक रह गया। कबीर का योग और योगियों से गहरा परिचय है नामदेव का परिचय भी अच्छा है किन्तु रविदास म यह परिचय अधिक नहीं दीख पड़ता। आदि-ग्रंथ में संगृहीत पदों में योग-मार्ग के अवशिष्ट दीख पड़ते हैं। नामदेव में यौगिक क्रियाओं का ज्ञान स्पष्ट है—

> इड़ा पिंगला अउर सुखमना पउनै बांधि रहाउगो।
> चंदु सूरजु दुइ सम करि राखउ ब्रह्मजोति मिलि जाउगो ॥[2]

नामदेव को खेचर भूचर' मुद्राओं का भी परिचय है।[3] कबीर के पदों के विश्लेषण के द्वारा इस तथ्य की प्राप्ति होती है कि मात्र योग-साधना परम-तत्त्व की प्राप्ति का साधन नहीं एवं उस समय तक वास्तविक योगियों की संख्या अत्यन्त अल्प हो चुकी थी। आदि-ग्रंथ में त्रिलोचन का एक पद आया है जो इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त संकेत देता है—

> अंतरि मलि निरमलु नही कीना बाहरि भेख उदासी।
>
> मरि मरि जाइगा पिंडु बधाइगा खिथा मुंदा माइआ।
> मूलि मसाण की भसम लगाई गुर बिनु ततु न पाइआ ॥
> —आ ग्रं सिरी रागु गूजरी १।

'गुर' का अर्थ गुरु लेना उचित नहीं कारण गुरु का महत्त्व नाथ-सम्प्रदाय योग-मार्ग अथवा अन्य सम्प्रदायों में कम नहीं अत गुर का अर्थ तत्त्व रहस्य और भेद है। त्रिलोचन के शब्दों में ही 'गुर' का रहस्य वर्तमान है—

---

१ द्रष्टव्य—उपाध्याय धर्म और दर्शन पृ १६५ १७९।
२ आ ग्रं नामदेव रामकली ७।
३ खेचर भूचर तुलसी माला गुर परसादी पाइआ। —आ ग्रं रामकली ३।

अतरु मल निर्मल नही कीआ वाहरि भेख उदासी।
हिरदे कमलु घटि ब्रह्मा न चीना काहे भइआ सनिआसी।।
—आ० ग्र०, त्रिलो०, रागु गूजरी १।

कबीर के अनुसार हरि की भक्ति के अभाव में मतवाद भ्रान्तिपूर्ण और भ्रामक है। योगियो से कबीर की मुठभेड भी होती रही थी और कबीर ने स्पष्ट कहा है कि योगी योग को ही अच्छा और श्रेयस्कर कहते है और अन्य मार्गों को अनुचित। वे अपनी सिद्धि-प्राप्ति का दावा भी करते किन्तु सच बात है कि वे भ्रम में पडे है।[१] वेषधारी योगियो के प्रति कबीर उतने ही अनुदार हैं जितने पौराणिक हिन्दू धर्म के प्रति। कबीर ने लक्षित किया था कि भोगी में अमर होने की लालसा प्रबल थी और वे लुञ्चित, मूँज की मेखला धारण करनेवाले, जटा धारण कर मौनी बननेवाले थे। तन्त्र, मन्त्र और औषधियो की पहचान ही उनमें अधिक थी।[२] योगियो के विभिन्न सम्प्रदायो से भी कबीर का परिचय है, उनमें नादी, वेदी, सबदी और मौनी प्रधान थे।[३] औषधियो पर विश्वास करनेवाले[४] रसेश्वर मत-वादी भी थे।

योगियो से विवाद करते समय कबीर योग के पूर्ण ज्ञान का दावा उपस्थित करते हैं और यौगिक-क्रियाओ की जानकारी प्रदर्शित करते दीख पडते है। शाक्तो की भरपूर निन्दा कबीर के पदो में दीख पडती है। नाथ-पन्थी तान्त्रिको का अधिक ज्ञान इनमें लक्षित नही होता। मन्त्र, बीजमन्त्र और मुद्रा का उल्लेख भी अल्प है।[५] कवच और न्यास की चर्चा तक नही मिलती। कबीर के पदो में योग-परिचय पर्याप्त है और इसके लिए अधिक खोज-ढूँढ की आवश्यकता नही किन्तु कबीर गोरखनाथी नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में नही। सन्त अनुभव को ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है और 'भाव-भगति' को परमतत्त्व-प्राप्ति का मूल साधन। डॉ० द्विवेदी के अनुसार "नाथ-मार्ग के परवर्ती ग्रथो में कुण्डलिनी की कोई चर्चा नही आती।"[६] आदि-ग्रथ मे आए कबीर के पदो में कुण्डलिनी के दो रूप दीख पडते हैं। पहली शक्ति-स्वरूपिणी कुण्डलिनी जिसके उद्बोधन से जरा मरण से मुक्ति मिल जाती है।[७] जब कुण्डलिनी शक्ति से चक्र-वेधन कर लिया जाता है तो ब्रह्म से भेंट हो जाती है।[८] दूसरी माया-स्वरूपिणी, सर्पिणी तुल्य है जिसके कारण जीव बद्ध होता है। माया को सर्पिणी-स्वरूप मानने में कुण्डलिनी का सकेत मिलता है, क्योकि वह शरीर की इसी बस्ती में निवास करती है और गुरु की कृपा मात्र से उससे मुक्ति मिल जाती है।[९] योग-मार्गीय बाह्याचार को कबीर

---

१ स० क०, रागु गउडी ५१।१। २ वही, रागु आसा ५।
३ वही, रागु सोरठि ३। ४ वही, रागु आसा ५।
५ आदि-ग्रथ में वेणी की रामकली (१) में बीज मन्त्री का उल्लेख है—
बीज मत्र लै हिरदै रहै। मनुआ उलटि सुन महि गहै।।
६ नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ११३।
७ स० क०, रागु भैरउ १९ और रामकली ६, पृ० १८१।
८ स० क०, रागु रामकली १०। ९ स० क०, रागु आसा १९।

संस्कार मे है। नाथ के समक्ष समस्या थी इस काया को अजर-अमर बनाने की, अलौकिक सिद्धि प्राप्त करने की, और सन्त के समक्ष प्रश्न था जीवन को उदात्त बनाने और मानव जीवन की महत्ता और समानता प्रतिपादित करने का। सन्त-काव्य की चिन्ता-धारा का यह मूल आधार है। शुद्ध सत्त्वस्थ आत्मा के सहज रूप की सहज अनुभूति और नाथ-पन्थी अन्तस्साधना-प्रधान हठयोग में शब्दावली की समानताएँ है, किन्तु दोनो की चैतन्य अन्तर्धारा मे अन्तर भी कम नही।

सन्त-मत और पौराणिक धर्म

पौराणिक धर्म प्रबल मत था, इस कथन का इतना ही अर्थ हो सकता है कि उच्च वर्गों में (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मे) ही इसकी प्रतिष्ठा थी। वैश्यो को अनेक उप-जातियो को शास्त्र-सम्मत धर्म के पालन की सुविधाएँ अधिक नही थी। शूद्र और वैश्यो के कार्य में कोई निश्चित विभाजक रेखा नही थी। शूद्रो में भी दो वर्ग जरूर थे, जिनमें एक वर्ग की स्थिति दूसरे से उच्च समझी जाती थी। चाण्डाल, श्वपच, निषाद आदि के पेशे अन्य पेशो से निम्न कोटि के समझे जाते थे। मनु और उनके विभिन्न टीकाकारो द्वारा स्पष्ट रूप से पता चलता है कि इन वर्गों को वर्ण-व्यवस्था में सम्मानित स्थान प्राप्त नही था। इन निम्न वर्ग के व्यक्तियो की धार्मिक आस्था की सीमाएँ विस्तृत थी जिनमें भूत-प्रेत, जन्तर-मन्तर, झाड-फूँक में आस्था आदि अधिक थी। पौराणिक हिन्दू धर्म में आचार-बहुलता थी, इसे सन्तो ने स्पष्ट करके लक्षित किया था। दार्शनिक तत्त्ववाद से केवल कबीर आदि सन्तो का ही परिचय नहीं था बल्कि सामान्य रूप से जिनमें इनकी प्रतिष्ठा थी उनमें भी इस ज्ञान का अभाव था। पौराणिक हिन्दू धर्म का तात्पर्य स्पष्ट नही। पुराण धर्म-ग्रथ नही, उनमें विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ सगृहीत हैं, जिनमें सृष्टि-क्रम, पूजा-विधान शासक-नामावली, आदि का परिचय मिलता है। पुराण में इतिहास का भाग अधिक है, जो विभिन्न कथाओ से आच्छन्न है। पुराणो में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर और वशानुचरित के वर्णन करने का विधान है। इन पुराणो में परस्पर विरोधी एव अतिरञ्जित घटनाओ का वर्णन अधिक है। तत्त्ववाद से धार्मिकता का रग गहरा है। विभिन्न देवो की प्रतिष्ठा में विभिन्न पुराणो की भी रचना हुई है। हिन्दू धर्म के समझने की जो चेष्टा इनके अध्ययन के द्वारा हुई है, उसमें पर्याप्त स्पष्टता नहीं आ सकती। पुराण-साहित्य के अध्येता को यह लक्षित करते देर नही लगेगी कि विभिन्न उद्देश्य से लिखी हुई अनेकानेक कथाएँ इनमें हैं। वैदिक कथाओ, देवी-देवताओ के उत्थान-पतन की मनोरजक कहानियाँ इन पुराणो में मिलती हैं। पौराणिक धर्म सामाजिक व्यवस्था में वर्ण-विभिन्नता को स्वीकार कर चलता है। भक्ति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी का भाष्य अधिकाशतया किया है। भागवत को छोड कर अन्य पुराणो के भाष्य द्वारा तत्त्ववाद की प्रतिष्ठा के प्रयत्न का पता इन पक्तियो के लेखक को नही, रामानुज ने विष्णुपुराण के वचन उद्धृत अवश्य किए हैं। भागवत की गणना पुराणो मे होती है, और यही सबसे अधिक समादृत पुराण है और भारतीय साहित्य एव विचार-धारा को इसने अधिक दूर तक प्रभावित भी किया है। सगुण भक्ति-धारा पर हम अन्यत्र विचार कर रहे है, यहाँ इतना सकेत करना

पर्याप्त होगा कि पौराणिक धर्म तत्त्ववाद से अधिक आचार-मूलक है और कबीर के समय तक यह स्पष्ट हो चुका था। कई तत्त्ववादों के मिश्रण और *सामंजस्य* के कारण उलझनें और अधिक बढ़ गई थीं। सन्त की पहुँच पौराणिक शास्त्र तक नहीं थी उनके तत्त्ववाद से परिचय प्राप्त करने का अवसर भी नहीं था ऐसी अवस्था में बाह्याचार को खंडित करना ही सहज और सुगम है। इस्लामी पौराणिक धर्म से भी इनका परिचय गहरा नहीं था। बाहर देश से आनेवाले मुसलमान इनके प्रभाव में नहीं आए, यदि आए हों तो इनकी संख्या नगण्य थी। सूफियों का बेचारा धर्म भी उस स्वतन्त्रता के साथ कुरान और उसके ज्ञान का विरोध नहीं कर सकता जितनी स्वतन्त्रता के साथ मध्य संत। सूफ़ी धर्म-साधना से निष्कासन पाकर साहित्य-क्षेत्र में स्थापित हो गया यह अलग कथा है। कबीर में जो कुरान की अनुपयोगिता और अनुपयुक्तता मिलती है, उसके उदाहरण कम मिलते हैं। समृद्धिशाली और शक्तिशाली मुगल राज्य की स्थापना के साथ एवं काल-क्रम के कारण विरोध-भावना कम होती गई। सन्त-सम्प्रदाय में दो ही प्रकार के व्यक्ति विशेष रूप से आए—*हिन्दू-समाज* के निम्न स्तर वाले व्यक्ति और निम्न वर्ग से नव-दीक्षित मुसलमान। प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलने से पंथ का यथार्थ परिचय पाना कठिन है और बाद में सम्प्रदाय-संस्थापकों की उच्च-वंशता सिद्ध करने के लिए प्रयास किए गए। आदि-ग्रंथ में शेख फरीद के पद आए हैं, इनमें कुरान का विरोध नहीं किन्तु शेख फरीद की गणना सन्त-सम्प्रदाय में नहीं की जा सकती। वस्तुतः *परवर्ती सन्त-सम्प्रदाय और दीक्षित भारतीय मुसलमानों का सूफ़ी मत अत्यन्त समीप* था और इसी कारण द्वितीय वर्ग की गणना सन्त-सम्प्रदाय में होने लगी और सन्तों पर सूफ़ी प्रभाव लक्षित किया जाने लगा।

वेद-विरोधिता और बाह्याचार की असमर्थता भारतीय साधना के क्षेत्र में नवीन नहीं इनकी सुदीर्घ परम्परा है और यह परम्परा लोकभाषा की है। सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा के बाद शास्त्रीय समर्थन प्रदर्शित करने अथवा शास्त्र-सम्मान देने के लिए कही जानेवाली देव-भाषा अर्थात् संस्कृत का आधार लिया गया। हमने स्थान-स्थान पर लक्षित किया गया है कि बौद्ध साहित्य में इसके संकेत पर्याप्त हैं और बौद्ध-साहित्य में प्राप्त विचार-धारा के बीज वैदिक-साहित्य में हैं। परम्परा सम्भवतया और प्राचीन है जिसे प्रमाणित करने की सामग्री हमारे पास नहीं। आर्य-अनार्य संघर्ष के जो अवशिष्ट साहित्य में मिलते हैं उनसे यह धारणा पुष्ट होती है। गुप्तकाल से हर्षवर्द्धन तक पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा रहने के कारण ऐसे साहित्य *का पता नहीं चलता किन्तु आठवीं सदी से इसकी धारा स्पष्ट होने लगती है।* पौराणिक धर्म के प्रभाव के कारण जाति विघटन अधिक हुआ सम्प्रदायों की संख्या बढ़ी धार्मिक आचार का बाहरी रूप दृढ़ हुआ। ऐसी अवस्था में तत्त्ववाद का सम्बन्ध छूट जाता है। साधारण जनता आचार का विचार जानती है, विचारों का विचार नहीं और सन्तों का उद्देश्य था जनसाधारण की भावबोधगम्यता की स्थापना। सन्तों की दृष्टि से आत्मानुभूति-भाव-भगति ही प्रधान है और उन्होंने देखा था कि पौराणिक धर्म इसके उपयुक्त नहीं। जीव-दया करुणा मैत्री आदि मानवीय गुणों का विकास इससे नहीं होता। धर्म के नाम पर अनेकानेक अत्याचार होते रहे। ऐसी अवस्था में परमानन्द ने कहा कि 'भाव भगति के अभाव में सारी पूजा-अर्चना व्यर्थ

है ।[1] सेन का जो पद आदि-ग्रथ में है, उसमें पूजा-विधि का विरोध नही दीखता ।[2] लेकिन उस पद के बाद हो पीपा का उसी राग में एक पद है जिसमे काया को ही देव और देवल और उसी को धूप, दीप और नैवेद्य माना गया है ।[3] पण्डित केवल बकवाद और शास्त्रार्थ करता था, इसे लक्ष्य कर बहुतेरे पद आदि-ग्रथ मे आए है और इसकी परम्परा सन्त-सम्प्रदाय मे चलती रही । कबीर में यह अत्यन्त स्पष्ट है। ब्राह्मण के मुख से वेद और गायत्री का उच्चारण होता है किन्तु मन में भाव का अभाव है। वह नीच के यहाँ भोजन करता है। निकृष्ट कर्मो के द्वारा पेट भरता है। चौदस और अमावस का ढोग रच-रच कर दान माँगा करता है। उसके सारे कर्म दीपक लेकर कुएँ मे गिरने की भाँति है ।[4] जीव का वध कर उसे धर्म की सज्ञा वह देता और सम्मानित करता है ।[5] पुराणादि की रचना स्वार्थ के कारण है ।[6]

---

१ तै नर किया पुरान सुनि कीआ ।
अनपावनी भगति नही उपजी भूखै दानु न दीना ॥
कामु न बिसरिउ क्रोधु न बिसरिउ लोभु न छूटिउ देवा ।
पर निंदा मुख ते नहीं छूटी निफल भई सभ सेवा ॥ १ ॥
बाटपारि घरु भूमि बिरानो पेटु भरै अप्राधी ।
जिहि परलोक जाइ अपकीरति सोइ अबिदिआ साधी ॥ २ ॥
हिंसा तउ मन ते नही छूटी नीअ दइआ नही पाली ।
परमानद साध सगति मिली कथा पुनीत न चाली ॥ ३ ॥
—आ० ग्र०, रागु सारग १ ।

२ धूप दीप घ्रित साजी आरती, बारने जाउ कमला पती । —धनासरी १।१ ।

३ कायउ देवा काइअउ देवल काइअउ जगम जाती ।
काइअउ धूप दीप नईवेदा काइअउ पूजउ पाती ॥ —धनासरी १।१ ।

४ जिहि मुख बेदु गाइत्री निकसै सो किउ ब्रह्मनु बिसरू करै ।
आपन ऊच नीच घरि भोजनु हेठ करम करि उदरु भरहि ।
चौदस अमावस रचि रचि मागहि कर दीपकु लै कूप परहि ॥
तुलनीय—बम्हणहि म जाणन्त हि भेउ । एँवइ पढिअउ ए चउ बेउ ।
—सरहपा, हि० का० धा०, पृ० ७ ।
शास्त्र पढतौ होइ उड, जो न हनेइ विकल्प ।
—जोइन्दू, हि० का० धा०, पृ० २४८ ।
जे कारणि तटि तीरथ जाही । रतन पदारथ घट ही माही ॥
पढि पढि पडितु वादु बखाणै । भीतर होदी बसतु न जाणै ॥
—आ० ग्र०, नानकी, पद ४, पृ० १५२ ।

५ जीअ वधहु सुधरम करि थापहु अधरमु कहहु कत भाई ।
—स० क०, रागु मारु, पृ० १८९ ।

६ चारि चरन कहहि बहु आगर । —स० क०, रागु गउडी ५।३, पृ० ७ ।

कबीर ने न तो विद्या पढ़ी है और न तो वह वाद-विवाद में ही पड़ना चाहता है।[1] विद्या पढ़ कर विवाद करने में संसार चतुराई मानता है। इस अर्थ में कबीर पागल है, बावला है, मतवाला है, किन्तु इसी 'मतवालेपन' को ही वह जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। पौराणिक धर्म को सन्त ने बाह्य विधान मात्र समझा था, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

इस तथ्य को पौराणिक धर्म के प्रबल समर्थक तुलसीदास ने भी लक्षित किया था।[2] किन्तु तुलसीदास धर्म-सुधारक थे, व्यवस्था को परिवर्तित करने का उनका लक्ष्य नहीं था। सूरदास तक में इस आचार-बहुल धार्मिक बाह्याचार के विरोध का स्वर मिलता है।[3] पौराणिकता और उसके आधार पर निर्मित समाज-व्यवस्था में सन्तों की किसी दिन आस्था नहीं रही। सूफियों से भी इसकी तुलना की जा सकती है। भारतीय सूफियों ने धर्म की पौराणिकता का विरोध कम किया है। प्रबल मतवाद की टक्कर के कारण यह आवश्यक था, भारतीय सूफी विचार अपने विश्वासों में इस्लामी ही अधिक रहा है।[4] सन्त-साहित्य में पुराण-कुरान का एकीकरण इस्लामी पौराणिकता के विरोध का निर्देश करता है।

सन्त-मत और सगुण सम्प्रदाय

सम्प्रदाय ही पाश्चात्य दृष्टिकोण से ईश्वरवादी है। अनीश्वरवाद और नास्तिकता को एक नहीं समझा जा सकता। सगुण भक्त व्यक्ति-गुण-सम्पन्न ईश्वर में विश्वास करता है जो भक्त पर सदा कृपालु है, वह पुरुष ही नहीं बल्कि पुरुषोत्तम है। उसके द्वारा ही सृष्टि की सृष्टि, पालन और संहार होता है। नैतिकता और गुणों का मूल उद्गम वही है और संसार का शासक भी। अध्यात्म के ब्रह्म और धर्म के ईश्वर में अन्तर था। ईश्वर-सम्बन्धी

---

१ तुलनीय—वादविवादा जे करहिं, जाहिं न फिट्टिय भंति।
जे रत्ता पउ पावियइँ ते गुप्पंति भमंति ॥—रामसिंह पाहुड़ दोहा २१७।

२ द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
—रा च मा उत्तर ९८।
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥ —वही उत्तर १ ।

३ कोउ कहै तीरथ सेवन करो। कोउ कहै दान-जप विस्तरौ॥
काहू कह्यो मंत्र जप करना। काहू कहू, काहू कछु बरना॥
—सू सा पद १४१।
असमेध जग्यहु जो कीजै गया बनारस अरु केदार।
रामनाम सरि तऊ न पूजै जो तनु गारो जाइ हिवार॥
सहस बार जो बेनी परसौ चांद्रायन कीजै सौ बार॥ —वही पद १४५।

४ हिंदू मग पर पाँव न राखेउँ। का जौं बहुतै हिंदी भाखेउँ॥
मन इसलाम मसकलै मांजेउँ। दीन जेंवरी करकस भांजेउँ॥
—नूर मुहम्मद इंद्रावती (सू का सं पृ १११)।

धारणा के विभेद से भक्ति, मोक्ष, ज्ञान, जीव और जगत्-सम्बन्धी धारणाओ मे अन्तर आता है। वेदो में भक्ति के तत्त्व मिलते हैं। देवता पूजा के अधिकारी थे और पूजित होने पर प्रसन्न होकर उपासक का उपकार करते थे, अनिष्ट से रक्षा करते थे और पूजा नही पाने पर क्रुद्ध होकर अनिष्ट करते थे। कृष्ण ने इन्द्र की पूजा वन्द करा दी, क्रुद्ध इन्द्र ने धारापात वर्षण द्वारा व्रज को वहाने का उपक्रम किया। इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, वायु आदि भिन्न-भिन्न देवो की प्रार्थनाएँ मिलती हैं। विष्णु और नारायण को वाद में प्रतिष्ठा मिली। रुद्र की चर्चा ऋग्वेद मे अधिक अथर्ववेद में है। प्राकृतिक देवताओ के साथ उसी नाम के ऐतिहासिक व्यक्तियो के क्रिया-कलाप क्रमश सम्बद्ध होते गए और ऐतिहासिक व्यक्ति भी पौराणिक (Mythologcal) बन गए। वैदिक देवताओ की पूजा प्रतीकोपासना के रूप में चली जिसके व्यापक स्वरूप के दर्शन बौद्ध धर्म और साधना में हुए। भक्ति का निरूपण गीता में हुआ। भक्ति-सम्प्रदाय की टीकाओ में गीता का यही परम सिद्धान्त माना गया है। भागवत की प्रतिष्ठा सगुण भक्ति-सम्प्रदाय में है। नारदीय और शाण्डिल्य सूत्रो में भक्ति की विवेचना है। तन्त्र-ग्रथो में शिव-भक्ति की उपासना प्रतिष्ठित है। देवताओ के स्वरूप की पूर्ण उद्भावना पुराणो में आगे चल कर हुई और देवताओं के रूप, रंग, आयुध, वाहन आदि का विस्तृत वर्णन पौराणिक साहित्य में मिलता है। बौद्ध साहित्य में ही कृष्णोपासक, वासुदेवोपासक, पाचरात्र आदि वैष्णव सम्प्रदायो के प्रमाण मिलते हैं। राम को ब्रह्मत्ववाद में चल कर मिला। ईश्वरावतार के रूप में राम की प्रतिष्ठा सम्भवतया ईसवी सन् के प्रारम्भ में हुई। वैदिक साहित्य में राम की प्रतिष्ठा नही के वरावर है। बौद्ध ग्रथो में राम का उल्लेख अवश्य है। वाल्मीकीय रामायण के राम को ईश्वरता प्रदान करनेवाले अश प्रक्षिप्त माने जाते हैं।

शकर के केवलाद्वैत ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा के बाद चार प्रसिद्ध आचार्यों ने सगुण भक्तिवाद के प्रवर्तन में योगदान दिया—रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ। वल्लभ कवीर के अन्त-काल में समसामयिक रह सकते हैं। सुशील कुमार देव के अनुसार इन आचार्यों ने शकर के अद्वैतवाद के विरोध में अपने मत खडे किए।[1] वस्तुत परम्परा-मुक्त भक्ति-मार्ग और पूजा-विधि का अद्वैतवादी दर्शन के साथ सामजस्य स्थापित करना ही इनका उद्देश्य था। विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत में 'अद्वैत' का ग्रहण सूचित करता है कि अद्वैतवाद को ही सीमित करने का प्रयास हुआ है। आचार्यों ने अपने मतवाद के अनुकूल ब्रह्मसूत्रो का भाष्य किया और भागवत की टीकाएँ लिखी-लिखवाई। शकर के आध्यात्मिक दर्शन के स्थान में साम्प्रदायिक-धार्मिक दर्शन की स्थापना इनमें है। शकर के नाम पर चलाई जानेवाली अनेक रचनाओं में इस 'भक्तिवाद' के दर्शन मिलते हैं। महाराष्ट्र में ईसा की ग्यारहवी सदी में भक्ति का नवीन पन्थ खडा हुआ। एक नया भक्ति-स्थान और नए देव के नाम से एक नया भक्ति पन्थ चला, जिसका नाम हुआ 'वार करी' और इष्ट देवता हुए विट्ठल। उपाध्याय के अनुसार 'विट्ठल' विष्णु का अपभ्रश है।[2] महाराष्ट्री विद्वान् ऐसा नहीं मानते और इसका

---

१ अर्ली हिस्ट्री ऑव दि वैष्णव फेथ ऐण्ड मूवमेण्ट इन बगाल (१९४२ ई०), पृ० २।
२. धर्म और दर्शन, व० उ०, पृ० १३२।

नाच करते हैं ईंट पर खड़ा। ज्ञानेश्वर की रचना के कारण इस पन्थ की महत्ता बढ़ी और नामदेव के कारण इसका व्यापक प्रचार हुआ। नीच कही जानेवाली जातियों में भक्त हुए। यहाँ तक कि प्रत्येक जाति का एक-न-एक सन्त था। बैरागों में कान्होपात्रा नाम की वनिता हुई है। ये भक्त अपने-अपने धन्धे करते और जीविकोपार्जन के लिए भीख नहीं माँगते थे। कन्धे पर पताका हाथ में झाँझ और मुख से 'विट्ठल-विट्ठल' का गान करते हुए प्रत्येक एकादशी—विशेषकर आषाढ़ और कार्तिक शुक्ल-पक्ष की एकादशी—को पंढरपुर में एकत्र हो भजन-भाव करते थे। सगुण भक्ति धारा के दो स्वरूप यहाँ पर दीख पड़ते हैं—नीच कही जानेवाली जातियों की भक्ति जिसमें नामकीर्तन जाति-पाँति विचार की व्यर्थता स्वीकृत थी एवं भक्ति के दूसरे रूप को शास्त्रज्ञता का साहाय्य प्राप्त था अथवा जिन्हें शास्त्रिक विधि से सिद्ध करने की चेष्टा हुई थी। सगुण भक्ति-धारा की इस संक्षिप्त चर्चा द्वारा इससे सम्बद्ध इस धारणा पर पहुँचते हैं—

(१) ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। शंकर के अनुसार सगुण रूप व्यावहारिक और मायिक है एवं निर्गुण रूप ही पारमार्थिक। सगुण भक्त के अनुसार सगुण रूप ही पारमार्थिक है। ईश्वर के तीन रूप हैं—स्वयं रूप तदेकात्म रूप और आवेश रूप।

(२) ईश्वर के अवतार में विश्वास। विष्णु, नारायण वासुदेव राम कृष्ण या उनके विभिन्न अवतारों में कोई भेद नहीं।

(३) ईश्वर में मानवीय गुण आदर्श रूप में मिलते हैं, वह पुरुषोत्तम है।

(४) सभी प्रकार के प्रलोभनों से दूर रह कर भगवान् की शरणागति प्राप्त करना। भक्त का दैन्य भगवान् की दयालुता के जगाने समर्थ होता है।

(५) ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्ति ही चरम साधन है, अतः भक्ति ही काम्य। भक्ति साधन और साध्य दोनों है।

(६) भगवान् के साथ भक्त का व्यक्तिगत सम्बन्ध है वह सम्बन्ध पाँच प्रकार का है—शान्त दास्य सख्य वत्सल और मधुर।

(७) भक्ति का मूलतत्त्व है सारे कार्यों को इष्टार्पण करना। ज्ञानेश्वरी के अनुसार 'भक्त संसार को जीव्हते-पहचानते ही नहीं। वे शास्त्रों को पढ़ते-सुनते हैं मेरे (कृष्ण के) लिए। शरीर की सभी चेष्टाओं द्वारा वे मेरा (कृष्ण का) ही भजन करते हैं।[१] अपने-आपको मुझे अर्पण कर देना ही मेरी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इस बात को हे अर्जुन! तुम ध्यान में रखो। अन्य किसी उपाय से मत्स्वरूप काम नहीं हो सकता। वेदों से अधिक ज्ञान-सम्पन्न भला कौन हो सकता है? सहस्रजिह्व शेष से अधिक बोलने की शक्ति भला किसमें है? पर शेष को मेरा बिछावन होकर रहना पड़ा और वेदों को 'नेति-नेति' कह कर लौट आना पड़ा।[२]

---

१ हिन्दी ज्ञानेश्वरी अध्याय ९।१४१। २. हिन्दी ज्ञानेश्वरी अध्याय ९ पृ १६२।

भक्ति के दो स्वरूप हैं—अपरा अथवा गौणी एव मुख्या या परा।[१] गौणी भक्ति वृत्ति प्रधानता के कारण तीन हैं—तामसी, राजसी और सात्त्विकी।[२] परद्रोह, ईर्ष्या अथवा क्रोध से की गई भक्ति तामसी, लोकैषणा, वित्तैषणा, भोगैषणा की पूर्ति के निमित्त की गई सेवा-उपासना राजसी एव कर्तव्य-बुद्धि से प्रकट अथवा गुप्त इच्छा की निवृत्ति के लिए की गई भक्ति सात्त्विकी[३] कही गई है। परा भक्ति सर्वथा अहैतुकी और अव्यवहित होती है।[४] भक्त के चार प्रकार बतलाए गए है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। दु:ख से परित्राण चाहनेवाला आर्त, किसी प्रकार की जिज्ञासा रखनेवाला जिज्ञासु, अर्थ की कामना रखनेवाला अर्थार्थी होता है। ईश्वर की अहेतुकी, निस्वार्थ और भगवदतिरिक्त हेतुहीन भक्ति करनेवाला ज्ञानी भक्त है।[५]

भक्ति के दो और स्वरूप हो सकते हैं—ईश्वर-तत्त्व गहन है, अत भक्ति के द्वारा उसे प्राप्त करना। इस रूप में भक्ति साध्य और साधन दोनो है। इसे भक्तिमूला भक्ति कहा जाय। ज्ञान द्वारा उस परमात्म-स्वरूप के दर्शन परिचय के बाद उसकी भक्ति की जाय, इसे ज्ञान-भक्ति कहेंगे। ज्ञान-भक्ति में ज्ञान के माध्यम द्वारा परिचय-प्रतीति के बाद प्रेम की आत्यन्तिक उद्भावना होती है। प्रेम वस्तुत आत्मतत्त्व का प्रसार है एव ब्रह्म आत्मतत्त्व से भिन्न नही, अत यह ज्ञान-भक्ति प्रेम-स्वरूपा भक्ति है।

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण-सगुण के आधार पर खडी की गई ज्ञानाश्रयी और सगुण भक्ति-शाखाओ में समानताएँ कम नही हैं। निर्गुण-सगुण विचार का आधार ब्रह्मस्वरूप की विवेचना अथवा लक्षण-विचार है। लक्षण दो प्रकार का होता है—स्वरूप-लक्षण और तटस्थ-लक्षण। स्वरूप-लक्षण उस वस्तु-विशेष में वस्तु की स्थिति तक सदा रहता है और तटस्थ-लक्षण विशेष समय तक उसकी विशेषता प्रकट करता है। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है सत्, चित् और आनन्द। उसमें अनन्त सत्ता, अनन्त चेतना और अनन्त आनन्द है। सत्, चित् और आनन्द उसके गुण अथवा अग नही, बल्कि उसके स्वरूप हैं, इनसे भिन्न वह और कुछ नही। चेतना प्रकाश और प्रकाश्य दोनो है। भास्वान् सूर्य अपने प्रकाश से अपने आप और जगत् दोनो को प्रकाशित करता है।

ब्रह्म जगत् का कारण है, ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण वही है। परमात्मा अव्यक्त प्रकृति तथा जीव का स्वामी और सत्त्वादि गुणो का नियामक है। इसे ही सगुण, सविशेष ब्रह्म अथवा ईश्वर कहते हैं। निर्गुण-सगुण विवेक के मूल में परमतत्त्व के यथार्थ स्वरूप-लक्षण का प्रश्न है। प्रत्येक साम्प्रदायिक विचारक यह स्वीकार कर चलता है कि सृष्टि का जो परिवर्तनीय रूप दीख पड रहा है, उसके मूल में एक शाश्वत, चिरन्तन,

---

१ औपनिषदिक परा और अपरा ज्ञान के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है।

२ ना० भ० सूत्र, ५६।

३ भाग०, ३।२९।८-९-१०। ४ वही, ३।२९।१२।

५ शा० सू०, स्वप्नेश्वर भाष्य ७२ और ना० भ० सूत्र, ५६।

अपरिवर्तनीय तत्त्व है। नित्य अनित्य के प्रश्न पर विचार कर वह सृष्टि के अन्तर्भूत नित्य तत्त्व और परम तत्त्व के सम्बन्ध की गवेषणा करता है।

सगुणवाद निर्गुण का खण्डन नहीं करता। हिन्दी के सगुण भक्ति-काव्य में इसके समन्वय की चेष्टा होती रही है। इस प्रकार परमतत्त्व के सगुण रूप और निर्गुण स्वरूप में कोई अन्तर नहीं निर्गुण ही सगुण बन जाता है और वह निर्गुण-सगुण से परे है, की धारणाएँ स्थापित होती हैं। सूर और तुलसी को निर्गुणवाद से टक्कर लेना पड़ा था और उन्हें सिद्ध करना था कि निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप में अवतार ग्रहण करता है। सूरदास के अनुसार—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटिकल्प बीतत नहिं जानत बिहरत युगल स्वरूप॥
सकल तत्त्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गुपाल॥[1]

तथा —

अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी।[2]

तुलसीदास के ब्रह्म का स्वरूप है —

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥[3]

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।[4]

व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सब दरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥[5]

निर्गुण-सम्प्रदाय में ईश्वर को अमान्य नहीं किया गया है किन्तु इस स्वरूप को पारमार्थिक नहीं बल्कि मायिक माना गया है। सगुण-सम्प्रदाय में इसकी भिन्नता इसी में लक्षित होती है कि सगुण-सम्प्रदाय इस ईश्वर को ही परम ब्रह्म समझता है।

भारतीय ईश्वरवाद के सम्बन्ध में एक कठिनाई सदा रह गई है। बौद्धिकता का आग्रह है कि ब्रह्म सबमें परिव्याप्त है और सब ब्रह्म में है। और भक्ति के लिए वैयक्तिक ईश्वर की अपेक्षा है। अद्वैतवादी ब्रह्म की भक्ति की सम्भावना लोप नहीं मानते और बुद्धिवादी ईश्वर के सगुण रूप को पारमार्थिक नहीं मान पाते। दोनों के समन्वय और सामंजस्य

---

१ सूर सारावली सूर सागर वे प्रे पृ १४।
२ सू सा वे प्रे पृ १८। ३ रा च मा बाल ११।
४ रा च मा बाल १९८। ५ राम च मा उत्तर० ७१।

की चेष्टा सगुणवाद मे दीखती है। सगुण भक्त ने दावा किया है कि वही सच्चिदानन्द नर तन धारण कर अवतार लेता है।

पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुपोत्तम नित निज लोक विलासी।[1]

वेद उपनिषद यश कहै निर्गुनहि बतावै।

सोइ सगुन होय नद की दावरी बँधावै॥[2]

व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥[3]

तुम तनु धारि हर्‍यो भुव-भार, नमो नमो तुम्हें बारबार।[4]

निर्गुण ब्रह्म सगुण क्यो हुआ, इसका उत्तर केवल इतना ही दिया जाता है कि "भक्त हेतु तनु धर्‍यो गोसाईं" निर्गुण-सम्प्रदाय इस 'अवतारवाद' को अमान्य करता चलता है। राम-कृष्ण, गोविन्द, अल्लाह् की एकता उसने मानी है किन्तु अवतार का समर्थन नही किया है। इन दोनो प्रकार के भक्तो के समक्ष जीवन की दो विभिन्न समस्याएँ थी। सगुण भक्त-वादी अपनी व्यवस्था को सुरक्षित रखना चाहता था, अत उसे ऐसे पुरुपोत्तम की आवश्यकता थी, जो उसकी भावना को उन्मेष दे सके, जो आगत विपत्तियो में उसकी रक्षा कर सके और जिस तक साधारण व्यक्ति की पहुँच हो सके। सन्त के समक्ष व्यक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करना था, उसे मन्दिरो में जाने का अधिकार न था, पूजा-विधि उसके लिए वर्जित थी, अत. उसने परमतत्त्व की आत्मगत प्रतीति को प्रमुखता दी।

'पुरुषोत्तम' मनुष्य के सम्पूर्ण गुणो के उत्कर्ष का रूप है और सन्त का जीवन्मुक्त सम्पूर्ण गुणो का आधार। पुरुपोत्तम सक्रिय होकर भी अ-निष्क्रिय नही और जीवन्मुक्त निष्क्रिय होकर भी अ-सक्रिय नही। निर्गुणोपासना ने मनुष्य में ब्रह्मत्व की सम्भावना देखी और सगुण भक्ति-धारा ने आदर्श मानवता को ब्रह्मत्व माना।

सन्त ने परमतत्त्व को निर्विकार, निर्विशेष आदि मान कर भी उसे अत्यन्त कृपालु और दयालु माना है। इस कठिनाई को देख कर विचारको ने भिन्न-भिन्न कारणो की कल्पना की हैं। इन दोनो शब्दो का प्रयोग भिन्न-भिन्न आधार पर हुआ। निर्गुण का अर्थ है सत्, रज और तम की साम्यावस्था और हलचल का अभाव। गुण-विवर्जित का अर्थ, इन गुणो की सीमाओ का वर्जन है। सृष्टिकर्त्ता, पालक और सहायक ब्रह्म-स्वरूप अमान्य तो नही। सन्त जब राम-रहीम, अल्लाह्-गोविन्द की एकता का उल्लेख करता है, तब इसी ईश्वर की एकता का व्याख्यान करता है। परमतत्त्व को वह एक ओर तो तत्कालीन प्रचलित नामो से पुकारता है और दूसरी ओर साम्प्रदायिकता के विरोध को मिटाने के लिए इनकी एकता स्थापित करता है। सामी एकेश्वरवादी प्रभाव ढूँढ़ना अत महत्त्वपूर्ण नही।

ब्रह्म का जो रूप है, वह गुण-निर्गुण, अगुण-सगुण सबसे परे है, अनिर्वचनीय है। तुलसीदास में विरोध का जो स्वर है वह निर्गुण-पन्थ के नाम पर चलनेवाले पाखड और वर्ण-

---

१ सूर सारावली, वे० प्रे०, पृ० ३८।
२ सूर सागर, वे० प्रे०, पृ० २।
३ रा० च० मा०, बाल०, १३।
४ सूर सागर, दसम स्कंध, पृ० १६०।

व्यवस्था के विरोध के कारण है, स्वयं निर्गुण भक्ति के कारण नहीं। श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत विरति विवेक को तुलसीदास ने मुक्ति के लिए आवश्यक माना है। इस अर्थ में कबीर के समीप तुलसी हैं। कबीर ने भी भाव-भगति भारतीय भक्ति को मुक्ति के लिए आवश्यक माना है। तुलसी के विरोध का कारण है—

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहि वेद पुरान॥
बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम तें कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर आँखि दिखावहिं डाँटि॥[१]

'भक्ति द्राविड़ी ऊपजी' में सम्भवतः अलवारों की ओर संकेत है जिनमें अनेक नीच-जन्मा भक्त हो गए हैं। उनकी भक्ति को शास्त्रीय आधार देकर श्रुति-सम्मत सिद्ध करने की चेष्टा हुई सगुणवाद में और मन्दिरों का द्वार बन्द रहने के कारण भक्ति को आत्मस्थ ब्रह्म के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास हुआ निर्गुण कहे जानेवाले सम्प्रदाय में। भागवत में मुख्या भक्ति को अहैतुकी और निर्गुण कहा गया है और गीता में ज्ञानी भक्त की कल्पना है।

सगुण निर्गुण का विरोध अतः सामाजिक-धार्मिक है, आध्यात्मिक कम। कबीर का सगुणोपासना-विरोध बाह्याचार, अन्ध भाव-शून्य विधान-पालन और अवतारवाद पवित्रता-अपवित्रता की धारणा के कारण है और तुलसी का निर्गुणिया सन्तों का विरोध ऐसे सन्तों के छिछले ज्ञान अहम्मन्यता दिखाने की प्रवृत्ति और वर्ण-व्यवस्थागत आचार विरोध के कारण है।

भाव-भगति अनन्य प्रेम अपने आपका त्याग एवं निस्वार्थ अहैतुकी भक्ति की प्रतिष्ठा दोनों मतवादों में है। रविदास ने माया के द्वारा समस्त जगत् को आवद्ध करनेवाले ब्रह्म को अपने प्रेम की डोर में बाँध लिया है—

जउ हम बाँधे मोह फास हम प्रेम बँधनि तुम बाँधे।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे॥[२]

रविदास के अनुसार भक्ति का स्वरूप है—

तनु मन देह न अंतर राखै। अवरा देखि न सुनै अ-माखै।[३]

नारदीय भक्ति सूत्र के अनुसार यह भक्ति गुणरहित (निर्गुण) सकल कामना रहित प्रतिक्षण वर्धमान अविच्छिन्न और सूक्ष्मतर अनुभव स्वरूप है।[४] भक्ति को निरोध स्वरूपा

---

१ तुलसी दोहा ५५३ और ५५४।
२ आदि-ग्रंथ रविदास रागु सोरठ २।१।
तुलनीय—हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि के मोहि।
हिरदय तें जब जाहुगे मरद बखानौं तोहि॥ —सूर।
३ आदि ग्रंथ रविदास रागु सूही १।१। ४ ना भ सू ५४।

माना गया है जिसमें लोक-वेद-व्यापार का निरोध हो जाता है।[1] लोक-वेद-व्यापार के निरोधत्व को स्वीकार करते हुए भी शास्त्र-मर्यादा की रक्षा को भक्ति का सोपान माना गया है।[2] नारदीय भक्ति सूत्र की रूपासक्ति को निर्गुण धारा में स्वीकृति नही मिली है।

नारदीय भक्ति के स्वरूप को सन्तो ने ग्रहण किया है किन्तु भगवत्‌रूप की सगुणवादिता स्वीकृत नही होने के कारण रूपासक्ति और लोक-वेद व्यापार की महत्ता और माध्यमता इन्हें स्वीकृत नही।

सन्त-मत और तसव्वुफ

डॉ० ताराचन्द के अनुसार कवीर, दादू, नानक और अन्य भारतीय सन्तो ने मुस्लिम सूफी मत की भाषा—यहाँ अभिव्यक्ति प्रणाली और प्रतीक-विधान से तात्पर्य है—अपनाई।[3] प० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार कवीर ने जिस प्रकार एक निराकार के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकडा, उसी प्रकार उस निराकार की भक्ति के लिए सूफियो का प्रेम-तत्त्व लिया और अपना 'निर्गुण-पन्थ' वडी धूम-धाम से खडा किया।[4] डॉ० वडथ्वाल ने निर्गुण सम्प्रदाय पर इस्लाम की जितनी निषेधात्मक देन स्वीकार की है, उतनी विधेयात्मक नही। उनके अनुसार सन्तो को हिन्दू धारणाओ तथा परम्पराओ के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। सूफी मत ने विचार-धारा से अधिक व्यक्त करने की शैली में सहयोग दिया और केवल दाम्पत्य प्रेम के प्रतीको के लिए ही निर्गुणी सूफियो के ऋणी कहे जा सकते हैं।[5] प० चन्द्रबली पाण्डेय ने तो कवीर को आजाद (वेशरा) अथवा सन्त सूफियों की पक्ति में विठा दिया है।[6] इन मतो के विवेचन के द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि सूफी-मत के प्रभाव को स्वीकार करने पर भी उसके प्रभाव के स्वरूप के सम्वन्ध में मतैक्य नही। प्रतीक-विधान-अभिव्यक्ति की शैली, प्रेम-तत्त्व, निषेधात्मक-आलोचनात्मक दृष्टिकोण और आध्यात्मिक विचारो पर, अत प्रभाव देखा गया।

अध्यात्म

सूफियो के आध्यात्मिक विचारो में साम्य नही। कही मुस्लिम मतावलम्वी होने के कारण एकेश्वरवाद की छाप है, तो कही प्रतिविम्ववाद की झलक। आरम्भवाद से लेकर विश्वात्मवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पडता है। परवर्ती सूफी मत और सर्वेश्वरवाद (Pantheism) को समानार्थक शब्द समझ लिया गया है। मुस्लिम दार्शनिक मत में ईश्वर जगत् से परे (विशुद्ध एकेश्वरवादी = इजादिया), परे किन्तु जगत् में प्रतिविम्वित (प्रति-विम्ववादी = शुहूदिया) एव ईश्वर के अतिरिक्त और कोई भिन्न सत्ता नही (एकात्मवादी= वुजूदिया) जैसी विभिन्न धारणाएँ हैं। ईश्वर के रूप और गुण के सम्वन्व में भी अनेक

---

१ ना० भ० सू०, ७-८।
२ वही, १२ एव द्रष्टव्य—गीता १६।२४।
३. इ० इ० इ० क०, पृ० ७०।
४ हि० सा० इ०, पृ० ७८।
५ हि० का० नि० स०, प्रस्तावना, पृ० (ट)।
६ तसव्वुफ अथवा सूफी-मत, (निवेदन), पृ० ३।

व्यवस्था के विरोध के कारण है, स्वयं निर्गुण भक्ति के कारण नहीं। श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संयुत विरति विवेक को तुलसीदास ने मुक्ति के लिए आवश्यक माना है। इस अर्थ में कबीर के समीप तुलसी हैं। कबीर ने भी 'भाव-भगति' नारदीय भक्ति को मुक्ति के लिए आवश्यक माना है। तुलसी के विरोध का कारण है—

> साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
> भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं बेद पुरान॥
> बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम तें कछु घाटि।
> जानहिं ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि दिखावहिं डाँटि॥[१]

'भक्ति द्राविड़ी ऊपजी' में सम्भवतः अलवारों की ओर संकेत है, जिनमें अनेक नीच जन्मा भक्त हो गए हैं। उनकी भक्ति को शास्त्रीय आधार देकर श्रुति-सम्मत सिद्ध करने की चेष्टा हुई सगुणवाद में और मन्दिरों का द्वार बन्द रहने के कारण भक्ति को आत्मस्थ ब्रह्म के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास हुआ निर्गुण कहे जानेवाले सम्प्रदाय में। भागवत में मुख्या भक्ति को अहैतुकी और निर्गुण कहा गया है और गीता में ज्ञानी भक्त की कल्पना है।

सगुण-निर्गुण का विरोध अतः सामाजिक-धार्मिक है, आध्यात्मिक कम। कबीर का सगुणोपासना-विरोध बाह्याचार अतः भाव-शून्य विधान-पालन और अन्धजात पवित्रता-अपवित्रता की धारणा के कारण है और तुलसी का निर्गुणिया सन्तों का विरोध ऐसे सन्तों के जिनके ज्ञान अहम्मन्यता दिखाने की प्रवृत्ति और वर्ण-व्यवस्थागत आधार विरोध के कारण है।

भाव भगति' अनन्य प्रेम अपने आपका त्याग एवं निस्वार्थ अहैतुकी भक्ति की प्रतिष्ठा दोनों मतवादों में है। रविदास ने माया के द्वारा समस्त जगत् को आबद्ध करनेवाले ब्रह्म को अपने प्रेम की डोर में बाँध लिया है—

> जउ हम बाँधे मोह फास हम प्रेम बँधनि तुम बाँधे।
> अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे॥[२]

रविदास के अनुसार भक्ति का स्वरूप है—

> तनु मन देइ न अंतरु राखै। अवरा देखि न सुनै अ-भाखै।[३]

नारदीय भक्ति सूत्र के अनुसार यह भक्ति गुणरहित (निर्गुण) सकल कामना रहित प्रतिक्षण वर्धमान अविच्छिन्न और सूक्ष्मतर अनुभव स्वरूप है।[४] भक्ति को विरोध स्वरूप

---

१ तुलसी दोहा ५५३ और ५५४।
२ आदि-ग्रंथ रविदास रागु सोरठ २।१।
तुलनीय—हाथ छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदय तें जब जाहुगे मरद बखानी तोहि॥ —सूर।
३ आदि ग्रंथ रविदास रागु सूही १।१। ४ ना भ सू ५४।

(इश्क) होता है, इश्क से वज्द (उन्माद) और उन्माद से वस्ल (मिलन)। साधन की अवस्था में शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत हैं। वा-शरा सूफी शरीअत (शास्त्र-विधान) को आवश्यक समझते है,[1] किन्तु वे-शरा सूफी इसकी चिन्ता नही करते। उनके लिए सूफी दशा की प्रारम्भिक अवस्था तरीकत है। तरीकत साधना की वह अवस्था है जिसमे साधक इन्द्रिय-निग्रह द्वारा ईश्वरोन्मुख होता है। मारिफत की अवस्था सिद्धावस्था है, जिसमें आत्मा-परमात्मा का सम्मिलन प्रारम्भ हो जाता है, हक का वोध हो जाता है। हकीकत में परमात्म-मिलन की पूर्णता आ जाती है। साधन के सोपान और अवस्थाओ की तुलना द्वारा स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है कि प्रारम्भिक अवस्था में इनकी चर्चा नही है। 'यारी' साहव ने इन अवस्थाओ का उल्लेख किया है। मलकूत, जवरूत और लाहूत की चर्चा भी है।[2] शब्द-प्रयोग में भी इस्लामी प्रभाव है। पलटू ने सातवें आसमान के ऊपर रहनेवाली अल्लाह की ज्योति का वर्णन किया है।[3] आत्म-सयम, वैराग्य, नाम-स्मरण, गुरु-महिमा, धैर्य, दीनता आदि की अपेक्षा प्रत्येक सम्प्रदाय और मत में स्वीकृत है इन्हें किसी मत-विशेष का नही कहा जा सकता। वस्तुत वहुत कम सन्तो को सूफी अवस्था या मुकामात से परिचय है। वस्ल के साम्प्रदायिक रूप का भी उल्लेख अत्यन्त अल्प और परवर्ती सन्त-साहित्य मे है। निषेधात्मक आलोचना-पद्धति मुस्लिम प्रभाव के कारण नही वल्कि परम्परा का नवीनतम विकास है, इसे अन्यत्र लक्षित किया जा चुका है।

प्रेम-तत्त्व

सूफी-मत में प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के चार विभागो में भोग-वृत्ति, आत्मा, हृदय और वुद्धि हैं। सूफियो के यहाँ हृदय (कल्ब) के द्वारा ही वस्तु ज्ञान होता है और उसी पर भाव-चित्र अकित होते है। सूफियो के अनुसार प्रेम का ज्ञान साधन ही नही वल्कि स्वय ज्ञान है।[4] प्रेम ही अस्तित्व है और उसका अभाव अनस्तित्व।[5] प्रेम का प्रारम्भिक अक्षर पढनेवाला चेला भी ज्ञान का पक्का होता है।[6] सूफी-प्रेम में विरहानुभूति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और परमात्मा सम्वन्धी सकेत मात्र से अवगत होकर साधक प्रेम के ताप और विरह की ज्वाला में दग्ध होता है। यह विरहानुभूति प्रेम-प्राप्ति का चरम साधन है। प्रेम से पूर्व विरह की स्थिति का वर्णन दादू के काव्य में प्राप्त है।[7] इस विरहानुभूति के

---

१ साची राह सरीअत जेहि विसवास न होइ।
पाँव रखै तेहि सीढ़ी, निरमम पहुँचै सोइ॥ —जायसी अखरावट।

२ यारी साहव की रत्नावली, झूलना ६, पृ० १८-१९।

३ प० सा० वा० (१), पृ० ४७।

४ कहा मुहम्मद प्रेम कहानी। सुनि सो ज्ञानी भए धियानी॥ —आ० ग्र०, पृ० १३६।

५ अस्ति प्रेम उपजेउ चित आई। नास्ति सवै जव गई हेराई॥ —उसमान चित्रावली।

६ पुख्तये अक्ल अस्त अवजद ख्वाने इश्क। —ई० सू० क०, पृ० १३७।

७ पहिली आगम विरह का, पीछै प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लै लीन मन, तहाँ मिलन की आस॥
—दा० द० वा० (१), साखी ९९, पृ० ३९।

प्रकार के मतभेद हैं जो शांकर अद्वैतवाद से लेकर द्वैतवाद की सीमा तक में प्रवेश करते हैं। शांकर अद्वैतवाद से इनकी भिन्नता भी है। परम-तत्त्व के स्वरूप और उसके व्यक्त रूप के विवेचन-निरूपण में सूफी मत वहाँ पैठ नहीं सकता। कबीर का ब्रह्म शांकर अद्वैतवाद के अधिक समीप है इस्लाम अथवा सामी की कल्पना के समीप नहीं। सूफी का विश्वास है कि दृश्यमान् जगत् परम-तत्त्व का प्रतिबिम्ब है और परम प्रिय का रूप इसमें झलकता है। मनुष्य परमात्मा अंश है। परमात्मा-निर्मित सुन्दर रूप से प्रेम करना उससे ही प्रेम करना हुआ।[1]

सूफियों की सृष्टि-प्रक्रिया के साथ सन्त-धारणा की तुलना द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-परम्परा भारतीय दृष्टिकोण को स्वीकार करती है। 'शून्य' से अल्लाह ने इस सृष्टि का निर्माण किया। सूफियों के अनुसार अल्लाह ने मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की और उसी के सम्बन्ध से पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि चार तत्त्व।[2] मुस्लिम धारणा के अनुसार यह सृष्टि ही अन्तिम है। आवागमन का सिद्धान्त उनके यहाँ मान्य नहीं। सन्त न तो इस सृष्टि को ही अन्तिम मानता है और न आवागमन को ही अमान्य करता है। उसके अनुसार चार तत्त्व नहीं बल्कि पाँच हैं और 'शून्य' को तो वह जगत् का उपादान कारण मानता ही नहीं। नाथ-पंथ के अनुसार सृष्टि प्रवाह का आरम्भ भी है और अन्त भी। प्रारम्भिक अवस्था में शून्य की व्याप्ति थी और उस शून्य से ही उत्पत्ति हुई।[3] किन्तु परम-तत्त्व ने अपने आपको व्यक्त किया[4] अतः शून्य तत्त्व सामी मतों का शून्य नहीं बल्कि भावात्मक शून्य है, जो नाथ-पन्थ की परम्परा में है।

साधन और साधना-पद्धति

सालिक (साधक) साधना के चार सात अथवा ग्यारह सोपान (मुकामात) का अतिक्रमण कर फना और बका की स्थिति में पहुँचता है। मुकामात द्वारा साधक की सफलता और योग्यता का निर्देश प्राप्त होता है। हृदय-प्रसूत ज्ञान (मारिफत) से प्रेम

---

१ द्रष्टव्य—द पर्शियन मिस्टिक्स जामी पृ २१ २२ और अवारिफुल मआरिफ (भूमिका) पृ ३।

२ कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीति कविलासू॥
कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा। कीन्हेसि बहुतइ रंग उरेहा॥
—जा ग्रं १।

३ सुन्न कला अपरंपरि धारी। आपु निराकार अपर अपारी॥
आपे कुदरत करि करि वेखै सुंनहु सुन्न कराइदा॥
पउणु पाणी सुनै ते साजे। सृसटि उपाइ काइआ गड़ राजे॥
अगनि पाणी जीउ जोति तुमारी सुंनै कला रहाइदा॥
सुंनहु ब्रहमा बिसनु महेसु उपाए। सुंने वरते जुग सबाए॥
—आ ग्रं मारू म १ मारू सोलहे, पृ १०-१७।

४ आपे आपु उपाइ निराला।—वही पृ १ ३६।
अवरु न दीसै एको सोई।—वही पृ १ ३५।

भी हठयोग को अपनाया था। 'प्याला' पर केवल सूफी-प्रभाव नही बल्कि योगियो के रसायनी सम्प्रदाय का भी प्रभाव है।

शब्दावली और प्रतीक

ख्वाजा खाँ ने सूफियो की पारिभाषिक शब्दावली की लम्बी-सी तालिका दी है। 'अवारिफुल मआरिफ' की भूमिका में भी क्लार्क ने पारिभाषिक शब्दावली दी है।[1] इनमें कुछ हैं—जिक्र, वफा, दीदार, फना, फिक्र, हक, हकीकत, इश्क, जलाल, जमाल, लाहूत, जबरूत, नासूत, खिरका, मुराकबा, मुकाम, कल्ब, सिफत, जात, तरीकत, वज्द, आरिफ, सालिक, तालिब और आशिक। इनमें बहुत कम शब्दो का प्रयोग सन्त-साहित्य में प्राप्त है। आशिक, दीदार, हक, इश्क का प्रयोग अधिक मिलता है। साम्प्रदायिक अर्थ में कुछ सन्तो ने ही इनका प्रयोग किया है। आदि-ग्रथ में सुरक्षित कबीर के पदो में इनमें से कुछ का प्रयोग प्राप्त है। "तुरक तरीकत जानीए"[2] में तरीकत का साम्प्रदायिक अर्थ मे प्रयोग नही बल्कि "तुरक" (तुर्क) की तुक-रक्षा में मुसलमानी धर्म को तरीकत कहा गया है, इसे "हिन्दू वेद पुरान" के साथ मिला कर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि तरीकत का प्रयोग आन्तरिक स्वच्छता द्वारा प्रियोन्मुखता के अर्थ में नही हुआ है।[3] ज्ञानाभास के अर्थ में ही प्रयोग है। इसी प्रकार हाल (भावावेश) का प्रयोग भी साम्प्रदायिक रूप में नहीं। जोति की जात जाति की ज्योति (स० क०, गउडी ९, पृ० ११) को जाणो जोति न पूछहु जाती, आगे जाति न हे (आ० ग्र० आसा नानक १) की भूमिका मे देखना चाहिए। कबीर ग्रथावली में कुछ ऐसे पद हैं,[4] जो वस्तुत सूफी-परम्परा में है। हमने अन्यत्र लक्षित किया है कि कबीर के साथ शेख कबीर और सैयद कबीर नामक दो सूफी सन्तो का अन्तर्भाव हो गया है, ऐसी अवस्था में बहुत सम्भव है शेख कबीर जो बनारसी कबीर के प्राय. समसामयिक हैं, की रचनाएँ प्रवेश पा गई। नानक और अन्य सिक्ख-गुरुओ की रचनाओ में भी यह प्रभाव नही दीख पडता, यद्यपि पजाब मुसलमानी शासन में अधिक दिनो तक रह चुका था और लाहौर सूफियो का भी प्रधान केन्द्र था। तलवण्डी का जमीदार इस्लाम ग्रहण कर चुका था और एक ग्रामीण मुसलमान नानक को अपनी सतान की भाँति मानता था। फिर भी नानक ने कहा—"शास्त्र और वेद को कोई नही मानता। लोग अपनी-अपनी पूजा करते हैं। तुरको का मत उनके हृदय में समा रहा है। लोग दूसरो का जूठन खाते हैं और चौका देकर पवित्र होते है। तथा लोग घर पर पूजा-पाठ आदि करते हैं और तुर्कों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने के लिए बाहर कुरान का हवाला देते है। यह समझना भ्रम से खाली नही कि गुरु नानक पर इस्लाम का गहरा प्रभाव था तथा प्रत्यक्ष रूप में सूफी कथाओ और गीतो में उनकी प्रगाढ

---

१ द्रष्टव्य—खवा खाँ स्टडीज इन तसव्वुफ, परिशिष्ट (३), पृ० १७०-२०६ और अवारिफुल मआरिफ (भूमिका), पृ० ४।

२ स० क०, राग गउडी ७५, पृ० ७८। ३ स्टडीज इन तसव्वुफ, पृ० २०१।

४ विशेष रूप से ग्रथावली के पद २५७ और २५८। इनमें साम्प्रदाय्कि शब्दावली का बहुलता से प्रयोग हुआ है।

समान और कोई दूसरा साधन नहीं।[१] प्रेम और विरह का यह स्वरूप सन्त-मत में पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं। कबीर और नानक इस क्रम को स्वीकार नहीं करते। कबीर ने ज्ञान के पश्चात् प्रेम की अनुभूति को अपेक्षित माना है। ज्ञान प्रेम का साधन है प्रेम ज्ञान का नहीं और न प्रेम ज्ञान ही है। भागवत सम्प्रदाय में प्रेम की महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा है और प्रेम का अस्तित्व हो सूफी मतवाद की सूचना नहीं दे सकता। प्रेम के साधन क्रम में विरह की स्वीकृति और प्रतीकों के प्रयोग विवेचन द्वारा ही सूफी-प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है। दादू की भाषा पर उर्दू-फ़ारसी की छाप-जैसी है, यद्यपि अभिव्यक्ति-प्रणाली अधिकांशतः भारतीय है। प्रेम-निवेदन में रहस्यवादी आकुलता विरह-कातरता और प्रेमोन्माद है। सिद्धान्ततः कबीर के निकट होते हुए भी कोमलता भावगत तरलता एवं भाव-विह्वलता सूफियों की समीपता सूचित करती है। सन्त-मत का प्रेम संयत सुकुमार और भाव-तरल है, सूफी प्रेम विह्वल उन्मद और उच्छ्वसित। सन्त-प्रेम का महत्त्व उसके आध्यात्मिक किन्तु पूर्ण मानवीय रस में है और सूफी प्रेम की महिमा वैयक्तिक अनुभूति-प्रतीति में।

सूफी-मत में शराब प्याला साकी आदि का संकेतात्मक प्रयोग अधिकता से हुआ है। परमात्मा साकी है प्रेम शराब जीवन और आत्मा प्याला है। इस प्रकार उन्माद मूर्च्छा और आवेश काम्य बन गए। इसी अवस्था में प्रिय की अनुभूति संभव मानी गई। सूफियों को मुराकबा द्वारा इस स्थिति की प्राप्ति में संकोच न था। बुत और शराब का विरोधी इस्लाम सूफियों के कारण बुत और शराब का उपासक बन गया। सूफी को भाँति सन्त बुत के परदे में उसका जलवा नहीं देखता। संसार के जीवों के प्रति उसमें व्यापक करुणा भाव है, किसी एक के माध्यम से लौकिक प्रेम के साधन से परम-प्रिय का प्रेम वह प्राप्त नहीं करता। सर्वांगिणी प्रेम को अन्त—जो सूफी-मत में प्रतिष्ठित था—सन्त-काव्य में प्राप्त नहीं। मधुरप्रेम का जो आदर्श कबीर ने ग्रहण किया है, वह वैष्णव-सम्प्रदाय में प्राप्त है। रामानुजीय भक्ति-परम्परा में दक्षिण भारत की अड्वार-भक्ति-धारा है। निम्न कुलोद्भूत भक्तों को प्रभु की कृपा अपेक्षित थी। हे नारायण! मेरे ऊपर आज दया करो कल भी करो और सदा कृपा बनाए रखो। मुझे विश्वास है कि न मैं तुम्हारे बिना हूँ और न तू ही मेरे बिना है।[२] संत मंडाल की माधुर्य-धारा सन्त-काव्य में प्रवाहित है। मधुर भक्ति का स्रोत सूफी नहीं। सूफी-मत में जो मदोन्माद और वासनात्मक झलक है, उनके दर्शन सन्त-काव्य में नहीं। प्रेम के लिए जगत्-व्यापार का त्याग सन्त नहीं करता। भावावेश प्रेम-विह्वलता और विरह-कातरता सन्त-काव्य में है। सन्त-कवि की प्रेम-निष्ठा व्यक्त ईश्वर (अवतार) के प्रति नहीं होने के कारण ही सूफी अथवा अभारतीय नहीं। शेख फरीद दादू, बुल्ला यारी पर सूफी-प्रेम का स्पष्ट प्रभाव है। सूफी-सम्प्रदाय के व्यक्ति सन्त-मत में दीक्षित होकर प्रेम का वह स्वरूप ले आए जिस प्रकार नाथ-पन्थी जोगियों के प्रभाव से हठयोग की शब्दावली। अनेक सूफियों ने

१ ज्ञान ध्यान सब छाड़ि दै जप तप साधन जोग।
दादू बिरहा ले रहै, छाड़ि सकल रस भोग॥—बा (१) बा ७४ पृ १७।

२ जे एम कपूर हिस्ट्री ऑफ द आड्वार्स पृ १२।

सामाजिक कारणो से हुआ था, कोई विचार-धारा निराधार नही उठ खडी होती। तत्कालीन चेतना का इतिहास सिद्ध करता है कि दो स्तर सामाजिकता के है। वर्ण व्यवस्था मे सम्मान प्राप्त ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ग और दूसरा स्तर था निम्न वर्ग और पेशेवर जातियो का। वैश्यो की अवस्था कुछ भिन्न थी, जैन धर्म स्वीकार कर कृषि वे छोड चुके थे। कुछ वैश्य तो शूद्रो की गणना मे भी आ जाते है। इस प्रकार के भिन्न स्तरो मे से निम्न स्तर नाथ पन्थ, सिद्ध-सम्प्रदाय और आडवार भक्तो के कारण जागरूक हो रहा था जिसकी परम्परा बुद्ध से लक्षित होती है, यद्यपि वह गौतम बुद्ध से अधिक पुरानी है। ऋग्वेद मे ही आर्य-आर्येतर सघर्ष लक्षित किया जा सकता है। बौद्धकालीन विरोध आर्यो के ही दो स्तर का विरोध है, यद्यपि बौद्धो ने आर्येतर जातियो को सघर्ष की सुविधा के लिए अपने साथ कर लिया। इस प्रकार दो धाराऍ चलती-बढती और अन्य धाराओ के प्रभाव से परिवर्तित-सशोधित होती रही। मध्यकालीन तान्त्रिको और वाममार्गियो ने सयम की बाँध तोड दी, उसे सयमित करने का प्रयास अतिनिरोध और अतिसलग्नता को दूर कर 'सहज' मार्ग को प्रतिष्ठा में हुआ। 'सहज' विकृत होकर भोग बन गया और इस प्रकार 'भोग' ही निर्वाण। इसकी परिशुद्धि के लिए कबीर का प्रयास है। आर्य-आर्येतर सघर्ष के मूल में व्यक्ति की प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा का प्रश्न था। बौद्ध धर्म मे इसे प्रतिष्ठा मिलने लगी और कर्म-काण्ड के स्थान मे ज्ञान की अपेक्षा इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता का जयघोष है। भारतीय धर्म-साधना मे जब किसी नवीन स्थापना की आवश्यकता पडी, उसका वैदिक आधार ढूँढा गया। वैदिक कथनो का नवीन विधान देख कर उसे वैदिक परम्परा में मानना उचित नही होगा। डॉ० बडथ्वाल ने निर्गुण-पन्थ के औपनिषदिक आधार की चर्चा की है। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद—सभी वाद वेदान्त और उपनिषद् सम्मत हैं। कबीर का ब्रह्म शाकरब्रह्म 'केवलाद्वैत' नही, वह तो सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, द्वैत-अद्वैत सभी के परे है एव ज्ञान के स्थान में भक्ति की प्रतिष्ठा आडवारो की है, जो नामदेव के द्वारा आती है। इस आडवारी भक्ति—जिसे नारदीय भक्ति कही गई है—के शास्त्रज्ञ व्याख्याता रामानुज हैं और शास्त्र-ज्ञानहीन प्रतिष्ठापक कबीर। उत्तर भारत में निम्न वर्ग की साधना धारा नाथ-पन्थी और सिद्ध-सम्प्रदाय में प्रवाहित होती रही जब कि पौराणिक धर्म, व्रत, स्नान, पूजा-पाठ आदि में लगा रहा। नाथ-पन्थी धारा के साथ आडवारी भक्ति का सयोग कबीर ने किया है। साधारण दृष्टि से देखने पर नाथ-पन्थी विचारो की परम्परा में कबीर लगते हैं क्योकि उसी सम्प्रदाय से वे आते हैं। भक्ति-धारा को नाथ-सम्प्रदाय की धारणा के साथ सम्बद्ध करने की अपेक्षा इसीलिए हुई कि इन निम्न जातियो को मन्दिर-प्रवेश और सामाजिक जीवन मे महत्त्व-पूर्ण स्थान नही था। नामदेव के एक पद से लक्षित होता है कि नीची जातियो में उत्पन्न होने के कारण उन्हें मन्दिर से बाहर निकाल दिया गया था—

> हँसत खेलत तेरे दुहरे आया, भक्ति करत नामा पकरि उठाया।
> हीनडी जाति मेरी जादव राया, छीपै को जनमि काहे को पावा॥

मुसलमानो के आक्रमण से मूर्तियो की असमर्थता और व्यक्ति की समानता के भाव प्रकट हुए। समानता के भाव का जो विकास और इसकी प्रतिष्ठा के लिए देवासुर-सग्राम के काल से जो प्रयास चलता आ रहा था, उसे नवीन उन्मेष प्राप्त हुआ। मुसलमान यदि भारत

भक्ति थी। सूफी शब्दावली अथवा प्रतीक-विधान का प्रभाव अत्यन्त सामान्य ही है। नामदेव रैदास पीपा आदि इस प्रभाव से अछूते हैं।

अन्य संकेत

दूलनदास के पदों में मंसूर शम्सतबरेज निजामुद्दीन हाफिज बू अली कलंदर फरीद आदि को स्मरण किया गया है और कुछ पारिभाषिक शब्दों—तसौवर सिदक महबूब मुरशिद इश्क का भी प्रयोग है।[1] बुल्ले शाह ने भी मंसूर और शम्स तबरेज को श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।[2] यारी साहब घट-घट में मुहम्मद साहब का नूर देखते हैं जिनके लिए इस सृष्टि की रचना हुई।[3] बिहारवाले दरिया साहब की भाषा और अभिव्यक्ति की शैली पर सूफी प्रभाव दीख पड़ता है। कोरनिश व सिजदा का प्रार्थना-सम्बन्धी ढंग मुसलमानों की नमाज से मिलता-जुलता है। प्रत्येक दरियापंथी का एक हुक्का और पानी पीने के लिए मटका रखना मुस्लिम प्रभाव का संकेतक है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि परवर्ती सन्त-साहित्य पर सूफी अथवा इस्लामी प्रभाव अधिक है। मुस्लिम शक्तियों की सत्ता स्थापित हो जाने के पश्चात् दोनों धर्म-साधनाओं को मिलने-मिलाने का अवसर प्राप्त हुआ। दारा शिकोह ने भारतीय अद्वैतवादी वेदान्त के साथ सूफी मतवाद की तुलना और समता-स्थापन 'मज्मउल-बहरैन' (दो समुद्रों का संगम) नामक ग्रंथ में किया। संत प्राणनाथ ने कुलजम शरीफ (मुक्ति की पवित्र धारा) में वेद और कुरान के अंशों को उद्धृत कर समानता दिखलाने का प्रयास किया। अतः परवर्ती काल में समन्वय और सामंजस्य की जो चेष्टा हुई उसका प्रभाव सन्त-साहित्य पर पड़ा। इसके अतिरिक्त अनेक सूफी-सम्प्रदाय संत-मत में दीक्षित हुए और अनेक सूफियों ने नाथ-पंथी हठयोग को अपनाया एवं अनेक जोगी सूफी मत स्वीकार कर हठयोग और नाथ-पन्थी विचार धारा का प्रवेश कराने लगे। प्रारम्भिक युग में दोनों का विकास दो विभिन्न धाराओं के रूप में हुआ था। फलस्वरूप परवर्ती विकास में दोनों धाराएँ—सन्त और सूफी अत्यन्त समीप आकर एकमेक हो गईं और इनमें अभिन्नता दीख पड़ने लगी।

मूल-उत्स

सन्त साहित्य के मूलस्रोत और उद्गम के सम्बन्ध में ऊहापोह चलता रहा है। आचार्य शुक्ल मध्ययुगीन सन्त-साहित्य का स्वतन्त्र अस्तित्व-सा स्वीकार करते हैं यद्यपि नाथ-पन्थियों के प्रभाव की चर्चा की है। आचार्य सेन ने इस वैदिक धारा से सम्बद्ध माना है यद्यपि मुस्लिम आक्रमण के कारण इस्लामी धार्मिक विचारों और वेद-विरोधी सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया-स्वरूप इसका प्रचारण। डॉ. बड़थ्वाल ने इस साहित्य के औपनिषदिक आधार का विवेचन किया है जिसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। सन्त-धारणाओं का प्रस्फुटीकरण तत्कालीन राजनीतिक और

१ सं. बा. सं. (२) पृ. ११६-११७।
२ मनसूर मूं मुर्शिद यारा रे शाह शम्स पीर उदारा है।—वही पृ. १८।
३ घट घट नूर मुहम्मद साहब जा का सकल पसारा है।—रत्नावली शब्द (५) पृ. २।

सामाजिक कारणो से हुआ था, कोई विचार-धारा निराधार नही उठ खडी होती। तत्कालीन चेतना का इतिहास सिद्ध करता है कि दो स्तर सामाजिकता के हैं। वर्ण व्यवस्था में सम्मान प्राप्त ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ग और दूसरा स्तर था निम्न वर्ग और पेशेवर जातियो का। वैश्यो की अवस्था कुछ भिन्न थी, जैन धर्म स्वीकार कर कृषि वे छोड चुके थे। कुछ वैश्य तो शूद्रो की गणना में भी आ जाते हैं। इस प्रकार के भिन्न स्तरो मे से निम्न स्तर नाथ पन्थ, सिद्ध-सम्प्रदाय और आडवार भक्तो के कारण जागरूक हो रहा था जिसकी परम्परा बुद्ध से लक्षित होती है, यद्यपि वह गौतम बुद्ध से अधिक पुरानी है। ऋग्वेद में ही आर्य-आर्येतर सघर्ष लक्षित किया जा सकता है। बौद्धकालीन विरोध आर्यों के ही दो स्तर का विरोध है, यद्यपि बौद्धो ने आर्येतर जातियो को सघर्ष की सुविधा के लिए अपने साथ कर लिया। इस प्रकार दो धारा चलती-बढती और अन्य धाराओ के प्रभाव से परिवर्तित-सशोधित होती रही। मध्यकालीन तान्त्रिको और वाममार्गियो ने सयम की बाँध तोड दी, उसे सयमित करने का प्रयास अतिनिरोध और अतिसलग्नता को दूर कर 'सहज' मार्ग की प्रतिष्ठा में हुआ। 'सहज' विकृत होकर भोग बन गया और इस प्रकार 'भोग' ही निर्वाण। इसकी परिशुद्धि के लिए कबीर का प्रयास है। आर्य-आर्येतर सघर्ष के मूल में व्यक्ति की प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा का प्रश्न था। बौद्ध धर्म मे इसे प्रतिष्ठा मिलने लगी और कर्म-काण्ड के स्थान मे ज्ञान की अपेक्षा इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता का जयघोष है। भारतीय धर्म-साधना में जब किसी नवीन स्थापना की आवश्यकता पडी, उसका वैदिक आधार ढूँढा गया। वैदिक कथनो का नवीन विधान देख कर उसे वैदिक परम्परा में मानना उचित नही होगा। डॉ० बडथ्वाल ने निर्गुण-पन्थ के औपनिषदिक आधार की चर्चा की है। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद—सभी वाद वेदान्त और उपनिषद् सम्मत हैं। कबीर का ब्रह्म शाकरब्रह्म 'केवलाद्वैत' नहीं, वह तो सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, द्वैत-अद्वैत सभी के परे है एव ज्ञान के स्थान में भक्ति की प्रतिष्ठा आडवारो की है, जो नामदेव के द्वारा आती है। इस आडवारी भक्ति—जिसे नारदीय भक्ति कही गई है—के शास्त्रज्ञ व्याख्याता रामानुज हैं और शास्त्र-ज्ञानहीन प्रतिष्ठापक कबीर। उत्तर भारत में निम्न वर्ग की साधना धारा नाथ-पन्थो और सिद्ध-सम्प्रदाय में प्रवाहित होती रही जब कि पौराणिक धर्म, व्रत, स्नान, पूजा-पाठ आदि में लगा रहा। नाथ-पन्थी धारा के साथ आडवारी भक्ति का सयोग कबीर ने किया है। साधारण दृष्टि से देखने पर नाथ-पन्थी विचारो की परम्परा में कबीर लगते हैं क्योकि उसी सम्प्रदाय से वे आते हैं। भक्ति-धारा को नाथ-सम्प्रदाय की धारणा के साथ सम्बद्ध करने की अपेक्षा इसीलिए हुई कि इन निम्न जातियो को मन्दिर-प्रवेश और सामाजिक जीवन में महत्त्व-पूर्ण स्थान नही था। नामदेव के एक पद से लक्षित होता है कि नीची जातियो में उत्पन्न होने के कारण उन्हें मन्दिर से बाहर निकाल दिया गया था—

> हँसत खेलत तेरे दुहरे आया, भक्ति करत नामा पकरि उठाया।
> हीनडी जाति मोरी जादव राया, छीपे को जनमि काहे को पावा॥

मुसलमानो के आक्रमण से मूर्तियो की असमर्थता और व्यक्ति की समानता के भाव प्रकट हुए। समानता के भाव का जो विकास और इसकी प्रतिष्ठा के लिए देवासुर-सग्राम के काल से जो प्रयास चलता आ रहा था, उसे नवीन उन्मेष प्राप्त हुआ। मुसलमान यदि भारत

में नहीं आए होते तो भी यह धारा अपने वेग के साथ प्रकट होती इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। मुस्लिम प्रभाव निर्गुण-धारा के परवर्ती रूप पर ही अधिक लक्षित होता है, उसी प्रकार उपनिषद्-वेदान्त का प्रभाव भी क्रमशः बढ़ता गया। वेदान्त और सूफी-मत की समानता का जो प्रयत्न हुआ उसे देखकर ही वेदान्त और सूफी-प्रेम की बेमेल खिचड़ी कुछ लोगों को इस धारा में मिली। निर्गुण-काव्य के मूलस्रोत के अन्वेषण के लिए उस धारा की खोज करनी पड़ी है, जिसके संकेत मात्र साहित्य और धर्म-साधना में उपलब्ध हैं। जन-जीवन के विकास उसकी आस्था और विश्वास के स्वरूप को जानने के लिए इससे अधिक सामग्री हमारे लिए उपलब्ध नहीं है। इस धारा का अतः मूल न तो उपनिषद् है, और न नाथ-पन्थ और सिद्ध सम्प्रदाय और न मात्र आलवारी भक्ति। नाथ-पन्थ और सिद्ध-सम्प्रदाय की धारा को आलवारी भक्ति के साथ समन्वित कर नवीन चेतना के उपयुक्त प्रस्तुत करना कबीर का काम था। औपनिषदिक ज्ञान के समीप आने का प्रयास बाद में चल कर हुआ। ऐसे तो प्रत्येक विचार के बीज महाभारत में खोजे जा सकते हैं। ज्ञान की अपेक्षा भाव का ग्रहण बाह्याचार के स्थान में शुद्धाचरण की प्रतिष्ठा आदि का बौद्ध उद्गम स्पष्ट है। इस प्रकार निर्गुण-धारा का मूल स्रोत जीवन-धारा है, जो विभिन्न परिस्थितियों के कारण स्वरूप परिवर्तित करती हुई अबाधित रूप से चलती रही और कारण विशेष से प्रकट होती रही। इन कवियों की चिन्ता-धारा मूल स्रोत इनका जीवन है, जिनका विकास परम्परा की तत्कालीन चेतना में होता है। यह न औपनिषदिक है, न पूर्णतया नाथ-पन्थी और न आलवारी बल्कि जीवन की अपेक्षा से सबका समन्वय और सामंजस्य स्वतः हो गया है। संगम के बाद त्रिवेणी त्रिवेणी नहीं रह जाती गंगा की धारा बन जाती है उस समय यह कहना अनुचित है कि इतना पानी गंगा का है और इतना यमुना का सरस्वती बिचारी तो अन्तःसलिला ठहरी ही।

हिन्दू-मुसलमान ब्राह्मण-शूद्र उच्च-नीच राम रहीम आदि का समन्वय जो इनमें दीख पड़ता है, वह गांधी का समन्वय नहीं कारण गांधी की समन्वय भावना कारण विशेष से सुचिन्तित और निश्चित है। सन्तों का प्रयास किसी निमित्त-विशेष अथवा राजनीतिक अधिकार के लिए नहीं है एवं उनकी अहिंसा राजनीतिक अस्त्र भी नहीं। सन्त के समक्ष प्रश्न था मानव-जीवन के सहज रूप की प्रतिष्ठा का जिसमें अस्तित्व की आस्था चेतना का चैतन्य और आनन्द का अमृत-रस हो। इस ब्रह्मानन्द की उपलब्धि में जिसके द्वारा विरोध खड़ा होता था या हो सकता था उसका विरोध सन्त ने निर्मम भाव से किया और जिसके ग्रहण की अपेक्षा थी उसे निस्संकोच रूप में ग्रहण किया। कबीर का महत्त्व नाथ-पन्थीय कड़ी और नीरक्षमापी सम्प्रदाय में नहीं बल्कि इनके नवीन संस्कार में है, 'सहज' और 'शून्य' के ग्रहण में नहीं बल्कि इनकी नवीन योजना और इनकी प्राप्ति के सहज साधन-विधान में है। कबीर की प्रतिभा प्राचीन के नवीन संस्कार और संशोधन में है अतः शास्त्र-अशास्त्र के दृष्टिकोण मापा नहीं जा सकता। सार्वभौम जीवन की एकता प्रतिपादित करनेवाले मर्मी साधक के लिए कुछ भी स्वदेशी नहीं कुछ भी विदेशी नहीं। देश और काल से प्रभावित होकर भी इनकी सीमाओं के घेरे में वह बंधा नहीं रहता बँध नहीं पाता। चिन्ता-धारा का अध्ययन धारा के रूप में ही होना चाहिए देश-काल से विच्छिन्न अवरुद्ध गति की ऐकान्तिक भूमिका में नहीं। सन्त-काव्य की विचार-धारा का मूल है और इसी भूमिका में इसका अध्ययन होना चाहिए—

"सरब भूत एकै करि जानिआ चूके बाद बिबादा।"

सन्त-मत और दार्शनिक मतवाद

दार्शनिक मतवाद की दृष्टि से इन सन्तो पर विचार किया जाता रहा है। डॉ० सर राधाकृष्णन् और अण्डरहिल ने कबीर को रामानुजीय विशिष्टाद्वैती एव फर्कुहर ने भेदाभदी माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बडथ्वाल इन्हें अद्वैतवादी मानते हैं। परम-तत्त्व का वर्णन नही किया जा सकता अत परात्परवाद की झलक भी इस साहित्य में (विशेषकर कबीर में) देखी गई है। शुक्ल जी को निर्गुण के साथ भक्ति की सम्बद्धता खटकी थी और विचार के क्षेत्रवाले ब्रह्म और उपासना-क्षेत्र के ईश्वर के समन्वय की कठिनाई को स्वतन्त्र चिन्तन का अभाव उन्होने मान लिया। बडथ्वाल ने कबीर, दादू और सुदरदास आदि उनके शिष्य, मलूकदास, यारी और उनकी परम्परा, जगजीवनदास, भीखा, पलटू, गुलाल को अद्वैती और विवर्तवादी माना है एव नानक और उनकी शिष्य-प्रशिष्य मण्डली को भेदाभेदी और सर्वात्म-विकासवादी तथा शिवदयाल, तुलसी साहब आदि को विशिष्टाद्वैती माना है।[१]

सन्त शास्त्रीय दर्शन के पण्डित और रूढ अर्थों में दार्शनिक नही थे। साम्प्रदायिक सगठन की प्रतिष्ठा तो बाद में चल कर हुई। वे किसी विशेष मतवाद के समर्थक नही थे। वे चिन्तक, समाज-द्रष्टा और सामाजिक दर्शन के प्रचारक थे। जीवन की व्यापक धारा का प्रभाव उनके चिन्तन पर पडा था। सन्तो के सामान्य सिद्धान्तो में विचित्र समता रहने पर भी विभिन्न धारणाओ को आत्मसात् करने की क्षमता, जीवन की विभिन्न समस्याओ एव जगत्-सम्बन्धी निजी दृष्टिकोण के कारण सन्तो की विचार-धारा में अन्तर आया है। अहकार के त्याग, सभी जीवो के साथ समता का व्यवहार, आत्म-सस्कार और शुद्धि के द्वारा प्रतीतिजन्य अनुभूति की तीव्रता, ससार की मायिकता से विच्छिन्नता और सर्वभूत की प्रतिष्ठा की भूमिका में ही परम-तत्त्व, सृष्टि-प्रक्रिया, जीव-कोटियाँ, साधना-पद्धति, मुक्ति धारणा आदि का सम्यक् अध्ययन सम्भव है। सन्त-मत का मूल उद्देश्य है—

निरबैरी निहकामता, साई सेती नेह।
विपया सू न्यारा रहै, सतनि का अग एह॥[२]

आपा मेटै हरि भजै तन मन तजै विकार।
निर्वैरी सब जीव सों, दादू यह मत सार॥[३]

अह-वृत्ति के त्याग से दो लक्ष्यो की प्राप्ति होती है—निम्न कुल में जन्म लेने के कारण होनेवाली कुठा का नाश और उच्च कुल में जन्म लेने अथवा सम्पत्तिशाली होने के कारण अनावश्यक गर्व का त्याग सभव होता है। व्यक्ति-व्यक्ति तथा जीव-जीव के समत्व की प्रतिष्ठा इसी आधार पर सम्भव होती है, क्योकि बाह्य बुद्धि के कारण ही भेद दीख पडता था। सब में एक ही तत्त्व समान भाव से वर्त्तमान है, एक ही तत्त्व ने विभिन्न स्वरूप ग्रहण किया है

---

१ हि० का० नि० स०, पृ० १४७।

२ क० ग्र०, पृ० ५०।१९४।   ३ दा० द० वा० (१), पृ० ३२२।८।

अथवा एक ही अपरिवर्तनीय और अपरिवर्तनशील तत्त्व अनेक में प्रतिबिम्बित है। दार्शनिक दृष्टि से इन धारणाओं में अन्तर है। एक ही तत्त्व अनेक रूप धारण करता है इसका यह अर्थ नहीं कि रूप की समानताएँ हैं, अथवा विभिन्न रूप भी उस एक तत्त्व की भाँति सत्स्वरूप हैं। यह परिव्याप्त तत्त्व सत्स्वरूप है किन्तु जगत् आभास अथवा विवर्त है, परम-तत्त्व की अद्वैतता जगत्-स्वरूप की दृष्टि से विवर्तवाद के साथ सम्बद्ध है—

दादू साईं सति है, दूजा भ्रम बिचार।
नाम निरंजन निर्मला दूजा घोर अंधार॥[1]

दूजा भ्रम बिचार में विवर्तवाद के दर्शन किए जा सकते हैं क्योंकि सत्-तत्त्व के के अतिरिक्त और किसी दूसरे तत्त्व की स्थिति भ्रमात्मक विचार है। 'दूजा' का तात्पर्य 'द्वैत भावना' भी है अतः द्वैतता भ्रम-विचार है, इस अर्थ में अद्वैतवादी मान्यता स्वीकृत होने पर भी विवर्तवाद की मान्यता नहीं। ब्रह्म-तत्त्व की सर्वव्यापकता और अन्तर्भूतता में मतैक्य रहने पर भी जगत् के सम्बन्ध से भिन्नता आ गई है। नामदेव के लिए यह परम-तत्त्व सबमें परिव्याप्त ही नहीं बल्कि सर्वत्र वही है। मात्र व्याप्त नहीं बल्कि सब और सभी गोविन्द है—

एक अनेक बिआपक पूरक जत देखउ तत सोई।
माइआ चित्र बचित्र बिमोहित बिरला बूझै कोई॥
सभु गोबिंद है सभु गोबिंद है गोबिंदु बिनु नहीं कोई।
सूतु एक मणि सत सहंस जैसे ओति पोति प्रभु सोई॥[2]
—आ ग्रं (नामदेव)।

सूत और मणि एक नहीं दोनों में तात्त्विक भिन्नता है। सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता (७।७) की टीका में इस कठिनाई को लक्षित किया था अतः दूर करने के लिए कहा—'जिस प्रकार सोने की बनी हुई मणियाँ सोने के तार में पिरोई रहती हैं उसी प्रकार इस विश्व को अन्दर और बाहर सब ओर से मैं ही धारण किए रहता हूँ।'[3] नामदेव की उपमा (सूतु एक मणि सत सहंस) उनके मत (सभु गोबिंदु है सभु गोबिंदु है गोबिंदु बिन नहीं कोई) के साथ पूर्णतया सफल निर्वाह नहीं कर पाती। (गोबिंदु बिन नहीं कोई में ही इसका निर्वाह है)। जल-तरंग कनक-कटिक जैसी अभिन्नता सूत-मणि के सम्बन्ध में नहीं।[4] रैदासवाणी के अनुसार जगत् पूर्णतया प्रातिभासिक और विवर्त है—

---

१ दा द बा (१) पृ १२७।८८।
२ मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ —गीता ७।७।
३ हिन्दी ज्ञानेश्वरी पृ १९२ (गीता ७।७ पर भाष्य)।
४ आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा।
जल ते तरंग तरंग ते है जलु कहन सुनन कउ दूजा॥ —आ ग्रं नामदेव।

कनक कुंडल सूत पट जुदा, रजु भुअग भ्रम जैसा।
जल तरग पाहन प्रतिमा ज्यो, ब्रह्म जीव द्वति ऐसा ॥[1]

ब्रह्म और जीव का द्वैतभाव, अत विवर्त-मात्र और अज्ञान का परिणाम ही है। इसमें तो सभी एक-मत हैं कि यह जगत् पारब्रह्म की लीला (इहु परपचु पारब्रह्म की लीला—नामदेव, आ० ग्र) है किन्तु नामदेव के लिए यह ससार केवल 'बीठल' से ओत-प्रोत ही नही बल्कि सभी 'बीठल' हैं, जहाँ देखा जाय वहाँ बीठल ही बीठल है—

जत जाउ तत बीठुला मैला। महाअनद करे मदकेला ॥—रहउ।
ईभै बीठुले उभै बीठलु, बीठल बिन ससार नही।
थान थनतरि नामा प्रणवै, पूरि रहउ तू सरब मही ॥[2]

कबीर शब्दावली के अनुसार भी जगत् और ब्रह्म की अभिन्नता है—

दरियाव की लहर दरियाव है जो दरियाव और लहर मे भिन्न कोयम्?
उठो तो नीर है बैठो तो नीर है कहो दूसरा किस तरह होयम्?
उसी नाम को फेर के लहर धरा लहर के कहे तो क्या नीर खोयम्?
जगत ही को फेरि सब जगत् और ब्रह्म में ज्ञान करि देखि कबीर गोयम्?[3]

कबीर ग्रथावली के अनुसार एक ही जल-तत्त्व हिम हो जाता है और पुन गल कर जल-तत्त्व—

पाँणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥[4]

"जल थल पूरि रहे प्रभु सुआमी। जत पेखउ तत अतरजामी ॥"[5] में प्रतिबिम्बवाद की झलक देखी जा सकती है, यद्यपि ब्रह्म का जीव रूप धारण करनेवाला भेदाभेदी (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध भी सन्त-साहित्य में अभिव्यक्त होता रहा है। ब्रह्म के चार रूपों की कल्पना सन्त-साहित्य में है, यद्यपि तीन रूपो के स्पष्ट दर्शन होते हैं—परमतत्त्व, ईश्वर अर्थात् सर्वद्रष्टा रूप, सर्वत्र परिव्याप्त रहनेवाला स्वरूप और भिन्न-भिन्न जीवोवाला रूप। जीवात्मा और परमात्मा की एकता स्वीकृत रहने पर भी भेदाभेदवादियो की भाँति जीव की नित्यता सत-साहित्य में अधिक स्वीकृत नही। नामदेव और नानक के लिए ब्रह्म ने ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द रूप में अभिव्यक्ति ली है और इस विश्व की ब्रह्मातिरिक्त सत्ता नही—

---

१ रै० बा०, पृ० ४५-५३।
२ आ० ग्र०, नामदेव। ३ कबीर शब्दावली ४, पृ० ८९-९०।
४ क० ग्र०, पृ० १३।१३९।
तुलनीय—जल हिम च यो वेत्ति गुरुवक्त्रागमात्प्रिये।
नास्त्येव तस्य कर्तव्य तस्यापश्चिमजन्मता ॥
—का० ना० प्र० प० (वर्ष ५६, अक ३-४) के पृ० ३०५ से।
५ स० क०, रागु गउडी ४०।३।

आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा।
कहत नामदेव तूं मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥[1]
आपे रसिआ आपि रसु आपे रावण हार।
आपे होवे चोलड़ा आपे सेज भतार ॥ १ ॥

रंगिराता मेरा साहिबु रवि रहिआ भरिपूरि। रहाउ।[2]

आपे मछुली आपे जाली आपे धीवरु होइ।
आपे जालु मनकड़ा आपे अंदरि लालु होइ ॥[3]

नामदेव के 'जनु ऊरा तूं पूरा' में अंशांशि भाव के दर्शन भी किए जा सकते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों की भाँति जीव और जगत् की नित्य पदार्थता कबीर को मान्य नहीं यद्यपि 'बाजीगर डंक बजाई। सब खलक तमासे आई' में जीव की नित्यता का आभास देखा जा सकता है किन्तु 'बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग रवै अकेला'[4] के अनुसार ऐसा तमाशा खेल (क्रीड़ा) में सम्पूर्ण विश्व (खलक) निर्मित हो गया ऐसा तात्पर्य लिया जा सकता है। जीव-कोटियों के उल्लेख द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि जीव मात्र अंश अथवा अपूर्ण नहीं। सन्त-मत का सामान्य सिद्धान्त है—

हरि महि तनु है तन महि हरि है सरब निरंतरि सोइ रे।
और— खालिकु खलक खलक महि खालिक पूरि रहिओ सब ठाई।[5]

रज्जब में भी विवर्तवाद का स्पष्ट आभास है—

रज्जब जीव ब्रह्म अंतर इता जिता जिता अज्ञान।
है नाहीं निर्णय भया परदे का परवान ॥ —सर्वांगी।

गीता में कृष्ण ने कहा है कि जो कुछ सात्त्विक राजस और तामस भाव अर्थात् पदार्थ हैं वे सब मुझसे हुए हैं वे मुझमें हैं परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।[6] इस कथन को मणि-सूत्र के सम्बन्ध द्वारा ही स्पष्टतया समझा जा सकता है मणि सूत्र से भिन्न है किन्तु सूत्र मणि से भिन्न नहीं और मणि और सूत्र अभिन्न नहीं है। सांख्य-सम्मत पुरुष का अकर्तृत्व भी सन्त-काव्य को मान्य नहीं। कर्ता के रूप में परम-तत्त्व का स्पष्ट कथन संत-साहित्य में उपलब्ध है—

आपन करता भये कुम्हारा बहु विधि सिष्टी रची दर हाला।
बिधना कुंभ किये है थाना प्रतिबिम्बता माहि समाना ॥
बहुत जतन करि बांनक बाना सौंज मिलाय जीव तहां ठांना ॥[7]

---

१ आ० ग्रं० नामदेव।　　२ वही मारू १।
३ वही मारू १।　　४ सं० क० रागु गौरी ४।
५ सं० क० रागु गौड़ १ और विभास प्रभाती ३।
६ ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ —गीता ७।१२।
७ स० ग्रं० रमैणी ५ पृ० २४ ४१।

ब्रह्मवादी के लिए पुरुष शुद्ध साक्षी है, शाकर वेदात में आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानंद, एक, सत्य, अनन्त, सृष्टि-स्थिति-लय का कारण, भावाभाव-विहीन है परन्तु उसमें कर्तृत्त्व नहीं है। ईश्वरवादी के अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र और कर्तृस्वरूप है। निर्गुण-सगुण का साम्प्रदायिक रूप भी सन्त के दार्शनिक मतवाद को स्पष्ट नही कर सकता। शाकर अद्वैतवाद की भाँति ज्ञान की स्थिति में भक्ति के अभाव की अमान्यता भी सत-साहित्य को मान्य नही। सत के अनुसार पूर्ण 'ज्ञान' तक ज्ञातृत्त्व की पहुँच नही, उस ज्ञान से भिन्न जो है वह प्रपच को ही पूर्ण सत्य मान लेना अज्ञान।

नानक में गीता के सब कुछ उसके भीतर है उससे परे कुछ भी नही, का स्वर प्राप्त है। नानक के अनुसार प्रत्येक वस्तु उसी के भीतर है, उसके बाहर अर्थात् परे कुछ भी नहीं। उस हुकुम को यदि भली-भाँति समझा जा सके तो फिर अपने को भिन्न सिद्ध करने वाले अह-भाव का बोध बचा नहीं रहता--

हुकुमै अदरि सभु को, बाहरि हुक्म न होइ।
नानक हुकुमै जै बुझै त हउ मै कहै न कोई॥[1]

ब्रह्म की अखडता, अद्वैतता के साथ जगत् की व्यावहारिक एव प्रातिभासिक सत्ता का वर्णन सुन्दरदास में मिलता है। वेदान्ती अद्वैतवाद से सुन्दरदास का गहरा परिचय है। परम-तत्त्व की दृष्टि से वह तत्त्व ब्रह्म है और जगत् की दृष्टि से ब्रह्म ही जगत् रूप धारण करता है—

(क) जगत कहै तें जगत है, सुदर रूप अनेक।
ब्रह्म कहे ते ब्रह्म है, वस्तु विचारे एक॥

(ख) सुदर कहत यह एकई अखड ब्रह्म।
ताही कौं पलटि कै जगत नाम धर्‌यौ है॥[2]

जगत् की दृष्टि से सर्वात्मवाद की प्रतिष्ठा भी सन्त-साहित्य में प्रयोजनीय हो उठी थी। नामदेव और कबीर के लिए आत्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा, व्यक्ति के महत्त्व की स्थापना का प्रश्न था अत समानता का प्रतिपादन और उसके लिए आत्म-प्रतीति की अपेक्षा स्वीकृत हुई--

एकल चिता राषु अनता, अउर तजहु सभ आसा रे।
प्रणवै नामा भए निहकामा "को ठाकुर को दासा रे"॥ --नामदेव।

व्यापक ब्रह्म सबनि मै एकै, को पडित को जोगी।
राजा राव कौंवन सू कहिये, कवन वैद को रोगी॥
इनमें आप आप सबहिन मैं आप आपहूँ सू खेलै।
नाना भाँति घडे सम भाडे रूप धरे धरि मेलै॥ --कबीर।

एक ही मिट्टी से सभी भाण्डों की रचना कुम्हार ने की है--इसमें जीव-जीव, व्यक्ति-व्यक्ति की समता तो प्रतिपादित हो जाती है किन्तु कुम्हार मिट्टी नही और मिट्टी

---

१. जपुजी, छद २।

२ सु० ग्रं० (२) ८०५ और ६५५।

तो कुम्हार है ही नहीं। बूंद और समुद्र का ऐक्य प्रतिपादित संत ने विवर्तवाद के स्वरूप को पूर्णतया स्वीकृत नहीं किया है। बूंद का आभास नहीं विवर्त नहीं जैसी सर्प की रज्जु में प्रातिभासिक सत्ता मात्र है। बूंद असत्य और प्रातिभासिक नहीं और तत्वतः अभिन्न भी नहीं। अंगांगिभाव का उद्घाटन भी पूर्णतया नहीं। अंशांशिभाव के वचन नहीं होते हैं—

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद में सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
समद समाना बूंद में सो कत हेर्या जाइ॥
—(क ग्रं पृ १७।१७१-७२)।

आत्म प्रतीति के अधिकरण रूप आत्म-संस्कार से कुछ भिन्न आत्म-संस्कार की धारणा नानक में है। माया और मायिकता का त्याग इस अवस्था में अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आत्म-संस्कार द्वारा आत्म-विकास की सम्भावना अधिक रहती है अतः आत्म-संस्कार की विभिन्न स्थितियों और सोपानों को पार कर क्रमशः आत्म-तत्त्व और परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि जीव के लिए सम्भव है। दादू में ऐकान्तिक तत्त्व अधिक है, परमात्म-तत्त्व से अतः विच्छिन्नता का आवेग अधिक मिलेगा। कबीर ने ज्ञान के जिस स्फुरण की तीव्रता दी उसकी परिणति सद्भाव और करुणा की व्यापकता में हुई। नानक धर्म की वास्तविकता एवं उसके अकुंठित आचरण के प्रति अधिक सचेत है।[1] रैदास में भाव-भक्ति की प्रेरणा तो है किन्तु दादू की आकुल विह्वलता नहीं। कबीर में चैतन्य-भक्ति (जो भारतीय निर्गुण भक्ति भी है) है। ज्ञान का निराकरण नहीं करते हुए भी गीता-धर्म के अनुसार स्वधर्मनिष्ठा की धारणा नानक में मिलती है और दादू को उनका तरल विह्वलता सूफी-मत और वैष्णवीय मधुर भक्ति के समीप पहुँचाती है। बीच-बीच में अभिन्नता स्वीकार करनेवाले सन्त-मत ने भी मायाबद्ध जीव और जीवन्मुक्त का अन्तर माना है, उसके अनुसार सन्त और अनन्त में अन्तर नहीं।

अतः दार्शनिक मतवाद का कोई ढाँचा सन्त-साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं होगा। शास्त्रीय पण्डित अथवा प्रवक्ता नहीं होने के कारण विभिन्न सिद्धांतों के स्वरूप इसमें देखे जा सकते हैं। परम-तत्त्व सन्तों की दृष्टि में अनिर्वचनीय है कोई वर्णन उसके निर्वचन से समर्थ नहीं वह जैसा है वैसा ही है। सन्त के लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं कि उसके समान और कोई दूसरा नहीं अर्थात् वह अद्वितीय है बल्कि सन्त-धारणा के अनुसार एकमात्र उसकी सत्ता है। संसार अहं-तत्त्व का प्रसार है जिसके कारण अहंकार की व्यापकता है। सन्त इसे 'हुँमता' भी कहता है। इस अहं-ज्ञान के कारण ही प्रपंचात्मक रचना सत्य मालूम पड़ती है और अज्ञान के कारण ही संसार की उत्पत्ति और स्थिति है। 'शून्यता-प्राप्ति इस प्रपंच से

---

१ अतीआ त भरमु छोडिआ मनेछ माखिआ नही।
ध्रुरि मम इक भरम होई भरम की गति रही॥
—नानक महला १ धनासिरी ८।

शून्यता की स्थिति है। परम-तत्त्व के स्वरूप-निर्वचन में वह अनिर्वचनीयतावादी है, साधना की दृष्टि से सहज आचरण शुद्धिवादी है, प्रक्रिया की दृष्टि से ज्ञानमार्गी और मानव-समता के विचार से भावात्मक मानववादी है। आत्मा की प्रतिष्ठा कबीर-साहित्य में अधिक हुई और नानक ने मन की वृत्तियो के सचरण का निरोध प्रतिपादित किया है। रविदास श्रद्धापूर्ण आत्म-समर्पण को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तो दादू भावना की उन्मेषपूर्ण चरमता को। परवर्ती सन्त-साहित्य एक ओर तो भक्ति के अनुकूल अधिकतया भेदाभेद की ओर झुकता गया तो दूसरी ओर सूफी आरम्भवादी अद्वितीयवाद के साथ वेदान्ती अद्वैतवाद का सामजस्य होता गया। आत्मा की महत्ता के कारण कबीर-मत 'अद्वयवाद' से प्रभावित होता दीख पडता है तो नानक में ईश्वर के कर्तृत्वपक्ष का अधिक आग्रह है और दादू, बुल्ला, यारी आदि में प्रेम-तत्त्वता की आस्था।

सन्त-मत वादी अथवा विवादी नही, सहज सामजस्यवादी है। कुलार्णव तन्त्र की यह उक्ति सन्त के परम-तत्त्व के निर्वचन में अधिक उपयुक्त है—

अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्व न जानन्ति द्वैताद्वैत - विवर्जितम् ॥[1]

इस भूमिका में कबीर ग्रथावली का यह पद द्रष्टव्य है—

वेद विवर्जित भेद विवर्जित, विवर्जित पाप रु पुन्य।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित अस्थूल सुन्य॥
भेष विवर्जित भीख विवर्जित, विवर्जित डयभक रूप।
कहै कबीर तिहूँ लोक विवर्जित, ऐसा तत्त अनूप॥[2]

इसीलिए तो सन्त कहता है--

कहै कबीर हरि ऐसा "जहाँ जैसा तहा तैसा"॥
अगम अगोचर अच्छर अतरक निरगुन अत अनदा।
सदा अतीत ज्ञान घन वर्जित निरविकार अविनासी।[3]

सन्त-साहित्य के परम-तत्त्व को भागवत की इस दृष्टि से ही देखना उपयुक्त होगा—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्यते॥ --भाग० १।२।११।

---

१ कु० त०, १।११०। २ क० ग्रं०, पद २२०, पृ० १६२-६३।
३ क० ग्र०, पद २६३ और रै० वा०, पृ० ४५।५३।

सो कुम्हार है ही नहीं। बूंद और समुद्र का ऐक्य प्रतिपादित संत ने विवर्त्तवाद के स्वरूप को पूर्णतया स्वीकृत नहीं किया है। बूंद का आभास नहीं विवर्त्त नहीं जैसे सर्प की रज्जु में प्रातिभासिक सत्ता मात्र है। बूंद असत्य और प्रातिभासिक नहीं और तत्वतः अभिन्न भी नहीं। अंशांशिभाव का उद्घाटन भी पूर्णतया नहीं। अंशांशिभाव के वचन यहाँ होते हैं—

> हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
> बूंद समानी समद में सो कत हेरी जाइ॥
> हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
> समंद समाना बूंद में सो कत हेर्‍या जाइ॥
>
> —(क० ग्रं पृ १७।१७१-७२)।

आत्म-प्रतीति के अधिकरण रूप आत्म-संस्कार से कुछ भिन्न आत्म-संस्कार की धारणा नानक में है। माया और मायिकता का स्थान इस अवस्था में अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आत्म-संस्कार द्वारा आत्म-विकास की सम्भावना अधिक रहती है अतः आत्म-संस्कार की विभिन्न स्थितियों और सोपानों को पार कर क्रमशः आत्म-तत्त्व और परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि जीव के लिए सम्भव है। दादू में ऐकान्तिक तत्त्व अधिक है, परमात्म-तत्त्व से अतः विच्छिन्नता का आवेश अधिक मिलेगा। कबीर में ज्ञान के विस स्फुरण की तीव्रता दी उसकी परिणति सद्भाव और करुणा की व्यापकता में हुई। नानक मन की वास्तविकता एवं उसके अकुंठित आचरण के प्रति अधिक सचेष्ट हैं।[१] रैदास में भाव-भक्ति की प्रेरणा तो है किन्तु दादू की आकुल विह्वलता नहीं। कबीर में चैतन्य-भक्ति (जो भारतीय निर्गुण भक्ति भी है) है। ज्ञान का निराकरण नहीं करते हुए भी गीता-धर्म के अनुसार स्वधर्मनिष्ठा की धारणा नानक में मिलती है और दादू की सकल तरल विह्वलता सूफी-मत और वैष्णवीय मधुर भक्ति के समीप पहुँचती है। जीव-जीव में अभिन्नता स्वीकार करनेवाले सन्त-मत ने भी मायाबद्ध जीव और जीवन्मुक्त का अन्तर माना है उसके अनुसार सन्त और असन्त में अन्तर नहीं।

अतः दार्शनिक मतवाद का कोई ढाँचा सन्त-साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं होगा। शास्त्रीय पण्डित अथवा प्रवक्ता नहीं होने के कारण विभिन्न विचारों के स्वरूप इसमें देखे जा सकते हैं। परम-तत्त्व सन्तों की दृष्टि में अनिर्वचनीय है कोई वचन उसके निर्वचन से समर्थ नहीं वह जैसा है वैसा ही है। सन्त के लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं कि उसके समान और कोई दूसरा नहीं अर्थात् वह अद्वितीय है बल्कि सन्त-धारणा के अनुसार एकमात्र उसकी सत्ता है। संसार अहं-तत्त्व का प्रसार है जिसके कारण अहंकार की व्यापकता है। सन्त इसे द्वैतता भी कहता है। इस अहं-ज्ञान के कारण ही प्रपंचात्मक रचना सत्य मालूम पड़ती है और अज्ञान के कारण ही संसार की उत्पत्ति और स्थिति है। शून्यता-प्राप्ति इस प्रपंच से

---

१ सतीआ त वरतु छोडिया मनैउ भालिआ नही।
मूर्‍ति मन इक बरन होई बरन की गति रही॥
—नानक महला १ प्रभातिरो ८।

शून्यता की स्थिति है। परम-तत्त्व के स्वरूप-निर्वचन में वह अनिर्वचनीयतावादी है, साधना की दृष्टि से सहज आचरण शुद्धिवादी है, प्रक्रिया की दृष्टि से ज्ञानमार्गी और मानव-समता के विचार से भावात्मक मानववादी है। आत्मा की प्रतिष्ठा कबीर-साहित्य में अधिक हुई और नानक ने मन की वृत्तियो के सचरण का निरोध प्रतिपादित किया है। रविदास श्रद्धापूर्ण आत्म-समर्पण को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तो दादू भावना को उन्मेषपूर्ण चरमता को। परवर्ती सन्त-साहित्य एक ओर तो भक्ति के अनुकूल अधिकतया भेदाभेद की ओर झुकता गया तो दूसरी ओर सूफी आरम्भवादी अद्वितीयवाद के साथ वेदान्ती अद्वैतवाद का सामजस्य होता गया। आत्मा की महत्ता के कारण कबीर-मत 'अद्वयवाद' से प्रभावित होता दीख पडता है तो नानक में ईश्वर के कर्तृत्वपक्ष का अधिक आग्रह है और दादू, बुल्ला, यारी आदि मे प्रेम-तत्त्वता की आस्था।

सन्त-मत वादी अथवा विवादी नही, सहज सामजस्यवादी है। कुलार्णव तन्त्र की यह उक्ति सन्त के परम-तत्त्व के निर्वचन में अधिक उपयुक्त है—

अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्व न जानन्ति द्वैताद्वैत - विवर्जितम् ॥[1]

इस भूमिका में कबीर ग्रथावली का यह पद द्रष्टव्य है—

वेद विवर्जित भेद विवर्जित, विवर्जित पाप रु पुन्य।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित अस्थूल सुन्य॥
भेष विवर्जित भीख विवर्जित, विवर्जित डयभक रूप।
कहै कबीर तिहूँ लोक विवर्जित, ऐसा तत्त अनूप॥[2]

इसीलिए तो सन्त कहता है—

कहै कबीर हरि ऐसा "जहाँ जैसा तहा तैसा"॥
अगम अगोचर अच्छर अतरक निरगुन अत अनदा।
सदा अतीत ज्ञान घन वर्जित निरविकार अविनासी।[3]

सन्त-साहित्य के परम-तत्त्व को भागवत की इस दृष्टि से ही देखना उपयुक्त होगा—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ —भाग० १।२।११।

---

१ कु० त०, १।११०। २ क० ग्रं०, पद २२०, पृ० १६२-६३।
३ क० ग्र०, पद २६३ और रै० बा०, पृ० ४५।५३।

प्रेम-दर्शन

प्रेमी ढूँढत मै फिरौं, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी को प्रेमी मिलै, बिष से अमृत होइ॥

—क० ग्र०, पृ० ७६।१२ और साखी-ग्रंथ, पृ० १४५।२२।

सुनु सखी पीअ महि जीउ बसै जीअ महि बसै कि पीउ।
जीउ पीउ बूझहु नहीं घट महि जीउ कि पीउ॥

—सन्त कबीर, सलोकु २३६।

प्रेम-दर्शन

★

कलाकार की सहज संक्षोम्यशील वृत्ति पर सतत प्रवहमान जीवन की घटनाओ, वस्तुओं का प्रभाव पडता है। गीति-काव्यात्मक प्रतिभा अमिश्र अनुभूतियो की अभिव्यक्ति में क्षम है, किन्तु प्रभाव का सगठन अनुभूति के प्रकार और स्वरूप को अभिनव क्षमता और नूतन रूपमत्ता देता है। इस रागात्मक केन्द्र (Emotioual necleus) की सृष्टि होती है, कल्पना इसे आवेश, स्फूर्ति और रूपमत्ता देती है, बौद्धिकता स्पष्टता, चेतना और जागर्त्ति। भावना को विस्तार और रूप-विधान प्राप्त होता है एव रागात्मक भावावेश का सामान्योकरण सम्भव। वस्तुएँ, घटनाएँ और भाव-धाराएँ विच्छिन्न और निरपेच्च नही रह जाती बल्कि पूर्णतया एकाकार और तद्रूप हो जाती हैं। मानवीय जगत् की यही भावात्मक रागमत्ता और रागात्मक वृत्ति-चक्र कला-चेतना की स्फूर्त्ति और जीवन की आधारशिला है।

प्रेम और रति

मानवीय अन्तर्वृत्तियो में रति-भाव अथवा काम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, कुछ अशों में सम्पूर्ण जीवन काम-भावना से अभिरजित है। चार पुरुषार्थों में परिगणित होकर काम का महत्त्व अक्षुण्ण रहा। आहार, परिग्रह और सन्तान मनुष्य की तीन प्रधान इच्छाएँ हैं। 'काममय एवाय पुरुष', 'चित्त वै वासनात्मकम्', 'काममय' एव 'इच्छामय' इत्यादि उक्तियो में काम की सर्वव्यापकता ही स्वीकृत है। रति-भावना आत्म-विस्तार का साधन है। सन्तानेच्छा के मूल में अमरता की धारणा है। आहार सत् या अस्तित्व का कारण है और मैथुन रति-भाव, प्रजनन और विस्तार का। रति-भावना को ही जैन-दर्शन में मैथुन-सज्ञा, बौद्ध-दर्शन में काम-तृष्णा और चरक सहिता में प्राणैषणा कहा गया है। ऐषणाओ की परि-

तृप्ति द्वारा सुख-प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य रहा। काम-सूत्र के अनुसार 'पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषयों में जो अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रीतिकर, सुखद पदार्थ हैं, उनके अनुभव की इच्छा' ही काम-सामान्य है। 'काम' सवमय' पुंसां स्व-संकल्पसमुद्भव' कामात् सर्वे प्रवर्त्तन्ते लीयंते वृद्धिमागता' एवं वासना वासुदेवस्य वासितं सकलं जगत्" में भी काम की ही प्रतिष्ठा है। कामदेव अपनी इयत्ता सिद्ध करने के लिए कहता है— मैंने सुरपति इन्द्र को गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का जार बनाया चन्द्रमा को अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा से व्यभिचार करा दिया स्वयं ब्रह्मा को अपनी पुत्री सरस्वती के पीछे दौड़ा दिया मेरे बाणों को सारे संसार के उन्मथन में क्या कोई श्रम है? मैंने किसको अपथ पर नहीं चलाया।[१]

काम की दो भार्याएँ हैं—रति और प्रीति[२]। रति और प्रीति का सपत्नी होना उनके कलह से अधिक उनकी एकजीवता का परिचायक है। रति शारीरिक और प्रीति मानसिक क्रियाएँ हैं प्रीति का क्रियात्मक स्वरूप रति और रति का मानसिक पक्ष प्रीति है। रति केवल शारीरिक बुभुक्षा की तृप्ति मात्र नहीं बल्कि आध्यात्मिक-मानसिक सन्तुष्टि है।

आदिम धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति के माध्यम में यौनिक प्रतीकों का अभाव नहीं बल्कि आधिक्य है। संसार की सृष्टि का प्रतीकात्मक वर्णन रमण-क्रिया का द्योतक है। समुद्र और प्रलय-जल कमल-नाल और कमल-कोष में प्रसुप्त ब्रह्मा वटपत्र के दोन में शिशु-रूप सृष्टि-कर्त्ता रमण-क्रियाओं के प्रतीक हैं। प्रेम प्रीति श्रद्धा करुणा दया क्षमा भक्ति स्नेह, वात्सल्य सौहार्द आदि का आधार यही रति-भावना है। रतीच्छा की तृप्ति के लिए सौन्दर्य लावण्य और आकर्षण-शक्ति प्रयोजनीय हैं।[३] किन्तु व्यक्ति की विशिष्टता अपेक्षित नहीं। प्रेम सामान्य का विशेषीकरण है। प्रेमी की तृप्ति अन्य किसी के सान्निध्य अथवा सामीप्य से नहीं होती उसकी सारी वासनाएँ, भावनाएँ व्यक्ति-विशेष पर केन्द्रित हो जाती हैं। रति ही प्रीति नहीं प्रीति रति-मात्र नहीं। मैकडूगल ने प्रेम में यौनवृत्ति और मातृत्व-भावना का सम्यक् सामंजस्य देखा है। सौन्दर्य का आकर्षण व्यक्ति को आकृष्ट करता है उससे अधिक सौन्दर्य देख कर यदि उसकी वृत्ति चंचल हो उठे उसके प्रति आकर्षण कम जाय और प्रत्येक उत्कर्षमय सौन्दर्य-दर्शन के अवसर पर उपस्थित हो जाय तो यह प्रेम नहीं बल्कि वासना-विकृत क्षोभ मात्र है। वासना की तृप्ति व्यक्ति के प्रति उपेक्षा अथवा घृणा का भाव उत्पन्न करती है शारीरिक तृप्ति के पश्चात् व्यक्ति महत्त्वहीन हो जाता है किन्तु प्रीति उत्तरोत्तर विकसित प्रगाढ़ और गम्भीर होती जाती है। प्रेम की स्थिरता का कारण सौन्दर्य शरीर-रूप अथवा विलक्षता नहीं बल्कि प्रेमी की भाव-मग्नता और भावुकता है। प्रेमी प्रिय से प्रेम नहीं करता वह प्रेम करता है प्रिय-सम्बन्धजनित अपनी भावात्मकता से। प्रिय के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की पूर्णता का विस्तार उसे प्राप्त होता है। प्रेम चेतन-क्रिया नहीं बल्कि अचेतन

---

१ प्रबोध-चन्द्रोदय। २. कामस्य द्वे भार्ये रतिश्च प्रीतिश्च।

३ वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र में भोग्या और अभोग्या नारियों के लक्षणों का वर्णन किया है।

भावात्मक अभिव्यक्ति है, प्रेम की अवधि तक सौन्दर्यपूर्ण भावात्मकता की अपेक्षा बनी रहती है।

वासना कक्ष-च्युत धूमकेतु है और केन्द्रगत आकर्षण प्रेम, जिसमें सारा ध्यान खिच कर केवल एक बिन्दु पर आ टिकता है, जहाँ दुराव नही, द्विधा नही, सकोच नही।[1] व्यक्तित्व की लघु सीमा अपने सकोच का त्याग करती है, 'पर' 'स्व' हो जाता है। सन्त-कवि ने वासना और प्रेम, सामान्य रति-भावना और केन्द्रस्थ आकर्पण, लोभ और स्नेह का अन्तर समझा था।[2] वासना की तीव्रता नही, उसे प्रेम का आवेश चाहिए। इसमें गति तो है किन्तु उद्वेगकारी उद्विग्नता और चचलता नही। वासना की अनिश्चितता भी सन्त-कवि के पास नही फटकती।[3] मानसरोवर से दूर हस ताल-तलैया मे भटकता है, मानसरोवर मिल जाने पर भटकने की अपेक्षा ही कैसे रहेगी ?[4]

आत्म-भाव-प्रसार का मूल आधार है रति-भावना। साहित्य-शास्त्र के शृगार-रस का स्थायिभाव है रति, जिसके अन्य स्वरूपो की भाव सज्ञा है। वृत्तियो के द्वारा ही जगत् और जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है और अस्तित्व का सत्य अन्त करण की वृत्ति द्वारा ही सिद्ध। बौद्धिक, प्रयोजनगत और आनन्दमूलक सम्बन्ध और मेल से ही जगत् के साथ आत्मा का सम्मिलन है। रति-भावना की सबलता के कारण सस्थागत साम्प्रदायिक धर्मों, सामाजिक रीतियो और नैतिक धारणाओ ने इसका उपयोग करना चाहा है। धार्मिक नेता और विचारक अपनी धारणाओ के अनुकूल इस वृत्ति का नियमन करना चाहते है। रति-भावना की सम्पूर्ति के मार्ग में धार्मिक सिद्धान्त आ खडे होते हैं, कानून अपनी मान्यता के लिए आग्रह रखता है, सामाजिक नैतिकता की अपेक्षा आवश्यक है, जातिगत और सम्प्रदायगत रूढियो का पालन करना पडेगा और आर्थिक स्थिति अपनी विवशता उपस्थित करेगी। इस प्रकार रति-भावना की सन्तुष्टि के मार्ग में अनेक बाधाएँ आ उपस्थित होती हैं।

द्वेष का कारण है आत्म-प्रसार की सम्भावना में व्याघात। क्रोध, ईर्ष्या, शोक, जुगुप्सा आदि इसके विभिन्न स्वरूप है। आत्म-प्रकाशक राग सम्बन्ध-भिन्नता के कारण विभिन्न स्वरूप ग्रहण करता है। आसक्ति इसका व्यापक स्वरूप है। समान व्यक्तियो के सम्बन्ध की यह वासनात्मक आसक्ति काम अथवा रति है। समान लिंगी वासना होमोसेक्सु-

---

१ जिन दिल बँधी एक सूँ, ते सुख सोवैं न चीत। —क० ग्र०, पृ० २०।१३।

२ प्रीति बिना कैसे बधै सनेहु। जब लग रसु तब लग नही नेहु।
साहनि सुत करै जीअ अपने। सो रमये कउ मिलै न सपने॥
—स० क०, रागु गउडी २३, पृ० ८५।

३ जब मन लागै राम सौं, तब अनत काहे को जाइ।
दादू पाणी लूँण ज्यूँ, ऐसें रहै समाइ॥ २६॥
—दा० द० वा० (१), पृ० १०५।

४, हंसा पाये मानसरोवर ताल-तलैया क्यो डोलै ? —कबीर, पद ३३, पृ० २४२।

एषिस्टी है और इसका शोभित रूप मैत्री। अपने से हीन व्यक्ति के सम्बन्ध से स्नेह, वात्सल्य करुणा सहानुभूति तथा अनुकम्पा की भावनाएँ हैं और उच्च व्यक्तियों अथवा महत् के सम्पर्क से श्रद्धा सम्मान और भक्ति। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने वासना को कुंठा में ही कला संस्कृति धर्म और साहित्य का मूल देखा है। दमन और कुण्ठा के अभाव में भावना के शोध की सम्भावना नहीं रहती।

सन्त-काव्य में वासनागत कुण्ठा नहीं बल्कि उसका शोधित रूप प्राप्त है, उसका उन्नयन है। सन्तों की प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध नहीं किन्तु उनके साहित्य में दमित काम-वासना की आशंका नहीं। जिस मध्यम मार्ग की चर्चा सन्तों ने की है उसमें राग-विराग त्याग-ग्रहण भोग-योग में सामंजस्यपूर्ण अन्विति है। प्रच्छन्न कामुकता में जो उत्कटता और असन्तोषपूर्ण उद्वेग होता है अथवा भावान्तरीकरण से जो सन्तोष मिलता है, उसका यहाँ अभाव है। इस साहित्य में जीवन की वासना और कुण्ठागत असन्तोष का शोधित रूप ही मिलेगा। सन्त का विश्वास है कि गार्हस्थ्य-धर्म (यौन-जीवन और उसके आदर्श) की रक्षा करते हुए आचरण होना चाहिए। असन्तोषपूर्ण गार्हस्थ्य जीवन के कारण वैराग्य ग्रहण अमेय और अनुपयुक्त है। प्रच्छन्न कामुकता में जो विद्रूपता है, उसका सन्त-साहित्य में अभाव है। सामान्य वासना की सन्तुष्टि द्वारा मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा एवं इसके उदात्तीकरण द्वारा उच्च सांस्कृतिक अथवा नैतिक जीवन की चेतना का सन्देश यह साहित्य देता है। कामुकता का यहाँ विशिष्ट स्वरूप नहीं बल्कि उदात्तीकरण की महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा है। सन्तों की मन-शायियों में बलात् सांसारिक सुखों के त्याग और वासना-निरोध का मानसिक किन्तु अचेतन प्रक्षेपण मात्र नहीं। कला अथवा साहित्य प्रच्छन्न यौन-वृत्ति चरितार्थता नहीं उसका मूल-कारण भी नहीं यद्यपि कला-चेतना और रति भावना का गहरा सम्बन्ध है। सन्त-कवि के समाज में यौन-वृत्ति-चरितार्थता का जो अवसर उपस्थित था वह जीवन-व्यापार की कठिनता और सामाजिक वर्जनाओं के कारण अधिक नहीं था फलस्वरूप तज्जन्य सामाजिक चेतना अथवा शक्ति उतनी ही अधिक मात्रा में मानवीय साधना की सम्पूर्ति के लिए प्रयुक्त हो सकी। इस साहित्य में यौन-वृत्ति का अति कामुकतापूर्ण विस्तार नहीं कुण्ठागत मानसिक विकृति भी नहीं बल्कि सन्तुष्टि-जन्य संयम की सांस्कृतिक चेतना है। यह निरोध भी नहीं मात्र मार्गान्तरीकरण भी नहीं एक आधार के स्थान में दूसरे का आरोपण भी नहीं। यौन वर्जनाओं और यौन जीवन के असन्तुलन से भागने के परिणाम स्वरूप उनकी अभिव्यंजना नहीं बल्कि संयमन द्वारा उच्च सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है।

प्रेम और उसके स्वरूप

जीवन में प्रेम की व्यापक महत्ता के कारण साहित्य में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। एकोऽहम् बहु स्याम् में भी इसी महत्ता का अन्तर्भाव है एवं सृष्टि का प्रसार इसी अन्तःप्रेरणा द्वारा होता है। यह प्राकृतिक और सहज स्वाभाविक प्रेरणा आरम्भ में सामाजिक बन्धन को स्वीकार नहीं कर पाती किन्तु मनुष्य की कामनाएँ सामाजिक प्रतिबन्ध में ही प्रतिफलित होती हैं। प्रकृति की सहज अन्तःप्रेरणा और समाज के परम्परागत बन्धन में ही प्रेम का प्रतिफलन होता। सन्त-साहित्य में प्रेम के निम्नलिखित स्वरूप साहित्य में मिलते हैं—

(१) किसी कुमारी का किसी कुमार के प्रति अथवा किसी कुमार का किसी कुमारी के प्रति प्रेम जिसका अन्त विवाह अथवा चिर-वियोग में होता है। यौन-वृत्ति की परितृप्ति के साथ आत्मिक आनन्द की चेतना इसमें रहती है। वासना-पूर्ति का माध्यम यहाँ सामान्य नहीं रह कर विशिष्ट हो जाता है। मुक्त प्रेम की प्रथम अवस्था में सामाजिक मान्यताएँ कुण्ठा उपस्थित करती हैं। मिलन की आतुरता और विह्वलता विशेष रहती है। ऋग्वेद मे यमी के इसी प्रकार के प्रेम का वर्णन है, यमी का अपने भाई यम के प्रति ऐसा प्रेम सफल नही होता। स्वच्छन्द और मुक्त सामाजिक अवस्था मे आतुरता और विह्वलता की अधिक अपेक्षा नही रह जाती, कारण मिलन के मार्ग की बाधाएँ अपेक्षाकृत अधिक विषम नही रहती। इस प्रेम की आरम्भिक अवस्था मे गाम्भीर्य और विस्तार की अपेक्षा आवेग, उद्वेग और उद्विग्नता का आधिक्य रहता है। प्रेम की अभिव्यक्ति क्रिया-व्यापार के माध्यम से होती है।

नर और नारी के प्रेम में अन्तर है। नारी पुरुष से यौन-सन्तुष्टि चाहती है, यह सत्य है। पुरुष में वैसी भावना के जगने पर नारी मे यह वृत्ति पुरुष के प्रति जागरित होती है जिसके कारण वह अपने जीवन को न्योछावर कर सकती है। साधारण-से-साधारण त्याग कर सकने की अक्षमता मे भी पुरुष इन्द्रिय-जन्य परितृप्ति की आकाक्षा रखता है। साधारणतया ऐसी धारणा प्रचलित है कि नारी में प्रेम आत्मिकता से ऐन्द्रियता की ओर उन्मुख होता है और पुरुष में ऐन्द्रियता से आध्यात्मिकता की ओर। पुरुष का प्रेम अधिक केन्द्रित, गत्यात्मक और आत्म-निर्भर होता है। नारी का शारीरिक गठन अधिक रागात्मक, आवेश और उद्वेग-शीलता प्रदान करता है, अत उसका प्रेम अधिक प्रदर्शनशील। भारतीय साहित्य की नारी-विह्वलता और आतुरता इसी तथ्य पर आधारित है। साधारण स्थिति में दर्शनजन्य पारस्परिक आकर्षण, तत्पश्चात् प्रतीतिजन्य उन्मेष और भावात्मकता की सृष्टि होती है। ऐसे प्रेम का गाम्भीर्य मिलन की एकात्मकता और विरह की विह्वलता में प्रकट होता है।

(२) अन्त पुर की सीमाओ में राजकीय स्त्रैणता के पौरुषहीन, निस्सार और उत्कट वासनाजन्य प्रेम की अभिव्यक्ति साहित्य मे होती रही है। यह व्यावहारिक कामुकता है, प्रेम की गम्भीर स्थिति नही। कामशास्त्रीय वशीकरण के सारे साधनो का उपयोग यहाँ होगा। ऐसा प्रेम उस सामाजिक स्थिति का सूचक है जिसमे प्राकृतिक जीवन अधिकाधिक अवरुद्ध और रूढ हो चुका रहता है, नागरिक सभ्यता की विकृति के ही दर्शन इसमें सम्भव हैं। जीवन के पूर्ण उल्लास और विषाद के अवसर इस प्रेम में प्राप्त नही होते। नारीत्व सम्मान का विषय नहीं रहता, मात्र-वासना-पूर्ति का साधन। नागर-प्रेम का दूसरा स्वरूप विलास-क्रीडाओ में अभिव्यक्त होता है जिसमें नवयौवना प्रेमिकाएँ मुख्य भाग लेती हैं। इस सामाजिक जीवन में वेश्याओ का महत्त्वपूर्ण स्थान हो जाता है।

(३) प्रेम का आदर्श रूप वह माना जाता है जिसका उत्कर्ष विवाह के पश्चात् दीख पड़ता है और जिसका उत्तरोत्तर विकास जीवन-क्रम मे होता है। ऐसे प्रेम में एकनिष्ठता के साथ न्यस्त कर्तव्य का भाव निहित रहता है। प्रेम पाशविक वृप्ति नही, मात्र कर्तव्य-निष्ठा नही, वल्कि मिश्र भावना है। विवाहित पुरुष और नारी मे वृत्ति का उन्मेष और तादात्म्य

न हो तो लौकिक दृष्टि से विवाह होने पर भी शरीर-शरीर का मिलन होने पर भी तात्त्विक रूप में प्रेम नहीं है। साहित्य-शास्त्रियों की दृष्टि में स्वकीयत्व रहने पर स्वकीया-प्रेम की इसे संज्ञा नहीं मिलनी चाहिए। स्वकीयत्व अथवा परकीयत्व की कसौटी विवाह नहीं बल्कि मानसिक वृत्ति है जिसके कारण दो स्वतन्त्र व्यक्ति अपनी-अपनी विच्छिन्नता त्याग कर अविच्छिन्न रूप में आबद्ध होते हैं। वह विवाह जिसमें स्वेच्छापूर्वक बन्धन स्वीकार किया जाता है और कर्तव्य-निष्ठा की भावना से वैवाहिक सम्बन्ध के कारण जागरित प्रेम में विभिन्नता है। यहाँ विवशता होती है विवशता प्रेम नहीं प्रेम की अपनी विशेषताएँ होती हैं यह अलग कथा है।

(४) प्रेम का एक स्वरूप है राधा-कृष्ण का प्रेमादर्श जिसमें विवाह का बन्धन नहीं सामाजिकता का नियन्त्रण नहीं। प्रेम की जिसमें विरह ही परिणति है। यह चिर विरह और शाश्वत है। भावमयी नारी अपने आपको प्रिय पर न्योछावर कर मिलनोत्कण्ठिता रहती है। यह स्वकीया का प्रेम नहीं पूर्णतया परकीया-प्रेम भी नहीं भावना की उन्मुक्त और अबाधित अभिव्यक्ति है। दार्शनिक तत्त्ववाद के कारण वैष्णव-प्रेम और मधुर-भक्ति पर इस प्रकार के प्रेम का प्रभाव है। गीत गोविन्द की राधा में प्रतीकात्मक और आध्यात्मिक मधुर रति के साथ उन्मुक्त प्रेम का सजीव रूप है। राम और सीता के विरह से राधा और कृष्ण के विरह में अन्तर है। सीता पाताल-प्रवेश कर भी भावोन्माद की वह स्थिति प्राप्त नहीं कर पाती जो राधा के लिए सहज ही सम्भव हो सकी थी। सीता के प्रेम का गाम्भीर्य और संयम कर्तव्यनिष्ठा का परिचायक है और राधा के विरह की तीव्रता उद्वेग और भावोन्माद में गम्भीरतम आकांक्षा की प्रेरणा और स्फूर्ति है।

(५) भारतीय साहित्य में जहाँ विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई है वहाँ वह फारसी-शायरी में पुरुषों के बाँटे पड़ी है। भारतीय नारी के विरहोच्छ्वास में विवशता के आँसू थे। स्त्री-पुरुष के प्रेम के अन्तर की जो परिकल्पना है उसमें वैसे पुरुषों का ध्यान नहीं रखा गया है जो भावात्मक रूप में नारियाँ हैं और न वैसी नारियों का ही जो प्रगल्भता में पुरुषों से भी अधिक प्रगल्भ होती हैं। यौन-विहार से ही विभाजन उपयुक्त नहीं। सामाजिक स्थिति का प्रभाव अभिव्यक्ति पर पड़ता है। समानाधिकार देनेवाले समाज में दोनों की चेष्टाओं और क्रियाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रेम की विभिन्न परिस्थितियाँ

साहित्य-शास्त्र में पूर्वराग का उल्लेख है, गुण-श्रवण आदि के कारण उत्पन्न रागात्मक आवेग एक प्रकार का क्षोभ ही माना गया है। सन्त-साहित्य में पूर्वराग के एक-दूसरे पक्ष की ओर ध्यान दिया गया। आत्मा को अपने स्वरूप का विस्मरण हो जाता है, अनेक प्रकार के मायिक पाश उसे आबद्ध कर लेते हैं और अज्ञानावृत आत्मा चैतन्य के प्रकाश को नहीं देख पाती। गुरु की कृपा नाम-स्मरण और सत्संग महिमा से पूर्व का राग जागरित हो जाता है।[1]

---

१ प्रीति पुरानी लही किया हमने पहचानी।
मिली जोत में जोत सुहागिन पुरुष समानी॥ —र सा बा (१) पद ५९।

प्रेम की प्रथम अवस्था अथवा स्थिति मे प्रेमी के अन्तर मे एक अव्यक्त और अव्याख्येय भावना जागरित हो जाती है। सामान्य वासना और प्रेम की इस स्थिति मे न तो अन्तर ही अधिक गहरा रहता है और न अधिक स्पष्ट ही। वासना का सामान्य धर्म किसी वस्तु के प्रति आकर्षण है जिसमें स्थिरता का अभाव रहेगा। प्रेम की इस स्थिति मे वस्तुगत सम्बन्ध नही रहता अथवा इस प्रकार कहा जा सकता है कि वस्तु के साथ भावात्मक सम्बद्धता प्राप्त नही रहती। अभाव की भावना सजग रहती है किन्तु सन्तुष्टि का साधन अलक्ष्य रहता है। भावना का वृत्त तो रहता है किन्तु केन्द्र का सम्यक् ज्ञान नही। प्रिय के विशेषत्व के अभाव मे चेतना अन्वेषण तो करती है किन्तु लक्ष्य की निर्दिष्टता के अभाव मे इधर-उधर लक्ष्यहीन-सी चक्कर काटती ही रहेगी। यह कामायस्थागत योनिवृत्ति का सामान्य कामना-स्वरूप रूपान्तर है जिसके आधार पर उदात्त वृत्तियों का सगठन होता है।

प्रेम की दूसरी अवस्था मे सामान्य कामना विशिष्ट हो जाती है और विशेष के साथ प्राप्त कर लेता है, सम्बद्धता। अब यह केन्द्रच्युत धूमकेतु नही, बल्कि निश्चित कक्ष पर घूमनेवाला नक्षत्र है। आँखे लड जाती है, परिचय मिल जाता है, प्रिय का अलौकिक रूप तन मे, मन मे, नैन मे घर कर लेता है। काम-वासना सौन्दर्य की प्रतीति-अनुभूति मे समर्थ होती है। सौन्दर्य बाह्य नही, बल्कि अपने अन्तर का सौन्दर्य बाह्य उपादान के साथ सम्बद्धता प्राप्त कर लेता है, वस्तुत आन्तरिक सौन्दर्य-भावना का प्रक्षेपण किसी बाह्य वस्तु पर हो जाता है और अपूर्ण व्यक्तित्व को पूर्णता प्राप्त होती है। इस अवस्था मे मिलन और विरह का आनन्द जागरित हो जाता है। मिलन का आनन्द, इसलिए कि जिसकी चाह का आन्तरिक आभास मिलता था उससे परिचय प्राप्त कर लिया गया है और विरह का उन्मेष इसलिए कि लक्ष्य की अनिश्चितता के नष्ट हो जाने से उससे दूरत्व का भाव स्पष्ट हो जाता है। प्रिय का सौन्दर्य जितना आकृष्ट कर पाता है उतनी ही प्रबल आकाक्षा जगती है। इस अवस्था में द्वैत की भावना अधिक रहती है। विरह की भावना प्रेम को तीव्र और सजग करती है। सन्त-मतीय पूर्वराग के कारण ही यह विरह जगता है इसीलिए कहा गया है कि विरह के आगम के पश्चात् ही प्रेम का उन्मेष सम्भव है।[1] पूर्वराग की निश्चितता के लिए प्रिय से परिचय आवश्यक माना गया है।[2]

यह प्रेम प्रयत्न-साध्य नही।[3] इसके आविर्भाव-जागरण से क्षुद्र वृत्तियो का विलयन हो जाता है जिस प्रकार अंशुमाली की कनकाभ आभा मे टिमटिमाते तारो का प्रकाश ओझल।

---

१ पहिली आगम विरह का, पाछैं प्रीति प्रकाम।
प्रेम मगन लैलीन मन, तहाँ मिलन की आस ॥ —दा० बा० (१), पृ० ३९।९९।

२ तू मोहि देखै हौं तोहि देखूँ, प्रीति परसपर होई।
तू मोहि देखै तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई ॥
—रै० बा०, पद १२, पृ० १२।

परिचय बिना परतीति नहिं, बिना प्रेम नही ध्यान। —कबीर।

३ दा० बा० (१), पृ० २०५।३८।

प्रिय की ज्योति आँखों में समा जाती है, उसकी मस्ती छा जाती है, उसका नशा प्राणों को प्रमत्त कर देता है। परिचय द्वारा सन्त ने जाना था कि उसका प्रिय अत्यन्त सौन्दर्यशील है उसमें अनन्त आकर्षण है। उसकी ज्योति के आगे कोटि-कोटि भानु का प्रकाश भी क्षीण है, उसके दर्शन-मात्र से जीवन में आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित हो गई।[1]

इस परिचय के द्वारा ही प्रिय से हेल-मेल बढ़ा। उसका सौन्दर्य ही एकमात्र सत्य हो उठा। दुलहन को दूल्हा मिल गया।[2] अन्वेषण की आकुलता समाप्त हो गई किन्तु मिलन की विह्वलता बढ़ गई। *आत्मा का स्वरूप समझना तथा प्रिय का स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया।* प्रिय का सारा माधुर्य उसके नाम में उभर आता है। नामोच्चार मात्र से प्रिय की मूर्ति आँखों के समक्ष आ जाती है। प्रिय का नाम लेने के कारण वह केवल प्रिय ही नहीं है बल्कि नाम ही *प्रिय है, प्रिय ही नाम है। प्रीतम के ध्यान के लिए नाम* आवश्यक साधन है, कारण कभी संसार और कभी प्रिय क्रमशः आँखों के सामने आते और ओझल होते रहते हैं। प्रिय का बार-बार वह इसलिए नाम लेना चाहता है कि संसार से प्रेम न सम्बद्ध हो जाय। नाम लेने *में संकोच भी कम नहीं।*[3] सारे संसार में ढिंढोरा पिट जायगा लोग न जाने क्या-क्या सोचें समझेंगे। नाम-स्मरण में कुछ इतना माधुर्य है कि बरबस वाणी फूट पड़ती है। फिर तो संकोच रह जाता नहीं कोई प्रिय का नाम न छुड़ावे यह प्रिय-मिलन का एकान्त साधन है, बड़ा अनमोल 'रतन'। किन्तु जोर-जोर से चीखने-चिल्लाने की आवश्यकता नहीं। मन का स्मरण ही वास्तविक स्मरण है। जिसमें वास्तविक भावना का अभाव है, वही प्रेम का ढिंढोरा पीटना चाहता है। प्रेम अन्तर की भावना है बाहर की घोषणा नहीं। नाम-स्मरण बाह्य घोषणा है, अतः अन्तगत स्मरण ही आवश्यक है यही अजपा जाप है।[4] नाम-स्मरण करते

---

१ तेज पुंज की सुंदरी तेज पुंज का कंत।
तेज पुंज की सेज परि दादू बन्या बसंत॥ —दा द बा (१) पृ ६१।१९।
प्रिय को रूप अनूप अति कोटि भानु उजियार।
'दया' सकल दुख मिटि गयो प्रकट भयो सुखसार॥
—दयाबाई सं बा सं (१) पृ १७९।
सोभा अगम अपार हंस बंस सुख पावहीं।
—दरिया साहब सं बा सं (१) पृ १२१।

२ घर आयौ विरहिन मिली अरस परस सब अंग।
दादू सुंदरि सुख भया जुगि-जुगि यहु रस रंग॥
—दा बा (२) पद १६७ प ७।

३ जौ रोऊँ तौ बल घटै हँसौं तौ राम रिसाइ।
मन ही मांहि बिसूरणां ज्यूं घुंण काठहि खाइ॥ — क ग्रं पृ ९।२४।

४ (क) सुरति समांणी निरति मैं अजपा मांहै जाप। —क ग्रं पृ १७।१४९।
(ख) सुमिरन ऐसा कीजिए, दूजा लखै न कोय।
होंठ न फरकत देखिये प्रेम राखिए गोय॥ —मलूकदास।

करते ही प्रिय-स्वरूपत्व प्राप्त होता है, प्रिय से अबाध मिलन की अवस्था आती है।[1]

इस परिचय के पश्चात् अन्तर की समस्त वृत्तियाँ उसी एक से रग जाती हैं। मारवाड-निवासी को जैसे जल, मृग के लिए नाद, तृषित धरणी के लिए मेघ, भँवर के लिए कुसुम की सुगन्धि, कोकिल के लिए आम्र, हस के लिए मानसरोवर, तरुणी के लिए कत है उसी प्रकार की अवस्था भक्त-प्रेमी की होती है।[2]

इस अवस्था में आकर विरह अपनी पूर्ण तीव्रता और उन्माद के साथ प्रकट होता है। यह विरह प्रथम विरह से भिन्न है। प्रथम विरह में पूर्वराग की अनिश्चितता नष्ट हो जाती है और आती है पूर्ण एकनिष्ठता। अनेक मे से एक की आकाक्षा के कारण ही प्रेमी साधक की विरहानुभूति अधिक चैतन्य हो पाती है। लौकिक-प्रेम के सामान्य स्वीकृत क्रम से सन्त-प्रेम की धारणा में अन्तर उसके तत्त्ववाद के कारण आ गया है। परिचय-प्रतीति के जागरण से विरह का उन्मेष लौकिक क्रम को मान्य है। सन्त-कवि की धारणा के अनुसार पूर्ण परिचय का अर्थ है, उसके साथ घुल-मिल कर एकमेक हो जाना, जिसमे चिर-मिलन का सहज उन्मेष और अक्षय आनन्द है। वास्तविक प्रेम का वास्तविक जागरण और प्रिय परिचय में कोई अन्तर नही। द्वैत और विरह की भावना फिर टिक कैसे सकेगी ?

विरह की अवस्थाओ मे दो की सबल कल्पना मिलती है—ससार के भिन्नत्व और मिथ्यात्व से परिचय और प्रिय के साक्षात्कार के मध्य की अवस्था, जिसमें मिलन की उत्कण्ठा और आतुरता रहती है, सासारिकता में लिप्त जीव की भी विरहावस्था होती है, किन्तु अनुभूति के अभाव मे इसे विरह की सज्ञा प्राप्त नही हो सकती, आतुरता ही यहाँ विरह की अनुमापिका है एव परिचय की पूर्णता के प्रारम्भ और परिणति की मध्यावस्थाजन्य विरहानुभूति। दोनो स्थितियो में पर्याप्त अन्तर है। पहली अवस्था काम-शास्त्रीय आवेश की-सी है। नानाविध भिन्नत्व के अन्तर्भूत एकत्व से परिचय नही रहता, क्रमश परिचय-प्राप्ति की

(ग) मत्र अबोल नाम दुइ अच्छर, बिन रसना रट लागि रहै।
ओठ न डोलै, जीभ न बोलै, सूरत धरनि दिढाई गहै॥
दिन औ रात रहै सुधि लागी, यह माला यह सुमिरन है। —सकलित।

१ मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौ काहि॥ —क० ग्र०, पृ० ५।४३।

२ मारवाडि जैसे नीरु बालहा, बेलि बालहा करहला।
जिउ कुरक निसि नादु बालहा तिउ मेरे मनि रामईआ॥
जिउ धरणी कउ इन्द्र बालहा, कुसुम बास जैसे भँवरला।
जिउ कोकिल कउ अब बालहा, तिउ मेरै मनि रामईआ॥
चकवी कउ जैसे सुरु बालहा मानसरोवर हसुला।
जिउ तरुणी कउ कत बालहा तिउ मेरे मनि रामईआ॥
—आ० ग्र०, नामदेव, धनासिरी ३।

जैसे माया मन रमैं, यूँ जे राम रमाई। —क० ग्र०, पृ० ६।५९।

आस्था जिज्ञासा को जन्म देती है, जो रागात्मक से अधिक बौद्धिकतामूलक है। आस्थामूलक आस्था और जिज्ञासामूला आस्था में भिन्नता स्थापित कर सन्तों को ज्ञानमार्गी और निर्गुण पन्थी कहने की प्रथा चल पड़ी। भासमान् जगत् और उसके उपादानों की क्षणिकता ऐश्वर्य-विलास की क्षणभंगुरता अन्वेषण को जागृत और प्रेरित करती है। प्राथमिक विरह में अन्वेषण की प्रेरणा और तीव्रता होगी। काम-दशा से समता रहने पर भी निर्दिष्टता की स्पष्ट झलक नहीं रहती है और अनेक के साथ सन्त-प्रेमी की भावना सम्बद्ध नहीं हो पाती। सन्त की विरहाकुलता सामान्य एक के लिए नहीं होकर विशिष्ट एक के लिए होती है। विरहानुभूति की तीव्रता के अनुपात से ही अन्वेषण की गम्भीरता अभिव्यक्त होगी। इसकी चरमावस्था में अन्य सभी चेतनाएँ और चेष्टाएँ विलुप्त हो जाती हैं।[1] कमल-रस से अपरिचित रहने तक ही भ्रमर इधर उधर भटकता है विशिष्ट 'एक' से भेंट होते ही वह वहीं रम गया।[2] विरहागम और विरहानुभूति में यह अन्तर है। विरहानुभूति में तृष्णा का लोप हो गया है कारण इसके द्वारा जीवन में अपूर्व शान्ति और मनोराज्य की महत्ता प्रतिष्ठित होती है। तृष्णा का क्षय नहीं बल्कि लोभपूर्ण भावात्मक आवेश सन्त के लिए काम्य है। प्रथम ताप तो है किन्तु पूर्ण मोदमयता की ओर उन्मुख करनेवाला।[3]

प्रेम की आँच कभी मन्द नहीं पड़ती यह ज्वाला जीवन्त चेता है जो प्रेमी में प्रियचैतन्य जागरित रखती है। सन्त-काव्य की विरहावस्था वस्तुतः द्वैतावस्था है जिसमें आत्यन्तिक दूरत्व नहीं किन्तु इतना सामीप्य भी नहीं कि प्रिय-प्रेमी का अन्तर नष्ट हो गया हो। इस विरहानुभूति में प्रिय की निष्ठुरता के साथ ही अपनी क्षमता की सीमा का ज्ञान और भावना की तीव्रता के प्रति आशंका सजग रहती है।[4] प्रिय की निष्ठुरता-उदासीनता को समझने की अपेक्षा है। प्रेम प्रिय का दान कहा गया है ऐसी अवस्था में अपने प्रेम का ज्ञान नहीं

---

१ क ग्रं गुरदेव की अंग पृ २।१ तथा—
अपने पिय की सुंदरी खोय कहूँ बौरान।
खोज कहूँ बौरान कहि को पकरौं जानी।
घर घर खोर मसान फिरी मैं नाम दिवानी। —प बा (१) पद ६७ पृ ३१।

२ भँवर कँवल रस बेधिया अनत न भरमै जाइ।
तहाँ बास बिलंबिया मगन भया रस खाइ॥ —दा बा (१) पृ ४०।१६।

३ तपति बिना तन प्रीति न उपजै संगहि सीतल छाया।
जनम लगे जिव जापै नाहीं उपजत त्रिभुवन राया॥ —वही पृ १ ३।४।

४ तलफि तलफि बिरहिन मरै करि करि बहुत बिलाप।
बिरह अगिन में जल गई पीव न पूछै बात॥ —दा बा (१) पृ ३८।
आइ न सकौं तुझ पै सकूँ न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे बिरह तपाइ तपाइ॥ —क ग्रं पृ ८।७७।
मन प्रतीति न प्रेम रस ना इस तन में ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं कैसे रहसी रंग॥ —क ग्रं पृ २।१९८।

देना, अपनी दयालुता प्रदर्शित नही करना ही निष्ठुरता-उदासीनता है। प्रिय अन्तर्निहित और आत्मस्थ है, वह दूर नही, अत्यन्त निकट है। उसकी दयालुता सर्वत्र परिव्याप्त है अत' उस दान को ग्रहण करने की अक्षमता में ही विरह का ताप है और यही प्रिय की उपेक्षा है।[1]

विरह की यह कातरता पहली वियोगावस्था का विकसित रूप है, दोनो में रूपात्मक अतर ही है तात्त्विक नही। प्रेम की पीडा कभी पुरानी नही पडती[2] और इसकी एकमात्र औषधि प्रिय है।[3] यह अन्तर की पीडा किसी के सुनाने की वस्तु नही, जिससे विरह-निवेदन करना है, वह तो अतर में बसता है और अतर की सभी अवस्थाओ से परिचित भी।[4] और जिसे यह पीडा लगी, वही इसके दर्द की वास्तविकता को जानता है अथवा वह जिसने यह पीडा दी है।[5]

विरह-वियोग की तीव्रता के पश्चात् मिलन का उल्लास है। इस उल्लास की तीव्रता विरहानुभूति की विह्वलता से गति और क्षमता पाती है। विरह की तीव्रता ही उल्लास की अनुभूति को गति देती है। आत्यन्तिक विरह, जिसमें मिलन का सकेत नही रहता उससे विभिन्न यह अवस्था है। प्रिय निकट आ जाता है, समीप हो जाता है, भौतिक सामीप्य आध्यात्मिक मिलन का सोपान बन जाता है। लौकिक प्रिय तक व्यक्ति न रह कर भावनाओ का प्रतीक और भावात्मक हो जाता है। द्वैत की भावना का पूर्णतया निराकरण नही होता, किन्तु द्वैत-जन्य दुचिताई, दुविधा, और शकाओ का नाश हो चुका रहता है। प्रिय सदा अपना बना रहे, ऐसी लालसा बनी रहती है, प्रिय के छिन जाने की आशका लगी रहती है।[6] प्रिय ने बडी कृपा की, भाग्य अच्छे हैं, जो प्रिय के दर्शन हुए।[7] जीवन की आशाएँ पूरी हुई, अभिलाषा, कामना और लालसा केन्द्रस्थ हो गई, अब और कोई आकाक्षा शेष न रही। प्रिय की अक्षय छाया में ही आनन्द की अजस्र धारा का प्रवाह है। इस आनन्द में दुख की रेखा नहीं, आशका नही, भय नहीं, बल्कि है अनन्त ज्योति का दिव्य प्रकाश।

---

१ कबीर हरि सबकूँ भजै, हरि कूँ भजै न कोई।—वही, पृ० ७१।६९२।

२. पीड पुरापी ना पडै जै अतर वेध्या होई।
दादू जीवन मरन लौं, पण्या पुकारै सोई॥—दा० बा० (१), पृ० ३८।८१।

३ ना वहु मिलै न मैं सुखी, कहु क्यूँ जीवन होइ।
जिन मुझकौं घायल किया, मेरा दारू सोइ॥—दा० वा० (१), पृ० ३१।१५!

४ जो तेरे घट प्रेम तो कहि कहि न सुनाव।
अतरजामी जानि है, अतरगत का भाव।—मूलक स० वा० स० (१), पृ० १०२।

५ चोट सताणी विरह की, सब तन जरजर होइ।
मारण हारा जाँणि है, कै जिहि लागी सोइ॥—क० ग्र०, पृ० ८।८१।

६ लागी होइ सु जानै पीर।—स० क०, रागु गउडी २१।
नैंना अतरि आव तूँ, त्यूँ हौं नैंन झँपेउँ।
ना हौं देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ॥—वही, पृ० १९।

७ कहु कबीर जाकै मसतकि भागु। सभ परिहरि ता कउ मिलै सोहागु॥
—स० क०, गउड़ी २१।

प्रेम के सोपान

परिचय प्रेम का प्रथम सोपान है। सन्त-साहित्य में इस प्रारम्भिक अवस्था को ही वाण मारना, चिनगी लगाना अथवा विरह जगाना कहा गया है।[1] दूसरे के प्रति आकृष्ट व्यक्ति अपने वास्तविक प्रिय से परिचित नही रहता अत जिज्ञासामय लालमा को अपेक्षा है, प्रारम्भिक अवस्था में इसी का नाम विरह है, जो प्रेम को आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य भूमिका है।[2] इसे उस उन्मुक्तावस्था से भिन्न समझना चाहिए जिसमे अन्तरात्मा ग्रहणशीला मात्र रहती है। इसे ही सन्त-कवि वालापन से भिन्न कौमार्यावस्था समझता है। वालापन का सम्बन्ध उस भोलेपन से है जो अज्ञानावस्था है। खिलौनो का प्रेम वालपन की सूचना देता है सासारिकता का मोह खिलौनो के प्रेम से अधिक महत्त्वपूर्ण नही। यह उन्मुक्तावस्था प्रेम की प्रतीति के लिए आवश्यक है। परिचय नित्य नवीन है, प्रथम दर्शन की सहजानुभूति से दूसरे दर्शन के प्रत्यक्षीकरण में केवल मात्रा का अन्तर नही। प्रत्यक्षीकरण को सम्भावनाओ मे भी परिचय का स्वरूप-विधान है। प्रिय के स्वरूपात्मक परिचय मे उन सभी सौन्दर्यात्मिक भावनाओ का सघटन है जो उसके सामने प्रत्यक्ष होती रही है। इसके द्वारा ही तादात्म्य होता है। चिर सान्निध्य की इच्छा रखनेवाला प्रिय के दर्शन की जो लालसा रखता है उसमें भी तादात्म्य और तद्रूपता-वोध की अपेक्षा है, जिसके कारण प्रिय के सहज सौन्दर्यमय रूप मे अपने आपको घुला-मिला रखने की भावना जगती है। पार्थक्य तो पूर्णतया अथवा आशिक विजातीय वस्तुओ मे रहता है, पूर्णतया एकदेशीय सजातीय वस्तुएँ भिन्न कहाँ रह सकेंगी ?[3]

भावोन्माद अनुभूति की पूर्णता है और तन्मयता भावोन्माद की स्थिरता। तन्मयता विरोधी उपकरणो और बन्धनो से मुक्ति की साधना और परिणति है। तन्मयता मे प्रेमी और प्रिय का व्यवधान मिट जाता है, यहाँ प्रियाराधन के लिए किसी कार्य की अपेक्षा नही रहती

जीव पीव महँ हम पीव जीव महँ वानी वोलत सोई।
सोई सभन महँ हम सवहन महँ वूझत बिरला कोई॥ —गुलाल साहिब।
साहब मिल साहब भये, कछु रही न तमाई। —मलूकदास।

१ जबहू मारया खैंचि करि तब मै पाई जाणि।
लागी चोट मिरम की गई कलेजा छाणि॥ —क० ग्र०, पृ० ८।१६।

२ प्रीति न उपजै विरह विन, प्रेम-भगति ज्यो होइ।
सब झूठे दादू भाव बिन, कोटि करै जे कोइ॥
—दा० वा० (१), पृ० ४०।११०।

३ जब मै था तव हरि नही, अव हरि है मैं नाहिं।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माहिं॥ —क० ग्र०, पृ० १५।३५।
आपा गयो तव भगति पाई ऐसी भगति भाई।
राम मिल्यो आपो गुन खोयो रिधि सिधि सबै गँवाई॥ —रै० वा०, पृ० २२, पद २४।
जहाँ राम तहँ मैं नही, मैं तहँ नाही राम।
दादू महल वारीक है, द्वै को नाही ठाम॥ —दा० वा० (१), पृ० ५०।४४।

बल्कि प्रत्येक कार्य ही प्रियाराधन का साधन बन जाता है। इसमें बलपूर्वक इच्छाशक्ति का नियोजन नहीं बल्कि जीवन की सहज अभिव्यक्ति है। प्रिय की ज्योति अन्तर को प्रकाशित कर देती है, सम्पूर्ण कालिमा और कलुष को दूर कर देती और वासना-लालसा को निर्मल कर देती है। सत्यपूत सहज प्रकाश ही जीवन का चरम सत्य और परम लक्ष्य है। ज्योति-पुञ्ज से आलोकित व्यक्तित्व प्रकाश-रूप हो उठता है।[1] व्यापकता की इस सीमा में सीमा अपनी परिधि का व्यवधान तोड़ असीम हो जाती है। रूप ही अरूप है और अरूप ही रूप' सीमा की आसक्ति से मुक्त और निर्द्वन्द्व।[2]

तन्मयता-भावात्मक आवेश अज्ञान-मूला सांसारिकता से मुक्त कर उस चैतन्य का आवरण करती है, जो वास्तविकता को प्रत्यक्ष करा सके। इसमें कामना और वासना का त्याग नहीं होता बल्कि वह संस्कार जो प्रेम-स्वरूप है। इसमें भ्रम के लिए स्थान नहीं रह जाता और इसकी प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई दूसरी कामना नहीं रह जाती।[3] बाह्य जगत् के साधारण धर्म से विच्छिन्नता और तटस्थता आ जाती है। इन्द्रियजन्य अनुभूति का द्वार अवरुद्ध हो जाता है। विचारात्मक भाव क्रमशः विशुद्ध भाव के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और उनकी पूर्ण परिणति भावात्मक चैतन्य अचेतनता में होती है। यह भावात्मक चेतना शून्यता नहीं बल्कि भावात्मक पूर्णता और अन्विति है। सन्त इसी चरमावस्था की प्राप्ति करना चाहता है और इसी को स-समावस्था कहता है जिसमें सांसारिक दृष्टि से शून्यता और वास्तविक दृष्टि से पूर्णता और विस्तार है।

तन्मयता में निम्नलिखित तत्त्वों का योग है[4]—

(१) प्रेम-बन्धन के द्वारा अत्यन्त सामीप्य का बोध लौकिक वासना की परितृप्ति द्वारा आध्यात्मिक अभ्युदय।

(२) द्वन्द्व और विकल्प से रहित चैतन्य का सहज-प्रकाश।

---

१ क ग्रं पृ १३।१३५।

२. बेहद अगाधी पीव है, ये सब हद के जीव।
जे नर राते हद सो ते कधी न पावे पीव॥
हद में पीव न पाइये बेहद में भरपूर।
हद बेहद की गम लखै तासो पीव हजूर॥ —स क सा पृ २६२।

३ जब लगि भक्ति सकामता तब लगि निष्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलै निहकामी निज देव॥ —क ग्रं पृ १९।१९२।

४ हरि रस पीया जानिये जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार॥ —क ग्रं पृ १९।१९४।
रैन दिवस बेहोश पिया के रंग में राती।
तन की सुधि है नहीं पिया संग बोलत जाती॥ —पलटू साहब।
प तन बेरे मीन सों सो मन गया गलीत। —रा बा (१) न ७।२९।

(३) भावात्मक दर्शन प्रिय के स्वरूप में अपने रूप का विलयन ।
(४) चैतन्यपूर्ण अचेतनता, जिसमें किसी और चेतना की अपेक्षा नही रह जाती ।

इस भावात्मक मिलन के पश्चात् और कुछ निश्शेष नहीं रह जाता ।[1]

सन्त के लिए यह प्रेम ही प्रधान वस्तु है और इसके अभाव मे ससार की सभी वस्तुएँ व्यर्थ । मानव के सभी कर्मों और कृत्यो का लक्ष्य होना चाहिए इस प्रेम-स्वरूपता की प्राप्ति । किन्तु अपने चतुर्दिक् समाज में उसने इस प्रेम के स्थान में बाह्याचार की प्रधानता देखी थी । यदि प्रेम-भाव-भक्ति है तो सारे बाह्याचार और पाखण्ड व्यर्थ है और सारे पाखण्ड भाव-भक्ति के जगाने में असमर्थ है, अत व्यर्थ ही हैं ।

नव सत साजे कामनी, तन मन रही सँजोइ ।
पीव कै मन भावै नही, पटम कीयें क्या होइ ।।
—क० ग्र०, पृ० ४७।४५६ ।

जहाँ प्रेम तह नेम नहि तहाँ न बुधि ब्यौहार ।
प्रेम मगन जब मन भया कौन गिने तिथि वार ।। —दादू ।

प्रेम का महत्त्व

प्रेम की महत्ता परार्थ-बाधकता की हीनता मे है । प्रेम की चाह किसी अन्य साध्य के साधन-रूप में नही । प्रेम स्वय अपना साध्य है । प्रेम ही सर्वस्व है, सर्व साधना, धर्म, कर्म और आकाक्षा है । इसके अतिरिक्त और कुछ काम्य नही । यह प्रेम यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, पूजा, नमाज, रोजा से ही श्रेष्ठ नही, योग से ही श्रेष्ठतर नही, ध्यान-धारणा से केवल उच्च ही नही, बल्कि है ज्ञान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण । प्रेम के कारण सारे भ्रम, भय और भ्रान्तियाँ भाग जाती है ।[२] प्रेम पूर्ण दृष्टि ही दृष्टि है, इस दृष्टि से पूर्णता ही पूर्णता दीखती है ।[3] अनन्य प्रेम की ऐकान्तिकता ही वरेण्य है, श्रेय है एव प्रेय भी । पाण्डित्य के द्वारा यह

---

१ (क) मानसरोवर सुभर जल, हसा केलि कराहिं ।
मुकताहल मुकता चुगैं, अव उडि अनत न जाहिं ।। —क० ग्र०, पृ० १५-१६१ ।
(ख) जव मन लागै राम सौं, तव अनत काहे को जाइ ।
दादू पाणी लूण ज्यूँ, ऐसें रहे समाइ ।। –दा० वा० (१), पृ० १०५।२६ ।
(ग) आगि माँहि जो परै सोऊ अगनी ह्वै जावै ।
भृगी कीट को भेंटि आपु सम लेइ वनावै ।
सरिता वहि कै गई सिंधु में रही समाई ।।
—पलटू साहव स० वा० स० (२), पृ० २२८ ।

२ जव राम नाम ल्यौ लागा, तव भ्रम गया भौ भागा । —क० ग्र०, पद १७३, पृ० १४६ ।

३ एक एक जिनि जाणिया, तिनही सच पाया ।
प्रेम प्रीत ल्यौ लीन मन, ते वहुरि न आया ।।
पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै ।
कहै कवीर कछू समझ न परई, या कछू वात अलेखै ।। —क० ग्र०, पद १८१, पृ० १४९ ।

सम्भव नहीं योग में इसकी अनिवार्यता नहीं प्रेम भगति बिन साधिबो सब ही थोथा ध्यान।[1] चरनदास के अनुसार प्रेम बराबर योग नहीं ज्ञान भी नहीं। प्रेम भक्ति का साधन नहीं बल्कि वह चैतन्य धारा है जिसमें अ-चैतन्य के लिए स्थान नहीं। चैतन्य-एकरूपता के कारण फिर तो ब्रह्म ही प्रेम स्वरूप हो गया और प्रेम ब्रह्म-रूप।[2] प्राणनाथ का साधन स्वरूप प्रेम साध्य बन गया।[3] ब्रह्म और प्रेम का भांडार होने में अन्तर है, अन्य तत्त्वों के साथ प्रेम का भाण्डार भी ब्रह्म में है[4] जिससे संसार के सारे प्रेम की सृष्टि हुई है और इस जगत् की भी। ऐसी अवस्था में प्राणनाथ और शिवदयाल के दृष्टिकोण की दादू के दृष्टिकोण से समता नहीं।

प्रेम की कथा अकथ है अकथ्य है कही नहीं जा सकती और इसलिए अकथ्य है भी कि कहने पर साधारणतया विश्वास नहीं किया जाता। अविश्वासियों के इस देश में इसे अन्तर्गत रखना ही उचित है।[5] संसार इस प्रेम-भाव की बाधा है, यहाँ के विधान प्रेम के व्यवधान हैं। संसारी लोक इस प्रेम की निन्दा करते हैं करते रहें, एक बार यह प्रेम जब जुड़ गया फिर किसी प्रकार छूटेगा नहीं। सन्त पतिव्रता की चर्चा करता है इसलिए कि उस एक के सिवा और किसी से उसका प्रेम-सम्बन्ध नहीं जुट सकता और किसी से सम्बन्ध वह जोड़ भी नहीं सकता। किसी दूसरे से सम्बन्ध जोड़ने का अर्थ है जारत्व के साथ सम्बन्ध-स्थापन। सन्त के लिए यह किसी अवस्था में काम्य नहीं। यह एकनिष्ठता सन्त-काव्य में उभर कर प्रकट हुई है।[6] तन मन धन, सब कौन कहे, मन तक जो अर्पण कर दे वही सौभाग्यशालिनी है। प्रिय की प्यारी सुहागिनी है।[7]

---

१ सं बा सं (१) पृ १४४।

२ इश्क अल्लह की जाति है, इश्क अल्लह का रंग।
इश्क अल्लह मौजूद है इश्क अल्लह का अंग॥ —स बा सं (१) पृ॰ ८१।१२।

३ इश्क बसै पिया के अंग। इश्क रहै पिया के संग॥
प्रेम बसत पिया के चित्त। इश्क अखंड हमेशा नित्त॥
इश्क दिखावे पार के पार। इश्क अखंड पर वातार॥ —प्राणनाथ।

४ वह भंडार प्रेम का भारी जाका आदि न अंत। —शिवदयाल।

५ आपा मेट्या हरि मिलै हरि मेट्या सब जाइ।
अकथ कहाणी प्रेम की कह्या न को पत्याइ॥ —क ग्रं पृ ६५।१।
भीतर कोठन करि रहुत है साकत घट माहि।
सम रस लेकर पीव सिउ किसी सुनावउ नाहि॥ —सं क सलोक २१४ प २८९।

६ जो तुम तोरौ राम मैं नहि तोरौं। तुम सो तोरि कवन सों जोरौं॥
मैं अपनो मन हरि सौं जोर्यो। हरि सो जोरि सबन से तोर्यो॥
—रै बा पद ५ पृ ४२।

७ तनु मनु धनु सिह सउपि सरीर। सोई सुहागिन कहै कबीर॥
—सं क रागु गउड़ी २१।
सती जलन कूं नीकली चित धरि एक अमेव।
तन मन सौंप्या पीव कूं अब अंतरि रही न रेव॥ —क ग्रं पृ ७२।६८९।

प्रेम-मार्ग की बाधाएँ

प्रेम का लक्ष्य है प्रिय और प्रेमी का तादात्म्य और एकात्मकता जहाँ प्रेमी प्रिय हो जाय और प्रिय प्रेमी।[१] प्रिय और प्रेमी मे तात्त्विक अन्तर नही, इस प्रातिभासिक अन्तर को अधिकाधिक बढानेवाले अथवा उसी रूप में बनाए रखनेवाले अथवा कम नही होने देनेवाले कारण ही प्रेम-मार्ग की बाधाएँ हैं। प्रिय के परिचय का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार और प्रतीति, इस रूप में आत्म-प्रसार और दर्शक के अवरोधक कारण भी बाधाएँ ही है। प्रेम कठोरधर्मी है और अपना एकाधिपत्य अक्षुण्ण बनाए रखना चाहता है। अन्य भावनाएँ उसके अग बन कर ही अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकती है। अन्तर्भूत वृत्तियो से इसका विरोध नही, समान क्षमताशील अथवा आत्मसात् कर सकनेवाली भावनाओ के साथ ही इसका विरोध है।

प्रेम-मार्ग की सबसे बडी बाधा लोभ और कामना है। सन्त की धारणा के अनुसार लोभ में कार्य की सत्यात्मक और वास्तविक प्रेरणा नही। यह केवल स्वाद लोलुपता है। भ्रमर जब तक कमलराग की एकनिष्ठता प्राप्त नही कर पाता तब तक उसमे वास्तविक प्रेम का जागरण नही। माया की मोहकता, छलना और प्रवचना के कारण लोभ की वृत्ति अधिकाधिक सजग रहती है। जब तक कामना और वासना रहेगी, चाह बनी रहेगी प्रेम प्रकट नही होगा।[२]

अन्तर को बढानेवाले कारणो मे आपा और निजत्व के मोह का प्रमुख स्थान है। इन्द्रियो और मन के वशीभूत जीवात्मा मे अह-बोध की प्रचण्डता रहती है। 'आपा' वह धारणा-भावना है जिसमें ससार की सभी वस्तुएँ केन्द्रित और सम्बद्ध रहती है। अपने को विच्छिन्न और स्वतन्त्र मानने का मिथ्याभिमान कठिनतम व्यवधान है।[३] यह अहकार द्वैत-भाव का जनक, अत प्रेम-मार्ग की बाधा है। अहकार ही उच्च-नीच, धनी-निर्धन, महान्-क्षुद्र और पण्डित-मूर्ख की धारणा पालता है। 'मैं' और 'मेरी' का ध्यान प्रिय के साथ सम्बन्ध नही होने देता।[४] भेद के आधार पर प्रेम की स्थापना नही हो सकती। मानापमान की धारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बाधा और कठिनाई है। अहभाव और प्रेम, मानापमान की धारणा

---

१ आसिक माशूक ह्वै गया इसक कहावै सोइ।
दादू उस माशूक का अल्लहि आसिक होइ॥ —दा० बा० (१), पृ० ४४।१४७।

२ प्रीति बिना कैसे बँधै सनेहु। जब लगु रसु तब लगु नहीं नेहु॥
—स० क०, रागु गउडी २३।

३ गरवै भाव न ऊपजै, गरवै भगति न होइ।
गरवै पिय क्यो पाइये, गरब करे जिनि कोइ॥ —दा० बा० (२), पद ४६।

४ जब लग ऊँच-नीच करि जाना, ते पसुवा भूले भ्रम नाना।
कहि कबीर मैं मेरी खोई, तबहि राम अवर नही कोई॥
—क० ग्र०, पद ६६, पृ० १०९।

धन के गरबि राम नही जाना, नागा ह्वै जम पै गुदराना।
—वही, पद ९९, पृ० १२०।

और स्नेह साथ-साथ नहीं टिक सकते।[1] द्वैत भावना को सन्त ने अमान्य ही नहीं किया है बल्कि उपस्थिति में सारे व्यापार व्यर्थ माने हैं। और एकात्म-बोध के पश्चात् इसकी व्यर्थता तो स्वयं सिद्ध ही है।

प्रेम-मार्ग की अन्य बाधाओं में भय का कम महत्त्व नहीं। भावों का आवरण मात्र पर्याप्त नहीं बल्कि उनको अभिव्यक्त कर सकने की क्षमता और साहस भी चाहिए। जिसने भय के कारण मुख मोड़ लिया उसे मिलन का उत्कर्षमय आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। मार्ग की कठिनाइयों[2] के कारण और अधिक साहस दिखलाने की अपेक्षा है। भय कई प्रकार के हैं जीवन की अपेक्षाकृत सुविधा के लिए सामाजिक स्वीकृति अपेक्षित है, नहीं तो संसार का उपहास सहन करना पड़ेगा। भय केवल बाह्य कारणों से उत्पन्न नहीं होता उसके आन्तरिक कारण भी हैं। प्रेम-मार्ग की जटिलता और कठिनाइयों के ज्ञान के साथ अपनी क्षमता में आशंका कम महत्त्वपूर्ण बाधा नहीं। आशंकित मनुष्य दुर्बल और साहस-हीन होता है। लोक-वेद की मर्यादा भय के कारणों में प्रमुख थी लोक-वर्जनाएँ मर्यादा का रूप धारण कर लेती हैं। कष्ट नहीं सहन कर सकने की धारणा और कष्टों के भय से प्रेम की प्रतीति में बाधा पड़ती है। जो सीस देने से डरता है वह प्रेमी होने के उपयुक्त पात्र नहीं। द्वैत भाव (दुविधा दुरमति) आशंका उत्पन्न करता है। वैदिक मर्यादानुकूल ज्ञानाधिकार से वंचित और पण्डित-वर्ग से उपहासित निम्नवर्गीय सन्त-समाज के प्रेम में भय के कारणों में लोक-शास्त्र की मर्यादा और उपहास का भय मुख्य स्थान रखता है। मन-भय' के लिए इस प्रेम की मर्यादावादी भक्ति से अधिक क्षमताशील मानने का मोह अनिवार्यतः रहेगा।[3] अतः इस 'मन-भय' में निश्शंकता के संकेत मिलते हैं जिसमें द्विधा और संकोच विनष्ट हो जाते हैं, कुंठा स्वतः कुंठित हो जाती है। परम-प्रिय की परिचयपूर्ण प्रतीति केवल प्रेम नहीं वह प्रेम ही ज्ञान नहीं बल्कि वह प्रेममय ज्ञान है एवं ज्ञानपूर्ण प्रेम[4] जिसमें उसका सत्य-स्वरूप आलोकित होता है और उसकी आनन्दमयी प्रेम-धारा ही जगत् का स्वरूप धारण करती है। वह प्रेम

---

१ पीया चाहै प्रेम रस राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान॥ —कबीर।
मान बड़ाई खोय नींव भर माहीं सोता। —म बा (१) पृ १।६४।

२ कबीर निज घर प्रेम का मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरै तब निकटि प्रेम का स्वाद॥ —क ग्रं पृ ६९।६७२।

३ जहँ अनुभव तह मैं नहीं जहँ भय तह हरि नाहिं।
कहियो कबीर विचारि कै संत सुनहु मन माहिं॥ —सं क सलोकु १८।
खोलो घूँघट खोलि लाज प्रफुल में नाहीं।
बे खोज करिहैं लाज काज न सपनेहुँ माहीं॥ —म बा (१) पृ २।७२।

४ जाके चित अनुराग है, ज्ञान मिले नर सोय।
बिनु अनुराग न पावई कोटि करै जो कोय॥ —दा ग्रं पृ १९२।८९।

समस्त सीमाओ, बन्धन और भय से मुक्त और मुक्ति का कारण है। समस्त वर्जनाओ से मुक्त होकर ही उन्मुक्त-भाव से प्रेम किया जा सकता है।[१]

प्रेम-मार्ग की अन्य कठिनाइयो से दुराव-छिपाव, अदृढता और प्रेमी का कच्चापन अर्थात् साधक की आन्तरिक दुर्बलता है। जिसके अन्तर में अदृढता है वह प्रिय-मिलन की आकाक्षा ही कैसे पाल सकता है?[२] कच्ची सरसो पेलने से न तो तेल होगा और न होगी खल्ली[३]। आन्तरिक दृढता, प्रेम की सत्यता अत अपेक्षित होगी। यह दृढ़ता, आन्तरिक प्रेम की प्रेरणा, शिक्षा और उपदेश से जागरित नही होती,[४] प्रेम तो आन्तरिक भावनाओ का जागरण है जो निजत्व की क्षुद्र सीमा के त्याग से ही सामर्थ्य पाती हैं। पुस्तकीय ज्ञान की परिधि से वर्जित सन्त पुस्तकीय विद्या और उपदेशात्मक ज्ञान को प्रेम का सोपान कैसे मानता? अदृढता आन्तरिक निर्बलता और शका-सन्देह के कारण आती है। व्यक्ति की समानता में विश्वास करनेवाला व्यक्ति को अक्षम नही मान सकता किन्तु इतना स्वीकार करता है कि शका, द्विधा और नाना-विध-प्रलोभन के कारण प्रेमी का प्रेम दृढ नही हो पाता। भावनाओ की असमग्रता और अपूर्णता कठिनाइयो में आती है। समग्रता और पूर्णता में किसी प्रकार प्रकार का भय नही रह जाता। आत्म-भाव के विलयन द्वारा निर्बाध, अविरल आनन्द-धारा की प्राप्ति सहज हो जाती है।

प्रेम-मार्ग की बाधाओ में आडम्बर के आधिक्य और 'ल्यौ', 'लिव' और 'लव' के अभाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दीपक की लौ जिस प्रकार अन्धकार का विनाश करती है, प्रकाश देकर अन्धकार को प्रकाश बना देती है उसी प्रकार अन्तर की लौ आत्मा को प्रकाश बना देती है। अखण्ड ज्योति में जीवन की ज्योति के विलयन और सम्प्राप्ति के लिए अन्त-र्ज्योति का जागरण अपेक्षित है। अन्तर की लौ गुरु की महिमा, सत्सग की कृपा और प्रिय की दयालुता के कारण जगती है।[५] सन्त ने गुरु और प्रिय, सन्त और अनन्त में अन्तर नहीं देखा था।

---

१ कबीर लागी प्रीति सुजान सिउ बरजै लोग अजानु।
ता सिउ टूटी किउ बनै जाके जीअ परान॥ —स० क०, सलोकु २१७।

२ कबीर जाकी दिल सावति नही ताकउ कहा खुदाइ। —स० क०, सलोकु १८५।

३ कबीर जिउ तुहि साध पिरन को पाकि सेती खेलु।
काचो सरसिउ पेलि कै ना खलि भई न तेलु॥ —वही, सलोकु २४०।

४ दादू सीख्यूँ प्रेम न पाइये सीख्यूँ प्रीति न होइ।
सीखयूँ दर्द न ऊपजे, जब लग आप न खोइ॥ —दा० बा० (१), पृ० २०५।३८।

५ हरि जीउ क्रिपा करै लिव लावै हरि हरि नाम लीओ। —स० क०, रागु आसा १५।
कह रैदास तेरी भगति दूरि है भाग बडे सो पावै। —रै० बा०, पृ० १५।१६।
पिव की प्रीति तौ पाइये रे, जो सिर होवै भाग।
यो तो अनत न जाइसी, रहसी चरणों लाग रे॥ —दा० बा० (१), पृ० ४१९।

प्रेम सस्ती भावुकता नहीं बाजारों में बिकनेवाला सौदा नहीं। यह तो लौ की आँच में तपन की अनुभूति है। अग्नि की आँच सहना सहज है और तलवार की धार का सहन करना भी किन्तु नेह का एकरस निर्वाह बड़ा कठिन है।[1] इसमें अपने को ऐसा मिटाना पड़ता है जो आत्म भाव पूर्णतया नष्ट हो जाय। ऐसा होने से प्रिय के साथ एकात्मता हो ही जायगी यह कोई निश्चय नहीं।[2] किन्तु प्रिय के ध्यान को छोड़ और कोई ध्यान होना प्रेम-मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। इसमें 'एक प्राण होना पड़ेगा।[3] जिसने इन बाधाओं पर विजय पाई उसका अन्तर प्रिय के प्रेम-प्रकाश से आलोकित हो उठा। सारी शंकाएँ, द्विधाएँ तथा बाधाएँ मिट गईं। प्रिय के साथ एकात्मता प्राप्त हो गई आनन्द की धारा उमड़ पड़ी सर्वत्र चैतन्यमय आलोक छा गया मिलन की आकांक्षा और आतुरता अनुभव की गम्भीरता में परिणत हो गई। यह आनन्द ही प्रेम है एवं प्रेम ही आनन्द।

पिंजर प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत॥[4]
पासा पकड्या प्रेम का सारी किया सरीर।
सतगुर दाव बताइया खेलै दास कबीर॥
कबीर बादल प्रेम का हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आतमाँ हरी भई बनराइ॥[5]

अव्यक्त प्रेम

अज्ञात और अव्यक्त के प्रति प्रेम की चर्चा-विवेचना होती रही है और ऐसे प्रेम के प्रति आक्षेप ही प्रकट किया गया है। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी की धारणाएँ निम्नलिखित हैं —

(१) अज्ञात के प्रति जिज्ञासा का भाव जग सकता है, लालसा अथवा प्रेम का नहीं।
(२) ऐसा प्रेम असत्य या साम्प्रदायिक रूढ़ि है।
(३) काव्य की अभिव्यक्ति से इसका सम्बन्ध नहीं।

---

१ आगि आँचि सहना सुगम सुगम खड्ग की धार।
नेह निबाहन एक रस महा कठिन ब्यौहार॥ —सा ग्रं पृ १५१।७२।
२ कबीर महिदी करि घालिया आपु पीसाइ पीसाइ।
तै सह बात न पूछिऐ कबहु न लाई पाइ॥ —सं क सलोकु ९९।
३ यहु तत वहु तत एक है, एक प्रान दुइ गात।
अपने जिय से जानिये मेरे जिय की बात॥ —सा ग्रं पृ ४४८।४१।
तूँ तूँ करता तूँ भया मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई जित देखौं तित तूँ॥ —क ग्रं पृ ५।४४।
प्रीति जो मेरे पीव की पैठी पिंजर माँहि।
रोम रोम पिव पिव करै 'दादू' दूसर नाँहि॥ —दादू।
४ क ग्रं पृ १३।२१५। ५ वही पृ ७।१२ और १४।

(४) प्रच्छन्न रूप मे भौतिक जगत् की भावना का आरोप ही यहाँ है।[1]

इस प्रेम को अव्यक्त नही समझना चाहिए, कारण अव्यक्त प्रेम नही होता, प्रेम तभी है जब व्यक्त है, अभिव्यक्ति की मात्रा और स्वरूप में चाहे जो अन्तर हो। तत्त्ववादी दृष्टि से व्यक्त जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है, यद्यपि पूर्णतया वह अभिव्यक्त नही हो सकता। व्यक्त-व्यक्त, व्यक्त-अव्यक्त, अव्यक्त-व्यक्त और अव्यक्त-अव्यक्त की चार कोटियाँ है। जिसे व्यक्त कहा जाता है वह भी पूर्णतया व्यक्त नही। जिज्ञासा वह प्राथमिक अवस्था है जिसके द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञान का यहाँ प्रयोग व्यापक अर्थ मे हुआ है, बौद्धिकता, पाण्डित्य के रुढ और साम्प्रदायिक अर्थ में नही। परिचय के मूल मे भी यह जिज्ञासा है, जिसके द्वारा लालसा जग जाती है। जिज्ञासा से लालसा जगती है और लालसा से जिज्ञासा को क्षमता एव गति मिलेगी। आकर्षण की सजगता परिचय की अपेक्षाकृत पूर्णता मे परिणत होती है, ऐसी अवस्था में जिज्ञासा और लालसा परस्पर-विरोधिनी नही। जिज्ञासा लालसा की भावात्मकता को तीव्रता प्रदान करने में समर्थ होगी। लालसा के जागरण में जिज्ञासा के उपशमन की अपेक्षा नही. लालसा जिज्ञासा को आधार देती है और जिज्ञासा लालसा को तीव्रता और क्षमता।

व्यक्त का व्यक्त के प्रति जो प्रेम है उसके मूल मे भी अव्यक्तता है। प्रिय का सौंदर्य प्रेमी के लिए नित्य नवीन रहता है, इस नित्य नवीनता में स्थूल रूप से अधिक भावात्मक सौन्दर्य है जो है प्रेमी के आकर्षण का केन्द्र। प्रतिक्षण प्रेमी की भाव-धारा रहती है कि प्रिय के इस सौन्दर्य को तो कभी उसने देखा नही था। प्रेम की स्थिरता प्रिय के नित्य नवीन सौन्दर्य-बोध मे है। प्रेम का यह मानसिक अथच आध्यात्मिक पक्ष है। अव्यक्त सत्ता व्यक्त प्रतीकात्मक माध्यम से अभिव्यक्त होती है, व्यक्त माध्यम है और अव्यक्त ज्ञेय। व्यक्त इस अवस्था में अर्थहीन नही। व्यक्त और अव्यक्त सापेक्ष और व्यावहारिक शब्द हैं, और मानवीय ज्ञान के अनुमापक।

अव्यक्त ने अपने आपको अभिव्यक्त किया अर्थात् उसका प्रेम ही व्यक्त हुआ है जो ससार का मूलतत्त्व है। लौकिक प्रेम व्यक्ति का व्यक्ति के लिए आकर्षण मूल रूप मे उसी व्यापक प्रेम का स्वरूप है, अत लौकिक प्रेम में आध्यात्मिक तत्त्व है। ज्ञात के माध्यम से ही अज्ञात की परिकल्पना सम्भव है और यही आधार-शिला है मानव के ज्ञानात्मक विकास की। उपेक्षणीय अत लोक-प्रेम नही बल्कि लौकिकता, सासारिकता और मायिकता हैं। प्रिय का स्वरूप ज्ञात और अज्ञात दोनो होता है। भावोन्माद के लक्षणो मे रूपात्मक कल्पनाएँ सम्मिलित भाव से व्यापक स्वरूप का आभास देती हैं, जिसमें वैशिष्ट्य तो रहेगा किन्तु स्पष्ट स्थिरता नहीं। प्रिय में अवयव की सीमा नही, वह तो आंगिक से भावात्मक हो चुका रहता है। अवयव की व्यक्तता (स्थूलता) प्रिय की अन्तर्भूत भावात्मकता की सकेतिका है और इसके माध्यम से ही भावात्मक प्रिय की प्राप्ति का प्रयास प्रेमी करता है। यह प्रयास चेतन-व्यापार और क्रिया नही बल्कि अन्तर्निहित प्रज्ञा है जिसमें भावना के साथ बुद्धि और कल्पना समन्वित हो जाती है।

---

१ आचार्य शुक्ल के विचारो के लिए द्रष्टव्य--काव्य में रहस्यवाद, पृ० ११ और १५।

इस अवस्था में बुद्धि और भावना विच्छिन्न नहीं रह जातीं। चेतना सत्य-स्वरूप के दर्शन कराती है भावना उसकी अनुभूति की सामर्थ्य देती है। भावना बुद्धि की हीनता नहीं और न बुद्धि भावना की विरोधिनी। जिज्ञासा और लालसा में अपूर्व मैत्री संघटित हो गई। अव्यक्त की जिज्ञासा मूलक भावना असत्य नहीं।

अज्ञात और अव्यक्त शब्द समान अर्थों के द्योतक नहीं। अव्यक्त और व्यक्त दोनों अज्ञात रह सकते हैं और दोनों में ज्ञात होने की सम्भावनाएँ रह सकती हैं। अव्यक्त होने से अज्ञात होगा ही ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अज्ञात से परिचय की अपेक्षा रहती है और उसका अन्वेषण अनिवार्य। परिचय के अभाव में प्रतीति सम्भव नहीं। ऐसे तो परिचय के साथ प्रतीति की अनिवार्यता भी नहीं। प्रतीति प्रेम-रस का आवश्यक अंग है[1] और इस प्रेम की प्राप्ति के बाद और किसी अंग की अपेक्षा नहीं। सन्त-कवि का अपने प्रिय से घनिष्ठ परिचय है। उस 'एक' से परिचय हो जाने के पश्चात् और किसी अन्य से परिचय की अपेक्षा नहीं हैत की 'दुचिताई' मिट जाती है, किन्तु वह 'एक' तो 'अनेक' में परिव्याप्त है, ढूढ़ने के लिए कब दूर जाने की आवश्यकता नहीं वह सर्वत्र परिव्याप्त है यहाँ तक कि अपने आपमें ही है।[2] अन्वेषण जिज्ञासा लालसा तभी तक अपेक्षित है, जब उस पूर्ण 'एक' से परिचय नहीं और उस परिचय के पश्चात् तो स्वयं पूर्णता आ जाती है, बूँद समुद्र में मिल कर स्वयं समुद्र हो गई—

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समँद मैं सो कत हेरी जाइ॥
—क ग्रं पृ १५।१७२।

तेज पुंज की सुन्दरी तेज पुंज का कंत।
तेज पुंज की सेज परि दादू बन्या बसंत॥
—दा बा (१) पृ ५६।१०९।

सगुण और सूफी-प्रेम एवं सन्त प्रेम-दर्शन

ईश्वर-सम्बन्धी धारणाओं के अनुसार प्रेम के स्वरूप में अन्तर आया है। सगुण मतवाद का विरहोन्माद अधिक तरल और मर्म-स्पर्शी है। परकीया-प्रेम में जितनी विदग्धता व्यग्रता

---

१ मन प्रतीति न प्रेम रस ना इस तन मैं ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग॥—क ग्रं पृ पृ २।१९८।

२. कबीर प्रीति इक सिउ कीए आन दुबिधा जाइ।—सं क सलोकु २९।

३ बसि बसि पूरि रहे प्रम सुआमी। घट घेवउ तउ अंतर जामी॥—सं क गउड़ी ४।
आपु चीन्हि-चीन्हि मिले कबीरा।—वही भैरउ ७।
सब मैं हरि है हरि में सब है, हरि अपनी निज जाना।
साखी नहीं और कोइ दूसर, जाननहार सयाना॥ बी बा पद १ पृ १

और विह्वलता होगी, उतनी स्वकीया-प्रेम में नही। जितनी स्थिरता, गम्भीरता और व्यापकता की सम्भावना स्वकीया-प्रेम मे है उतनी परकीया-प्रेम में नही। जगत् यदि सत्य है, जागतिक सम्बन्ध असत्य नही हो सकते और यदि विवर्त्त तो यहाँ के सारे सम्बन्ध भी अविवर्त्त नहीं रह सकते। सन्त-कवि की विरह-भावना तभी तक सजग है जब तक वास्तविकता से पूर्ण परिचय नही, कारण परिचय की पूर्णता के साथ वियोगावस्था रह नही सकती। यूरोपीय सन्तो के 'रात्रि के अन्धकार' से इसकी समता नही कारण, यहाँ दर्शन की क्षणिकता नही।

सगुण भक्त में व्यक्त का प्रेम है जिसमें अव्यक्त का आभास और विस्तार है। सन्त-कवियो में व्यक्त माध्यमो के प्रतीकात्मक विधान द्वारा अव्यक्त प्रेम की उपलब्धि और अभिव्यंजना है। यह प्रच्छन्न कामुकता-मात्र नही। वैष्णव-कवि प्रिय के एकदेशीय व्यक्त-स्वरूप को ही प्रेम का आधार मानता है और सन्त व्यक्त में एकदेशीयता नही देख व्यापक अव्यक्त-व्यक्त के साथ सम्बन्ध जोडता है। प्रेम के अव्यक्त स्वरूप की अभिव्यक्ति ही अव्यक्त के प्रेम के रूप में हुई। सगुण मतवादी में 'द्वैत' की भावना रह जाती है, अत उसके सारे व्यापार प्रियाराधन के लिए है और सन्त-कवि तो अपने आपको उस तत्त्व से अभिन्न मानता है, अत उसके चैतन्य स्वरूप के सारे व्यापार ही प्रियाराधन है। सगुण भक्त राम और कृष्ण को परमाराध्य मान कर अपने अन्तर की समस्त वृत्तियाँ उनके साथ न्यस्त कर देता है, अत यह भक्ति ही उसके चैतन्य का कारण है। आस्था ही बोध है, भक्ति स्वतत्र और निरपेक्ष[1]। वैदिक आचार को जीवन नियामक स्वीकार करने के कारण जप, तप, तीर्थाटन आदि इस भक्ति के साधन है।[2] अपनी विरद-रक्षा हेतु परमात्मा प्रेम का दान देता है। तुलसीदास सम-शील प्रेम को दु ख का कारण मानते हैं। सूर में "प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सो पारहि जइये" की भावना है और सम-प्रेम की महत्ता। वैष्णव भक्त का प्रिय अपने से बाहर है।[3] तुलसीदास का मतवाद जीव को ब्रह्म नही मानता, जीव ब्रह्म नही, ब्रह्म जीव नही, ब्रह्म अनन्त शक्तिशाली और अद्वितीय गुणशाली है अत भक्ति का आदर्श है—

सेवक सेव्य भाव विन भव न तरिअ उरगारि।

तुलसी के राम-सीता का प्रेम भक्त और भगवान् के प्रेम का स्वरूप उपस्थित करता है, विधान नही कारण, सीता राम की लीलामयी शक्ति से अधिक लीला की आधार-स्वरूपा हैं। राधा-कृष्ण के तत्त्ववादी स्वरूप के अन्तर के कारण वल्लभीय प्रेम अन्य स्वरूप ग्रहण करता है।

सन्त-कवि ने ब्रह्म को ही जगत् में अभिव्यक्त देखा है, किसी विशिष्ट 'एक' में नही। उस विशिष्ट 'एक' को मन्दिरो ने अपनी पाषाण-कारा में बद्ध कर लिया था अत 'एक' अनेक में ही व्याप्त देखा जा सकता था। उस 'एक' का परिचय पहले अपेक्षित है अत जिज्ञासा को

---

१ सो सुतत्र अवलब न आना। तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना॥ —मानस, अरण्य० १६।

२ मानस, उत्तर० ९५।

३ वसो मेरे नैनन में नदलाल।
मोहिनी मूरत साँवली सूरति, नैना वने विशाल॥ —मीराँबाई की शब्दावली, पृ १५।

अपेक्षा है किन्तु जिज्ञासा की प्रेरणा के लिए आस्था चाहिए। ऐसी अवस्था में आस्था का बोध ही नहीं चाहिए बल्कि बोध-जन्य आस्था एवं चैतन्य आयत्त विश्वास। जीव और ब्रह्म में अभेदकता है, साधक और साध्य में अभिन्नता अतः सम का सम के प्रति उन्मेष नहीं बल्कि एक ही तत्त्व की विभिन्न अभिव्यक्तियों का आकर्षण है। परम-प्रिय की दयालुता आत्मोन्मेष से भिन्न नहीं एवं प्रेम अपूर्णता के द्वारा पूर्णता की प्राप्ति है। सूर की राधा कृष्ण से मिल एकमेक होकर भी अत्यन्त समीप होकर भी भिन्न है ब्रह्म और माया का अन्तर रहेगा शक्तिमान् और शक्ति का भेद बना रहा रहेगा। सन्त-प्रेम में मधुर-प्रेम का स्वरूप मिलता है किन्तु वैष्णवीय मधुराभक्ति से तात्त्विक दृष्टि के कारण अन्तर भी कम नहीं।

राम सीता के लिए जितने भ्रम दिखाए गए हैं, उतने कृष्ण राधा के वियोग में नहीं। प्रेम वल्लभीय मत में अनुग्रह है और वह अनुग्रह जिस पर किया जाय वही सौभाग्यशालिनी। सन्त-कवि इस एकदेशीयता को स्वीकार नहीं करता बल्कि चतुर्दिक परिव्याप्त भाव के साथ वैयक्तिक भावना की समानुभूति उसे दीख पड़ती है। साकार भक्त भगवान् में अपनी भावात्मक मूर्ति देखता है और सन्त-कवि परम-तत्त्व के अनुरूप निजत्व स्वरूप। इस अवस्था में ससीम ही सीमाहीन है और रूप ही अरूप।

प्रच्छन्न सूफी-मत की झलक इसमें देखने की जो चेष्टा हुई है उसमें विरहोन्माद की मर्म-कथा के साथ साम्य देखा गया है। वेदनात्मक संवेदना से अधिक विरह-जन्य दशा का चित्रण सूफी और रीतिकालीन काव्य में हुआ है। सूफियों के अनुसार प्रेम ही ईश्वर है, ईश्वर ही प्रेम है, अतः प्रेम की प्राप्ति ही एक मात्र काम्य। जगत् उसके द्वारा निर्मित है अतः लौकिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम बनने की क्षमता रखता है। प्रेम ही अतः बोध है। सन्त का परम-प्रिय चैतन्य है अतः चैतन्य का आचरण प्रेम। सूफियों का 'कल्ब' केवल भावना संस्थान नहीं बल्कि ज्ञान और भाव-चित्र इसी में अंकित होते हैं। शंकर अद्वैतवाद और रामानुजीय विशिष्टाद्वैत से अन्तर होने के कारण सूफी प्रेम-स्वरूपता में अन्तर आया। कुछ अर्थों के लिए साधनिक आवेग और आत्म-स्वरूप को भूल कर विरह की सामान्य स्थिति की सीमा में सन्त कवि की अभिव्यक्ति पहुँच जाती है।[1] सूफियों के अनुसार विरह ही मूल पदार्थ है विरह के कारण ही प्रेम का अस्तित्व है, विरह ही प्रेम का सार है।[2] सन्त-कवियों में भी कुछ इस प्रकार के दर्शन होते हैं।[3] अन्यत्र कथित किया गया है कि दादू की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा

---

१ कै बिरहनि कूं मीच दे कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा मोपै सह्या न जाइ॥
—क ग्रं बिरह कौ अंग पृ १।१४।

२. पेमहि मांह बिरह रस रसा। मैन के घर मधु अमृत बसा॥
—जा ग्रं (शुक्ल) पृ ८।२।

३ बिरहा बिरहा जिनि कहौ बिरहा है सुलितान।
जिह घट बिरह न संचरै सो घट सदा मसान॥
—क ग्रं बिरह कौ अंग पृ ९।२१।

सूफी-मत में हुई और तत्पश्चात् वे सन्त-मत में दीक्षित हुए, अत विरह की भावाकुलता और मुग्धता दोनो उनके काव्य में प्राप्त हुए हैं ।[७] दादू ने सूफियो के अनुरूप परमात्मा को ही प्रेम माना है ।[८] ऐसी आस्था सन्त-साहित्य में व्यापक नही । विरह-कातरता में आकुलता-विह्वलता तो है किन्तु विक्षिप्तता नही, आवेश है किन्तु उन्माद नही । प्रेम विक्षिप्तता अथवा उन्माद नही बल्कि सरूप आवेगमय ज्ञान और उल्लास है । प्रेरणा की जागर्त्ति एव आवेश की गत्यात्मकता के कारण विरहानुभूति महत्त्वपूर्ण है किन्तु इसमे निराशा नही, निरवलम्वता और विवशता भी नही , आवेगमयी उन्मुक्तता, उल्लासमयी प्रेरणा, आनन्दमूलक कातरता एव जागर्त्तिमय गतिमत्ता । सूफी-काव्य में सगुणवादी की भक्ति और अद्वैतवाद की झलक के साथ मुस्लिम आस्था की अन्विति है । सन्त-प्रेम अपूर्णता से पूर्णता की ओर उन्मुख ही नही बल्कि अपूर्णता द्वारा पूर्णोपलब्धि है, पूर्णता की सम्प्राप्ति ।

आध्यात्मिक प्रेम

आध्यात्मिक प्रेम के तीन स्वरूप प्राप्त होते है—

(१) व्यक्त ससार के सारभूत सत्य की मानवीय अनुभूति । व्यक्ति-जीव अथवा आत्मा-ससीम और हीन है एव जगत् में केन्दीभूत ब्रह्म ही सार-तत्त्व जगत् मे गोचर सगुण ब्रह्म अथवा विश्वातीत दोनो हो सकता है । ससीम और हीन की समस्त चेष्टाएँ इसकी प्राप्ति के लिए होती हैं ।

(२) मूलतत्त्व सृष्टि में परिव्याप्त है और अस्तित्व में उसी का अनुगृह अनुस्यूत । असीम प्रिय ससीमता की व्यापकता के माध्यम से अभिव्यक्त होता है । रूप उस अरूप का सकेतक है । सम्पूर्ण विश्व उस असीम प्रिय की भावना से परिव्याप्त, अभिव्यक्त और परिपूर्ण है ।

(३) मानवीय प्रेम का अध्यात्मीकरण ।

मानवीय प्रेम की आध्यात्मिक प्रेम के सोपान-रूप में प्रतिष्ठा मिलती है । यह मानवीय प्रेम का अध्यात्मीकरण नही । लौकिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम का सूचक भी नही । सकाम प्रेम और सकाम भक्ति में एकता है । सन्त का प्रिय ही 'निर्गुण' नही बल्कि उसके लिए नारदीय निर्गुण भक्ति की भी महत्ता है । सन्त के लिए प्रेम के अतिरिक्त और किसी आसक्ति की अपेक्षा नही । लौकिक प्रेम पारलौकिक प्रेम की छाया भी नही, जगत् को परम-तत्त्व का प्रतिविम्व माननेवाला ही ऐसा आवेश पाल पा सकता है । प्रेम इन्द्रिय-गम्य अथवा इन्द्रिय-

---

आदि-ग्रथ में यह साखी थोडे पाठान्तर के साथ शेख फरीद के नाम मिलती है, जिसका सूफी-परम्परा से पूरा मेल है । —द्रष्टव्य सलोकु ३६ ।

७ प्रीति न उपजै विरह विन, प्रेम भगति क्यो होई । —दा० वा० (१), पृ० ४० ।
जहाँ विरहा तहँ और क्या, सुधि वुधि नाठे ज्ञान । —वही, पृ० ३७ ।

८ इसक अलह की जात है, इसक अलह का अग ।
इसक अलह औजूद हैं, इसक अल्लह का रग ॥ —वही, पृ० ४४।१५२ ।

ग्राह्य नहीं। रूप की आसक्ति भी एक प्रकार की आसक्ति ही है। रूपासक्ति में लौकिक प्रेम का मलीन संस्कार मिलेगा। वह परम प्रिय परम सौन्दर्यशील है, उसके सौन्दर्य के सम्मुख अन्य सभी सौन्दर्य तुच्छ और नगण्य हैं। सन्त-साहित्य में आध्यात्मीकृत लौकिक भावना अधिक नहीं।

ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध-विचार का क्षेत्र व्यापक है जिसमें जगत्-स्वरूप उसके कारण और सृष्टि विश्व-नियन्ता और आत्मा के सम्बन्ध की विवेचना अधिक होती है। दर्शन का सामान्य प्रयोग दूसरे अर्थ का संकेत करता है सन्तों ने इन सम्बन्धों का उल्लेख किया है किन्तु बौद्धिकता एवं तर्क-शक्ति के प्रदर्शन के लिए नहीं बल्कि दर्शन के व्यापक और व्यावहारिक रूप के लिए। दर्शन बौद्धिक प्रक्रिया के कारण नहीं होते। रागात्मिका वृत्ति और भावात्मक प्रक्रिया का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित रहता है। सन्त ने अचेतन रूप से इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को पा लिया था कि मानवीय चेतना इतनी मिश्रित और उलझी हुई है कि उसके तत्त्वों को विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। सगुण ईश्वर का अमूर्त रूप इतना स्पष्ट है कि उसके दर्शन के लिए बौद्धात्मक चैतन्य नहीं भावना का स्थिरीकरण चाहिए। सगुणवादी भावना के स्थिरीकरण के लिए आस्था की चरमता स्वीकार करता है। बौद्धिकतामूलक रागात्मकता के जागरण की अपेक्षा सन्त ने इसलिए समझी थी कि जीवन और जगत् के साथ समाहित दृष्टिकोण समन्वित हो सके एवं उस अपेक्षित मानसिक स्थिति और भाव-दशा की उपलब्धि हो जिसके कारण लघु वैयक्तिक सम्बन्धों की निस्सारता-जन्य चिर-सम्बन्ध की आकांक्षा जग जाती है।

सन्त-कवियों के लिए ईश्वर आदर्श भाव अथवा विचार नहीं ब्रह्म ही चरम सत्य है। जगत् प्रेम की क्रीड़ा है, क्रीड़ा है एक का अनेक होना और प्रेम है 'अनेक' के अन्तर्भूत 'ऐक्य' का वास्तविक एक के साथ सम्बद्ध होना। उस 'एक' ने ससीम को मोह के फंदे की सीमा दी है और सन्त ने उसे प्रेम-पाश को बढ़ाया। एक ने सीमा का संकोच दिया और साधक ने भाव का विस्तार।[1] सगुण-मत में प्रिय के अनन्त सौन्दर्य की जो कल्पना और स्थूल अभिव्यक्ति है, उसकी सम्भावना सन्त-काव्य में नहीं रही। वैष्णव प्रेम में प्रभु की अनन्त लीला और सौन्दर्य का वर्णन है, इन्द्रियों की सारी वृत्तियाँ खिंच कर एक केन्द्र पर आ जाती हैं एवं सन्त-साहित्य का प्रिय सूक्ष्म और अरूप है। प्रेम-मार्गी कवियों की भाँति व्यक्त सौन्दर्य को अव्यक्त की अभिव्यक्ति का माध्यम सन्त-काव्य में नहीं बनाया गया है। प्रतीकों तथा संकेतों के द्वारा अशेष सौन्दर्य का संकेत किया गया है वह सौन्दर्य एकदेशीय और सीमित-संकुचित नहीं वह ऐसा सौन्दर्य है जिसके सौन्दर्य से सारा दृश्यमान् जगत् सौन्दर्यशील हो उठता है। ज्योति तेज-पुंज उस सौन्दर्य के द्योतक हैं। इसी सौन्दर्य में आत्मा सदा स्नान करती है। एकान्त सत्य ही अनन्त सौन्दर्य बन कर उपस्थित होता है एवं यह सौन्दर्य शिवत्व से भिन्न नहीं।

---

१ जउ हम बाँधे मोह फास हम प्रेम बधनि तुम बाधे।
अपने छूटन को जतनु करहु हम छूटे तुम आराधे॥—आ० ग्रं० रविदास रागु सोरठ २।

अनन्त सौन्दर्यशील प्रिय की अखण्ड ज्योति का चिर प्रकाश जगत् को आलोकित करता है। इस आलोक को अन्तर्निहित और ओझल करनेवालो के अतिरिक्त और कोई ऐसा नही जो उससे विच्छिन्न हो, भिन्न हो। ऊँच-नीच, जाति-धर्म, मत-सम्प्रदाय का विचार हमारी सकुचित नानात्व-भावना का सूचक है। सन्त के अनुसार मानवीय ज्ञान की पूर्णता अन्तर्भूत एकत्व के दर्शन में है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता एव जीव की ब्रह्म-रूपता द्वारा उस मानव-समता का प्रतिपादन हुआ है जो मानव-प्रेम का व्यापक आधार है। सन्त-कवियो का मानव प्रेम सत्य के साथ सात्त्विक हृदय के शुद्ध रस का सम्बन्ध स्थापन है। वह इस सत्य को अपने भीतर और बाहर सर्वत्र देखता है, वह अविकल है, अखडित है। उसका मानव-प्रेम अन्तर की वह उदात्तता है जिसमें सत्य की क्षमता क्षुद्र स्वार्थों के अतिक्रमण का गर्व सुरक्षित रखती है। मनुष्य देश, काल और पात्र की लघुता नही, भाव-सृष्टि का उल्लास और मर्म का विस्तार है। सभी प्रकार की सकीर्णताओ से दूर हट कर मानव को मानव रूप में प्रतिष्ठित करने की अभिलाषा-लालसा उसमें सदा जाग्रत है।[१] इस प्रेम में जय-पराजय की द्विधा नहीं, आकाक्षा-पूर्त्ति की चिंता नही, लालसा-व्यर्थता की शका नही।

सन्त-प्रेम का आदर्श

प्रेम के आदर्शों की विवेचना द्वारा भी सगुण भक्ति, सूफी-प्रेम और सन्त-साधना का अन्तर देखा जा सकता है। अनन्यता और एकनिष्ठता के साथ ही पर-वशता और विवशता के सकेत चातक-प्रेम में सन्निहित है। तुलसी का सम-शील-विरोधी प्रेम चातक को अपना आदर्श मानता है जिसमें उनके मतवाद की स्पष्ट झाँकी है। सूफी-प्रेम का साम्प्रदायिक स्वरूप शमा-परवाना के रूपकत्व में स्पष्ट होता रहा है, जहाँ प्रिय का उद्देश्य है प्रेमी को जलाना। प्रेम-मार्गी कवियो में योगियो का काया-कष्ट, साधक के मार्ग की कठिनाइयो के साथ उनकी प्रेम-स्वरूपता के कारण मेल खाता है। सन्त-साहित्य के प्रेमी के बहु-प्रयुक्त आदर्श है, सती, सूरमा एव चकोर और मीन।

सती की एकनिष्ठता मे विवशता की छाया नही, अपने शरीर का त्याग कर भी वह प्रिय का साथ नही छोडती, अपने निजत्व का नाश कर प्रिय-पद को प्राप्त करती है, अपने शरीर की आशा नही पालती।[२] पति को छोड किसी अन्य का भजन नही करती। जीवात्मा

---

१. जेती देषौं आतमा, तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव हैं, नही पाथर सू काम॥ —क० ग्र०, पृ० ४०।४३०।

२ सती जलन को नीकली, पीव का सुमिर सनेह।
सबद सुनत जीव निकल्या, भूलि गई सब देह॥ —क० ग्र०, पृ० ७१।६८८।
सती जलि कोइला भइ, मुए मडे की लार।
यौ जे जलती राम सौं, साँचे सँगि भर्तार॥ —दा० बा० (१), पृ० २०८।११।
सती अगिन की आँच सहि, लोह आँच सहि सूर।
दूलन सत आँचहि सहे, राम भक्त सो पूर॥ —स० बा० स० (१), पृ० १३९।३।

एक ब्रह्म को छोड़ कर अन्य देवी-देवता की पूजोपासना न नहीं लगती। प्रिय का प्रेम प्राप्त कर लेने पर शृंगार की अपेक्षा नहीं बाह्याचार थोथे और व्यर्थ हो जाते हैं।[१]

संसार के लोगों का विरोध धर्म-ग्रन्थों की बाधाएँ अमान्य कर सन्त अपने प्रेम-पन्थ पर चलता है। सच्चा सूरमा मरने जीने की आशा नहीं पालता मृत्यु के भय से रण-खेत नहीं छोड़ता।[२] प्रेम-भाव अत्यन्त कठिन और कठिनाइयों से भरा है। जो जग के उपहास से नहीं डरता बल्कि कुत्तों के भूँकते रहने पर भी गजेन्द्र की तरह अपने निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर होता रहता है, वही सच्चा शूर-वीर है। इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों मन की चंचलता और संसार की मायिकता से सन्त को जूझना है अतः वह योद्धा है।

चकोर चन्द्रमा से दूर रह कर भी भावात्मक एकता के सूत्र में बँधा है जैसे चन्द्रमा से कुमुदिनी। एकटक देखते-देखते चकोर अपनी गरदन भी तोड़ देता है किन्तु चन्द्र को छोड़ किसी दूसरे ओर दृष्टि नहीं फेरता।[३] मीन जल से भिन्न होकर जीवित नहीं रहती। उसकी एकाग्रता और एकनिष्ठता की मर्मपूर्ण अभिव्यक्ति रैदास के एक पद में मिलती है—

मीनु पकरि फांकिउ अरु काटिउ रांधि कीउ बहु बानी।
खंड खंड करि भोजनु कीनो तउ न बिसरिउ पानी॥[४]

अनन्यता के आदर्श-रूप में हंस की भी प्रतिष्ठा है। हंस-स्वरूपता में उस विवेक-जन्य चैतन्य रूप का भी आभास मिलता है जिसके कारण सांसारिक जल का त्याग कर हंस मान सरोवर के (आध्यात्मिक) मोती का चुगनेवाला है।[५] प्रेम के महँगे महारस को पीनेवाले का आदर्श और कसौटी है, मदोन्मत्त मतवाला जिसकी खुमार कभी उतरती नहीं मतवालापन

---

१ जो पै पतिब्रता ह्वै नारी कैसे ही रहो सो पियहि पियारी।
—क ग्रं पद ११९ पृ १११।

२ सूरा तबही परखिये लड़ै धनी कै हेत।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै तऊ न छाड़ै खेत॥ ११११॥

खेत न छाड़ै सूरिवां जूझै द्वै दल मांहि।
आसा जीवन मरण की मन मैं आँणैं नांहि॥ ११२॥ —क ग्रं पृ ६९।

सूरा चढ़ि संग्राम कौं पाछा पग क्यों देह। —रा बा (१) पृ २९।१३।

३ ये नैनं निहारत मार्ग इक टक हेरहीं। बालहा जैसें चन्दन चकोर दृष्टि न फेरहीं॥
-गु ग्रं (२) पृ ९११

४ आ ग्रं रविदास सोरठ २।
(रैदासजी की बानी के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर संशोधित)।

५ मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगै अब उड़ि अनत न जाहिं॥ —क ग्रं पृ १५।११।

कभी छूटता नही ।[1] और उस प्रेम की एक मात्र कसौटी है, प्रिय प्रेमी और प्रेम की त्रैतात्मक एकाकारिता जिसमे किसी 'एक' की भिन्न स्थिति नही रह जाती--

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूद समानी समद मे, सो कत हेरी जाइ ।।[2]

सुनु सखि पीअ महि जीउ वसै जीअ महि वसै कि पीउ ।
जीउ पीउ बूझहु नही घट महि जीउ कि पीउ ।।[3]

सन्त-कवियों का प्रेम-दर्शन

मध्यकालीन साहित्य की मूल प्रेरणा है प्रेम, जिसकी विभिन्न परिणतियाँ ही काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती रही। 'भागवत पुराण' की भाव-धारा ही आडवारो की भक्ति-धारा है। नग्न आडवार भावावेश में स्त्री का रूप धारण कर लेते थे। अदाल दक्षिणी मीराबाई थी। दक्षिणी शैव भक्तो मे नन्द का प्रतिष्ठित स्थान है जिसकी प्रेम-लक्षणा भक्ति में चैतन्य महाप्रभु का पूर्वाभास देखा जा सकता है। 'गीत गोविंद' अत्यन्त कोमल भावना और वृत्तियो से परिपूर्ण है। वैष्णव प्रेम का सहजिया स्वरूप बगाल के चण्डीदास[4] और लौकिक स्वरूप मिथिला के विद्यापति में प्रकट हुआ था। चण्डीदास ने स्पष्ट उद्घोष किया था कि विश्व में मनुष्य ही एक मात्र सत्य है, उससे बढ कर और कोई दूसरा सत्य नहीं। बाउर (बावला) का रूपान्तर 'बाउल' शब्द उन साधको के दल की सूचना देता है जो एक ओर प्रेम के क्षेत्र मे किसी प्रकार का पृथकत्व नही मानता, निरन्तर सम्मिलन का भाव जगाता रहता है, सदा आनन्द के गीत गाता है[5] और दूसरी ओर उद्घोषित करता है--

तोमार पथ ढायकाचे मदिरे मसजिदे
(तोमार) डाक शुने आमी चल्ते ना पाइ
रुइखा उडाय गुरुते मुरशिदे ।[6]

प्रेम की इस व्यापक भूमिका में ही सन्त-साहित्य के प्रेम-दर्शन का अध्ययन सम्भव है। प्रेम की मात्रा, तीव्रता और स्वरूप की समानता सभी सन्त-कवियो में नही प्राप्त होगी। प्रेम

---

१ हरि रस पीया जाँणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार ।
मैमता घूँमत रहै, नाही तन की मार ।। --वही, पृ० १६।१६४ ।

२ क० ग्र०, पृ० १७।१७१ । ३ स० क०, सलोकु २३६ ।

४ शुन हे मानुष भाई ।
सवार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार उपरै नाई । --चडीदास ।
भरमे भुलये अनेक जन, मरम जाहिक जाने ।
मानुषेर प्रेम नाहि जीव लोके, मानुष से प्रेम जाने ।। --चडीदास ।

५ सेन मिडीवल मिस्टिसिज्म आव इडिया ।

६ दासगुप्त आव्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स, पृ० १९७ की पादटिप्पणी से उद्धृत ।

का व्यापक महत्त्व प्रत्येक सन्त को स्वीकृत है आदर्शों में भी विशेष भिन्नता नहीं और प्रिय प्राप्ति के लिए प्रेम के अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन हो ही कैसे सकता है? प्रिय अन्तरगत है इसका यह अर्थ नहीं कि अपने से प्रेम किया जाय क्योंकि यह सत्य-स्वरूप नहीं। सांसारिक विषयों से विरक्ति से अधिक निर्लिप्तता अपेक्षित है। यह निर्लिप्तता भी आरोपित नहीं स्वतः स्फुरित है।

भावना की तीव्रता को सन्त ने सन्देह की दृष्टि से देखा है अतः उसे चेतना द्वारा केवल नियन्त्रित ही नहीं करना चाहता बल्कि चेतना की प्रमुखता उसे अनिवार्य रूप में स्वीकृत है, कारण चैतन्य आवरण की अवस्था में भावना बुद्धत्व की ओर उन्मुख नहीं हो सकती। भावना-प्रधान चैतन्य और चेतना प्रधान भावना की सीमाओं में सन्त-कवियों की प्रेम-साधना अभिव्यक्त होती रही। बुद्धि और भावना को नितान्त विच्छिन्न मानने का मोह सन्त-साहित्य में नहीं। सन्त इस कृत्रिम विभेद का स्वीकार करता हुआ नहीं दीख पड़ता है।[1] ज्ञानहीन भक्ति का महत्त्व तो तुलसीदास को भी स्वीकृत नहीं। तुलसीदास ज्ञान का विरोध नहीं कर ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग की उपयुक्तता प्रतिपादित करते हैं।[2]

कबीर का प्रेम चेतना प्रधान है, वह चेतना की सहज परिणति है। कबीर के युग की साधना पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर को कई प्रकार के विरोधियों का सामना करना पड़ा था। कबीर का प्रबल विरोध अन्तर्भाव-शून्य बाह्याडम्बर से था जिसका प्रतिनिधित्व ब्राह्मण और मुल्ला कर रहे थे और नाथ-पन्थी योगियों की हठ-साधना के चेतनाभाव से भी उन्हें जोहा लेना पड़ा अतः इन दो अतिवादी साधन-धारा का विरोध करने में सामंजस्य की धारा फूट पड़ी। पण्डित और योगी ज्ञान के दो स्वरूपों की ओर आकृष्ट थे। पण्डित ज्ञान-स्रोत के रूप में वेद-शास्त्र को मान्यता स्वीकार करता था और योगी अन्तर्दृष्टि की प्रामाणिकता। अन्तर्दृष्टि का महत्त्व स्वीकार करते हुए इसके स्वरूप का नवीन रूप-विधान कबीर ने किया और शास्त्राभिमान को अमान्य किया कारण शास्त्रों का प्राचीर इनके लिए अवरुद्ध था। वैष्णवीय भक्ति को ज्ञान की महिमा से मण्डित करने का श्रेय कबीर को मिलना चाहिए। ऐसी अवस्था में कबीर का प्रेम सहज ही विशिष्ट स्वरूप रखता है।

रैदास में अहंकार के नाश आदि की चर्चा है किन्तु ज्ञान की वह पुष्टता नहीं जो कबीर में दीख पड़ती है। नीच कुलोत्पन्न एवं नीच-व्यवसाय से नातिप्रपुष्ट जीवन-यापन करनेवाला व्यक्ति योगियों की ज्ञान-परम्परा से विच्छिन्न होने के कारण ज्ञान-चर्चा में सक्षम नहीं हो सकता। अतः चैतन्य-धारा की अपेक्षा प्रेम-साधना का स्वरूप ही यहाँ अधिक स्पष्ट

---

१ कबीर घोड़ा प्रेम का चेतनि चढ़ा असवार।
ग्यान खड्ग गहि काल सिर भली मचाई मार॥ —क० ग्रं० चाणक को अंग २७ पृ० ७।

२ कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥ — मानस उत्तर ११८।
ममति मरत बिनु बदन प्रपाया। संसृति मूल अविद्या नाशा॥ वही उत्तर ११९।

हो सका है। इस प्रेम-साधना मे अपने आपका पूर्ण भाव से अर्पण-न्यौछावर ही मुख्य है।[1] द्वैत का स्वरूप अहकार है और अहकार का त्याग कर आत्म-समर्पण प्रेम की अद्वैतता।

गुरु नानक मे ज्ञान-योग की चेतना[2] और भाव-भगति की प्रेरणा है,[3] किन्तु आचरण की पवित्रता और आन्तरिक शुद्धता पर अधिक जोर है। और इस प्रकार आत्म-तत्त्व से परिचय आवश्यक माना गया है। सूफी-मत का प्रारम्भिक प्रभाव पजाब की उर्वरा भूमि में पडना चाहिए, कारण शेष भारत पर मुस्लिम शासन की प्रतिष्ठा के पूर्व ही पजाब में मुस्लिम शासन दृढ हो चुका था और सूफी-सन्तो का समागम भी। फरिश्ता के अनुसार तैमूर के आक्रमण के समय (सन् १३१८ ई०) पाक पट्टन मे शेख फरीद के पौत्र सदुद्दीन गद्दीनशीन थे। ईरानी सूफी-मत मे प्रेम की जो विह्वल व्यजना और विरहोन्माद की तीव्रता है, उसका अभाव आदि-नानक में है। क्रमश इस प्रेम-साधना की गम्भीरता परिलक्षित होने लगी थी।[4] ऐतिहासिक घटनाओ ने इस विकास में व्यतिक्रम उपस्थित किया और नानक-पन्थ की परिणति सैनिकवद्ध सगठन में हुई। काया नगर के अन्तर्गत राज्य करनेवाले मन और उसके अधीन रहनेवाली इन्द्रियाँ यदि पवन की योग-साधना से पगु बना दी जायँ तो कार्य-सिद्धि हो जाय,[5] इस मत को स्वीकार करनेवाला सिक्ख-सम्प्रदाय किस प्रकार राजनीतिक दल में सगठित हुआ, यह अवान्तर कथा है।

प्रेम की तीव्रता, विरहोन्माद की उत्तेजना दादू में अधिक दीख पडती है। यह द्विविध प्रभाव का फल जान पडता है। सगुण भक्त भक्ति को ही एक मात्र साधन मान रहा था एव सूफी-साधना में प्रेम-तत्त्व की प्रधानता और विरहाकुलता की प्रतिष्ठा थी। दादू-पन्थ में वृद्धानन्द अथवा बुड्ढन बाबा दादू के गुरु रूप में प्रतिष्ठित हैं।[6] 'आइन-ए-अकबरी से ज्ञात होता है कि एक शेख बुढन शत्तारी शेख अब्दुल्ला शत्तारी के वशज थे और मुसलिम सुलतान शाह सिकन्दर लोदी के समकालीन भी। शेख अब्दुल्ला भारत में आकर सर्वप्रथम जौनपुर में रहे और उनकी मृत्यु मालवा प्रान्त के माडू नगर में हुई। शेख बुढन शत्तारी सम्भवतया कुतबन के दीक्षा-गुरु थे।[7] इस प्रकार पन्थ में अज्ञात रूप से सूफी-प्रेम की परम्परा स्वीकृत

---

१ तनु मनु देइ न अतरु राखै। अवरा देखि न सुनै अभाखै॥
सो कत जानै पीर पराई। जाकै अतरु दरदु न पाई॥ —आ० ग्र०, राग सूही १।

२ पाणी प्राण पवणि बधि राखे चदु सूरजु मुखि दीए। –आ० ग्र०, रामकली ४, पृ० ८७७।

३ अहिनिसि भगति करे दिनु राती लाज छोडि हरि के गुण गावै।
—वही, रामकली १०, पृ० ८७९।

४ विनु हरि पिआरे रहि न साकै। –आ० ग्र०, महला ३, रागु गउडी पूरबी १, पृ० २४३।
धन रैणि सुहेलडीए जीउ हरि सिउचितु लाए। —वही।

५ आ० ग्र०, रामकली ९, महला १, पृ० ९०७।

६ सेन दादू (उपक्रमणिका), पृ० ३१।

७ सेख बुढन जग साचा पीरू। नाम लेत सुध होय सरीरू॥
कुतवन नाम लेइ पाघरे। सरवर दो दुहूँ जग नीर भरे॥ —मृगावती।

का व्यापक महत्त्व प्रत्येक सन्त को स्वीकृत है। आदर्शों में भी विशेष भिन्नता नहीं और प्रिय प्राप्ति के लिए प्रेम के अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन हो ही कैसे सकता है? प्रिय अन्तरस्थ है इसका यह अर्थ नहीं कि अपने से प्रेम किया जाय क्योंकि यह सत्य-स्वरूप नहीं। सांसारिक विषयों से विरक्ति से अधिक निर्लिप्तता अपेक्षित है। यह निर्लिप्तता भी आरोपित नहीं स्वतः स्फुरित है।

भावना की तीव्रता को सन्त ने सन्देह की दृष्टि से देखा है, अतः उसे चेतना द्वारा केवल नियमित ही नहीं करना चाहता बल्कि चेतना की प्रमुखता उसे अनिवार्य रूप में स्वीकृत है, कारण चैतन्य जागरण की अवस्था में भावना दुर्बलता की ओर उन्मुख नहीं हो सकती। भावना-प्रधान चैतन्य और चेतना प्रधान भावना की सीमाओं में सन्त-कवियों की प्रेम-साधना अभिव्यक्त होती रही। बुद्धि और भावना को नितान्त विच्छिन्न मानने का मोह सन्त-साहित्य में नहीं। सन्त इस कृत्रिम विभेद को स्वीकार करता हुआ नहीं दीख पड़ता है।[1] ज्ञानहीन भक्ति का महत्त्व तो तुलसीदास को भी स्वीकृत नहीं। तुलसीदास ज्ञान का विरोध नहीं कर ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग की उपयुक्तता प्रतिपादित करते हैं।[2]

कबीर का प्रेम चेतना-प्रधान है वह चेतना की सहज परिणति है। कबीर के युग की साधना पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर को कई प्रकार के विरोधियों का सामना करना पड़ा था। कबीर का प्रबल विरोध अन्तर्भाव-शून्य बाह्याडम्बर से था जिसका प्रतिनिधित्व ब्राह्मण और मुल्ला कर रहे थे और नाथ-पन्थी योगियों की हठ-साधना के चेतनाभाव से भी उन्हें लोहा लेना पड़ा अतः इन दो अतिवादी साधन-धारा का विरोध करने में सामंजस्य की धारा फूट पड़ी। पण्डित और योगी ज्ञान के दो स्वरूपों की ओर आकृष्ट थे। पण्डित ज्ञान-योग के रूप में वेद-शास्त्र की मान्यता स्वीकार करता था और योगी अन्तर्दृष्टि की प्रामाणिकता। अन्तर्दृष्टि का महत्त्व स्वीकार करते हुए इसके स्वरूप का नवीन रूप विधान कबीर ने किया और शास्त्राभिमान को अमान्य किया, कारण शास्त्रों का प्राचीर इनके लिए अवरुद्ध था। वैष्णवीय भक्ति को ज्ञान की महिमा से मण्डित करने का श्रेय कबीर को मिलना चाहिए। ऐसी अवस्था में कबीर का प्रेम सहज ही विशिष्ट स्वरूप रखता है।

रैदास में अहंकार के नाश आदि की चर्चा है किन्तु ज्ञान की वह पुष्टता नहीं जो कबीर में दीख पड़ती है। नीच कुलोत्पन्न एवं नीच-व्यवसाय से [illegible] जीवन-यापन करनेवाला व्यक्ति [illegible] की ज्ञान-परम्परा से विच्छिन्न होने के कारण ज्ञान चर्चा में संलग्न नहीं हो सकता। अतः चैतन्य-धारा की अपेक्षा प्रेम-साधना का स्वरूप ही यहाँ अधिक स्पष्ट

---

१ कबीर घोड़ा प्रेम का चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान खड़ग गहि काल सिरि भली मचाई मार॥ —क० ग्रं० ग्यान को अंग २०, पृ० ७।

२ कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥ —मानस उत्तर ११८।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥ —मा० उत्तर ११९।

रहस्यवाद

"कह रैदास यह गोप नहीं, जानै सब कोई।"

हो गई है। चैतन्य देव (सन् १४८६ ई १५३३ ई) के प्रभाव से भाव-विह्वल प्रेम-भाव का विस्तार सम्भव हुआ। इनका प्रत्यक्ष प्रभाव सम्भव नहीं होने पर भी ज्ञान-तत्त्व की चेतना से अधिक भाव-विह्वलता और विरहोन्माद का विस्तार दादू में अधिक है। सुन्दरदास ज्ञानतत्त्व की ओर अधिक उन्मुख दीख पड़ते हैं। पल्टूदास आदि में व्यापक प्रेम-तत्त्व का प्रचार ही अधिक दीख पड़ता है।

बाढ़ापाटी दरिया साहब पर कबीर-पन्थी प्रभाव है, जिसके कारण एक ओर 'परख' (बौद्धिक चेतना का प्रयोग) और दूसरी ओर 'अमृत प्रेम' की योजना है।[1] यद्यपि दरिया साहब के अनुसार भक्ति से भी ज्ञान सम्भव है और सत् से ही ज्ञानोद्भव है। ज्ञान से सत् प्रकाशित और उसी सत् से प्रेम और अनुराग अपेक्षित है।[2]

सूफियों के ऐकान्तिक प्रेम से सन्त प्रेम की भिन्नता है। सूफी-प्रेम का आदर्श उपस्थित करते हुए फरीदुद्दीन अत्तारी ने कहा—प्रेमिका का प्रेम अग्नि है और बुद्धि केवल धुआँ है। जैसे ही प्रेम प्रज्वलित हो उठता है धुआँ विलीन हो जाता है।[3] इस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सन्त-मत में प्रेम-तत्त्व की व्यापक स्वीकृति के साथ चैतन्य के विस्तार वैयक्तिक चेतना सामाजिक स्थिति एवं साधना-पद्धति के निरन्तर स्वरूप-संस्कार के के साथ होता रहा। इसके प्रेम में भाषा और स्वरूप का अन्तर है किन्तु तात्त्विक सम्बन्ध अविच्छिन्न।

---

१ बिना ज्ञान मूल नहिं देखै। होवै ज्ञान प्रेम रस पेखै॥
पुरुष ज्ञान भगति है नारी। ज्ञानहि भगति बोध नहिं हारी॥ —दरिया सागर पृ १६।

२ चाहिये भगति तब होवै ज्ञाना। चाहिये सत तब पुरुष अमाना॥
सत सुकृति बिनु पंथ बिराना। सुमिरहिं सत प्रेम अनुरागा॥
मुक्ति पंथ बिनु पावै सोई। पावै प्रेम बिनु गर्भ समोई॥
—दरिया सागर, पृ० १६।

३ इश्के जानाँ आतशस्तो अक्ल दूद। इश्क आमद दर गुरेज़द अक्ल ज़ूद॥
—ईरान के सूफी कवि पृ १७।

होता रहता है। इसके सम्बन्ध की धारणाओं में अज्ञय और अज्ञात का पुट[1] चित्त-विक्षेप और भूत-विद्या से समानता और सम्बद्धता[2] एवं लोक-बाह्य जीवन-गति की मान्यताएँ[3] सम्बद्ध हो गई हैं। रहस्य का शाब्दिक अर्थ है—गुप्त भेद गोप्य विषय ऐकान्तिक मर्म और सहज ही उपलब्ध नहीं हो सकनेवाला गूढ़ तत्त्व। रहस् के अर्थों में संकेत-स्पष्ट आमन्त्रमयी क्रीड़ा समागम (रह प्रणय) के साथ भी रहस्यवाद परोक्ष रूप में सम्बद्ध हो गया है।

पूर्व और पश्चिम दोनों में रहस्यवाद के प्रचार विश्लेषण और व्याख्या की चेष्टाएँ होती रही हैं। जब या हुई परिस्थिति और उमस भरे विवादपूर्ण वातावरण में भाव का स्वर बन कर रहस्यवाद आ जाता है। रहस्यवाद के अध्येता की सबसे बड़ी कठिनाई है कि इसकी कोई समुचित सर्वमान्य और सामान्य परिभाषा स्वीकृति नहीं एवं इसके प्रयोग में भी विविध अव्यवस्था रही है।[4] इसकी विभिन्न धारणाओं के आधार पर इसकी व्याख्या और विवेचना होती रही है। दर्शन (तत्त्ववाद) मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र दोनों के लिए रहस्यवाद का पूर्ण रहस्योद्घाटन करना सम्भव नहीं हो सका है। विचारक-विशेष ने अपनी धारणा के अनुरूप इसका स्वरूप लिया है। रहस्यवाद के भिन्न-भिन्न स्वरूपों पर वाउकेस ने विचार किया है और उक्त लेखक के अनुसार रहस्यवाद के सम्बन्ध का पाँच स्पष्ट धारणाएँ हैं। आचार्य शुक्लजी की धारणा के मूल में उन्नीसवीं शताब्दी की काव्य-धारा का यूरोपीय पुनरुत्थान या जिसमें सर्ववाद[5] का बहुत कुछ आभास था[6] और रहस्यवाद की धारा विदेशी थी अतः निगुण भक्ति की बानी वैसी वेश में विदेशी वस्तु थी जो मुसलमानी अमलदारी में प्रचलित हुई।[7] प्रसादजी इसे सोलहों आना भारतीय मानते हैं तथा इसे विदेशी वस्तु मानने को हास्यास्पद—'रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना है और इसीलिए भारत के लिए बाहर की वस्तु है। किन्तु भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपटामिया से आया है यह कहना वैसा ही है जैसा वेदों को सुमेरियन डाकुमेण्ट'

---

१ रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है।
—ग्राम क ग्रं की भूमिका पृ ५४।

२ रहस्यवादी की ईश्वर-समागमवाली दशा चित्त-विक्षेप के रूप में मानी जाती है—जैसे किसी भूत या देवता के सिर आने पर होती है। —शुक्लजी सूरदास पृ ८१।

३ आचार्य शुक्लजी सूरदास पृ १।

४ द्रष्टव्य—हॉकिंग डब्ल्यू आर टाइप्स ऑव फिलासफी पृ १८।
—मोरिस एडिसन लाइट इन मिस्टिसिज्म पृ १।
—प्राट रेलिजस कॉन्शसनेस पृ ३३७।
—वाउकेस एन इण्ट्रोडक्शन टू दि साइकालॉजी ऑव रेलिजन पृ २२५।

५ पैन्थिज्म के लिए सर्ववाद का प्रयोग अधिक उपयुक्त नहीं सर्वात्मवाद में आत्म-तत्त्व की ही प्रतिष्ठा और प्रधानता है। सर्वब्रह्मवाद अथवा ब्रह्मोत्मवाद अधिक उपयुक्त हो सकते हैं।

६ का ग्रं (भूमिका) पृ २७।

७ का र पृ १७।

सिद्ध करने का प्रयास।[1] सर्ववाद की झलक, भावोन्माद की विक्षेपावस्था एव वर्णाश्रमाश्रित नैतिकता के अभाव के साथ सूफी-मत का प्रभाव आचार्य शुक्लजी ने मध्यकालीन सन्तो पर देखा है और आधुनिक हिन्दी रहस्यवादी काव्य पर यूरोपीय एव उसके बगला सस्करण का। रहस्य-भावना ('वाद' नही) किसी एक देश, काल, जाति अथवा धर्म-सम्प्रदाय की सीमा मे आवद्ध नही, यह सर्वकालीन एव सार्वभौम भावना है। एक-दूसरे पर पडनेवाले प्रभाव को दिखलाने के लिए समसामयिकता एव विचारैक्य और सामान्य धारणाओ को दिखलाना ही पर्याप्त नही, उनके पारस्परिक सम्पर्क की स्थापना करनी होगी। यह सदा स्मरण रखने योग्य है कि तेरहवी, चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दियो के यूरोप मे रहस्यवादी सन्तो की स्पष्ट परम्परा है। एखार्ट, टौलर, रुजब्रौक, टाम्स ए केम्पिस, रिचर्ड रौल, जुलियाना ऑफ नारविच आदि रहस्यवादी इन्ही शताब्दियो मे हुए है। इस्लाम के इतिहास मे भी सूफी-साधना के लिए इन शताब्दियो का मुख्य स्थान है। इन शताब्दियो में भी वैसी धर्म-साधना का स्पष्ट प्रभाव दीख पडता है जिसे रहस्यानुभूति की सज्ञा मिली है। ऐसी अवस्था मे रहस्यानुभूति के भारतीय स्वरूप को मात्र विदेशी प्रभावोत्पन्न मानना समीचीन नही होगा।

आस्तिक्यवाद-सर्वब्रह्मैक्यवाद, पारलौकिक विद्या, गुप्त मत, निगूढ ज्ञान, भेद, धार्मिक सस्थाओ और उनके आश्रित लोकाचार के विरोध, दैवी पागलपन एव भावावेश, मादक-द्रव्य-सेवन-जन्य अथवा भूत-प्रेत के प्रभाव से प्राप्त आवेश का अन्तर्भाव रहस्यवाद में हुआ है और इन अर्थों में इसके प्रयोग मिलते है। विलियम जेम्स ने मादकोत्तेजना (Drunken Consc-ousness) और रहस्यात्मक चेतना मे समानता देखी है।[2] कुछ आधुनिक विचारक ईश्वर के प्रति प्रेम एव वैराग्यमयी धर्म-निष्ठा की अतिवादी धारणा को रहस्यवाद का मूल मानते हैं।[3]

धर्म-साधना में गोप्य और गुह्य धारणा का उद्गम नवीन नही। दो विभिन्न धर्म-साधनाओ के सघर्ष के कारण विजित धर्म-साधना के प्रचार में गोप्य और गुह्य धारणा आती है। आर्य-आर्येतर सघर्ष के कारण आर्य-धारणाओ मे स्पष्टता आई, दोनो के सगम और समन्वय से सामजस्यपूर्ण धर्म-साधना का निकास हुआ किन्तु जिस दल ने आर्य-आधिपत्य स्वीकार करने के बदले दुगम वनो और दुर्लघ्य पर्वतो में विहार करना ही श्रेयस्कर समझा, उसने अपनी धर्म-साधना की रक्षा के प्रयास किए। आर्य-आधिपत्य स्वीकार कर आर्यो की वस्तियो में बसनेवाली आर्येतर जातियो के सदस्य गुप्त रीति से गुप्त स्थानो मे अपनी धर्म-साधना के अनुरूप अनुष्ठानादि करते रहे होगे, कारण आर्य-सभ्यता की स्थापना सहसा नही हो गई थी अत क्रमश घुलती-मिलती आर्येतर धर्म-भावना अपने स्वतन्त्र स्वरूप की रक्षा आर्य-सभ्यता और धर्म-निष्ठा की स्थापना के पश्चात् परोक्ष रूप से ही करने मे समर्थ हुई होगी। अथर्ववेदीय मन्त्रो, औषधो, तरह-तरह के टोटको, जन्तर-मन्तर द्वारा इस लोक में सर्वविध दु ख-दारिद्र्य-मोचन, विघ्न-बाधा एव रोग-शोक से त्राण प्राप्त करने की चेष्टा मे

---

१ द्रष्टव्य—काव्य और कला, पृ० १९-२०।

२ वि० जे०, दि० वेराइटीज ऑफ रेलिजस एक्सपिरियन्स, पृ० ३७७।

३ इज द्वारा उद्धृत हारनैक का मत।

गुह्यात्मक प्रवृत्ति के दर्शन किए जा सकते हैं। अथर्ववेद में इनका प्राधान्य है।[1] गोप्य और गुह्य होती हुई साधनाएँ क्रमशः ब्राह्मणों-आर्यों द्वारा स्वीकृत होती रहीं। अथर्ववेद की तन्त्रमूलक साधना ऋग्वेद काल से यदि प्राचीन नहीं तो उसके समकालीन तो अवश्य है। कर्म-काण्डी यज्ञ-प्रभावित साधना के स्पष्टीकरण और विरोध में जिस ज्ञान-काण्ड का आश्रय लिया गया उसमें गोपनीयता और गुह्यता दोनों धारणाओं का समावेश है। उपनिषद् (उप+नि+षद्+क्विप्) का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है किन्तु इसका व्युत्पत्त्यर्थ है गुरु के समीप उपविष्ट होकर श्रद्धापूर्वक ज्ञान-प्राप्ति।[2] उपनिषद् का अर्थ रहस्य रहा है। कामसूत्र में औपनिषदिक अध्याय है। वैद्यक और ज्योतिष-ग्रन्थों में भी ऐसे प्रकरण प्राप्त होते हैं। उपनिषद् की गणना गोप्य विद्याओं में होती थी और शिष्य की योग्यता-परीक्षा द्वारा अधिकार निर्णय कर गुरु योग्य एवं अधिकारी शिष्य अथवा पुत्र को उपदिष्ट करता था। श्वेताश्वतर ने वेदान्त (उपनिषद्) को परम गुह्य कहा है और विधान किया है कि पुत्र और शिष्य के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति तथा चंचलवृत्ति होने पर पुत्र-शिष्य को भी यह ज्ञान नहीं देना चाहिए।[3] अनधिकारी को उपदिष्ट करने पर बृहदारण्यक और मैत्रायणी[4] में प्रतिबन्ध है। साधन और साधना की गोपनीयता एवं गुह्यता तत्त्व-ज्ञान की सीमा में प्रवेश पा गई। कृष्ण द्वारा उपदिष्ट गीता-ज्ञान को संजय ने परम गुह्य-रहस्य कहा है। कृष्ण ने भी इसे गुह्य से गुह्यतर ज्ञान कहा है।[5] रामानुज भाष्य में सम्पूर्ण गुह्य तत्त्वों में भक्तियोग को ही श्रेष्ठ माना गया है।[6] भक्ति-योग को गुह्य स्वीकार करने का अर्थ साधना-पद्धति और साधन की गुह्यता हुई। तत्पश्चात् गुरु और साधन गुह्य बन गए। योग-मार्ग ने साधन की गुह्यता-सम्बन्धी धारणाओं को मतवादी मान्यता दी फलस्वरूप उनकी साधना-पद्धति गुह्य रही। 'जो तुमसे राज्य माँगे उसे उसकी कामना-पूर्ति के लिए राज्य अथवा धन दे सकते हो परन्तु एक सौ आठ उपनिषदों को जिस-किसी को देना ठीक नहीं। निश्चयपूर्वक जो नास्तिक है, कृतघ्न है, दुराचारी है मेरी भक्ति से मुँह मोड़े हुए है तथा शास्त्ररूप गड्ढों में गिर कर मोहित हो रहे हैं अर्थात् जो केवल शास्त्र-चर्चा में ही लगे हुए हैं उन्हें तो कभी नहीं देना चाहिए।[7]

गौतम बुद्ध ने आचार प्रधान और वैराग्य-प्रधान जीवन के लिए आध्यात्मिक प्रश्नों को अव्यवहार्य माना था और निर्वाण को परम काम्य। बुद्ध की यह मीमांसा आगे चल कर रहस्यवाद का कारण बनी। उनका शून्यवाद *नागार्जुनीय विकसित शून्य भावाभाव विवर्जित रूप*

---

१ वैदिक साहित्य रा. गो. त्रि. पृ. ११६ और विंटरनित्स हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर (भाग १) पृ. १२।
२ वेदान्तदर्शन—बद्रीनाथ शास्त्री पृ. ४४।
३ वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ —श्वे. ६।२२।
४ बृह. ६।३।१२ और मैत्रेयी ६।२९। ५ गीता अ. १८ श्लो. ७५ और ६३।
६ सर्वेषु एतेषु गुह्येषु भक्तियोगस्य श्रेष्ठत्वात् गुह्यतमम्। —गीता प्रेस पृ. ५९९।
७ मुक्तिकोपनिषद् (गीता प्रेस) पृ. ६२४।

गया। रसेश्वराचार्य नागार्जुन की रासायनिक प्रक्रियाओ एव औषधो का प्रभाव भी रहस्यात्मक प्रवृत्ति पर पडा। नागार्जुन की रस-पद्धति अथर्ववेदीय विकास की परम्परा मे जान पडती है। रासायनी रहस्यवाद का प्रभाव जडी-बूटियो के प्रयोग, धातु-परिवर्त्तन, आदि के रूप मे योगियो पर पडा। श्वेताश्वर की योग-प्रक्रिया शिव से सम्बद्ध है जिसकी चर्चा ऋग्वेद से बहुत ही अधिक अथर्ववेद में हुई है। नाथ-सम्प्रदायान्तर्गत शैवोपासना की पद्धति से रस-सिद्धियो का सयोग इस दिशा में पर्याप्त सकेतपूर्ण है। तान्त्रिक अभियान ने भारतीय धर्म-साधना को एक समय आक्रान्त-सा कर लिया था तथा बौद्ध, पौराणिक, वैष्णव आदि धर्मों में इसकी मान्यता प्रतिष्ठित हुई। तन्त्र-मन्त्र, भैरवी चक्र की प्रतिष्ठा के साथ गुह्य समाज की स्थापना द्वारा लोक-बाह्य यौन-स्वातन्त्र्य के आनन्द की लिप्सा बढी। निम्नाधिकारी साधको में इन साधनाओ ने अत्यन्त गर्हित रूप धारण कर लिया था, इसे कबीर ने स्पष्ट रूप से लक्षित किया था।[1] तन्त्र-मत मे यन्त्र-मन्त्र, रहस्योन्मुखता, प्रतीकोपासना की प्रतिष्ठा रही।[2] महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने सिद्ध-काव्य में सहजयान और रहस्यवाद ही पाया है। रहस्यवाद से उनका स्पष्ट तात्पर्य क्या है, यह स्पष्ट नही होता किन्तु रूढि-पाखण्ड-विरोध, अलख-निरजन का राग 'स्त्री-रत्न दुष्कुलादपि' की धारणा, सहज-सुन्दरी का आग्रह, गुरु-माहात्म्य की हठधर्मी आदि को उन्होने रहस्यवाद के अन्तर्गत माना है।[3] डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची के अनुसार दोहा-कोष मे अभिनव रहस्यवाद के दर्शन होते है।[4] इसके विकास की कडी नाथ-सम्प्रदाय में देखी जा सकती है। गोरखनाथ की योग-पद्धति की रहस्यवाद के अन्तर्गत गणना, आत्मस्थ 'शिवत्व' की प्राप्ति, यौगिक क्रिया की गुह्यता, गुरु-माहात्म्य के अतिवादी आग्रह के कारण होती रही है। समरस की प्राप्ति इसका उद्देश्य और यौगिक क्रियाएँ इसका साधन हैं। साधना की एकनिष्ठता एव वैयक्तिक प्रयास भी रहस्यवाद के अन्तर्गत आता रहा है। सूफी सम्प्रदाय की साधना नितान्त ऐकान्तिक नही थी। इस प्रकार रहस्यवाद में 'हाल' की अवस्था, भावावेश में परम प्रिय की उपलब्धि प्रतिष्ठित रहती है और उस मिलन के क्षणो की प्रतीकात्मक व्यजना सूफी कवियो का उद्देश्य। आनन्दोपलब्धि और रहस्यानुभूति इस प्रकार एक सीमा-क्षेत्र में आ जाती है।

वैधी साधना-पद्धति, लोक-धर्म की रूढिवादिता, इनकी अतिवादी व्यापक मान्यता और आग्रह के कारण सास्थिक (Institutional) धर्म की कट्टरता के विरुद्ध जो आन्दोलन हुए है, उनमे भी रहस्यवाद की गन्ध लोगो ने पाई है। ऐसी परिस्थिति में स्वतन्त्र विचारको की धारणा वैयक्तिक बन कर गुह्य और गोपनीय तथा सघ-बद्ध होकर विरोध का रूप धारण करती है। इस्लामी नैतिक भावना का विरोध पौराणिक धर्म और तन्त्रमत की गुह्यता से अधिक हुआ था यद्यपि नाथ-सम्प्रदायान्तर्गत योग-स्वरूप के कुछ अश को सूफियो ने ग्रहण किया। सूफी-मत के दो विभाग हैं बा-सरा (वैधी) और बे-सरा (परम्परा-विरोधी एव

---

१ स० क०, रागु आसा ५, पृ० ९५ और क० ग्र०, रामकली २४८।

२ इ० ए० पेन०, द शाक्ताज, पृ० ५१।

३ हि० का० धा० (भूमिका), पृ० ४७-४८।

४ ज० डि० ले० (भूमिका), पृ० २।

स्वतन्त्र) इसी प्रकार ईसाई मत में रहस्यवादियों के एक दल को अपना उन्नायक माना है और कुछ को विरोधी भी। सभी सम्प्रदायों में कुछ लोग ऐसे अवश्य हुए हैं जिन्हें तत्कालीन धर्म-रूढ़ियाँ आत्म-विकास के मार्ग की बन्धन मालूम पड़ीं। यह विरोध गौतम बुद्ध से लेकर गांधी तक चलता रहा है। सब तक सम्प्रदाय की कवियित्रियों ऐसे विरोध का बीज अपने अन्तर में छिपाए रहती है। सिद्ध कवियों में यह विरोध स्पष्ट है। उत्तर मध्यकाल में कबीर की वाणी इस विषय में सर्वाधिक उग्रतम स्पष्ट और तीव्र रही। सन्त-कवियों के नाम पर सम्प्रदायों की स्थापना उनके पश्चात् हुई किन्तु वे साम्प्रदायिक नहीं थे।

रहस्य का प्रयोग अंगरेजी के मिसटिरियस अर्थ गूढ़ता-गहनता के अर्थ में होता रहा है, जिसमें विलक्षणता अस्पष्टता अज्ञेयता एवं जटिलता की भावनाओं का स्पष्ट सन्निवेश है। ब्रह्मविद्या अत्यन्त कठिन विलक्षण स्वतन्त्र और दुर्बोध्य है इतनी दुर्बोध्य कि परीक्षित और निष्ठावान् अधिकारी ही—जिसकी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं इसको प्राप्ति कर सकता है। उपनिषदों में रहस्य के इस स्वरूप का भी स्पष्ट संकेत है, जीवन के रहस्य गहन है ब्रह्म अत्यन्त गहन है। इसका स्पष्ट रूप तत्त्ववादी है। विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों की अन्तर्गत कुंठा की प्रतिक्रिया के कारण आपत्ति रहस्यवाद का स्वरूप साम्प्रदायिक रहा है और इसमें अपनी धर्म-साधना के पक्ष को व्यापकत्व देने का स्पष्ट प्रयास भी देखा जा सकता है। इरलैंड ने रहस्यवाद को कैथोलिक धर्म-निष्ठ और आचरित माना है।[1] आचार्य शुक्ल ने इसके साम्प्रदायिक स्वरूप पर अधिक आग्रह प्रदर्शित किया है[2] यद्यपि भावात्मक एवं स्वाभाविक रहस्यवाद से अपना मतविरोध की घोषणा की है। अधिकांश अवस्थाओं में रहस्यवादी पौरोहित्य के माध्यम द्वारा मुक्ति की प्राप्ति में असमर्थता वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति में पुस्तकीय विद्या की अक्षमता एवं अन्तःस्थ भावना के अतिरिक्त किसी अन्य बाह्य प्रमाण की श्रेष्ठता को स्वीकार करता रहा है। सन्त-मत ने पुरोहित मुल्ला वेद-कुरान बाह्य पूजोपासना-निमाज व्रत-रोजा को आत्म-प्रतीति कराने में अक्षम कहा है। बौद्ध-धर्म ने सात्त्विक धर्म का विरोध है और कुछ लोगों ने विरोध की इस समता के कारण भी रहस्यवाद की व्याप्ति इसमें देखी है।

वैराग्य-प्रधान जीवन के लिए भी रहस्यवादिता स्वीकृत होती रही है बौद्ध धर्म विराग प्रधान था शंकर ने गृह-त्यागी वैरागियों का संगठन किया नाथों ने इस वैराग्य को परम साधन माना वैष्णवाचार्य विरागमय जीवन के पक्षपाती थे। सूफ़ी-सम्प्रदाय प्रारम्भ में इसी प्रकार साधारण जीवन व्यतीत करनेवालों का दल था और ईसाई रहस्यवादियों में अनेक पुरोहित-धर्म (Priestly Order) के थे। परम-प्रिय से राग का अर्थ संसार से विराग था। प्रिय के राग की मात्रा के अनुरूप संसार के विराग की मात्रा निर्धारित हुई एवं पीछे चल कर तो संसार से विराग की मात्रा परम-प्रिय के राग का मापदण्ड बनने लगी। परमात्मा के अपरोक्ष दर्शन के पश्चात् संसार में और कुछ काम्य नहीं रहता और यहाँ का जीवन फीका फीका लगता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार भिन्न-भिन्न रहस्यवादी कवियों की दृष्टि में

---

१ इंज द्वारा 'मिस्टिसिज्म इन रेलिजन' के २१वें पृष्ठ पर उद्धृत।
२ का र पृ ११५।

थोड़ा-बहुत भेद रहता है, कुछ कवि 'लोकवाद' भी लिए रहते है, पर यह भी उतना ही ठीक है कि सब इस दृश्य और गोचर जगत् से परे एक अलौकिक जगत् की ओर झांकने का दावा करते हैं। रहस्यवाद, लोकजीवन और मगल भावना पर विचार करने का अवसर हमें अन्यत्र प्राप्त होगा किन्तु यह निश्चित है कि इस दृष्टि से सन्त-काव्य रहस्यवादी नही और रहस्यवादी केवल अलौकिक जगत् की ओर झांकने का दावा ही नही करता, बल्कि रहस्यानुभूति द्वारा प्राप्त आनन्द और सत्य के आलोक को प्रत्येक मानव के लिए उन्मुक्त करने का इच्छुक रहता है।

कुछ विद्वानो ने योग के ध्यान, समाधि, एकाग्रता और मन प्रसाद पूर्ण स्थिति को ईसाई रहस्यवादियो के भावोन्माद विक्षेपपूर्ण आचरण एव आवेश का समकक्ष माना है, अत योग में भी रहस्यवाद मान लिया गया। ऐकान्तिक साधना और आत्मस्थ प्रिय के दर्शन की चर्चा इस निष्कर्ष पर पहुँचने मे अधिक सहायक बनी। योग की प्रणाली को कुछ पाश्चात्य विद्वान् झूठा रहस्यवाद और शुक्ल जी साधनात्मक रहस्यवाद मानते हैं। योग-परक अन्तस्साधना-प्रधान वाणियो के कारण भी इन सन्तो को रहस्यवादी मान लिया गया। सन्तो ने रहस्यवादी चित्त-विक्षेप, भावोन्माद एव प्रेतात्मा के आवेश का स्वरूप खड़ा नही किया और न उन्होने इन्हें तत्त्वज्ञान का साधन माना। अनुभूति के लिए मध्यस्थता की अपेक्षा उन्होने अवश्य अस्वीकृत की है और अन्तस्साधना के लिए इनका मोह भी स्पष्ट है, जिसकी सामाजिक भूमिका है। गुरु मध्यस्थ नही बल्कि आत्म-ज्योति एव अन्तस्थ शक्ति का प्रकाशक मात्र है।

भक्ति धर्म के हृदय के रूप मे स्वीकृत है।[1] आर० एन० जोन्स ने रहस्यवाद को धर्म की विदग्ध, गाढ और जीवन्त स्थिति मानी है।[2] एक ओर भारतीय भक्ति-परम्परा को रहस्यवाद से मुक्त माना गया है दूसरी ओर गीता के भक्तिवाद, सगुणोपासना आदि की गणना अनेकानेक विचारको ने रहस्यवाद के अन्तर्गत की है। स्वय वैष्णव-ग्रन्थो में भक्ति-रस को रहस्यमय कहा गया है—

निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादय रस।
रहस्यत्वाच्च सक्षिप्य विततागोऽपि लिख्यते ॥[3]

यह दृश्यमान् जगत् वैचित्र्यपूर्ण, अज्ञात शक्तियो का रहस्यमय केन्द्र है। अज्ञात शक्तियाँ इसे परिचालित करती हैं, उन शक्तियो का वास्तविक और पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकना सम्भव नही। वे मन-वाणी के परम अगोचर हैं, कोई विरला ही रहस्य-भेद करने में समर्थ हो सकता है। इस रहस्य को रहस्यात्मकता को स्पष्ट करनेवाला भी रहस्यवादी बना दिया गया। जीवन और जगत् के रहस्यो को समझने का प्रयास सर्वत्र हुआ है, जडात्मक दर्शन के अतिरिक्त सभी जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह आध्यात्मिक एव अध्यात्मवाद-परक है। अत केवल भारत अध्यात्मवादी नही अपितु सर्वत्र अध्यात्म का प्रचार हुआ। अगरेजी के 'स्प्रिच्युअल' के अनुवाद-स्वरूप होने के कारण कुछ विलक्षण कथन प्राप्त होते रहे हैं।

---

१ आचार्य शुक्ल सूरदास, पृ० ९३। २ स्टीज इन मिस्टिकल रेलिजन।
३. भक्ति रसामृत, द्विवेदी द्वारा 'विचार और वितर्क' मे १२०वें पृष्ठ पर उद्धृत।

इव ने 'क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म' नामक ग्रन्थ में रहस्यवाद के चार उपकरणों का उल्लेख किया है—गुह्यज्ञान (Estoric knowledge) शान्तिवाद (Quietism) आत्म निरीक्षण (Introspection) एवं भौतिक वस्तुओं का तिरस्कारपूर्ण निषेध (Contempt and neglect of material things) विलियम जेम्स ने अवर्णनीयता प्रमाणात्मकता क्षणिकता एवं निरपेक्षत्व को रहस्यानुभूति का आवश्यक तत्त्व माना है। इस प्रकार लेखक-विशेष की धारणा पूर्वाग्रह और ऐतिहासिक परम्परा के कारण रहस्यवाद के विभिन्न और विरोधी स्वरूपों को परिलक्षित किया जाता रहा है।

परिभाषा और स्वरूप

रहस्यवाद सम्बन्धी धारणाओं की अव्यवस्थित स्थिति की चर्चा की जा चुकी है जिसके फलस्वरूप परिभाषाओं एवं स्वरूप विश्लेषण का समुचित आधार अनिश्चित हो-सा है। प्रसाद जी के अनुसार 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।'[1] वे इस धारा को पूर्णतया भारतीय मानते हैं और इसके आगमन-पथ को कथित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से वादसवारी ढाँचे के खोखलेपन के कारण उत्पन्न होनेवाली झुंझलाहट को सेमेटिक प्रभाव मानने का कारण समझते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अनुभूति संकल्पात्मक—विकल्पात्मक के विरुद्ध अभिहित पूर्ण ईकाईपन है। प्रसाद जी ने अन्यत्र लिखा है— 'काव्य आत्मा आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं।'[2] इस प्रकार समस्त काव्यधारा ही रहस्यवाद हो गई। इसके विरुद्ध 'भारतीय काव्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति' आचार्य शुक्ल के अनुसार रहस्य की ओर नहीं रही है।[3] जहाँ प्रसादजी ने अपनी परिभाषा को इतना व्यापक बना रखा है कि सम्पूर्ण भावात्मक काव्य रहस्यवाद के अन्तर्गत समाहित हो जाता है वहाँ शुक्ल जी ने इतना संकुचित कि भावात्मक काव्य उसकी सीमा में आ नहीं सकेगा। शुक्लजी के अनुसार 'कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है'[4] और रहस्यवाद की सबसे पहली बात है अज्ञात निर्विशेष परम सत्ता के साथ समागम और संलाप सीधे जिसके द्वारा भक्त या साधक को लोकोत्तर या पारमार्थिक ज्ञान की उपलब्धि होती है।[5] व्यक्त और अव्यक्त के पारिभाषिक शब्दों द्वारा समस्या का हल उपस्थित नहीं किया जा सकता। जगत् यदि अव्यक्त की व्यक्त सत्ता है तो क्या वह पूर्णतया अज्ञात रह सका? किन्तु क्या इसी से वह पूर्ण व्यक्त भी हो सका? न वह पूर्णतया व्यक्त है और न सर्वतोभावेन अव्यक्त वह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। इसीलिए तो सन्त उसे द्वन्द्वातीत अद्वैताद्वैत विवर्जित अनिर्वचनीय कहता है। सम्प्रदायवादी व्यक्त जगत् (जीव मनुष्य) और अव्यक्त ब्रह्म-तत्त्व का अन्तर मान कर चलता है,

---

१ काव्य और कला पृ १९। २ वही पृ ११।
३ का र पृ १४। ४ ना र पृ ११।
५ सूरदास पृ १७८।

नहीं तो आदर्शवादी ढाँचे में शिथिलता आ जाती है। भाववादी (आइडियलिस्ट) भौतिकता को भाव की अभिव्यक्ति मात्र मानता है और वस्तुवादी (मेटेरियलिस्ट) भाव को वस्तु में अन्तर्भूत। सन्त भौतिकता को भावात्मक स्वरूप से विच्छिन्न भी नही मानता और वस्तु को भाव का उत्पादक भी नही। उसके अनुसार भावात्मकता के प्रसार मे भाव भी है, अभाव भी है, पूर्ण भाव भी नही है और सर्वांगतया अभाव भी नही, अत जगत् और ब्रह्म दोनो भावाभाव विवर्जित हैं। जिसे अव्यक्त कहा जाता है वह पूर्णतया अव्यक्त नही हो सकता, साधारणतया अगोचर भले हो। मात्र व्यक्त ही तो यथार्थ नही। वर्मा के अनुसार रहस्यवाद आत्मा की अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है।[1] इस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का वैशिष्टच इस परिभाषा की प्रेरणा है। मनोविज्ञान इस धारणा को स्वीकार नही करता, वह रहस्यात्मक अनुभूति को उन्माद, आत्मोपक्षेप (आटो सजेशन), विभिन्न ग्रन्थियो की प्रतिक्रिया आदि मानता है। अलौकिक शक्ति से अभिन्नता स्थापित हो जाने का यह अर्थ नही कि वस्तुत दोनो में तात्त्विक एकता है। इस प्रकार परम-तत्त्व और आत्म-तत्त्व के अभिन्नत्व की स्थिति एव तज्जन्य उपलब्ध आत्मानन्द की अभिव्यक्ति तथा दोनो के सम्बन्ध की सीमा का अतिक्रमण यहाँ स्वीकृत हो जाता है। आचार्य शुक्ल जहाँ तत्त्ववाद के स्वरूप को अधिकाशतया रहस्यवाद मानते है, वहाँ प्रसादजी सकल्पात्मक अनुभूति को और वर्मा उनके प्रकाशन को। प्रसादजी की सकल्पात्मक अनुभूति—सभी अनुभूतियाँ सकल्पात्मक होती है—रहस्य-धारा है किन्तु वर्मा रहस्यानुभूति को अन्य अनुभूतियो से विशिष्ट मानते है। दासगुप्त के लिए रहस्यवाद मूलतया एक विश्वास अथवा दृष्टिकोण है यद्यपि इसे वे ज्ञानात्मक सिद्धान्त स्वीकार नही करते।[2] रानाडे प्रातिभज्ञानवाद अथवा प्रज्ञावाद से रहस्यवाद को अभिन्न समझते हैं, कारण प्रातिभज्ञान की प्रक्रिया उनके अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के अन्य साधनो में सर्वश्रेष्ठ[3] है एव रहस्यवाद चरम यथार्थ की सहज बोध-गम्य प्रतीति।[4] रहस्यवाद केवल विश्वास अथवा धारणा नही और यह प्रातिभज्ञानवाद भी नहीं। प्रातिभज्ञानवादी तर्क को ज्ञानोपलब्धि में अक्षम मान कर प्रातिभज्ञान को ही ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र साधन मानता है अत यह तत्त्ववाद नही हो सकता। प्रातिभज्ञानवादी ज्ञान-प्राप्ति का इसे चरम साधन मानता है और मर्मी सन्त का दावा है कि उसने चरम सत्य का आन्तरिक साक्षात्कार किया है। रहस्यवाद ज्ञान का साधन अथवा माध्यम ही नही, वह विश्वास, आस्था, दार्शनिक सिद्धान्त, जीवन-प्रणाली और नैतिक-धारणा-सम्बद्ध भी है। रहस्यवाद में तत्त्ववाद भी है और उसकी प्राप्ति का साधन भी एव तत्त्व और तत्त्वज्ञान की अभिन्नता और एकता ही उसका निष्पन्न स्वरूप। प्रिंगल पैटिसन ने परम तत्त्व के वास्तविक ससर्ग द्वारा आनन्दोपलब्धि की चेष्टा को रहस्यवाद कहा है। इस चेष्टा में निश्चेष्ट स्थिति और उपलब्धि का सकेत नही, यह चेष्टा आत्मगत साधना का निर्देश भी नही करती जो रहस्यवाद की निजी विशेषता समझी जाती है। जिस ससर्ग की वास्तविकता पैटिसन ने मानी है, आज की वैज्ञानिक बुद्धि और मनोवैज्ञानिक चेतना उसे स्वीकृत नहीं करती।

---

१ कबीर का रहस्यवाद, पृ० ७। २ हिन्दू मिस्टिसिज्म, (भूमिका), पृ० ९।
३ क० स० औ० फि०, पृ० २७१। ४, वही, पृ० ३२६।

निकोल्सन ने सर्वमान्य धारणा-सम्बन्धी कठिनाइयों के मूल में धर्म जाति मनोवृत्ति की विभिन्नताओं को माना है और उसके अनुसार सभी रहस्यानुभूतियाँ एक बिन्दु पर मिलती हैं किन्तु रहस्यवादी के धर्म जाति और मनोवृत्ति की विभिन्नता के कारण वह बिन्दु अत्यन्त विभिन्न स्वरूप ग्रहण करता है अतः एक केन्द्राभिमुखी रेखाएँ प्रायः अनन्त स्वरूपिणी हैं।[1] सूफी रहस्यवाद का मूल है प्रेम-साधना और भावोन्माद-भावावेश रहस्योन्माद की संज्ञा जिसके लिए अधिक उपयुक्त होगी। सूफी-साधना की प्रेमोपासना वैष्णवीय माधुर्य भाव के साथ तुलनीय है। वैज्ञानिक युग की आस्था से इसका अ-विरोध सम्पादित करने का प्रयास [illegible] एविलिन ने किया। इसके अनुसार जगत् के एकत्व के साथ रागात्मक सम्बन्ध के अन्वेषण की कला की संज्ञा रहस्यवाद है।[2] इस परिभाषा में भी साधन-कला की चर्चा है किन्तु उस एकत्व की उपलब्धि से प्राप्त होनेवाले आनन्द की ओर संकेत नहीं है। रहस्यवादी की निश्चित धारणा-आस्था रहस्य को मान्य है जिसे वह अन्तर्दृष्टि के क्षणों में अपरिस्फुटित अनुभूति की ध्यान-धारणा द्वारा प्राप्त करता है एवं रहस्यात्मक अन्तर्दृष्टि का प्रारंभ रहस्योद्घाटन सबद्ध हीन पुरुष ज्ञान की सहसा निश्चित प्राप्ति के साथ होती है।[3]

रहस्यवाद के विभिन्न प्रकारों की चर्चा होती रही है—मौलिक सैद्धान्तिक प्रकृति सम्बन्धी मधुर सौन्दर्यपरक और वात्सल्य रहस्यवाद। इनके अतिरिक्त नैतिक साधनात्मक भावात्मक और प्रतीकात्मक रहस्यवाद की कोटियों का भी उल्लेख किया जाता है। वस्तुतः ये रहस्यवाद के भेद और प्रकार नहीं बल्कि उसके स्वरूप के विभिन्न अंग हैं जो अपने आप में आवश्यक होते हुए भी प्रकृत नहीं। परिभाषाओं के विस्तृत विवेचन के द्वारा इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि विचारक-विशेष ने अंग-विशेष की विशिष्टता को ध्यान में रख कर अपनी परिभाषा दी है जिसमें अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोष है। इन दृष्टियों की चार कोटियाँ हैं—तत्त्ववाद साधन-साधना अथवा परम-तत्त्व की उपलब्धि का साधन नैतिक जीवन का स्वरूप जिसमें अनुभूति प्राप्ति की सम्भावना रहती है और उसको प्राप्ति के उपरान्त आनन्द एवं उसकी अभिव्यक्ति। वैयक्तिक मोह और पूर्वग्रह के कारण इनमें से किसी एक पहलू को लेखक-विचारक ने प्रकृत-वस्तु का यथार्थ स्वरूप स्वीकार किया है।

तत्त्ववाद

आचार्य शुक्ल रहस्यवाद को अद्वैतवाद से भिन्न नहीं मानते और साथ भारतीय रहस्यवाद की विशेषता सर्वात्मवाद-मूलक होने में मानते हैं जिसे उन्होंने भारतीयों की बड़ी जिज्ञासा का फल माना है। यही रहस्यवाद उपनिषद् और गीता में उन्हें मिला।[4] आचार्य शुक्ल के इस मत पर विलियम जेम्स का प्रभाव है जिसके अनुसार इतिहास द्वारा सिद्ध होता है कि रहस्य-मूलक स्थिति अद्वैतात्मक होती है।[5] इंज ने इस अद्वैतात्मकता का वास्तविक

---

१ दि मिस्टिक्स ऑफ़ इस्लाम पृ० २।   २ दि [illegible] आफ़ [illegible] पृ० १८२।
३ इंज द्वारा मिस्टिसिज्म इन रिलिजन के २४वें पृष्ठ पर उद्धृत।
४ जा० ग्रं० (भूमिका) पृ० ५४।   ५. मिस्टिसिज्म (१९ ७) पृ० १५१।

स्पष्टीकरण मानन (यहाँ भाव से तात्पर्य है) और वस्तु के अद्वैताभाव के रूप में किया है। किन्तु रहस्यवाद के लिए अद्वैतवाद आवश्यक नही। ईसाई रहस्यवाद मे ईसा के सगुणत्व की स्थापना हुई थी। ईसाई भक्तिनो का माधुर्य-रस किसी अव्यक्त के प्रति नही बल्कि ईसा के व्यक्त रूप अथवा प्रतीक के प्रति था, जो तात्त्विक रूप में सगुणोपासना ही है। रहस्यवाद का अद्वैतवादी आधार है किन्तु वही उनका स्वरूप नही। कृष्ण-भक्ति-शाखा में यह प्रवृत्ति देखी गई थी, यद्यपि समष्टि रूप में वैष्णवो की सगुणोपासना रहस्यवाद के अन्तर्गत नही कही जा सकती, पर श्रीमद्भागवत के उपरान्त कृष्ण-भक्ति को जो रूप प्राप्त हुआ उसमें रहस्य-भावना की गुंजाइश हुई। भक्तो की दृष्टि मे जब धीरे-धीरे श्रीकृष्ण का लोक-सग्रही रूप हटने लगा और वे प्रेम-मूर्त्ति मात्र रह गये तब उनकी भावना ऐकान्तिक हो चली।"[1] जैसे विचारक की कठिनाई है कि सिद्धान्तत अद्वैतवाद की दार्शनिकता स्वीकार कर सन्तो ने उपसना के क्षेत्र मे सगुणत्व का आरोप कसे किया ? अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के विरोध को ज्ञान और भक्ति की सीमा बनाने के कारण अधिक विरोध दीख पडा। वस्तुत अद्वैतवाद अथवा किसी वाद की परिक्रमा इन सन्तो के द्वारा नही हुई है। एक ओर रविदास "एक अनेकानेक एक हरि, कहो कौन विधि दूजा"[2] तथा नानक "दूजा कउणु कहा नही कोई, सभ महि एक निरजनु सोई।"[3] का राग उद्घोषित करते है और कबीर "तूँ तूँ करता तू हुआ मुझ महि रहा न हूँ। जब आपा पर का मिटै जइया जत देखउ तत तूँ॥"[4] का तो दूसरी ओर रूपको द्वारा अपने अर्थ को स्पष्ट करने की चिन्ता में मत-भिन्नता भी प्रकट हो जाती है। जल की तरग जल से जिस अर्थ में अभिन्न है, उसी अर्थ में चन्दन और जल तथा पानी और नमक की अभिन्नता नही दिखाई जा सकती। ऐसी अवस्था में सर्वब्रह्मवाद भौतिकवाद का रूपान्तर है जिसमें सभी वस्तुएँ ब्रह्मतत्त्व प्राप्त कर वास्तविक बन जाती हैं। ट्रम्प[5] ने रविदास और नामदेव में स्थूल सर्वात्मवाद जिसे सर्वब्रह्मवाद कहना उपयुक्त होगा, माना है। कनक, कटिक और जल-तरग[6] के रूपक द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि तरग और आभूषण जल और कनक से तात्त्विक रूप से अभिन्न होने पर भी जल और स्वर्ण नही है और इनके ये स्वरूप पारमार्थिक और नितान्त सत्य नही किन्तु पूर्णतया असत्य अथवा विवर्त्त भी नही। एक ओर वह "जो ब्रह्मडे सोइ पिंडे जो खोजै सो पावै"[7] और "सभु गोविंद है सभु गोविंद है, गोविंद बिनु नही कोई।"[8] का राग अलापता है, वहाँ दूसरी ओर रविदास का कथन है कि यदि तुम पर्वत हो तो मैं उस पर विहार करनेवाला मयूर हूँ, यदि तुम चन्द्र हो तो मैं व्याकुल मुग्ध चकोर हूँ, यदि तुम दीपक हो तो मै उसकी बाती हूँ, जिसका दिन-रात प्रकाश होता

---

१ आचार्य शुक्ल, जायसी ग्रथावली (भूमिका), पृ० २१०।

२ रै० बा०, पद ५४, पृ० ४६।

३ आदि-ग्रथ, गौडी महला १, अष्टपदी ५। ४ स० क०, सलोकु २०४, पृ० २७८।

५ ट्रम्प आदि-ग्रथ की भूमिका, पृ० १००।

६ तोही मोही मोही तोही अतरु कैसा। कनक कटिक जल तरग जैसा॥

—आ० ग्र०, रविदास, सिरी रागु १।

७ आ० ग्र०, पीपा, धनासिरी १। ८ वही, नामदेव, रागु आसा १ (टेक)।

निकोलसन ने सर्वमान्य धारणा-सम्बन्धी कठिनाइयों के मूल में धर्म जाति मनोवृत्ति की विभिन्नताओं को माना है और उसके अनुसार सभी रहस्यानुभवियों एक बिन्दु पर मिलते हैं किन्तु रहस्यवादी के धर्म जाति और मनोवृत्ति की विभिन्नता के कारण वह बिन्दु अत्यन्त विभिन्न स्वरूप ग्रहण करता है अतः एक केन्द्राभिमुखी रेखाएँ प्रायः अनन्त स्वरूपिणी हैं।[1] सूफी रहस्यवाद का मूल है प्रेम-साधना और भावोन्माद-भावावेश रहस्योन्माद की संज्ञा जिसके लिए अधिक उपयुक्त होगी। सूफी-साधना की प्रेमोपासना वैष्णवीय माधुर्य-भाव के साथ तुलनीय है। वैज्ञानिक युग की आस्था से इसका अन्तर्विरोध सम्पादित करने का प्रयास हैवलिक एलिस ने किया। इसके अनुसार जगत् के एकत्व के साथ रागात्मक सम्बन्ध के अन्वेषण की कला की संज्ञा रहस्यवाद है।[2] इस परिभाषा में भी साधन-कला की चर्चा है किन्तु उस एकत्व की उपलब्धि से प्राप्त होनेवाले आनन्द की ओर संकेत नहीं है। रहस्यवादी की निश्चित धारणा-आस्था रसेल को मान्य है जिसे वह अन्तर्दृष्टि के क्षणों में अपरिस्फुटित अनुभूति की ध्यान-धारणा द्वारा प्राप्त करता है एवं रहस्यात्मक अन्तर्दृष्टि का प्रारंभ रहस्योद्घाटन संबद्ध-होम गुप्त ज्ञान की सहसा निश्चित प्राप्ति के साथ होती है।[3]

रहस्यवाद के विभिन्न प्रकारों की चर्चा होती रही है—नैष्ठिक वेदान्तिक प्रकृत सम्बन्धी मधुर सौन्दर्यगत और वात्सल्य रहस्यवाद। इनके अतिरिक्त नैतिक साधनात्मक भावात्मक और प्रतीकात्मक रहस्यवाद की कोटियों का भी उल्लेख किया जाता है। वस्तुतः ये रहस्यवाद के भेद और प्रकार नहीं बल्कि उसके स्वरूप के विभिन्न अंग हैं, जो अपने आप में आवश्यक होते हुए भी प्रकृत नहीं। परिभाषाओं के विस्तृत विवेचन के द्वारा इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि विचारक-विशेष ने अंग-विशेष की विशिष्टता को ध्यान में रख कर अपनी परिभाषा दी है जिसमें अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति दोष है। इन दृष्टियों की चार कोटियाँ हैं—तत्त्ववाद साधन-साधना अथवा परम-तत्त्व की उपलब्धि का साधन नैतिक जीवन का स्वरूप जिसमें अनुभूति प्राप्ति की सम्भावना रहती है और उसकी प्राप्ति के उपरान्त आनन्द एवं उसकी अभिव्यक्ति। वैयक्तिक मोह और पूर्वग्रह के कारण इनमें से किसी एक पहलू को लेखक-विचारक ने प्रकृत-वस्तु का यथार्थ स्वरूप स्वीकार किया है।

तत्त्ववाद

आचार्य शुक्ल रहस्यवाद को अद्वैतवाद से भिन्न नहीं मानते और खास भारतीय रहस्यवाद की विशेषता सर्वात्मवाद-मूलक होने में मानते हैं जिसे उन्होंने भारतीयों की बहु जिज्ञासा का फल माना है। यही रहस्यवाद उपनिषद् और गीता में उन्हें मिला।[4] आचार्य शुक्ल के इस मत पर विलियम जेम्स का प्रभाव है जिसके अनुसार इतिहास द्वारा सिद्ध होता है कि रहस्य-मूलक स्थिति अद्वैतात्मक होती है।[5] इंज ने इस अद्वैतात्मकता का दार्शनिक

---

१ दि मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम पृ २।   २ दि डांस आफ लाइफ पृ १८२।
३ इंज द्वारा 'मिस्टिसिज्म इन रिलिजन' के २५वें पृष्ठ पर उद्धृत।
४ च० चं० (भूमिका) पृ० ५४।   ५ मिस्टिसिज्म (१९०७) पृ १५१।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासगिक नही होगा कि अवतारवाद के मूल में भी रहस्योन्मुखता है। जन-समाज के धार्मिक विश्वास का एक अग बन जाने के कारण ही भक्ति के लिए रहस्यवाद की कोटि अमान्य नही हो सकती। अवतारवाद के द्वारा विश्वातीत और विश्वान्तरात्म भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है और इसके प्रति माधुर्य-भाव की भक्ति में रहस्यवाद का उन्मेष अवश्य है। जिस अद्वैतवाद को रहस्यवाद के लिए आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया गया है, उसके सम्बन्ध में आधुनिक युग के रहस्यवाद के सबल समर्थक इज के विचार महत्त्वपूर्ण और द्रष्टव्य हैं—परमात्मा यदि सभी वस्तुओ मे समान रूप से व्याप्त है, तो वह सभी वस्तुओ में अनुपस्थित भी है। इस प्रकार का सर्वब्रह्मैक्यवाद अनास्तित्व से अधिक भिन्न नहीं और नैतिक विचार अन्य सभी वस्तुओ की भाँति विवर्त्त हो जाते हैं।[1]

सन्त का मोह न तो परमात्मा के निरुपाधि रूप पर है और न उसके सगुणत्व से उसका विरोध। सगुण रूप और उसकी उपासना-पद्धति को वह चरम सत्य नही मानता। उसका परम-तत्त्व सगुण और निर्गुण दोनो के परे है। किन्तु यह अव्यक्त नही। उसके स्वरूप की चिन्ता उसे नही सताती। वह रहस्य भी नही, गूढ़ और अज्ञेय भी नही, अज्ञात तो वह है नही। वह परम परिचित है, अपने आप मे भी अधिक परिचित। प्रियत्व उसकी पहचान है। उसके स्वरूप का शाब्दिक चित्रण एव वर्णन शब्द जाल मात्र है। धर्म और दर्शन के साथ रहस्यवाद की असदिग्ध सम्बन्ध-कल्पना के कारण ब्रह्म-स्वरूप एव तत्त्ववाद की विवेचना होती रही है, जो इसका मूलभूत स्वरूप नही।

साधन और साधना

हमने देखा है कि तत्त्ववाद के आधार पर रहस्यवाद का प्रासाद खडा नही किया जा सकता, इतना स्वीकार कर रहस्यवादी अवश्य चलता है कि एक परमात्मा है और उस परमात्मा की प्राप्ति, उसकी अपरोक्ष अनुभूति से सम्भव है। सभी उस अनुभूति को प्राप्त कर लेंगे, ऐसा कोई आवश्यक नही किन्तु उसकी सम्भावना बनी रहती है। प्रत्येक धार्मिक तथा साम्प्रदायिक व्यक्ति में ईश्वर की धारणा रहती है किन्तु रहस्यवादी के लिए धारणा ही पर्याप्त नहीं बल्कि उसकी अपरोक्ष अनुभूति चाहिए। इतना स्पष्ट है कि उपासना की रूढ पद्धति में भावात्मकता से अधिक परम्परा-पालन का आवेश रहता है, ऐसी स्थिति में भावात्मक प्रतिक्रिया आवश्यक हो जाती है। भारतीय साधना के तीनो साधन ज्ञान, कर्म, भक्ति—को योग की सज्ञा मिली है। पातजल चित्त-वृत्ति-निरोधात्मक योग याज्ञवल्क्य का "सयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो" बन गया। यौगिक-क्रियाएँ सभी साधनाओ में कुछ अवस्थाओ और स्वरूपो में मान्य हुई। भक्ति चित्त-वृत्ति का निरोध नही बल्कि उदात्तीकरण है और प्रत्येक कर्म-अनुष्ठान में इसकी प्रेरणा आवश्यक है और ज्ञानहीन कर्म निरर्थक फलत्व प्राप्ति में अक्षम। वस्तुत तीनो मार्गों का पार्थक्य स्वीकार करने के कारण ही अनेक उलझनें उत्पन्न हुई है। परम सत्य, परम सौन्दर्य एव परम शिव की अपरोक्ष अनुभूति में बौद्धिक क्षमता की

---

१ मिस्टिसिज्म इन रेलिजन, पृ० १५६।

है।[1] इन रूपकों के अध्येता के लिए यह विस्मयकारी नहीं कि इनके द्वारा तीन स्पष्ट रूपों का उल्लेख हुआ है। पर्वत और मयूर के सम्बन्ध द्वारा मयूर के निवास-स्थान की सूचना के साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि पर्वत के लिए आवश्यक नहीं किन्तु इससे पर्वत की शोभा अवश्य बढ़ती है, जीवात्मा परमात्म-तत्त्व का शोभाविधायक है कारण इसी के द्वारा उसकी स्थिति अभिव्यक्त होती है। चन्द्र-चकोर के रूपकत्व में चिर-मुग्धता का भाव प्रदर्शित है और इसके द्वारा परमात्म तत्त्व के सौन्दर्य और जीवात्मा की मुग्धता के भाव प्रदर्शित होते हैं। चन्द्रमा के 'बिरह दूबरो गात' और 'चटक-चटक बिरहिन दुखदाई' रूप की ओर उनका ध्यान नहीं एवं दीपक-बत्ती के रूपक द्वारा चिर-साहचर्य ही नहीं बल्कि बत्ती के अभाव में दीपक के रूप में ही अभाव के दर्शन होंगे बत्ती के अभाव में दीपक दीपक न रह सकेगा। जीवात्मा परमात्मा का प्रकाशक है। यह न तो पूर्णतया ब्रह्मवाद है और न ईश्वरवाद। इसे मुसल्मानी एकेश्वरवाद तो कहा ही नहीं जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि 'वाद' के किसी चौखटे में इन्हें आसानी से बिठाया नहीं जा सकता।

उपासना के लिए सगुण रूप की आवश्यकता कुछ विचारकों के लिए आवश्यक है। शंकर ने दार्शनिक मतवाद की स्थापना के लिए 'अद्वैतवाद' की प्रतिष्ठा की और धार्मिक आस्था के लिए सगुण भक्ति का आश्रय लिया। अद्वैतवादी इस प्रकार दर्शन और धर्म की सीमाओं की रक्षा करता है। इसी कारण से शंकर को सगुणोपासक भक्तों ने प्रच्छन्न बौद्ध तक कहा है किन्तु भारतीय मनीषा ने अद्वैत और भक्ति को असंश्लिष्ट नहीं माना। 'अद्वैत-सिद्धि'—जैसे दार्शनिक ग्रंथ के लेखक मधुसूदन जी भक्ति के सबल समर्थक हैं। रामानुज ने भक्ति को दार्शनिक आधार दिया है। कबीर और अन्य सन्तों ने अद्वैत और भक्ति के संयोग-संगम की नवीन उद्भावना दी है, जिसकी सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका है। रहस्यवाद के लिए सगुण-निर्गुण में से कोई भी रूप लिया जा सकता है। रहस्यवाद की अद्वैतवादी सीमा रहस्यवाद प्रमुख विचारकों को मान्य नहीं[2] और न रहस्यवादी कहे जानेवाले सभी व्यक्ति अद्वैतवादी हैं। सूफियों में जलालुद्दीन रूमी आत्मवादी हैं एवं अल-अरबी वहदत-ए-वजूद सर्वेश्वरवादी। परम-तत्त्व की विश्वातीत-व्यापकता अधिकांश रहस्यवादियों को मान्य है। रामानुजीय भक्ति को भारतीय विचारकों ने रहस्यवाद के अन्तर्गत लिया है। कुछ के अनुसार ज्ञानी ऋषि मुनि नाथों और सिद्धों की गणना रहस्यवादियों में होती है और सगुणोपासकों की अवतार धारा उसी के अन्तर्गत है। औपनिषदिक रहस्यवाद की विवेचना रानाडे प्रभृति जैसे विद्वानों ने की है। परमात्मा का एकेश्वरवादी स्वरूप रहस्यवाद के अधिक अनुकूल माना गया है, जिन स्थूल एकेश्वर की उपलब्धि स्वप्न भावोन्माद अथवा दैवी-उन्माद की अवस्था में ही हो सकती है।

---

१ जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा। जउ तुम चंद तउ हम भए है चकोरा॥
जउ तुम दीवरा तउ हम बाती। बाती जोति बरै दिन राती॥
—आ० ग्रं० रविदास रागु गोंड १। (अन्तिम चरण बानी के अनुसार है)।

२ अण्डरहिल : दि ऐसेन्शियल्स ऑफ मिस्टिसिज्म पृ० १।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासगिक नही होगा कि अवतारवाद के मूल में भी रहस्योन्मुखता है। जन-समाज के धार्मिक विश्वास का एक अग बन जाने के कारण ही भक्ति के लिए रहस्यवाद की कोटि अमान्य नही हो सकती। अवतारवाद के द्वारा विश्वातीत और विश्वान्तरात्म भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है और इसके प्रति माधुर्य-भाव की भक्ति में रहस्यवाद का उन्मेष अवश्य है। जिस अद्वैतवाद को रहस्यवाद के लिए आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया गया है, उसके सम्बन्ध में आधुनिक युग के रहस्यवाद के सबल समर्थक इज के विचार महत्त्वपूर्ण और द्रष्टव्य हैं—परमात्मा यदि सभी वस्तुओ में समान रूप से व्याप्त है, तो वह सभी वस्तुओ में अनुपस्थित भी है। इस प्रकार का सर्वब्रह्मैक्यवाद अनास्तित्व से अधिक भिन्न नहीं और नैतिक विचार अन्य सभी वस्तुओ को भाँति विवर्त्त हो जाते हैं।[1]

सन्त का मोह न तो परमात्मा के निरुपाधि रूप पर है और न उसके सगुणत्व से उसका विरोध। सगुण रूप और उसकी उपासना-पद्धति को वह चरम सत्य नही मानता। उसका परम-तत्त्व सगुण और निर्गुण दोनो के परे है। किन्तु यह अव्यक्त नही। उसके स्वरूप की चिन्ता उसे नही सताती। वह रहस्य भी नही, गूढ़ और अज्ञेय भी नही, अज्ञात तो वह है नही। वह परम परिचित है, अपने आप से भी अधिक परिचित। प्रियत्व उसकी पहचान है। उसके स्वरूप का शाब्दिक चित्रण एव वर्णन शब्द जाल मात्र है। धर्म और दर्शन के साथ रहस्यवाद की असदिग्ध सम्बन्ध-कल्पना के कारण ब्रह्म-स्वरूप एव तत्त्ववाद को विवेचना होती रही है, जो इसका मूलभूत स्वरूप नही।

साधन और साधना

हमने देखा है कि तत्त्ववाद के आधार पर रहस्यवाद का प्रासाद खडा नही किया जा सकता, इतना स्वीकार कर रहस्यवादी अवश्य चलता है कि एक परमात्मा है और उस परमात्मा की प्राप्ति, उसकी अपरोक्ष अनुभूति से सम्भव है। सभी उस अनुभूति को प्राप्ति कर लेंगे, ऐसा कोई आवश्यक नही किन्तु उसकी सम्भावना बनी रहती है। प्रत्येक धार्मिक तथा साम्प्रदायिक व्यक्ति में ईश्वर की धारणा रहती है किन्तु रहस्यवादी के लिए धारणा ही पर्याप्त नहीं बल्कि उसकी अपरोक्ष अनुभूति चाहिए। इतना स्पष्ट है कि उपासना की रूढ पद्धति में भावात्मकता से अधिक परम्परा-पालन का आवेश रहता है, ऐसी स्थिति में भावात्मक प्रतिक्रिया आवश्यक हो जाती है। भारतीय साधना के तीनो साधन ज्ञान, कर्म, भक्ति—को योग की सज्ञा मिली है। पातजल चित्त-वृत्ति-निरोधात्मक योग याज्ञवल्क्य का "सयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो" बन गया। यौगिक-क्रियाएँ सभी साधनाओ में कुछ अवस्थाओ और स्वरूपो में मान्य हुई। भक्ति चित्त-वृत्ति का निरोध नही बल्कि उदात्तीकरण है और प्रत्येक कर्म-अनुष्ठान में इसकी प्रेरणा आवश्यक है और ज्ञानहीन कर्म निरर्थक फलत्व प्राप्ति में अक्षम। वस्तुत तीनो मार्गो का पार्थक्य स्वीकार करने के कारण ही अनेक उलझनें उत्पन्न हुई हैं। परम सत्य, परम सौन्दर्य एव परम शिव की अपरोक्ष अनुभूति में बौद्धिक क्षमता की

---

१ मिस्टिसिज्म इन रेलिजन, पृ० १५६।

असमपता भक्तों में सर्वमान्य है। ज्ञानकाण्डी मानी जानेवाली उपनिषदों से ऐसे वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं जिनमें श्रद्धा को ही ज्ञान का उपकरण माना गया है और गीता में स्पष्ट विधान है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[1]

सन्त का उद्देश्य है उस परम-तत्त्व का साक्षात्कार और अपरोक्ष अनुभूति उसके विज्ञात स्वरूप-वर्णन से उसकी सन्तुष्टि नहीं हो सकती और न उसका वह प्रकृत स्वरूप ही होता। सन्त का दावा है कि उसने साक्षात्कार किया है, अपरोक्ष अनुभूति का रस प्राप्त किया है। उसका विश्वास है कि इस अनुभूति के लिए किसी मध्यस्थ और माध्यम की अपेक्षा नहीं और पुस्तकीय विद्या—औपनिषदिक अपरा-विद्या—के द्वारा यह अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकती। ज्ञान के साधन रूप में विद्या और बुद्धि प्रसिद्ध हैं। विद्याएँ मानवी अतः सीमित और संकुचित हैं उपनिषदों तक में अनुभूति-सम्पन्नता में इन्हें अक्षम कहा गया है। मानवी विद्याओं के आधार पर निर्मित साधन-पद्धतियाँ अतः अक्षम और असमर्थ रहती हैं। साधन-पद्धतियों की रूढ़िवादी मान्यताओं के विरोध में स्वतन्त्र साधना की चेतना का विकास होता है। आस्तिक्य-नास्तिक्य की सीमा-विभाजक रेखा के रूप में प्रचलित और प्रचारित धर्म संगठन की स्वीकृति अस्वीकृति है, ईश्वर अथवा वेद की मान्यता-अमान्यता नहीं। चाहे जगत् से अतीत हो अथवा इसके अन्तर्भूत परम-तत्त्व का सम्यक ज्ञान बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं। बुद्धि को पहले इतनी प्रतिष्ठा मिल चुकी थी कि वह ज्ञान का पर्याय-सी बन बैठी थी विद्या द्वारा ज्ञान-बुद्धि सम्भव हुई थी अतः इसे भी साधारण भाषा में ज्ञान की कोटि मिली। सन्त की स्पष्ट मान्यता है कि परम-तत्त्व की अनुभूति प्रतीति और उपलब्धि में विद्या और बुद्धि सहायक नहीं। इसके द्वारा अपरोक्ष अनुभूति नहीं होती बल्कि परोक्ष ज्ञान होता है जो वास्तविक नहीं। उसके अनुसार अपरोक्ष अनुभूति ही ज्ञान की साधिका है, ज्ञान-स्वरूपा है, स्वयंपूर्ण ज्ञान है। वैदिक 'नेति-नेति' वाद का इस अवस्था में विरोध हो जाता है क्योंकि इसके परे जो सत्य है उसकी उपलब्धि सन्त कर लेता है। भावनाहीन बुद्धि विलास है, तर्क-क्रीड़ा है एवं अन्य विलासों की भाँति त्याज्य है वास्तविकता के दर्शन कराने में असमर्थ है कारण यह भी स्थूल है और स्थूल उस परम सूक्ष्म-तत्त्व तक कैसे पहुँच सकता है अतः बाह्य दर्शन में ही उसकी क्षमता है ज्ञानहीन भावना अन्ध-प्रेरणा है। सहज बोधात्मक अनुभूति वस्तु के परम-तत्त्व और निगूढ़तम अन्तर को वेध पाती है और उसके गूढ़ रहस्य को जानती है। बुद्धि विश्लेष्य है, अनुभूतिजन्य बोध संश्लेष्य। सन्त आत्म-बोध का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ तक प्रज्ञावादी है किन्तु प्रज्ञावाद को वह सत्य साक्षात्कार का माध्यम नहीं मानता बल्कि परम-तत्त्व की *प्रज्ञात्मक अनुभूति उसे मान्य* है। वह ज्ञान के क्षेत्र पर बाधा नहीं है।

---

१ गीता १८।६६।
इस पर रामानुज भाष्य द्रष्टव्य है—परम कल्याण की प्राप्ति के साधनभूत कर्म योग ज्ञानयोग और भक्तियोग रूप सर्वधर्मों को मेरी आराधना के रूप में अत्यन्त प्रेम से अधिकारानुसार करता रह।—पृ० ५६७।

प्रातिभज्ञानवादी की भाँति सन्त वस्तु की आन्तरिकता-भावात्मकता को ही नही देखता बल्कि उस आन्तरिकता की आन्तरिक वास्तविकता की अनुभूति करता है, अत अन्य अनुभूतियो की उसे अपेक्षा नही। सन्त मानता है कि पूर्ण एकत्व निरपेक्ष है, अत विकल्प-सापेक्ष्य और सापेक्ष ज्ञान द्वारा उपलब्ध नही। किन्तु यह भावात्मक ज्ञान उसे साम्प्रदायिक और रूढिगत अर्थ में रहस्यवादी नही बनाता। उपनिषदो में 'वादी' का जिज्ञासु के लिए और 'विद्' का ज्ञानी के अर्थ में प्रयोग हुआ है। सन्त, अत रहस्यवादी नही, रहस्यविद् है। ज्ञान के क्षेत्र अथवा साधन पर उसका धावा नही बल्कि वह उस रहस्य को जानता है जो अन्य सभी ज्ञान का मूल-स्रोत है, और जिसके सशयहीन ज्ञान के पश्चात् और कुछ जानने की अपेक्षा नहीं रह जाती।

सन्त-साहित्य के अध्येता से यह बात छिपी नही कि वह 'स्वसवेद्य' ज्ञान को ही प्रामाणिक और प्रामाण्य मानता है और शास्त्रादि को 'पर-सवेद' कहता है। उत्तर कबीरपन्थ के अनुसार वेद के टीकाकारों ने 'ऊँकार' के यथार्थ आशय को नही समझा और बुद्धि की पहुँच अद्वैत तक है नही। स्वसवेद ज्ञान कहने-सुनने में नही आता, केवल सत्यगुरु 'कबीर' की कृपा से अपने विचार द्वारा ही जाना जाता है।[1] पीछे चल कर तो वेदो की रचना कबीर के हाथो मानी गई और उसका वास्तविक अर्थ भ्रमजाल में पड जाने के कारण कबीर द्वारा वेदो का प्रत्याख्यान माना गया। सन्त के अनुसार इस आत्म-अनुभव (स्वानुभूति) का वर्णन सम्भव नही, जो इसे प्राप्त करता है वही इसका स्वाद जानता है, यह लिखने-पढने, ज्ञान-विज्ञान की बातें नही, यहाँ तो अनुभव है, मात्र आत्मानुभव।[2] अनुभव देखने की वस्तु नही।[3] यह पाखण्ड में नही, ज्ञान-कथन में नही, विवाद में नही, आत्म-साक्षात्कार में है, जब तक आत्म-भाव के दर्शन नही होते सारा ज्ञान मिथ्या है। लोहा जब तक पारस का स्पर्श नहीं करना तब तक स्वर्ण कैसे बन सकता है? आत्मानुभव-स्वानुभूति वैसा पारस है जिसके सस्पर्श मात्र से लोहवत् सासारिक जीवन स्वर्णमय पारमार्थिक बन जाता है। यह अनुभव कुछ ऐसा विचित्र, कुछ ऐसा विलक्षण है कि वाणी की सीमा अपने मे इसे समेट नही पाती। इस अनुभव का साक्षी अपने आप के अतिरिक्त और कोई दूसरा नही। यह अपने आप में पूर्ण है।[4]

---

१. कबीर मशूर, पृ० १०३८-३९।

२ आतम अनुभव ज्ञान की जो कोइ पूछै बात।
सो गूँगा गुड खाइ कै, कहै कौन मुख स्वाद ॥ ७३ ॥

ज्यो गूँगे के सैन को गूँगा ही पहचान।
त्यो ज्ञानी के सुक्ख को ज्ञानी होय जो जान ॥ ७४ ॥

लिखा - लिखी की है नही देखा - देखी वात।
दुलहा-दुलहिन मिल गए फीकी पडी वरात ॥ ७६ ॥ —क० व०, पृ० १०० ।

पढै गुनै कछु काम न आवै, जौ लौं भाव न दरसै। —रै० की वानी १३, पृ० १३ ।

३ अनभउ कि नैन देखिआ वैरागीअडे। —स० क०, रागु मारू ८, पृ० १९६ ।

४ ऐसौ कछु अनुभौ कहत न आवै। साहव मिलै तो को विलगावै ॥
साखी नही और कोउ दूसर जाननहार सयाना ॥ —रै० वा०, पद १०, पृ० १०।

असमर्थता भक्तों में सर्वमान्य है। ज्ञानकाण्डी मानी जानेवाली उपनिषदों से ऐसे वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं जिनमें श्रद्धा को ही ज्ञान का उपकरण माना गया है और गीता में स्पष्ट विधान है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[1]

सन्त का उद्देश्य है उस परम-तत्त्व का साक्षात्कार और अपरोक्ष अनुभूति उसके विज्ञात स्वरूप-वर्णन से उसकी सन्तुष्टि नहीं हो सकती और न उसका वह प्रकृत स्वरूप ही होगा। सन्त का दावा है कि उसने साक्षात्कार किया है, अपरोक्ष अनुभूति का रस प्राप्त किया है। उसका विश्वास है कि इस अनुभूति के लिए किसी मध्यस्थ और माध्यम की अपेक्षा नहीं और पुस्तकीय विद्या—औपनिषदिक अपरा-विद्या—के द्वारा यह अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकती। ज्ञान के साधन रूप में विद्या और बुद्धि प्रसिद्ध है। विद्याएँ मानवी अतः सीमित और संकुचित हैं उपनिषदों तक में अनुभूति-गम्यता में इन्हें अक्षम कहा गया है। मानवी विचारों के आधार पर निर्मित साधन-पद्धतियाँ अतः अक्षम और असमर्थ रहती हैं। साधन-पद्धतियों की रूढ़िवादी मान्यताओं के विरोध में स्वतन्त्र साधना की चेतना का विकास होता है। आस्तिक्य-नास्तिक्य की सीमा-विभाजक रेखा के रूप में प्रचलित और प्रचारित मत संगठन की स्वीकृति-अस्वीकृति है, ईश्वर अथवा वेद की मान्यता-अमान्यता नहीं। चाहे जगत् से अतीत हो अथवा इसके अन्तर्भूत परम-तत्त्व का सम्यक् ज्ञान बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं। बुद्धि को पहले इतनी प्रतिष्ठा मिल चुकी थी कि वह ज्ञान का पर्याय-सी बन बैठी थी विद्या द्वारा ज्ञान-बुद्धि सम्भव हुई थी अतः इसे भी साधारण भाषा में ज्ञान की कोटि मिली। सन्त की स्पष्ट मान्यता है कि परम-तत्त्व की अनुभूति प्रतीति और उपलब्धि में विद्या और बुद्धि सहायक नहीं। इसके द्वारा अपरोक्ष अनुभूति नहीं होती बल्कि परोक्ष ज्ञान होता है, जो वास्तविक नहीं। उसके अनुसार अपरोक्ष अनुभूति ही ज्ञान की साधिका है, ज्ञान-स्वरूपा है, स्वयंपूर्ण ज्ञान है। वैदिक 'नेति-नेति' वाद का इस अवस्था में विरोध हो जाता है, क्योंकि इसके परे जो सत्य है उसकी उपलब्धि सन्त कर लेता है। भावनाहीन बुद्धि विलास है, तर्क-क्रीड़ा है एवं अन्य विलासों की भाँति त्याज्य है वास्तविकता के दर्शन कराने में असमर्थ है, कारण वह भी स्थूल है और स्थूल उस परम सूक्ष्म-तत्त्व तक कैसे पहुँच सकता है अतः बाह्य दर्शन में ही उसकी क्षमता है भावनाहीन भावना अन्त-प्रेरणा है। सहज बोधात्मक अनुभूति जगत् के परम-तत्त्व और निगूढ़तम अन्तर को देख पाती है और उसके पूर्ण रहस्य को जानती है। बुद्धि विश्लेष है अनुभूतिजन्य बोध संश्लेष। सन्त आत्म-बोध का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ तक प्रज्ञावादी है किन्तु प्रज्ञावाद को वह सत्य साक्षात्कार का माध्यम नहीं मानता बल्कि परम-तत्त्व की प्रज्ञात्मक अनुभूति उसे प्राप्त है। यह ज्ञान के क्षेत्र पर बाधा नहीं है।

---

१ गीता १८।६६।

इस पर रामानुज भाष्य द्रष्टव्य है—परम कल्याण की प्राप्ति के साधनभूत कर्म-योग ज्ञानयोग और भक्तियोग रूप सर्वधर्मों को मेरी आराधना के रूप में अत्यन्त प्रेम से अधिकारानुसार करता रह।—पृ ५९७।

सलोकु[1] में 'हाल' का ईश्वरावेश के अर्थ में प्रयोग हुआ है किन्तु कबीर के 'हाल' का सूफी 'हाल' से सम्बन्ध नहीं, कारण जहाँ सूफी मूर्च्छा और आवेश की अवस्था में जागतिक व्यापार से विच्छिन्न हो जाता है, वहाँ कबीर जीवन के साधारण व्यापार में भी इस स्थिति की प्राप्ति का निर्देश करते है।

संत-काव्य में विरह की आकुलता, व्यथा, चिन्ता, उत्कंठा और आवेश है, विरह-कातर आकुल प्रार्थना है, मिलन की उद्दाम उत्कंठा है किन्तु देवोन्माद की यह चरम स्थिति नहीं, मूर्च्छा का वह आवेश नहीं, कृत्रिम हाल का आवेश नहीं, मादक-द्रव्यो के सेवन से प्राप्त बेहोशी नहीं, रासायनिक प्रक्रिया द्वारा सम्मोहन-सृष्टि नहीं जिसकी चर्चा इनके सम्बन्ध में होती आई है। प्रेम और भावना को वह आवश्यक मानता है, तुलसी भी "भाव-भगति" की चाह रखते हैं, प्रेम के द्वारा ही प्रिय की पहचान होती है किन्तु यह प्रेम ज्ञान का विरोधी नहीं। संत के लिए काम्य है ज्ञानोत्तर प्रेमाभक्ति। यह ज्ञानोत्तर आसक्ति उसके लिए अपेक्षित है, अपना स्वरूप पहचाने बिना उस परम प्रिय से प्रेम नहीं किया जा सकता, संसार से ज्ञानपूर्वक विराग द्वारा ही परम-तत्त्व से रागात्मक सम्बन्ध जुड सकता है। मूर्च्छा और उन्माद में वह प्रिय स्वरूप का दर्शन नहीं करता।

प्रिय की प्रतीतिजन्य अनुभूति से जीवन में अपूव शान्ति अलौकिक रसात्मकता आती है, संसार के सभी रस उसके आगे फीके लगते हैं, सारा संसार नूतन स्वरूप धारण कर लेता है। सबसे निराली मादकता इस रस की है, इस भावदशा में वाणी मूक है एव विद्या कुण्ठित। और मादकताएँ अधिक हैं, पूर्ण रूप से लोक-व्यवहार की चेतना को लुप्त करने में असमर्थ किन्तु इसकी मादकता कुछ ऐसी गम्भीर और व्यापक है कि लौकिकता, सांसारिकता की सुध-बुध खो जाती है, केवल एक पूर्ण और अपूर्व जाग्रत चैतन्य ही निश्शेष रहता है। प्रिय-मिलन-जन्य भावोच्छ्वास की अभिव्यक्ति सन्त पूर्ण मार्मिकता से करता है। जो यह रस पी लेता है, वही मतवाला हो जाता है, उसकी चाल (सांसारिक दृष्टि में) अटपटी हो जाती है, आक्षिप्त-सी उसकी गति होती है, जैसे नीद की खुमार मे आगे बढ़ता हो।[2] वह सहज मतवाला (सहज का मतवाला और सहज ही जो मतवाला हो जाता) है। कबीर का दावा है कि उन्होंने इस रस का खूब छक कर पान किया है और इसके शेष होने की आशका भी नहीं रही। प्रिय केवल आँखों का विषय नहीं रहा, अनुभूति इतनी तीव्र हो उठी कि दूरत्व का बोध नहीं रह गया। अविश्वास नहीं, निराशा नहीं, व्यथा नहीं, असन्तोष नहीं, पीडा नहीं, विवशता और दैन्य नहीं, बल्कि आशा है, दृढ़ता है, विश्वास और आस्था है, अशेष आनन्द

---

१ कबीर जउ तुहि साध पिरम की सीसु काटि करि गोइ।
खेलत खेलत हाल करि जो कछु होइ त होइ॥

—स० क०, सलोकु २३९, पृ० २८३।

२ अभै पद पूरि ताप तिह नासे कहि कबीर बीचारी।
उबट चलते इहु मद, पाइआ जैसे खोद खुमारी॥

—स० क०, रागु केदारा ३, पृ० २०२।

इस रस के पीते ही और रस फीके लगते हैं संसार की माया बटोरने वाले ऐसे भावोन्मत्तवासी को पागल और इस भाव-भक्ति को पागलपन समझते हैं। सन्त कहता है ठीक है बाबा मैं पागल हूँ सारा संसार चतुर है। मैं बिगड़ गया और कोई मत बिगड़े। राम ने मुझे बावला बना दिया है, अपनी मति सुध-बुध खोकर मैं पागल हो गया हूँ और लोग मेरे मुकाबले में पड़कर पागल न बनें। संसार ने अपने लिए मधुर भाव चुना है ठीक ही तो है जिसे जो भाता है उसके लिए वही मीठा है सुस्वादु है, चोड़ है।[१] जब यह अनुभव-रस महारस (रामरस) मिल गया तो 'मूँगै महा अमित रसु चाखिया पूछे कहनु न जाई हो'[२] तब और सभी रस अन-रस हो गए।

कुछ विचारक रहस्यवाद के लिए भावावेश-देवोन्माद की अनिवार्यता स्वीकृत करते हैं किन्तु अपेक्षाकृत आधुनिक काल में इसकी मान्यता स्वीकृत नहीं रही। नवीन मनोविज्ञान के उत्थान के साथ देवोन्माद का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन संभव हुआ और मानसिक विकृति के साथ संबंध स्थापित हुआ। इसे ही रहस्यवाद का मूल तत्व माननेवाले इसके अभाव में रहस्यानुभूति की स्थिति स्वीकृत नहीं करते।[३] अति उत्तेजित अथवा उन्मादग्रस्त मूर्छावस्था अति-भावुकता स्वप्न-दर्शन और भावोन्माद आधिदैविक (प्रकृति-बाह्य) क्रिया-कलाप अथवा दार्शनिक पक्ष में अविवेकवादिता से रहस्यवाद का संबंध नहीं हो सकता। जिन्हें ऐसी अनुभूतियाँ प्राप्त हैं उनके लिए भी देवोन्माद अथवा भावावेश का अधिक महत्व नहीं होता। भावोन्माद दैवावेश की अ-प्राकृत अवस्था रहस्यवाद का चरम बिंदु अथवा पूर्णता नहीं जैसा साधारणतया स्वीकृत होता रहा है।

आचार्य शुक्ल ने संतों की सूफी-सम्प्रदाय के अन्तर्गत गणना कर इस देवोन्माद का विरोध किया। डॉ॰ चन्द्रबली पाण्डेय भी आचार्य शुक्ल का राग अलापते से दीख पड़ते हैं यद्यपि सूफी-मत की परिभाषा में थोड़े परिवर्तन की अपेक्षा उन्हें मान्य है।[४] कबीर के एक

---

१ बिरिआ न परउ बादु नहीं आनउ। हरि गुन कथउ सुनउ बउरानी ॥
मेरे बाबा मैं बउरा सम खलक सैआनी मैं बउरा। मैं बिगरिओ बिगरै मति अउरा॥१॥ टेक।
आपि न बउरा राम कीओ बउरा। सतगुर जारि गइओ भ्रम मोरा॥ २॥
मैं बिगरे अपनी मति खोई। मेरे भरमि भूलउ मति कोई॥ ३॥
सो बउरा जो न आपु पछानै। आपु पछानै त एकै जानै॥ ४॥
अबहि न माता सु कबहु न माता। कहि कबीर रामै रंगि राता॥ ५॥
—सं॰ क॰ रागु बिलावल २ पृ॰ १५१।
क॰ ग्रं॰ में अन्तिम चरण का पाठ इस प्रकार है—
मीठी कहा जाहि जो भावै दास कबीर राम गुंन गावै॥ —पद १८७ पृ॰ १६६।
२. आ॰ ग्रं॰ नामदेव रागु सोरठि २।३।
३ लिमिरा बैटामो ने योगन को इसी कारण रहस्यवादी नहीं माना है। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—वहरत हुसैन कृत 'मिस्टिकल एलिमेंट इन दि मेटाफिजिकल पोएट्स ऑफ दि सेवेंटींथ सेंचुरी' पृ॰ १९१९४।
४ ना॰ प्र॰ प॰ (भाग १४) अंक ४ पृ॰ ५५०।

सलोकु[1] में 'हाल' का ईश्वरावेश के अर्थ में प्रयोग हुआ है किन्तु कबीर के 'हाल' का सूफी 'हाल' से सम्बन्ध नही, कारण जहाँ सूफी मूर्च्छा और आवेश की अवस्था में जागतिक व्यापार से विच्छिन्न हो जाता है, वहाँ कबीर जीवन के साधारण व्यापार में भी इस स्थिति की प्राप्ति का निर्देश करते है।

सत-काव्य में विरह की आकुलता, व्यथा, चिन्ता, उत्कठा और आवेश है, विरह-कातर आकुल प्रार्थना है, मिलन की उद्दाम उत्कठा है किन्तु देवोन्माद की यह चरम स्थिति नही, मूर्च्छा का वह आवेश नही, कृत्रिम हाल का आवेश नही, मादक-द्रव्यो के सेवन से प्राप्त वेहोशी नहीं, रासायनिक प्रक्रिया द्वारा सम्मोहन-सृष्टि नही जिसकी चर्चा इनके सम्बन्ध में होती आई है। प्रेम और भावना को वह आवश्यक मानता है, तुलसी भी "भाव-भगति" की चाह रखते हैं, प्रेम के द्वारा ही प्रिय की पहचान होती है किन्तु यह प्रेम ज्ञान का विरोधी नही। सत के लिए काम्य है ज्ञानोत्तर प्रेमाभक्ति। यह ज्ञानोत्तर आसक्ति उसके लिए अपेक्षित है, अपना स्वरूप पहचाने विना उस परम प्रिय से प्रेम नही किया जा सकता, ससार से ज्ञानपूर्वक विराग द्वारा ही परम-तत्त्व से रागात्मक सम्बन्ध जुड सकता है। मूर्च्छा और उन्माद में वह प्रिय स्वरूप का दर्शन नही करता।

प्रिय की प्रतीतिजन्य अनुभूति से जीवन में अपूव शान्ति अलौकिक रसात्मकता आती है, संसार के सभी रस उसके आगे फीके लगते हैं, सारा ससार नूतन स्वरूप धारण कर लेता है। सबसे निराली मादकता इस रस को है, इस भावदशा में वाणी मूक है एव विद्या कुण्ठित। और मादकताएँ अधिक हैं, पूर्ण रूप से लोक-व्यवहार की चेतना को लुप्त करने में असमर्थ किन्तु इसकी मादकता कुछ ऐसी गम्भीर और व्यापक है कि लौकिकता, सासारिकता की सुध-बुध खो जाती है, केवल एक पूर्ण और अपूर्व जाग्रत चैतन्य ही निश्शेष रहता है। प्रिय-मिलन-जन्य भावोच्छ्वास की अभिव्यक्ति सन्त पूर्ण मार्मिकता से करता है। जो यह रस पी लेता है, वही मतवाला हो जाता है, उसकी चाल (सासारिक दृष्टि में) अटपटी हो जाती है, आविष्ट-सी उसकी गति होती है, जैसे नीद की खुमार मे आगे वढता हो।[2] वह सहज मतवाला (सहज का मतवाला और सहज ही जो मतवाला हो जाता) है। कबीर का दावा है कि उन्होने इस रस का खूब छक कर पान किया है और इसके शेष होने की आशका भी नहीं रही। प्रिय केवल आंखो का विषय नही रहा, अनुभूति इतनी तीव्र हो उठी कि दूरत्व का बोध नहीं रह गया। अविश्वास नही, निराशा नही, व्यथा नही, असन्तोष नही, पीडा नही, विवशता और दैन्य नही, वल्कि आशा है, दृढता है, विश्वास और आस्था है, अशेप आनन्द

---

१ कबीर जउ तुहि साय पिरम की सीसु काटि करि गोइ।
खेलत खेलत हाल करि जो कछु होइ त होइ॥
—स० क०, सलोकु २३९, पृ० २८३।

२ अभै पद पूरि ताप तिह नासे कहि कबीर बीचारी।
उघट चलते इहु मद, पाइआ जैसे खोंद खुमारी॥
—स० क०, रागु केदारा ३, पृ० २०७।

और मस्ती भरी मौज है जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं कोई बन्धन नहीं बल्कि अनन्त सौन्दर्य और असीम सुषमा है।[1] प्रीति की जब यह धारा उमड़ पड़ी कबीर स्तब्ध रह गया अब बोलने और कहने को शेष ही क्या रहा ? मर्म की चोट कुछ इसी प्रकार की है, जिसके लगते ही संसार में और कुछ कहने को शेष नहीं रह जाता सुनने को अवशिष्ट नहीं रहता और अन्यत्र जाने की अपेक्षा नहीं रह जाती कुछ ऐसी विलक्षण है मर्म की करारी चोट।[2]

आध्यात्मिक विवाह और मिलन

कबीर की आत्मा परम-प्रिय (परम पुरुष) से विवाह करेगी, वह प्रिय के रंग में रंग गई है, वह पूर्ण यौवना है, मिलनोत्कण्ठिता विरहिणी। सखियो आनन्द के गीत गाओ, मंगल-बधावा बजाओ। धन्य मेरे भाग हैं जो परम प्रिय के साथ अपूर्व मिलन का संयोग उपस्थित हुआ है। उस परम-प्रिय के समान और कोई अन्य वरेण्य नहीं वह मात्र वर ही नहीं वरेण्य भी है।[3]

इस विवाह को परकीया प्रेम की भूमिका में ही स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। साधारणतया इसमें सूफी-प्रेम की गन्ध देखी जाती है। सन्त की दृष्टि में अनेक देवी-देवता की पूजा और उपासना जारोपासना है। परकीया-प्रेम जहाँ एक ओर सामाजिक बन्धन की दृढ़ता के कारण उत्पन्न होनेवाले व्यवधान को सूचित करता है वहाँ सहजतम प्राकृतिक

---

१ (क) मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?
हीरा पायो गाँठ गठियायो बार बार वाको क्यों खोले ?
हलकी थी तब चढ़ी तराजू पूरी भई तब क्यों तोले ?
सुरत कलारी भइ मतवारी मदवा पी गई बिन तोले। —कबीर।
(ख) हमन है इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या ?
रहें आजाद या जग में हमन दुनियाँ से यारी क्या ? —कबीर।
(ग) परचै राम रमै जो कोई। ता रस परसे दुबिधा न होई।
—ग्रं० बा० पद १ पृ १।
(घ) प्यार निबेरें निबेर्यो न जात मनौं गुर गूँगे हि ज्यों नित खइये।
क्या कहिये कहतें न बनै कछु जो कहिये कहते ही लजइये॥
—सुं ग्रं वि ख पृ १११।
२ कबीर गूँगा हूआ बावरा बहरा हूआ कान।
पावहु थैं पिंगल भया मारिया सतगुर बाण॥ —ग्रं क सलोकु १९१।
(ख) लागी चोट मरंम की रहिओ कबीर ठउर॥ —वही सलोकु १८२।
३ दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार॥ टेक॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ पंच तत बराती।
राम देव मोरे पाहुनै आये मैं जोबन मैं माती॥ —क ग्रं पद १ पृ ८०।

सहजता का सकेत। सगुणोपासक का प्रिय और आराध्य 'एक' है किन्तु जगत् को पूर्णतया विवर्त नही मानने के कारण असत् प्रियत्व का सयोग हो जाता है। बाधा बन्धन वास्तविक रहते हैं और इनका त्याग अपेक्षित। परकीया प्रेम प्रिय की दृष्टि से भिन्न नही किन्तु प्रेमिका की दृष्टि से इसमें तीव्रता और स्वकीया में शान्त-निश्चलता है। परकीया प्रेम में आवेश है, आवेग है, तीव्र उत्कण्ठा है, बाधा-बन्धन के अतिक्रमण करने की तीव्र लालसा है। स्वकीय प्रेम में चाचल्य नही और न है तीव्र आवेश। मिलन का व्यवधान आन्तरिक अथवा रूढि है। सन्त के लिए ससार 'नैहर' है, कारण यहाँ का सम्बन्ध चिरस्थायी नही, यह बन्धन नही रहा बल्कि आध्यात्मिक मिलन को उपयुक्त बनाने वाला स्थान, यदि इसकी वास्तविकता से परिचय हो। सगुण भक्त ससार से विराग चाहता है कारण यह बाधा है और सन्त के लिए यह बाधा नही। स्वकीया प्रेम में एकनिष्ठता की जो भावना है, वह भी यहाँ अभिव्यक्त होती है। सन्त का आध्यात्मिक विवाह राम-सीता के विवाह की लौकिक अभिव्यक्ति है।

इस आध्यात्मिक विवाह का सामाजिक दर्शन भी है। किसी अन्य को प्रसन्न नही करना है, कारण उसके प्रसन्न होने पर किसी अन्य के प्रसन्न-अप्रसन्न होने की चिन्ता नही रह जाती, धर्मसम्प्रदाय-सगठन और काजी-मुल्ला-पडित से मुक्ति से मुक्ति मिलती है, तथा अन्य अधिकारियो और शासको से त्राण मिलता है। इस प्रेम में व्यवधान नही, अत इसके द्वारा वह अन्य सबको अमान्य कर सकेगा। जिस जीवन-स्तर के बीच सत का पालन-पोषण हुआ था, उसमें परकीया प्रेम की कल्पना भी व्यर्थ है। इस विवाह द्वारा नैतिक बल को भी सत पूर्णतया सुरक्षित रखना चाहता है।

इस आध्यात्मिक विवाह के रूपकत्व को परम्परा की पूर्णता स्वीकार करनेवाले चरनदास के लिए "निरगुन" की सेज बिछी है, उसका रगमहल अति विचित्र और विलक्षण है, जहाँ त्रैगुण्य का विस्तार नही। जहाँ सूर्य और चन्द्रमा की गति नही, जहाँ मन की गति भी अवरुद्ध हो जाती है। प्रेमी और प्रिय दोनो मिलकर एकमेक हो जाते है, [1] दुई की भावना और दुचिताई की आशका मिट जाती है। निर्गुण केवल सेज ही नही रहा बल्कि छैला भी बन गया।[2]

---

१ टुक रगमहल में आव कि निरगुन सेज बिछी।
जहँ पवन गवन नहि होय जहाँ जा सुरति बसी ॥
जहँ त्रैगुन बिन निरवान जहाँ नहि सूर-ससी।
जहँ हिलमिल कै सुखमान मुकति होय हँसी ॥
जहँ पिय-प्यारी मिली एक कि आसा दुइनसी।
जहँ चरनदास गलतान कि सोभा अधिक लसी ॥
—चरनदास बानी (२), शब्द १५, पृ० १३१।

२ टुक निरगुन छैला सूँ कि नेह लगाव री।
जा को अजर अमर है देस, महल बेगमपुर री ॥ १ ॥ —वही, शब्द २४, पृ० १३७।

आध्यात्मिक विवाह की दृष्टि से इन संस्कारों को देखे जाने के कारण भी साम्प्रदायिक रहस्यवाद की झलक इनमें देखी जाती रही है। आध्यात्मिक रस की यह लौकिक माध्यम-गत अभिव्यक्ति है, आधुनिक काल के अमूर्तीकरण से इसका कोई संबंध नहीं और न है सूफी ईसाई रहस्यवादियों के अपरोक्ष दर्शन एवं अनुभूति से तात्त्विक एकता और समता। कबीर जब कहते हैं कि 'हरि मेरो पिउ हउ हरि की बहुरीया।' तो इसका अर्थ नहीं कि कबीर की आत्मा हरि से विवाह करना चाहती है बल्कि आत्म समर्पण परमात्मा-निर्भरता एकनिष्ठा अनन्यता आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए विवाह का संकल्पकल्प ग्रहण किया गया है। परम-तत्त्व के साथ निगूढ़ संबंध और ऐकान्तिक घनिष्ठता परिचय की पूर्णता एवं प्रतीति की अन्य अनन्यता ही अभिव्यक्त होती। वस्तुतः 'तुम सो जोरि अवर सो तोरि' की संकल्पात्मक अभिव्यक्ति ही यहाँ हुई है।

विरह और अमावस्या

संतों ने विरह का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन अपने साहित्य में किया है किन्तु उस सीमा तक नहीं जो रीति साहित्य में उपलब्ध है। कुछ विचारकों ने इसमें वासना की गंध पाई है। रहस्यवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करनेवालों ने प्रेम के इस स्वरूप को वासनात्मक भावावेग का रूपान्तरकरण माना है और परम-तत्त्व प्रेम ही है, यह धार्मिक रूप में सत्य है और यह प्रेम कहीं प्रच्छन्न और कहीं प्रत्यक्ष वासना है।[1] वासना की हीन-वृत्ति-स्वरूपता स्वीकार करने के कारण इसका संबंध-स्थापन अनुचित जान पड़ता है। अन्तवृत्तियाँ न तो नैतिक हैं और न अनैतिक। विरहानुभूति और प्रेम की तीव्रता को मानुषिक प्रेम का अध्यात्मीकरण नहीं मानना चाहिए। सूफी-परम्परा में मानवीय वृत्तियों की संतुष्टि को कुछ अवस्थाओं में आवश्यक अवश्य समझता है। परम-तत्त्व के स्वरूप ज्ञान के पश्चात् उससे विच्छिन्न होने की संभावना नहीं। वास्तविकता के अज्ञान के कारण ही सांसारिकता से मोह अर्थात् परम-तत्त्व से विच्छेद संभव है। अतः विरह परम-प्रिय के मिलन के पश्चात् होनेवाला विच्छेद एवं तज्जन्य शोको-च्छ्वास नहीं बल्कि यह आन्तरिक प्रेरणा है जिससे मिलनोत्कण्ठा का तीव्रावेग बढ़ता है। दादू के अनुसार विरह के कारण आन्तरिक पीड़ा जगती है और यह पीड़ा जीव को चैतन्य देती है।[2] विरह की अग्नि अन्तर के मल को जला कर अन्तर को प्रियोपयोगी बना देती है।[3] इस विरह की तुलना ईसाई संतों के 'डार्कनेस ऑफ दि नाइट' (अमावस्या) से नहीं की जा सकती। प्रिय-मिलन की भाव-मग्नता के बीच क्षणिक ही होता है, और अपरोक्ष दर्शन एवं मिलन की दशाओं के मध्य में एक ऐसी अवस्था मानी जाती है जिसमें अपूर्व निराशा शून्यता का अनुभव होता है। मानुषिक सम्पर्क से विच्छेद होने के कारण इसमें और

---

१ विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—अमेरिकन जरनल ऑफ रैलिजस साइकोलोजी भाग ६ में (Treodore Schroeder) का निबंध।

२. दादू बिरह जगावै दरद कौ दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति कौ पंच पुकारै पीव॥—दा द बा (१) पृ ४२।

३ वही सा १४१ पृ ४१।

अधिक तीव्रता जान पडती है। यह निष्क्रियता और शून्यता की दशा होती है अत उस विरहानुभूति से कोई समता नही जिसमें मिलनोत्कठा ही नही बल्कि चैतन्य की स्थिति होती है।

विरह ही प्रियोन्मुख करता है अत विरह की लगन अपेक्षित होगी।[1] लौकिक रूप में जिसे विरह कहा जाता है कि उससे यह भिन्न है, यह एक प्रकार का पूर्वराग है, जिसमे वासना के शोधित रूप के दर्शन किए जा सकते हैं। यह आध्यात्मिक चैतन्य-जागरण का प्रथम सोपान है। इस अवस्था में विरह-निवेदन होता है। विरह की इस अवस्था के पश्चात् ही विच्छेद का अनुभव होता है। यह विच्छेदावस्था नही, कारण वास्तविक विच्छेद कभी होता नहीं। क्षण-विच्छेद की अनुभूति मिलनोत्कठा को अधिक तीव्र करती है[2] अत इसकी अपेक्षा सत मानता है। यह विरह अत्यत अपेक्षित है, आवश्यक है।[3]

लोक-कल्याण

देवोन्माद और ईश्वरावेश की अपेक्षा स्वीकार करने के कारण यह समझा जाता रहा है कि रहस्यवादी साधना विशिष्ट व्यक्ति की अकेली उडान है एव लोक-कल्याण तथा जन-मगल से उसका सम्बन्ध नही। यह सत्य है कि सन्त इस ससार को 'बिराना' कहता है, किन्तु इसके साथ ही वह सर्वत्र परम-तत्त्व की छवि के दर्शन करता है। उसका विरोध ससार से नहीं, ससार की सासारिकता और आग्रहपूर्ण मोह से है, जिसके कारण भौतिक सुख ही सत्य प्रतीत होता है और जिसके बन्धन मनुष्य के आत्म-विकास के बाधक है। शरीर महत्त्वपूर्ण है, जीवन आशापूर्ण है, सन्त ने मानव को चिर आशा का सन्देश दिया है। ईसाई सन्त जिस प्रकार ससार से विच्छिन्न होकर पुन वापस आते हैं, दिव्य सन्देश सुनाने के लिए, वैसा कुछ प्रयास सन्त नही करता। आवेश के क्षण भिन्न नही, सम्पूर्ण जीवन ही मगलमय आवेश से पूर्ण है। ससार मे रह कर भी सन्त सासारिक नही, जीवित रह कर भी सासारिक अर्थो मे जीवित नही, आध्यात्मिक होकर भी आधिदैविक नही। मानव की सहज प्रतिष्ठा का जो प्रयास आज हो रहा है, उसका भावात्मक स्वरूप सन्तो की वाणी में प्रस्फुटित हुआ। सगुण भक्त का विश्वास है कि मनुष्य अपूर्ण है, गुण वास्तविक किन्तु बाह्य है, आदर्श के अनुकरण द्वारा इन्हें प्राप्त किया जा सकता है और सभी मे इन गुणो के प्राप्त और ग्रहण करने की क्षमता भी नही। सन्त का विश्वास है कि गुण बाह्य नही, बल्कि आन्तर है, सबमें विकास की सम्भावना है, मनुष्य पूर्ण है, केवल अपूर्णता की धारणा उसे पूर्ण बनने नही देती। वह

---

१ भँवरा लुबधी वास का, मोह्या नाद कुरग।
यो दादू का मन राम सो, दीपक जोति पतग ॥—वही ३३, पृ० २३।

२ कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
विरहिणी पिव पावै नही, जियरा तलपै माइ ॥ —क० ग्र०, सा० ३४, पृ० १०।

३ बिरहा मेरा मीत है, बिरहा बैरी नाहि।
बिरहा को बैरी कहै, सो दादू किस माँहि ॥
—दा० द० बा० (१), साखी १५१, पृ० ४४।

मानव का असीम और अपरिमेय शक्ति का सन्देशवाहक है। उसका लोक-मंगल व्यापक और उसकी सीमा उदार है।

भारत और यूरोप की विचार-धारा में निराशावादिता और आशावादिता का अन्तर देखा गया है। निवृत्ति और प्रवृत्ति का बिल्ला लगा कर इन सन्तों पर आक्षेप करने की भी चेष्टा होती रही है। वेदोन्माद और ईश्वरावेश की चर्चा कर इन्हें इस लोक के अतिरिक्त परलोक की चिन्ता करनेवाला भी कहा गया है इस प्रकार इनकी नैतिक धारणाओं में अनास्था प्रकट की गई है। सन्त निराशावादी नहीं प्राणि-मात्र को आशा का सन्देश देनेवाला मानवीय महत्ता का प्रतिष्ठापक निराशावादी नहीं हो सकता। लोक-मंगल की भावना का तिरस्कार वह नहीं करता लोक और समाज की व्याप्ति और सीमा को उसने व्यापक अवश्य बनाया है। भौतिक साधनों को वह तुच्छ समझता है, सांसारिक ऐश्वर्य को महत्त्वहीन मानता है। 'जो पिंडे सोई ब्रह्मंडे' का सिद्धान्त स्वीकार करनेवाला प्राणि-मंगल की भावना से विच्छिन्न कैसे रह सकता है? हाँ उसकी कल्याण-कामना उदारता नहीं आत्मा की सहज मंगलमय ज्योति है। मानव-मात्र के लिए उसके समीप असीम आशा है, उसकी साधना मात्र व्यक्तिगत नहीं सभी उस मार्ग के पथिक हो सकते हैं मनुष्य के लिए वह ऐसी स्वतन्त्रता उपलब्ध करता है, जो उसे वास्तविक महत्त्व दे सके।

रहस्यवाद और धर्म

रहस्यवाद का उद्भव धर्म-सम्प्रदाय के क्षेत्र में हुआ है यद्यपि धर्म के साथ समझौता अथवा विरोध कर वह चलता रहा है। शोभित्याचार्य के अनुसार रहस्यवादी मुख्यतया धार्मिक व्यक्ति है किन्तु उसकी क्षमता का मूल-स्रोत हृदय और उपासना में है। वैयक्तिक धारणा के विरुद्ध उसमें सार्वभौम भावनाएँ हैं।[१]

पश्चिमीय यूरोप के रहस्यवाद के पतन और धार्मिक विचारों का गहरा सम्बन्ध अण्डर हिल ने ईसाई धर्म के मध्यकालीन स्वरूप के साथ देखा है।[२] पाश्चात्य लेखकों ने रहस्यवाद को धर्म का मर्म अथवा भक्ति-पथ या प्रेम-पथ माना है। आचार्य शुक्ल भक्ति को धर्म का हृदयपक्ष मानते हैं। 'कबीर' और अन्य सन्तों को कम-बेश अन्तर के साथ—धर्म-सुधारक कहा जाता है, जिन्होंने हिन्दू-मुसलमान की एकता का प्रयास किया। इस प्रकार मुस्लिम प्रभाव दिखा कर रहस्यात्मकता के लिए गुंजाइश भी कर दी गई है। आधुनिक युग में रहस्यात्मकता के आधार पर विश्व के प्रमुख धर्मों के संश्लेष और समन्वय की चेष्टा हुई। भारतीय राजनीति के बहुमुखी धाराओं के सार्वभस्य का प्रयास भी इस प्रकार किया है। सर राधाकृष्णन् जैसे विचारक इस मत के पोषक हैं। रहस्य भावना की समता और अभिव्यक्ति के माध्यम की भिन्नता स्वीकृत होती रही है। इसके विषय में भारत के अनेकानेक पण्डितों की सम्मति पश्चिम की आधिभौतिक सभ्यता एवं भारत की धर्म-दर्शन-साधना-धारा के रहस्य को समझने

१ दि मेटाफिजिकल्स ऑफ मिस्टिसिज्म पृ १११।

२ दि एसेन्शियल्स ऑफ मिस्टिसिज्म पृ १।

में अक्षम रहेगी। मनुष्य की वृत्तियाँ काल, देश, इतिहास और भूगोल—धर्म और समाज का व्यवधान स्वीकार नही करती। साम्प्रदायिक धर्म को कट्टरता और तज्जन्यहीनता के भावो का विरोध सन्त ने स्पष्ट किया है किन्तु प्रकृत अर्थ मे कबीर धर्म-सुधारक नही और न किसी सम्प्रदाय की स्थापना उन्होने की। सन्तो के आस-पास श्रद्धा-विजडित भक्तो का समाज जुड गया था किन्तु न तो उन्होने धर्म-सुधार करना चाहा और न कर सके। मनुष्य के प्रकृत धर्म की ओर मानव-मात्र का एव विशेषतया जिन्हें पौराणिक धर्म अपनी सीमा में वर्जित कर चुका था, वैसे व्यक्तियो का ध्यान उन्होने आकृष्ट किया। सन्त की चेतना साम्प्रदायिक बन्धन स्वीकार नही करती।

धर्म-सुधार से अधिक उनका ध्यान उन सामाजिक रूढियो पर था, जिनके कारण धर्म-साधना पर उन्हें स्वतन्त्र अधिकार नही रह गया था। पाषाण-प्राचीरो की सीमा में आवद्ध जड देव-विग्रह की उपासना का अधिकार नही माँग, देव और देवल को उन्होने मुक्त जीवन और जगत् में प्राप्त करने का प्रयास किया। सर्व साम्प्रदायिक रूढियो से मानव-मात्र को मुक्त करने का प्रयास सन्त करता है। हिन्दुत्व कोई सघ-वद्ध धर्म-सम्प्रदाय नहीं, नाना प्रकार की धर्म साधनाएँ नाना स्रोतो से आकर विशाल सगम बनाती रही हैं, आस्था की एकता भी आवश्यक नही, इस धर्म का वैज्ञानिक अध्ययनोपयुक्त कोई निश्चित स्वरूप नही। आधार की व्यापकता, अनेकानेक धाराओ-उपधाराओ के सगम-समन्वय और मान्यताओ की विभिन्नताएँ हिन्दुत्व को अन्य सघ-वद्ध धर्मों से भिन्न करती हैं अत सास्थिक सघ-सम्प्रदायवाले सुधार की अपेक्षा हिन्दुत्व में नही रह सकती। नानक ने सम्प्रदाय खडा किया और उनकी दृष्टि इस सास्थिक प्रतिष्ठान पर अवश्य रही किन्तु नानक नैतिक रहस्यवादी ही हैं। सन्तो का लक्ष्य धार्मिक सुधार की ओर नही था, उनकी साधना वैयक्तिक थी, व्यक्तिगत थी किन्तु उस पर सबका समान भाव से अधिकार था।

रहस्यवाद और काव्यात्मकता

रहस्यवादी साहित्य में कल्पना की उडान, आनन्दोल्लास पूर्ण भावना की अभिव्यक्ति एव कलात्मक रूप-विधान देने की चेष्टा तथा साकेतिकता-प्रतीकात्मकता प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। मिस्टिसिज्म का मौन (Mum) के साथ सम्बन्ध रहने पर भी पहुँचे हुए रहस्यवादी भाव और भाषा के धनी रहे हैं। क्रोचे की धारणा इन पर घटित होती है कि प्रज्ञात्मकता ही अभिव्यक्ति है, अभिव्यक्ति ही प्रज्ञात्मकता है। जर्मन और ईरानी रहस्यवादियो ने केवल काव्यमयी भाषा का प्रयोग ही नही किया वल्कि नूतन काव्यात्मक शैली का प्रयोग भी। ईरान का रहस्यवादी काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और प्रसिद्ध कवि सनाई, उमर खैयाम, रूमी, शब्सतरी, हाफिज, जामी आदि रहस्यवादी भी हैं। सरूपात्मक और साकेतिक भाषा का कलात्मक प्रयोग इस साहित्य में हुआ है।

भावना और विचारो की अभिव्यक्ति सत-साहित्य में हुई है, उसमें जी-उवानेवाले वर्णन हैं। आनन्दोल्लास की पूर्णता है भावना की सचाई, गहराई और व्यापक तीव्रता है किन्तु कलात्मक स्वरूप देने की चेष्टा नही और न कल्पना की विशद उडान ही है। सूक्ष्म भावनाओ

को स्थूल रूप देने और लौकिक प्रतीकों एवं संकेतों द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा अवश्य है। मंत ने यह अमान्य कर दिया कि अनुभूति की तीव्रता और संवेदनशीलता के लिए कल्पना और कलात्मकता का कृत्रिम परिधान चाहिए ही। मान्य अर्थों में संत-काव्य कलात्मक और काव्यात्मक नहीं। इस प्रश्न पर अन्यत्र सविस्तर विचार किया गया है।

सहज शौर्यपूर्ण और सरस संतोषमय जीवन की कामना सांसारिकता का तिरस्कारपूर्ण एवं जीवन की सहज-स्वच्छता का स्वर संत-काव्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। किसी प्रकार के उद्वेगउद्वेग से उद्वेलित होना संत नहीं चाहता शान्तिवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा उसके यहाँ है। संत विरागी है, वीतरागी है किन्तु बैरागी नहीं। ध्यान-धारणा और साधना की अपेक्षा वह स्वीकृत करता है किन्तु योग की शरीर-पीड़क आसन-मुद्राओं को नहीं। उसका उद्देश्य परम-तत्त्व के साथ एकान्त अभिन्नता-स्थापन है और यह अभिन्नता-स्थापन चेतन वैयक्तिक और पूर्ण है। वह भौतिक और भौतिक चमत्कार की इच्छा नहीं रखता। उसके जीवन की चेतना सीमित और संकुचित नहीं रह जाती उसकी चेतना का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उसका व्यक्तित्व इस प्रकार खण्डित नहीं होता बल्कि पूर्णत्व-काम करता है। रहस्यवादी वह है, कारण रहस्य की चर्चा मात्र नहीं करता बल्कि जीवन में ही वह पूर्णता की अनुभूति प्राप्त करता है। वह द्विधा और सकोच-हीन पूर्णता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य ही पूर्णता है अनुभूति की एकात्मता ही पूर्णत्व है, वह पूर्ण है और उसके साथ ही सम्पूर्ण जगत् भी।

जिस रहस्यात्मकता से रहस्यवाद का उद्‌गम माना जाता रहा है, उसके साथ परम तत्त्व निरपेक्ष सत्य की अनुभूति का पूर्ण सामंजस्य नहीं हो पाता। संत के लिए न तो परोक्ष सत्ता और न अमूर्त सत्ता ही गुह्य अथवा गोप्य है, और न आत्म-तत्त्व ही। यदि कबीर के लिए कोई रहस्य है तो बड़ा सीधा और सरल सोझी पुर' (स्पष्ट रहस्य) है। रैदास के अनुसार इसमें कुछ भी गोप्य अथवा गुप्त नहीं सभी तो इसे स्पष्ट रूप में ही जानते हैं।[१] संसारी मनुष्यों की अवहेलना से इसके भेद को छिपाकर रखने और रहस्यपूर्ण कहने की चेष्टा होती है। चरनदास के अनुसार अतः इस भेद को छिपा कर रखना चाहिए और किसी से इसके सम्बन्ध में कुछ कहना उचित नहीं।[२] इतना जरूर है कि यह अनुभव शब्दों में प्रकट नहीं होता हो भी नहीं सकता। वही इसे जानता है जिसने स्वयं अनुभव किया है।[३] संत समस्त भेद को जानता है और उसी कारण बाह्य भेद से दूर रह कर आन्तरिक एकता स्थापित करने में वह समर्थ हो पाता है।

संत के समक्ष दो प्रश्न हैं सामान्य जनता और निम्नवृत्ति मनुष्यों के लिए इस अनुभव का द्वार उन्मुक्त करना लोगों की भावना का जागरण और इसके आधार पर आचरण का

---

१ कह रैदास भाव गोप्य नहीं जाने सब कोई। —रै बा पद ७ पृ १।

२ भेद छिपावै तो फल पावै काहू से नहिं कहिये।—च बा (२) पद ७ पृ १२९।

३ मीथे लोइन नहिं रहउ के सामन मटि माहि।
गमरण सेवउ पीउ उड किसी समताथु नाहि॥ —र्ष क सलोकु २१४।
अनघड कि नैन देखिया बैरागीअड़े बिनु मैं अनघड होइ बणाइवै।—वही मा ८।

निर्माण। दूसरी ओर वाह्याचार के पोषक इनका विरोध कर रहे थे, ऐसी अवस्था में इन हँसनेवालो से अपनी साधना और अनुभव को छिपा कर रखने की समस्या भी थी। इन सतो पर हँसनेवालो का अभाव किसी युग में नही था। अत एक ओर वह इसे 'सोझी गुर' और दूसरी ओर 'गोप्य' कहता है।

रूढ़िवादी रहस्यवाद का प्रारम्भ "माइ गाड! माइ गाड व्हाट आर्ट दाउ? ऐंड ह्वाट ऐम आई"? से होता है और अभिन्नता-स्थापन एव अनुभूति-पूर्णता के क्षणो में इन प्रश्नो का उत्तर दिया जाता है। सत के समक्ष यह प्रश्न नही, वह परम-तत्त्व को जानता-पहचानता है। वह सत के लिए अज्ञात और अव्यक्त नही अज्ञेय, अज्ञात अथवा अव्यक्त भले हो। वस्तुत वही सत है जिसने जीवन और जगत्, व्यष्टि और समष्टि, जीवात्मा और परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया है और ऐसा परिचय मूर्च्छा अथवा उन्माद के क्षणो में नही होता। सत रहस्य का जिज्ञासु नही, बल्कि रहस्य-मर्मी है, मर्म को पूर्ण मार्मिकता के साथ पहचाननेवाला। इस मर्म को पाना कठिन नही, किन्तु सत दु खी है कि सूक्ष्म किन्तु व्यापक और व्यक्त सत्य को मायिक और मायिकता में आबद्ध जीव पहचान नही पाता।

रहस्यवादी-पद्धति

प्रत्येक रहस्यवादी एक-दूसरे से भिन्न है। नानक और कबीर के व्यक्तित्व में अन्तर है। दादू में जो भावात्मकता, भावोद्रेक है वैसी तरलता कबीर में नही। जो निश्छल समर्पण रैदास की बानियो में प्राप्त है, वह सुन्दरदास की कलात्मक रचना में नही। नाथ-पथी परम्परा की जितनी प्रगाढ चेतना कबीर अन्तर्भूत करने में समर्थ हो सके थे, उसका अभाव ही परवर्ती सम्प्रदाय में दीख पडेगा। बाबरी साहिबा की-सी उद्विग्नता सहजोबाई में नही। भावोन्माद और भावावेश की वह अवस्था इनमें नही जो सूफी रहस्यवाद का प्राण है। मनोवैज्ञानिक स्थिति और सास्कृतिक चेतना के कारण विभिन्नता अनिवार्य होती है। रहस्यवाद की सभी भूमिकाएँ और अवस्थाएँ प्रत्येक रहस्यवादी में उपलब्ध नहीं होती और इनके सबध में कोई सामान्य प्रणाली निश्चित नही की जा सकती।

आत्म-शोध की अवस्था में अपरोक्ष अनुभूति नही होती, उसके योग्य और अनुरूप भूमिका अवश्य उपस्थित करती है। आत्मशोधन सप्रयास और आयास हीन दोनो हो सकता है किन्तु सत इसे प्रयासकृत नही मानता, प्रारभ में चेतना जागरण की भूमिका के रूप मे इसे स्वीकार अवश्य करता है। इस अवस्था में एक अननुभूत सतोष और अभूत अपूर्व शान्ति मिलती है। सत अन्तर की आरसी को मल-मल कर धोना चाहता है, कारण मलिन आरसी मे रूप का स्पष्ट प्रतिफलन नहीं हो सकता। वैराग्य भी रहस्यवाद नही और न रहस्यात्मकता की आवश्यक भूमिका ही है। ध्यान सचेष्ट क्रिया-कलाप है, उसमें समस्त वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं। सत की चेतना सहज ही इस स्थिति में पहुँच जाती है जिसमें जीवन का प्रत्येक व्यापार ध्यानजन्य और अनुभूतिगम्य प्रतीति बन जाता है। मिलनोत्कठा ही इस स्थिति में ध्यान-धारणा है। ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान, प्रिय, प्रेमी और प्रेम की त्रिधा स्थिति का एकीकरण इस स्थिति में होने लगता है, पूर्णतया एकीकरण जिसकी चरम स्थिति होगी। परवर्ती सत-साहित्य

में प्रिय-समागम की पूर्णता अधिक परिलक्षित नहीं होती । गुरु-माहात्म्य की प्रतिष्ठा के कारण सम्मुख लौकिक और अलौकिक हुए प्रारंभिक अवस्था में लौकिक में अलौकिक की स्थापना के कारण अन्तर आ गया । अलौकिक के लौकिक प्राकट्य और लौकिक में अलौकिकता की स्थापना के कारण उत्पन्न होनेवाला विभेद स्पष्ट होने लगा । प्रिय प्रेमी और प्रेम के भिन्न की अवस्था में अतः अन्तर आ गया । यह त्रिवेणी विभिन्न तीन धाराओं का संगम नहीं बल्कि एक ही तत्व की विभिन्न स्थितियों का एकीकरण है, पूर्णतया भिन्न है ।

सन्तों की रहस्यात्मक कोटियाँ

सामान्य दृष्टि से संतों की रहस्यात्मक कोटियों की चर्चा संभव है । नामदेव में सामाजिक स्तरों इनकी भिन्नता और इस भिन्नता की व्यर्थता स्पष्ट रूप में आई है ऐसी अवस्था में इन्हें सामाजिक अथवा लोकात्मक रहस्यवादी माना जा सकता है । बोधात्मक अनुभूति अथवा अनुभूति और बोध-पक्ष के समीकरण के कारण कबीर में भावात्मक अथवा बौद्धिक ही नहीं बल्कि बोधात्मक अनुभूतिवादी अथवा चिंतन-प्रधान रहस्यवाद देखा जा सकता है । नानक आचरणवादी अधिक हैं । भावात्मक रहस्यवाद दादू में स्पष्ट है जो सूफी माधुर्य भाव तक पहुँचने लगता है । रविदास में सत्प्रेमपूर्ण रहस्यवाद प्रकट होता है । सिक्ख गुरुओं विशेषकर गुरु गोविंद सिंह में कर्मवादी रहस्यवाद के दर्शन किए जा सकते हैं जिसके अनुसार व्यावहारिक मनुष्य ही आदर्श है ।

रहस्यवाद के तत्व और स्वरूप की विभिन्नता और उनकी विभिन्न संतों में प्रतिष्ठा देखकर इस प्रकार का वर्गीकरण किया जा सकता है । मराठी संतों के विभाजन की चेष्टा रानाडे ने की है ।[1] ऐसा वर्गीकरण सुविधाजनक होने पर भी वास्तविक नहीं होता कारण तत्व विच्छिन्न नहीं एक तत्व की प्रधानता अन्य तत्वों के अभाव का सूचक नहीं बल्कि विभिन्न तत्व एक दूसरे में अन्तर्भूत हो जाते हैं और इस प्रकार समन्वित रूप में ही प्रकट होते हैं । कबीर में आचरण की पवित्रता है तो भावात्मकता भी । दादू की भावात्मकता में बोधात्मकता का तिरस्कार नहीं गुरुअरदास का लोकपरक आचरण को अपेक्षा और अनुभूति की अनिवार्यता को स्वीकार करता है । नामदेव का सामाजिक स्वर कबीर में अधिक स्पष्ट हुआ है । सगियों के साधनात्मक रहस्यवाद का स्वर इन संतों में तीव्र नहीं । योगियों की इस साधना का संस्कार अन्तिम कड़ी की स्वच्छता के कारण नहीं । यौगिक क्रियाओं एवं उनके रूप से संत परिचित हैं और योगियों से अपना प्रतिपादन करने के लिए उन्हीं की शब्दावली में उत्तर देते हैं ।[2]

---

1. द्रष्टव्य—रानाडे : इंडियन मिस्टिसिज्म (मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र) ।
2. मुंद्रा मोनि दइआ करि झोली पत्र का करहु बीचारु रे ।
   खिंथा इहु तनु सीअउ नामु करउ आधारु रे ॥
   ऐसा जोगु कमावहु जोगी । जप तप संजमु गुरमुखि भोगी ॥ १ ॥
   बुधि बिभूति चड़ावउ अपुनी सिंडी सुरति मिलाई ।
   करि बैरागु फिरउ तनि नगरी मन की किंगुरी बजाई ॥ २ ॥

आत्म-शोध, अन्तर्ज्योति का जागरण, विरहानुभूति और तज्जन्य उद्वेग, आशा और आकाक्षा की तीव्रता, मिलन की पूर्णता और तद्विषयक आनन्द की भावात्मक उपलब्धि आदि प्रक्रियाओं को सन्तो ने ग्रहण किया है। ध्यान-धारणा और सहज साधन का भी विवरण है। परवर्ती साहित्य में सहज-योग का स्वरूप बदलता गया और कुछ पन्थो में यौगिक क्रियाओ का विस्तृत विवरण दिया गया। आगमनिगम बोध में षट्चक्र वेधन की प्रणाली और यौगिक क्रियाओं का सविस्तर विवरण है। 'भँवर गुँजार'[1] ने गुरु-माहात्म्य का इस सम्बन्ध में विशद वर्णन है। इस परवर्ती साहित्य के आधार पर योग-परम्परा की चर्चा अधिक उपयुक्त नही।

रहस्यवाद के विभिन्न अर्थों की चर्चा हुई है। ब्रह्म के स्वरूप अथवा यौगिक साधना के कारण सन्तो को रहस्यवादी सिद्ध नही किया जा सकता। सूफी-प्रतीकात्मकता का अपेक्षाकृत अभाव इस साहित्य में है, न तो इनकी कल्पनावादी भावुकता है और है आवेश और मूर्च्छा के क्षणो में साक्षात्कार करने की उत्कण्ठा और लालसा। यौगिक क्रियाओ द्वारा आत्मस्थ और अन्तर्गत परमतत्त्व की उपलब्धि-सम्भावना के कारण भी इन सन्तो को रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता। सन्त स्वप्न-द्रष्टा, आत्मवादी और पूर्णतया विवर्तवादी भी नही। उसमें अस्पष्ट आधिदैविक भावनाएँ और धारणाएँ नही। परम-तत्त्व उसके लिए गुह्य, गोप्य और रहस्य नही। वह अपनी साधना को भी गुह्य अथवा गोप्य साधारणतया नही कहता। ससार का रहस्य भी वह पूर्णतया जानता-समझता है। रूढि और सम्प्रदाय की मान्यताएँ उसे स्वीकृत नही। मान्य अर्थों में सन्त दार्शनिक भी नही और न तर्क एव वाद के प्रति ही उसका मोह है। अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा भी उसमे नही, प्रारम्भिक जीवन मे इस जिज्ञासा के सामान्य दर्शन सम्भव हैं। चित्त-विक्षेप अथवा मादक-द्रव्य सेवन द्वारा क्षणिक आवेश की सृष्टि का भी आवेश उसमें नही और न लोक-कल्याण और जीव-मगल की धारणा का उसमें अभाव ही है। जिस मानसिक विकृति की चर्चा कुछ मनोवैज्ञानिक करते रहे हैं उसका भी अभाव ही सन्त-साहित्य में दीख पडता है।

अनुभव की तीव्रता और पूर्णता, एव इसके द्वारा परम-तत्त्व के साथ समरसत्व की स्थापना उसे स्वीकृत है। इस अनुभव को सन्त केवल महत्त्वपूर्ण नही मानता, वल्कि पूर्ण प्रामाणिक भी। अण्डरहिल की परम-सत्य के साथ मिलन की कला इन सन्तो के रहस्यवाद में है। कम अथवा विशेष मात्रा में समरसता की प्राप्ति अभिव्यक्त हुई और सन्त इस सम्मिलन में आस्था भी रखता है। आचार्य शुक्ल के अर्थों में सन्त रहस्यवादी नही और न दास की परिभाषा ही इनके लिए अधिक उपयुक्त होगी। व्यवधान-रहित, निश्छल और स्वार्थहीन प्रेम की प्रामाणिकता, और अगूढता उसे स्वीकृत है, यौगिक क्रियाएँ भी उसके लिए व्यवधान हो सकती हैं, बौद्धिकता इसी प्रकार का व्यवधान है। व्यवधान और वाधाओ की सीमा का अतिक्रमण कर परम-तत्त्व के सहज और अपरोक्ष दर्शन मे सन्त का विश्वास है और इस दृष्टि से सन्त रहस्यवादी है।

●

पच तनु लै हिरदै राखहु रहै निरालम ताडी।
कहत कवीरु सुनहु रे सतहु धरमु दया करि वाडी ॥३॥ —स क, रामकली ७, पृ १८२।

१ लेखक की हस्तलिखित प्रति जहाँ तक इन पक्तियो के लेखक को ज्ञात है, यह पुस्तक अभी तक अप्रकाशित है।

आनन्द का अन्वेषण

राम भगतु रामानन्द जाने । पूरन परमानन्द बखाने ।।

—आदि-ग्रंथ ।

आनन्द का अन्वेषण

☆

बहिर्जगत् मानवीय आकाक्षाओ और इच्छाओ की सीमा और व्यवधान है, मनुष्य की इच्छाएँ कभी पूर्ण नही होतीं, पूर्ण होकर भी अपूर्ण रह जाती हैं। व्यक्तित्व-निर्माण में अन्तर्वृत्ति और बाह्य जगत् के विरोध का आधार है, यह विरोध ही चैतन्य चेतन-धारा को गति देता है। प्रारम्भिक अवस्था में लक्ष्य अस्पष्ट ही रहता है, क्रमश लक्ष्य स्पष्ट होता जाता है और उसी क्रम से इस विरोध के प्रति मनुष्य में सजगता आती जाती है। कवि अपनी भावना को अभिव्यक्त करना चाहता है, शब्द उसकी सीमा बन जाते हैं, कलाकार अपनी आदर्श सौंदर्य-भावना को उपयुक्त मूर्त्त स्वरूप नहीं दे पाता, सुख के अन्वेषक को सुख के उपकरण तो मिल भी जाते हैं किन्तु सुख और तृप्ति नही, एव समाज-सेवक समाजगत उदासीनता, तटस्थता और अज्ञान को दूर नही कर पाता। वस्तुत इस विरोध के कारण उद्देश्य में अधिक स्पष्टता आती है और मनुष्य की सदा समस्या रही है पूर्णता प्राप्ति की, आनदोपलब्धि की। आनन्द के स्वरूप, उपलब्धि के साधन और तज्जन्य अवस्था सम्बन्धी धारणाओ में अन्तर है, इसके धनात्मक और ऋणात्मक दोनो स्वरूप है और उपलब्धि के साधनो में वस्तु-प्राप्ति से वस्तु-त्याग तक की धारणाएँ अन्तर्भूत है किन्तु मनुष्य की वास्तविक समस्या है आनद के अन्वेषण और उसकी उपलब्धि की।

ऋणात्मक सुख

प्राचीन काल से ही विचारको ने देखा था कि ससार मे दु ख और क्लेश का आधिक्य है और आत्यतिक इच्छा रहने पर भी किंचिन्मात्र सुख प्राप्त नही होता। औपनिषदिक ऋषि ने परिलक्षित किया था कि यह ससार घृणा के योग्य है क्योकि इसमे किंचिन्मात्र सुख नही।

यह केवल दुःख रूप है, जीव घटीयंत्र की भाँति ऊपर नीचे अहर्निश फिरा करता है।[१] बौद्धदर्शन आत्यंतिक दुःखवादी है दुःख ही आर्य (उत्तम) सत्य है। जन्म भी दुःख है जरा भी दुःख है व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है अप्रियों का संयोग दुःख है, प्रियों का वियोग भी दुःख है, इच्छा करने पर किसी (वस्तु) का नहीं मिलना भी दुःख है।[२] इस संसार में महाभारतकार के अनुसार सुख की अपेक्षा दुःख का आधिक्य है।[३] गीता भी मनुष्य-जीवन को अशाश्वत और दुःखों का आलय[४] तथा अनित्य और सुखरहित मानती है।[५] अन्तिम दुःख परिभाषा के कारण अन्त में सुख के नष्ट हो जाने के विचार से सुखानुभूति और सुख पाने की लालसा के कारण अथवा गुणवृत्तियों के विरोध के कारण प्रत्येक वस्तु विवेकियों को दुःखदायी ज्ञात होती है।[६] दुःख के कारणों में बाह्य जगत् का विरोध वस्तुओं की अनित्यता और दुःख-स्वरूपता और इसका जीवन में आधिक्य परिलक्षित किया गया है। ज्ञानात्मक सुखवादी दुःख-स्वरूपता से मुक्ति को ही सुख मानता है।

जीवन की इस दुःख-स्वरूपता के कारण सुख का आग्रह और अधिक स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ मात्र सुख के लिए हैं और धर्म अर्थ काम का इसके अतिरिक्त और कोई अन्य फल नहीं।[७] सुख की आत्यंतिक कामना के कारण मनुष्य की चेतना अभाव के प्रति अधिक सजग होती है। दुःख का कारण मात्र अभाव नहीं बल्कि अभाव की चेतना है। अभाव के चार प्रकारों का वर्णन पंचग्रंथी में आया है—प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अन्योन्याभाव एवं अत्यंताभाव। अभावों से त्राण पाने की चेष्टा मनुष्य सदा से करता आया है।[८] अभाव के कारण दुःख है अतः अभाव से त्राण दुःख से त्राण भाव का ग्रहण आदि धारणाएँ बनती हैं। अतः सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक के मनुष्य की समस्याएँ रही हैं—सुख प्राप्ति प्राप्त सुख की वृद्धि दुःख से त्राण अथवा कम करने की चेष्टा।[९]

दुःख से सभी दुःखी और उद्विग्न होते हैं और सुख की इच्छा सभी मनुष्यों को है। आत्यंतिक दुःख से त्राण और आत्यंतिक सुख की प्राप्ति की धारणा के कारण दो विचार धाराओं का उद्गम हुआ। सुख को दुःख-निवृत्ति स्वरूप माननेवाली विचार-धारा जिसका

---

१ छांदोग्य (उत्तरार्द्ध) ५।१ ८। २ विनय पिटक महावग्ग १।१।६ पृ ८१।

३ सुखाद्बहुतरं दुःखं जीवितै नास्ति संशयः।—महाभा शां २ ५।६।

४ दुःखालयमशाश्वतम्। —गीता ८।१५। ५ अनित्यमसुखं (गीता ९।३३)।

६ परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वविवेकिनः॥

—पात यो सू २ १५।

७ इह खलु अमुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते। नह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्ट तरमस्ति। —महा भा शां १९०।९।

८. अभाव चार सोई सहियान। प्राग प्रध्वंस अन्योन्य जान।
अत्यन्ता नहिं भाव अभाव। अब्याभ कहियै आपु प्रभाव॥

—ग्रं० रामश्रिंगार १८।१९ पृ ४२।

९. जीव दुःखी चाहे छूटन बहु बिधि करै उपाय।—प ग्रं पंचकोष पृ० २४।

१ द्रष्टव्य—गीता रहस्य पृ ९४।

अधिक गहरा प्रभाव बौद्ध-दर्शन और उससे प्रभावित धर्म-साधना और सम्प्रदाय सगठन पर रहा, दूसरी धारा धनात्मक सुखवाद की है। विचारको ने पूर्वागत आर्यों को दु खवादी और परवर्त्ती आर्यों को आनन्दवादी माना है। आनन्दवादी आर्यों के प्रधान देवता इन्द्र हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार अपवर्ग भारतीय चिन्ताधारा में स्वीकृत हैं। अर्थ, धर्म और काम-मूलक होने के कारण प्रधान हो जाता है। अधिकाधिक सुख की प्राप्ति और दु ख का आत्यतिक अभाव जीवन के सदा लक्ष्य रहे हैं और इनके सबध की विभिन्न धारणाओ का ही काल-क्रम से विकास होता रहा है।

सुख के स्वरूप : आधिभौतिक सुख

वैदिक साहित्य में भौतिक सुखवाद से लेकर आध्यात्मिक आनन्दवाद के बीज प्राप्त हैं। सुख और आनन्द का यह अन्तर उत्तर विकास का सूचक है। आनन्दवादिता के पर्याप्त सकेत रहने पर भी आधिभौतिक सुख की कामना अत्यन्त स्पष्ट है। दरिद्रता को दान विरोधिनी, कुशब्दावली, विकट-आकृति एव क्रोधनी तथा वृक्ष, लता, शस्यादि का अकुर नष्ट करके दुर्भिक्ष लानेवाली कहा गया है और उससे समुद्र पार जाने की प्रार्थना की गई है।[१] धन के लिए अग्नि से प्रार्थना है। देवताओ से आयु बढाने और चिरजीवी करने की प्रार्थनाएँ हैं।[२] सौ वर्षों तक जीने, सुनने और बलवान् बनकर जीवित रहने की कामना प्रकट की गई है। शत्रुओ से रक्षा प्राप्त करने और सभी कामनाओ की पूर्ति के लिए वैदिक ऋषि कम चिन्तित नहीं।[३] सख्या ही शक्ति थी, अत आर्य सतति की कामना रखता था। जीवन का सुख-सभोग ही आर्य-ऋषि के जीवन का ध्येय था।

सुखवाद की दो धाराएँ प्रवाहित हुई, वैदिक धारा नैतिक, सकुचित, सामाजिक अत मर्यादित रही। दूसरी धारा अमर्यादित, अबाध और व्यक्तिगत रही। नैतिक सुखवाद व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए सामाजिक सामजस्य की भूमिका को अनिवार्य रूप में स्वीकार करता है। स्वार्थ-साधन के लिए सघर्ष से अधिक सतुलन और सामजस्य की अपेक्षा होती है, अत वैदिक ऋषि केवल मृत्यु को दूर भगा अमरता की चाह[४] ही नही करता, मात्र सौ वर्षों तक जीवित रहने की आकाक्षा ही[५] नही पालता, अपनी सतति की कल्याण कामना[६] को ही श्रेयस्कर नही समझता बल्कि चाहता है कि समस्त ग्राम के लोग स्वस्थ और नीरोग रहें[७] एव दिव्य जल हमारे कल्याण के लिए बरसे, सम्पूर्ण ग्राम सुखी और सम्पन्न हो।

सुखवाद की आत्यतिकता और वैयक्तिकता के दर्शन चार्वाक मत में होते हैं। सुखवाद की इस धारणा को आर्य अथवा आर्येतर धारणा की सीमाओ में आबद्ध नही किया जा सकता।

---

१ ऋक्०, १०म मण्डल १५५ सूक्त १-२-३।

२ वही, १०।१३७।१ और १।८९।२।

३ वही, १०।१८७।१ और १०।१२८।४।

४ अथ०, १८।३।६२।

५ यजु०, ३६।२४।

६. यजु०, ३६।२२।

७ ऋक्० १।१४१।१।

लोक-प्रचलन के कारण ही इसकी लोकायत संज्ञा रही थी। षड्दर्शन-समुच्चय तथा सर्वदर्शन संग्रह के अनुसार बृहस्पति जड़वाद के प्रवर्तक हैं। इन जड़वादियों के अनुसार अधिक-से अधिक सुख की प्राप्ति ही जीवन का ध्येय होना चाहिए।[1] बृहस्पति देवताओं के गुरु माने गए हैं और देवराज इन्द्र का पौराणिक विकास अबाध सुख भोगवाद का सूचक है। ऋग्वेद में भी उसे अहल्या जार कहा गया है। इस मतवाद में भोग द्वारा वासना की सन्तुष्टि ही ध्येय है। चार्वाक के अनुसार महाभूतों के संघात से शरीर की उत्पत्ति होती है और उसमें एक नये गुण चैतन्य का आविर्भाव होता है एवं शरीर के जल जाने पर उसके साथ ही साथ वह भी जल जाता है अतः आत्म-विचार के प्रपंच में पड़ना श्रेयस्कर नहीं। गीता में ऐसे लोगों का उल्लेख है जिनके लिए संसार केवल भोग का हेतु है[2] कामोपभोग ही आनन्द है।[3] ऐसे लोगों का विश्वास था — मैं ईश्वर हूँ ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ सर्वसिद्धियों से युक्त हूँ बलवान् तथा सुखी हूँ।[4] इसी के आश्रय पर वे मनुष्य जगत् को आश्रय रहित तथा असत्य एवं बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष-संयोग से उत्पन्न हुआ मानते हैं। अतः उनके लिए संसार केवल भोगों के भोगने योग्य है।[5]

आधिभौतिक सुखवादियों के जीवन की झाँकी बौद्धग्रंथों में मिलती है। ऐसे लोग घाट पर रखी हुईं काष्ठ के चार पैरोंवाली चौकियों पर नहाने के पूर्व सुगंधित चूर्ण बिखेर कर उन पर बैठकर शरीर रगड़ते थे[6] नाना प्रकार के अलंकारों से शरीर को सुसज्जित करते थे[7] नृत्य वाद्य और गीत उन्हें अत्यन्त प्रिय थे[8] अंगराग-मुखराग लगाते थे तथा कौशेय वस्त्र पहनते थे।[9] सुवर्णमय रौप्यमय मणिमय वैदूर्यमय पात्रों का उपयोग करते थे।[10] अच्छे-अच्छे भोजनों को खाकर शरीर के अभिसन्न होने से बीमार रहा करते थे।[11] फूल बिखेरी शय्या पर शयन करते और सुगन्धित मालाएँ धारण करते थे।[12] अ-पुरुषों (स्त्रियों) के नाच-नृत्य से वेष्टित और सुनहले जूते पहनते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में सुखवाद की प्रतिष्ठा है। कामसूत्र के भाष्यकार यशोधर के अनुसार इन्द्रियों को अतृप्त रखने से उन्मादादि होने का भय रहता है। आधिभौतिक सुखवाद के उभरे हुए स्वरूप के कथन इस ग्रन्थ के सुपुष्ट भाव यदि भी जीवन-चर्या में होते हैं।[13]

---

१ द्रष्टव्य—षड्दर्शन समुच्चय और सर्वदर्शन-संग्रह।
२ किमन्यत्कामहैतुकम् गी० १६।८। ३ कामोपभोगपरमा वही १६।११।
४ ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी —गी० १६।१४।
५ गी० १६।८।
६ राहुल सांकृत्यायन द्वारा अट्ठकथा से विनयपिटक में उद्धृत।
७ विन० पि० चुल्लवग्ग ५।१।१ पृ ४१८।
८ वही ५।१।५ पृ ४२०। ९ वही ५।१५, पृ ४२ ।
१० वही ५।१।११ पृ ४२१। ११ वही ५।२।२ पृ ४२९।
१२ वही ५।२।५ पृ ४३१।
१३ पुरातत्त्व प्रबन्ध पृ १७ (प्रा भा क वि में उद्धृत)।

संयमित सुख-भोग

अबाध सुखोपभोगवाद का नियन्त्रण सयमित सुखोपभोगवाद के द्वारा सम्भव हुआ जिसकी सामाजिक-नैतिक भूमिका थी। अबाध सुखभोग के नियन्त्रण के लिए इस जीवन में सयम की अपेक्षा मानी गई जिसके द्वारा इस लोक में तो नही किन्तु परलोक में अबाध सुख-भोग की सम्भावना हो जाती है। श्रीमद्भागवतकार के अनुसार ससार में मैथुन, मास और मद्य के सेवन में प्राणियो की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इनके लिए कोई वेदाज्ञा नही होती। विवाह, यज्ञ आदि में इनके लिए जो अवकाश दिया जाता है, उसका हेतु उच्छृखलता का निवारण कर मर्यादा स्थापित करना होता है।[1] इस श्लोक की एकनाथी टीका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मैथुन के विषय में योनिभ्रष्टो को नियन्त्रित करने के लिए विवाह-सस्था प्रतिष्ठित कर वरिष्ठ वर्ग को अपनी निष्ठा में नियत किया गया। परलोक की कल्पना के मूल में प्राकृतिक वृत्तियो के नियन्त्रण की समस्या थी। कठोपनिषद् के अनुसार सम्पत्ति के मोह से अभिभूत निरन्तर प्रमाद करने वाले व्यक्ति परलोक में विश्वास नही करते, उनके लिए प्रत्यच्च दृश्यमान जगत् ही सत्य है।[2] इस प्रकार सुखोपभोग नियत सुखोपभोग, आवकाशिक सुखोपभोग और परलोक में सुख-प्राप्ति की कामना से ऐहिक सुख-त्याग के रूप में परिलक्षित हुआ। गार्हस्थ्य जीवन में नियत और आवकाशिक सुखोपभोग की सम्भावना रही। नियत सुख-भोग का स्वर प्राचीनकाल में ही स्पष्ट होने लगा था। अथर्ववेद के मन्त्रकर्त्ता ने पिता के व्रत का अनुकरण करने वाला पुत्र, आज्ञाकारिणी माता, शान्ति-युक्त मधुरभाषिणी पत्नी की कामना की थी।[3] उसे ज्ञात था कि जिन घरो में रहनेवाले परस्पर मधुर और शिष्ट सम्भाषण करते हैं, जिनमें सब तरह का सौभाग्य निवास करता है, जो प्रीतिभोजो से सयुक्त हैं, जिनमें सब हँसी-खुशी से रहते हैं, जहाँ कोई न भूखा है न प्यासा है, उन घरो में कही से भय सचार नही होता है।[4] चाणक्य नीति में गार्हस्थ्य सुखो में अर्थ-प्राप्ति, आरोग्य, प्रियवादिनी भार्या, वशीभूत पुत्र और अर्थकरी विद्या का उल्लेख किया गया है।[5] प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार जिसके घर में चार बैल हो और दो गायें, एव मधुरभाषिणी स्त्री उस कुनुबी (गृहस्थ) को घर पर हाथी बाँधने की कोई आवश्यकता नही।[6]

अबाध सुखोपभोग द्वारा भी सुख-प्राप्ति सम्भव नही, इसे विचारक ने लक्ष्य किया था। ये सुख केवल क्षणिक ही नही बल्कि पर्याप्त सुखमय नही, कारण इनसे शान्ति और

---

१ भागवत, ११।५।११। २ कठ०, २।६।

३ अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भगति सयत ।
जाया पत्ये मधुमती वाच वदतु शान्तिवाम् ॥ —पैप्पलादशाखा, ५।१९।२।

४ अथर्व०, पैप्पलादशाखा, ३।२६।४।

५ अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रियाश्चभार्या प्रियवादिनी च ।
वशश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकेषु सुखानि राजन् ॥ —चा० नी०।

६ च्यारि इल्ला धेनु दुइ, मिट्ठा वुल्ली नारि ।
काहू मुज कुड्ड वियहँ गयवर वज्झइँ वारि ॥ —हि० वि० अ० यो०, पृ० २७३।

संतुष्टि प्राप्त नहीं होती। सुख वस्तु नहीं वस्तु में भी नहीं बल्कि आकांक्षा की संतुष्टि में है। सुखोपभोग द्वारा वासना की तृप्ति नहीं होती। भोग-जन्य सुख आनन्द नहीं आनन्दाभास है। स्त्री ही अग्नि है, पुरुषेन्द्रिय उसका ईंधन ईंधन से अग्नि प्रकाशित होती है, पुत्रादि के जन्म से स्त्री प्रकाशित होती है। उसका धूम वार्तालाप है जिस प्रकार धूम से अग्नि अनुमित होती है, उसी प्रकार वार्तालाप से स्त्री। योनि ज्वाला है और अंगार मैथुन। अंगार का रूप प्राप्त होने से अग्नि शांत हो जाती है, वैसे ही मैथुन के पश्चात् कामाग्नि। चिनगारियाँ स्त्री भोगजन्य आनन्द है। चिनगारियाँ अग्नि से निकल कर तत्काल विनष्ट हो जाती हैं वैसे ही भोग-जन्य सुखाभास भी क्षण-मात्र में नष्ट हो जाता है।[1] महाभारतकार ने भी सूचित किया था कि जैसे अग्नि की ज्वाला हवन-पदार्थों से बढ़ती जाती है, उसी प्रकार विषय-वासना अनुदिन बढ़ती जाती है।[2]

श्रेय और प्रेय

संसार में मनुष्य की सभी वासनाएँ कभी सन्तुष्ट नहीं होतीं और सन्तुष्टि भी क्षणिक है। जीवन में अमरता की जो चाह रही वही सन्तुष्टि के क्षेत्र में आत्यन्तिक और अक्षय रूप में स्वीकृत हुई। क्षणिक सुख प्रेय और आत्यन्तिक और अक्षय सुख श्रेय बना। प्रेय के स्वरूप का निर्धारण करते हुए यम ने प्रचुर धन-सम्पत्ति दीर्घ जीवनोपयोगी सामग्रियाँ भूमिपतित्व और मनुष्य के लिए अलभ्य स्वर्ग की अप्सराओं का उल्लेख किया है।[3] मृत्यु का भय जिस प्रकार आत्म-तत्त्वोपलब्धि का साधन है, उसी प्रकार मायामात्र प्रेय की क्षणिकता वास्तव श्रेय की चिन्ता का आधार है। इस प्रकार आधिभौतिक भोगवाद के स्थान में आध्यात्मिक आत्मवाद की प्रतिष्ठा होती है। कठोपनिषद् के अनुसार श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य उसके स्वरूप के यथार्थ परिचय के कारण परम-कल्याण के लिए श्रेय का ही वरण करते हैं और मन्द-बुद्धि लौकिक योग-क्षेम की इच्छा से भोगों के साधन रूप प्रेय को अपनाते हैं।[4]

पराधीनता का त्याग ही वास्तविक सुख है। सभी वस्तुओं की कामना सुख के लिए होती है किन्तु सुख की कामना किसी अन्य वस्तु के लिए नहीं होती अत सुख से उपाधि-हीन प्रेम होता है। मनु के अनुसार जो दूसरों (बाह्य वस्तुओं अथवा व्यक्तियों) की अधीनता में है, वह दुःख और जो अपने (मन के) अधीन है, वह सुख है।[5] बोधिचर्यावतार के अनुसार

---

१ छां० (उत्तरार्द्ध ५।८।१)।

२ न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ —म भा आ ७५।४९।

३. कठ० १।२५।

४ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ —कठ०, २।२।

५ मनु ४।१६ ।
तुलनीय—पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं। —तुलसी।

भय और दु ख अपने आपको और दूसरो को भी अप्रिय हैं। वैकुण्ठ और स्वर्ग की कल्पना में भय और दु ख से त्राण का आधार है, अमरत्व और शाश्वत यश को प्राप्ति होती है। स्वर्ग के अवाध सुख की कल्पना के द्वारा जीवन मे कष्ट उठाने की प्रेरणा दी गई, कारण सुखभोग द्वारा सुख मिलने की सम्भावना नहीं। दु खो की अत्यन्त चिन्ता से दु ख होता है। दु ख-सुख का क्रम भी सदा लगा रहता है, अत इसके सम्बन्ध की चिन्ता व्यर्थ और अनुपयुक्त है। स्वर्ग का भोग भी आत्म-मूलक है। स्वर्ग को लक्ष्य माननेवाला मीमासा शास्त्र अबाध सुखभोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन-सा करता है। दु ख की चिन्ता नही करना, यह दूसरी शाखा बन जाती है। दु ख के अत्यन्ताभाव की मोक्ष सज्ञा है, ऐसी अवस्था में वैशेषिक मोक्ष-दशा में सुख नहीं मानता।

आनन्द

आत्मवाद के साथ सुख के सकल्पात्मक श्रेयस् स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई, नैरात्म्यवादी बौद्ध-दर्शन के लिए इस सकल्पात्मक स्वरूप को स्वीकृत करना सम्भव नही था। ब्रह्म की प्रतिष्ठा आनन्द-रूप मे हुई, सुख का यह श्रेयस्, सकल्पात्मक और शाश्वत स्वरूप हुआ। ब्रह्म की प्राप्ति ब्रह्मानन्द हुई जिसकी प्राप्ति के पश्चात् और किसी प्रकार के आनन्द की कामना अवशिष्ट नही रहती। आत्मा और परमात्मा मे अभेदात्मक भेद स्वीकार करनेवाले जीव में सत् और चित् की स्थिति तो मानते हैं किन्तु आनन्द की पूर्णता नही। चैतन्य द्वारा आत्मोद्घाटन एव निज-स्वरूप-परिचय अथवा भक्ति द्वारा परमात्म-तत्त्वोपलब्धि में दोनो ने आनन्द की स्वरूपता स्वीकार की है। इस प्रकार सच्चिदानन्द, ब्रह्मानन्द, आत्मानन्द विभिन्न विचार-धारा के अनुकूल हैं, पीछे चल कर इनका अन्तर्भाव सम्भव हो सका। इनकी प्राप्ति के पश्चात् और सारी कामनाएँ स्वय तुष्ट हो जाती हैं।[1]

आनन्द के स्वरूप की मीमासा कई स्थलो में हुई है। शासन में अत्यन्त कुशल, श्रेष्ठ आचरणवाले वेदाध्यायी द्रढिष्ठ युवक को धन-धान्य से परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति एक मानुष आनन्द है। सौ मानुष आनन्द मिल कर एक मानव-गन्धर्व का आनन्द होता है। एव एक सौ मानव-गन्धर्वों का आनन्द मिल कर एक देव-गन्धर्व का आनन्द होता है। एक सौ देव-गान्धर्व आनन्द के समान पितृलोक का आनन्द है और एक सौ पितृलोक का आनन्द मिल कर एक अजान-जाना देवता का एक आनन्द है। इस प्रकार एक सौ आनन्द मिल कर कर्मदेव का एक आनन्द बनते हैं। एक सौ कर्म-देवानन्द एक देवानामानन्द है और देवताओ का एक सौ आनन्द मिल कर इन्द्र के एक आनन्द के समान होता है। एक सौ ऐन्द्र आनन्द मिल कर एक बार्हस्पत्य आनन्द होता है, एक सौ बार्हस्पत्य आनन्द मिल कर प्रजापति के एक आनन्द के तुल्य हैं और एक सौ प्राजापत्य आनन्द ब्रह्म अथवा ब्रह्मलोक के एक आनन्द के तुल्य है। किन्तु, ये सारे आनन्द कामनाहीन श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) को स्वत प्राप्त हैं।[2] बृहदारण्यक

---

१ सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। —तैत्त० २।१।
सर्वान् कामान् समश्नुत इति। —वही, २।५।

२ तैत्ति०, ब्रह्मानन्दवल्ली, अष्टम अनुवाक।

में विवरण की कुछ असमानता के साथ इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। वह जो मनुष्यों में सब अंगों से पूर्ण समृद्ध दूसरों का अधिपति और मनुष्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण भोग सामग्रियों द्वारा सबसे अधिक सम्पन्न होता है वह मनुष्यों का परम आनन्द है। यही मापदण्ड है। वैयानन्द के पश्चात् ऐन्द्र और बार्हस्पत्य आनन्द की चर्चा नहीं है, प्राजापत्य आनन्द की चर्चा आ गई है। निष्पाप-निष्काम वेदवेत्ता को यह ब्रह्मलोक आनन्द सहज ही प्राप्त है। ब्रह्मलोक के आनन्द को ही परम आनन्द कहा गया।[1] तैत्तिरीय का ब्रह्मलोकानन्द मानुष आनन्द की अपेक्षा १ ०×१ ×१ ×१००×१० ×१ ×१ ×१००×१ ०×१० × १० =१ ० ० ० ०० ० गुना अधिक। ब्रह्मलोकानन्द ही ब्रह्मानन्द बना।

आनन्द से ही भूतोत्पत्ति होती है, आनन्द से ही जीवन की स्थिति है और मृत्यु के पश्चात् उसी में मृतात्मा प्रवेश कर जाती है।[2] इस स्थिति में आ कर आनन्द ब्रह्म का गुण नहीं बल्कि स्वरूप बन जाता है। ब्रह्म और आत्मा की एकता प्रतिपादित कर आत्मा की आनन्द-स्वरूपता की प्रतिष्ठा की गई। प्रियत्व का कारण आत्म-सम्बन्ध ही रहा और पदार्थ-बाधकता होने, अपने आप में स्थित आत्मोपलब्धि ही काम्य हुआ। इस प्रकार आत्मानन्द ही ब्रह्मानन्द हो गया। आत्म-स्वरूप की प्रतीति साधन बन गई। आनन्द आत्मा का स्वरूप हुआ और निष्कारण आत्मा ही परम-तत्त्व। आनन्द बाह्य नहीं अन्तस्थ रहा और इसकी संकल्पात्मकता सुरक्षित रही।

आनन्द : स्वरूप और कोश

इस विवरण के पश्चात् एक प्रश्न की मीमांसा आवश्यक है, आनन्द आत्मा का स्वरूप है अथवा कोश। कोशों की पंच संख्या स्वीकृत है—अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमय। अन्नमय कोश में स्थूल देह आदि पाँच जड़-तत्त्व हैं और इसी में विषय-विकार-जन्य मोह की उत्पत्ति होती है। अन्न से पलनेवाला शरीर ही अन्नमय कोश है। अन्न से ही भूतों की उत्पत्ति और स्थिति है।

प्राणमय कोश प्राणस्वरूप श्वासमय है। प्राणवायु ही जीवन है अतः इसकी सर्वायु संज्ञा है। प्राणमय कोश का सिर प्राणवायु दक्षिण भाग 'व्यान' और उत्तर भाग 'अपान' माने गए हैं। प्राणायाम प्राणमय कोश पर अधिकार प्राप्त करने का साधन है। प्राण-वायु पर शारीरिक प्रक्रियाओं द्वारा अधिकार प्राप्त किया जाता है और चित्त-वृत्ति का निरोध संभव है। इन्द्रियों को विषय-वासना का द्वार माना जाता है और इस प्रकार यौगिक क्रियाएँ इन पर विजय प्राप्त करना चाहती हैं। प्राणमय कोश अन्नमय कोश से सूक्ष्मतर है। प्राणमय कोश से भी अधिक सूक्ष्म मनोमय कोश है और उसके अन्तस्थ भी। मन से ही इंद्रियाँ गति प्राप्त करती हैं। मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। इन्द्रियाँ इसी की वशवर्तिनी

---

१ बृह ४।३।३३।

२ आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्य-भिसंविशन्तीति। —तैत्ति भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक।

है, अत मन की विजय ही सर्वश्रेष्ठ विजय है। चित्त, मन, बुद्धि और अहकार—चार अन्त -करण हैं। सूक्ष्म प्रकृति तत्त्व ही स्थूल रूप धारण करता है। इस कोश मे ही सूक्ष्म वासना रहती है, जो इन्द्रियो के द्वारा प्रकट होती है। मन पर विजय प्राप्त करने से सूक्ष्म वासना विनष्ट हो जाती है और इन्द्रियो का गति-चाचल्य अवरुद्ध हो जाता है। मनोमय कोश से भी सूक्ष्मतर विज्ञानमय कोश है। उसका शिर श्रद्धा, दक्षिण भाग ऋत, वामपक्ष सत्य, शरीर योग एव महस् निम्नभाग है। ज्ञान ही धर्मों का नियामक और निर्देशक है। ज्ञानहीन कर्म बन्धनकारी है। मन का नियत्रण ज्ञान द्वारा ही सकता है। सत्य उसका उद्देश्य, श्रद्धा साधन और ऋत फल। यह विज्ञान विकल्पात्मक बुद्धिवाद का फल नही बल्कि सकल्पात्मक अनुभूति द्वारा प्राप्य है।[१] विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत इससे भी सूक्ष्मतर आनन्दमय कोश है। प्रिय इसका शिर है, मोद दक्षिण भाग, प्रमोद वाम-भाग, आनन्द आत्मा और ब्रह्म निम्न भाग अथच आधार। आनन्द अन्तिम और सूक्ष्मतम कोश है जिसमे आत्मा का निवास है। इस कोश द्वारा ऐसे आनन्द की प्राप्ति होती है जिसका कभी क्षय नहीं होता।[२]

इस विवरण द्वारा स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि स्थूल से क्रमश सूक्ष्म की ओर गति है। स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और तदुपरान्त सूक्ष्मतम का विकास यहाँ दीख पड़ता है। पाँच कोशो (सत-साहित्य का पचकोश) द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के आनन्द की प्राप्ति होती है। अन्नमय कोश का सम्बन्ध विषय से अत इसके द्वारा विषयानन्द की प्राप्ति ही सम्भव है। अबाध भौतिक सुखवाद इसकी अनियन्त्रित स्वरूप उपस्थित करता है। विषयानन्द स्थूल विषयों द्वारा प्राप्त होता है, जो शीघ्रातिशीघ्र विनष्ट हो जाते है, अत यह आनन्द अत्यन्त क्षणिक और अनर्थकारी होता है। प्राणायाम द्वारा श्वास-क्रिया और प्रकृति पर विजय प्राप्त कर प्राणमय कोश को अधिकृत किया जाता है। समस्त यौगिक क्रियाओ का यही आधार है। हठयोगी इसी अवस्था तक पहुँचता है और इसी को परम-आनन्द मानता है। प्राणमय कोश की विजय द्वारा योगानन्द की प्राप्ति होती है। विषयानन्द से यह सूक्ष्मतर और अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता है, अत श्रेष्ठ और काम्य। योगानन्द में आकाशवत् शून्यावस्था (ख-सम) अर्थात् निर्विकल्प स्थिति की प्राप्ति होती है।

मन की गति चित्त की चचलता, बुद्धि की विकल्पात्मकता और अहकार अन्त करण की वृत्तियाँ नष्ट होकर भेद-बुद्धि का विनाश करती है। इस प्रकार मनोमय कोश से अद्वैतानन्द की उपलब्धि होती है। यह योग की निर्विकल्पात्मक समाधि गत आनन्द से सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। राजयोग में इसी आनन्द की कल्पना है। अद्वैत की कल्पना एक सत् तत्त्व के अतिरिक्त और किसी दूसरे की स्थिति की अमान्यता और सर्व जगत् को आभास मानने के आधार पर स्थित है। विज्ञान द्वारा ही इस स्थिति की धारणा है। यह कोश अत शुद्ध सत्त्व स्थिति का है। इस विज्ञान के कारण ही विदेह-मुक्ति मिलती है और जीव-जीवन्मुक्त होता है। अद्वैतानन्द योगानद से अधिक स्थिर है किन्तु इसके भी मिटने की सम्भावना रह जाती है।

---

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।—कठ०, द्वि० व०, २३।

२ इसके सविस्तर वर्णन के लिए द्रष्टव्य—तैत्ति०, भृगवल्ली।

विदेह मुक्ति में विदेहानन्द की प्राप्ति होती है जगत् के सम्बन्ध से इसके कम होने अथवा मिटने की सम्भावना नहीं रह जाती है। आनन्दमय कोश द्वारा ब्रह्मानन्द शाश्वत अमिट आशंकाहीन है। इसके कभी घटने-बढ़ने की सम्भावना नहीं यह विदेहानन्द से भी सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। आनन्द के इस उत्तरोत्तर विकास और श्रेष्ठता के मापदण्ड हैं—सूक्ष्मता और स्थायित्व।[1] कैवल्य की प्राप्ति में आनन्द के संकल्पात्मक स्वरूप के दर्शन नहीं होते। सांख्य का पुरुष जिस स्थिति में रहता है, कुछ उसी प्रकार की स्थिति होती है। बौद्धों के निर्वाण की कल्पना इसके सामीप्य का सूचक है, अन्तर इतना अवश्य है कि क्षणिकवादी बौद्ध निर्वाण के पश्चात् निःशेषावस्था है, किन्तु कैवल्यावस्था वह शून्यावस्था है जिसमें भावात्मकता का अभाव नहीं। बौद्ध-निर्वाण अभावात्मक शून्यवाद है और कैवल्यानन्द भावात्मक शून्यवाद।

कोशों के इस विवरण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दमय कोश सूक्ष्मतम है और इसी में आनन्द के वास्तविक स्वरूप की प्रतीति-उपलब्धि होती है। यह आत्मा का सूक्ष्म कोश ही है, उसका स्वरूप अथवा गुण नहीं। आत्मा की आनन्द-रूपता और इसमें अन्तर है। आत्मा और ब्रह्म की एकता और ब्रह्म की आनन्द-स्वरूपता की प्रतिष्ठा के पश्चात् आनन्द केवल कोश नहीं रह सका आत्मा का स्वरूप ही गया। इन दोनों रूपों की चर्चा आई है। सन्त ने साधारण रूप से इसका अन्तर लक्षित नहीं किया था किन्तु ब्रह्मानन्द-स्वरूपता उसे पूर्णतया स्वीकृत थी।

धर्म-साधना में विषयोपभोग की प्रवृत्ति

वैराग्य प्रधान धर्म-साधना के क्रान्तिकारी स्वरूप का विकास धर्म-साधना के क्षेत्र में परिस्फुटित हुआ। धर्म-साधना का भोगपरक स्वरूप ही तंत्र-मत में दीख पड़ता है। शास्त्रीय विवेचना द्वारा उसे दार्शनिक महत्त्व देने का प्रयास गहरा होता गया। महायानतन्त्र में सुधार और दार्शनिक मंजुलता देने की स्पष्ट चेष्टा हुई है। मद्य मांस मत्स्य मुद्रा और मैथुन का प्रतीकात्मक स्वरूप लिया गया और इसके स्थूल स्वरूप का निराकरण। तान्त्रिक साधना का विकृत स्वरूप विषयभोग-साधना है और विषय-भोग का भावनात्मक और आध्यात्मिक स्वरूप तंत्र। सन्त-साहित्य के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि तान्त्र-मत का साधनिक स्वरूप विकृत हो चुका था और यह मत विषय भोग को धार्मिक मान्यता दे रहा था।

मध्ययुग में तन्त्रमत का प्राधान्य हुआ। ब्राह्मण बौद्ध और जैन-सम्प्रदायों में इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। तान्त्रिकों के अनेकानेक सम्प्रदाय जो इस काल में दीख पड़ते हैं उनके मूल में है विभिन्न सम्प्रदायों का तान्त्रिक होना। इस सम्प्रदाय में वैसे लोगों का अभाव नहीं था जिनकी परम्परा वामाचारों से जोड़ी जा सकती है। बौद्धों का तान्त्रिक होना तो कई कारणों से आवश्यक था। जैसे एक सम्प्रदाय का उल्लेख पुरातन प्रबन्ध नामक ग्रन्थ में हुआ है जिसका नाम 'नीलपट' या 'नीलाम्बर' था। इस सम्प्रदाय के लोग निचली श्रेणी के भोगपरक धर्म का प्रचार करते थे। शरीर केवल भूत-तत्त्वों का संघात-मात्र है।

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तैत्तिरीय पंचकोष।

जो गया सो गया। तप करना, कष्ट उठाना व्यर्थ है क्योंकि शरीर पुन लौट नही सकता। अत खाओ, पिओ और मौज करो।[1] तन्त्रमत का व्यावहारिक स्वरूप स्थूल सुखवादी रहा, जिसमे लोकायत धारणा का अन्तर्भाव धार्मिक रूप में सभव हो सका था।

आनन्द और दार्शनिक मतवाद

स्थूल से सूक्ष्म की ओर आनन्द की प्रगति परिलक्षित की जा चुकी है। विषयानन्द की क्षणिकता सकल्पात्मक-घनात्मक आनन्द की चेतना जगाती है और जीवन की दु खरूपता-सम्बन्धी धारणा दु ख-विनाश और मोक्ष की। परवर्त्ती काल में दोनो धारणाओ में सम्मिश्रण हो जाता है। परम-तत्त्व के स्वरूप, सृष्टि-प्रक्रिया और साधन की विभिन्न धारणाओ के कारण आनन्द के स्वरूप में अन्तर आता रहा है। बौद्धो का अभावात्मक शून्य जब भावात्मक शून्य हुआ तो सुख-दु ख-शून्यता भावाभावविवर्जित हो गई। सहजयानी और वज्रयानी सिद्ध-साधक शून्य को निषेधात्मक न मान विध्यात्मक अथवा घनात्मक मानने लगे थे। इसी भाव को 'सुखराज' अथवा 'महासुह' के द्वारा सकेतित किया गया। वैदिक ऋषि का भोगवादी सुख औपनिषदिक आनन्द की कल्पना द्वारा बहु-देववाद से एकदेव और अध्यात्मवाद की ओर प्रगति का द्योतक है। केवलाद्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी की आनद-कल्पना निर्गुण-सगुण की कल्पना के आधार पर स्थित है। आनन्द-लीला और क्रीडा के लिए सृष्टि उत्पत्ति माननेवाला वल्लभीय सम्प्रदाय आनन्दमयी क्रीडा को महत्त्व देता है।

जीवन की चेतन और चैतन्य धारा का जो दार्शनिक विकास है, उसी का स्वरूप आनन्द की कल्पना में मिलता है। अनेक प्रकार के बन्धन और रूढ जीवन से मुक्ति का जो सहज विधान निम्नस्तरीय चेतना में प्राप्त होगा, आनन्द की वह धारणा वर्णाश्रम और उसके आचार को मान्यता देनेवाले सम्प्रदायो में नही। सहज यान और सहजिया सम्प्रदाय सामाजिक रूढ़ियो को तोड सामाजिक जीवन के साथ वैयक्तिक जीवन मे सामजस्य को चरितार्थ करता था। गुह्य समाज और तान्त्रिक मत सामाजिक नियत्रण से सकुचित मुक्ति पाते रहे।

अन्यत्र लक्षित किया जा चुका है कि आत्मा और ब्रह्म की एकता प्रतिष्ठित हो जाने पर आत्मा आनन्दस्वरूपिणी हुई। आत्मा और ब्रह्म में विशिष्ट प्रकार के अन्तर के कारण जीवात्मा में सत् और चित् एव ब्रह्म में सत् और चित् के साथ परिपूर्ण आनन्द की स्थिति रही। जीवन की विभिन्न धारणाओ का प्रभाव आनन्द के स्वरूप पर रहा। स्थूल शरीर के कारण विषयानन्द की प्रतिष्ठा रही। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा की स्वीकृति के साथ क्रमश प्राणमय, अन्नमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशो की अवतारणा हुई। योग ने चित्तवृत्ति का निरोध माना तो भक्ति ने इष्टदेव में चित्तवृत्ति का सयोग। प्रकृति के तत्त्वो (सत्, रज, तम) की विषमता के कारण सासारिक सुख, दु ख और मोह की विषमता स्वीकृत हुई। इन तत्त्वो की समता मे अपने-पराये सम्बन्ध की विच्छिन्नता के कारण मधुमती

---

१ द्विवेदी द्वारा मध्ययुग की धर्म-साधना।

—वि० भा० प०, कार्तिक-पौष, २००३ वि० में उद्धृत, पृ० ५४४)।

भूमिका की कल्पना साधक है। शैवाद्वैतवादी आनन्द को शिव-स्वरूपता मानता है और शाक्त समता की व्यापक स्थिति। तान्त्रिक साधकों और सिद्धों की कामना अपूर्व सिद्धि प्राप्त करना है। मधुमती भूमिका समरसत्व का स्वरूप ग्रहण करती है। सन्तों के आनन्दान्वेषण में उनके दार्शनिक मतवाद और जीवन-धारा के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

सन्त की आनन्द-साधना

जीवन क्षेत्र का सुख अध्यात्म और दर्शन का आनन्द एवं काव्य का रस है। सन्त कवि की आनन्द-साधना और उसके स्वरूप की धारणा पर जीवन की सीमाओं और सांस्कृतिक चेतना की परिधि का व्यापक प्रभाव है। सन्तों की जीवन-सीमा का विवरण अन्यत्र उपस्थित किया गया है और उनकी दार्शनिक चिन्ता सामाजिक दशा और नैतिक भावना पर उसके प्रभाव की मीमांसा विवेचना की गई है। उनके दैन्यपूर्ण अभाव-ग्रस्त जीवन में अबाध सुख भोग का न तो अवसर ही था न अवकाश ही। उच्च वर्गों के भक्तों को भिक्षा की जो सुगमता थी वह भी इन्हें प्राप्त नहीं थी। शास्त्र ज्ञान के अभाव में पाण्डित्य-प्रदर्शन का अभाव ही रहेगा। अद्वैतवाद के व्यावहारिक पक्ष की सघनता के कारण आत्मानन्द की धारणा सहज और स्वाभाविक होगी।

आधिभौतिक सुखवादियों का वस्तु के प्रति जो दुराग्रह है, उसकी परम्परा लोकायत नीलपट-सम्प्रदाय शाक्त तन्त्र-मत में हमने देखा है। सुखवाद की इस विषम धारा की दार्शनिक क्षेत्र में चार्वाक और बार्हस्पत्य संज्ञा है, साधना के क्षेत्र में अनेक धर्म-साधनाएँ हैं। इस धारा का विरोध विषय भोग के नितान्त त्याग की बौद्ध साधना में है। यद्यपि गार्हस्थ्य और भिक्षु सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न आदर्श हैं। संसार कष्टमय है, दुःख की राशि है, अतः त्याज्य है। यह धारा इस जीवन के उपर्युक्त स्वरूप को निर्वाण का आदर्श देती है, अथवा स्वर्ग की कल्पना जहाँ इस जगत् से अधिक आनन्द की सम्भावना है। गीतोक्त अनासक्ति और निष्काम कर्म की धारणा से प्रेरणा के तीव्रतम स्वरूप का निराकरण ही जाता है।

सामाजिक जीवन की विषमता के कारण विषयोपभोग की उसे सुविधा नहीं थी किन्तु सामान्य चेतना में उपर्युक्त गति की सूचना मिलती है। साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी अनुचित साधनों द्वारा धन जोड़ कर विषय-भोग की सामग्री एकत्र करने की चिन्ता में था। माण्डलीक राजाओं के वर्तमान सुखवाद और धन की प्रतिष्ठा में असहायावस्थिता का आधार था। असन्तोष के इस होड़ में शान्ति और सान्त्वना के मिलने की आशा नहीं रहती। सन्त ने स्पष्ट ही देखा था कि विषय-भोग से सन्तुष्टि नहीं होती अतः संयम और सन्तोष की अपेक्षा है। उच्चवर्गीय श्रीमानों के लिए महत्त्वाकांक्षा के उस रूप से सन्तोष की अपेक्षा है, जिसके कारण उनका सामान्य जीवन पर अत्याचार रुक सके।[1] निर्धन धनवान होकर जिस अभिमान को अपनाता था उस पर नियन्त्रण रखने और महत्त्वाकांक्षा को इस बोझ से बचने के लिए भी सन्तोषपूर्ण जीवन की अपेक्षा थी। इतना तो स्पष्ट ही है कि लाख प्रयत्न करने पर भी सभी अपनी आर्थिक स्थिति सुधार नहीं सके थे और न सभी को सामग्रियों द्वारा

---

1 नाम बिना सुख्यान थान होवे जिउ बैर। —आ ग्रं नानक १ सिरी राग १।

आनन्द-प्राप्ति का साधन हो प्राप्त हुआ था। सन्तो ने यह भी लक्षित किया था कि इस आकाक्षा से आकृष्ट व्यक्ति समाज और जीवन में व्यतिक्रम उपस्थित कर रहे हैं। विषमता के इस स्वरूप को दूर करने के लिए आर्थिक व्यवस्था का साम्यकरण उसने नही चाहा बल्कि सन्तोष और सयम द्वारा नियन्त्रण चाहा। यह तो सन्त ने स्पष्ट ही देखा था कि कोई राजा, कोई रक, कोई सम्मानित है और कोई अपमानित।[1] धन के कारण मिलनेवाले सम्मान को उसने थोथा और व्यर्थ कहा था।

शाक्त-मत के असामाजिक स्वरूप के दर्शन तो सन्तो ने किए थे। कोई आश्चर्य नही कि शाक्तो के कारण इन सन्तो को अधिक कष्ट उठाना पडा था। शाक्तो की जीव-बलि वैष्णव भक्तो को कम अप्रिय नही थी। तन्त्रमतीय वामाचार की अबाधता भी सन्त स्वीकार नहीं कर सकता था। शाक्त तन्त्रो मे यद्यपि स्वकीया साधिका का महत्त्व है किन्तु परकीया शक्तियो की अवमानना नही। स्व-शाक्तयानुरूप शक्ति का ग्रहण वहाँ अनुचित नही। गृह-त्यागी सन्यासी धन एकत्र कर ऐश्वर्यवान बन रहे थे और इस प्रकार उनके विषय भोग का द्वार उन्मुक्त हो रहा था।[2] सन्तोष की वृत्ति अत अधिकारियो, साधु-महन्तो, साधारण व्यक्तियो और अपने-आप के लिए आवश्यक थी।

विषय भोग-जन्य सन्तुष्टि की अपेक्षा अभावपूर्ण और अभावात्मक जगत् मे सहज सन्तोषप्रद सन्तुष्टि सन्त-जीवन के लिए अपेक्षित थी। सन्त ने यह समझ लिया था कि सन्तोष के लिए सामान्य आवश्यकताओ की सम्पूर्त्ति अपेक्षित है और उनके अभाव-ग्रस्त जीवन के लिए अनिवार्य भी था। उनकी नैतिक भावना भिक्षाटन द्वारा जीविकोपार्जन की अनुमति नही देती, अत नित्य की आवश्यकता की सम्पूर्त्ति के लिए आवश्यक खाद्यान्न की अपेक्षा है। धन्ना के अनुसार भोजन के लिए "सीधा" (दाल, आटा, चावल, घी इत्यादि), दूध के लिए गौ-भैंस और पारिवारिक जीवन की सुविधा के लिए स्वस्थ गृहिणी की अपेक्षा है।[3] कबीर में भी यह स्वर स्पष्ट है। दूसरे से माँगने की अपेक्षा परमात्मा से माँग कर लेना अच्छा है क्योकि भूखे रह कर भक्ति करना सम्भव नही। दोनो जून भोजन और सोने के लिए बिना टूटी हुई चारपाई चाहिए। ओढने के लिए कम्बल अथवा रूई भरी रजाई और सिर टेकने के लिए

---

१ कोई भिखकु भीखिआ खाइ। कोई राजा रहिआ समाइ॥
किसही मान किसै अपमानु। ढाहि उसारे धरे धिआनु॥
—आ० ग्र०, रागु आसा ४, पृ० ३५४।

२ कबीर जिउ ग्रिहु करहि त धरमु करु नाहि त करु बैरागु।
बैरागी बधनु करै ता को बडो अभागु॥
—स० क०, सलोकु २४३, पृ० २८३।

३ दालि सीधा मागउ घीउ हमरा खुसी करै नित जीउ।
पानीआ छादन नीका अनाज मगउ सतनीका॥
गउ भैस मागउ लावेरी इक ताजनि तुरी चगेरी।
घर की गिहिनी चगी जनु धना लेवै मगी॥
—आ० ग्र०, धन्ना, धनासिरी १।

है। नीम के कीड़े को जिस प्रकार नीम की कड़वाहट में अमृत जैसी मिठास मिलती है उसी प्रकार विषयी को विषयों में रस मिलता है।[1] थोड़े काम के मोह में मनुष्य मूल भी गँवा बैठता है। संसार के सुख अल्प हैं क्योंकि आदि और अन्त दोनों दुःखपूर्ण। सम्पत्ति थोड़े दिनों के लिए होती है किन्तु मनुष्य उस सम्पत्ति के कारण 'बउरा' जाता है और फूला-फूला फिरता है। अमृत वस्तु को न जान भोग में लिप्त रहता है।[2] तृष्णा तृषा भूख भ्रम के कारण मनुष्य इधर-उधर उन्मत्त की तरह मारा फिरता है।[3] विषय-लोलुपता सर्वत्र व्याप्त हो रही है। डर उत्पन्न होता है और मनुष्य भयभीत होता रहता है। एक भय दूसरे भय का कारण होता है।[4] मनुष्य शरीर को पालता है, इसकी रक्षा मे नित्य तत्पर और भयभीत रहता है। किन्तु इस शरीर को जलना पड़ता है। आवागमन के कारण इसे बार-बार जन्मने और गर्भ धारण करने का दुःख उठाना पड़ता है। जन्म मरण जरा रोग और अन्य व्याधियाँ इसे संतप्त करती हैं। संसार और सांसारिक बन्धन इसके कारण हैं। अतः इनसे मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है किन्तु मुक्ति-मात्र काम्य नहीं कारण मुक्ति तो अभावात्मक है, सांसारिक बन्धन भय रोग विषय-भोग यम से मुक्ति। विषयानन्द क्षण-भंगुर और क्षणिक है। इसका अधिक से अधिक सुख अत्यन्त अल्प है। राज्य की शोभा वैभव की बड़ाई पुत्र-कलत्र की ममता लक्ष्मी की माया आदि से कोई वास्तविक सुख नहीं प्राप्त कर सकता।[5] आधिभौतिक सुख वास्तविक नहीं है किन्तु मनुष्य भ्रमवश इन्हें ही सुख मान लेता है। सुख न तो वस्तुओं

---

१ नीम कीट जस नीम पियारा । विष को अमृत कहै गँवारा ॥ —बी० रमैनी ११।६।

२ विष के संग कौन गुन होई । किंचित लाभ मूल गो खोई ॥ —बी० रमैनी १३।७।
अल्प सौख्य दुख आदिहु अंता । मन भुलान मैगर मैमंता ॥ —बी० रमैनी २३।१।
सम्पति बहुत रहै दिन थोरा औरे थोरेहि संपति गो बौरा । —बी० रमैनी २१।४-५।
अमृत वस्तु जानै नहीं मगन भये कित भोग । —बी० रमैनी १।७।

३ तिसना तिखा भूख भ्रमि लागी हिरदै नाहि बीचारिओ रे ।
उनमत मान हिरिओ मनमाही गुर का सबदु न धारिओ रे ॥
—सं० क० रागु गउड़ी ५६ पृ० ६१।

४ बिखिआ बिआपिआ सगल संसारु । बिखिआ लै डूबी परिवारु ॥
—सं० क० रा० ग० २४ पृ० ३६।
उपजा डर उपजे डर जाई । —वही रा० ग० ७५।१६ पृ० ८।

५ जिहि मुख पाँचउ अंम्रित खाए । तिहि मुख देखत लूकट लाए ।
इकु दुखु राम राइ काटहु मेरा । अगनि दहै अरु गरभ बसेरा ।
—सं० क० रागु गउड़ी १२ पृ० १४।
चोआ चंदन मरदन अंगा । सो तनु जलै काठ कै संगा ॥ —वही रा० ग० १६ पृ० १८।
सोभा राज बिभै बडिआई । अंति न काहू संगि सहाई ॥
—सं० क० रागु धनासिरी ७।१ पृ० १४४।
पुत्र कलत्र लछमी माइआ । इन ते कहु कवनै सुखु पाइआ ॥
—वही रागु धनासिरी ७।१ पृ० १४४।

में है और न उनसे सुख की प्राप्ति ही होती है। प्राप्ति की चाह और बढती जाती है। जब तक यह चाह बनी रहती है, सुख नही प्राप्त हो सकता। यह चाह भी भय का मूल है। सासारिक सुखो में मनुष्य कुछ इस प्रकार उलझ जाता है कि वास्तविक सुख की चाह और पहचान नही रह जाती और जन्म-मरण का भय भूल जाता है। बच्चा जिस प्रकार क्रीडा और मिठाई के लिए लालायित रहता है, उसी प्रकार लोभ में पडा सासारिक जीव है। अमृत-रस के धोखे में विष चखता चलता है।[१] जिसकी सगति निश्चय रूप से मरण-स्वरूपा है। इसी से सन्त कहता है कि न तो विद्या पढने में सुख है, न वाद-विवाद करने मे, सुत-दारा जैसे प्रियों की प्राप्ति भी सुख नही है और न राजाओ के ऐश्वर्य में।[२] अत जिसने सासारिक विषय-रस को नीरस, महत्त्वहीन और नश्वर समझ लिया और वीत-राग, गत-मोह होकर ब्रह्मानन्द को पहचान लिया उसे ही महारस (ब्रह्मानन्द) की प्राप्ति होती है।[३] विषयानन्द ब्रह्मानन्द नही और न इसके द्वारा उसकी प्राप्ति की सम्भावना है। नाथ-पन्थी का आदर्श था जरा-मरण भयहीन जीवन की प्राप्ति। उसका विश्वास है कि योगी कभी मरता नही। गोरख-बानी में यद्यपि कहा गया है "हे जोगी मरो, मरना मीठा होता है। किन्तु वैसी मृत्यु प्राप्त करो जिसे प्राप्त कर गोरखनाथ ने परम-तत्त्व के दर्शन किए थे।"[४] वस्तुत गोरखबाणी की इस सबदी पर कबीर की छाप दीख पडती है। कारण, जिस मृत्यु से ससार डरता है, उस

---

१ माइआ मोहु मनि आगलडा प्राणी, जरा मरण भउ बिसरि गइआ।

—आ० ग्र०, त्रिलोचन, सिरी रागु १।१६।

बाल बिनोद चिंद रस लागा खिनि खिनि मोहि बिआपै। —वही, बेणी, सिरी रागु १।२।

रस मिसु मेघ अमृत, बिखु चाखी। तउ पच प्रकट सतापै ॥ —वही।

२ कहत कबीर छाडि बिखिआ रस। इतु सगति निहचउ मरणा।

—स० क०, सिरी रागु १, पृ० १।

ना सुख विद्या के पढे ना सुख बाद विवाद। —सहज-प्रकाश १७।३६।

ना सुख दारा सुत महल, ना सुख भूप भये। —वही, १७।४१।

३ रारा रसु निरस करि जानिआ। होइ निरस सु रसु पहिचानिआ।
इह रस छाडे उहु रसु आवा। उहु रसु पीआ इह रसु नहि भावा।

—स० क०, रा० ग० ७५।३५।

४ मरौ वे जो जोगी मरौ मरण है मीठा।
तिस मरणी मरौं जिस मरणी गोरख मरि दीठा ॥ —गो० बा०, पृ० १०।२६।

डॉ० बडथ्वाल ने 'सबदी' को गोरखनाथ की सबसे प्रामाणिक कृति माना है (देखिए, भूमिका, पृ० १८) किन्तु यह पद गोरखनाथ का नही, किसी शिष्य की रचना है, जो सबदी में सम्मिलित हो गई है।

तुलनीय—मरनो मरनु कहै सभ कोई। सहजै मरै अमरु होइ सोई ॥

—स० क०, रागु गउडी २०।२, पृ० २२।

तक्रिया की अपेक्षा होगी। इतने से ही कबीर को सन्तोष हो जायगा।[1] सन्त को ज्ञात है कि संसार जिसके पास है, उसे ही प्राप्ति होती है। जिसे आवश्यकता होती है, उसे कोई नहीं देता। अघाए हुए लोगों को ही भोजन मिलता है, जहाँ भूखा है वहाँ कोई परोसता नहीं।[2]

सन्त ने जान लिया था कि जीवन दुःख है, जरा दुःख है, जीवन अभावों की ही दूसरी संज्ञा है। मोह-जाल में पड़े मनुष्य को सुख की सम्भावना नहीं। भव चक्र दुःख-प्रवाह है। आवागमन दुःख-चक्र है। आवागमन की यह दुःख-स्वरूपता बौद्धों को भी मान्य थी। दुःख का अभाव उसके लिए सुख नहीं उसमें सुखात्मकता अवश्य है। अभावात्मक शून्यात्मकता उसे अपेक्षित नहीं। सम-सम अवस्था की चर्चा इस साहित्य में अवश्य आई है किन्तु मुक्ति तो उसे पाने में मिली वस्तु है। मोक्ष और मुक्ति की चर्चा वह करता है दुःख के अत्यन्ताभाव स्वरूप सुख से भी उसका परिचय है। मुक्ति अतः केवल दुःख से त्राण नहीं मोक्ष केवल आवागमन से मुक्ति नहीं। उसके अनुसार मोह ही बन्धन है,[3] तृष्णा से मुक्ति ही वास्तविक मोक्ष है।[4] आसक्ति का बन्धन वह नहीं चाहता विरक्ति का मोक्ष भी। आशा और निराशा ईह नहीं सामंजस्य उसे चाहिए। इसीलिए वह पूर्णतया ग्रहण भी नहीं करना चाहता और पूर्णतया त्याग भी नहीं। त्यागपूर्ण ग्रहण और स्वीकृति-सम्मत त्याग की उसे कामना है।[5]

---

१ भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै॥
हउ मांगउ संतन रेना। मै नाही किसी का देना॥
माधो कैसी बनै तुम संगे। आपि न देहु त लेवउ मंगे॥
दुइ सेर मांगउ चूना। पाउ घीउ संगि लूना॥
अधसेर मांगउ दाले। मोकउ दोनउ वखत जिवाले॥
खाट मांगउ चउपाई। सिरहाना अवर तुलाई॥
ऊपर कउ मांगउ खींधा। तेरी भगति करै जनु थींधा॥
—सं क राग सोरठि ११ पृ १४।

२. कहा भयो जो बन में बस पर्वत पर्वत नहिं खेत कहूँ सूखा।
अघाने आगे बहुत परोसत परसत नाहिं भरत कहूँ भूखा॥
—भक्त (टीका) पृ २११।

३ एक बूंद जल कारने चात्रिक दुख पावै।
प्रान गए सागर मिलै पुनि काम न आवै॥
—आ ग्रं धनासरी राग बिलावलु १।२।

४ कहु रविदास भव मिसना चूकी। —आ ग्रं रविदासु, रागु गौड़ १।४।
रुखी सूखी खाइकै ठंढा पानी पीउ।
देखि पराई चोपड़ी ना तरसाए जीउ॥ —आ ग्रं सेख फरीद सलोकु २९।

५. ना हम छाड़ै ना गहैं ऐसा ज्ञान विचार।
—दादू बा (१) मधि को अंग ८ प १७।
आसा भीतरि निरासा —आ ग्रं रामकली महला १ ८७७।

में है और न उनसे सुख की प्राप्ति ही होती है। प्राप्ति की चाह और बढती जाती है। जब तक यह चाह बनी रहती है, सुख नही प्राप्त हो सकता। यह चाह भी भय का मूल है। सासारिक सुखो में मनुष्य कुछ इस प्रकार उलझ जाता है कि वास्तविक सुख की चाह और पहचान नही रह जाती और जन्म-मरण का भय भूल जाता है। बच्चा जिस प्रकार क्रीडा और मिठाई के लिए लालायित रहता है, उसी प्रकार लोभ में पडा सासारिक जीव है। अमृत-रस के धोखे में विष चखता चलता है।[1] जिसकी सगति निश्चय रूप से मरण-स्वरूपा है। इसी से सन्त कहता है कि न तो विद्या पढने में सुख है, न वाद-विवाद करने मे, सुत-दारा जैसे प्रियो की प्राप्ति भी सुख नही है और न राजाओ के ऐश्वर्य में।[2] अत जिसने सासारिक विषय-रस को नीरस, महत्त्वहीन और नश्वर समझ लिया और वीत-राग, गत-मोह होकर ब्रह्मानन्द को पहचान लिया उसे ही महारस (ब्रह्मानन्द) की प्राप्ति होती है।[3] विषयानन्द ब्रह्मानन्द नही और न इसके द्वारा उसकी प्राप्ति की सम्भावना है। नाथ-पन्थी का आदर्श था जरा-मरण भयहीन जीवन की प्राप्ति। उसका विश्वास है कि योगी कभी मरता नही। गोरख-वानी में यद्यपि कहा गया है "हे जोगी मरो, मरना मीठा होता है। किन्तु वैसी मृत्यु प्राप्त करो जिसे प्राप्त कर गोरखनाथ ने परम-तत्त्व के दर्शन किए थे।"[4] वस्तुत गोरखवाणी की इस सबदी पर कबीर की छाप दीख पडती है। कारण, जिस मृत्यु से ससार डरता है, उस

---

१ माइआ मोहु मनि आगलडा प्राणी, जरा मरण भउ विसरि गइआ।

—आ० ग्र०, त्रिलोचन, सिरी रागु १।१६।

बाल बिनोद चिंद रस लागा खिनि खिनि मोहि बिआपै। —वही, बेणी, सिरी रागु १।२।

रस मिसु मेध अमृत, बिखु चाखी। तउ पच प्रकट सतापै॥ —वही।

२ कहत कबीर छाडि बिखिआ रस। इतु सगति निहचउ मरणा।

—स० क०, सिरी रागु १, पृ० १।

ना सुख विद्या के पढे ना सुख बाद विवाद। —सहज-प्रकाश १७।३६।

ना सुख दारा सुत महल, ना सुख भूप भये। —वही, १७।४१।

३ रारा रसु निरस करि जानिआ। होइ निरस सु रसु पहिचानिआ।
इह रस छाडे उहु रसु आवा। उहु रसु पीआ इह रसु नहि भावा।

—स० क०, रा० ग० ७५।३५।

४ मरौ वे जो जोगी मरौ मरण है मीठा।
तिस मरणी मरौं जिस मरणी गोरख मरि दीठा॥ —गो० बा०, पृ० १०।२६।

डॉ० बडथ्वाल ने 'सबदी' को गोरखनाथ की सबसे प्रामाणिक कृति माना है (देखिए, भूमिका, पृ० १८) किन्तु यह पद गोरखनाथ का नहीं, किसी शिष्य की रचना है, जो सबदी में सम्मिलित हो गई है।

तुलनीय—मरनो मरनु कहै सभ कोई। सहजै मरै अमरु होइ सोई॥

—स० क०, रागु गउडी २०।२, पृ० २२।

है। नीम के कीड़े को जिस प्रकार नीम की कड़वाहट में अमृत जैसी मिठास मिलती है उसी प्रकार विषयी को विषयों में रस मिलता है।[1] कोई काम के मोह में मनुष्य मूल भी गँवा बैठता है। संसार के सुख अल्प हैं क्योंकि आदि और अन्त दोनों दुःखपूर्ण। सम्पत्ति थोड़े दिनों के लिए होती है किन्तु मनुष्य उस सम्पत्ति के कारण 'बउरा' जाता है और फूला-फूला फिरता है। अमृत वस्तु को न जान भोग में लिप्त रहता है।[2] तृष्णा तृषा भूख भ्रम के कारण मनुष्य इधर-उधर उन्मत्त की तरह मारा फिरता है।[3] विषय-लोलुपता सर्वत्र व्याप्त हो रही है। डर उत्पन्न होता है और मनुष्य भयभीत होता रहता है। एक भय दूसरे भय का कारण होता है।[4] मनुष्य शरीर को पालता है, इसकी रक्षा में नित्य तत्पर और भयभीत रहता है। किन्तु इस शरीर को छोड़ना पड़ता है। आवागमन के कारण इसे बार-बार जन्म और गर्भ धारण करने का दुःख उठाना पड़ता है। जन्म मरण जरा रोग और अन्य व्याधियाँ इसे संतप्त करती हैं। संसार और सांसारिक बन्धन इसके कारण हैं। अतः इनसे मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है किन्तु मुक्ति-मात्र काम्य नहीं कारण मुक्ति तो अभावात्मक है, सांसारिक बन्धन भय रोग विषय-भोग गम से मुक्ति। विषयानन्द क्षण-भंगुर और क्षणिक है। इसका अधिक से अधिक सुख अत्यन्त अल्प है। राज्य की शोभा वैभव की बड़ाई पुत्र-कलत्र की ममता लक्ष्मी की माया आदि से कोई वास्तविक सुख नहीं प्राप्त कर सकता।[5] आधिभौतिक सुख वास्तविक नहीं है किन्तु मनुष्य भ्रमवश इन्हें ही सुख मान लेता है। सुख न तो वस्तुओं

---

१ नीम कीट जस नीम पियारा । विष को अमृत कहै गँवारा ॥ —बी० रमैनी ११।६।

२ विष के संग कौन गुन होई । किंचित काम मूल गौ खोई ॥ —बी० रमैनी ११।७।
अल्प सौख्य दुख आदिहु अंता । मन भुलान मैगर मैमंता ॥ —बी० रमैनी ३१।१।
सम्पति सकुत रहै दिन थोरा और थोरेहि संपति गो बौरा । —बी० रमैनी २१।४-५।
अमृत वस्तु जानै नहीं मगन भये कित लोग । —बी० रमैनी १।७।

३ तिसना तिसा भूख भ्रमि लागी हिरदै नाहि बीचारिआ रे ।
उनमत मान हिरिओ मनमाही गुर का सबदु न धारिओ रे ॥
—सं० क० रागु गउड़ी ५६ पृ० ३९।

४ बिखिआ बिआपिआ सगल संसारु । बिखिआ कै डूबी परिवारु ॥
—सं० क० रा० म० २४ पृ० २९।
डरत डर उपजै डर पाई । —वही रा० म० ७५।१८, पृ० ८।

५ जिहि मुख पांचउ अम्रित खाए । तिहि मुख देखत लूकट लाए ।
इकु दुखु राम राइ काटहु मेरा । अगिन दहै अरु गरभ बसेरा ।
—सं० क० रागु गउड़ी १२ पृ० १४।
चोआ चंदन मरदन अंगा । सो तनु जलै काठ कै संगा ॥ —वही रा० म० १६ पृ० १८।
सोभा राज बिभै बडिआई । अंति न काहू संग सहाई ॥
—सं० क० रागु धनासिरी ७।२ पृ० १४४।
पुत्र कलत्र लछमी माइआ । इनते कहु कवनै सुखु पाइआ ॥
—वही रागु धनासिरी ७।१ पृ० १४४।

इन्द्रियाँ मन की ही विभिन्न अवस्थाएँ है।[1] इस मन का कोई रूप नही, कोई रेखा नही। इसका रहस्य जानना बडा कठिन है, कोई विरला ही जान पाता है। समस्त प्राणियो के शरीर में यही मन रमण करता है। मन का मारना अर्थात् प्रवृत्ति का निरोध सम्भव नही। मन का विनाश नही होता। शरीर-धर्म के साथ इसका सयोग है। मन की प्रेरणा से ही सारे कार्य होते हैं। क्षुब्धावस्था मन का विकार है। मन का परिचय कठिन है और उसके परिचय का साधन अज्ञात। मन से ही मन जाना जाता है और मन से ही मन ग्रहण किया जाता है।[2] द्विविधा, लोभ के कारण मन इधर उधर भटकता फिरता है।[3]

मन का महत्त्व सत को ज्ञात है। अत इस मन की गति और चाचल्य को वह अवरुद्ध करना चाहता है। सासारिक सुखो की चाह रखनेवाला मन जब तक वशीभूत नही होता तब तक वास्तविक आनन्द की प्राप्ति सभव नही। नाथ-सम्प्रदाय में भी मन का महत्त्व प्रतिष्ठित था। यही मन शक्ति है, यही मन शिव है, यही मन पाँचो तत्त्वो से निर्मित जीव है। मन का अधिष्ठान भी शिव-तत्त्व परब्रह्म ही है। माया के सयोग से ही ब्रह्म-तत्त्व मन के रूप में अभिव्यक्त होता है। मन से ही पचभूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है, अत मन को "उन्मनावस्था में लीन करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है और तीनो लोको का ज्ञाता होता है।[4] कबीर-ग्रथावली के अनुसार भी मन ही गोरख (इन्द्रियो की रक्षा करनेवाला अर्थात् स्थिति का कारण), गोविंद (इन्द्रियो का स्वामी) और औघड अविकारी है, जो यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करता है, वही आत्मोपलब्धि करता है आत्मानद प्राप्त करता है।[5] नाथ-सम्प्रदाय-गत सर्वज्ञता की यहाँ अपेक्षा नही, बल्कि आत्म-तत्त्वोपलब्धि की साधना है।

मन को निश्चल करने का साधन रागोन्मेष और भावात्मक सयोग है। नाम-स्मरण, सासारिक विषय-वासना का त्याग, अजपा जाप, अभिमान-त्याग, सत्सगति सत्याचरण, गुरु में अटूट निष्ठा, सतोष और आध्यात्मिक चैतन्य का जागरण इसके साधन रूप मे माने गये है। मन के धैर्य धारण करने से अहकार का नाश हो जाता है, ममता भस्म हो जाती है। नित्य नूतन और शाश्वत प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। उन-मथ की अवस्था प्राप्त हो जाती

---

१ द्रष्टव्य—अद्वैतचिंता कौस्तुभ, पृ० ७० ।

२ जनमु जोति, मरणि मनु मानिआ आपि मुआ मन मन ते जानिआ।
नजरि भई घरु घर ते जानिआ। —आ० ग्र०, रागु ग० महला १।
सनकादिक नारद मुनि सेखा। तिन भी मन महि मनु नही पेखा॥—स० क०, पृ० ३८।

३ दुविधा बउरी मन बउराइआ। झूठे लालच जनम गवाइआ॥
—आ० ग्र०, प्रभाती असटपदीआ महला १ विभास।

४ यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त्व का जीव॥
यहु मन ले जै उनमन रहै। तो तीनि लोक की बाता कहै॥
—गो० वा०, पृ० १८।५०।

५ मन गोरख मन गोविंदौ, मन ही औघड होइ।
जे मन राखे जतन करि, तै आपै करता सोइ॥
—क० ग्र०, मन कौ अग १०, पृ० २९।

मृत्यु से कबीर के हृदय में आनन्द होता है और वैसे मरण से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है।[1] संसार के प्रति मृतक होने पर ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है।[2]

आनन्द और मनोनिग्रह

इन्द्रियों की गति चंचल है, मन दुर्निवार है। एकाग्रता द्वारा गति चांचल्य का अवरोध कर ही आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। सामान्य अर्थ में इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन हैं किन्तु ध्यान जिसमें इन्द्रियाँ निश्चल और निष्क्रिय हो जाती हैं वास्तविक एवं तात्त्विक ज्ञान का साधन है। मन और इन्द्रियों की निष्क्रियता एवं एकाग्रता द्वारा प्राप्त चैतन्य (Enlarged Consciousness) ही काम्य है। ऐन्द्रिय चंचलता का मूल मन का चांचल्य है। तामसिक और राजसिक वृत्तियाँ इसकी आधार-शिला हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार मन किसी एक विषय पर अधिक समय तक ध्यान स्थिर नहीं रख सकता। कुछ क्षणों के लिए ही ध्यान सम्भव है उन क्षणों के पश्चात् किसी अन्य विषय अथवा उसी विषय के अन्य अर्थों पर ध्यान स्वतः चला जाता है। मन की इस चंचलता को सन्त कवि ने पूर्णतया पहचाना था। मन की दुर्निवार चंचलता का सविस्तर वर्णन भारतीय साहित्य में उपलब्ध है। मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम संकल्प संशय श्रद्धा अश्रद्धा धृति अधृति अथवा बुद्धि भय—ये सब मन ही हैं।[3] अर्थात् मन के ये कार्य हैं। गीता में भी मन को चंचल प्रमथनशील दृढ़ और बलवान् एवं दुर्निग्रह कहा गया है।[4] कठोपनिषद् के अनुसार मन के सहित पाँचों इन्द्रियों को स्थिर और बुद्धि को निश्चेष्ट करने की स्थिति को योग माना गया है।[5]

कबीर के अनुसार भी मन का गुण है चंचलता।[6] आदि गुरु नानक मन की उत्पत्ति पाँचों तत्त्वों से मानते हैं और इसकी उपमा पाखों से देते हैं।[7] कपिल के अनुसार भी इस

---

१ कबीर जिसु मरनै ते जगु डरै मेरे मन आनंदु।
मरने ही ते पाइऐ पूरनु परमानंद॥ —सं० क० सलोकु २२ पृ० २५१।

२ कबीर जा दिन हउ मूआ पाछै भइआ अनंदु।
मोहि मिलिओ प्रभु आपना संगी भजहि गोबिंदु॥ —वही सलोकु ९ पृ० २४९।

३ मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव। —बृह० १।५।३।

४ चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। —गी० ६।३४।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। —गी० ६।३५।

५. कठ० तृतीय वल्ली १ और ११।

६ तन राता मन जात है मन राता तन जाय। —बी० रमैनी ५१।

७ इहु मन करमा इहु मन धरमा।
इहु मनु पंच ततु ते जनमा॥
साकतु लोभी इहु मनु मूड़ा॥ —रागु आसा महला १ असटपदीआ पद २।

की पूजा का जो विरोध किया है, उसमे पौराणिक धर्म और उसके द्वारा स्वर्ग की कल्पना का विरोध किया गया है। स्वर्ग की कल्पना जीवन को मात्र उसका साधन मान इसका महत्त्व अस्वीकृत करती है और सन्त इस जीवन को महत्त्वहीन नही मानता। उत्तर कबीर-पन्थ में भी यह धारणा दृढ रही। अनुराग सागर के अनुसार ब्रह्मा को निरंजन के दर्शन नही हुए थे। गायत्री और सावित्री के साथ मिल कर उसने जाल की रचना की और झूठ-मूठ यह प्रचारित किया कि उसे पिता के दर्शन हुए थे। यज्ञ-धर्म, पूजा और उपासना का आश्रय वैष्णव धर्म ने इसी वैकुण्ठ की आशा से लिया था। सन्त की दृष्टि में इस वैकुण्ठ की कामना तुच्छ है और इसके लिए अधिक प्रयास, चिन्ता और कर्मविधान व्यर्थ है, कारण "साध सगति वैकुठहि आहि[1] (साधु-सगति ही वैकुण्ठ है)। सन्त का उद्देश्य अत है स्वर्ग और नरक दोनो के परे जाना[2] वास्तविक आनन्द की तुलना में स्वर्ग-सुख अत्यन्त तुच्छ, महत्त्वहीन और अल्पायु है।[3]

पौराणिक धर्म की स्वर्ग-लालसा और नाथ-सम्प्रदाय के अजरामर होने की कामना से भिन्न एकरस चिरानन्द प्राप्ति की चाह उसमे जगती है। इसके लिए विषयानन्द, योगानन्द, अद्वैतानन्द और कैवल्यानन्द से परे ब्रह्मानन्द (आनन्द-स्वरूपता) प्राप्त करने की लालसा उसमें है। आनन्द को अत सन्त केवल कोश नही मानता बल्कि वही उसका स्वरूप है। उसको प्राप्ति का वास्तविक अर्थ है अपने स्वरूप का पूर्ण परिचय। यह आनन्द की उपलब्धि से भिन्न है, कारण उपलब्ध आनन्द के क्षीण होने की सम्भावना है, प्राप्त सुख के नष्ट होने अथवा कम होने की आशका बनी रहती है। आशका, भय और दूसरे की आशा, परार्थता सुख के सबसे बडे बाधक हैं, अत सन्त उस परम स्थिति की प्राप्ति चाहता है जिसमें शका नहीं, द्विधा नही, कुण्ठा नही, सकोच नही, दूसरे का दाब नही, आशका नही, भय नही।[4] इस सुख (आध्यात्मिक आनन्द) की प्राप्ति के पश्चात् और कुछ प्राप्त करने की कामना नहीं रह जाती और न इसके क्षीण होने की सम्भावना ही। इसकी प्राप्ति का क्रम है दुःख

---

१ क० ग्र०, राग गौडी २४, पृ० ९६।
मूआं पाछे वैकुठ वासा ल मुआं सरग पठावै।
मूआ पीछे मुकति बतावै, दादू जग बौरावै॥—दा० द० वा० (भाग १) पृ० २२८।

२ कबीर सुरग नरक ते मैं रहिओ सतिगुर के परसादि। —स० क०, सलोकु १२०।
कबीर गुरु लागा तब जानीअै मिटै मोहु तन ताप।
हरख सोक दाझै नही तब हरि आपुहि आप॥ —स० क०, सलोकु १८९।

३ सब सुख सरग पताल के तोल तराजू बाहि।
हरि सुख एक पलक्क का ता सम कह्या न जाहि॥—दादू (सा० बा० स० १), पृ० ७९।

४ (क) जह अनउ तह मै नही जह भउ तह हरि नाही।
—स० क०, सलोकु १८०, पृ० २७४।

(ख) कबीर दावै दाझनु होत है निरदावै रहै निसक।
जो जनु निरदावै रहै सो जनै इन्द्र सो रक॥
—वही सलोकु १६९, पृ० २७३।

(ग) ससा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कत। —क० ग्र०, परचाकौ अग १३।

है। मन की इस अवस्था में वासनात्मक संस्कार मिट जाता है, कर्म का सुख-दुःखात्मक स्वरूप नष्ट हो जाता है। सुख-दुःख की अनुभूति अहं भाव उत्पन्न करती है, अहंकार अपने आप को ही वास्तविक समझता है और सारा विश्व अपने आप में समाहित।[1]

भाव ही मनुष्य को जाग्रत रखता है।[2] भाव का अभाव अचैतन्य और सुषुप्ति है। भावोद्रेक ही रसावस्था आनंदावस्था तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखता है।[3] आनन्द-बोध रस-मग्नता है। रसावस्था में भाव सामान्य नहीं होकर विशिष्ट हो जाता है। वैशिष्ट्यहीन भाव रसावस्था तक नहीं पहुँचते अतः उनसे रसोद्बोधन सम्भव नहीं। चंचल वृत्तियाँ रस-बोध की विरोधिनी हैं। अमृत-फल का रसपान, रसास्वादन केवल शुक (वैशिष्ट्य-सम्पन्न) ही कर सकते हैं, कौए (चंचल वृत्ति) नहीं।[4] कबीर मन को बाँध कर उसे संयम का लगाम पहनाना चाहते हैं, शुद्ध विचार की सवारी सहज की रकाब पर पैर रख कर प्रेम का अंकुशमय चाबुक मार मन को बैकुण्ठ-कुंठाहीन अक्षय आनन्द-लोक की ओर ले जाना चाहते हैं।[5]

सन्त की भाषा में यही ब्रह्मानन्द है, सहजानन्द है, रामानन्द है और परमानन्द। जिसके हृदय में और कोई दूसरा नहीं उस नहीं यही पूर्ण है।[6]

आनन्द-स्वरूप और आनन्दानुभूति

सन्त के लिए स्वर्ग महत्त्वहीन है, कारण स्वर्ग-प्राप्ति के लिए कर्म करना निरर्थक ही नहीं बल्कि भ्रमपूर्ण है। कर्म बन्धनकारक है। अतः कर्म द्वारा प्राप्त सुख क्षणिक है। संचित पुण्यफल की समाप्ति पर स्वर्ग से च्युत होकर पुनः आवागमन के चक्र में पड़ना पड़ता है और सन्त इसे दुःख का मूल मानता है। अतः स्वर्ग की कामना से यज्ञ-दान आदि के लिए कर्म करना सन्त की दृष्टि में क्षोभ है।[7] इस कथन में पौराणिक धर्म का प्रत्याख्यान-सा किया गया है। जिसमें स्वर्ग प्राप्ति की कामना प्रबल रही है। बैकुण्ठ की आशा में मनुष्य सार तत्त्व तक नहीं पहुँच सकता और पौराणिक धर्म का उस परम सत्य का ज्ञान नहीं है, अतः द्वन्द्वरहित अक्षय आनन्द प्राप्ति इनके द्वारा सम्भव नहीं। सन्तों ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि

१　अब हम एक दूसर नाहिं कोई। हमरे माँह दूसर सम कोई॥ —बीजक रमैनी ४२।
२　जाकी भाव होत हरि ऊपर जागत रैनि बिहानी। —बीजक शब्द १९।
३　कोई राम रसिक रस पीयहुगे पीयहुगे सुख जीयहुगे। —वही शब्द २।
४　कच्च अंकित बीज नहीं बोकवा। सुग पंछी रस पायो।
　　बूँदि न बूड़े अंग नहिं भीजै। काग भँवर गम भायो॥ —वही शब्द २।
५　देह मुहार लगाम पहिरावउ। सगल्त जीनु गगन दउरावउ।
　　अपनै बीचारि असवारी कीजै। सहज कै पावड़ै पगु धरि लीजै।
　　चल रे बैकुंठ तुझहि ले तारउ। हित चित प्रेम कै चाबुक मारउ॥ —सं० क० गउड़ी ११।
६　कहु कबीर पूरन जग सोई। जा कै हिरदै अवरु न होई॥ —सं० क० पृ० ४१।
७　जब लगु मनि बैकुंठ की आस। तब लगु होइ नहीं चरन निवासु॥
　　　　　　　　　　　　　　　　—सं० क० राग गउड़ी १ पृ० १२।

की कल्पना आई। नाथ-सम्प्रदाय मे इसकी चर्चा अत्यधिक आई। गोरखबानी के पदो मे भी डॉ० बड्थ्वाल के अनुसार ब्रह्मानन्द और ब्रह्मानुभूति का उल्लेख है—"जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिल जाता है उसके लिए ससार के आत्यन्तिक दुख की कटुता मिट जाती है और जगत् आनन्दमय (मीठा) हो जाता है 'तथा' उस (उत्तराखण्ड) मे ब्रह्माग्नि का वस्त्र पहनने को, निर्झर से झरनेवाला अमृत पीने को और शून्य-फल (ब्रह्म-रन्ध्र में मिलनेवाला फल-ब्रह्मानुभूति) खाने को मिलता है।"[1]

पूर्वापर विचार करने से ब्रह्मानद का आस्वाद जिसे उन्होने माना है, वह ब्रह्मानद नही बल्कि शून्य अथवा ब्रह्म-रध्र का अमृत है और शून्य-फल ब्रह्मानुभूति नही बल्कि ससार के सम्बन्ध से शून्य की स्थिति (स्व-नाम-स्वरूपता) है जिस फल का रस अमृत (जरामरण के भय से निर्भयावस्था) है। योगियो का अमृत सतो के यहाँ महा-रस हो जाता है और महासुख नित्य आनद। अमृत-तत्त्व मरण-भय से मुक्ति है, निर्वाण आवागमन से मुक्ति था और महासुख म भौतिकता की छाया सी रह जाती है। सत की अत यह धारणा नाथो की नकल मात्र नही यद्यपि उस महारस की प्राप्ति और स्वरूप मे नाथ परम्परा के पालन का स्पष्ट सकेत है। आकाश (ब्रह्म-रध्र) रूपी रसमयी भट्ठी से ब्रह्मानद का रस चू रहा है, जिसके सचित करने से मेरा शरीर परिपुष्ट हो गया। राम-रस पीता हुआ जिसने ज्ञान प्राप्त किया है, वही सहज मतवाला है। सहजरूपी कलालिनी जब मिल गई तो प्रत्येक दिन आनद से मतवाला हो गया।[2] मूर्ख कलवारिनी (आत्मा) पवन को उलट ले (चित्तवृत्ति का निरोध कर ले) और मतवाले मन के द्वारा मेरुदण्ड की चोटी पर रखी भट्ठी (= ब्रह्म-रध्र) से अमृत की धार को चूने दे।[3] इस दुर्लभ रस का पान करने से सदा के लिये प्यास मिट जाती है। जो ब्रह्म द्वार खोल सकता है वही सच्चा मनखीवा है और उसी मे वास्तविक मतवालापन है। ऐसे मनुष्य के सम्पूर्ण ताप नष्ट हो जाते है और उसे अभय पद की प्राप्ति होती है।[4]

यह रस बडा मँहगा है, जो अपने आपको मिटा सकता है, निजत्व की बलि कर सकता है, वही इस रस का आस्वादन कर सकता है। जो मरजीवा है, वस्तुत अन्तस्तल मे बैठ कर देखने वाला है, वही इस मर्म का जाननेवाला है। सत का विश्वास है कि उसमे यह आवश्यक गुण है, अत उसने इस महारस का पान किया है और जो इस महारस की एक बूँद पिला दे उसे सम्पूर्ण जीवन का पूर्ण जपतप दलाली मे दिया जा सकता है।[5] इस एक बूँद के आनद

---

१ गो० बा०, पृ० १०।२५ और २४।६७ की टीका।

२ स० क०, रागु गउडी २७, पृ० २९। ३ वही, रागु केदारा ३, पृ० २०२।

४ कहै कबीर महारस महगा, कोई पीवेगा पीवणहार रे।
—क० ग्र०, रा० गौडी ७१, पृ० ११०।

५ है कोई सत सहज सुख उपजै जाको जप-तप देउँ दलाली।
एक बूँद भरि देइ राम-रस, ज्यूँ भरि देह कलाली॥
—क० ग्र०, पद १५५, पृ० १३८-३०।

और उसके कारणों की पहचान सुखाभास (ना-सुख) का ज्ञान संसार के सम्बन्ध से 'ना-सुख ना-सुख' की स्थिति प्राप्त करना एवं वास्तविक तथा अक्षय सुख (आनन्द) के स्वरूप का परिचय और उसके प्राप्त करने की चेष्टा। दुःख-रूपता का अमित वर्णन वह नहीं करता कारण जीवन की परिस्थितियाँ उसके विरुद्ध हैं अतः इसका संकेत मात्र देना पर्याप्त होता है। बौद्ध दुःखवाद प्राप्त सुखों की अनित्यता और मनोरथों की असंतुष्टि जनित है। गौतम बुद्ध का विराम असमर्थता के कारण नहीं बल्कि प्रायुम का नश्वरता के कारण है और संतों का दुःख निराशा के उस तरफ की ओर संकेत करता है जिसमें आशा की स्वच्छ और उज्ज्वल किरणें बिखर रही हैं। यह सुख-स्वरूपता निराशा-जन्य नहीं है अतः आनन्द की अनुभूति के लिये सतोषप्रद संतुष्टि आवश्यक है। पौराणिक धर्म के सुखवाद से यही स्पष्ट मिलता है। स्वर्ग-सुख की कल्पना भौतिक सुख-स्वरूप का विस्तार मात्र है। प्रत्येक सांसारिक सुख दुःख के साथ मिश्रित है सुखं दुःखतिरोमयम्। अतः दुःख का निवारण कर अत्यन्त सुख की आशा वाचि भौतिक सुखवाद का दूसरा स्वरूप है। संत ऐसे सुख की कामना ही करता जिसमें वार्धक्य चिन्ता संकोच शोक अथवा मोह का संयोग हो।[1]

इस आनन्द को संकलित करने के लिये उसने कोई नया शब्द नहीं दिया बल्कि पूर्ववर्ती धर्म साधनाओं में प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया। परमानंद महासुख सहजानंद ब्रह्मानंद इसकी संज्ञाएँ हैं। यह आनन्द महारस (अमृत रस) पीने से प्राप्त होता है। विषयानन्द के स्थान में ब्रह्मानन्द अपेक्षित हुआ और विषय रस के स्थान में महा-रस। सिद्ध-नाथ-सम्प्रदाय में ही महासुख की चर्चा सुनाई पड़ने लगी थी। सुख-दुःख से भिन्न महासुख की धारणा की जिसकी चर्चा बार-बार हुई है।[2] योग-शास्त्रों के प्रभाव से ब्रह्म रंध्र से झरनेवाले महारस[3]

---

१ पाप पुन्न नहिं दुख सुख हा नहिं रोग न सोग।
सुखमम सार अमरित हा नहिं जीम न मीम॥ —गुलाल बानी शब्द ५१७ पृ ११।
सतपुर आनदधाम सोक मोह दुख तहँ नहीं।
हंसन को बिस्राम दथ अमय सुखा॥ —अनुराग सागर पृ० १।१२।

२ सिद्ध करिअ महासुह परिमाण। रुई भणई गुरु पुच्छिअ जाण॥
समक समाहिहिं काह करिअइ। सुख दुखेते निचित मरिअइ॥
—हिं का धा (लुईपाद) पृ ११८।
बाम दाहिन चापी मिलि मिलि माँगा। बाटत मिलिल महासुह सांगा॥
—प्र हि के (भाग १) कण्हपाद पृ १४४।१।
चिअ कमहार सुणत माँगे। चलिल कान्ह महासुह साँगे॥
—वही कण्हपाद पृ १२।१।
खिति सुमन मई दाहिन देलें। हांउ सुनेलि महासुह लीलें॥
—वही कुक्कुरीपाद पृ १२५।१
मुसुक भमइ मन बुधिअ मलें। सहजानन्द महासुह लेलें॥
—वही भुसुकपाद पृ ११२।१।

३ महारसपान मनेल रे सिद्धमन गगन उपरी। —वही महीधरपाद पृ १२११८।

की कल्पना आई। नाथ-सम्प्रदाय मे इसकी चर्चा अत्यधिक आई। गोरखवानी के पदो मे भी डॉ० वडथ्वाल के अनुरार ब्रह्मानन्द और ब्रह्मानुभूति का उल्लेख है—"जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिल जाता है उसके लिए ससार के आत्यन्तिक दु ख की कटुता मिट जाती है और जगत् आनन्दमय (मीठा) हो जाता है 'तथा' उस (उत्तराखण्ड) मे ब्रह्माग्नि का वस्त्र पहनने को, निर्झर से झरनेवाला अमृत पीने को और शून्य-फल (ब्रह्म-रन्ध्र में मिलनेवाला फल-ब्रह्मानुभूति) खाने को मिलता है।"[1]

पूर्वापर विचार करने मे ब्रह्मानद का आस्वाद जिसे उन्होने माना है, वह ब्रह्मानद नही वल्कि शून्य अथवा ब्रह्म-रध्र का अमृत है और शून्य-फल ब्रह्मानुभूति नही बल्कि ससार के सम्बन्ध से शून्य की स्थिति (ग-सम-स्वरूपता) है जिस फल का रस अमृत (जरामरण के भय से निद्वद्वावस्था) है। योगिगा का अमृत सतो के यहाँ महा-रस हो जाता है और मरासुख नित्य आनद। अमृत-तत्त्व मरण-धम से मुक्ति है, निर्वाण आवागमन से मुक्ति था और महासुख म भौतिकता की छाया सी रह जाती है। सत की अत यह धारणा नाथो की नकल मात्र नही यद्यपि उस महारस की प्राप्ति और स्वरूप मे नाथ परम्परा के पालन का स्पष्ट सकेत है। आकाश (ब्रह्म-रध्र) रूपी ररामग्री भट्ठी से ब्रह्मानद का रस चू रहा है, जिसके सचित करने से मेरा शरीर परिपुष्ट हो गया। राम-रस पीता हुआ जिसने ज्ञान प्राप्त किया है, वही सहज मतवाला है। सहजरूपी कलालिनी जव मिल गई तो प्रत्येक दिन आनद से मतवाला हो गया।[2] मूर्ख कलवारिनी (आत्मा) पवन को उलट ले (चित्तवृत्ति का निरोध कर ले) और मतवाले मन के द्वारा मेरुदण्ड की चोटी पर रक्खी भट्ठी (= ब्रह्म-रध्र) से अमृत की धार को चूने दे।[3] इस दुर्लभ रस का पान करने से सदा के लिये प्यास मिट जाती है। जो ब्रह्म द्वार खोल सकता है वही सच्चा मनखीवा है और उसी में वास्तविक मतवालापन है। ऐसे मनुष्य के सम्पूर्ण ताप नष्ट हो जाते है और उसे अभय पद की प्राप्ति होती है।[4]

यह रस वडा मँहगा है, जो अपने आपको मिटा सकता है, निजत्व की वलि कर सकता है, वही इस रस का आस्वादन कर सकता है। जो मरजीवा है, वस्तुत अन्तस्तल मे वैठ कर देखने वाला है, वही इस मर्म का जाननेवाला है। सत का विश्वास है कि उसमें यह आवश्यक गुण है, अत उसने इस महारस का पान किया है और जो इस महारस की एक बूँद पिला दे उसे सम्पूर्ण जीवन का पूर्ण जपतप दलाली में दिया जा सकता है।[5] इस एक बूँद के आनद

---

१ गो० बा०, पृ० १०।२५ और २४।६७ की टीका।

२ स० क०, रागु गउडी २७, पृ० २९। ३ वही, रागु केदारा ३, पृ० २०२।

४ कहै कवीर महारस महगा, कोई पीवेगा पीवणहार रे।

—क० ग्र०, रा० गौडी ७१, पृ० ११०।

५ है कोई सत सहज सुख उपजै जाको जप-तप देउँ दलाली।
एक बूँद भरि देइ राम-रस, ज्यूँ भरि देह कलाली॥

—क० ग्र०, पद १५५, पृ० १३८-३०।

की समता सम्पूर्ण जीवन के जपतप द्वारा प्राप्त आनन्द से नहीं हो सकती। छांदोग्य और बृहदारण्यक जहाँ ब्रह्म-लोक के आनंद की सम्भावना कामनाहीन मन द्वारा मानते हैं, वहाँ सन्त जपतप यज्ञादि की व्यर्थता सिद्ध करते हैं।

इस महारस की प्राप्ति के पश्चात् और सभी रस फीके बे-स्वाद और महत्त्वहीन जान पड़ते हैं।[१] कोई अभाव नहीं रह जाता कुछ प्रार्थनीय नहीं रहता। इस पणता की प्राप्ति से सारी अपूर्णतायें निश्शेष हो जाती हैं और कुछ चाहने की चाह मिट जाती है। नित्य परमानंद में अपनी व्याप्ति हो जाती है व्यष्टि समष्टि का भेद मिट जाता है। पूर्णता में मिल कर सभी पूर्ण हो जाते हैं। ब्रह्मानंद परमानंद महासुख वस्तुतः ब्रह्मानन्द है, आत्मानंद है, जिसकी आनंदमयता ही सृष्टि का प्रकाश है जीवन का विस्तार है। इसे प्राप्त कर मन मगन हो गया।[२] मात्र यही एक सच्चा रस है। इस रस की कथा अकथनीय है। यह आनंद अन्तर्गत है[३] आत्मस्थ ही नहीं बल्कि आत्मा का सत्य स्वरूप है अतः स्वर्ग में अथवा अपने आप से बाहर नहीं जीवन और मृत्यु के पश्चात् इसके खो जाने की आशंका नहीं।[४] मनुष्य अज्ञान-वश इसकी खोज म भटकता है।[५] अपने आप की वास्तविक पहचान से ही भवताप नष्ट हो जाते हैं और परमानन्दोपलब्धि हो जाती है।[६] इस आत्मोपलब्धि के पश्चात् आत्म-पद मानव परमानन्द म मिलकर व्यापक और महिमा-मण्डित हो जाता है[७] और यही एक मात्र काम्य है।

तुलनीय—कोई है रे संत सहज सुख अंतरि जाकउ जपु तपु देउ दलाली रे।
एक बूंद भरि तन मनु देवउ जो मदु देइ कलाली रे॥
—सं क रामकली १ पृ १०६।

१ और जिमी पीआ सार रसु तज आन रस। होइ रस मगन डारे बिखु खोई॥
आ ग्रं रविदास बिलावल २।२
राम रस पीआ रे जिह रस बिसरि गए रस अउर।—सं क रा भ ६४ पृ ६७।

२ क ग्रं पद ७ पृ ११।

३ पूरन परमानंद मनोहर समुझि देखि मन माही।—आ ग्रं धन्ना रागु आसा १।१।
दादू अमृत घट में बसे बिरला जाणै कोइ॥
—दा द बा (१) सजीवन को अंग २१ पृ २२५।

४ जीवत पाया प्रेम रस जीवत पिया अघाइ।
जीवत पाया स्वाद सुख दादू रहे समाइ॥
—दा द बा (१) सजीवन को अंग २१ पृ २२५।

५. जैसे कुरंक नहीं पाइउ। तजि मुगध ढूंढै ग्रेमु॥ – आ ग्रं रविदास बसन्तु १।२

६ अपणी जाणै आप गति और न जाणै कोइ।
सुमिरि सुमिरि रस पीजिये दादू आनंद होइ॥—दा द बा (१) पृ २४।८९।

७ ज्यूं जल पैसे दूध में ज्यूं पाणी में लूण।
ऐसे आतम राम सौं मन हठ साधे कौण॥—दा द बा (१) पृ २२।७६।

सारे आधिभौतिक दु खो और आध्यात्मिक सतापो की चिर-शान्ति स्वत हो जाती है। दु ख-निवृत्ति स्वरूप परमानद की प्राप्ति नही बल्कि परमानद की प्राप्ति का यह फल है। और इस परमानद का प्रतिफलन शुद्ध सात्त्विक मन मे होता है।[1] यदि अपना मन शुद्ध नही तो इस आनद के दर्शन नही हो सकते। मन की सात्त्विकता उस नैतिकता का सकेत करती है, जो मनुष्य को मानवीय और देवतुल्य बनाती है। अत सन्तो का परमानद सुखवादियो का आध्यात्मिक सस्करण मात्र नही और न वैष्णवो का विधानात्मक सुखवाद है। इसे हम नैतिक आत्मानद कह सकते है। इसका स्वाद अकथ है, अवर्णनीय है, वाणी इसके वर्णन मे पग है और भाषा मौन।[2] यह आनद ऐक्यानुभूतिगत रसानुभव है। यह अनुभवगम्यता मन-वाणी के परम अगोचर है। वेद, शास्त्र और उपनिषद् इसकी चर्चा मे असमर्थ है। यह अनुगम्यता ही हद को बे-हद, गम को बे-गम, सात को अनत, सशक को अ-भय और स-सीम को असीम बना देती है। यह स्वय-प्रकाश, स्व-सवेद्य, आत्म-गत, एव परार्थता से मुक्त है, इस पर किसी का दावा नही, अधिकार नही।

इस मानसर (मन स्थिति) की प्राप्ति के बाद सर्वत्र अखड आनद की अबाध धारा प्रवाहित होती रहती है। आनद की वर्षा मे सत सदा भीगता रहता है।[3] भवसागर ही सुखसागर बन जाता है। खोई आत्मा अपने घर लौट आने का सुख प्राप्त कर लेती है।[4]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सौन्दर्य-कल्पना और कल्याण कामना की जो कोटियाँ मानी है और अव्यक्त एव असीम के प्रति जिज्ञासा की जिस भावना का उल्लेख किया है,[5] उससे भिन्न आनद की कल्पना सतो में है। यह आनन्द व्यक्त नही, और न अतीन्द्रिय है बल्कि

---

१ काहे कउ कीजै धिआनु जपना। जबते सुधु नाही मनु अपना।
—आ० ग्र०, नामदेव, रागु आसा ४।

२ गूगै महा अम्रितु रसु चाखिआ पूछै कहनु न जाई हो।
—आ० ग्र०, नामदेव, रागु सोरठ २।३।

जैसे गूगै मिठि आई। —वही भीखन, रागु सोरठ २।१।

कबीर गूगै गुडु खाइआ पूछेते किआ कहीए। —स० क०, रा० ग० ५१, पृ० ५४।

३ कबीर बादल प्रेम का हम परि वरष्या आइ।
अतररि भीगी आतमा, हरी भई बनराई॥
—क० ग्र० साखी गुरदेव कौ अग ३४।

४ विखै रोग भव बन्धन भागे, मन निज घरि सुख जाना ना।
स० क०, रा० ग० ७४, पृ० ७७।

निज भरि महलु पावहु सुख सहजे बहुरि न होइगो फेरा।
—आ० ग्र०, सोहिला ४।५, पृ० १३।

अखड सरोवर अथग जल हसा सरवर न्हाहिं।
निर्भय पाया आप घर इब उडि अनत न जाहिं॥
—दा० द० बा० (१), पृ० ५२।६९।

५ काव्य में रहस्यवाद, पृ० ३९-४६।

उपसंहार

☆

परम्परा की धारावाहिक भूमिका मे सामाजिक-स्थिति, सास्कृतिक चेतना और धार्मिक-साम्प्रदायिक प्रक्रिया के अध्ययन द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम आक्रमण के पूर्व से ही भारतीय समाज का विघटन प्रारम्भ हो चुका था। राजनीतिक सत्ता के विघटन की आधार-शिला यही सामाजिक विशृंखलता थी। समग्र भारतीय जीवन को एकसूत्रता और केन्द्रीयता देनेवाला, सम्बन्ध-सूत्र को सम्बद्ध करने मे असमर्थ रहा। राजकीय सत्ता एक व्यक्ति की केन्द्रीभूत दृढ राज्य-शक्ति न होकर विभिन्न और परस्पर-निरपेक्ष शक्तियो द्वारा किसी विशिष्ट व्यक्ति के आधिपत्य की स्वीकृति थी। केन्द्रीय क्षमता के क्षीण होते ही विभिन्न और परस्पर विच्छिन्न शक्तियाँ विशृंखल हो उठती। समाज की अन्तर्निहित क्षमता की एकसूत्रता मध्यकाल तक आते-आते इतनी नष्ट हो चुकी थी कि राजनीतिक क्षेत्र में एकसूत्रता देने की क्षमता रखनेवाले किसी व्यक्ति का उद्भव सम्भव नही हो सका। भारतीय समाज मे सघटित हो जानेवाली विभिन्न अभारतीय जातियाँ इस विघटन मे अधिक सहायक हुई। वर्ण-शुद्ध आर्य ब्राह्मण-शूद्र-ससर्गज सतति, भारत-बाह्य जातियाँ, जिन्हें वर्ण-व्यवस्था में स्थान मिल चुका था और समाज-व्यवस्था मे नगण्य स्थितिवाले निम्न-स्तरीय जन-समाज का विभाजन और सघर्ष स्पष्ट हो चुका था। जातियो-उपजातियो के विभिन्न भेद निर्मित हो चुके थे और निम्नकुलोद्भव व्यक्ति उच्चता-स्थापन के लिए व्यग्र और चिन्तित थे। इस विधान का आरम्भ आश्रम-च्युत सन्यासियो और उनकी सन्तति एव उच्च-ससर्ग से जन्म लेनेवाले निम्नस्तरीय व्यक्तियो द्वारा हुआ था। ऐसी सामाजिक परिस्थितियो में उत्तरी भारत पर इस्लामी आक्रमण होने लगे। आर्थिक-सामाजिक कारणो से विभिन्न वर्गों का सास्कृतिक स्तर स्पष्ट रूप में भिन्न था

और मुस्लिम आक्रमण के कारण इन स्तरों में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। उच्चवर्गीय समाज के समक्ष आत्म-रक्षा एवं नष्ट होती हुई परम्परा के संरक्षण की समस्या थी जिस पर विजातीय मुस्लिम धर्म समाज-व्यवस्था और संगठन एवं विभिन्नधर्मीय धारा की ओर से निर्विघ्न आक्रमण हो रहे थे। इस सांस्कृतिक स्तर ने बाह्य आक्रमण को अधिक महत्व नहीं दिया। अन्तर्विरोध ने उसे अधिकाधिक क्षुब्ध और चिन्तित किया क्योंकि इसके कारण ही सामाजिक विघटन की क्रिया का अधिक उत्तेजना मिल रही थी। निम्नस्तरीय समाज के समक्ष प्रश्न था आत्म-विकास का एवं अधिकार-हीन सामाजिक व्यवस्था में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने का। बाह्य आक्रमण से आत्म-रक्षा का प्रश्न इसके समक्ष महत्वपूर्ण हो ही नहीं सका था। धर्म-परिवर्तन के द्वारा भी उच्चता-विकास की समस्या हल नहीं हो सकी कारण उस समाज-संगठन में भी ऐसे व्यक्तियों को सम्मानित स्थान प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में सन्त-साहित्य दोनों धर्मों के समान-तत्वों का निरूपण नहीं करता उन्हें सामंजस्य-संगति भी नहीं देता बल्कि उनकी बाह्याचारता का क्षमतापूर्ण विरोध करता है।

सूफी-सम्प्रदाय प्रारंभ से ही धर्म-परिवर्तन करा मुस्लिम धर्म के प्रचार में योग-दान करता रहा इसका प्रभाव निम्न-वर्ग पर ही अधिक पड़ा था। सत्य की दृष्टि से मुल्ला मौलवी-काजी और सामान्य सूफी सन्त में अन्तर नहीं था। इन दो धर्मों का अन्तर इनके कट्टरवादी रूपों में ही प्रकट होता है। धर्मान्धता को उत्तेजित कर सकने की क्षमता के कारण मुल्ला-मौलवी का प्रभाव शासकों और उनके समाज पर अधिक था जिससे मुक्त होने की चेष्टा प्रत्येक शासक मुस्लिम सम्राट् को करनी पड़ी। अमीर खुसरो के प्रमाणानुसार अनेकानेक हिन्दू विश्वास अनुष्ठान-आचार एवं अन्ध-विश्वास मुस्लिम समाज में प्रचलित होते जा रहे थे। जन-साधारण को आकृष्ट करने के लिए उनकी भाषा परम्परा और धारणाओं का माध्यम बनाना पड़ा। ऐसी धारणाएँ मुस्लिम शास्त्रानुमोदित नहीं थीं। भारतीय सूफी-मत के अध्ययन द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचार-धारा को इस वर्ग ने जितना आत्मसात् अथवा ग्रहण किया है उतना से सन्त के लिए न तो कोई विशिष्ट वस्तु ही उनके पास थी और न सामर्थ्य ही। विदेशी मुसलमानों में पूर्व धारणाओं और आचरण की शुद्धता के एकाग्र गहरी चिन्ता भी वर्तमान थी। भारतीय इस्लाम के शास्त्रानुमोदन-हीन आचरण और आस्था को ही आधार बना कर ही तैमूर ने दिल्ली के मुस्लिम शासक पर आक्रमण किया था।

वेद-शास्त्र का विरोध बाह्याडम्बर का प्रत्याख्यान आचरण-शुद्धता का निर्वाह जन्मगत उच्चता की अमान्यता आदि मुस्लिम प्रभाव के फल नहीं बल्कि इसकी सुदीर्घकालीन परम्परा है। आर्य जातियों की अधिकार-प्रतिष्ठा के पश्चात् ही यह धारा प्रवाहित होने लगी थी। वैदिक कर्म-काण्ड और ब्राह्मणों की उच्चता के विरोध का स्वर उपनिषदों में भी स्पष्ट है। उपनिषदों में उल्लेख प्राप्त करनेवाले विदेह जनक याज्ञवल्क्य और अजातशत्रु का सम्बन्ध भारत के पूर्वीय भू-भाग से है और उसी भूमि में बौद्ध धर्म का उद्भव और विकास हुआ जिसमें आचरण की पवित्रता की प्रतिष्ठा और जातिगत उच्चता का विरोध है। बौद्ध धर्म का उत्तर विकास भी इस क्षेत्र को प्रमाणित करता है। सिद्धों और नाथों का भी सम्बन्ध इस क्षेत्र से

बना रहता है। इस परम्परा का नव-विधान ही कबीर की वाणियो मे प्राप्त होता है। ये धारणाएँ इस्लामी प्रभाव के कारण नही, इस प्रभाव के कारण थोडी-बहुत स्पष्टता इन धारणाओ को अवश्य मिली।

वर्ण-व्यवस्था के जटिल होने तक वर्ण-परिवर्तन की स्वतन्त्रता नही रही, यद्यपि यह स्वतन्त्रता सीमित ही थी। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह-सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तति और ब्राह्मणो द्वारा श्रेष्ठता-प्राप्त शूद्र-वर्ण व्यक्तियो मे उच्चता के भाव जग चुके थे। बाहर से आनेवाली जातियो के सदस्य भी अपने व्यवसाय और प्रभाव के कारण वर्ण-व्यवस्था मे सम्मानित स्थान पा भारतीय समाज के अग बन गए थे। निम्नवर्गीय समाज ने उच्चता-विधान के लिए अर्थ-सग्रह, राज्य-शक्ति-ग्रहण और अपने ज्ञान की प्रतिष्ठा चाही। मनु ने वर्ण-गत व्यवसाय के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा अर्जित धन के अपहरण का विधान किया है। निम्न-कुलोद्भव व्यक्तियो ने राज्यकुलो की स्थापना द्वारा महत्त्व का प्रतिपादन किया। महापद्मनन्द, पुराणो के प्रमाणानुसार, द्वितीय परशुराम की भाँति सर्वक्षत्रान्तक था। पालवशीय नृपतियो के राजनीतिक उच्चता-विधान की धार्मिक परिणति सिद्ध-सम्प्रदाय मे दीख पडती है।

उच्चता-विधान की आशा से किए गए धर्म-परिवर्त्तन ने भी सहायता नही दी। गणतान्त्रिक इस्लाम भारत मे आ कर वर्ण-भेद-प्रधान हो गया। इस्लाम को स्वीकृत कर ऐसे व्यक्ति न तो पूर्णतया मुसलमान हो सके थे और न हिन्दू बने रहने का अधिकार ही उन्हे प्राप्त था। सन्त-मत का उद्भव इसी समाज मे होता है अत इस साहित्य मे हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-विधान की अपेक्षा हीनता की धारणा के प्रति सबल विरोध ही अधिक था। मध्यदेश में सत्ताधिकार प्राप्त करने के पूर्व ही इस्लामी शक्तियो की स्थापना सिन्ध और पजाब मे हो चुकी थी और सूफी-सन्त वहाँ आकर बस चुके थे। सन्त-मत के प्रवर्त्तक कबीर काशी के निवासी है। नानक और दादू ने बाद में चलकर पश्चिमीय भू-भाग को प्रभाव-क्षेत्र बनाया। पूर्वी-परम्परा का स्पष्ट प्रभाव कबीर-साहित्य में प्राप्त है। इस्लामी प्रभाव के कारण न तो सन्त-साहित्य को स्वरूप प्राप्त ही हुआ था और न इसके अभाव मे इस साहित्य की रचना ही अवरुद्ध होती केवल सूफी प्रेम-मार्गी शाखा और सन्त-साहित्य के परवर्त्ती प्रत्यावर्त्तन के रूप प्राप्त नही होते। इस्लामी प्रभाव में पूर्ववर्त्ती सन्त-साहित्य मे विशेप अन्तर नही आता।

भक्ति का मध्यकालीन स्वरूप दक्षिण मे विकसित हुआ। आडवारो की भक्ति-धारा ने शास्त्रज्ञ पण्डितो का शास्त्र-समर्थन पाया। रामानुजाचार्य भक्ति के प्रवर्त्तक नही बल्कि उसे दार्शनिक प्रामाणिकता और आधार देनेवाले व्यक्ति हुए। भक्ति और योग विच्छिन्न नही, ज्ञानेश्वर में भक्ति और योग का सफल समन्वय है। नाथ-पन्थी योग-परम्परा और योग-पुष्ट भक्ति की धारा नितान्त अभिन्न नही। सिन्ध पर इस्लाम के सबल आधिपत्य और तेरहवी शताब्दि के अन्त में दाक्षिणात्य के मुस्लिम आक्रमण के पूर्व से ही माधुर्य-भाव की भक्ति का प्रसार आडवारो में था। भक्ति का स्वरूप निम्नवर्गीय समाज मे प्रचलित हुआ था, जिस वर्ग को मन्दिर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त नही था। भक्ति को साधन-योग स्वीकार करते हुए सन्तो ने परम-तत्त्व स्वरूपी इष्टदेवता को योगात्मक विधान के अनुरूप अन्त मे देखा। मुक्ति के लिए ज्ञानेश्वर ने भक्ति और योग के साधनो का सामजस्य-विधान किया तो कबीर ने ज्ञान के

परम-तत्त्व को भक्ति की साधना से उपलब्ध माना। सन्त-मत ने योग के चित्त-वृत्ति-निरोध को सांसारिकता से मुक्ति के लिए उपयुक्त माना और उसके द्वारा परम-तत्त्व के साथ सम्बद्धता की उपयुक्तता सिद्ध की। सन्त-साधक प्रच्छन्न योगी नहीं योगात्मक क्रिया भी उसे मान्य नहीं। उसने योग-परक शब्दावली और साधना का नूतन संस्कार किया। सूफी और योगी दीक्षित होकर इस धारा में अपनी साधना प्रणालियाँ और शब्दावली को प्रवेश कराने में समर्थ हुए। नाथ-पन्थी धारणाओं मान्यताओं विश्वास एवं सत्य की भिन्नताएँ स्पष्ट हैं।

एक व्यक्ति के साथ अन्य उसी नाम के व्यक्तियों का अन्तर्भाव होता रहा और उनकी रचनाएँ भी मिल जाती रहीं। कई प्रमुख कबीरों का प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त है—सुहरवर्दिया परम्परा के अमाक इब्न अहमद कबीर (शेख कबीर) सैयद जलालुद्दीन (सिन्ध में आगमन १२४४ ई.) के पोते सैयद अहमद कबीर और प्रसिद्ध काशीवासी सन्त कबीर (द्रष्टव्य—'सामग्री और आधार' पृ ६०-६१)। मुसलमानों द्वारा लिखित इतिहासों में कबीर का उल्लेख नहीं मिलता इस आधार पर इनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर सन्देह प्रकट किया जाता है। ऐसे इतिहासों में काशी का उल्लेख विशेष रूप में प्राप्त नहीं। कबीर मुस्लिम परिवार में पालित-पोषित होने के कारण मुसलमान ही प्रसिद्ध थे। धर्म-प्रवण मुस्लिम ऐतिहासिकों द्वारा लिखे गए ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं मिलता स्पष्ट संकेत उपस्थित करता है, ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं। यात्रियों का वर्णन भी प्रामाणिक नहीं कारण निम्नस्तरीय जन-जीवन में वे किसी दिन प्रवेश नहीं पा सके थे और इन इतिहासकारों का सम्बन्ध-सम्पर्क भी इस वर्ग से विशेष नहीं हो सकता था। भारत में मुस्लिम धर्म-प्रवेश के कारण द्विविध प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हुईं। यहाँ के कुछ धर्म-सम्प्रदायों ने इस्लाम को स्वीकार किया अतः सम्प्रदायों के हिन्दू और मुसलमानी रूप प्राप्त होने लगे यद्यपि दोनों के विश्वासों में अधिक अन्तर नहीं था। पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रिया भी अबाध गति से चलती रही। सूफी-साधना से प्रभावित रचनाओं में उस शब्दावली का अधिक प्रयोग होता था। इस प्रकार के सम्प्रदाय अन्य किसी प्रबल सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त भी होते रहे। ऐसे सम्प्रदाय के प्रमुख व्यक्ति दीक्षित होकर नूतन सम्प्रदाय-संगठन का नाम सम्मुख करते रहे। साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार दादू वृद्धानन्द अथवा बुड्ढन बाबा के शिष्य थे। नानक से भी किसी बुड्ढन बाबा के शिष्य थे। नानक से भी किसी बुड्ढन बाबा की भेंट हुई थी। कुतबन ने शेख बुड्ढन को अपना पीर माना है और आइन-ए-अकबरी में शाह सिकन्दर लोदी के समकालीन शेख बुड्ढन सत्तारी का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में सूफी-मत से सन्त मत की ओर दादू के आने की सम्भावना है विदग्धता भावुकता और आतुरता के मार्मिक चित्र दादू-साहित्य में अत्र परिलक्षित हैं। आगे चल कर सन्त-मत के परवर्ती विकास और सूफी-मत के भारतीय रूपान्तर में अधिक अन्तर बना नहीं रह सका।

क्रान्ति-पंथ के प्रवर्तक प्रसिद्ध रामानन्द नहीं थे किसी रामानन्दी मठ के कोई अधिकारी थे जो पीछे चल कर सन्त-मत में दीक्षित हो गए। अनुमान के कथन के आधार पर रामानन्द की उदारता का जो उल्लेख कुछ विचारकों ने किया है वह किसी दृढ़ आधार पर निर्धारित नहीं। धर्म-ध्वनिता विवर्तनियों के सम्प्रदाय-विस्तरण द्वारा कबीर रामानन्द

सम्वन्ध की निश्चितता प्रमाणित नही होती। कबीर और रैदास सम्वन्धी जन-श्रुतियाँ रामानद की अनुदारता, आचार-प्रवणता का ही सकेत करती है। (द्रष्टव्य—सामग्री और आधार, पृ० ४०-४६)। गुरु-माहात्म्य और दीक्षा की प्रामाणिकता के कारण सम्प्रदाय-सगठन के पश्चात् ही ये कथाएँ जोड दी गई होगी। रामानन्द द्वारा उत्तरी भारत में 'राम' को शास्त्रीय महत्ता मिली, जिनकी कथा का प्रचार अवध के समीपवर्त्ती भू-भाग मे पूर्व से ही था। कबीर ने परम-तत्त्व की सज्ञा के रूप मे रामानन्द द्वारा प्रचारित और शास्त्रोक्त ईश्वरत्व से सम्वद्ध 'राम' को स्वीकार किया। सहज, अलख, निरजन, शून्य आदि इसकी विभिन्न सज्ञाएँ थी, अत निरपेक्ष निर्गुण तत्त्व की सज्ञा हो गई 'राम'। रामानन्दवाली अध्यात्म रामायण की परम्परा तुलसीदास मे विकसित हुई। विभिन्न पन्थो के प्रभावशाली व्यक्ति सन्त-मत मे दीक्षित होते रहे। कबीर का रामानन्द और शकराचार्य एव नानक का रामानन्द और कबीर के साथ वार्त्तालाप इन सम्प्रदायो के किसी प्रभावशाली परवर्त्ती व्यक्ति के साथ हुआ था। शकराचार्य आदि की गद्दियो के अधिकारी आज भी इसी नाम से विख्यात है। इन वार्त्तालापो द्वारा अपने सिद्धात का प्रतिपादन और उन सम्प्रदायो से अपनी भिन्नता प्रदर्शित की जाती थी।

सगुण-निर्गुण-सम्वन्धी साम्प्रदायिक विचार के परवर्त्ती स्वरूप-विकास के द्वारा ही इस साहित्य की विचार-धारा को पूर्णतया समझा नही जा सकता। निर्गुणमात्र अगुण नही। परवर्त्ती सत-साहित्य में निर्गुण और अगुण का भेद मिटता गया। निर्गुण-भक्ति का अर्थ केवल निर्गुण की भक्ति नही वल्कि समस्त कामना-हीन भक्ति (नारदीय "गुणरहित कामनारहित" भक्ति) भी है। इसमे वहिर्मुखता का निराकरण कर अन्तर्वृत्तियो को परम-तत्त्व के प्रति नियोजित करना पडता है, यह न तो निवृत्ति की प्रवृत्ति है और न प्रवृत्ति की निवृत्ति, वल्कि निवृत्तिमूला प्रवृत्ति है। प्रवृत्यात्मिका निवृत्ति द्वारा सत्त्वस्थ आत्मा ही सत्य-स्वरूप के दर्शन में समर्थ हो सकती है। सगुण मतवाद सत्त्व-प्रधान गुणो के अनुकरण-स्मरण द्वारा श्रेष्ठ गुणो की प्राप्ति सम्भव मानता है और निर्गुण मत अवगुणो के तिरस्कार से अपरिच्छिन्न आत्म-तत्त्व की उपलब्धि द्वारा। परम-तत्त्व की स्वरूप-भिन्नता के आधार पर धारणाओ और विचारो के रूपो का विकास होता है। परम-तत्त्व और आत्म-तत्त्व की तात्त्विक अभेदता के कारण होनेवाले स्वरूप का अन्तर द्रष्टव्य है—

ब्रह्मरूप	जीव	सगुण ब्रह्म	परम-तत्त्व (परमज्योति)
जीव	ससारवद्ध	जीवन्मुक्त (ख-समावस्था)	पूर्णमुक्त (ब्रह्म-स्वरूपता)
साधक	पाखण्डी	साधु (विवेकी)	सिद्ध आत्मानदी
साधन	उपासना	ध्यान	समाधि (सहज)
साधन-स्वरू	शोध	वोध	सम्प्राप्ति (महारस)

परम-तत्त्व की स्वरूप-सम्बद्धता के कारण विविध सम्वद्ध विषयो की सज्ञा में परिवर्त्तन सम्भव होता है। परम-तत्त्व की सज्ञा हुई 'राम', अत उसकी उपलब्धि द्वारा प्राप्त रस हुआ 'राम-रस' और उसकी प्राप्ति से मिलनेवाला आनन्द हुआ 'रामानन्द' (परमानन्द), सहज

समाधि से प्राप्त आनन्द बना सहजानन्द। आनन्दोपलब्धि के पश्चात् आत्मा अपने आन्तरिक आनन्द का पूर्ण साक्षात्कार कर लेती है अतः यह आनन्द वस्तुतः आत्मानन्द ही है। मत्स्य प्रेरणा के कारण ही यह अन्तर का आनन्द जागरित होता है इसलिए चैतन्य-धारा ही रामानंद है कबीर का गुरु और संत-मत का आदि प्रवर्तक और वास्तविक संस्थापक। अनाहत की चर्चा प्रामाणिक उपनिषदों में नहीं इस साहित्य में अनाहत का एक और अर्थ हुआ अनाहद— अनहद अर्थात् हद-बेहद के परे अन हद (द्रष्टव्य—परिशिष्ट १) शब्द-साम्य के आधार पर ही आम्र्-अमीन और सिद्ध-सिद्दिक का सम्बन्ध-निर्धारण कष्ट-कल्पना-मात्र है। प्रतीक-विधान का बीज संत-साहित्य में सुरक्षित है, अकेली परम्परा पर्याप्त नहीं होगी। शब्द-साम्य के आधार पर इसी उलटि सिव को प्रस में संचय बना 'सता (सत्ता)' और सिव चीता (चित्त चेतन) दो व्यापार की दृष्टि से कामिनी हुई बाघिनी (= कामिनी भई मार सिंघाही। बाघिनी रूप गरासन चाही॥) नाम-परम्परा के प्रतीकों और संकेतात्मक शब्दों को संतों ने अपनी विचार-धारा के अनुकूल बनाया (द्रष्टव्य—प्रतीक-विधान)। वे केवल ज्यों-के-त्यों नहीं ले लिए गए हैं।

संत-कवि शास्त्रीय दर्शन के पण्डित नहीं थे जीवन-व्यवस्था के चिंतक थे। अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद एकेश्वरवाद आरंभवाद अथवा प्रतिबिम्बवाद विवर्तवाद के किसी मान्य चौखटे में उन्हें कसना उपयुक्त नहीं। चैतन्य रूप से ग्रहण करने की सार-संग्रह-वृत्ति भी उनमें नहीं। जो स्वतः और सहज रूप में गृहीत हो गया वही महत्वपूर्ण था। सन्त का विश्वास है कि एक परम-तत्त्व है उस तत्त्व को चाहे राम कहा जाय अथवा अल्लाह। परवर्ती कबीर पंथ में से गए निरंजन के ही रूप हैं और वस्तुतः मायिक। गोपाल केशव ईश्वर आदि विभिन्न प्रचलित नामों को भी उन्होंने ग्रहण कर लिया वह राम और रहीम की एकता का प्रतिपादन करने के लिए ही ऐसा नहीं कर रहा है। उस एक तत्त्व का संकेत इन नामों के द्वारा देना है एकता का प्रतिपादित होना भी परिलक्षित है उद्देश्य नहीं। सगुण मतवादी 'राम' से भिन्नता सूचित करने के लिए परवर्ती सम्प्रदाय में उस परम-तत्त्व का सत्य नाम (सत्त नाम सत-पुरुष) अथवा कभी-कभी 'नाम' भी कहा गया। उस परम-तत्त्व के साथ संत का घनिष्ठ परिचय और सम्बन्ध है। लौकिक सम्बन्धों के माध्यम से ही वह सम्बन्ध अभिव्यक्त किया जा सकता है। सिद्धान्त मत और निष्ठा-भाव के आधार पर ही इन प्रतीकों और संकेतों का विश्लेषण-विवेचन सम्भव और उपयुक्त है प्रतीक-विधान के आधार पर 'वाद'—निरूपण भ्रामक होगा। सम्बन्धात्मक प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि इसका आधार औपनिषदिक विचार भी नहीं सूफी-शैली भी नहीं। अपनी एकनिष्ठता अनन्यता आन्तरिक तन्मयता और शाश्वत अभिन्नता सूचित करने के लिए संत स्वकीया प्रेम का आश्रय लेता है यद्यपि परकीया प्रेम की उत्कटता तीव्रता और उसकी विपुल सम्भावना इसमें नहीं रह जाती। प्रेम स्वरूप या परम-तत्त्व के रूप-विधान की महिमा से केवल ये स्पष्ट हो जाता है कि संत का प्रेम अवतार प्रेम नहीं अवतार के प्रति प्रेम भी नहीं कारण स्थूल न होकर भी वह प्रिय पूर्णतया अवतार नहीं। अज्ञात के प्रति प्रेम तो वह है ही नहीं कारण वह प्रिय अज्ञात अथवा अपरिचित तो कदापि नहीं है। न तो परम-तत्त्व ही मौन है और न उसके साथ परिचय संबंध ही नाममात्र। समान स्तर का रूप संत ने मान लिया है अतः वह रहस्यवादी नहीं अपितु

रहस्यविद् है। उमकी साधना-पद्धति सहज अत अन्तर्प्रेरणाजन्य है, किन्तु स्वार्थी और ज्ञान-विमूढ व्यक्ति इस 'स्वमवेद्य' ज्ञान का महत्त्व नही जानते, इन अ-पारखियो के समक्ष अपना अमूल्य धन वह दिखाना नही चाहता क्योकि न तो उन्हे इमकी कोई आवश्यकता है और न वे इसे ग्रहण करने में समर्थ ही हैं।

सामाजिक-सास्कृतिक चेतना के सगठन का प्रभाव परम-तत्त्व के स्वरूप पर पडा और इस परम-तत्त्वता के आधार पर ही मतो की धारणाओ, विश्वासो और भावनाओ का निर्माण हुआ है। सत-कवि की दृष्टि समार की क्षणिकता से अधिक वैभव-ऐश्वर्य की क्षणिकता की ओर है, अत माया वन गई मायिकता और मासारिकता ऐश्वर्य और वैभव। अभाव-ग्रस्त जीवन की विवशताओ से मुक्ति का मदेश इम निराकरण मे प्राप्त होता है। विपभरी मोहकता के कारण माया वन गई सर्पिणी, काल-सर्पिणी एव कुण्डलिनी, अपने कुण्डल में आवेष्टित करनेवाली। केवल वाह्य जगत् ही असत्य नही, वाह्यता ही असत्य है। धार्मिक आचरण, वाह्याडम्वर असत्य अत व्यर्थ और अर्थहीन हैं। जगत् का अन्तर्भूत तत्त्व ही सत्य है, अत अन्तर्ज्योति का जागरण एव आन्तरिक चैतन्य ही सत्य और वास्तविक, सहज और प्राकृतिक स्वरूप। सामारिक दृष्टि से ख-ममावस्था ही अनन्त अन्तर्ज्योति के जगाने में समर्थ है, अत दर्शन वुद्धि-विलास और तर्कशक्ति का प्रचण्ड प्रदर्शन अनपेक्षित और अनावश्यक। उपाधियो के निराकरण से ही अपने वास्तविक रूप के दर्शन होगे, 'निष्क्रिय' और 'केवल' नही, बल्कि 'चैतन्य' और 'जागरित'।

आत्मा मे ब्रह्म की आनन्द-स्वरूपता अन्तर्निहित है, ऐसी अवस्था मे आनन्द केवल दु ख-क्षय की अभावात्मक कल्पना नही और न वैकुण्ठ-स्वर्ग का परिवर्त्तित आधिभौतिक सुखवाद ही है। राजस और तामस त्याग मे सन्त के आनन्द की धारणा निहित नही। उसके लिए सात्त्विक उपभोगपूर्वक सन्तोप की सहजता महत्त्वपूर्ण है। सन्त का सहज गीतोक्त सहज (सह्+ज जन्म के साथ निर्धारित वर्ण-धर्म) नहीं, बल्कि आत्मा का सहज, स्वाभाविक, प्राकृतिक और सत्वस्थ स्वरूप है। जगत् की विकृतियो ने आत्मा को आच्छादित कर रखा था, जिनके कारण उसका वास्तविक स्वरूप ओझल हो गया था। वे विकृतियाँ जब दूर हो जाती हैं तो उसके विशुद्ध और तात्विक स्वरूप के दर्शन होगे। वही आत्मा का अविकृत अत प्राकृतिक और सहज स्वरूप है। प्रेम इस अनुवन्ध मे विदेशीय नही वल्कि आनन्द-रूपात्मक और आत्म-तत्त्वात्मक है, यह प्रेम भावना का अन्धावेश नही, चैतन्य की परिणति है। यहाँ सूफी-प्रेम की ऐकातिक धारणा से विभिन्नता स्पष्ट है। सन्त-काव्य का पूर्व-राग साहित्यिक परम्परा के अनुकूल राग के पूर्व की अवस्था नही बल्कि पूर्व का राग भी है, जो अचेतनकारी आवरण के कारण आच्छादित हो गया था। प्रेम अत दो विभिन्न तत्त्वो का आकर्पण-मात्र नही, बल्कि परस्पर अभेदात्मक तत्त्वो का अन्तर्मिलन है। अन्तर्ज्योति के जागरण के पश्चात् सभी कार्य-व्यापार स्वत नैतिक हो जाते है, नैतिकता अत वाह्य अनुशासन की परिणति नही, विधि-निषेध का फल नही और ईश्वरीय विधान का स्वरूप भी नही, आन्तरिक चैतन्य-जन्य जागर्ति की सहजरूपता है। नैतिकता आत्मगत चैतन्य का वाह्यप्रकाश और अन्तर्ज्योति-प्रदीप्त अन्तरात्मा की सहज प्रेरणा है। नैतिक जीवन ही अपनी कसौटी है और 'राम' की सम्बद्धता

हो मुख्य धर्मवाली। सन्त-काव्य में दीनता-जन्य आत्मभाव अधिक नहीं, आन्तरिक क्षमता-जन्य आत्म-विश्वास की प्रगल्भता है।

जीवन इस अवस्था में आकर विषमतापूर्ण क्रम नहीं, गंध-बद्धता की मसि-जन्य विषमता भी नहीं है। आत्मिक पूर्णता की आकांक्षा, वृत्तियों के संस्कार और महत्त्व द्वारा सांस्कृतिक चेतना का जागरण सन्त-कवि का अभीष्ट था। मात्र सांस्कृतिक क्रिया-कलाप की अभिव्यक्ति में उसका महत्त्व निहित नहीं, बल्कि उसकी महत्ता सांस्कारिक संस्कार में प्रकट होती है जो रचनात्मक और सांस्कृतिक चेतना का मूल आधार है।

ब्रह्म की सर्वव्यापकता एवं जीव की ब्रह्म-स्वरूपता द्वारा सन्त ने मानव-समता का प्रतिपादन किया है जिसके मूल में मानव-प्रेम का व्यापक आधार है। आत्म-तत्त्व अन्य आत्म-तत्त्वों से भिन्न नहीं, अतः आत्म-कल्याण, लोक-कल्याण और सार्व-मंगल की भावना से विच्छिन्न नहीं। आत्मिकता आत्मीयता की जननी और मानवता प्रतिष्ठापिका है। यह भावात्मक मानववाद है, भावुक मानव कल्याणवाद नहीं। यह प्रयत्न-साधित नहीं बल्कि अनायास और स्वतःस्फुरित है। समस्त संकीर्णताओं का अतिक्रमण कर मानव की मानव के रूप में प्रतिष्ठा ही सन्त-साहित्य की अन्तश्चेतना है।

आध्यात्मिकता जीवन से विच्छिन्न और अतीत नहीं, परम-तत्त्व बाह्य और विश्वातीत नहीं, वह अन्तस्थ और आत्म-गत है। कलुष के कारण वास्तविकता पर जो आवरण पड़ जाता है उसके छिन्न होने पर ही उसके प्राकृतिक और अ-कृत्रिम रूप के दर्शन होंगे। यही आत्मा का सहज और वास्तविक स्वरूप है। परम-तत्त्व को अतः मानवीय भूमिका में देखने की अपेक्षा है। सगुण मतवाद ने विशिष्ट मानवों में महत् तत्त्व देखा और सन्त मत ने मानवता को परम-तत्त्वता दी। अकेली आत्मा की यह स्वतन्त्र उड़ान मात्र नहीं, इसमें तो प्रत्येक मानव के आचरण और कल्याण का निश्छल सन्देश है। केवल सांस्कृतिक संघर्ष की परिणति विभिन्न प्रतीकों की महत्त्व-भावना के खण्डन अथवा काया-श्रम की सन्तुष्टि में सन्त-साहित्य का महत्त्व निहित नहीं है। इस साहित्य में सहज-सजीव आत्मीयतापूर्ण आत्मिकता है। सन्त के अनुसार सत्य जीवन की परिणति और उपलब्धि है। कृच्छ्रसाधना के विरुद्ध अपेक्षाकृत आयासहीन सहज साधना से आत्मा के सहज (निष्कलुष और वास्तविक) स्वरूप की सहजोपलब्धि का सन्देश सन्त ने दिया था। इसके द्वारा सहज भाव से सहजानन्द की प्राप्ति होती है जिसे सहज प्रतीकों और भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा भी उसने की थी। मर्म (रहस्य और वास्तविकता) का मार्मिकतापूर्ण उद्घाटन करने के कारण सन्त सहज ही मर्मी (ममज्ञ और मार्मिक) बन गया।

सन्त-कवि की दृष्टि में सत्य, सौन्दर्य और शिव परस्पर भिन्न और विच्छिन्न नहीं बल्कि एक ही व्यापक ब्रह्म-तत्त्व के विभिन्न स्वरूप हैं। वही परम-तत्त्व तत्त्वभाव की दृष्टि से सत्य, अनुभूति के विचार से आनन्द अथवा सौन्दर्य एवं व्यापार की धारणा से शिव है। यही एक तत्त्व काम्य और उपलभ्य है। सन्त-कवि का विश्वास था कि सत्य को सौन्दर्य-विधायक प्रसाधनों की अपेक्षा नहीं, अमृत को खाँड़ की चासनी नहीं चाहिए।

आत्मा के सहज, सत्वस्थ और अनाच्छादित स्वरूप के दर्शनाभिलापी सन्त काव्य में भी उसी सहजता के लिए उत्सुक थे। ज्ञानात्मक सत्य ही भावना-पक्ष से सौंदर्य-शील होकर आनन्द-विधायक हुआ, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् अन्य किसी रस की अपेक्षा नही रह जाती, सभी अन-रस हो जाते हैं। काव्य की उपदेशात्मक प्रवृत्ति के सस्कार के लिए मम्मट ने कातासम्मित उपदेश का विधान किया था। भारतीय साहित्य का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अश उपदेशात्मक और बोध-परक है। ऋग्वेदकालीन यह धारा लोक-भाषा का माध्यम ग्रहण कर बौद्ध-साहित्य में उभर आई। इसकी अविच्छिन्न धारा अपभ्रश-काव्य मे प्रवाहित रही। सन्त-काव्य इसी परम्परा की परिणति है। सन्त-काव्य में मूर्त्त-विधान की विविधता नही, अलकारो का द्रविड प्राणायाम भी नही। नाद-सौदर्य की बाह्य तीव्रता के लिए अनावश्यक वर्ण-साम्य की सृष्टि और अनुप्रासो का अ-प्राकृत गुम्फन नही। भावना की सहजता और उसकी कमनीयता उसमे अवश्य है। प्रबन्ध-काव्य की कसौटी इस काव्य के लिए उपयुक्त नही और राज्याश्रित काव्य का मापदण्ड इसके लिए अव्याप्ति दोष से पूर्ण होगा। यह लोकगीत नही, लोकाश्रयी परम्परा की परिणति है। फूहडपन की सीमा तक पहुँचानेवाली अति अलकरण की प्रवृत्ति, उक्ति-वैचित्र्य, चामत्कारिक कथन और विन्यास की बाह्य सज्जा इस काव्य में नही, भावना की सहज, अपेक्षाकृत अकृत्रिम अभिव्यक्ति है।

इस काव्य मे अलकारो का अभाव नही, किन्तु अति-अलकरण का प्रेम नही, कथन का वैशिष्ट्य है किन्तु रूप-सज्जा का प्रयास नही, भावना की गरिमा है कथन की वक्रता नही, रसोद्रेक की क्षमता है रसनिष्पत्ति की शास्त्रीयता नही, निर्झरिणी का स्वाभाविक प्रवाह है, उन्मुक्त प्रवाह को कृत्रिम नहरो की बाहुओ में आवद्ध करने का प्रयास नही। भावना की तीव्रता और सचाई है किन्तु रूप-सज्जा की मोहकता नही, ग्राम-वधू को सहज, अकृत्रिम चितवन है, नागरिका के कुटिल चचल कटाक्ष नही। सन्त कवि पूर्ण मानवता का गायक है और यह मानवता-विधायक काव्य नगण्य नही, तुच्छ तथा हेय भी नही। सन्त-काव्य न तो मूल भारतीय धारा से विच्छिन्न ही है और न इसमे काव्यात्मकता का अभाव ही है। इसमें मानवता के अन्तर की आकुल पुकार है, खीझभरी ललकार है, और है अदम्य उत्साह और आवेश, अन्याय के प्रति आक्रोश और भावना की सहज सजलता भी।

परिशिष्ट

विशिष्ट शब्दावली

☆

अनहद = (१) अनाहत (अन्+आहत) नाद । यौगिक क्रियाओ द्वारा कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होकर षट्चक्र वेधन करती है । प्राण स्थिर हो जाते है और साधक को अन्तर में विशिष्ट प्रकार का नाद सुनाई पडने लगता है । शब्द-ब्रह्म का यह अन्तर्गत रूप है ।

अवधू नादै व्यद गगन गाजै सबद अनाहद बोलै ।
अन्तरि गति नही देखै नेडा ढूँढत बनबन डोलै ।।—क० ग्र० ।

अनाहत नाद के ३६ प्रकारो का उल्लेख मिलता है जिसमें दश तो अपेक्षाकृत स्थूल है और कान से सुनाई पडते हैं, तथा शेष २६ अत्यन्त सूक्ष्म हैं और अनुभव के कान से सुनाई पडते हैं । दश प्रकार के अनाहत नाद को सारगी (किंगुरी) और २६ स्वरवाले को वीणा कहा जाता है—

जगत गुर अनहद कीगुरी बाजै तहाँ दीरघ नाद ल्यौ लागै ।। – क० ग्र० ।

(२) हद और बे-हद से परे अन-हद (सीमासीमविवर्जित) ।

हरि की कथा अनाहद बानी । हसु हुइ हीरा लेइ पछानी ।—स० क० ।
अन-हद अनुभव को करि आशा देखहु यह विपरीत तमाशा ।—बीजक ।
चेति अचेत मूड मन मेरे बाजे अनहद बाजा । —स० क०, बिलावलु ५ ।

(३) रहनि गहनि निर्मल सदा, निर्मल तनु मन अग ।
सुरति सबदु धमक गहनि, फिरि नाहीं छाडै सग ।।

अन्तर धुनि लागी रहै, त्रिकुटी सजम ध्यान ।
कामधेनु हाजिर रहै, प्रघट होइ विज्ञान ।। —मन्त्रावली ।

अमृत—(१) सहस्र दल कमल में त्रिकोणाकार शक्ति का मादि नामक एक केन्द्र है जहाँ चन्द्रमा का निवास है जिसमें से सदा अमृत झरता रहता है। मूलाधारस्थ सूर्य अमृत के निझर को सोखता रहता है। इस शोषण के निराकरण से सहस्रारस्थ चन्द्रमा के अमृत का अजस्र स्राव होता है। इससे अमरत्व की प्राप्ति होती है और बालापन बना रहता है। योग मार्ग में इस अमृत का बड़ा महत्त्व है। संत-साहित्य म 'अमृत' का अर्थ है महारस जिसकी प्राप्ति के बाद और सभी रस फीके और अनरस जान पड़ते हैं। यही राम-रस है।

ममकि रसाल चुऐ मेरी भाठि। संचि महारसु तनु मइआ काठी॥
उबा कउ कहीअै सहज मतवारा। पीवत राम-रसु गिआन बीचारा॥
—सं क रामु गउड़ी २७।

अष्टांग योग—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि।

यम—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य आर्जव क्षमा धृति परिमित आहार और अन्तर्बाह्य शुद्धता=१।

नियम—तप संतोष आस्तिकता दान ईश्वर-पूजा सिद्धांत-श्रवण लज्जा मति जप और व्रत=१।

आसन—स्वस्तिक गोमुख पद्म वीर सिंह भद्र मुक्त मयूर और सुख=९।

अष्ट-कष्ट—पंच क्लेश (अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश) और तीन ताप (आधिदैविक आधिदैहिक और आधिभौतिक)।

अष्ट-रस—(१) अवस्था क (बाल कौमार्य यौवन वृद्धता जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय।

(२) दिन-रात के अष्टयाम।

(३) दुर्गुण (काम क्रोध लोभ मोह हर्ष माया तृष्णा और चिंता)।

कमल-काम-चक्र (चरखा) जिसके कारण पंच भौतिक तत्वों और तीन गुणों वाले शरीर का निर्माण होता है।

शरीर (अष्टकुल पर्वत कमल नाभि क पास ही पर्वतों और सागरों की कल्पना ह अष्ट कमल के नाद अत आठ कमल है। शरीर हुआ आठ कमलों का दल)।

आठ कँवल दल चरखा डोलै। पंच तत्व गुन तीनि चदरिया॥ —शब्दावली।

अष्ट कमल दल भीतरा तहाँ श्री रँग केलि कराइ रे। —क ग्रं

अष्ट-प्रकृति—(१) भूमिरापो नलो वायु ख मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ —गीता ७।४।

पाँच स्थूल=पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश।

तीन सूक्ष्म=मन बुद्धि और अहंकार।

(२) शरीर।

(क) अंतरमी अमर धातु की माइआ। —गं क गउड़ी ७६।

(ख) चर्म रुधिर मांस मेदा अस्थि मज्जा वीर्य और केश—अष्टधातु।

(ग) अष्ट अंगों की प्रधानता से शरीर को अष्टकुल भी कहा जाता है वे अंग हैं—जानु पद हाथ उर सिर, वचन दृष्टि और बुद्धि।

उत्तर-दक्षिण—(वाम-दहिन)।

उत्तर—प्रत्यक्ष स्वार्थ-हीन उत्तम कार्य।

दक्षिण—स्वार्थ प्रेरित कर्म।

दक्षिण दिशा मोर नइहरो। उत्तर पथ ससुराल॥ (यारी)

(द्रष्टव्य—प्रश्नोपनिषद् ६)।

उन्मन= (१) संत-मत में पाँच अवस्थाओं में सर्व-श्रेष्ठ अवस्था (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, और तुरीय के अतिरिक्त "उन्मनी" अवस्था)।

(२) योग की एक मुद्रा मन जिसमें बाह्य वृत्तियों का त्याग कर अन्तर्मुखी और स्थिर हो जाता है।

(क) पवन-पति उन्मनि रहनु खरा नही मिरतु न जनमु जरा।

—स० क०, रामकली १०।

(ख) अवधू दभ को करिवा उनमनि रहिवा ज्यूँ बाजवा अनाहद तूँर।

गगन मडल मैं तेज चमकै चन्द नही तहाँ सूँर। —गो० वा० सबदी ५१।

(ग) उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभवन भया उजियारा।—क० ग्र०, पद ७२।

(३) एक प्रकार का ध्यान—

उनमनी ध्यान घट भीतरि पाया। —क० ग्र०।

(४) मन की वृत्ति—

उनमनि मनूआ सुनि समाना दुविधा दुरमति भागी। —स० क०, गउडी ४६।

(५) अपनी चचलता खोकर मन का स्थिर हो जाना उन्मनावस्था है। यह योग की मुद्रा से भिन्न मन की अवस्था है।

मन दीयाँ मन पाइए, मन बिन मन नही होइ।

मन उनमन उस अंड ज्यूँ अनल अकासा जोइ॥ —क० ग्र०।

इस अवस्था में मन इस जगत् से विच्छिन्न होकर परम-तत्त्व की सम्बद्धता प्राप्त कर लेता है। उलटी चाल के अनुसार अत मन का अन मन (अनमना, उनमन) अपेक्षित है।

कबीर हरि का भावता, दूरै थै दीसत।

तन पीणा मन उनमना, जग रूठडा फिरत॥ —क० ग्र०।

उलटि चाल—(१) ससार की गति से विपरीत व्यवहार—

उलटि चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरु हमारा। —क० ग्र०।

उलटि चाल कुल दोऊ बिसारी सुनि सहज महि बुनत कि नारी। —क० ग्र०।

उलटा चलै सु औलिया, सूधा गति ससार। —सर्वांगी।

(२) इसे ही 'मीन-मार्ग' भी कहते हैं। मीन की गति जल-धारा के विपरीत होती है।

उलटि वेद-सामान्य जगत् सम्बन्धी ज्ञान से भिन्न परा ज्ञान। है कोई जगत् गुर ग्यानी उलटि वेद बूझै। पाणी में अगिन जरै अधरे को सूझै। —क० ग्र०।

कुटला सतवती—कुलटा=बहिर्मुखी वृत्ति, अनेक देवी-देवताओं की पूजा-उपासना करने वाला जीव और सतवती (पतिव्रता)=अन्तर्मुखी वृत्ति, एकनिष्ठता और भक्ति, अन्य आराध्यों का त्याग कर केवल एक परम-तत्त्व का उपासक जीव।

खसम=(१) पति—

जोगि छाड़ि सब जग महि आइओ।
आमत पवन खसमु बिसराइओ ॥ —सं० क० पउड़ी १२।

—अवस्था (ख-आकाश शून्य+सम समान अर्थात् शून्यवत् स्थिति)।

आकाश की गणना पंच तत्त्वों में है पृथ्वी से नासिका और उसका विषय गंध। जल से रसना और उसका विषय रस-स्वाद। तेज से चक्षु और उसका विषय रूप। वायु से त्वचा और उसका विषय स्पर्श। आकाश से कान और उसका विषय शब्द। पंच तत्त्वों से निर्मित इन्द्रियाँ अपने विषयों का त्याग करती हैं तो मन निस्तरंग और अचल कम्प-शून्य हो जाता है। यथा गतो अब्धे सर्वे तरंगो नाम्य' तथा मनसमावधुतिस्मात् शान्तिरूपमेव खसमरूपं नाम्य (गो० की टीका पृ० १० व हि० से०)।

शून्य चक्र में स्थिति द्वारा सम भाव की अवस्था की प्राप्ति (हठयोग) ऐसी अवस्था में यह 'खसम' ज्ञान का फल और अविनाशी का सेवन ही है।

(३) विचारदास के अनुसार इडा चन्द्र नाड़ी है और पिंगला सूर्य। (द्रष्टव्य — वि० दा० की टीका पृ० २४२)। किन्तु हठयोग प्रदीपिका के अनुसार इडा सूर्य-अंग और पिंगला चन्द्र-अंग। सूर्य की बारह और चंद्रमा की सोलह कलायें होती हैं। सुषुम्ना के सजग होने से चन्द्र-ग्रस्त और सूर्य-ग्रहण होता है।

माई मैं दूनों कुल उजियारी।
बारह खसम नैहरो खायों सोलह खायी ससुरारी।

—बीजक शब्द ६२।

इस पद से इडा के सूर्य-नाड़ी और पिंगला के चन्द्र-नाड़ी होने के संकेत वर्तमान हैं। खसम अवस्था में इनके विलयन का संकेत प्राप्त है।

(४) खसम का अर्थ टीकाकारों ने जीव भी किया है। माया-युक्त ब्रह्म ही जीव है अत जीव हुआ शुभ्र खसम।

गुफा=बुद्धि हृदय।

—भ्रमर (=भँवर गुफा)—ब्रह्म-रंध्र।

जब लग भँवर गुफा नहीं जानै।
तौ मेरा मन कैसे मानै ॥ —क० ग्रं०।

घर (१) शरीर (घट)।

(२) वास्तविक स्थान परमात्म-तत्त्व

'घर में घर है परमानंदा — क० ग्रं०।

घरिनी (गृहिणी)—

(१) प्राणवायु और ब्रह्मी वृत्ति—(जिम घरिणी सह केलि करंत। —दो० कोष)

(२) प्रतिव्रता परम-तत्त्व की रागात्मिका एकनिष्ठा भक्ति।

घर की गिहिनी चंगी' —चर्या।

चक्र—(१) इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना या भवेत्खलु।
षट् स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः ॥

पट्

	चक्र	स्थान	वर्ण	देवता	पत्र-संख्या
(१)	मूलाधार	गुदा	रक्त	गणेश	चार
(२)	स्वाधिष्ठान	लिंग	पीत	ब्रह्मा	छ
(३)	मणिपूर	नाभि	नील	विष्णु	दश
(४)	अनाहत	हृदय	श्वेत	गुरु	बारह
(५)	विशुद्ध[1]	कण्ठ	धूम	जीव	षोडश
(६)	आज्ञा	भ्रू-मध्य	पीत	अग्नि	दो

—सात = उपर्युक्त पट् चक्रो के साथ सहस्रार (सहस्र-दल कमल) चक्र।

—अष्ट = (१) उपर्युक्त सात चक्रो के साथ सुरति कमल (चक्र)। (२) गोरख-वानी के अनुसार—आधार, स्वाधिष्ठान (द्रिष्ट), मणिपूर, अनहद, विशुद्ध, अग्नि (स्थान-नेत्र), गिनान (= ज्ञान स्थान—ब्रह्माड) और उसके भी ऊपर सूक्ष्म चक्र (स्थान—विज्ञान, वीस सहस्र-दल-कमल।

—नव = मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, मणिपूर, अधोभिमुख (अष्टदल हृदय-चक्र), अनाहत, तालु, भ्रू-चक्र, आज्ञा-चक्र (ब्रह्म-रन्ध्र अथवा निर्वाण चक्र एव परब्रह्म चक्र) और आकाश चक्र।[2]

—द्वादश = आधार, स्वाधिष्ठान, कुण्डलिनी, मणिपूर, मनो, अनाहत, विशुद्ध रेखा, बलवान्, आज्ञा, पूर्णगिरि, अलख निरजन और ब्रह्मरन्ध्र चक्र (कबीर मसूर, पृ० ४२७)।

चक्र—(१) काल-चक्र चरखा

(१) जो चरखा जरि जाय बढ़ैया ना मरै।
मैं कातौं सूत हजार चरखुवा जिनि जरै॥ —कबीर।

(२) काल-चक्र घुमंत सदा जीवहिं चैन न देत। —प० ग्र०।
काल-चक्र चक्की चलै सदा दिवस और रात। —वही।

(अष्ट-याम ही इस 'कमल' के आठ दल हैं) (२) शरीर (द्रष्टव्य—अष्ट दल-कमल)।

—ब्रह्म (श्वेताश्वतर, १।६) के अनुसार जगत् ब्रह्म-चक्र है।

ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान के द्वारा सृष्टि के व्यक्त अनेकत्व में परिव्याप्त एक अव्यक्त मूल द्रव्य का परिचय होता है और विज्ञान द्वारा एक ही मूलभूत अव्यक्त द्रव्य से भिन्न-भिन्न अनेक पदार्थों के अनेकत्व का।

एक समाना सकल में। सकल समाना ताहि॥
कबीर समाना बूझ में। जहाँ दुतीआ नाहि॥
—बीजक, साखी २७२।

---

१ वर्णादि के विषय मे मतान्तर है। शिव-सहिता के अनुसार 'विशुद्धाख्य' स्वर्ण-वर्ण (सुहेमाभ) है, धूमवर्ण नही। (द्रष्टव्य—शिव संहिता, पंचम पटल)।

२ द्रष्टव्य—सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्।

अजन माहि निरजन रहीए जोगु जुगुति इह पाइए । —नानक ।

(८) निर्मल (मल के अन्य नाम हैं--नीहार, अजन, मृत्यु, अविद्या और आवरण) ।

अत अजन = माया, मल और अजनी = मायाबद्ध जीव (बीजक में 'जीव' को 'अजनी का पूता' कहा गया है । अजन का एक और प्रयोग है--आंखो मे दृष्टि परिष्कार अथवा सौन्दर्य के लिए लगाया प्रयुक्त प्रसाधन--

अजन देइ सभै कोइ, टुक चाहन माहि विडान ।
ग्यान अजन जिह पाइया, ते लोचन परवान ।। --कबीर ।

पशु--अज्ञानी जीव (पाशबद्ध आत्मा) ।

(१) नर-पशु = सुनकर ही प्रमाण-रूप में स्वीकार करनेवाला ।
(२) गुरु " = विना जाँचे गुरु अथवा शिष्य बनानेवाला ।
(३) वेद " = यथार्थ तात्पर्य-ज्ञान से हीन ।
(४) त्रिया " = नारी के वशीभूत ।

पाँच-पच्चीस--पाँच-पच्चीम मोह मद मत्सर । --स० क०, रागु भैरउ १७ ।
पाँच-तत्त्व = पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ।
—इन्द्रियाँ = आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा ।
—तन्मात्राएँ = शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ।
(पाँच तत्त्वो से ही इन्द्रियो और तन्मात्राओ का विकास हुआ है) ।

पच्चीस-प्रकृतियाँ (साख्यानुसार)

न-प्रकृति न-विकृति	१	पुरुष
मूल प्रकृति	१	प्रकृति
विकृति	१६	ज्ञानेन्द्रियाँ (५), कर्मेन्द्रियाँ (५), महाभूत (५) और मन (१) = १६
प्रकृति-विकृति	७	महत्तत्त्व, अहकार और तन्मात्राएँ (५) = ७

सन्तमतानुसार पाँच तत्त्वो से पच्चीस प्रकृतियाँ हुई हैं—

नाडी चाम हाड कफ मासू । पृथिवी प्रकृति पाच सो बासू ।।
रक्त पित्त कफ बिंद पसेवा । जल प्रकृति सोइ पच उपेवा ।।
बोलन धावन वल परधाना । पसारन सकोच वायु परवाना ।।
भूख प्यास आलस जभुवाई । निद्रा पाच अमल ऊपाई ।।
काम क्रोध लोभ भय मोहा । पाच प्रकृति गगन के सोहा ।। —पच-ग्रथी ।

हस-शरीर के पाँच पक्के तत्त्व हैं, जिनकी पच्चीस प्रकृतियाँ हैं--

१ धैर्य—असत्य-त्याग, सत्य-ग्रहण, सशय-रहित्य, अचलत्व और अहकार-नाश=५ ।
२ दया—अद्रोह, ममता, मैत्री, निर्भयता और समदर्शिता=५ ।
३. शील--क्षुधानिवारण, (तितिक्षा), प्रिय-वचन, शान्त-बुद्धि, प्रत्यक्ष पारख और प्रत्यक्ष सुख=५ ।

४ विचार--अस्ति नास्ति नियम मयाव-प्रहण व्यवहार मुद्रि पूढ़ भावना और सचिवता = ५।

५ सत्य—निर्णय, निर्बंध प्रकाश स्थिरता क्षमा = ५।

पूत्र दशा (पूत्र विद्या)— सोऽहं की अवस्था वाली आत्मा ही मायाबद्ध हो जीव अर्थात् 'हंस' की अवस्था प्राप्त करती है। पून दशा मत सोऽहं की अवस्था है। उसी भाव से 'हंस' पुन 'सोऽहं' की अवस्था प्राप्त करता है—हुआ सकटे सोऽहु जाप। —पं ग्रं।

मध्यम-मार्ग— (१) भिक्षुओं साधु को दो अतियाँ सेवन नहीं करनी चाहिये। कौन सी ? (१) जो यह हीन ग्राम्य अनाड़ी मनुष्यों के (योग्य) अनाय (—सेवित), अनर्थों से युक्त काम वासनाओं में लिप्त होना है और (२) जो दुःख (—मय) अनाय (—सेवित) अनर्थों से युक्त आत्म-पीड़ा में लगाना है। इन दोनों ही अतियों में न जाकर तथागत ने मध्यम मार्ग खोज निकाला है। — विनय पिटक (राहुल) पृ ८०।

(२) युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ —गीता ६।१७।

(३) सिद्धी ती च्यंता पंथी बैरागी को मीत।
गुरु कायो विधि जीव है यो हनी संतों सीख ॥ – क ग्रं ।
ना हम छाड़ै ना गहै, ऐसा ग्यान विचार।
मधि भाइ सेवै सदा दादू मुकुति दुवार ॥ —दादू।

(४) दादू करणी हिंदू तुरक की अपनी अपनी ठौर।
दुँहुँ बिच मारग साधु का यहु संतों की राह ॥ —दादू।

(५) भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पष रहित पंथ यहि परा अबरन एक अधारा ॥
वाद विवाद काहूँ सौं नहीं माँहि जगत थे न्यारा।
समदृष्टी सुभाइ सहज मैं आपहि आप विचारा ॥ —दादू।

(६) निज स्वरूप को ध्यान अर्पेक्षित ज्यौं का त्यौं ही रहिए।
सुंदर कछू ग्रहै नहि त्यागै यहै मुक्ति पद कहिए ॥
– सुं ग्रं (२) पृ ८०६।

(७) ईसै निरगुन झर्प सरगुन वेस करत विधि सुआमी मेरा। —गुरु अर्जुन देव।

मर जैवा– (१) सच्चा अन्वेषक तल मे पैठ कर तत्त्व निकालनेवाला अत मुक्ति (मोती मुक्ता) का अभिलाषी।

'जस मरजिया समुंद धँसि मारे हाथ आव तब सीप' —जायसी।

(२) जीवन्मृत्—
नहीं कसौटी राम की खोटा टिकै न कोय।
राम कसौटी सो टिकै जो मरजीवा होय ॥ —कबीर।

मार्ग--तीन प्रसिद्ध हैं--पिपीलिका, विहगम और मीन। सहज-मार्ग की तीन वृत्तियाँ हैं--अवधूती, चाण्डाली और डोम्बी (बगाली), एक का रास्ता इडा--मार्ग से है, दूसरी का पिगला-मार्ग से और तीसरी का सुषुम्ना मार्ग से।

मुद्रा--(१) तान्त्रिक साधना के पच 'म' कार (मीन, मत्स्य, मास, मुद्रा और मैथुन) में 'एक'।

शिव सहिता--महामुद्रा, महावध, महाभेद, खेचरी, जालधर-बध, मूल बध, विपरीत कृति, उड्डीययान, वज्रोली और शक्ति-चालना=१० मुद्राएँ।

घेरड सहिता--महामेद के स्थान में महामेघ है और इनके अतिरिक्त नभोमुद्रा, योनि, ताडगी, माण्डली शम्भवी, अधोधारणा, अम्भसी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा, नभो धारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातगी और भुजगिनी (कुल मिलाकर २५ प्रकार की मुद्राएँ)।

बाह्य मुद्रा--खेचरी, भूचरी, चाचरी, अगोचरी, सर्व साक्षिणी।

गुप्त मुद्रा--समुखी, उन्मीलनी, शाभवी, आत्म-भावनी और पूर्ण बोधनी (प० ग्र०)

(२) योगियो के कान में धारण किया जानेवाला कुण्डल।

मुद्रा पहिरे जोग न होई॥ --क० ग्र०।

शब्द (सबद)--सबद अखडति रूप सबदु नहि षडित होई।

ऐसा सबद अगाध सकल घट रह्यौ समोई॥

सबदु करै आचार सबद सबनि रोयै अरु गावै।

निर्गुन सर्गुन बरनि सबद सब निर्नै गावै॥ --शब्द स्तोत्रमाला।

षट्-दर्शन--(१) न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्वमीमासा, उत्तर मीमासा।

(२) ब्रह्म, ईश्वर, अर्हन्त, बौद्ध, लोकायत और साख्य (दोहा कोष) सन्त-साहित्य में दर्शन "भेष" बन गया अत--जोगी, जगम, सेंवरा, सन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण।

--दोष--छादन भोजन मैथुन कर्मा। भय निद्रा मोह षड् धर्मा।--पच ग्रथी।

(टिप्पणी--षट् हुआ खट और द्विरुक्ति से हुआ खट-खट--)

बड खटखट सोइ खटकै। परसै छूटै बिरला कोई। --पच ग्रथी।

सप्त-पर्वत--(१)--देव, पारचक्र, बैंकुठ, कैलास, हेमवान, हेमवत, सुमेर। सप्त चक्र ही सप्त कमल हैं, प्रत्येक कमल के ऊपर कटोरी के समान गाँठ पडी रहती है, उसे ही पर्वत हैं।

--सागर--इन पर्वतो की तरह सप्त सागरो का वर्णन है, रस-सागर, क्षीर सागर सुधा सागर, सुरा सागर, घृत सागर, दधि-सागर और अमृत-सागर।

(सुधा और अमृत को भिन्न-भिन्न माना गया है।--द्रष्टव्य--प० ग्र०।

सहज--(१) सहज कर्म कौतेय सदोषमपि न त्यजेत्।--गीता।

(वर्णाश्रम व्यवस्थानुसार नियत कर्म)।

(२) एहु मन मेल्लहु पवन तुरंगसुचंचल।
सहज सहावे स वसइ होइ निच्चल॥ दो० को ४५।

(३) जम्में मण अत्थमण जाइ तणु तुट्टइ बन्धण।
तम्में समरस सहजे वज्जइ णउ सुद्दण बह्मण॥ दो को ४६।

(४) इन्दिअ जत्थ विलअ गउ णट्ठिउ अप्प सहावा।
सो हुंके सहज तणु फुड पुच्छहि गुरु पावा॥ दो को २५।

(५) सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्हें कोइ।
जिन्ह सहजै विषिया तजी सहज कहीजै सोइ॥—क ग्रं साखी ४ ५।

(६) सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्हें कोइ।
पांचू राखै परसती सहज कहीजै सोइ॥ —वही ४ ६।

(७) सहजैं सब गए सुत बित कामनि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या दासि कबीरा राम॥ —वही ४०७।

(८) हम घरि साजन आए। साचे मेलि मिलाए॥
सहजि मिलाए हरि मनि भाये पंच मिले सुखु पाइआ।—नानक।

(९) सहज कथाकलि जउ मिलि आई।
आनदि मातो अनुदिन जाई॥ —सं क गउड़ी २७।

(१०) सहजे आवनु सहजे सोइ। सहजे होता जाइ सुहोइ॥
सहजि बैरागु सहजे ही हसना। सहज चुप सहजे ही जपना॥—अपुनदेव।

(सहज के पर्याय—राजयोग समाधि उन्मनी मनोन्मनी अमरत्व लय तत्त्व शून्याशून्य परमपद अमनस्क अद्वैत निरालंब निरंजन जीवन्मुक्ति तुर्या—ह प्र ४१४)

साखी—(१) शिक्षा—(सिक्खा—सीखा —साखी)।

गुरु की साखी राखै चीति। तनु मनु अरपै क्रिसन परीति॥ —बा ग्रं बेनी।
गुर साखी अंतरि जागी ता चंचल मति तिआगी।—नानक।

कबीर मारग अगम है सब मुनिजन बैठे थाकि।
तहाँ कबीरा चलि गया गहि सतगुर की साखि॥ —क ग्रं साखी १ १।

(२) ज्ञान (साक्ष्य—साक्ख—सारव—साखी)।

सब मैं हरि है हरि मैं सब है हरि अपनो जिन जाना।
साखी नहीं और कोइ दूसर जानन हार समाना॥—रैदास (बा ग्रं)।
गुरु साखी का उजियारा। ता मिटिया सगल अँधियारा॥— नानक।

(३) साक्षी —साखी करिब आकम्बरी पाये। पानी न काहू मोरि वाचिआयामे॥
—पद्मावत १६।

साखी आँखी ज्ञान की समुझि देख मन माँहि।
बिन साखी संसार को झगरा छटत नाँहि॥ —बीजक।
सो रज्जब रामी भया साखी सापु बोल।—रज्जब।

(४) साख (विख्यात)

सब देखणहारा जगत का, अतरि पूरै साखि ।
दादू साबति सो सही, दूजा और न साखि ॥ –दादू बानी (१) ।

(साख्य-सम्यक् ख्याति = सम्यक् ज्ञान = विवेक ज्ञान) ।

सुरति-निरति––सवति सव्वधि सोता लता उब्भिज तिट्ठति ।
त च दिस्वा लत जात मूल पञाय छिदथ ॥ धम्मपद, २४।७ ।

"सुरति" की व्युत्पत्ति में पर्याप्त मतभेद है। स्रोत––सुरति = चित्त-वृत्ति-प्रवाह (सम्पूर्णानन्द) स्मृति-सुरति = उलटी चाल को निर्दिष्ट करनेवाला चित्त-वृत्ति-प्रवाह (बड़थ्वाल), आत्मा या आत्मा का आध्यात्मिकीकरण ।

सन्त-साहित्य में इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों मे हुआ है। स्मृति का प्रयोग दो अर्थों में होता है––(१) स्मरण-शक्ति और (२) स्मृति-ग्रथ। स्मृति-ग्रथ के अर्थ में स्मृति सुमिति (भली प्रकार से मारनेवाली) बन जाती है। स्मरण बन जाता है 'सुमिरण'। सुरति का सम्बन्ध श्रुति (= शब्द) से जोड़ा जा सकता है और 'सुष्ठुरति' से भी। सुरति की व्यापकता के लिए 'मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनात्मिका इच्छा रति" (भाव प्रकाश) को ध्यान मे रखना चाहिए। एक साखी विचारणीय है––

काम मिलावै राम कू, जे कोई जाणै राषि ।
कबीर बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलै साषि ॥
––क० ग्र०, सा० ५०४ ।

ऐसी सम्यक् रति ही वास्तविक नि-रति है।

सुरति समाणी निरति मै, अजपा माहै जाप ।
लेख समाणा अलेख मै, यो आपा माहै आप ॥ ––क० ग्र० ।

सुरति का प्रयोग शब्द (श्रुति) के अर्थ में मिलता है––

तब समरथ के श्रवण ते मूल सुरत भइ सार ।
शब्द कला ताते भई, पाँच ब्रह्म अनुसार ॥
––विश्वनाथ सिंह की टीका में उद्धृत 'आदि-मगल' से ।

सुरति––ध्यान और मन ।

सुख माँगत दुखु आगै आवै । सो सुखु हमहु न मागिआ भावै ॥
बिखिआ अजहु सुरति सुख आसा । कैसे होई है राजा राम निवासा ॥
––स० क०, गउडी ३६ ।

मन विषयो से सुख की आशा रखता है अथवा विषयी (मन) सुख की आशा का ध्यान करता है। इसीलिए तो कहा गया है––

इसु मनु कउ कोई खोजहु भाई । तन छूटे मनु कहा समाई ॥ ––वही ।

उलटी सुलटी निरति निरतर, बाहर से भीतर लावै ।
अधर सिंघासन अविचल आसन, जँहवा सुरति ठहरावै ॥
––स० बा० स०, पृ० १९९ ।

जगत् से विरति उलट कर सुरति बन जाती है और सम्यक रति भी—

माव बिंद की सुरति समाई । सति गुरु सैनि परम पद पाई ॥ —नानक ।

सुरति कमल जिसमें ध्यान लगाना चाहिए। विचारदास के अनुसार सहस्र-दल कमल के आगे सुरति कमल है, योगियों की गति यहाँ तक नहीं। (विचारदास की टीका पृ १५४ ५५)। समाधि लगा कर ध्यान द्वारा मन को नहीं स्थिर करना होता है।

> कबीर संसा दूरि करि जामण मरण भरंम।
> पंचतत्त तत्तहि मिले सुरति समाना मन ॥ —ग्रंथावली।

—पूर्व-स्मृति अथवा पूर्व राग

उलटी मति से प्रवृत्ति ही निवृत्ति है और निवृत्ति ही प्रवृत्ति। प्रवृत्ति का एक अर्थ है प्र-वृत्ति अर्थात् जगत् का प्रसारण और नि-वृत्ति है निष्क्रिय वृत्ति। 'सोऽहं' के विस्मरण से ही हंस' की स्थिति है। पूर्व-दशा के स्मरण से यह अवस्था नहीं रहेगी।

सूत-कुसूत

शुभ और अशुभ कर्म। सूत सामान्य कर्मों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

परिशिष्ट (ख)

(१) सन्त-साहित्य

१ आदि-ग्रथ (आदि श्री गुरु ग्रथ साहिब जी) मोहन सिंह वैद्य , तरन तारन, अमृतसर, १९२७ ई० ।

२ ,, (श्री गुरु ग्रथ साहिब) शिरोमणि गुरु द्वारा कमेटी, अमृतसर, १९५१ ई० ।

३ ,, (ट्रम्प कृत अग्रेजी अनुवाद) लदन, १८७७ ई० ।

४ ,, (मेकालिक कृत अनुवाद) क्लेरडन प्रेस, १९०९ ई० ।

२ कवीर ग्रथावली (सम्पादक श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सम्वत् २००८ वि०) ।

३ कवीर वचनावली (ले० अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" का० ना० प्र० सभा, स० २००३ वि०) ।

४ कवीर शब्दावली (चार भाग) वे० प्रे०, सन् १९०९ ई० ।

५ गरीब दास की बानी ,, ,,

६ गुलाल साहिव की बानी ,, १०१० ई० ।

७ ग्रथ साहिव (गरीव दास, बडोदा, स० १९८१ वि०) ।

८ चरन दास की बानी (दो भाग) वे० प्रे० १९०९ ई० ।

९ जगजीवन साहब की बानी (दो भाग) " १९२२ ई० ।

१० दयाबाई की बानी—वे० प्रे० सन् १९२७ ई० ।

११ दरिया-सागर " १९१९ ई० ।

१२ दादू दयाल की बानी (दो भाग) वे० प्रे० १९२८ ई० ।

जगद् से निरति उलट कर सुरति बन जाती है और सम्यक रति भी—

नाद बिंद की सुरति समाई । सति गुरु सेवि परम पदु पाई ॥ —नानक ।

सुरति कमल जिसमें ध्यान लगाना चाहिए । विचारदास के अनुसार सहस्र-दल कमल के आगे सुरति कमल है योगियों की गति यहाँ तक नहीं । (विचारदास की टीका पृ १५४५५) । समाधि लगा कर ध्यान द्वारा मन को यहीं स्थिर करना होता है ।

कबीर सदा दूरि करि आमन मरण भरंम ।
पंचतत तरहिं मिले सुरति समाना मन ॥ —ग्रंथावली ।

--पूर्व-स्मृति अथवा पूर्व-राग

उलटी गति से प्रवृत्ति ही निवृत्ति है और निवृत्ति ही प्रवृत्ति । प्रवृत्ति का एक अर्थ है प्र-वृत्ति अर्थात् जगद् का प्रसारण और नि-वृत्ति है निष्क्रिय वृत्ति । 'सोऽहं' के विस्मरण से ही 'हंस' की स्थिति है । पूर्व-दशा के स्मरण से यह अवस्था नहीं रहेगी ।

सूत-कुसूत

शुभ और अशुभ कर्म । सूत सामान्य कर्मों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है ।

क्षितिमोहन सेन-- दादू (वगला विश्वभारती ग्रथालय, कलकत्ता, १३४२ व०) ।
परशुराम चतुर्वेदी--उत्तरी भारत की सत-परम्परा, प्रयाग, स० २००८ वि० ।
पीताम्बर दत्त वडथ्वाल--योग-प्रवाह, काशी विद्यापीठ, स० २००३ वि० ।
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (The Nirgun School of Hindi Poetry) का परशुराम चतुर्वेदी कृत हिन्दी अनुवाद, लखनऊ, स० २००७ वि० ।
मोतीदास 'चैतन्य'--सद्गुरु कवीर साहेव, स्वसवेद कार्यालय, स० २००० वि० ।
रागेय राघव--भारतीय चिन्तन, किताब महल, प्रयाग, सन् १९४९ ।
रामकुमार वर्मा--कवीर का रहस्यवाद, साहित्य भवन, प्रयाग, सन् १९३७ ई० ।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (इलाहावाद, सन् १९३८ ई०) ।
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल--काव्य मे रहस्यवाद, साहित्य भूषण कार्यालय, वनारस, स० १९८६ वि० ।
जायसी ग्रथावली की भूमिका (इण्डि० प्रे०, प्रयाग, १९३५ ई०) ।
तुलसीदास, का० ना० प्र० सभा, स० २००३ वि० ।
सूरदास ।
हिन्दी साहित्य का इतिहास (इण्डि० प्रे०, प्रयाग, स० १९९७ वि०) ।
लक्षमण रामचन्द्र पागारकर--ज्ञानेश्वर चरित्र (अनु० . प० लक्षमण नारायण गर्दे, गीता प्रेस, गोरखपुर, स० १९९० वि०) ।
लहना सिंह (भाई)--कवीर कसौटी, वे० प्रे०, स० १९७१ वि० ।
शालग्राम--नानक ओंकार आदर्शमाला, प्रयाग ।
हजारी प्रसाद द्विवेदी--कवीर (प्रथम सस्करण) हिं० ग्र० रत्नाकर, वम्बई, सन् १९४२ ई० ।
कवीर पन्थ और उसके सिद्धान्त (वि० भा० प०, खण्ड ५, अक ३), स० २००३ वि० ।
मध्यकालीन धर्म-साधना (साहित्य भवन, १९५२ ई०) ।
हिन्दी साहित्य की भूमिका (हिं० ग्र० रत्नाकर, वम्वई, सन् १९४० ई०) ।
हरि रामचन्द्र दिवेकर--सन्त तुकाराम, हि० ए०, प्रयाग, सन् १९३७ ई० ।

(३) धार्मिक-साम्प्रदायिक साहित्य

अणु भाष्य--वल्लभाचार्य ।
अनुराग सागर (मूल)--स्वसवेद कार्यालय, सीयाबाग, बडोदा, स० २००७ वि० ।
अवारिफुल मारिफ (एच० डब्लू० क्लार्क कृत अग्रेजी अनुवाद एशियाटिक सोसाइटी ऑव वगाल, कलकत्ता, १८९१ ई०) ।
आगम निगम बोध (वेंकटेश्वर प्रेस, वम्वई) ।
उपनिषद्--ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, छादोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर इत्यादि ।
--उपनिषदक (गीता प्रेस, गोरखपुर) ।
--प्रकाश (भाष्यकार स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती, दिल्ली, १९५० ई०) ।
--(आर० इ० ह्यूम कृत अग्रेजी अनुवाद 'दि थरटीन प्रिंसिपल उपनिषद्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस', सन् १९३४) ।

११ दादू दयाल जी (श्री स्वामी) की बाणी (सं पं० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी वैदिक यंत्रालय अजमेर, सन् १९ ७ ई)।

११ (अ) दादू दयाल जी का सबद (सं० पं सुधाकर द्विवेदी का ना० प्र० सभा १९ ७ ई)।

१३ पंच-ग्रंथी (राम रहस्य विरचित गरीबदास कृत गुजराती तत्त्व दीपिका सहित सत्संग कार्यालय सीमाबाद बड़ौदा १९४२ ई०)।

१४ पलटू साहब की बानी (तीन भाग) बे प्रे प्रयाग।

१५ पोथी भगत बानी (गुरुमुखी) (भाई जवाहर सिंह अमृतसर)।

१६ बीजक कबीर—(हंसदास शास्त्री महावीर प्रसाद कबीर प्रकाशन समिति हरक सं २ ७ वि)।

(त्रिज्या टीका टीकाकार महात्मा पूरन साहब लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, सं १९९१ वि)।

(पाखण्ड खण्डिनी टीका श्रीविश्वनाथ सिंह, बम्बई सं १९९१ वि)।

विचारदास कृत विरक टीका रामनारायण लाल इलाहाबाद सन् १९२८ ई)।

" (शिशु बोधिनी टीका—हनुमान दास षट् शास्त्री पटना १९२६ ई)।

(टीकाकार, महीदास लखनऊ १९१५ ई)।

१७ भीखा साहब की बानी—बे प्रे प्रयाग सन् १९ ९ ई ।

१८. मलूकदास जी की बानी— ।

१९ मारी साहब की रत्नावली- ।

२ रज्जब जी की बानी (ज्ञानसागर प्रेस बम्बई सं० १९७५ वि ।

२१ रैदास जी की बानी (बे प्रे प्रयाग सन् १९१ ई)।

२२ संत कबीर (सं डॉ रामकुमार वर्मा साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग सन् १९४७ ई)।

२३ संत बानी संग्रह (दो भाग) (बे प्रे प्रयाग सन् १९३१ ई)।

२४ संत वचनामृत (मराठी) (सं रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे पूना सन् १९११ ई०)।

२५ संत-बाणी (सम्पादक वियोगी हरि सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली १९४७ ई)।

२६ सुंदर-ग्रंथावली (दो भाग) (सं पुरोहित हरि नारायण शर्मा राजस्थान रिसर्च सोसायटी कलकत्ता सं १९९१ वि)।

२७ सुंदर विलास (बम्बई सं १९८९ वि)।

२८. सत्य कबीर की साखी (वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई सं० १९७७)।

२९. सद्गुरु कबीर साहब की साखी (सत्-सबद कार्यालय बड़ौदा सं २ ६ वि)।

३ सहजोबाई की बानी (सहज प्रकाश) बे प्रे प्रयाग सन् १९३७ ई)।

३१ स्तोत्र माला (विल्सन ह मैकट कृत अंग्रेजी अनुवाद सहित महाराष्ट्र कवि संत-माला पूना सन् १९२९ ई)।

(२) सन्त साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ

अक्षय कुमार दत्त—भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय (बंगला द्वितीय संस्करण कलकत्ता १९१४ बंग)।

सूत्र—नारदीय भक्ति-सूत्र (हनुमान प्रसाद पोद्दार कृत अंग्रेजी भाष्य सहित, गीता प्रेस गोरखपुर, सन् १९४७ ई० ।

पातंजल योग-सूत्र—(राजेन्द्र लाल मित्र कृत अनुवाद सहित, कलकत्ता, सन् १८८३ ई०) ।

(स्वामी विवेकानंद कृत अनुवाद सहित, लखनऊ, सन् १९३५ ई०) ।

जैमोनीय मीमांसा सूत्र (चौखभा सीरीज) ।

वैशेपिक सूत्र-पाम (") ।

शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र (स्वप्नेश्वर भाष्य सहित) ।

स्मृति—परासर, मनु और विष्णु ।

हिन्दी ज्ञानेश्वरी (संत ज्ञानेश्वर, हिंदी अनुवादक रामचंद्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सं० २००६ वि०) ।

(४) दर्शन, धर्म और सम्प्रदाय सम्बन्धी ग्रंथ

आशुतोष भट्टाचार्य—वेदांत दर्शन—अद्वैतवाद (बंगला), कलकत्ता विश्व०, सन् १९४२ ई० ।

इन्द्रसेन (डॉ०)—योग-विचार (अदिति कार्यालय, पांडिचेरी) ।

गोपीनाथ कविराज—काश्मीरीय शैव दर्शन (कल्याण शिवांक) ।

—तान्त्रिक दृष्टि (—साधनांक) ।

—योग परिचय (—योगांक) ।

– शक्तिपात (—साधनांक) ।

चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ और सूफी-मत (सरस्वती मन्दिर, बनारस १९४८ ई०) ।

चिम्मनलाल हरिशंकर शास्त्री—जीव-सृष्टि पुष्टिमार्गीय देशिका (माधव मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद सहित) ।

देवराज और रामानन्द—भारतीय दर्शन का इतिहास (हि० ए०, प्रयाग, १९५० ई०) ।

प्रबोध चन्द्र बागची—बौद्ध धर्म और साहित्य (बंगला भारती भवन, कलकत्ता) ।

बलदेव उपाध्याय—आर्य-संस्कृति के मूलाधार (काशी, १९४७ ई०) ।

धर्म और दर्शन (काशी, सन् १९४८ ई०) ।

बौद्ध धर्म मीमांसा (" सन् १९४६ ई०) ।

भारतीय दर्शन (" सन् १९४८ ई०) ।

शंकराचार्य (हि० ए०, प्रयाग, १९५० ई०) ।

भगवान् दास—समन्वय (नई दिल्ली, १९४७ ई०) ।

राम गोविन्द त्रिवेदी—वैदिक साहित्य (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५० ई०) ।

विवेकानन्द (स्वामी)—वेदान्त-धर्म (हि० अनु० गणेश पाण्डेय, प्रयाग, सन् १९३५ ई०) ।

भक्ति और वेदान्त (अनु० रामविलास शर्मा, लखनऊ, सन् १९३५ ई०) ।

सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय (हिन्दी भाषान्तरकार हरिमोहन झा और धीरेन्द्र मोहन दत्त तथा नित्यानन्द मिश्र, पुस्तक भण्डार, पटना) ।

सैयद अहमद (सर)—तसवीफ-ए-अहमदिया, (उर्दू) ।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय (हि० ए०, इलाहाबाद, सन् १९५० ई०) ।

हीरेन्द्रनाथ दत्त—वेदान्त परिचय (बंगला) कलकत्ता ।

कबीर मंसूर (स्वामी परमानन्द अनुवादक पं० माधवाचार्य सं० १९९० वि०)।
कौल ज्ञान निर्णय (सं० डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची कलकत्ता सन् १९३४ ई०)।
गीता (शांकर भाष्य गीता प्रेस गोरखपुर)।
(रामानुज भाष्य सानुवाद गीता प्रेस गोरखपुर)।
गीता रहस्य (लोकमान्य बालगंगाधर तिलक हिन्दी अनु० माधवराव सप्रे पूना १९४८ ई०)।
गोरक्ष शतक (गोरक्ष पद्धति में प्रकाशित)।
गोरख बानी (सं० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल हि० सा० स० प्रयाग सं० १९९९ वि०)।
घेरण्ड संहिता (सं० अनु० एस० सी० बसु, अडयार, १९११ ई०)।
चर्यापद (सम्पादक डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची ज० डि० ले० भाग ३ सन् १९३८ ई०)।
चाणक्य-नीति।
जातक (प्रथम और द्वितीय खण्ड अनुवादक भदन्त आनन्द कौसल्यायन हि० सा० स० प्रयाग बुद्धाब्द २४८९)।
तन्त्र—कुलार्णव काली विलास और तारा तिलक।
तत्त्व दीपिका निबन्ध (वल्लभाचार्य)।
दोहा कोष (सं० डॉ० प्रबोध चंद्र बागची ज० डि० ले० भाग २८)।
धम्मपद (सम्पादक—पी० एल० वैद्य पूना सन् १९३४ ई०)।
निकाय—(१) दीघ— (सानुवाद—राहुल सांकृत्यायन महाबोधि ग्रंथमाला सारनाथ)।
" —(२) मज्झिम— (सानुवाद—राहुल सांकृत्यायन महाबोधि ग्रंथमाला सारनाथ)।
पुराण—(वायु भविष्य और भागवत)।
बुद्धचर्या (राहुल सांकृत्यायन महाबोधि ग्रंथ-माला सारनाथ)।
बोधी चर्यावतार (वही)।
बोध-सागर—(वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई)।
बौद्ध गान ओ दोहा (द्वितीय संस्करण म० म० हरप्रसाद शास्त्री बं० सा० प० सन् १९५२)
ब्रह्म सूत्र (शांकर भाष्य सानुवाद)।
भक्तमाल—(नाभादास प्रिया दास कृत टीका सहित) बम्बई सं० १९८८ वि०।
भक्त-लीलामृत (मूल मराठी लेखक महीपति ॲबट कृत अंग्रेजी अनुवाद पूना)।
भक्त-विजय (वही)।
महाभारत।
योग वाशिष्ठ (चौखंभा संस्कृत ग्रंथमाला)।
विनय पिटक (टीकाकार—राहुल सांकृत्यायन महाबोधि सभा सारनाथ)।
विष्णु सहस्रनाम।
वेद (ऋक और अथर्व)।
शिव संहिता (पाणिनि आफिस प्रयाग सन् १९१४ ई० सं० अनु० एस० सी० विद्यार्णव सन् १९०१ ई०)।
षट् दर्शन समुच्चय (चौखंभा संस्कृत ग्रंथमाला काशी)।
सन्त वचन-संग्रह (पूना (१९२४ ई०)।

सूत्र—नारदीय भक्ति-सूत्र (हनुमान प्रसाद पोद्दार कृत अंग्रेजी भाष्य सहित, गीता प्रेस गोरखपुर, सन् १९४७ ई० ।

पातञ्जल योग-सूत्र—(राजेन्द्र लाल मित्र कृत अनुवाद सहित, कलकत्ता, सन् १८८३ ई०) ।

(स्वामी विवेकानन्द कृत अनुवाद सहित, लखनऊ, सन् १९३५ ई०) ।

पूर्व मीमांसा सूत्र (सेक्रेड बुक्स ऑफ हिन्दूज) ।

वैशेषिक सूत्र-पाठ (") ।

शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र (स्वप्नेश्वर भाष्य सहित) ।

स्मृति—पराशर, मनु और विष्णु ।

हिन्दी ज्ञानेश्वरी (संत ज्ञानेश्वर, हिन्दी अनुवादक रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सं० २००६ वि०) ।

(४) दर्शन, धर्म और सम्प्रदाय सम्बन्धी ग्रंथ

आशुतोष भट्टाचार्य—वेदान्त दर्शन—अद्वैतवाद (बंगला), कलकत्ता विश्व०, सन् १९४२ ई० ।

इन्द्रसेन (डॉ०)—योग-विचार (अदिति कार्यालय, पाण्डिचेरी) ।

गोपीनाथ कविराज—काश्मीरीय शैव दर्शन (कल्याण शिवांक) ।

—तान्त्रिक दृष्टि (—साधनांक) ।

—योग परिचय (—योगांक) ।

– शक्तिपात (--साधनांक) ।

चंद्रबली पाण्डेय--तसव्वुफ और सूफी-मत (सरस्वती मन्दिर, बनारस १९४८ ई०) ।

चिम्मनलाल हरिशंकर शास्त्री--जीव-सृष्टि पुष्टिमार्गीय देशिका (माधव मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद सहित) ।

देवराज और रामानन्द- -भारतीय दर्शन का इतिहास (हि० ए०, प्रयाग, १९५० ई०) ।

प्रबोध चन्द्र बागची--बौद्ध धर्म और साहित्य (बंगला भारती भवन, कलकत्ता) ।

बलदेव उपाध्याय--आर्य-संस्कृति के मूलाधार (काशी, १९४७ ई०) ।

धर्म और दर्शन (काशी, सन् १९४८ ई०) ।

बौद्ध धर्म मीमांसा (" सन् १९४६ ई०) ।

भारतीय दर्शन (" सन् १९४८ ई०) ।

शंकराचार्य (हि० ए०, प्रयाग, १९५० ई०) ।

भगवान् दास--समन्वय (नई दिल्ली, १९४७ ई०) ।

राम गोविन्द त्रिवेदी- -वैदिक साहित्य (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५० ई०) ।

विवेकानन्द (स्वामी)--वेदान्त-धर्म (हि० अनु० गणेश पाण्डेय, प्रयाग, सन् १९३५ ई०) ।

भक्ति और वेदान्त (अनु० रामविलास शर्मा, लखनऊ, सन् १९३५ ई०) ।

सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय (हिन्दी भाषान्तरकार हरिमोहन झा और धीरेन्द्र मोहन दत्त तथा नित्यानन्द मिश्र, पुस्तक भण्डार, पटना) ।

सैयद अहमद (सर)—तसवीफ-ए-अहमदिया, (उर्दू) ।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय (हि० ए०, इलाहाबाद, सन् १९५० ई०) ।

हीरेन्द्रनाथ दत्त—वेदान्त परिचय (बंगला) कलकत्ता ।

कबीर मंसूर (स्वामी परमानन्द अनुवादक पं माधवाचार्य सं० १९६ वि)।
कौल ज्ञान निर्णय (स डॉ प्रबोधचन्द्र बागची कलकत्ता सन् १९३४ ई)।
गीता (शांकर भाष्य गीता प्रेस गोरखपुर)।
(रामानुज भाष्य सानुवाद गीता प्रेस गोरखपुर)।
गीता रहस्य (लोकमान्य बालगंगाधर तिलक हिन्दी अनु माधवराव सप्रे पूना १९४८ ई)।
गोरक्ष शतक (गोरक्ष पद्धति में प्रकाशित)।
गोरख बानी (सं पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल हि० सा स प्रयाग सं १९९९ वि०)।
घेरण्ड संहिता (अं० अनु एस सी वसु, लाहौर, १९३३ ई)।
चर्यापद (सम्पादक डॉ प्रबोध चन्द्र बागची ज डि ले० भाग ३० सन् १९३८ ई०)।
चाणक्य-नीति।
जातक (प्रथम और द्वितीय खण्ड अनुवादक भदन्त आनन्द कौसल्यायन हि० सा० स०
प्रयाग बुद्धाब्द २४८५)।
तन्त्र—कुलार्णव काशी विलास और भास्करा तिलक।
तत्त्व दीपिका निबन्ध (वल्लभाचार्य)।
दोहा कोष (सं डॉ प्रबोध चंद्र बागची ज डि ले भाग २८)।
धम्मपद (सम्पादक—पी एल वैद्य पूना सन् १९३४ ई)।
निकाय—(१) दीघ— (सानुवाद -राहुल सांकृत्यायन महाबोधि ग्रंथमाला सारनाथ)।
" —(२) मज्झिम— (सानुवाद—राहुल सांकृत्यायन महाबोधि ग्रंथमाला सारनाथ)।
पुराण—(वायु भविष्य और भागवत)।
बुद्धचर्या (राहुल सांकृत्यायन महाबोधि ग्रंथ-माला सारनाथ)।
बोधी चर्यावतार (वही)।
बोध-सागर—(वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई)।
बौद्ध गान ओ दोहा (द्वितीय संस्करण म म हरप्रसाद शास्त्री बं सा प सन् १९५२)
ब्रह्म सूत्र (शांकर भाष्य सानुवाद)।
भक्तमाल—(नाभादास प्रिया दास कृत टीका सहित) बम्बई सं १९८८ वि ।
भक्त-लीलामृत (मूल मराठी लेखक महीपति ऍबट कृत अंग्रेजी अनुवाद पूना)।
भक्त-विजय (वही)।
महाभारत।
योग वाशिष्ठ (चौखम्बा संस्कृत ग्रंथमाला)।
विनय पिटक (टीकाकार—राहुल सांकृत्यायन महाबोधि सभा सारनाथ)।
विष्णु सहस्रनाम।
वेद (ऋक और अथर्व)।
शिव संहिता (पाणिनि आफिस प्रयाग सन् १९१४ ई अं अनु एस सी विद्यार्णव
सन् १९२३ ई)।
षट् दर्शन समुच्चय (चौखंभा संस्कृत ग्रंथमाला काशी)।
सर्व दर्शन —संग्रह (पूना (१९२४ ई)।

(६) सामान्य ग्रन्थ

अशोक—भगवती प्रसाद पान्थरी (किताब महल, सं० २००३)।
अशोक की धर्म लिपियाँ (ना० प्र० सभा, काशी)।
उर्दू की इब्तिदाई नशोवनुमा में सूफियाय कराम का काम—डॉ० अब्दुल हक।
ग्रीक दर्शन (बंगला)—दिग्विजय राय चौधुरी, कलकत्ता।
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—गंगा प्रसाद मेहता (हि० ए०, इलाहाबाद, १९३२ ई०)।
तुलसी दर्शन—डॉ० बलदेव मिश्र (हि० सा० स०, प्रयाग, सं० २००५ वि०)।
प्राचीन भारत का इतिहास—भगवत शरण उपाध्याय (ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना)।
" " " —डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी (प्रयाग)।
प्राचीन भारत का कला-विलास—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (कलकत्ता)।
प्रेम-योग—वियोगी हरि (गीता प्रेस, गोरखपुर)।
प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ (हि० ग्र० र०, बम्बई)।
भारत में जाति-भेद—क्षितिमोहन सेन (डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत अनुवाद, कलकत्ता, सन् १९४० ई०)।
भारतीय विचार-धारा—मधुकर (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)।
भारतीय संस्कृति (बंगला)—क्षितिमोहन सेन (वि० भा० ग्र०, कलकत्ता, १३५० बंगाब्द)।
भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण—भगवतशरण उपाध्याय (बनारस, १९५० ई०)।
भोजपुरी ग्रामगीत—कृष्णदेव उपाध्याय (हि० सा० स०, प्रयाग)।
मकरन्द—पीताम्बर दत्त बडथ्वाल (अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ)।
मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी।
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, (हि० ए०, इलाहाबाद, १९४५)।
मेगास्थनीज का भारत-विवरण (ग्रंथमाला कार्यालय, पटना)।
राजा भोज—विश्वेश्वर नाथ रेउ (हि० ए०, इलाहाबाद, १९३२ ई०)।
विचार और वितर्क—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (सुषमा साहित्य मन्दिर, जबलपुर, सं० २००२ वि०)।
विजय-नगर साम्राज्य का इतिहास—वासुदेव उपाध्याय (ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, सन् १९५१ ई०)।
सद्गुरु रहस्य—कुमार कौशलेन्द्र प्रताप साहि (हिन्दी मन्दिर, प्रयाग)।
हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पटना विश्वविद्यालय, सन् १९३४ ई०)।
हिन्दी विश्व कोष—(सम्पादक नगेन्द्रनाथ वसु)।
हिन्दी शब्द सागर (सम्पादक . श्यामसुन्दर दास, का० ना० प्र० सभा)।

(7) Works on Sant Literature

Bhankarkar, Dr R C —Vaishnavism, Shaivism and minor Religious Systems, Poona, 1928
Briggs, G W —The Chamars, Calcutta, 1920

(५) साहित्य, साहित्य शास्त्र और कला

आनन्दवर्द्धन—ध्वन्यालोक।

कालिदास—शकुन्तला (शकु) मालविकाग्नि मित्र (मा मि०) रघुवंश (रघु) और विक्रमोर्वशीय।

खुसरो—कुल्लियात खुसरो।

जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला (भारती भंडार इलाहाबाद)।

तुलसीदास—रामचरित मानस (रा० च मा) विनय पत्रिका (वि प०) कवितावली (कवि) और दोहावली (दोहा)।

दण्डी—काव्यादर्श।

धनपाल—भविसयत्त कहा (सम्पा सी डी दलाल और पाण्डुरंग गुणे)।

नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग।

पद्म गुप्त—नव साहसांक चरित।

परशुराम चतुर्वेदी (सम्पादक)—सूफी काव्य संग्रह।

बनारसीदास—अर्ध-कथानक (हा र रं बम्बई)।

बाँके बिहारी और कन्हैयालाल—ईरान के सूफी कवि।

भरत मुनि—नाट्य-शास्त्र।

भवभूति—मालती माधव।

मम्मट—काव्य-प्रकाश।

मलिक मुहम्मद जायसी—(१) जायसी ग्रंथावली (सं माताप्रसाद गुप्त)।
(२) जायसी ग्रंथावली (सम्पा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इं प्रेस १९३५ ई)।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर—साहित्य (हि ग्रं र बम्बई)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—रस मीमांसा (का ना प्र सभा)।

रामकृष्ण दास—भारतीय मूर्तिकला (का ना प्र सभा)।
भारतीय चित्र-कला (द्वितीय संस्करण भारती भण्डार प्रयाग)।

राहुल सांकृत्यायन (सं)—हिन्दी काव्यधारा (किताब महल)।

वाक्पति—गौडवहो (सं पाण्डुरंग पण्डित पूना सन् १९२७ ई)।

विद्यापति—(मैथिल कोकिल) सं ब्रजनन्दन सहाय का ना प्र सभा।
कीर्तिलता—(सं बाबूराम सक्सेना इण्डियन प्रेस प्रयाग)।

विशाखदत्त—मुद्राराक्षस।

विश्वनाथ—साहित्य दर्पण (शालग्राम शास्त्री कृत विमला टीका सहित)।

वात्स्यायन—कामसूत्र।

शूद्रक—मृच्छकटिक।

सूरदास—सूर सागर (दो भाग) सं नन्ददुलारे वाजपेयी ना प्र सभा काशी सं २ ५ वि।
साहित्य लहरी (पुस्तक भण्डार)।

सोमप्रभ सूरि—कुमार पाल प्रतिबोध (गा ओ सि बड़ोदा १९२ ई)।

(६) सामान्य ग्रन्थ

अशोक—भगवती प्रसाद पान्थरी (किताब महल, स० २००३)।

अशोक की धर्म लिपियाँ (ना० प्र० सभा, काशी)।

उर्दू की इब्तिदाई नशोवनुमा में सूफियाय कराम का काम—डॉ० अब्दुल हक।

ग्रीक दर्शन (बगला)—दिग्विजय राय चौधुरी, कलकत्ता।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—गगा प्रसाद मेहता (हि० ए०, इलाहाबाद, १९३२ ई०)।

तुलसी दर्शन—डॉ० बलदेव मिश्र (हि० सा० स०, प्रयाग, स० २००५ वि०)।

प्राचीन भारत का इतिहास—भगवत शरण उपाध्याय (ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना)।

" " " —डॉ० रमाशकर त्रिपाठी (प्रयाग)।

प्राचीन भारत का कला-विलास—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (कलकत्ता)।

प्रेम-योग—वियोगी हरि (गीता प्रेस, गोरखपुर)।

प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ (हि० ग्र० र०, बम्बई)।

भारत में जाति-भेद—क्षितिमोहन सेन (डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत अनुवाद, कलकत्ता, सन् १९४० ई०)।

भारतीय विचार-धारा—मधुकर (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)।

भारतीय सस्कृति (बगला)—क्षितिमोहन सेन (वि० भा० ग्र०, कलकत्ता, १३५० बगाब्द)।

भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण—भगवतशरण उपाध्याय (बनारस, १९५० ई०)।

भोजपुरी ग्रामगीत—कृष्णदेव उपाध्याय (हि० सा० स०, प्रयाग)।

मकरन्द—पीताम्बर दत्त बडथ्वाल (अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ)।

मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी।

मध्यकालीन भारतीय सस्कृति—गौरीशकर हीराचन्द ओझा, (हि० ए०, इलाहाबाद, १९४५)।

मेगास्थनीज का भारत-विवरण (ग्रथमाला कार्यालय, पटना)।

राजा भोज—विश्वेश्वर नाथ रेउ (हि० ए०, इलाहाबाद, १९३२ ई०)।

विचार और वितर्क—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (सुषमा साहित्य मन्दिर, जबलपुर, स० २००२ वि०)।

विजय-नगर साम्राज्य का इतिहास—वासुदेव उपाध्याय (ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, सन् १९५१ ई०)।

सद्गुरु रहस्य—कुमार कौशलेन्द्र प्रताप साहि (हिन्दी मन्दिर, प्रयाग)।

हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पटना विश्वविद्यालय, सन् १९३४ ई०)।

हिन्दी विश्व कोष—(सम्पादक नगेन्द्रनाथ वसु)।

हिन्दी शब्द सागर (सम्पादक श्यामसुन्दर दास, का० ना० प्र० सभा)।

(7) Works on Sant Literature

Bhankarkar, Dr R C—Vaishnavism, Shaivism and minor Religous Systems, Poona, 1928

Briggs, G W—The Chamars, Calcutta, 1920

Carpenter Dr U F —Theism in Medieval India London 1926
Dasgupta Dr S n —Hindu Mysticism (Popular Mysticism) London 1927
Farquhar Dr J N —An outline of the Religious Literature of India Calcutta 1920 The Historical Position of Ramanand (J R A S 1922)
Grierson Sir Dr G A —The Modern Vernacular Literature of Hindustan Calcutta 1889
Keay Dr F E.—Kabir and His Followers Calcutta 1931
Macauliffe—The Sikh Religion (6 volumes) 1908–10
Oman J C.—Mystics Acetics and Saints of India London 1903
Ranade Dr R. D —Mysticism in Maharastra Poona 1933
Sen K. M —Medieval Mysticism of India Luzac 1930
Singh Dr M.han—History of Panjabi Literature Lahore Kabir and the Bhakti Movement Lahore 1934
Tarachand Dr —Influence of Islam on Indian Culture Indian Press Allahabad 1936
Temple R C —The word of Lalla The prophetess Lond 1924
Underhill—Evelyn—Essentials of Mysticism Introduction to one hundred Poems of Kabir (translated by Dr Rabindranath Tagore) Macmillan and Co 1929
Westcott Rev G H.—Kabir and the Kabir panth Cawnpur 1907
Wilson H. H.—A sketch of the Religious Sects of the Hindus London 1861

(8) Works on Philosophy & Religion

Arnold Sir Thomas Teachings of Islam
Ayyangar K. S —The Early History of Vaishnavism in South India
Bagachi P C.—Studies in the Tantras
Barth A.—The Religions of India
Barua B M —A History of Pre-Buddhist Philosophy
Bhattacharya B —Indian Images
Briggs G W —Gorakhnath and the Kanphata yogis
Coster G —Yoga and Western Psychology
Crooke William—An Introduction to the Popular Religion and Folklore of Northern India (Two volumes)
Dasgupta S —An Introduction to Tantric Buddhism
Dasgupta S —Obscure Religious Cults
Dasgupta S N —General Introduction to Tantra Philosophy History of Indian Philosophy

Davids, Mrs Rhys—Buddhist Philosophy The Birth of Indian Psychology and its development in Buddhism
Davis, F H—The Persian Mystics (Two volumes)
De, S K—The vaishnav Faith and Movement in Bengal
Eliot, Sir Charles—Hinduism and Buddhism
Hocking, W E—Types of Philosophy
Hooper, J S M—Hymns of Alvars
Hussain, A—The Philosophy of the Faquirs
James, E O.—The Concept of Deity
Khan, Khaja—Studies in Taswoof.
Kumarappa, Bharatan—The Hindu Concept of the Deity
Natesan—Ramanand to Ram Tirtha
Macdonald—Muslim Theology.
Nicholson, R A—The Mystics of Islam
Oman, J C.—Cutts, Customs and Superstitions of India
Payne, E A—The Saktas
Radha Krishnan, Sir S—Indian Philosophy (vol II) Hindu View of Life.
Ranade, R. D—A Constructive Survey of Upanisadic Philosophy.
Shastri, D R—A Short History of Indian Materialism
Shastri, Lakshman—A critique of Hinduism
Singh Mohan. (Dr)—Gorakhnath and Medieval Mysticism
Swamiji, Kumar—The Virshaiv Philosophy and Mysticism
Winternitz—A History of Indian Literature

(9) General

Aiyer, Sir Sivaswamy—Evolution of Hindu Morals (C U 1935)
Arberry, Dr A J—The History of Sufism (London, 1942)
Arnold, Sir T W—The Preachings of Islam, (London 1913)
Ashraf, Kunwar Muhammad—Life and Conditions of the people of Hindustan (1200-1500 A D, J R A S 1936)
Banerjee, R D—Pre-Historical Ancient and Hindu India (Blackie & Sons, 1935)
Bauduin, C—Psychoanalysis and Aesthetics, (London, 1924)
Briggs, John—History of the Rise of the Mohomedan Power in India till the year A. D, 1912, (Cal 1910, 4 volumes)
Brinton, H H—The Mystical Will (London, 1931)
Brown, J P—The Darvises (London, 1927)

Cattel R. B --Psychology and Religious Quest (London 1938)
Chakravarty A.--Cultural Fellowship in India
Crooke W --Tribes and Castes of the N W P & Oudh.
Davis J --An Introduction to Sociology (London 1931)
Dawson, C.-- Religion and Culture (London 1948)
Elliot and Dowson--The History of India as told by its own Historians. The Muhammedan Period (London 1867 8 vols)
Ferm V --An Encyclopaedia of Religion (Newyork)
Govindacharya A.--A metaphysics of Mysticism.
Habibullah-- The Foundations of Islam
Hastings--Encyclopaedia of Religi.n & Ethics
Hodson Col T C --The Primitive Culture of (India 1922)
Hopkins E W --Ethics of India (Yale University)
Hopkinson A. W --Mysticism Old and New (London 1946)
Hughes--Dictionary of Islam (London 1885)
Inge W R.--Christian Mysticism (London, 1948) Mysticism in Religion (Hutchinson s Univ Library)
James William--Pragmatism (1907) The Varieties of Religious Experiences (Longmans 1947)
Jayaswal K P --History of India (Lahore 1933) Chronology of Nepal.
Jerett Col H. S --Ain-I-Akbari (Calcutta 1891)
Jhaveri K M --Milestones in Gujrati Literature (Bombay 1914)
Jones Rufus--New Studies in Mystical Religion (Macmillan 1928)
Mac Gregor G --Aesthetic Experience in Religion (Macmillan 1947)
Maitra Sushil Kumar--The Ethics of the Hindus (Calcutta, 1925)
Majumdar Dr R. C --History of Bengal vols I & II
Mehta Ratilal N --Pre Buddhist India
Prasad Dr Ishwari--History of Medieval India (All 1925)
Pratt J B --Religious Consciousness (Macm. 1921)
Sachau Dr E. C.--Alberuni's India Lon. 1910 (Two vols.)
Schweitzer Albert--Civilization and Ethics (1946)
Seal Satish Chandra--The Early History of Bengal
Sen D C --History of Bengali Language And Literature (Cal. 1911)
Sen, S. M.--Studies in Indian History
Smith E.--Mussalmans of India.
Smith V A --A History of Fine Arts in India and Ceylon (Oxford 1911)

Underhill, E.—The Essentials of Mysticism Mysticism, (London, 1948)
Various Authors.—Encyclopaediea of Islam, (Lond 1885)
Whitehead, A N --Symbolism, (Camb Un Press, 1938)
Woodroffe, Sir John—The Garland of Letters (Madras, 1951)

(१०) पत्र-पत्रिकादि

टिप्पणी—यथास्थान इनका विशिष्ट विवरण दिया गया है)।

कल्याण—(ईश्वरांक, उपनिषदंक, गीतांक, धर्म-तत्त्वांक, योगांक, वेदांतांक, साधनांक)।
काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका (का० ना० प्र० प०)।
राजस्थान और विश्व भारती पत्रिका (वि० भा० प०)।

English

Archeological Survey of India.
American Journal of Religious Philosophy.
Epigraphica Indica
Indian Historical Quarterly.
Imperial Gazetteer of India.
Journal of the Department of Letters, Cal. Un.
Journal of Bihar & Orisa Research Society, Patna.
Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal (J R A S B)
Journal of the Royal Asiatic Society, London
The Philosophical Review

संकेत-सूची

आ० ग्र०	आदि ग्रथ ।
ई० सू० क०	ईरान के सूफी कवि (बाँके बिहारी) ।
उ० भा० स० प०	उत्तरी भारत की सत-परम्परा (चतुर्वेदी) ।
ऋक्०	ऋग्वेद ।
ए० इ०	एपिग्राफिका इडिका ।
क० ग्र०	कबीर ग्रथावली (दास) ।
क० म०	कबीर मशूर ।
क० व०	कवीर वचनावली (हरिऔध) ।
कठो०	कठोपनिषद् ।
क० स० औ० फि०	ए कस्ट्रकटिव सर्वे ऑव दि औपनिषदिक फिलासफी (रानाडे) ।
का० प्र०	काव्य प्रकाश (मम्मट) ।
का० र०	काव्य में रहस्यवाद (शुक्ल) ।
गु० बा०	गुलाल साहिब की बानी ।
गो० बा०	गोरख बानी (बडथ्वाल) ।
गो० मि० मि०	गोरखनाथ ऍंड मिडिवियल मिस्टिसिज्म । (डॉ० मोहन सिंह) ।
गो० श०	गोरख शतक ।
छा०	छादोग्य ।
ज० डि० ले०	जनरल डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय ।
ज० बा०	जगजीवन जी की बानी ।
ज० रा० ए० सो०	जनरल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बगाल ।
जा० ग्र०	जायसी ग्रथावली ।
ढो० मा० दू०	ढोला मारु रा दूहा ।
तैत्त०	तैत्तरीय उपनिषद् ।
दा० द० बा० (दा० बा०)	दादू दयाल जी की बानी ।
दा० स०	दादू दयाल जी का सवद (प० सुधाकर द्विवेदी) ।
दो० को०	दोहा कोश ।
नाम०	नामदेव ।
प० बा०	पलटू साहव की वानी ।

प्रा भा क वि ... प्राचीन भारत का कला-विकास (द्विवेदी)।
बृह .... बृहदारण्यकोपनिषद् ।
भक्त .. .. भक्तमाल ।
भ्र गी सा ... भ्रमर गीत सार (शुक्ल)।
मि महा ... ... मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र (रानाडे)।
रवि .... रविदास ।
रै से हि .... .. ए स्केच ऑव दि रैलिजस सेक्ट्स ऑव दि हिंदूज (विल्सन)।
रै बा ...... रैदास जी की बानी ।
वि भा प ... ... विश्व भारती पत्रिका ।
श्वे ...... श्वेताश्वतरोपनिषद् ।
सं क ...... संत कबीर ।
सुं ग्रं ..... सुंदर ग्रंथावली ।
सु वि ... .. सुंदर विलास ।
स क सा ...... सत्य कबीर की साखी ।
सां का ...... सांख्य कारिका ।
सा ग्रं ...... साखी ग्रंथ ।
सा द ...... साहित्य दर्पण ।
हि का धा० ...... हिंदी काव्य-धारा ।
हि का नि० स ..... हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (बड़थ्वाल)।
हि० वि अ यो ...... हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग ।
हि वि को० ...... हिन्दी विश्व-कोष ।